वक्तव्य

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥

अर्थात्, जिसने वैद्यक (चरक) की रचना करके शरीर के मल की शुद्धि की और पद-शास्त्र (व्याकरण-महाभाष्य) की रचना करके वचन के मल की एव योगशास्त्र (योगसूत्र) की रचना करके चित्त के मल की शुद्धि की, उस मुनिश्रेष्ठ पतजलि को दोनो हाथ जोडकर प्रणाम करता हूँ।

वस्तुत , ससार के सर्वश्रेष्ठ लेखकों मे पतजलि का स्थान अन्यतम है; क्योकि ऐसा कौन लेखक है, जिसने राष्ट्र के वल, वचन और मन—इन तीनों को शुद्ध करने के उद्देश्य से अपनी लेखनी का सदुपयोग किया हो? यही कारण रहा कि ऐसे महर्षि के पदशास्त्र (महा-भाष्य)-सम्बन्धी विवेचनात्मक पाण्डुलिपि जव परिषद् मे प्रकाशनार्थ आई, तव हमारा चित्त गद्गद हो गया और हमने शीघ्र ही इस ग्रन्थ के लेखक डॉ० श्रीप्रभुदयाल अग्निहोत्रीजी को ग्रथ-प्रकाशन की स्वीकृति, परिषद् के सचालक-मण्डल से प्राप्त कर, भेज दी। जिन कुछ प्राचीन ग्रन्थो के कारण ससार मे भारत राष्ट्र का मस्तक ऊँचा है, उनमे महाभाष्य का स्थान उत्कृष्ट है। हम समझते हैं कि दुनिया की किसी भी भाषा मे, व्याकरण-शास्त्र पर, महाभाष्य-जैसा विशद, विस्तृत और सुचिन्तित विचार प्रकट करनेवाला एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नही है और सोने मे सुगन्ध तो यह है कि व्याकरण की इस पुस्तक मे ही तत्कालीन भारत-राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के समस्त रेखाचित्र प्रस्तुत कर दिये गये हैं। महाभाष्य एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमे केवल अव-गाहन कर लेना भी साधारण विद्वानो के वश की वात नही है। इसीलिए, पतजलि शेषनाग के अवतार माने गये है और महाभाष्य का दूसरा नाम 'फणिभाष्य' है।

यह तो सर्वविदित है कि महाभाष्य मौलिक ग्रन्थ नही है जो इसके नाम से भी पता चलता है। यह पाणिनि की अष्टाध्यायी और उस अष्टाध्यायी की कमियो को पूरा करनेवाले कात्यायन के वार्तिको का विस्तृत और समन्वयात्मक भाष्य है। पतजलि ने पाणिनि की स्थापनाओं की विशद पुष्टि की है और इसके लिए यत्र-तत्र कत्यायन के विचारो की आलोचना भी की है।

कई सूत्रो से पता चलता है कि यह महाभाष्य कई वार लुप्त हुआ और कई वार इसका उद्धार हुआ। भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' से पता चलता है कि गुप्तकाल के पहले भी एक वार इस ग्रन्थ को भारतीय भूल गये थे। किन्तु, भर्तृहरि के गुरु को इसकी एक प्रति दक्षिण मे मिली, जिससे उन्होने फिर इसका प्रचार समस्त भारत मे किया। इसी तरह 'राजतरगिणी' से ज्ञात होता है कि दूसरी वार जव महाभाष्य का पठन-पाठन लोग भूल गये, तव कश्मीरराज अभिमन्यु

प्राक्कथन

भारतीय इतिहास मे शुग-काल वैदिक सस्कृति के जयघोष का युग है। इस समय तक धर्म, आचार और चिन्तन के क्षेत्रों को नियमित और निर्देशित करनेवाले शास्त्रो और सूत्रग्रन्थो का प्रणयन हो चुका था एव जन-जीवन की जाह्नवी वेदों की ऊर्जस्वल उपत्यका से उतरकर लोक-भाषा की सपाट समतल भूमि पर विचरण करने लगी थी। विस्तार ने उसका वेग तथा किल्विष-कर्दम ने उसका नैर्मल्य कुछ क्षीण कर दिया था। धर्मसूत्रो और गृह्यसूत्रों के उभय-तट-स्पर्शी तुग कगारो के बीच उसका प्रवाह यद्यपि अपेक्षाकृत आवद्ध था, फिर भी उसकी शीतल मधुर पावन फुहार की आह्लाददायिनी शक्ति मे रचमात्र की कमी न आने पाई थी।

मौर्य सम्राट् बृहद्रथ का वध कर ब्राह्मण-सेनानी पुष्यमित्र का मगध के सिंहासन पर आसीन हो जाना भारतीय इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना थी। वैदिक सस्कृति के समग्र इतिहास मे ब्राह्मण के राज्यारोहण का यह प्रथम उदाहरण था। सम्राट्-वध जैसे साहसिक कृत्य के पश्चात् एक बूँद रक्त तक का पात न होना दूसरी आश्चर्यकारी बात थी। सम्भवत , इसका कारण चिरकाल से चला आनेवाला वैदिक और बौद्धधर्मों का विरोध था, जिसमे मौर्यों ने खुल-कर बौद्धो का पक्ष लिया था। वैदिक धर्मावलम्बियो मे ब्राह्मणों की सख्या अधिक थी। उनकी दृष्टि मे मौर्य वृषल थे। वे देवमूर्तियाँ बेच-बेचकर राजकोष भरते थे। इसीलिए, ब्राह्मण-सेनानी द्वारा अकृतज्ञ मौर्य-वंश के सम्राट् का वध किये जाते ही वैदिक धर्मावलम्बियो, विशेषत ब्राह्मणों मे अपूर्व उल्लास छा गया। दिशाएँ वैदिक ऋचाओं के त्रैस्वर्यगान से गूँज उठी। गगन-मण्डल यज्ञ-धूम से सुवासित हो उठा। वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म की पुन स्थापना हुई। चक्र-वर्त्तित्व का आदर्श पुन. प्रतिष्ठित हुआ और साहित्य एव सस्कृति के तरु की शाखाएँ नवीन हरीतिमा लिये पल्लवित हो उठी। वैदिक आदर्शों की उदय-प्रतिष्ठा का यह विजय-डिण्डिम-घोष पतजलि के महाभाष्य मे पूर्ण रूप से प्रतिध्वनित मिलता है।

इस युग के सास्कृतिक इतिहास की दृष्टि से भी महाभाष्य एक अमूल्य ग्रन्थ है। हम उसमे भारत-देवता के प्राणों का स्पन्दन स्फुट रूप से सुन सकते है। उसमे हमे २२०० वर्ष पूर्व के भारतीय ग्रामीण-जीवन का सत्य-विशद चित्र प्राप्त होता है। प्रस्तुत निवन्ध मे इसी चित्र को उसके यथावत् स्वरूप मे उपस्थित करने का विनम्र प्रयास किया गया है।

समग्र निवन्ध ७ खण्डों एव ४५ अध्यायो मे विभाजित है। प्रथम खण्ड के अन्तर्गत व्याकरण शास्त्र के विकास, पाणिनीय अष्टाध्यायी, महाभाष्य एव पतजलि के विषय मे चर्चा है। इस खण्ड मे भाषा या व्याकरण-शास्त्र के क्षेत्र मे महाभाष्य की मौलिक देन के साथ-साथ पतजलि के जीवन एव महाभाष्य मे प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री पर अवतक हुई शोध के परिणामो का भी समावेश कर लिया गया है। यह खण्ड पतजलिकालीन सास्कृतिक इतिहास की पृष्ठभूमि एव भारतीय साहित्य मे महाभाष्य के महत्त्व को समझने मे सहायक सिद्ध होगा।

द्वितीय खण्ड मे भारत की भौगोलिक झाँकी उपस्थित की गई है। इसमे हिमालय के प्रस्थ नामक दो शृगो, पारिपात्र, आदर्श, एव विदूर पर्वतो, कालक वन, खलतिक वन, किष्किन्धा गुहा, कन्यानूप तथा रथस्पा, इक्षुमती, मशकावती, शोण, सरयू, गगा और सिन्धु-समूह की महत्त्वपूर्ण नदियो के अतिरिक्त पाण्डय, चोल, केरल से लेकर गान्धार, कश्मीर, सुह्म, कलिंग तक के जनपदो एव नासिक, शाकल, गवीधुमान्, कोशाम्बी, जित्वरी, मथुरा, हस्तिनापुर, पाटलिपुत्र आदि प्रसिद्ध नगरो तथा अनेक वाहीक ग्रामो के दर्शन किये जा सकते हैं। भाष्य मे न केवल स्थानो का उल्लेख-मात्र है, अपितु उसमे उनके विषय मे अनेक नवीन बातें बतलाई गई है।

तृतीय खण्ड मे भारत की सामाजिक स्थिति का चित्रण है। इससे कुल, गोत्र, सयुक्त परिवार, परिवार के सम्बन्धियो, अगो, कुलाचार, जाति-व्यवस्था एव नारी के वश्यत्वावश्यत्वादि के विषय मे अनेक नवीन बातें अवगत होती हैं। इस काल मे नारी का कार्य-क्षेत्र घर तक सीमित होने लगा था। वह 'सभ्या' नही कही जा सकती थी। पत्नी और भार्या मे अन्तर माना जाता था। वृषलो की स्थिति बडी दयनीय थी। शूद्र और वृषल घृणा के पात्र थे। नैतिक स्खलन की गति तीव्र थी। कानीनो और 'दास्या पुत्रो' की सख्या बढ रही थी। भाष्य मे इन सबका निर्व्याज उल्लेख है। निवास, ग्राम और नगरो के निर्माण के सम्बन्ध मे अनेक नये शब्दो का पता भी भाष्य से मिलता है। इसी प्रकार, भोजनाच्छादन, परिवहन और मनोरजन के ग्राम्य साधनो की विस्तृत तालिका एव भोज्य पदार्थो, वस्त्रो आदि की विशेषता इस प्रकार से ज्ञात होती है।

चतुर्थ खण्ड आर्थिक स्थिति से सम्बद्ध है। इसमे कृषि, वन-सम्पत्ति, पशु-सम्पत्ति, व्यापार-वाणिज्य, शिल्प, मुद्रा, तौल-माप, लेन-देन और श्रम पर विवेचन किया गया है। इस विषय मे भी महाभाष्य से ग्राम-विषयक जानकारी ही अधिक मिलती है। ग्रामो से अधिक सम्बद्ध होने के कारण ही कृषि एव पशुओ से भाष्यकार का घनिष्ठ परिचय था। लेन-देन मे ग्रामो मे प्रचलित विनिमय-पद्धति और निमान के अनेक उदाहरण भाष्य मे मिलते है। तौल और माप के बहुत-से पात्रो और बाटो के नाम आये हैं। भाष्य से कई छोटे-छोटे सिक्को के नाम विदित होते हैं और रुपदर्श या रुपतर्क के विषय मे भी जानकारी मिलती है। लेनदेन मे ब्याज की दर, दशैकादश, वृद्धि, आपमित्यक आदि तथा श्रम मे वेतन की दर, उष्णक, शीतक और लालाटिक श्रमिको के सबध मे अन्य कितनी ही नई बाते आई हैं। व्यापार मे पण्य वस्तुओ की लम्बी सूची के अतिरिक्त व्यापार-मार्गों, सार्थों एव माल ढोने के साधनो के विषय मे बहुत-सी सूचनाएँ मिलती है। सूती और ऊनी वस्त्रो, उनमे लगनेवाले मसालो और तत्सम्बन्धी अन्य सामग्री प्रचुर मात्रा मे पतजलि ने उपस्थित की है। कटकारो, अयस्कारो, कर्मारो एव सुवर्णकारो की कार्य-विधि के विषय मे भी बहुत कुछ नवीन सामग्री इस प्रसग मे मिलेगी।

पचम खण्ड मे राजनीतिक स्थिति पर विचार किया गया है। इस काल के धार्मिक राजनीतिक सघो, पूगो, व्रातो, व्रातीनो, मूर्धाभिषिक्त राजन्यो, राजवश्यो, एकराज एव सघराज्यो की जानकारी भाष्यकार को थी। आयुधजीविसघो के न जाने कितने वर्गों से वे परिचित थे। देश के जनपदो, जनपदावयवो, जनपदावधि आदि की सूक्ष्म विशेषताओ, विषय, निवास, देश, अभिजन के भेदो का ज्ञान हमे सर्वप्रथम महाभाष्य से प्राप्त होता है। हाँ, ग्राम-जीवन से ही अधिक

परिचित होने के कारण वे न्याय और सेना सगठन के विषय मे अपेक्षाकृत कम जानकारी दे पाये है।

षष्ठ खण्ड मे शिक्षा, साहित्य और कला की चर्चा है। वैदिक शिक्षा के विषय मे जो जानकारी भाष्य मे मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। खट्वारूढ, तीर्थ-ध्वाक्ष, स्नावी, स्नातक, माहाव्रतिक, अवान्तरदीक्षी, प्रान्तेवासी, चत्वारिंशी आदि ब्रह्मचारियो, विद्या-सम्बन्धों, सतीर्थ्यों, विशिष्ट विषयो के अध्येताओ के लिए नियत शब्दो एव गर्हासूचक शब्दों आदि से महाभाष्य भरा पडा है। वैदिक साहित्य की शाखाओ, प्रोक्त, उपज्ञात, व्याख्यात और कृत-साहित्य, आख्यायिका, आख्यान, पुराण, काव्यादि तथा सम्बद्ध ग्रन्थो और उनके कर्त्ताओ के विषय मे भाष्य से महत्त्वपूर्ण प्रकाश पडता है। इसी प्रकार सगीत, नृत्य, नाट्य आदि कलाओ तथा ज्यौतिष और आयुर्वेद के सम्बन्ध मे बहुत-सा ज्ञान हम पहले-पहल इस ग्रन्थ से पाते हैं। शरीर के कितने ही अगों, रोगों और औषधियो के लिए नये शब्द भाष्यकार ने दिये है।

सप्तम खण्ड मे धार्मिक विश्वासो, कार्यों और विचारों पर प्रकाश डाला गया है। इस खण्ड मे ज्ञ, क, प्रजापति आदि देवताओ, पण्य-अपण्य अर्चाओ, प्रतिकृतियो, धनपति, रामकेशव, शिव-स्कन्द, विशाल, कश्यप आदि उपास्य देवो, उनके प्रासादो एव शिव-भागवत तथा वासुदेव-सम्प्रदायों की चर्चा के साथ दार्शनिक मतों, पन्थो और सिद्धान्तों का विवेचन है। इस खण्ड का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अध्याय है 'यज्ञ'। पतजलि आर्त्विजीन थे। अत, उनकी कृति मे यज्ञ-विषयक सूक्ष्म उल्लेखो का पाया जाना स्वाभाविक है। इस प्रसग को स्पष्ट करने के लिए अग्निष्टोम और दर्श-पौर्णमास विहारो के चित्र भी साथ मे दे दिये गये है। इनके अतिरिक्त मगल, निमित्त, अभिवादन शिष्टाचार, परलोक, श्राद्ध, शौचाशौच, भक्ष्याभक्ष्य आदि के सम्बन्ध की जानकारी भी इस प्रकरण मे समाविष्ट कर दी गई है।

और इस प्रकार, महाभाष्य ने भारतीय जीवन का एक सर्वांगपूर्ण चित्र हमे दे दिया है।

एक बात यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है। महाभाष्य पूर्णत मौलिक ग्रन्थ नही है। उसका उपजीव्य ग्रन्थ है अष्टाध्यायी। अत, स्वाभाविक है कि उससे प्राप्त होनेवाली बहुत सी सामग्री का मूल अष्टाध्यायी मे हो। ख्यातनामा विद्वान् डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का अष्टाध्यायी पर आश्रित 'इण्डिया एज नोन टु पाणिनि' नामक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित होने पर विद्वानो ने एक मत से उसकी प्रशसा की। पाणिनि पर कार्य करते समय डॉ० अग्रवाल ने अनेक स्थानो पर महाभाष्य का आश्रय लिया है। पतजलि पर कार्य करते समय मुझे भी अनिवार्यत. अनेक स्थानों पर पाणिनि और काशिका का आश्रय लेना पडा है। अत, कई स्थानो पर आवृत्तियाँ स्वाभाविक है। फिर भी, सामान्यतया मेरे प्रबन्ध की सामग्री भिन्न है और जो अन्तर पाणिनि एवं पतजलि के ग्रन्थो मे है, वह इन प्रबन्धो मे भी मिलेगा। डॉ० बी० एन्० पुरी का शोध-प्रबन्ध 'इण्डिया इन दि टाइम ऑफ् पतजलि' भी प्रकाशित हो चुका है, किन्तु वह पतजलि पर कम और पतंजलि-युग पर विशेष आश्रित है। उसका बहुत कुछ आधार तत्कालीन ऐतिहासिक एव पुरातत्त्व-सम्बन्धी सामग्री है। जहाँ डॉ० पुरी ने महाभाष्य का आश्रय लिया है, वहाँ भी मेरे और उनके दृष्टिकोण मे अन्तर है। मैंने इन दोनों विद्वानो से अपने मतभेदो का उल्लेख भी यथास्थान विनम्र शब्दों मे कर दिया है। यो प्रस्तुत प्रबंध मे, जैसा कि सहायक-ग्रन्थ सूची से स्पष्ट होगा, मैंने वेबर, कीलहॉर्न,

भण्डारकर तथा अन्य परवर्त्ती विद्वानो की विद्वत्तापूर्ण खोजो का यथासम्भव उपयोग करने की चेष्टा की है।

महाभाष्य का डॉ० कीलहार्न का प्रमाणित सस्करण अब प्राय दुर्लभ हो चला है, किन्तु सौभाग्य से कुछ ही वर्ष पहले पूना से श्रीअभ्यकर शास्त्री का नवीन सस्करण सात खण्डो मे प्रकाशित हुआ है। सन्दर्भ की सुविधा के लिए मैंने इस सर्व-सुलभ, किन्तु विद्वन्मान्य सस्करण का ही उपयोग किया है। प्रबन्ध मे पृष्ठ के नीचे दिये गये सन्दर्भो या उद्धरणो मे जहाँ किसी ग्रन्थ का नाम नही है, वहाँ महाभाष्य का यही सस्करण अभिप्रेत है। इनमे जहाँ पृष्ठ-निर्देश नही है, वहाँ केवल अष्टाध्यायी के सूत्र का उल्लेख समझना चाहिए।

प्रस्तुत ग्रन्थ सागर-विश्वविद्यालय की पी-एच्० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध का थोडा परिवर्त्तित रूप है। मुझे इस विषय पर कार्य करने की प्रेरणा डॉ० अग्रवाल के 'इण्डिया एज नोन टु पाणिनि' से हुई थी। प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् डॉ० वी० एम्० आप्टे के आग्रह और प्रोत्साहन से इस कार्य का प्रारम्भ हुआ। डॉ० रामजी उपाध्याय ने इस ग्रन्थ के 'सामाजिक परिस्थिति' नामक अध्याय को पढकर कुछ सुझाव दिये। प्रसिद्ध सगीताचार्य प० ओकारनाथ ठाकुर की सूचनाओ से इस ग्रन्थ मे वर्णित 'गोपुच्छिक' प्रकरण लिखने मे सुविधा हुई। भारतीय सस्कृति एवं इतिहास के श्रेष्ठ विद्वान् प० द्वारकाप्रसादजी मिश्र एव सुप्रसिद्ध कवि-लेखक श्रीरामानुज लालजी श्रीवास्तव से समय-समय पर सहायता एव प्रोत्साहन मिलते रहे। मैं इन सब विद्वानो के प्रति सादर कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के सचालक सहृदय विद्वान् डॉ० माधवजी के प्रयत्न एवं तत्परता से यह ग्रन्थ बिना विलम्ब प्रकाश मे आ सका।

महाभाष्य जैसे ज्ञान के अगाध सागर का पार पाना अत्यन्त दुष्कर है। मनन और चिन्तन के साथ प्रति क्षण नई-नई बातें ध्यान मे आती जाती हैं। ग्रन्थ की ओर देखकर कालिदास के 'क्व सूर्यप्रभवो वश क्व चाल्पविषया मति' श्लोक का स्मरण आया, किन्तु उन्ही के

> अथवा कृतवाग्द्वारे वशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभि ।
> मणी वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गति ॥

श्लोक ने साहस बढ़ाया और परिणाम-स्वरूप आज यह प्रबन्ध आप विद्वज्जनो के समक्ष उपस्थित कर सका हूँ।

ग्वालियर — प्रभुदयाल अग्निहोत्री
१४-११-६२

विषय-सूची

खण्ड १ : अवतरणिका

खण्ड २ : भारत की भौगोलिक स्थिति

खण्ड ३ : भारत की सामाजिक स्थिति

खण्ड ४ : आर्थिक स्थिति

पतंजलिकालीन भारत

खण्ड १

अवतरणिका

अध्याय १

परिचय

महाभाष्य—पातजल महाभाष्य सस्कृत-व्याकरण का अत्यन्त प्रमाणभूत मूलग्रन्थ है। सस्कृत-साहित्य की विपुल ग्रन्थराशि मे, ब्राह्मणो और आरण्यको को छोड़कर, यही प्राचीनतम श्रेष्ठ गद्यग्रन्थ माना जाता है। सस्कृत मे प्रत्येक शास्त्र पर सामान्यतया पाँच प्रकार के ग्रन्थ मिलते है—सूत्र,वृत्ति,भाष्य, वार्त्तिक और टीका। इनमे सूत्र अत्यन्त सक्षिप्त, असन्दिग्ध, सारवान् और प्रामाणिक होते है।[1] वार्त्तिक-ग्रन्थो मे सूत्रो की उक्त, अनुक्त और दुरुक्त बातो का विवेचन किया जाता है[2] तथा भाष्य मे सूत्रानुसारी शब्दों के द्वारा सूत्रार्थ-चिन्तन के साथ-साथ बहुत कुछ मौलिक विवेचन भी रहता है।[3] व्याकरण-शास्त्र मे सूत्रकार पाणिनि, वार्त्तिककार कात्यायन और भाष्यकार पातजलि को सयुक्त रूप से 'मुनित्रय' कहते है और इन्ही तीन पुष्ट स्तम्भो पर आधृत होने के कारण संस्कृत-व्याकरण 'त्रिमुनि व्याकरण' कहलाता है।

महाभाष्य का उपजीव्य ग्रन्थ पाणिनीय अष्टाध्यायी है, जिसपर महाभाष्य के अतिरिक्त कात्यायन के नाम से प्रचलित एक वार्त्तिक-ग्रन्थ, काशिका नामक वृत्ति-ग्रन्थ, सिद्धान्तकौमुदी आदि चार प्रकरणात्मक टीका-ग्रन्थ, शब्दकौस्तुभ नामक टीका-ग्रन्थ, सूत्रो द्वारा अनुमान से निकाली गई परिभाषाओ और लौकिक न्यायो के सग्रह एवं उनके व्याख्यापरक परिभाषेन्दु-शेखर आदि ग्रन्थ तथा शब्द के अर्थविज्ञानात्मक वाक्यपदीय, वैयाकरणभूषण, मंजूषा आदि अनेक अर्थ-ग्रन्थ विद्यमान है। महाभाष्य इस सम्पूर्ण ग्रन्थमाला का सुमेरु है। मुनियो की त्रयी मे यथोत्तर का प्रामाण्य होने के कारण व्याकरण-शास्त्र मे पतजलि की वाणी सर्वाधिक प्रमाण मानी जाती है। इसीलिए, पश्चाद्वर्त्ती समस्त ग्रन्थकारो ने महाभाष्य को प्रमाण मानकर अपने ग्रन्थो की रचना की है।

प्रवेश

ब्राह्मण-काल—शब्द-स्पष्टीकरण विद्या के अर्थ मे व्याकरण शब्द का प्रयोग ब्राह्मण-काल से ही मिलता है। तैत्तिरीय सहिता मे देवताओ की प्रार्थना पर इन्द्र द्वारा वाणी के व्याकृत किये

---

१. अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रकृतो विदुः॥

२. उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्त्तते।
तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहुर्वार्त्तिकज्ञा मनीषिणः॥
—पारा० पु०, अध्या० १८।

३. सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।

४. स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यकृतो विदुः॥

जाने का उल्लेख है[1], जिसका अर्थ सायण ने 'प्रकृति-प्रत्यय-विभाग द्वारा अखण्ड वाणी को विच्छिन्न करना' बतलाया है।[2] 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि' (ऋग्० १-१६४-४५) तथा 'चत्वारि शृङ्गास्त्रयो यस्य पादा' (ऋग्० ४-५८-३) आदि मन्त्रो की व्याख्या मे पतजलि ने नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात इन शब्द-विभागो, तीन कालो और सात विभक्तियो की ओर जो सकेत किया है, उसे सायण ने मन्त्रो के वैयाकरण-साम्प्रदायिक अर्थ के रूप मे स्वीकार किया है। ब्राह्मण-ग्रन्थो मे लिगो, वचनो तथा भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् के अर्थ मे कृत, कुर्वत् और करिष्यत् शब्दो का प्रयोग भी मिलता है।[3] उपनिषदो तथा आरण्यको के वाणी-वर्णन-प्रसगो मे स्वर, ऊष्मन्, स्पर्श, धातु, प्रातिपदिक, नाम, आख्यात, प्रत्यय, विभक्ति आदि शब्दो का व्यवहार हुआ है और गोपथ-ब्राह्मण मे इनके अतिरिक्त विकार, विकारी, वर्ण, अक्षर, भाषा, सयोग, पद, स्थान, नादानुप्रदान आदि पारिभाषिक शब्दावली प्राप्त होती है।[4] यह इस बात का प्रमाण है कि ब्राह्मण-काल मे व्याकरण का स्थूल ढाँचा तैयार हो चुका था।

प्रथम सोपान

पार्षद-काल—पार्षद-काल व्याकरण का प्रारम्भ काल है। इस काल मे वैदिक चरणो मे होनेवाले अनुसन्धान के परिणामस्वरूप बहुत-से प्रातिशाख्य, तन्त्र-ग्रन्थ, प्रचलित भाषा मे वैदिक शब्दो का विवेचन करनेवाले ग्रन्थ, शिक्षा-सूत्र, निघण्टु जैसे कोश-ग्रन्थ तथा निर्वचन देनेवाले निरुक्त ग्रन्थ बने। इनमे ऋक्, साम और अथर्व के प्रातिशाख्यो के अतिरिक्त आश्वलायन, वाजसनेय, तैत्तिरीय, मैत्रायणीय और चारायणीय प्रातिशाख्य भी उपलब्ध या ज्ञात है। तन्त्र-ग्रन्थ प्रातिशाख्यो के ही सदृश हैं। इनमे ऋक् तन्त्र, लघु ऋक् तन्त्र, अथर्व चतुरध्यायी, प्रतिज्ञासूत्र, भाषिक सूत्र, सामतन्त्र और अक्षरतन्त्र प्राप्य हैं, जिनमे प्रथम पाँच वैदिक स्वरो से तथा शेष दो सामगान से सम्बद्ध हैं। प्रातिशाख्य नाम अन्वर्थक है। इनमे वैदिक पदो के स्वर, उच्चारण, समास, सन्धि और वृत्त पर विचार किया गया है। दो या अधिक शाखाओ का एक ही प्रातिशाख्य भी होता था। शाकलो और वाष्कलो का एक ही प्रातिशाख्य था। प्रातिशाख्यो को पार्षद या

---

१. ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति।
तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्॥
—तैत्ति० सं०, काण्ड ६, प्रपा० ४, अनु० ७।

२. तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययविभाग सर्वत्राकरोत्।—सायण, ऋग्भाष्य, उपो०, भाग १, पृष्ठ २६, पूना–सं०।

३. ऐत० ब्रा० ४-५-१ से ३ तक; शत० ब्रा० १-५-४-६ से ११ तक; ताण्ड्य ब्रा० १-२०-१३।

४. ओङ्कारं पृच्छामः — को धातुः, किं प्रातिपदिकम्, किं नामाख्यातं, किं लिङ्गं, किं वचनं, का विभक्तिः, कः प्रत्ययः, कः स्वर उपसर्गो निपातः, किं वै व्याकरणं, को विकारः, को विकारी, कति भाग, कति वर्णः, कत्यक्षरः, कति पदः, कः संयोग., किं स्याननादानुप्रदानानुकरणम्।—गोपय ब्रा० ५-१-२४।

पारिषद ग्रन्थ भी कहते हैं। वास्तव मे इनका मूल वैदिक सहिताओं का पद-पाठ था। वैदिक काल मे सहिताओ का अर्थ स्पष्ट था, किन्तु धीरे-धीरे भाषा के स्वरूप मे कुछ परिवर्त्तन हो जाने तथा ऐतिहासिक परम्परा के विच्छिन्न हो जाने के कारण सहिताएँ दुर्बोध हो चली और तव उनके अर्थबोध के लिए आचार्यो को उनका पदपाठ करना पडा। प्रातिशाख्यो की रचना के पूर्व ही शाकल्य ने ऋग्वेद, आत्रेय ने तैत्तिरीय और गार्ग्य ने सामवेद-सहिता का पदच्छेद कर दिया था। इस पदच्छेद के पश्चात् ही प्रातिशाख्यो मे वैदिक पदो पर विचार प्रारम्भ हुआ। इसीलिए, निरुक्त मे कहा है कि 'सव चरणो के पार्षद पद-प्रकृतिक है'।[1] भिन्न-भिन्न वैदिक चरणो के अनुसन्धान मे अन्तर अनिवार्य था। कोई-कोई चरण इस प्रकार के अनुसन्धान करते थे, जो अन्य शाखाओ द्वारा ग्राह्य न होने के कारण केवल उसी शाखा तक सीमित रह जाते थे। उदाहरणार्थ, सात्यमुग्रि और राणायणीय सामशाखाओ के लोग ह्रस्व एकार और ह्रस्व ओकार का भी प्रयोग करते थे।[2] अन्यत्र वैदिक या लौकिक भाषा मे कही इस प्रकार का उच्चारण प्रचलित नही था। आगे चलकर जव व्याकरण का शास्त्रीय विकास हुआ, तव उसमे समस्त चरणो के मान्य सिद्धान्तो का समावेश कर लिया गया। इसीलिए, पतजलि ने कहा है कि व्याकरण संर्ववेदपारिपद शास्त्र है। उसमे किसी एक परिषद् के मार्ग को आधार नही बनाया जा सकता।[3]

प्रातिशाख्यो का रचना-काल एक नही है। लूडर्स के मत से तैत्तिरीय प्रातिशाख्य प्रथम है और लाइविश के मत से ऋक् प्रातिशाख्य। गोल्डस्टुकर वर्त्तमान सभी प्रातिशाख्यो को पाणिनि के वाद का मानते है। फिर भी, अधिकाश विद्वान् पाणिनि-जैसी सर्वागपूर्ण विवेचन-पद्धति से युक्त न होने एव ब्राह्मण-ग्रन्थो मे प्रयुक्त पारिभापिक शब्दो का ही प्रयोग करने के कारण ऋक् प्रातिशाख्य को प्राचीन स्वीकार करते है। इन प्रातिशाख्यो मे अप्टाध्यायी मे प्राप्त आपिशलि, काश्यप आदि वैयाकरणो के नामो के अतिरिक्त इन्द्र, औदव्रजि, कात्यायन, कौत्स, पौप्करसादि, माध्यन्दिनि, व्याडि, शाकल और शौनक के नाम अवश्य मिलते है, पर वे इसी कारण पाणिनि की अपेक्षा अर्वाचीन नही कहे जा सकते। पाणिनि ने तो केवल उन्ही वैयाकरणो का उल्लेख किया है, जिनसे उनका मतभेद था। इन सव वैयाकरणो ने तन्त्र या प्रातिशाख्यो जैसे ग्रन्थ न लिखकर प्रचलित भाषा के शब्दो का विवेचन करनेवाले ग्रन्थ लिखे थे। 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' सूत्र का 'अनार्षे' पद इस वात का प्रमाण है। हाँ, कुछ प्राचीन प्रातिशाख्यो मे सुधार और परिवर्द्धन का क्रम पाणिनि के वाद तक चलता रहा। फिर भी, मोटे तौर पर मूल प्रातिशाख्यो का रचना-काल ई० पू० १४०० से ई० पू० ७०० तक माना जा सकता है।

---

१. पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि—निरुक्त।

२. भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रि राणायणीया ह्रस्वमेकारं ह्रस्वमोकारं च प्रयुञ्जते।
न चैवान्यत्र लोके वेदे वा ह्रस्व एकारो ह्रस्व ओकारो वास्तीति॥
—आ० २, मा० सु० ३–४, पृ० ५४।

३. सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्।
तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्॥
—६-३-१४ वा० २, पृ० ३०६।

द्वितीय सोपान

निरुक्त-काल—प्राचीन प्रातिशाख्यो के पश्चात् निरुक्तों की रचना हुई, जिनमे इस समय किसी निघण्टु पर लिखा हुआ एकमात्र यास्क का निरुक्त उपलब्ध है। यास्क ने इसे व्याकरण का कार्त्स्न्यं कहा है। इस समय तक लेखन-कला का आविष्कार हो चुका था। यद्यपि मैक्समूलर, वेवर आदि विद्वान् इस बात से सहमत नही है, फिर भी अष्टाध्यायी मे उल्लिखित यवनानी, लिपिकार, पटल, काण्ड, सूत्र, ग्रन्थ, वर्ण, कार आदि शब्दो तथा गौ के कान पर बनाये जानेवाले अको की प्रथा से यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है। इसीलिए, गोल्डस्टुकर महोदय ने लेखन-कला के आविष्कार का समय प्रातिशाख्यो की रचना से पूर्व माना है और उनके मत से यह समय पाणिनि से पूर्व ही पडता है।[1] रॉथ और वोथलिक भी इससे सहमत है। शिक्षा-ग्रन्थो मे 'त्रिषष्ठि चतु षष्ठिर्वा वर्णा शम्भुमते मता' यह वाक्य मिलता है। पाणिनि ने भी बयालीस वर्ण गिनाये है। रगीन लिखे जाने के कारण ही इन्हे वर्ण सज्ञा दी गई थी। लेखन-कला के फलस्वरूप ग्रन्थ-रचना सुकर हो गई। यास्क ने इस समय या इसके पूर्व के अनेक आचार्यो तथा सम्प्रदायो (अग्रायण, आग्रायण, आचार्य लोग, कुछ लोग, ऐतिहासिक, पार्षद-समूह, मनु, याज्ञिक, पूर्वकालीन याज्ञिक, वार्ष्यायणि, औदुम्बरायण, औपमन्यव, और्णनाभ, कात्थक्य, कौष्टुकि, गार्ग्य, गालव, चर्मशिरा, तैटिकि, नैदान, नैरुक्त, पारिव्राजक, वैयाकरण, शाकटायन, शाकपूणि, शाकल्य, स्थौलाष्ठीवि और हारिद्रवक,) के मतो का उल्लेख किया है। इस समय तक नैरुक्तो से पृथक् वैयाकरणो के अनेक सम्प्रदाय बन चुके थे, जिनमे इन्द्र और शाकटायन का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

निरुक्त-काल के वैयाकरण

शाकटायन—यास्क ने नामो या सज्ञा-शब्दो के आख्यातज होने का सिद्धान्त स्वीकार किया और इस प्रसग मे शाकटायन, गार्ग्य तथा कुछ वैयाकरणो का मत भी उद्धृत किया। शाकटायन शब्दो को धातुज मानते थे। इसके लिए वे अनेक बार उपहासास्पद व्युत्पत्तियो का भी आश्रय लेने के लिए विवश होते थे। 'सत्य' ऐसे ही शब्दो मे एक था, जिसे वे अस् या इण् धातु से व्युत्पन्न बतलाते थे। निरुक्त ने नाम को धातु-साधित मानते हुए भी ऐसी व्युत्पत्ति करनेवाले व्यक्ति को ग्राह्य कहा है। शौनक बृहद्देवता (२-९५) के अनुसार ये तेईस उपसर्ग मानते थे तथा अन्य वैयाकरण दस।[2] शाकटायन सज्ञा या क्रिया से पूर्व अप्रयुक्त निपातो का स्वत कोई अर्थ भी नही स्वीकार करते थे। इसके विपरीत गार्ग्य तथा अन्य कुछ वैयाकरण सारे शब्दो को धातुज नही मानते थे।[3] यास्क ने शब्दो को धातुज मानकर ही निरुक्त मे वैदिक शब्दो की व्युत्पत्ति दी है।

---

१. ह्वाट एवर दैट पीरियड माइट बी, इट मस्ट हैव बीन प्रायर टु दि प्रोडक्शन ऑफ दि प्रातिशाख्य लिटरेचर—पाणिनि : हिज प्लेस इन संस्कृत लिटरेचर, पृ० १८३।

२. अयानन्वितेर्थेऽप्रादेशिके विकारे पदेभ्य. पदेतरार्थान् सचस्कार शाकटायनः। एतैः कारित यकारादिं चान्तः करणम्। अस्ते. शुद्धं सकारादिं च—निरुक्त १-१३।

३. तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके।—निरुक्त १-१२।

आगे चलकर वैयाकरणो ने, विशेषत पाणिनि के अनुयायियों ने शाकटायन के विपरीत गार्ग्य का मत स्वीकार किया और नैरुक्तो की हाँ मे हाँ मिलाने के कारण शाकटायन की खिल्ली उडाई। पाणिनि ने नडादिगण मे शकट शब्द का परिगणन कर शाकटायन शब्द की उत्पत्ति शकट से सिद्ध की और भाष्यकार ने कहा कि शकट-वशज शाकटायन को मार्ग के किनारे बैठे रहने पर भी पास से जाते हुए शकट-सार्थ का भान[1] नही हुआ। उन्होंने किसी समीक्षाकार का श्लोकार्थ भी उद्धृत किया है, जिसका आशय है कि नैरुक्त लोग तो नाम को धातुज कहते ही थे, किन्तु वैयाकरणो मे शकट का छोकरा भी वैसा ही कहने लगा।[2] शाकटायन जातिवाचक, गुणवाचक और क्रियावाचक ये तीन प्रकार के ही सज्ञाशब्द मानते थे, यदृच्छा शब्द नही।[3] ऋक्तन्त्र और पचपदी उणादि सूत्र शकटायन द्वारा विरचित बतलाये जाते है।[4] कुछ लोग ऋक्तन्त्र का कर्त्ता औदव्रजि को मानते है।[5] सम्भव है, यह शाकटायन का ही दूसरा नाम हो। इस सबसे इतना स्पष्ट है कि यास्क के समय मे नैरुक्तो और वैयाकरणो मे अनेक बातो के विषय मे तीव्र मतभेद था और शाकटायन पाणिनि-पूर्व सर्वश्रेष्ठ वैयाकरण थे। इसीलिए, काशिकाकार ने वैयाकरणो को अनुशाकटायन और केशव ने नानार्थार्णवसक्षेप मे इन्हे आदि शाब्दिक कहा है।[6]

गार्ग्य—गार्ग्य का कोई व्याकरण-ग्रन्थ उपलब्ध नही है, यद्यपि पाणिनि ने तीन बार उनका उल्लेख किया है।[7] पाणिनि-व्याकरण मे दिये गये मतो से अनुमान होता है कि उन्होने लौकिक और वैदिक दोनो भाषाओ का व्याकरण लिखा था। गार्ग्य सामवेद के पदपाठकर्त्ता के रूप मे प्रसिद्ध हैं। नैरुक्त होते हुए भी ये सब सज्ञा-शब्दो को धातु-साधित नही मानते थे। गार्ग्य उपसर्गों को विशेषण मानते थे। इस प्रकार, उनके मत मे प्रत्येक उपसर्ग का स्वतन्त्र अर्थ था।[8]

इन्द्र—इन दोनो के अतिरिक्त इन्द्र नामक वैयाकरण तथा उनके ऐन्द्र सम्प्रदाय की चर्चा अनेक स्थानो पर मिलती है। कविकल्पद्रुम, श्रीतत्त्वनिधि आदि ग्रन्थो मे जिन आठ या नौ वैयाकरण-सम्प्रदायो का उल्लेख मिलता है, उनमे ऐन्द्र प्रथम है।[9] रामायण-काल मे भी व्याकरण के नौ मुख्य सम्प्रदाय प्रचलित थे। वाल्मीकि ने हनुमान् को 'नव व्याकरणार्थवेत्ता' कहा है।

---

१. वैयाकरणानां शाकटायनो रथमार्ग आसीनः शकटसार्थं यान्तं नोपलेभे।—३-२-११५। पृ० २५०।

२. नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।—३-३-१, पृ० २८४।

३. पा० सू०, ३-३-१ न्यासवृत्ति।

४. नागेश, १-१-१ पर उद्योत तथा लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ७, काशी-सं०।

५. शब्दकौस्तुभ।

६. काशिक १-४-८६।

७. ७-३-९९, ८-३-२०, ८-४-६७।

८. निरुक्त, १-३।

९. इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥—बोपदेव, कविकल्पद्रुम।

थे नौ सम्प्रदाय कौन-कौन थे, विदित नही है।[1] तैत्तिरीय सहिता (६-४-७) मे इन्द्र को सर्वप्रथम वैयाकरण बतलाया है। भाष्यकार के समय मे भी यह विश्वास प्रचलित था कि बृहस्पति ने इन्द्र को दिव्य सहस्र वर्ष तक शब्दो का प्रतिपद पारायण कराया, फिर भी उसका अन्त नही मिला।[2] इस बात की पुष्टि ऋक्तन्त्र से भी होती है, जिसमे कहा गया है कि ब्रह्मा ने बृहस्पति को शब्द-शास्त्र पढाया, बृहस्पति ने इन्द्र को, इन्द्र ने भरद्वाज को, भरद्वाज ने ऋषियो को और ऋषियो ने ब्राह्मणो को।[3] भारद्वाज की इक्कीसवी पीढी का उल्लेख भी भाष्य मे मिलता है। पाणिनि ने अपने व्याकरण मे आठ बार 'प्राचाम्' के मत का उल्लेख किया है। श्रीबर्नेल के मत से 'प्राचाम्' ऐन्द्र मत का बोधक है। उनके मत से यदि इन्द्र का कोई एक व्याकरण न था, तो भी व्याकरण की एक ऐन्द्र शाखा अवश्य थी। यह प्राचीनतम वैयाकरण शाखा है। पाणिनि इसके ग्रन्थो से परिचित थे और उन्होने उनसे बहुत कुछ लिया भी है।[4] तिब्बतीय ग्रन्थो के अनुसार यह २५००० श्लोको का व्याकरण-ग्रन्थ था।[5] बृहत्कथामजरी और कथासरित्सागर मे एक आख्यायिका दी हुई है, जिसके अनुसार पाणिनि पर अनुग्रह करने के लिए शकर ने हुकार किया। उसके प्रभाव से ऐन्द्र व्याकरण नष्ट हो गया। बौद्ध ग्रन्थो के अनुसार शारिपुत्र ने भी बाल्यावस्था मे ऐन्द्र व्याकरण पढा था। पण्डितो मे यह प्रवाद है कि चान्द्र व्याकरण का पाणिनि से और कालाप व्याकरण का इन्द्र के व्याकरण से सादृश्य है। इतना निश्चित है कि ऐन्द्र व्याकरण परिमाण मे बहुत बडा था और पाणिनि-व्याकरण बहुत छोटा। इसीलिए, महाभारत के टीकाकार देवबोध ने टीका के प्रारम्भ मे ऐन्द्र व्याकरण को अर्णव और पाणिनीय को गोष्पद कहा है।[6] बर्नेल ने टोलकप्पिय नामक दाक्षिणात्य व्याकरण, कातन्त्र तथा कात्यायन के पालि-व्याकरण का सादृश्य दिखलाते हुए ऐन्द्र व्याकरण के (कातन्त्र का आधार होने के कारण) स्वरूप की कल्पना स्पष्ट की है। तदनुसार, ऐन्द्र व्याकरण के प्रथम प्रकरण मे वर्ण-समाम्नाय और सन्धि, द्वितीय प्रकरण मे विभक्ति, प्रत्यय, सर्वनाम, कारक, समास और तद्धित, तृतीय प्रकरण मे काल और अर्थवाचक प्रत्यय, द्वित्व, सम्प्रसारण, गुण, अनुषग और इडागम तथा चतुर्थ प्रकरण मे कृत् प्रत्ययो का विचार किया गया था। निरुक्त के 'अर्थं. पदम्' पर दुर्गाचार्य की 'नैक पदजातम्। यथा अर्थः पदमित्यै-

---

ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम्।
सारस्वतं चापिशलं शाकल्यं पाणिनीयकम्॥
—श्रीतत्त्वनिधि।

१. सोऽयं नवव्याकरणार्थवेत्ता ब्रह्मा भविष्यत्यपि ते प्रसादात्।— किष्कि० का० २-२९।
२. एवं हि श्रूयते बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच न चान्तं जगाम।—आ० १, पृ० १२।
३. ऋक्तन्त्र १-४।
४. बर्नेल : ऐन्द्रस्कूल ऑफ् ग्रामेरियन्स, निबन्ध।
५. गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टी० जर्नल, भाग १, सं० ४, पृ० ४१०; सन् १९४४ ई०।
६. यान्युज्जहार माहेन्द्राद्व्यासो व्याकरणार्णवात्।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनि गोष्पदे॥

न्द्राणाम्' इस वृत्ति से पता चलता है कि ऐन्द्र सम्प्रदाय मे केवल धातु और प्रातिपदिक या केवल सुप् और तिङ की भी पद-सज्ञा मानी जाती थी। इसी प्रकार, ऐन्द्र व्याकरण के धातुपाठ मे स्वरान्त धातुओ के अन्त मे ण्, ङ, क्, ञ् आदि तेरह वर्ण इत्सज्ञक बनाकर जोड़े गये थे, जो परस्मैपद, आत्मनेपद आदि की पहचान की सुविधा के लिए थे। पाणिनि ने अपने प्रत्याहार-सूत्रो मे ये ही तेरह वर्ण इत्सज्ञक रखे है। केवल ण् की आवृत्ति कर दी है। इन्द्र द्वारा, वैदिक काल से चली आती हुई स्वरान्त धातुओ के पीछे अन्त्य इत् जोड़ने की बात की पुष्टि नन्दिकेश्वर की 'अत्र सर्वत्र सूत्रेषु' इस कारिका की उपमन्यु-कृत व्याख्या से होती है।[1]

अन्य वैयाकरण—शाकटायन, गार्ग्य और इन्द्र के अतिरिक्त पाणिनि-पूर्व के वैयाकरणो मे शाकल्य, काश्यप, भारद्वाज, गालव, चाक्रवर्मण, सेनक, स्फोटायन, आपिशलि, वैयाघ्रपद्य और काशकृत्स्न के नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। इनमे शाकल्य, काश्यप और भारद्वाज का उल्लेख प्रातिशाख्यो मे मिलता है। शाकल्य-कृत ऋक्-सहिता के पदपाठ की प्रशंसा भाष्य मे भी है। पाणिनि ने सन्धि-सम्बन्धी कुछ नियमो के विषय मे इनके मत का उल्लेख किया है।[2] पाणिनि और वार्त्तिककार दोनो ने इनके नियमो को शाकल कहा है। इनसे पता चलता है कि लौकिक भाषा पर भी इनका कोई व्याकरण था। भारद्वाज के मतभेद का उल्लेख इडागम-निषेध के विषय मे केवल एक बार अष्टाध्यायी मे हुआ है।[3] इसी प्रकार, गालव का चार बार[4] तथा चाक्रवर्मण, सेनक और स्फोटायन का एक बार उल्लेख मिलता है।[5] स्फोट के विषय मे विशेष विचार करने के कारण स्फोटायन नाम पडा था, यह बात हरदत्त की पदमंजरी से ज्ञात होती है। पुरुषोत्तम देव की भाषा-वृत्ति (६-१-७७) मे गालव का मत उद्धृत है, जिसके अनुसार दधि+अत्र के दधियत्र और दध्यत्र दो रूप होते है। चाक्रवर्मण द्वय को सर्वनाम मानते थे। भट्टोजि ने माघ के 'द्वयेषा' को चाक्रवर्मण प्रयोग माना है। भारद्वाज ने सभवत. अष्टाध्यायी पर वार्त्तिक लिखे थे। भाष्य मे भारद्वाजीय वार्त्तिको का अनेक बार उल्लेख है।

आपिशलि—आपिशलि का नामोल्लेख यद्यपि पाणिनि ने एक बार ही किया है,[6] किन्तु अन्य ग्रन्थो मे इनके विषय के महत्त्वपूर्ण उल्लेखो से यह स्पष्ट है कि ये शाकटायन के समकक्ष वैयाकरण थे। शाकटायन व्याकरण की अमोघा वृत्ति (३-२-१६४) मे आपिशलि और पाणिनि के व्याकरण को अष्टक कहा है। आपिशल-शिक्षा मे भी आठ ही प्रकरण हैं। पाणिनि-पूर्व व्याकरणो मे सर्वाधिक सूत्र भी इन्ही के उपलब्ध है। भाष्य (४-१-१४, पृ० ३६) मे आपिशल-ग्रन्थ का अध्ययन करनेवाली ब्राह्मणी का उल्लेख है। हरदत्त ने काशिका की पदमजरी व्याख्या मे शुद्धाशुद्ध शब्दो का विवेचन करते हुए शास्त्र-विहित शब्दो को साधु माना है और आपिशलि

---

१. तया चोक्तमिन्द्रेण—अन्त्यवर्णसमुद्भूता धातवः परिकीर्त्तिताः।

२. ६-१-१२७, ८-३-१९

३. ७-२-६३।

४. ८-४-६७, ७-३-९९, ६-३-६१, ७-१-७४।

५. ६-१-१२८, ५-४-११२, ६-१-१२१

६. ६-१-९१

व्याकरण द्वारा सिद्ध शब्दों को ही शास्त्र-विहित स्वीकार किया है।[१] महाभाष्य, काशिका, पदमंजरी, न्यास, शब्दकौस्तुभ आदि से यह भी पता चलता है कि पाणिनि के बाद भी आपिशलि के विशाल व्याकरण का प्रचार बना रहा। भाष्य में दो बार उनके व्याकरण के अध्ययन की चर्चा है।[२] स्वर-प्रकरण में आपिशलि, पाणिनि, व्याडि और गौतम इन चार वैयाकरणों का सादर उल्लेख है।[३] 'तथा चापिशलेर्विधि.' इस श्लोक-वार्तिक-चरण को स्पष्ट करते हुए तो भाष्यकार ने उनका एक सूत्र ही उद्धृत किया है, जिससे स्पष्ट है कि पतंजलि के समय में आपिशलि का सूत्रबद्ध व्याकरण न केवल उपलब्ध ही था, अपितु उसका अध्ययन-अध्यापन भी चालू था।[४] भाष्यकार द्वारा दिये गये 'आपिशलिशाला, व्याडिशाला'[५] उदाहरण, पदमंजरी द्वारा उद्धृत आपिशलि का 'मन्यकर्मण्यनादरे उपमाने विभाषाप्राणिषु' सूत्र तथा काशिकान्यास, प्रदीप, तन्त्र-प्रदीप, धातुवृत्ति आदि ग्रन्थों में उद्धृत आपिशलि के सूत्र उनकी लोकप्रियता के द्योतक हैं। इन उद्धृत सूत्रों से यह भी पता चलता है कि इनके तथा पाणिनि के सूत्रों में बहुत अधिक साम्य था।[६] टाप्, ठन्, शप् आदि प्रत्यय, सार्वधातुक संज्ञा तथा भष् और अम् प्रत्याहार पाणिनि ने आपिशलि से ही लिये हैं। काशिका एवं पदमंजरी में आपिशलि व्याकरण को 'दुष्करण' कहा है।[७] जिस प्रकार पाणिनीय व्याकरण में वृत् धातु समाप्ति की सूचक है, उसी प्रकार आपिशलि में वुप् है। महाभाष्य-प्रदीपिका, काव्यमीमांसा आदि ग्रन्थों में उद्धृत अंशों से पता चलता है कि आपिशलि ने सूत्रपाठ के अतिरिक्त शिक्षा, गणपाठ, उणादिपाठ और धातुपाठ की भी रचना की थी। विद्वानों में प्रचलित प्रवाद के अनुसार इनके धातुपाठ में अस् के स्थान पर स् धातु थी।

काशकृत्स्न और वैयाघ्रपद्य—आपिशलि के समान वैयाघ्रपद्य और काशकृत्स्न के व्याकरण भी भाष्यकार के बाद कई शताब्दियों तक उपलब्ध रहे। काशिका के अनुसार वैयाघ्रपद्य का व्याकरण दस तथा काशकृत्स्न का तीन अध्यायों में विभक्त था।[८] काशिका (७-१-९४) में एक पुरानी कारिका भी उद्धृत है, जिसके अनुसार वैयाघ्रपद्य के मत से नपुंसकलिंग के सम्बोधन में त्रपु आदि उकारान्त शब्दों के 'हे त्रपो, हे त्रपु' ये दो रूप होते थे।[९] भट्टोजि काशिका में उद्धृत

---

१. तत्र ये साधवस्ते शास्त्रेणानुशिष्यन्ते आपिशलेन व्याकरणेन। अपिशिलिना तर्हि केनावगतम्? ततः पूर्वेण व्याकरणेन।—पदमञ्जरी, भाग १, पृ० ६१७।

२. १-१-१, पृ० २६; ४-१-४, पृ० ३६।

३. ६-२-३६, पृ० २५७।

४. एवं च कृत्वा आपिशलेराचार्यस्य विधिरुपपन्नो भवति—धेनुरनञि कमुत्पादयति। ४-२-५४, पृ० १८२।

५. ४-१-८० तथा ६-२-८६

६. पदमञ्जरी २-३-१७ तथा यथा विभक्त्यन्तं पदम्—वेनोरनञः—शताच्च ठन्यता-वग्रन्थे—शन्विकरणे गुणः—करोतेश्चर्मनिर्देशश्च इत्यादि।

७. का० ४-३-११५।　　　८. का० ५-१-५८।

९. सम्बोधने तूशनसस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम्।
माध्यन्दिनिर्वष्टि गुणं त्विगन्ते नपुंसके व्याघ्रपदां वरिष्ठः॥

'शुष्किका शुष्कजङ्घा च' आदि कारिका को वैयाघ्रपद्य-विरचित मानते है। भाष्यकार ने आपिशलि के साथ ही व्याकरण-सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक के रूप मे काशकृत्स्न का स्मरण किया है और साथ ही काशकृत्स्नी मीमासा का उल्लेख भी।[1] काशकृत्स्न शब्द पाणिनि के अरीहणादि गण मे भी आया है। बादरायण सूत्रो मे इनकी चर्चा है। कैयट के प्रदीप मे भी इनके कुछ सूत्रो का उल्लेख है।[2] पदमजरीकार ने 'तदर्हम्' सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि दूसरे व्याकरणो मे यह सूत्र नही रखा गया है। हेलाराज के मत से ये दूसरे व्याकरण आपिशलि और काशकृत्स्न के थे।[3] यज्ञफल नाटक मे भी काशकृत्स्नी मीमासा का उल्लेख है। कुछ लोगो के मत से सकर्षकाण्ड या दैवतमीमासा भी काशकृत्स्न-प्रोक्त है। सरस्वतीकण्ठाभरण (४-३-२४६) की हृदयहारिणी टीका के अनुसार सूत्रो मे गौरव-लाघव-विवेचन काशकृत्स्न-व्याकरण की विशेषता थी।

व्याडि—सग्रहकार व्याडि भी पाणिनि के पूर्ववर्त्ती थे। भाष्यकार ने दाक्षायण नाम से इनका उल्लेख किया है और इनकी कृति को शोभना कहा है।[4] पाणिनि ने ऐषुकारिगण (४-२-५४) मे दाक्षायण शब्द का समावेश किया है। भाष्यकार ने शब्द के नित्यत्व और कार्यत्व पर विवेचन करते हुए कहा है कि सग्रह मे इस बात की प्रधान रूप मे परीक्षा की गई है और पर्याप्त समीक्षा के बाद वहाँ यह निर्णय दिया गया है कि शब्द नित्य भी है और कार्य भी।[5] इसी प्रसग में आगे भाष्यकार ने कहा है कि सग्रह मे सिद्ध शब्द का प्रयोग नित्य अर्थ मे और कार्य के प्रतिद्वन्द्वी के रूप मे किया गया है।[6] वार्त्तिककार ने व्याडि को द्रव्याभिधानवादी कहा है। भाष्यकार ने भी वार्त्तिक की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि आचार्य व्याडि शब्द के द्रव्याभिधायकत्व को न्याय्य मानते है।[7] महाभाष्य की प्रदीपोद्योत व्याख्या मे व्याडि के सग्रह को लक्ष्य-सख्यक ग्रन्थ कहा है।[8] वाक्यपदीय की पुण्यराज-कृत टीका से भी इसका समर्थन होता है।[9] महाभाष्य-प्रदीपिका ने संग्रह को इसी व्याकरण-शास्त्र का एकदेश बतलाया है।[10] इन उद्धरणो से यह भी पता चलता है कि सग्रह पाणिनीय शाखा का ही ग्रन्थ माना जाता था। पाणिनि

---

१. आ० १, पृ० २६।

२. २-१-५१ तथा ५-२-२१ पर प्रदीप टीका।

३. तदर्हमिति नारब्धं सूत्रं व्याकरणान्तरे।—पदमञ्जरी ५-१-११७ तथा वाक्यपदीय में इसी सूत्र की टीका मे हेलाराज।

४. २-३-६६, पृ० ४५३; ४-१-१ बा० ९, पृ० ११ तथा ६-१-९१, पृ० १४४।

५. आ० १, पृ० १३।

६. आ० १, पृ० १४।

७. द्रव्याभिध्यानं व्याडिः—द्रव्याभिधानं व्याडिराचार्यो न्याय्यं मन्यते।—१-२-६४ वा०, ४५, पृ० ५९०।

८. संग्रहो व्याडिकृतो लक्षसख्यको ग्रन्थः।

९. इह पुरा पाणिनीयेऽस्मिन् व्याकरणे व्याड्युपरचितं लक्षग्रन्थपरिमाणं संग्रहाभिधानं निबन्धनमासीत्।

१०. संग्रहोऽप्यस्यैव शास्त्रस्यैकदेशः।

और व्याडि या तो एक ही पूर्ववर्ती व्याकरण-शाखा के अनुयायी थे या परस्पर एक दूसरे के समर्थक। भाष्यकार ने आपिशलि, पाणिनीय, व्याडि और गौतम के ग्रन्थों का अध्ययन करनेवाले चारों सम्प्रदायों का एक साथ उल्लेख किया है। इससे भी इन चारों सम्प्रदायों में निकट सम्बन्ध जान पड़ता है। अन्तर यह है कि पाणिनि का ग्रन्थ शब्दानुशासनार्थ था और व्याडि का शब्द के अर्थ-विवेचन से सम्बद्ध। भाष्य की भर्तृहरिटीका में इस ग्रन्थ से अनेक श्लोक तथा वाक्य उद्धृत मिलते हैं।[१] रामायण ने हनुमान् को सूत्र, वृत्ति, अर्थ, पद और संग्रह का अध्येता बतलाया है।[२] हर्षचरित, चरक और मत्तफल नाटक के कर्त्ता इस ग्रन्थ से परिचित थे। ऋक्-प्रातिशाख्य में व्याडि के अनेक मत उद्धृत हैं। ऋक्-प्रातिशाख्य (१३-३१) में शाकल्य और गार्ग्य के साथ इनका उल्लेख है। ये दाक्षीपुत्र पाणिनि के ममेरे भाई थे, ऐसा कुछ विद्वानों का अनुमान है। कुछ समय तक दाक्षायण के संग्रह की इतनी प्रतिष्ठा थी कि योग्य कन्या से विवाह के लिए उसका अध्ययन आवश्यक माना गया था। इस कारण कुछ विद्यार्थी कुमारी-प्राप्ति के लोभ से दाक्षादि-प्रोक्त शास्त्रों का अध्ययन करने लग जाते थे।[३] काशिकाकार ने दुष्करण को व्याडि की अपनी उपज्ञा से प्रसूत बतलाया है, जिसकी न्यास-कृत व्याख्या से पता चलता है कि पाणिनि के लकारों के समान व्याडि ने अपने ग्रन्थ में दस कालबोधक दुष्करणों की कल्पना की थी।[४] पण्डित-मण्डली में प्रवाद है कि संग्रह के अतिरिक्त एक अन्य ग्रन्थ भी व्याडि ने लिखा था। पं० हरप्रसाद शास्त्री और स्टाइन ने हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में व्याडि की परिभाषा-वृत्ति का भी उल्लेख किया है। महाभाष्य की बहुत-सी परिभाषाएँ तथा न्याय, जिनमें 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्' भी सम्मिलित है, व्याडि से ही लिये गये हैं। व्याडि से अत्यन्त प्रभावित होने के कारण अनेक लोग महाभाष्य को व्याडि-संग्रह-विवृति भी कहते थे।

कालान्तर में वैयाकरण लोग संक्षेप में पढ़ने की ओर रुचि रखने लगे और अल्प-विद्या-परिग्रह की ओर उन्मुख हो गये। इस कारण, संग्रह-जैसा विशाल ग्रन्थ उपेक्षित होकर नष्ट हो गया।[५]

कुणि—कुणि का वृत्ति-सूत्र या तो पाणिनि-सूत्रों की व्याख्या थी या संग्रह का संक्षेप, जिसका लोप महाभाष्य की लोकप्रियता के कारण हो गया। वृत्ति-ग्रन्थ का उल्लेख काशिकाकार ने भी अपने आरम्भिक श्लोक में किया है।[६] इससे स्पष्ट है, यह ग्रन्थ भाष्य-रचना के पूर्व प्रचलित था। भाष्यकार ने 'पूर्वत्रासिद्धम्' (८-२-१) के भाष्य में जो शास्त्रासिद्धत्व-पक्ष स्थापित किया है,

---

१. १-२६, १-४४, १-७७, ३-३, ३-१३ आदि की टीका।

२. ससूत्रवृत्त्यर्थपदं महार्थं ससंग्रहं साध्यति वै कपीन्द्रः।—उत्तर रामा० ३६-४६।

३. काशि० ६-२-६९।

४. काशि० २-४-४१ तथा न्यासव्याडिरप्यत्र युगपत् कालभाविनां विधीनां मध्ये दश दुष्करणानि कृत्वा परिभाषितवान् पूर्वं पूर्वं कालमिति।

५. प्रायेण संक्षेपरुचीनल्पविद्या परिग्रहान्।
सम्प्राप्य वैयाकरणान् संग्रहेऽस्तमुपागते॥—वाक्यपदीय२-४८४।

६. वृत्तौ भाष्ये तथा धातुनामपारायणादिषु।—काशि०।

उसपर कैयट ने कहा है कि भाष्यकार ने वृत्ति-ग्रन्थों के कथन को एक ओर हटाकर यहाँ शास्त्रासिद्धत्व-पक्ष का ग्रहण किया है। इससे भी वृत्ति-ग्रन्थ का पूर्व अस्तित्व सिद्ध होता है। भाष्य (१-१-७४) की टीका मे कैयट ने इस सूत्र के भाष्य को कुणि के विचारों का अनुवर्त्ती बतलाया है।[1] हरदत्त ने पदमजरी मे काशिका के पूर्वोक्त प्रारम्भिक मगल-श्लोक का विवेचन करते हुए कहा है कि 'सूत्रार्थप्रधान ग्रन्थ वृत्ति कहलाता है।' काशिका के श्लोक मे वृत्ति शब्द पाणिनि के बनाये हुए सूत्रो पर कुणि आदि आचार्यो द्वारा किये हुए विवरण या वृत्ति के लिए आया है।[2]

अन्य प्राचीन वैयाकरण—पतंजलि से पूर्व के वैयाकरणों मे पाणिनि और कात्यायन को छोडकर, जिनकी चर्चा आगे की जायगी, तैत्तिरीय और मैत्रायणीय प्रातिशाख्यो मे आग्निवेश्य, आग्निवेश्यायन, आत्रेय, आह्वारक, उख्य उत्तमोत्तरीय, काण्डमायन, कौण्डिन्य, कौहली-पुत्र, गौतम, तैत्तिरीय, पौष्करसादि, प्लाक्षायण, प्लाक्षि, भारद्वाज, माचाकीय, मीमासक, वाडमीकर, वात्सप्र, वाल्मीकि, शांखायन, शैत्यायन, स्थविर कौण्डिन्य, साकृत्य और हारीत; ऋक्प्रातिशाख्य मे इनके अतिरिक्त, आन्यतरेय, आगस्त्य, कौत्स, गार्ग्य, पाचाल, प्राच्य पाचाल, वाभ्रव्य, माक्षव्य, माण्डूकेय, यास्क, वेदमित्र, शाकल्यपिता, शूरवीर और शौनक; वाजसनेयी प्रातिशाख्य मे औपशीवि, काण्व, काश्यप, जातूकर्ण्य, दाल्भ्य, माध्यन्दिन तथा ऋक्तन्त्र मे औदव्रजि, नैगी, वृहस्पति एव ब्रह्मा ये नाम मिलते हैं। निरुक्त और पाणिनि ने जिन वैयाकरणो का नामपूर्वक उल्लेख किया है, उनको छोडकर वार्त्तिककार ने शौनक और पौष्करसादि तथा भाष्यकार ने आपिशलि, काशकृत्स्न, कुणर वाडव, क्रौष्ट्रीय, गोनर्दीय, गौतम, भारद्वाजीय, यास्क, वार्ष्यायणि, व्याडि, शाकटायन और सौनाग की चर्चा की है। पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट दसो वैयाकरणो का पाणिनि से केवल सन्धिकार्य, द्वित्व, आगम, स्वर एव गुण के ही विषय मे मतभेद था। प्रत्यय या शब्दसिद्धि के विषय मे नही। पाणिनीय व्याकरण में जो मतभेद-दर्शक अट्ठारह सूत्र मिलते है, उनमे आठ केवल सन्धिविषयक है। शौनक पौष्करसादि और भागुरि पार्षद-काल के वैयाकरण थे। पौष्करसादि और चारायण नाम भाष्य मे भी मिलते हैं। शेष का नामपूर्वक उल्लेख अथवा उनके मतो की अलोचना भाष्य से पूर्व ही होने लगी थी। भाष्य मे उपलब्ध कम्बल-चारायणीय, घृतरौटीय और ओदनपाणिनीय इन आक्षेप-परक शब्दो से स्पष्ट है कि चारायण और रौटिशाखा के व्याकरणों की प्रतिष्ठा भी अष्टाध्यायी के साथ-साथ थी। डॉ० कीलहॉर्न ने चारायण की एक शिक्षा का भी उल्लेख किया है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि ई० पू० ५०० तथा उसके निकटवर्त्ती उत्तर काल मे व्याकरण का विधिवत् शास्त्र देश मे विद्यमान था।

---

१. कुणिना प्राग्ग्रहणमाचार्यनिर्देशार्थं व्यवस्थितविभाषार्थमिति च व्याख्यातम्। तेन क्रोडो नाम उदग्र ग्रामस्तत्र भवः क्रौड इत्येवं भवति। भाष्यकारस्तु कुणिदर्शनमशिश्रियत्। —१-१-७४ प्रदीपे।

२. तत्र सूत्रार्थप्रधानो ग्रन्थो वृत्तिः। सा चेदं पाणिनिप्रणीतानां सूत्राणां कुणिप्रभृतिभिराचार्यैर्विरचितं विवरणम्।

तृतीय सोपान

पाणिनि-काल

पृष्ठभूमि—व्याकरण के मूल में वेद-रक्षा की धार्मिक भावना थी। वेद-संहिताओं को सुरक्षित रखने तथा उन्हें अशुद्ध उच्चारणों, व्याख्याओं और प्रक्षेपों से बचाने की चिन्ता ने ही निरुक्त और व्याकरण को जन्म दिया था।[1] पतंजलि ने व्याकरण-शास्त्र के अध्ययन के प्रयोजनों का उल्लेख करते हुए वेद-रक्षा को प्रथम स्थान दिया है।[2] इसीलिए ईसा-पूर्व आठवीं या सातवीं शताब्दी में, जबकि देश में प्राकृत भाषाओं के विविध रूपों का प्रचार बढ़ने लगा था, निरुक्त और व्याकरण-ग्रन्थों का प्रणयन तेजी से हुआ। इस समय व्याकरण का उद्देश्य शास्त्र-विहित और परम्परागत साधु शब्दों का समर्थन करना और भाषा को अपभ्रंश शब्दों के मिश्रण से बचाकर रखना था। इसीलिए, व्याकरण को शब्दानुशासन या शब्दानुशासन शास्त्र नाम दिया गया था। जैन और बौद्ध धर्मों के प्रवर्तन से प्राकृतों को और बल मिला। जो भाषाएँ अबतक प्राकृत जनों में व्यवहृत थीं, वे अब संस्कृत समाज में भी छा जाने का उपक्रम करने लगीं। जिनका प्रवेश धर्म और दर्शन के क्षेत्र में निषिद्ध था, उनके हाथ उसकी रक्षा का भार सौंप दिया गया। संस्कृताभिमानी लोगों पर इसकी प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। इन्होंने शिष्ट भाषा को अपभ्रंशों से अस्पृष्ट रखने के लिए मीमांसा-शास्त्र के रूप में व्याकरण को पुष्ट किया और इस प्रकार के प्रयत्नों की पूर्णता पाणिनि की अष्टाध्यायी की रचना में हुई।

भाषाविज्ञान का सामान्य सिद्धान्त है कि जब एक भाषा दूसरी भाषा के सम्पर्क में आती है तब व्याकरण को बहुत उत्तेजना मिलती है। इसी प्रकार, अनिवार्य परिस्थितियों के कारण जब एक भाषा से बहुत-सी बोलियाँ बन जाती हैं, तब भी व्याकरण का महत्त्व बढ़ता है। विजेता और विजित का पारस्परिक प्रभाव, जलवायु की स्थिति में अन्तर, व्यक्तियों का एक देश से दूसरे देश को स्थानान्तरण और उस अवधि में अपनी अभिव्यक्ति-शैली और संकेत-पद्धति में सुधार, ये बातें भाषा में परिवर्तन उत्पन्न करती हैं, जिससे व्याकरण गम्भीर रूप से प्रभावित और समृद्ध होता है। यदि यह सिद्धान्त ठीक है, तो संस्कृत के विभिन्न प्राकृतों में विकसित होने तथा व्याकरण की समृद्धि के इस युग में उपर्युक्त बातों में से एक-न-एक अवश्य विद्यमान रही होगी।[3] डॉ० बर्नेल के मत से भी विदेशी जातियों के किंचित् सम्पर्क और देश के भीतर धार्मिक सम्प्रदायों में तीव्र संघर्ष के बिना पाणिनीय अष्टाध्यायी जैसा सर्वांगपूर्ण भाषावैज्ञानिक चिन्तन का ग्रन्थ कभी कहीं लिखा जाता हुआ नहीं देखा गया।[4]

---

१. दि मोस्ट इम्पोर्टेण्ट फैक्टर इन दि इवोल्यूशन ऑफ् ग्रामर एज साइंटिफिक ऐण्ड इण्डिपेण्डेण्ट ब्रांच ऑफ् स्टडी, वाज दि नेसेसिटी मोर रिलीजस दैन एकेडेमिक, ऑफ् डिवाइजिंग सम प्रैक्टिकल मीन्स इन्श्योरिंग सक्सेसफुल स्टडी ऑफ् दि वेदाज।—पी० सी० चक्रवर्ती: दि फिलासफी ऑफ् संस्कृत ग्रैमर, पृ० ७।

२. रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्।—म० १, पृ० २।

३. डॉ० बेलवलकर: सिस्टम्स ऑफ् संस्कृत ग्रामर, पृ० २-३।

४. डॉ० बर्नेल विद लाइक सम कॉण्टैक्ट विद फारेन पीपुल्स एण्ड बिटर डिस्प्यूट्स एमांग

पाणिनिकालीन भाषा—पाणिनि के समय तक वैदिक और लौकिक संस्कृत में विशेष अन्तर नही था। ऋग्वेद के दूसरे और नवें मण्डल तथा उस पर अधिष्ठित यजुर्वेद और सामवेद की भाषा को छोडकर शेष सम्पूर्ण वाङ्मय की भाषा सामान्य संस्कृत ही थी। ऋग्वेद के उपर्युक्त भाग मे भी 'अग्निमीडे०' (१-१-१), 'तत्सवितु' (३-६०-१०), 'सहस्रशीर्षा' (१०-९०-१) आदि सैकडो ऋचाओं की भाषा मे नाममात्र के लिए भी आर्ष प्रयोग नही थे। फिर भी, वैदिक भाषा पवित्र देववाणी मान ली गई थी। इसलिए, उसे शुद्ध रखने एव उसकी शुद्ध व्याख्या करने की प्रवल इच्छा संस्कृत लोगो मे विद्यमान थी। पाणिनि ने इस भावना का ध्यान रखते हुए वेद मे प्राप्त, किन्तु लोक मे प्रचलित शब्दो का सम्यक् अनुशीलन करके उनके शुद्ध उच्चारण और अभिप्रेत अर्थ की दृष्टि से 'छन्दसि' या 'मन्त्रे' नाम से कुछ विशिष्ट सूत्रों का निर्माण किया। वैदिक वाङ्मय के भिन्न-भिन्न कालो तथा देश के भिन्न-भिन्न भागो मे रचित होने के कारण उसमे एक अर्थ के वाचक अनेक शब्द, एक क्रिया की वाचक अनेक धातु तथा एक ही सम्बन्ध के बोधक अनेक प्रत्यय विद्यमान थे। लौकिक भाषा मे यह संख्या यद्यपि कम हो गई थी, तथापि एक अर्थ के बोधक अनेक शब्द विद्यमान थे ही। प्राकृत भाषाओ मे आधुनिक आर्य भारतीय भाषाओ के समान नये-नये अनेक पदार्थों के व्यवहार मे आ जाने के कारण यद्यपि शब्द-संख्या कही अधिक थी, तथापि एकार्थवाचक धातुओ, संज्ञाओ और प्रत्ययो की संख्या मे और अधिक कमी हो गई थी। इतना ही नही, द्विवचन, चतुर्थी विभक्ति, आत्मनेपद आदि का प्रयोग नाममात्र को रह गया था और ऋ, ॠ, ऌ, ऐ, औ स्वरों तथा संयुक्ताक्षरो का प्रचलन दिन-पर-दिन कम होता जा रहा था। पाणिनि के समक्ष ऐसे शब्दो का एक बड़ा समूह वर्त्तमान था, जो विशिष्ट जनसमूह या विशिष्ट प्रदेश मे ही व्यवहृत होता था, किन्तु अभिजात वाङ्मय मे जिसे स्थान न था। ऐसे शब्दसमूह और भाषा को पाणिनि ने अपने व्याकरण मे स्थान न देकर शिष्ट-वर्ग मे समादृत भाषा का ही विवेचन किया। इस समय उत्तर भारत के अभिजात-वर्ग की भाषा शिष्ट मानी जाती थी। भाषा की दृष्टि से भारत के प्राक् और उदक् दो विभाग थे। इरावती के उत्तर-पश्चिम का भाग उदक् माना जाता था और पूर्व का प्राक्।[1] इस प्रकार, सिन्धु और सतलज नदियो के बीच का भाग उत्तर था। इस भाग की भाषा प्रज्ञाततरा कही जाती थी। दूर-दूर के लोग वाणी सीखने वहाँ जाते थे और वहाँ से लौटने पर विशेष सम्मानित होते थे।[2] पाणिनि इसी प्रदेश के निवासी थे। स्वभावत. उन्होंने इस प्रदेश की भाषा के लिए अपना व्याकरण बनाया, किन्तु प्राग्देश मे प्रचलित प्रयोगो को भी उसमे स्थान दिया। पाणिनि द्वारा पदो के परस्पर सम्बन्ध, पदो के समास, पदो के प्रकृति-प्रत्यय-मूलक विभाग, सन्धि-कार्य,

---

रिलीजस सैंक्ट्स ऐंट होम, सच हाइली डेवलेण्ड इनक्वायरी इन टु लैंग्वेज ऐज पाणिनीय ट्रीटाइज डिस्प्लेज, इज कान्ट्रेरी टु ऑल एक्सपिरियन्स। ऐन्द्र स्कूल ऑफ् ग्रैमेरियन्स।

१. प्रागुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरोदके यथा।
विदुषां शब्दसिद्ध्यर्थं सा नः पातु इरावती (शरावती ?)॥—काशि० १-१-७५।

२. तस्मादुदीच्यां दिशि प्रज्ञाततरा वागुद्यते। उदञ्च उएव यान्ति वाचं शिक्षितुम्। यो वा तत आगच्छति तस्य वा शुश्रूषन्ते। —शांखा० ब्रा० ७-६।

स्वर, सुवन्त-तिडन्त पदो की सिद्धि आदि पर शास्त्रशुद्ध वैज्ञानिक एव लाघवयुक्त ग्रन्थ लिखने के वाद शब्दशास्त्र के लिए व्याकरण शब्द का प्रयोग रूढ हो गया।

पाणिनि ने अपने समय मे प्रचलित भाषा के लिए 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया है। भाषा अर्थ मे सस्कृत शब्द का प्रयोग अष्टाध्यायी मे नही मिलता। विशेषण रूप मे इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम रामायण मे प्राप्त होता है।[1] रामायण से यह भी विदित होता है कि व्याकरण के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य अपशब्दो के प्रयोग से वचते हुए सस्कृत भाषा का शुद्ध प्रयोग माना जाता था।[2] इस समय जैसे वैदिक भाषा की कुछ विशेषताओ का ग्रहण करते हुए उत्तर देश मे वोलचाल की सस्कृत का विकास हुआ था, उसी प्रकार वैदिक भाषा की अन्य तथा भिन्न-भिन्न विशेषताओ को आत्मसात् कर शूरसेन, कोसल, प्राग्देश, मगध, मालव, महाराष्ट्र, लाट आदि प्रदेशो मे उन प्रदेशो की सस्कृत विकसित हुई थी। पाणिनि-काल तक शब्दो के अर्थ, सम्बन्ध तथा वाक्य-रचना की दृष्टि से इन सब प्रदेशो की भाषा एक थी। केवल स्वर, सन्धि-कार्य, ह्रस्व-दीर्घ-व्यतिक्रम तथा कही-कही विशिष्ट प्रत्यय या आगम-सम्बन्धी अन्तर दृष्टिगोचर होते थे। इस प्रादेशिक सस्कृत के भिन्न-भिन्न व्याकरण इन्द्र, आपिशलि, कात्यायन, गार्ग्य, शाकटायन इत्यादि पूर्वोक्त वैयाकरणो ने निर्मित किये थे। इनमे ऐन्द्र व्याकरण शूरसेन या हस्तिनापुर के पास-पडोस मे प्रचलित था। इस व्याकरण के अनुसार व्युत्पन्न शब्दो का प्रयोग महाभारत मे देखा जा सकता है।

पाणिनि पर पूर्वाचार्यों का प्रभाव और उनका समन्वयवादी दृष्टिकोण—पाणिनि ने इन समस्त प्रादेशिक रूपो का समन्वय कर सस्कृत का देशव्यापी एकरूप उपस्थित किया। उन्होने प्रत्येक प्रान्त के विशिष्ट रूपो को उनके समर्थक आचार्यो के नामोल्लेख-सहित विकल्प रूप से अपने व्याकरण मे स्वीकृत किया। उनके द्वारा आठ वार किया गया 'प्राच्य' आचार्यों के मत का उल्लेख (जिसमे छह तद्धित प्रत्यय-सम्बन्धी मतभेद हैं) इस बात का प्रमाण है कि वे प्रादेशिक मतभेदो का समन्वय कर सस्कृत का एकदेशव्यापी स्वरूप खडा करना चाहते थे। एतदर्थ, उन्होंने समस्त पूर्ववर्त्ती कृतियो से लाभ उठाया। शब्द-सिद्धि के लिए सारी आवश्यक और अपने अनुकूल वातें उन्होने प्राचीन वैयाकरणो से ज्यो-की-त्यो ले ली। उन्होने अक्षर-समाम्नाय प्रातिशाख्य-ग्रन्थों तथा अग्रज वैयाकरणो से लिया। यद्यपि अपनी सुविधा के लिए उन्होंने उसमे से कुछ वर्ण छोड दिये, कुछ के भेद कल्पित कर लिये और कुछ का क्रम वदल दिया। फिर भी, अपनी ओर से किसी नये वर्ण का समावेश नही किया। लाघव के लिए एक समान शब्दावली मे से नमूने के लिए एक शब्द सूत्र मे ग्रहण कर शेष के लिए गण की कल्पना कर गणपाठ मे उनका समावेश कर दिया। गणपाठ मे भी उन्होने अनेक गण आपिशलि आदि से ले लिये। धातु और धातुपाठान्तर्गत गणो के विषय मे भी उन्हे पूर्व-वैयाकरणो और कोशकारों से पर्याप्त सहायता मिली। वयालीस वर्णो को एक विशेष क्रम मे १४ सूत्रो के भीतर निविष्ट कर प्रत्या-

---

१. वाच चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह सस्कृताम्।—सुन्दर का० ३०-१७।

२. नून व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहुव्याहरतोऽनेन न किञ्चिदपभाषितम्॥—किष्कि० का० ३-२९।

हारो द्वारा सक्षेप मे बात कहने का मार्ग सुकर कर लिया। इन वर्णों से बने बयालीस प्रत्याहारों का उपयोग उन्होंने अपने व्याकरण मे किया। प्रत्याहारो की प्रेरणा उन्हे इन्द्र, आपिशलि आदि से मिली। सन्धि-कार्य के विषय मे प्रातिशाख्य विद्यमान ही थे। उनके सारे नियमों का ग्रहण कर केवल मतभेद के स्थलो मे पूर्वाचार्यो का उल्लेख किया और वैकल्पिक रूप से उनके द्वारा समर्थित प्रयोगो का ग्रहण कर लिया। सर्वनाम अव्यय, धातु, प्रातिपदिक इत्यादि लोक-प्रसिद्ध सज्ञाएँ पूर्वाचार्यो से ले ली। पाणिनि ने निरुक्त मे व्यवहृत अनेक सज्ञाओ का प्रयोग भी स्वच्छन्दतापूर्वक किया है, यद्यपि अनेक स्थानो पर दोनो आचार्यो द्वारा व्यवहृत सज्ञाओ मे अन्तर है। जैसे—

यास्क	पाणिनि	यास्क	पाणिनि
कारित	णिजन्त	चर्करीति	यङ्लुङन्त
चिकीर्षित	सनन्त	व्यंजन	विशेषण
निवृत्ति-स्थान	(कुछ नही)	नामकरण	(कुछ नहीं)

यास्क ने सर्वनाम शब्द का प्रयोग 'सर्वाणि नामानि यस्य' अथवा 'सर्वेषु भूतेषु नमति गच्छति वा' इस अर्थ मे किया है, पाणिनि के समान पारिभाषिक अर्थ में नही। इसी प्रकार, यास्क मे निपात शब्दो के पृथक् अर्थ बतलाते हुए निपातों की 'उच्चावच्चेष्वर्थेषु निपतन्ति' यह व्याख्या दी है, किन्तु पाणिनि ने क्रिया के योग मे उन्हे उपसर्ग तथा क्रियाजन्य शब्दों के योग मे गति और कर्मप्रवचनीय सज्ञा दी है। इससे यास्क और पाणिनि के काल के बीच पर्याप्त अन्तर जान पडता है। फिर भी प्रत्यय, प्रथमा, द्वितीया आदि से सप्तमी तक विभक्ति, नाम, समास, तत्पुरुष, अव्ययीभाव, बहुव्रीहि, कृत, तद्धित आदि प्राचीन सज्ञाओ का व्यवहार उन्होंने उसी रूप मे किया और उनकी व्याख्या करने की आवश्यकता नही समझी। नामधातु और दशगणी व्याडि की देन है। इसके अतिरिक्त लाघव के लिए एक प्रकार के शब्दो का एक विशेष सकेत द्वारा बोध करानेवाली टि, घु, नदी, निष्ठा आदि सज्ञाएँ उन्होने स्वय कल्पित कर ली। इसीलिए, गोल्डस्टुकर ने कहा है कि पाणिनि अपनी अष्टाध्यायी मे वर्णित व्याकरण-पद्धति के आविष्कर्त्ता नही थे। फिर भी, यह सत्य है कि उन्होंने पूर्ववर्त्ती वैयाकरणो की पद्धति मे काफी सुधार किया और उसमे अपनी ओर से भी बहुत कुछ जोड़ा। उन्होंने प्राचीन वैयाकरणों की पारिभाषिक शब्दावली से भी लाभ उठाया।[1] डॉ० बर्नेल के अनुसार ऐन्द्र शाखा सब व्याकरणो मे प्राचीनतम थी। पाणिनि उससे परिचित थे और उन्होने उससे बहुत कुछ लिया है।[2] प्राचीन आचार्यो की शब्दावली के व्यवहार के कारण ही कुछ विचारक महाभाष्य के पस्पशाह्निक के 'पाणिनिना प्रोक्त पाणिनीयम्' को आधार बनाकर कहते है कि अष्टाध्यायी पाणिनि द्वारा प्रोक्त है, कृत नही।[3] इसकी नि.सारता भाष्य मे प्रयुक्त प्रणयति स्म, प्रयुङ्क्ते,

---

१. पाणिनि हिज प्लैस इन संस्कृत लिटरेचर, पृ० ८८।
२. ऐन्द्र स्कूल ऑफ् ग्रैमेरियन्स—निबन्ध।
३. आई० ई० पवाटे : दि स्ट्रक्चर ऑफ् अष्टाध्यायी, पृ० ११८-१९।

की वृत्ति मे अष्टाध्यायी को पाणिन्युपज्ञ तथा अकाल व्याकरण कहा है। काशिका, सरस्वती-कण्ठाभरण और वामनीय लिंगानुशासन ने भी इसी बात को दुहराया है। विद्वानों का मत है कि अष्टाध्यायी के जिन सूत्रो पर महाभाष्य मे 'किमर्थमिदमुच्यते' द्वारा आनर्थक्य-शका उठाई है, वे ही पाणिनि के स्वोपज्ञसूत्र हैं।

अष्टाध्यायी पूर्व व्याकरणों की अपेक्षा कही सक्षिप्त है। आगे चलकर सक्षेप में कहने की पद्धति पर व्याकरण मे बहुत वल दिया जाने लगा। इसीलिए, पाणिनि ने प्रत्ययार्थ के प्राधान्य-सूचक, वचन एव काल (भूत, भविष्यत् आदि), उपसर्जन आदि की परिभाषाओ के लिए सूत्र नही बनाये। अनेक विद्वानो के अनुसार इस विषय मे पाणिनि की स्थिति को स्पष्ट करनेवाले 'तदशिष्यं सज्ञाप्रमाणत्वात्' आदि (१-२-५३ से ५७) पाँच सूत्र प्रक्षिप्त हैं। सक्षेप की ओर दृष्टि रखने के कारण ही उन्होंने एक प्रयोग के लिए सूत्र नही बनाया।[1] इसीलिए, स्वय पाणिनि-सूत्रों के अनेक प्रयोग पाणिनि-सूत्रों से सिद्ध नही होते। इस प्रकार के जनिकर्त्तु. (१-४-३०), तत्प्रयोजक (१-४-५५), तिर्यञ्चि (३-४-६०), अन्वचि (३-४-६४), पुराण, सर्वनाम तथा ग्रन्थवाची व्राह्मण शब्द आदि पाणिनि-प्रयोगो को भाष्यकार ने सौत्र निर्देश या आर्ष मानकर सन्तोष कर लिया है। इसीलिए, महाभारत के टीकाकार देवबोध ने ऐन्द्र व्याकरण को अर्णव और अष्टाध्यायी को गोष्पद की उपमा दी है।[2]

अष्टाध्यायी सहिता-पाठ मे थी। स्थानेन्तरतम. (१-१-५०) के भाष्य मे पतंजलि ने इस बात को सूचित किया है।[3] उन्होने अन्य आचार्यो के योग-विभागों को प्रमाण न मानकर अपने योग-विभाग भी दिये है, यथा टिड्ढाणञ्.... कञ् क्वरपो यञ्च (४-१-१५)। सहिता का विच्छेद प्रवचन-काल मे हुआ, किन्तु भाष्यकार ने अष्टाध्यायी का सहिता-पाठ मानकर भाष्य लिखा है। अष्टाध्यायी एकश्रुति मे थी।[4] कैयट ने इस विपय मे अन्य आचार्यो का अनुमोदन-परक मत उद्धृत किया है।[5] यद्यपि उनका अपना मत इससे भिन्न था। अनेक विद्वानो का विचार है कि मूल अष्टाध्यायी उदात्तादि स्वर एव अनुनासिकादि-सहित थी, किन्तु पदसाधुत्व के विषय मे स्वरों के विशेप उपयोगी न होने के कारण स्वर नष्ट हो गये। नागेश भी सूत्र-पाठ को सस्वर ही मानते हैं।[6] उनके इस मत का आधार भाष्यकार की 'आद्युदात्तनिपातनं करिष्यते' (६-१-१६७, पृ० २११) यह उक्ति है। उन्होंने कहा है कि 'आचार्य ने सारी अष्टा-ध्यायी एकश्रुति से पढी है, इस बात मे कोई प्रमाण नही है। हाँ, कही-कही किसी पद (यथा-दण्डिनायनादि सूत्र मे ऐक्ष्वाक) का एकश्रुति से पाठ अवश्य है। भाष्य से भी इतनी ही

---

१. नैकं प्रयोजनं योगारम्भं प्रयोजयति। १-१-१२, वा० २, पृ० १७८।

२. यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनि गोष्पदे॥

३. उभयथाऽपि तुल्या सहिता स्थानेऽन्तरतम उरण् रपर इति। १-१-५०, पृ० ३०३।

४. एकश्रुतिनिर्देशात् सिद्धम्। १-४-१७४, वा० ४, पृ० ५०८।

५. अन्ये त्वाहुः एकश्रुत्या सूत्राणि पठयन्त इति। कैयट प्रदीपोद्योत, १-१-१।

६. नागेश, १-१-१, पृ० १५३, निर्णयसागर-संस्करण।

बात सिद्ध होती है। जिस प्रकार पाणिनि ने टि घु आदि अपनी संज्ञाएँ कल्पित कर सर्वनाम, सर्वनाम-स्थान अव्यय अन्तरस्थान् आदि प्राची संज्ञाएँ ले लीं, उसी प्रकार उन्होंने अपने सूत्रों के साथ कुछ प्राचीन सूत्र भी ले लिये। यथा 'पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति' (४-४-३५), 'परिपन्थं च तिष्ठति' (४-४-३६), 'नोदात्तस्वरितोदयम्' (८-४-६७) आदि। इनमें प्रथम दोनों मिलकर छन्द बनाते हैं। ये छन्दोबद्ध व्याकरण से लिये गये हैं। तृतीय भी छन्द का ही चरण है। पाणिनि-शैली के विपरीत इसमें 'उदात्तस्वरितोदययो.' के स्थान पर 'उदात्तस्वरितोदयम्' पढ़ा गया है। वास्तव में यह वचन ऋक्-प्रातिशाख्य से लिया गया है।[1] इसी प्रकार, अष्टाध्यायी में अनेक आपिशलि-सूत्र भी मिलते हैं। अनेक सूत्र प्रतिशाख्यों और श्रौतसूत्रों के हैं। भाष्य में अनेक सूत्रों के प्रसंग में पूर्वसूत्र-निर्देश का उल्लेख मिलता है। ये पूर्वसूत्र पाणिनि के पूर्वाचार्यों द्वारा निर्मित हैं।[2] आपिशलि और पाणिनि की शिक्षा के तो छह प्रकरण प्राय: समान हैं। पहले पाद के प्रथम सूत्र के आधार पर पादों के नाम भी प्रचलित थे। सीरदेव की परिभाषा-वृत्ति में गाङ्कुटादि पाद (१-२), भू-पाद (१-३), द्विगुपाद (२-४) सम्बन्ध-पाद (३-४), अगपाद (६-४) आदि नाम मिलते थे। धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र और लिंगानुशासन अष्टाध्यायी के ही पूरक हैं और पाणिनि-कृत हैं।

उपर्युक्त तदशिष्यंसंज्ञाप्रमाणत्वात् (१-२-५३) सूत्र की व्याख्या में काशिकाकार ने पाणिनीय व्याकरण को अकालक कहा है। पदमंजरी के अनुसार इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अन्य प्राचीन व्याकरणों में भवन्ती, अद्यतनी, श्वस्तनी, परोक्षा, अनद्यतनी, भविष्यन्ती आदि कालदर्शक अधिकार हैं, उस प्रकार इसमें नहीं हैं। इसीलिए, यह कालाधिकार-रहित व्याकरण कहा गया है।[3] यद्यपि पाणिनि ने इन शब्दों का प्रयोग किया, किन्तु कातन्त्र-व्याकरण की भाँति अधिकार-रूप में नहीं।[4] उन्होंने इनके स्थान पर लट्, लिट् आदि लकार-युक्त दस संज्ञाओं का उपयोग किया है।

अष्टाध्यायी का महत्त्व—अपने व्याकरण को सर्वमत-समन्वित, सर्वग्राह्य एवं पूर्ण बनाने के लिए पाणिनि ने अपने पूर्ववर्त्ती समग्र साहित्य और चिन्तन का तो उपयोग किया ही, साथ ही उन्होंने गान्धार से अंग, वंग, मगध, कलिंग आदि समस्त भारतीय जनपदों के अन्तिम छोर तक पर्यटन कर वहाँ के चाल-ढाल, आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज, वेश-भूषा, उद्योग-धंधों, वाणिज्य-उद्योग, उनकी भाषा, उनमें प्रचलित वैदिक शाखाओं, अध्ययन-ग्रन्थों तथा उनके गोत्रवाचक, स्त्रीवाचक, व्यक्तिवाचक, देशवाचक, नगरवाचक, ग्रामवाचक आदि विशेष नामों की पूर्ण जानकारी प्राप्त की। उन्होंने प्रत्येक स्थान पर प्राप्त होनेवाले पूर्व वैयाकरणों के ग्रंथों तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थों का अवलोकन किया। उनमें दिये गये विशिष्ट नियमों और

---

१. उदात्तपूर्वं नियतं विवृत्या व्यञ्जनेन वा स्वर्यतेऽन्तर्हितं न चेदुदात्तस्वरितोदयम्। —ऋ० प्राति० ३-१७।

२. १-२-६८, ४-१-१४, ६-१-१६३, ७-१-१८, ८-४-७ भाष्य।

३. पूर्वाणि व्याकरणान्यद्यतनादिकालसंज्ञायुक्तानि तद्रहितम्।—पदमञ्जरी।

४. २-४-३, ३-२-१०२, ६-४-११४, ३-३-१५ आदि।

सञ्ज्ञाओ का सग्रह किया और अपने व्याकरण में उन सवका उपयोग किया। उनका व्याकरण न केवल शब्दानुशान की दृष्टि से परिपूर्ण है, अपितु वह तत्कालीन वाङमय सस्कृति का विश्वसनीय एव प्रामाणिक इतिहास भी है। अष्टाध्यायी के इस पक्ष से प्रभावित होकर ही वैरेण्ड फेंडरगन ने कहा है कि हम पाणिनि की पूजा इसलिए करते हैं कि उन्होने हमे भारत की आत्मा का साक्षात्कार कराया है।[१] व्याकरण की दृष्टि से उन्होंने केवल पूर्ववर्त्ती व्याकरणो का सक्षेप, विस्तार या समन्वय मात्र नही किया, उन्होने उसमे वहुत कुछ मौलिक भी जोड़ा। उनका व्याकरण इतना सुव्यवस्थित, वैज्ञानिक, लाघवपूर्ण एव सर्वांगपूर्ण हुआ कि उनके सामने समस्त व्याकरण फीके पड गये। यहाँतक कि धीरे-धीरे प्रादेशिक व्याकरणो का प्रचलन वन्द हो गया और कालान्तर मे वे नष्टप्राय हो गये।

भाष्यकार ने पाणिनि को प्रमाणभूत आचार्य, मागलिक आचार्य, सुहृद्, भगवान् आचार्य पाणिनि आदि विशेषणो के साथ सम्वोधित किया है और आचार्याचार (१-१-१) तथा आचार्य-शैली को भी प्रमाण माना है। उन्होने कहा है कि आचार्य पाणिनि पवित्र स्थान में प्राङमुख बैठकर तथा पवित्र दर्भ हाथ मे लेकर वड़े प्रयत्न से सूत्र वनाते थे। उनके सूत्र मे एक वर्ण भी अनर्थक नही हो सकता, सारे सूत्र का कहना ही क्या ।[२] अन्यत्र भी उन्होंने कहा है कि मै अपने सामर्थ्य के आधार पर कह सकता हूँ कि इस शास्त्र मे ऐसा कुछ नही, जो निरर्थक हो ।[३] उन्होंने जो सूत्र वनाये है, वे वहुत सोच-विचारकर। वनाने के वाद वे सूत्रो को वापिस नही लेते थे ।[४] उन्होंने सुहृद् के रूप मे व्याकरण-शास्त्र का अन्वाख्यान किया है।[५] रचना के समय उनकी दृष्टि भविष्य की ओर भी रहती थी और वे दूर तक की वात सोचते थे। इस कारण उनकी प्रतिष्ठा वच्चे-वच्चे तक फैल गई और विद्यार्थियो मे उन्ही का व्याकरण सर्वाधिक प्रिय हो गया ।[६]

पाणिनि का जीवन-चरित्र—पाणिनि के जीवन के विषय मे वहुत कम जानकारी प्राप्त है। पतजलि-चरित के अनुसार वे पणि नामक मुनि के पुत्र थे।[७] पणि की पत्नी का नाम

१. वी एडोर पाणिनि विकॉज ही रिवील्स डु आन दि स्पिरिट ऑफ् इण्डिया ऐण्ड वी एडोर इण्डिया विकॉज इट रिवील्स टु अस दि स्पिरिट ऑफ् दि स्पिरिट—फैंडरगन स्टडीज आन पाणिनीय ग्रामर, पृ० ६८।

२. प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचावकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रत्यनेन सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं किं पुनरियता सूत्रेण।—१-१-१, वा० ७, पृ० ९७।

३. सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदत्र पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात् ।—६-१-७७ पृ० ११०।

४. न चेदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्त्तयन्ति।—आ० देवा० १३, पृ० २६।

५. पश्यति त्वाचार्यः।—आ० १, पृ० १५।

६. आकुमारं यशः पाणिनेः।—१-३-८९, पृ० २०२।

७. सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदत्र पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात् ।—६-१-७७, पृ० ११०।

दाक्षी था।[1] भाष्यकार ने भी इन्हे दाक्षी-पुत्र कहा है।[2] काशिका (६-२-१४) तथा चान्द्र वृत्ति (२-२-६८) मे पाणिन शब्द का प्रयोग है, जिसका निर्देश अष्टाध्यायी (६-४-१६५) मे प्राप्त होता है। पणि से गोत्रापत्य अर्थ मे पाणिन और युवापत्य अर्थ मे पाणिनि शब्द की व्युत्पति पद-मजरीकार ने दी है। दाक्षी-पुत्र का उल्लेख पाणिनीय शिक्षा मे भी मिलता है। यशस्तिलक चम्पू मे इन्हें पणि-पुत्र कहा है।[3] पुरुषोत्तमदेव के त्रिकाण्डशेष कोष मे पाणिनि, पाणिन, आहिक, दाक्षी-पुत्र, शालङ्कि और शालोत्तरीय को पर्यायवाची माना है।[4] वैजयन्ती भी शाला-तुरीय के इन सब पर्यायो को स्वीकार करता है।[5] गणरत्नमहोदधि मे शलातुर को पाणिनि का अभिजन बतलाया है। शलातुर एक ग्राम था। यह स्थान अब अटक के पास 'लाहुर' कहलाता है। इससे यह भी विदित होता है कि पाणिनि लाहुर छोडकर अन्यत्र रहने लगे थे। राजशेखर ने काव्यमीमासा मे बतलाया है कि वर्ष, उपवर्ष, पाणिनि, वररुचि, पिंगल और व्याडि इन सबकी परीक्षा पाटलिपुत्र मे हुई और उसके बाद वही से उनका नाम चारो ओर फैला है।[6] इससे यह भी कल्पना की जा सकती है कि वे नन्दाश्रित थे और पाटलिपुत्र मे रहते थे। कुछ विद्वानो का अनुमान है कि वे कौशाम्बी या प्रयाग (जो कि क्रमश कात्यायन और भारद्वाज की जन्मभूमि हैं) मे रहते थे[7]। अभिधानचिन्तामणि तथा उसकी टीका भी उनके शाला-तुरीय होने का अनुमोदन करती है।[8]

पाणिनि के गुरु का नाम वर्ष, वर्ष के भाई का नाम उपवर्ष, पाणिनि के भाई का नाम पिंगल और प्रमुख शिष्य का नाम कौत्स था।[9] कथासरित्सागर मे कहा है कि वर्ष के शिष्यो मे पाणिनि अपेक्षाकृत जडबुद्धि थे, किन्तु तीव्र तप द्वारा शकर को प्रसन्न कर उन्होने वरदान-स्वरूप व्याकरण प्राप्त किया। व्याकरण प्राप्त करने के बाद उन्होने सर्वप्रथम अपने सहपाठी कात्यायन को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। सात दिन तक लगातार शास्त्रार्थ चलने के बाद

---

१. पणीति कश्चिन्मुनिरस्तिपूर्वं स पाणिनिं नाम कुमारमाप।
स्वतुल्यनाम्ना तनयेन सोऽपि दाक्षीमुदूढां दृढमभ्यनन्दत्। —पतञ्जलिचरित, १-४७।

२. सर्वे सर्वं पदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः। —७-१-२७, पृ० ३२।

३. पणिपुत्र इव पदप्रयोगेषु।—आश्वास २, पृ० २३६।

४. पाणिनिस्त्वाहिको दाक्षीपुत्रः शालाकिपाणिनौ शालातुरीयं।

५. शालातुरीयको दाक्षीपुत्रः पाणिनिराहिक.।—वैजयन्ती।

६. अत्रोपवर्ष वर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडि.वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः।—काव्यमीमांसा।

७. कौशाम्बी दि वर्थ प्लेस ऑफ् कात्यायन, दि वार्तिककार ऐण्ड प्रयाग, दि एबोड ऑफ् दि सेज भारद्वाज एण्ड प्रोबेब्ली ऑफ् वार्तिककारज हू वेण्ट बाइ दि नेम भारद्वाजज आर इन दि मध्यदेश, दि प्रोबेबिल एबोड ऑफ् सूत्रकार—लेक्चर्स ऑन पतञ्जलि, पार्ट १, पृ० १६।

८. शालातुरोय दाक्षयो अत्रभिचि० तथा गान्धारप्रदेशविशेषशलातुरग्रामजातत्वा-देवास्य तथा इति—अभि० टीका।

९. उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्।—३-२-१०८, पृ० २४१।

कात्यायन ने पाणिनि को परास्त कर दिया। तव आकाश-स्थित शकर ने क्रोध से हुकार किया-, जिससे पृथ्वी पर ऐन्द्र व्याकरण नष्ट हो गया और उसके अध्येता मूर्ख वनकर रह गये। तव कात्यायन अपने परिवार के निर्वाह के लिए हिरण्यगुप्त नामक वैश्य के पास कुछ द्रव्य जमा कर स्वय तप द्वारा शकर का क्रोध शान्त करने के लिए हिमालय पर चले गये। दीर्घकाल के बाद शकर ने प्रसन्न होकर पाणिनीय व्याकरण उन पर प्रकाशित किया।[1] पतजलि-चरित में कहा है कि जब कात्यायन ने पाणिनि के सूत्रो पर दोष-दर्शक वार्त्तिक वनाये, तव पाणिनि वड़े क्रुद्ध हुए और उन्होने कहा कि तुमने मेरा प्रभाव समझे विना ही उक्तानुक्तदुरुक्त चिन्ता का वृथा श्रम किया है। मैं तुम्हे शाप देता हूँ कि तुम्हारा शरीर पतित हो जाय। यह सुनकर कात्यायन को भी क्रोध आया और उन्होने भी पाणिनि को शाप दिया कि मैंने भी शकर के ही प्रसाद से वार्त्तिक वनाये है। तुमने यह वात जाने विना मुझे शाप दिया है, सो तुम्हारा भी मस्तक फट पडेगा।

पतजलि-चरित और कथासरित्सागर की कथा का अधिकांश मनगढन्त मालूम होता है।[2] इसके अनुसार पाणिनि और कात्यायन समकालीन थे और उनकी परस्पर शत्रुता चलती थी। कथासरित्सागर (२-३०,३१,३२, ४५, ४६, ७८, ७९, तथा ४-१) के अनुसार कात्यायन कौशाम्वी के सोमदत्त और वसुदत्ता के पुत्र थे। वे भी पाटलिपुत्र मे वर्ष के पास पढे थे। उन्होंने विन्ध्याटवी मे कथासरित्सागर की कहानियाँ कही थी।[3] कथासरित्सागर (२-७९) के ही अनुसार व्याडि भी इन दोनो के सहपाठी थे। व्याडि या दाक्षायण पाणिनि के ममेरे भाई जान पडते हैं। यह भी सत्य जान पड़ता है कि पाणिनि नन्द-काल मे उत्पन्न हुए। काशिका के पूर्व 'पाणिनीया', और 'अपरपाणिनीया.' उदाहरणो से पाणिनि के दीर्घजीवी होने की कल्पना की जाती है। वे स्वय शिक्षक थे।[4] उन्होंने स्वय अपनी अष्टाध्यायी शिष्यों को पढाई थी। उनकी शिष्य-मण्डली विशाल थी और विद्यालयो मे इनके ग्रन्थ का अध्ययन करनेवालो को भोजन दिया था। यह वात महाभाष्य के 'ओदनपाणिनीया.' उदाहरण से ध्वनित होती है। उनकी मृत्यु सिंह के आक्रमण से वतलाई जाती है।[5]

पाणिनि की अन्य रचनाएँ—महाभाष्य-प्रदीपिका के अनुसार अष्टाध्यायी के अतिरिक्त शिक्षा, धातुपाठ, गणपाठ और पचपादी उणादिसूत्र भी पाणिनि ने वनाये थे। राजशेखर क्षेमेन्द्र और शरणदेव के उल्लेखो तथा वैयाकरणो मे प्रचलित दन्तकथा के अनुसार वे जाम्ववती-विजय और पार्वतीपरिणय के भी रचयिता थे। २६ ग्रन्थो मे इन दोनो ग्रन्थो के उद्धरण उपलब्ध

---

१. अथ कालेन वर्षस्य शिष्यवर्गो महानभूत्। तत्रैकः पाणिनिर्नाम जडवुद्धितरोऽभवत्।—कथासरित्सागर, ४-२० से २७ तक।

२. पतञ्जलि-चरित, १-६७ से ६९।

३. महाभा० ३-२-१०८।

४. उभयथा ह्याचर्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः।—१-४-१, पृ० ९७।

५. सिंहो व्याकरणस्यकर्त्तु रहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः।—मित्रप्राप्ति, श्लो० ३६

होते हैं, यद्यपि ये ग्रन्थ अप्राप्य हैं।[१] राजशेखर ने उन्हें प्रथम व्याकरण और तदनु जाम्बवतीजय का कर्त्ता बतलाया है।[२] क्षेमेन्द्र ने 'पाणिनेरुपजातिभि' से उनका कवि होना सूचित किया है। और शरणदेव ने अपनी दुर्घट वृत्ति मे 'सायचिर प्राह्णे प्रगेऽव्ययेभ्य' (४-३-२३) आदि सूत्र की व्याख्या करते हुए उनका एक श्लोक उद्धृत किया है। स्वय पतजलि ने उनके लिए कवि शब्द का प्रयोग किया है।[३]

पाणिनि का समय—पाणिनि के समय के विषय मे बहुत काल तक विद्वानो मे मतभेद रहा है। डॉ० पीटर्सन ने अष्टाध्यायीकार तथा वल्लभदेव की सुभाषितावली के कवि पाणिनि को एक मानकर उनका समय ईसवी-सन् का प्रारम्भ माना है।[४] पिशेल दोनों को एक मानकर भी उनका समय ५०० ई० पू० के लगभग मानते थे। वेवर और मैक्समूलर के मत से पाणिनि-काल ३५० ई० पू० के लगभग होना चाहिए, क्योंकि पाणिनि द्वारा उल्लिखित सूत्रकार शब्द (५-१-१८) इस तथ्य का परिचायक है कि पाणिनि से पूर्व ही सूत्र-ग्रन्थो की रचना प्रारम्भ हो गई थी। मैक्स-मूलर ने प्राचीन साहित्य के चार काल-विभाग करते हुए १२०० ई० पू० से १००० ई० पू० तक छान्दस-काल, १००० ई० पू० से ८०० ई० पू० तक मन्त्र-काल, ८०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक ब्राह्मण-काल और ६०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक सूत्र-काल माना है। इस विषय पर विस्तृत विवेचन के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि पाणिनि कात्यायन के लगभग समकालीन थे और कात्यायन का समय लगभग ३५० ई० पू० है। मैक्समूलर का वक्तव्य कथासरित्सागर पर आधृत है। डॉ० ओटो बोथलिंक ने भी कथासरित्सागर के ही आधार पर पाणिनि का समय ३५० ई० पू० निश्चित किया है। गोल्डस्टुकर और डॉ० भण्डारकर के अनुसार उनके काल की निम्नतम सीमा ५०० ई० पू० है। गोल्डस्टुकर के मत से पाणिनि को अथर्ववेद की जानकारी नही थी, क्योकि उनके सूत्र अथर्वाङ्गिरस् या उससे निष्पन्न अथर्वाङ्गिरस् का उल्लेख नही करते, यद्यपि महाभाष्य मे 'रैवतिकादिभ्यश्च' (४-३-१३१) सूत्र के अन्तर्गत आथर्वण मन्त्र और आथर्वण आम्नाय का उल्लेख हुआ है। हाँ, वे वेद के मन्त्र-भाग और ब्राह्मण-भाग मे विभाजन से परिचित थे। अष्टाध्यायी (२-४-८०, ३-२-७१, ३-३-९६, ४-३-१०५) मे मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प का उल्लेख है। काशिका पाणिनि, याज्ञवल्क्य और आश्मरथ को समकालीन मानती है। सम्भव है, पाणिनि शेष दोनो से कुछ पूर्व के हो। याज्ञवल्क्य तो वार्तिककार की दृष्टि मे भी पाणिनि के समसामयिक थे। पाणिनि गृह्य एव धर्मसूत्रो से भी परिचित थे। 'अध्यायिन्देश कालात्' (४-४-७१) का निषेध, जिस पर भाष्यकार ने पर्याप्त प्रकाश डाला है, गृह्यसूत्रो के ही अनुसार है। अत, उनका समय इन सूत्र ग्रन्थो के बाद होना चाहिए। डॉ० गोल्डस्टुकर का कहना है

---

१. गुलेरी—नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका—भाग १, खण्ड १, नवीन सं०।

२. नम. पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह।
आदौ व्याकरणं काव्यमनुजाम्बवती जयम्॥ राजशेखर।

३. पीटर्सन दि रिपोर्ट आफ सस्कृत मैनस्क्रिप्ट्स, १८८२-८३, पृ० ३९ से।

४. मैक्समूलर:एन्शियेण्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ० ५७२, ४९७, ४३५, ३१३, २४९, २४४।

कि समग्र उपलब्ध सस्कृत-साहित्य मे ऋग्, साम, और कृष्णयजुप् सहिताएँ तथा ग्रन्थकारों मे यास्क ही पाणिनि के पूर्ववर्त्ती हैं और शेष सम्पूर्ण साहित्य उनके बाद का है। डॉ० वेलवलकर के मत से पाणिनि का समय ७०० से ६०० ई० पू० है। ३५० ई० पू० माननेवालो का मुख्य आधार यवन शब्द का प्रयोग है, पर अब यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि यवनो (आयोनियन ग्रीको) से इस देश के लोगों का परिचय १००० ई० पू० से ही था। ये ही क्यो, असुर या असुर्य (असीरियन) शक (सीदियन), मद या मद्ग (मीड्स), पारसीक और पल्लव (पर्थियन) भी सिकन्दर के आक्रमण से शताब्दियो पहले आर्यो को ज्ञात थे। सिकन्दर का आक्रमण ३२७ ई० पू० मे हुआ, किन्तु प्लेटे (Plateae) के (४७९ ई० पू०) युद्ध मे भारतीय फौजे डेरियस की सेना का अंग थी। इसके अतिरिक्त 'सफलादिभ्यञ्च' (२-४-७५) 'तथा पर्श्वादि योधेयादि० ..' (५-३-११७) आदि सूत्र भी पाणिनि को सिकन्दर-पूर्व सिद्ध करते हैं।[1]

अन्त मे हम फैडरगन के स्वर मे कह सकते है कि पाणिनि की कृति का महत्त्व केवल उससे प्राप्त होनेवाले भाषाविषयक ज्ञान के कारण ही नही है, यद्यपि वह ज्ञान भी बहुमूल्य है। उसका महत्त्व इस बात के लिए अधिक है कि वह हमे भारतीय ग्रन्थन और सगुम्फन-पद्धति को समझने के लिए प्रशिक्षण देने मे सक्षम है। विशेषत. वैज्ञानिक ग्रन्थ होने के कारण वह और भी उपयोगी बन पड़ा है।[2]

कात्यायन-काल

पूर्वपीठिका—थोडे समय मे ही अष्टाध्यायी का प्रचार बहुत अधिक हो गया। आचार्य लोगो को सूत्र पढाते समय सूत्रों के शब्दो की उपयुक्तता, सूत्रो की तान्त्रिक व्याख्या, उन पर होने-वाले आक्षेपों और उसके निराकरण आदि पर विचार करना पड़ता था। कही-कही कोई आचार्य अन्य प्रकार से भी शब्द-सिद्धि कर किसी सूत्र अथवा उसके किसी शब्द का वैयर्थ्य प्रदर्शित करते हुए बुद्धि-बल का परिचय देता था। इस प्रकार, पाणिनि-सूत्रों को पढाते-पढाते अनेक आचार्यो ने उनमे लाघवयुक्त संशोधन उपस्थित किये। ये सशोधन वैयाकरण जगत् मे वार्तिक कहलाये। इनमे भारद्वाज, सौनाग, कुणरवाडव, क्रोष्ट्रीय, कात्यायन आदि वैयाकरण सम्प्रदायो के वार्त्तिक विद्वत्समाज मे अत्यन्त समादृत हुए।

कात्यायन का प्रातिशाख्य—कात्यायन का जन्म पाणिनि के लगभग २०० वर्ष बाद हुआ। इस समय तक पाणिनि-काल मे प्रचलित अनेक शब्द अप्रयुक्त हो गये थे, कुछ के अनेक अर्थो मे कुछ अर्थ अव्यवहृत हो चुके थे और कुछ को विशेष महत्त्व प्राप्त हो चुका था। पाणिनि के समीपकालीन लेखक प्राचीनों की गिनती मे माने जाने लगे थे।[3] कात्यायन ने वाजसनेयी

---

१. बोर्यालिक पाणिनि : देखिए देयर इण्डियन स्टडीन तथा लीपजिग का ऋग्वेद (१८५७), भूमिका तथा गोल्डस्टुकरः पाणिनि——हिज प्लेस इन संस्कृत लिटरेचर, पृ० ५४ से ६६ तक।

२. फैडरगनः स्टडीज ऑन पाणिनीज ग्रामर—पृ० ४८।

३. याज्ञवल्क्यादयो न चिरकाला इत्याख्यानेषु वार्त्ता। काशिका तथा याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधः तुल्यकालत्वात् ।—वा० ४-३-१०५।

संहिता का प्रातिशाख्य लिखा था, जिसमें उन्होंने संहिता-क्षेत्र मे आनेवाले पाणिनीय सूत्रों की आलोचना की थी। सम्भवत, इन्होंने ही कात्यायन श्रौतसूत्र की भी रचना की थी। सर्वप्रथम इन्होंने अपना प्रबन्ध वैदिक भाषा तक ही सीमित रखा, किन्तु बाद में प्रातिशाख्य की आलोचना से उत्साहित होकर सम्पूर्ण अष्टाध्यायी को अपने विवेचन का विषय बनाया। इनके प्रातिशाख्य के अनेक सूत्र, प्रत्याहार तथा अनुबन्ध पाणिनिवत् ही हैं। कहीं-कहीं सुधार की दृष्टि से कुछ परिवर्त्तन अवश्य कर दिये गये हैं। इन्हीं परिवर्त्तनों को उन्होंने आगे चलकर वार्त्तिकों के रूप मे निबद्ध कर दिया।[1] अष्टाध्यायी और प्रातिशाख्य के सूत्रों का साम्य अनेक सूत्रों मे भी देखा जा सकता है—

अष्टाध्यायी	कात्यायन-प्रातिशाख्य
अदर्शनं लोप (१-१-६०)	वर्णस्यादर्शन लोप (१-१४१)
तस्मादित्युत्तरस्य (१-१-६७)	तस्मादित्युत्तरस्यादे. (१-३५)
मुखनासिकावचनोऽनुनासिक (१-१-८)	मुखानुनासिकाकरणोऽनुनासिक (१-७५)

कात्यायन के वार्त्तिक तथा अन्य वार्त्तिककार—कात्यायन के वार्त्तिकों में कुछ गद्य में और कुछ छन्दोरूप मे उपलब्ध होते हैं। उनमे कहीं-कहीं यथावत् और कहीं स्वल्प परिवर्त्तन के साथ पूर्ण सूत्र की तथा कहीं सूत्र के प्रथम या सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शब्द की आवृत्ति मिलती है। वार्त्तिकों मे पूर्व वार्त्तिकों का उल्लेख 'उक्त शेषे', 'उक्त वा' और 'उक्त पूर्वेण' से मिलता है। पाणिनि की शब्दावली का व्यवहार करते हुए भी इन्होंने अच् को स्वर, हल् को व्यजन, अक् को समानाक्षर, लट् को भवन्ती और लुट् को अद्यतनी कहा है। इससे कथासरित्सागर की इस धारणा (तरग ४) को, कि वे ऐन्द्र शाखा के थे, बल मिलता है। पाणिनि से भिन्न शाखा के तो वे अवश्य थे। कात्यायन प्रातिशाख्य मे शाकटायन[2] और शाकल्य[3] का तथा वार्त्तिकों मे वाजप्यायन, व्याडि और पौष्करसादि का उल्लेख वार्त्तिककार के रूप में मिलता है। 'एके' और 'केचित्' से भी कुछ वार्त्तिककार उल्लिखित हैं। इनके बाद महाभाष्य के २५० श्लोक-वार्त्तिकों के रचयिता वार्त्तिककार आते हैं। स्वयं भाष्य मे कात्यायन भारद्वाजीय, सौनाग, कुणरवाडव, वाडव, सौर्यभगवान् और कुणिक्रोटीय गोनर्दीय, गोणिकापुत्र का वार्त्तिककार के रूप मे उल्लेख है। भाष्य मे भारद्वाजीयों का मत दस बार, सौनागों का सात बार, क्रोष्ट्रीयों का एक बार और कुणरवाडव का दो बार उल्लिखित है। श्लोक-वार्त्तिक कात्यायन के बाद के जान पड़ते हैं; क्योंकि उनमे कात्यायन को पूर्ववर्त्ती स्वीकार किया गया है।[4]

---

१. गोल्डस्टूकर: पाणिनि—हिज प्लेस इन सं० लिटरेचर, पृ० १५४ से १५७।

२. प्रत्यय सवर्णमुदि शाकटायन।—कात्या०, प्रा० ३-८।

३. शाकल्य. शषसेषु।—वही ३-९।

४. ३-२-११८ को प्रथम कारिका तथा इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जिल्द ५, टिप्पणी-सं०४, महाभाष्य।

कात्यायन के वार्त्तिकों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है, पर उसे प्रमाणित नहीं कहा जा सकता। इस संग्रह का आधार महाभाष्य है, किन्तु महाभाष्यकार ने कात्यायन के सारे वार्त्तिकों की व्याख्या नही की है। उन्होने सूत्रो के समान बहुत-से वार्त्तिक भी छोड़ दिये है। दूसरे भाष्य मे पतजलि के अपने वार्त्तिकों की सख्या भी कम नही है और कात्यायन-वार्त्तिको से उनको अलग कर सकना अत्यन्त दुष्कर है। मनोरमा मे भट्टोजिदीक्षित ने कहा है कि मूल सूत्रपाठ आज भ्रष्ट हो गया है। यह बात वार्त्तिकों के विषय मे और सरलतापूर्वक कही जा सकती है। भाष्य मे वार्त्तिकों का युग भी उलट-पुलट गया है, क्योंकि अनेक वार्त्तिकों में जिस बात को लक्ष्यकर 'उक्त वा' या 'उक्त पूर्वेण' कहा है, वह भाष्य मे अनेक बार उस वार्त्तिक के बाद मिलती है। वास्तव मे ऐसे स्थलो पर 'वक्ष्यते' निर्देश होना चाहिए था। ऐसे कुछ उदाहरण यहाँ अप्रासगिक न होगे —

उक्तं वा का निर्देश-स्थल	उक्तं वा से सम्बद्ध प्रसंग का स्थल
१. अटि चोक्तम्—१-१-३ वा० ९	अन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य ६-१-१३ वा० ५
२. उक्त वा—१-१-१२ वा० ६	अदस ईत्वोत्वे ८-२-६ वा० ९
३ उक्त वा—१-२-४३ वा० ७	परवल्लिङ्गम० २-४-२६ वा० ६
४. अधिरीश्वरवचन उक्तम् १-४-९७ वा० १	यस्य चेश्वरवचनम् २-३-९ वा० १
५. विभक्तौ चोक्तम् ४-१-१ वा० १५	न वा विभक्तौ ७-१-१ वा० १३
६. वा वचने चोक्तम् ३-१-२ वा० ८	वा वचनानर्थकम् ३-१-७ वा ९ आदि।

वार्त्तिकों मे सूत्रों की कमी की पूर्त्ति करनेवाले कम और उनमे 'अमुक शब्द क्यों है, उसके स्थान पर अमुक शब्द क्यो नही', इस प्रकार की मीन-मेख निकालनेवाले वार्त्तिक अधिक थे। यह भी वार्त्तिक-पाठ के नष्ट होने का एक कारण जान पड़ता है; क्योंकि मल्लिनाथी टीका के समान एक बार पाठक की जिज्ञासा शान्त कर देने के बाद फिर ऐसे वार्त्तिको का उपयोग नही रह जाता।

साम्प्रदायिक सूत्रपाठ के पारायण में वार्त्तिक भी सूत्रो के अन्तर्गत शामिल कर लिये जाते रहे हैं। उदाहरणार्थ, 'ये च तद्धिते' (६-१-६१) का तीसरा वार्त्तिक 'अचिशीर्ष.' तथा 'सुट् कात्पूर्व' (६-१-१३५) के चतुर्थ और पचम वार्त्तिक 'अडव्यवाय उपसख्यानम्' तथा 'अभ्यासव्यवाये च' स्वतन्त्र सूत्र बन गये हैं।[1] इसी प्रकार 'आत्मनश्च पूरणे' (६-३-६) "नित्यमाम्रेडिते डाचि' (६-१-१००), 'यूनश्च कुत्सायाम्' (४-१-१६७), 'वृद्धस्य च पूजायाम्' (४-१-१६६), 'यूनश्च कुत्सायाम्' (४-१-१६७), 'सुट् कात्पूर्वः' (६-१-१३) आदि सूत्र वास्तव मे वार्त्तिक है और भूल से सूत्रपाठ मे सम्मिलित कर दिये गये हैं।[2] 'कापिञ्जलहास्तिपदादण्' और 'आथर्वणिकस्येक-लोपश्च' ये दो भाष्य-वचन तथा सुषमादिगण के दो गणसूत्र (८-३-९९, १००) भी सूत्रों मे मिल गये है।[3]

---

१. देखिए सूत्र ६-१-६२ तथा ६-१-१३६।

२. वार्त्तिकं इष्टासूत्रेण कैश्चित् प्रक्षिप्तम् तथा यूनश्च कुत्सायामिति सूत्रमनार्षमिति-वचनम्।—कैयट, ४-१-१६६ तथा देखिए कैयट, ६-१-६२, ६-१-१७०।

३. पाणिनि—हिज प्लेस इन सं० लिटरेचर, पृ० ९१।

क्या कात्यायन पाणिनि-विरोधी थे ?

कात्यायन ने पाणिनि के ३९९५ सूत्रों (३९८१+१४ प्रत्याहार-सूत्र) में १२५४ पर लगभग ४२०० वार्तिक बनाये। इनमें २६ सूत्रों पर एक से अधिक आचार्यों के वार्तिक भाष्य में मिलते हैं। कात्यायन के वार्तिकों ने ७०९ सूत्रों की व्याख्या की ५३७ में सुधार प्रस्तावित किये एवं आठ सूत्रों को अनावश्यक सिद्ध किया। कात्यायन के वार्तिकों को सूत्र-व्याख्यान, सूत्रपदप्रयोजन, सूत्रप्रयोजन, सूत्रपद, प्रत्याख्यान, सूत्र-प्रत्याख्यान, शंकोद्भावन-समाधान, सम्बद्धार्थकथन और स्वतन्त्रार्थकथन इन आठ भागों में बाँटा जा सकता है। केवल ३६ सूत्रों में भाष्यकार ने वार्तिककार के विरुद्ध सूत्रकार का समर्थन किया है। भाष्यकार और वार्तिककार द्वारा अनावश्यक माने गये सूत्रों की संख्या तथा भाष्य द्वारा वार्तिककार के विरुद्ध समर्थित सूत्रों की संख्या को देखते हुए बर्नेल, डॉ० गोल्डस्टुकर और वेबर की यह धारणा कि 'कात्यायन का उद्देश्य पाणिनि के सूत्रों का औचित्य सिद्ध करना था उनका समर्थन नहीं। उल्टे वे उनमें दोष निकालना चाहते थे। कात्यायन की कृति से वे पाणिनि के मित्र या प्रशंसक नहीं, अपितु विरोधी जान पड़ते हैं। अनेक बार तो उनका विरोध अन्यायपूर्ण भी दीख पड़ता है,' निर्मूल जान पड़ती है। कात्यायन ने कई बार पाणिनि को भगवान् और आचार्य कहकर सम्बोधित किया है।[1] इस विषय में डॉ० कीलहॉर्न का यह कथन कि 'वार्तिककार का उद्देश्य केवल इतना है कि वे पाणिनि-सूत्रों पर संभावित शंकाओं और आपत्तियों का बिना पक्ष या पूर्व-ग्रह के विवेचन करें और निराधार आक्षेपों का खण्डन कर उनका औचित्य सिद्ध करें, किन्तु जहाँ किसी प्रकार सूत्रों का समर्थन और औचित्य-सिद्धि सम्भव न हो, वहाँ उनमें संशोधन, परिवर्तन या परिवर्धन प्रस्तावित करें', अक्षरशः ठीक है।[2]

डॉ० कीलहॉर्न ने कात्यायन के वार्तिकों का विशद विवेचन किया है। उनके मत से भाष्य में प्राप्त होनेवाले वार्तिकों में अधिकांश कात्यायन के और थोड़े-से इष्टिरूप वार्तिक पतंजलि के हैं। ये वार्तिक कात्यायन ने पाणिनि-सूत्रों में दोषों के उद्भावन के लिए बनाये थे। भाष्यकार ने इनमें से अधिकांश वार्तिकों को स्वीकार कर लिया, बहुत-से वार्तिकों का स्पष्टीकरण किया, किन्तु अनेक स्थानों पर उनकी अनावश्यकता प्रतिपादित की। डॉ० कीलहॉर्न के विचार से कात्यायन के वार्तिकों पर शंका व्यक्त करने के लिए भाष्यकार ने 'चेत्' अव्यय का और अपना निजी निरूपण करते समय 'यदि, अथ' शब्दों का प्रयोग किया है। उन्होंने वार्तिककार के शंका-समाधानात्मक निरूपण में 'न वा...सिद्ध तु' आदि शब्द-योजना की है, किन्तु अपने निरूपण में 'न वा. .तर्हि वक्तव्यम्' इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है। डॉ० कीलहॉर्न ने इतना सब वैज्ञानिक विवेचन करने एवं उपर्युक्त मत प्रकट करने के बाद भी कई बार वेबर आदि पाश्चात्य विद्वानों से एकस्वर होकर यह स्वीकार किया है कि कात्यायन और पतंजलि की दृष्टि पाणिनि के दोष-प्रदर्शन की ओर थी। यह मत स्थिर करते समय इन विद्वानों की दृष्टि कात्यायन की लेखन-पद्धति तथा भाष्य द्वारा उनके समर्थन पर ही केन्द्रित रह गई। सम्भवतः, इस बात की ओर उनका ध्यान नहीं गया

---

१. ७-१-२ वा० ४, ८-४-६८ वा० ४ तथा।

२. दि कात्यायन ऐण्ड पतंजलि, पृ० ४८।

कि पाणिनि से कात्यायन तक आते-आते भाषा मे पर्याप्त परिवर्त्तन हो चुका था, जिसके लिए इन वार्त्तिको की आवश्यकता थी, इसीलिए कात्यायन के वार्त्तिकों के सहित अष्टाध्यायी के पठन-पाठन की प्रथा वैयाकरणों मे चल पडी और कात्यायन और पतजलि पाणिनि के पूरक माने जाने लगे, विरोधी नही।

कात्यायन का जीवन-चरित्र—कात्यायन के जीवन के विषय मे कोई प्रमाणित सामग्री उपलब्ध नही है। वे कृतगोत्रीय और भाष्यकार के अनुसार दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। भाष्य में वर्णित दाक्षिणात्यों की विशेषता तद्धितान्त शब्दो का अधिक उपयोग है। यह विशेषता वर्त्तमान मराठी क्षेत्र मे पाई जाती है। सस्कृत की विद्वत्परम्परा मे इस प्रदेश के विद्वानो के लिए दाक्षिणात्य विशेषण का प्रयोग आज भी प्रचलित है। भाष्य के अनुसार दक्षिण मे वडे-बड़े सरों को सरसी कहते हैं। कुछ विद्वानो ने 'पाणिनि और पतजलि की अपेक्षा दाक्षिणात्य' यह कल्पना कर इन्हे मालव या उसके समीपस्थ देश का निवासी माना है। यह अनुमान समीचीन नही है। भारत मे प्रारम्भ से ही दक्षिण भारत को दक्षिणापथ और उसके निवासियों को दाक्षिणात्य कहने की प्रथा रही है। पतजलि दक्षिण भारत से भली भाँति परिचित थे। उनके द्वारा उल्लिखित नासिक्य, कन्याकुमारी, चोल, पाण्ड्य, केरल आदि इसके प्रमाण है। दूसरे मालव और शूरसेन-प्रदेश की भाषा मे कभी विशेष अन्तर नही रहा। आज भी मालवी बोली पर व्रज तथा गुजरात की भाषा का ही सर्वाधिक प्रभाव है। तब दक्षिण मे महाराष्ट्र ही ऐसा प्रदेश रह जाता है, जहाँ पतजलि-काल मे सस्कृत का प्रचार था। इस प्रदेश मे प्रारम्भत अद्यावधि व्याकरण-शास्त्र की परम्परा भी अक्षुण्ण रही है। अत, अधिक सम्भावना इसी बात की जान पड़ती है कि कात्यायन महाराष्ट्र प्रदेश के निवासी थे।

सायण ने वररुचि और कात्यायन को एक माना है। वैयाकरण-परम्परा मे भी वररुचि वार्त्तिककार माने गये है। नागेश ने वार्त्तिककार को ही वाक्यकार माना है। भाष्यकार ने भी वाररुच श्लोको की चर्चा की है। उनके उल्लेख से वररुचि और कात्यायन स्पष्ट ही एक व्यक्ति अवश्य नही जान पडते, किन्तु पतजलि ने जिन भ्राज श्लोकों का उल्लेख किया है, उन्हे कैयट, हरदत्त और नागेश कात्यायन-कृत मानते है। वैयाकरण-परम्परा एव सायणचार्य जैसे विद्वानों के मत का आदर करते हुए कुछ विद्वान् वररुचि को वार्त्तिककार का व्यक्तिनाम तथा कात्यायन को गोत्रनाम स्वीकार करते है। विक्रम के सभारत्न वररुचि इनसे भिन्न रहे होंगे, यह कहने की आवश्यकता नही है। प्राकृत व्याकरण इन द्वितीय वररुचि की रचना है। कहा जाता है कि वररुचि ने स्वर्गारोहण नामक एक काव्य भी बनाया था। पतजलि-चरित के अनुसार भी दो वररुचि हुए है—एक वार्त्तिककार कात्यायन तथा दूसरे पतजलि द्वारा शापित शिष्य के उज्जयिनी-निवासी शिष्य चन्द्रगुप्त ब्राह्मण के ज्येष्ठ पुत्र।[1] इस ग्रन्थ के अनुसार चन्द्रगुप्त ने ब्रह्मराक्षस से महाभाष्य का अध्ययन समाप्त कर घर लौटते समय मार्ग मे चारों वर्णों की एक-एक कन्या

---

१. यमजीजनत् प्रथमवर्णकन्यका तनयं द्विजो वररुचिं तमाख्यया।
स्वयमाजुहाव कृतवंशजन्मन. पदशास्त्रवार्त्तिककृतः पवित्रया॥
—पतंजलिचरित, सर्ग ७, श्लो० २।

से विवाह किया, जिनसे क्रमशः वररुचि, विक्रमार्क, भट्टि और भर्तृहरि ये चार पुत्र हुए। इनमें वररुचि ने अनेक विषयों पर समानाधिकार रखते हुए भी केवल गणित-शास्त्र पर ग्रन्थ-रचना की।[1] पतंजलि-चरित के अनुसार यह वररुचि अवश्य ही मालववासी तथा विक्रमकालीन थे।

कात्यायन के काल के विषय में मैक्समूलर, गोल्डस्टुकर आदि विद्वानों ने विस्तृत विचार किया है और तदनुसार अब निर्विवाद रूप से उनका समय लगभग ३५० ई० पू० स्वीकार कर लिया गया है।[2]

---

१. सर्वासु शास्त्रपदवीषु विचक्षणोऽपि ग्रन्थान् व्यधाद् गणित एव जनोपकारान्।
तेष्वग्रजो वररुचिर्दिवसेश्वरोहि प्राच्यामुदेत्यखिलदिक्ष्वपि निर्विरोधः॥
—पतंजलिचरित, सर्ग ८, श्लो० ३।

२. गोल्डस्टुकर: पाणिनि—हिज प्लेस इन संस्कृत लिटरेचर, पृ० ६६ से।

अध्याय २

ग्रन्थ और ग्रन्थकार

महाभाष्य

ग्रन्थ-योजना—कात्यायन के लगभग २०० वर्षो वाद पतंजलि ने अष्टाध्यायी पर महाभाष्य की रचना की। इसमे उन्होने पाणिनीय सूत्रो तथा उन पर लिखे गये व्याख्यानात्मक एव पूरक वार्तिको का विवेचन किया और यत्र-तत्र अपने इष्टि-वाक्यो का भी समावेश किया। महाभाष्य ८५ आह्निकों मे विभाजित है, जिनकी विश्लेषणात्मक समीक्षा से यह वात सहज ही स्पष्ट हो जाती है कि महाभाष्य की रचना, विषय-प्रतिपादन-शैली तथा उसका आह्निकात्मक विभाजन सब अत्यन्त नैसर्गिक है। उसकी रचना पूर्वयोजनानुसार काण्डो, अध्यायो या अधिकरणो के विभाग द्वारा नही की गई। व्याख्यानात्मक ग्रन्थ होने के कारण अष्टाध्यायी की योजना ही महाभाष्य की योजना है। पतजलि अपने शिष्यों को अष्टाध्यायी पढ़ाते हुए कुछ सूत्रो की विस्तृत समीक्षा करते जाते थे और वाद मे उस समीक्षा को आह्निक रूप मे लिख लेते थे। इसीलिए, भाष्य मे कही-कही चालू प्रकरण को वीच मे ही तोडकर और कही एक प्रसग के वाद दूसरा प्रकरण नाममात्र को प्रारम्भ करके ही आह्निक की समाप्ति की गई मिलती है। दूसरे शव्दो मे महाभाष्य के ८५ आह्निक विद्यार्थियो को पढ़ाये गये ८५ दिन के पाठ है। आह्निक नाम ही इस वात का साक्षी है। पतजलि ने अपने पूर्ववर्त्ती समस्त वैयाकरणो के ग्रन्थो एव समस्त वैदिक और लौकिक प्रयोगो का सूक्ष्म अनुशीलन करने के वाद महाभाष्य का प्रारम्भ किया था, इसलिए व्याकरण का कोई विषय उनकी लेखनी से नही छूटा। उनकी निरूपण-पद्धति सर्वथा मौलिक और नैयायिको की तर्क-शैली पर आधृत है। अत, पतजलि के हाथो पाणिनीय शास्त्र सूत्रो की समष्टिमात्र न रहकर पूर्ण एव वैज्ञानिक वन गया और शीघ्र ही उसकी गणना विशिष्ट दर्शन के रूप मे होने लगी। महाभाष्य की रचना के वाद फलत. आपिशल, शाकटायन, काशकृत्स्न आदि व्याकरणो की परम्परा वन्द हो गई और सम्पूर्ण देश मे पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन और अध्यापन प्रचलित हो गया।

पाणिनि पर पतजलि की असीम श्रद्धा थी। उन्होने पाणिनि का स्मरण भगवान्, आचार्य, मांगलिक, सुहृद् आदि विशेषणों के साथ किया है।[1] उनका विश्वास था कि भगवान् पाणिनि ने पवित्र स्थान मे वैठकर वडी शुचिता एव तन्मयता के साथ सूत्रो का प्रणयन किया है। इसलिए उनमे एक अक्षर भी अधिक या अशुद्ध नही हो सकता।[2] उनके मत से सूत्र छन्दोवत् प्रमाण है।[3]

---

१. कथं पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम्।—आ० १, पृ०, १३ तथा माङ्गलिक आचार्यो वृद्धिशव्दमादितः प्रयुक्तम्।—१-१-१, वा० ७, पृ० १००।

२. वही, पृ० ९७।

३. १-१-१, पृ० ९२।

इसीलिए, उन्होने सौत्र निर्देश को भी प्रमाण माना।[1] उन्होंने किसी प्रयोग के अन्यथा सिद्ध हो जाने पर भी सिद्ध्यत्येवमपाणिनीयं तु भवति कहकर उस विधि का त्याग कर दिया।[2] इतना ही नही, उन्होंने सूत्रो द्वारा प्रत्यक्ष न कही हुई, किन्तु व्यजित या सकेतित वातो को आचार्य की इच्छा-शैली या आचार कहकर मान्य किया।[3] उन्होने यत्र-तत्र आचार्य के कौशल की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट किया[4] और वतलाया कि सूत्र-प्रवन्ध के अतिरिक्त इगित, चेष्टित और निमिषित तक से आचार्य का अभिप्राय जाना जा सकता है।[5] इसीलिए, कुछ विद्वानो को यह भ्रम हो गया कि पतजलि कात्यायन के विरुद्ध पाणिनि के समर्थक थे। यह वात उसी स्थिति मे किसी सीमा तक सगत कही जा सकती है, जवकि उन्होने मूलत अपना भाष्य अष्टाध्यायी पर लिखा हो और वैसा करते समय प्रसगवश कात्यायन के आक्षेपपरक वार्त्तिको का खण्डन किया हो। महाभाष्य को देखने से ऐसा लगता भी है। महाभाष्य मे अष्टाध्यायी के समस्त सूत्र विद्यमान है, भले ही भाष्यकार ने उनके विषय मे कुछ न कहा हो, किन्तु वार्त्तिको के विषय मे वात ऐसी नही हैं। भाष्य मे केवल उन्ही वार्त्तिको का समावेश है, जिनपर भाष्यकार ने टिप्पणी आवश्यक समझी। फिर भी, सामान्यतया विद्वानो की धारणा है कि महाभाष्य वार्त्तिको पर लिखा गया है।[6] यहाँतक कि डॉ० कीलहॉर्न जैसे विद्वान् तक की यही धारणा है।[7] और, इसी दृष्टिकोण से कात्यायन के महाभाष्यस्थ वार्त्तिको का सग्रह ही कात्यायन का वार्त्तिक-ग्रन्थ मानकर प्रकाशित भी किया गया है। मेरे विचार से भाष्यकार ने पाणिनि और कात्यायन दोनो पर एक साथ भाष्य लिखा है। ऐसा करते समय उन्होने उन सूत्रो को छोड दिया, जिनपर न तो पूर्ववर्त्ती किसी आचार्य ने वृत्ति, उदाहरण और प्रत्युदाहरणो के अतिरिक्त कुछ कहा था और न पतजलि की दृष्टि से ही उन पर कोई नवीन वात कहने का अवकाश था। ऐसा करते समय उन्होंने पाणिनि के साथ कात्यायन के प्रति भी पूज्य भाव रखा, यद्यपि प्राथमिकता पाणिनि को प्रदान की। यह स्वाभाविक था और उचित भी।

---

१. ७-१-१२, पृ० २१।

२. आ० १, वा० १८, पृ० ३१।

३. अथवाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नानेन सम्प्रसारणस्य दीर्घो भवति।—आ० २, पृ० ५६, तथा ५८, ६० तथा एषा क्रुपाचार्यस्य शैली लक्ष्यते यत्तुल्य जातीयास्तुल्यं जातीयेषूपदिशति।—आ० २, पृ० ८१; एतज्ज्ञापयत्याचार्यो भवत्येषा परिभाषा।—आ० २, पृ० ८९ तथा आचार्यवारुत्सज्ञा सिद्धिर्भविष्यति।—१-१-१, पृ० ९५।

४. कौशलमात्रमेतदाचार्यो दर्शयति।—५-१-१, पृ० ४।

५. ६-१-३७, पृ० ६५।

६. महाभाष्य इज ए क्रिटिकल डिस्कशन ऑन दि वार्त्तिकाज ऑफ् कात्यायन, ह्वायल इट्स इम्फेसिज ऑन दि अदर हैण्ड, आर ओरिजिनल वार्त्तिकाज, ऑन सम सूत्राज ऑफ् पाणिनि एज कॉल्ड फॉर हिज़ ओन रिमार्क्स।—दि इण्डियन हिस्टा० क्वा०, भाग २, पृ० २७०-७१।

७. दि महाभाष्य इज, ऑन दि फर्स्ट इन्स्टान्स, ए कमेण्टरी ऑफ् कात्यायन्स वार्त्तिकाज। कीलहार्न : कात्यायन ऐण्ड पतंजलि, पृ० ५१।

चौदह प्रत्याहार-सूत्रों को मिलाकर अप्टाध्यायी के कुल ३९९५ सूत्रो मे से १६८९ सूत्रो पर पतजलि ने भाष्य लिखा और शेष को विना अपनी ओर से कुछ मिलाये परम्परानुसार ग्रहण कर लिया। उन्होने इनमे से १२२८ सूत्रो पर केवल कात्यायन के तथा २६ सूत्रों पर अन्य आचार्यो के भी प्राप्त वार्त्तिको की समीक्षा की और ४३५ ऐसे सूत्रो पर भाष्य लिखा, जिनपर वार्त्तिक उपलव्ध नही थे। इन सूत्रो पर भाष्यकार की समीक्षा पूर्णत मौलिक है। उन्होने ३६ सूत्रो मे वार्त्तिककार के मत को भ्रात ठहराकर पाणिनि का समर्थन किया और १६ सूत्रो को अनावश्यक ठहराया। पतजलि कात्यायनीय वार्त्तिको के प्रथम भाष्यकार नही, किन्तु सर्वश्रेष्ठ भाष्यकार अवश्य थे। उन्होंने कात्यायन के अनेक आक्षेपो से पाणिनि की रक्षा की, यद्यपि ऐसा करने मे कही-कही पाणिनि का आवश्यकता से अधिक पक्ष लिया।

महाभाष्य-काल मे संस्कृत-भाषा की स्थिति—पतजलि का युग वैदिक सस्कृति तथा वैदिक साहित्य के गिरते हुए प्रासाद को पूरी शक्ति के साथ स्थिर रखने के प्रयास का युग है। इस समय प्राकृत भाषाएँ विकसित हो रही थी और जन-सामान्य मे सस्कृत का प्रचार घटने लगा था। पाणिनि-युग मे सस्कृत शिक्षित समाज की भाषा थी। अप्टाध्यायी के वीसियों सूत्र, जिनमे दूर से पुकारने, पुकार का उत्तर देने, अभिवादन तथा उसके उत्तर, पृष्ट-प्रतिवचन, निगृह्यानुयोग, भर्त्सन, प्रश्नान्त, प्रत्याख्यान, आशी, प्रैप, आक्रोश, गर्हा, असूया आदि के प्रसगो मे प्रयुक्त शब्दो के नियम दिये गये है, इस वात के प्रमाण हैं।[1] शूद्र उस समय भी प्राकृत का व्यवहार करते थे।[2] आगे चलकर स्त्रियो से सस्कृत का व्यवहार उठ गया। पतजलि के समय तक आते-आते वैश्यो और क्षत्रियो मे भी सस्कृत का प्रचार कम हो चला। फिर भी, इस समय तक क्षत्रिय और वैश्य सस्कृत पूर्णतया समझते थे, भले ही दैनन्दिन जीवन मे वे पूर्णतया सस्कृत का व्यवहार न करते हों। पाणिनि के 'प्रत्यभिवादे शूद्रे' (८-२-८३) सूत्र के वार्त्तिक इस कथन की पुष्टि करते है। ब्राह्मण-समाज मे इस समय भी सस्कृत व्यवहार की भाषा थी। यद्यपि ब्राह्मणो का ध्यान व्याकरण की ओर से हट चला था। वे यह सोचकर कि लौकिक शब्दो का ज्ञान लोक से और वैदिक शब्दो का वेद से ही हो जाता है, फिर व्याकरण मे सिर पचाने की क्या आवश्यकता, व्याकरण-पराङमुख वन रहे थे।[3] प्राचीनकाल मे उपनयन-सस्कार के वाद पहले व्याकरण पढ़ाया जाता था और स्थान, नाद, करण, अनुप्रदान आदि का सम्यक् ज्ञान हो जाने के वाद तव वैदिक शब्दो का उपदेश किया जाता था। पतजलि के समय मे स्थिति उलट गई थी। अव ब्राह्मण-वालक भी व्याकरण को निरर्थक कहकर उसकी उपेक्षा करने लग गये थे।

पाणिनि के वाद भाषा मे भी महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन हो चुके थे। सस्कृत अव भी देश-भर के

---

१. ८-२-९३ से ८-२-१०५ तक।

२. 'अशूद्रस्त्र्यसूयकेषु' तथा 'भो राजन्यविशां च'।—८-२-८३।

३. पुराकल्पएतदासीत्—संस्कारोत्तरब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते। तेभ्यस्तत्र स्थान-नादकरणानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते। तदद्यत्वे न तथा। वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति; वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः। अनर्थकं व्याकरणम्।—आ० १, पृ० १०।

शिष्ट-समाज को एक सास्कृतिक सूत्र मे आवद्ध किये थी, किन्तु प्राकृत भाषाएं भी साहित्य मे स्वीकृत हो चुकी थी। सस्कृत के प्राच्य और उदीच्य स्वरूप मे थोड़ा बहुत अन्तर यास्क और पाणिनि के समय से ही चला आ रहा था। वह्वर्थक वैदिक धातुओ के किसी अर्थ का प्रचार एक प्रदेश मे था और किसी का दूसरे प्रदेश मे। पाणिनि ने इन मतभेदो का उल्लेख अपने सूत्रो मे किया था। यास्क ने भी उदाहरण के रूप मे वतलाया था कि शव् धातु गति अर्थ में केवल कम्बोजो मे बोली जाती है। आर्य जनपदो मे उसका प्रयोग विकार अर्थ मे ही होता है। इसी प्रकार दा का क्रिया रूप में (काटने के अर्थ मे) प्राच्य देश मे व्यवहार होता है। उदीच्य जनपदों में उससे वने सज्ञा शब्द दात्र का प्रयोग प्रचलित है।[1] यास्क के इस कथन को पतंजलि ने भी उद्धृत किया। पतजलि के समय मे यह भेद और वढ गया था। उदाहरणार्थ, इस समय जाने के अर्थ मे सुराष्ट्र मे हम्म धातु का, मगध मे रह् धातु का और आर्य जनपदो मे गम् धातु का प्रयोग होता था।[2] अनेक शब्दो का प्रचलन वन्द होकर उनके स्थान मे तत्सदृश दूसरे शब्द व्यवहार मे आ गये थे। यथा ऊप के अर्थ मे उषित, तेर के अर्थ मे तीर्ण, चक्र के अर्थ मे कृतवत् और पेच के अर्थ मे पक्ववत् शब्द चल पड़े थे।[3] शब्दो के प्रयोग का विषय व्यापक हो चुका था। पाणिनि अथर्वसंहिता, शतपथादि ब्राह्मणो और उपनिषदो से परिचित न थे, किन्तु भाष्यकार के समय मे चारो सहिताएँ, वाको-वाक्य, इतिहास, पुराण वैद्यक तथा ब्राह्मण और सूत्र-ग्रन्थ वन चुके थे। रामायण, महाभारत, काव्य-ग्रन्थो तथा आख्यान-साहित्य की रचना हो चुकी थी।[4] फलत:, सस्कृत का शब्दकोष पहले से बहुत वड़ा हो चुका था। ऐसे अनेक शब्द, जिनकी सिद्धि अष्टाध्यायी से नहीं होती, सस्कृत मे सम्मिलित हो गये थे।[5] दूसरी ओर साहित्य मे गृहीत होने के कारण अपभ्रश शब्दो को स्थिरता और मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। ये शब्द सरलता से सस्कृत शब्दो मे मिल जाते थे, जिससे संस्कृत के भ्रश का भय उत्पन्न हो गया था। संस्कृत शब्द थोड़े थे और उनके अपभ्रंश कहीं अधिक। एक-एक सस्कृत शब्द के जनपद भेद से अनेक अपभ्रंश रूप प्रचलित थे। एक ही गो कही गोणी, कहीं गोता, कही गावी और कही गोपोतलिका वन गई थी।[6]

भाषा के उन्नयन मे महाभाष्य का योग—ऐसी स्थिति मे पतंजलि ने भाषा के परिमार्जन का काम अपने हाथ मे लिया। वे जानते थे कि उन वर्गों मे फिर से संस्कृत का प्रचार तत्काल दु साध्य है, जो उसे भूल चुके है। इसलिए, सर्वप्रथम उस समाज को कसकर पकड़ना लाभकर होगा, जो

---

१. शवतिर्गतिकर्मा कम्वोजेस्वेव भाष्यते। विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे पाच्येषुदात्रमुदीच्येषु।—अध्याय २, खण्ड २, सू० ८।

२. हम्मति. सुराष्ट्रेषु, संहतिः प्राच्यमध्येषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते।—आ०१,पृ०२१।

३. एतेषां शब्दानामर्थेऽन्यान् शब्दान् प्रयुञ्जते।—तद्यथा ऊषेत्यस्य शब्दस्यार्थे क्व यूयमुषिताः।—आ० १, पृ० १०।

४. वा० १, वा० ५, पृ० २१।

५. प्राप्तिज्ञो देवानाम्प्रियो न त्विष्टिज्ञः।—२-४-५६, पृ० ४९१-९२।

६. आर्यं चाष्टाध्यायीमधीते। ये चात्रविहिताः शब्दास्तान् प्रयुङ्क्ते। अयं नूनमन्यानपि जानाति।—६-३-१०९, पृ० ३५६।

किसी-न-किसी रूप मे उससे परिचित है। वे जानते थे कि भाषा का विकास नैसर्गिक होता है। शब्दो का व्याकरण द्वारा निष्पन्न होना एक बात है और लोक मे उनका प्रयोग दूसरी वात। उदाहरणार्थ, सारथि अर्थ मे व्याकरण द्वारा सिद्ध शब्द प्रवेता था, किन्तु लोक मे प्राजिता का प्रचलन था, प्रवेता का नही। इस विषय मे महाभाष्य का वैयाकरण-सारथि-सवाद वड़ा मनोरजक, है जिसमे सारथि वैयाकरण से कहता है कि आप प्राप्तिज्ञ (शब्दसाधुता के जानकार) है, इष्टिज्ञ नही।[1] इस सवाद से यह भी पता चलता है कि इस समय तक सस्कृत व्यवहार की जीवन्त भाषा थी, केवल पुस्तको मे वह सीमित न थी। नादिन्याऽऽक्रोशे पुत्रस्य सूत्र पर भाष्य मे दिये हुए उदाहरण भी इसी कथन की पुष्टि करते है। यह समय ब्राह्मणों के उत्थान का था। पुष्यमित्र पाटलिपुत्र से विदर्भ, अवन्ती और शूरसेन प्रदेश तक का शासक था। यज्ञ और कर्मकाण्ड का महत्त्व बढ रहा था। स्वय पुष्यमित्र ने दो अश्वमेध यज्ञ किये थे, जिनमे एक पतजलि आचार्य थे। अर्थ के लोभ से ब्राह्मण लोग यज्ञादि कर्मकाण्डो की ओर अधिक झुक रहे थे। पतजलि ने इस वर्ग को व्याकरण की ओर उन्मुख किया। उन्होंने आर्यावर्त्त मे रहनेवाले शिष्ट ब्राह्मणो के लिए अष्टाध्यायी का अध्ययन आवश्यक निरूपित किया और कहा कि ब्राह्मण को षडगो-सहित वेदो का अध्ययन निष्काम भाव से करना चाहिए। षडगों मे भी व्याकरण मुख्य है। वेदरक्षा तथा वेदज्ञान विना व्याकरण के सम्भव ही नही है। अपशब्द म्लेच्छवत् हैं। भाषा का साधु ज्ञान हुए विना साधु और अपभ्रश शब्दो मे भेद कर सकना सम्भव नही है और न विना व्याकरण का ज्ञान प्राप्त किये आर्त्विजीन वनना शक्य है।[2] यों मनुष्य दैवानुग्रह या स्वभाव-गति से भी अष्टाध्यायी के अनुसार शुद्ध भाषा वोल सकता है, किन्तु वह इस वात का पता नही लगा सकता कि दूसरे लोग जो वोल रहे हैं, वह कहाँतक ठीक है।[3] उन्होने साधु शब्दो के प्रयोग को अभ्युदयकारी वतलाकर भाषा की साधुता पर वहुत जोर दिया और इस प्रकार प्राकृतो के बढते हुए प्रभाव को यथाशक्य रोकने की चेष्टा की। कहने की आवश्यकता नही कि भाष्यकार जैसे समर्थ विचारक से सस्कृत को वड़ी शक्ति मिली। इस काल मे अनेक अधिकारी ग्रन्थों का प्रणयन तो हुआ ही, साथ ही अगली कई शताब्दियो तक सस्कृत की धारा अक्षुण्ण प्रवाहित रही। उसके प्रयत्न से व्याकरण अध्ययन का सर्वप्रमुख अग वन गया और सस्कृत का जो स्वरूप उन्होने स्थिर कर दिया, वह आजतक वैसा ही बना हुआ है।[4]

महाभाष्य की रचना-शैली—महाभाष्य की रचना-शैली अत्यन्त स्पष्ट, सरल एवं प्रसादगुणमयी है। भर्तृहरि ने एक पक्ति मे उसे 'अलब्धलाभे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्ठवात्' कहा है। इसमे दैनन्दिन व्यवहार मे न आनेवाले शब्दों का प्रयोग नाममात्र को नही है। लम्बे समास या श्लिष्ट शब्दावली का भी कही व्यवहार नही हुआ है। भाषा-सौष्ठव की दृष्टि से महाभाष्य शारीरभाष्य की अपेक्षा अधिक सरल है। शास्त्रीय ग्रन्थ होने के कारण यद्यपि

---

१. एकैकस्य शब्दस्य वहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा गौरित्यस्य।—आ० १, वा० ६, पृ० २२।

२. पस्पशाह्निक—प्रारम्भ।

३. ६-३-१०९, पृ० ३५९।

४. ८-४-४८, पृ० ४९८।

उसमे स्थान-स्थान पर पारिभाषिक और शास्त्रीय शब्दो का आ जाना स्वाभाविक था, फिर भी लोक-व्यवहार मे आनेवाले निसर्ग-सुन्दर और सुपरिचित शब्दावली के प्राय उपयोग होने के कारण भाष्य मे भाषा-काठिन्य नही आने पाया। भाष्य की विषय-प्रतिपादन-शैली भी अत्यन्त मनोरम है। तात्पर्य यह है कि सरल सुबोध और निसर्ग-रमणीय भाषा, स्थान-स्थान पर वक्तृत्व-छटा और सवादरूप वाक्यो की मोहकता ने भाष्य मे एक विशेष प्रकार की आकर्षता उत्पन्न कर दी है। जहाँ प्रतिपाद्य विषय कठिन और गम्भीर है, वहाँ बीच-बीच मे विनोदयुक्त वाक्य डालकर तथा समयोचित लौकिक दृष्टान्त-वाक्यो का समावेश कर उन्होने जिज्ञासा को यथावत् बनाये रखा है और प्रसग को निर्जीव हो जाने से बचा लिया है।

भाष्य की विषय-निरूपण-पद्धति अत्यन्त सीधी और सम्भाषणात्मक है। कठिन विषयों का प्रारम्भ 'इदमिह सम्प्रधार्यम्' जैसे वाक्यो से पाठक को पूर्व जागरूक करके किया गया है। पतजलि पूर्वपक्ष की स्थापना अत्यन्त तन्मयता और निष्पक्षता के साथ करते है और फिर 'विषम : उपन्यास' जैसे वाक्यो से उत्तर पक्ष का प्रतिपादन करते हैं। वे बीच-बीच मे 'कि वक्तव्यमेतत्, कथमनुच्यमान गस्यते', अथवा 'अस्ति प्रयोजनमेतत्। कथ तर्हि?' जैसे सवादात्मक वाक्य डालकर पाठक का ध्यान लक्ष्य की ओर आकृष्ट करते जाते हैं और पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष दोनो के निरूपण के पश्चात् 'यथा न दोषस्तथास्तु' कहकर निर्णय पाठक पर छोड़ देते हैं। कभी कभी वे 'गोनदीर्यस्त्वाह' कहकर अधिक ग्राह्य पक्ष की पुष्टि भी कर देते हैं। कही-कही वे सूत्रो पर आक्षेप करनेवाले वार्त्तिको पर टीका कर अन्त मे तर्क के साथ 'यथान्यासमेवास्तु' कहकर सूत्रकार का समर्थन करते हैं। कहीं दोनो पक्षो के मत ग्राह्य होने पर उनपर होनेवाले आक्षेपो का निवारण-मात्र कर देते हैं, किन्तु अपने मत की स्थापना नही करते। अथवा 'उभयथा गोणिकापुत्र' कहकर दोनो पक्षो का समर्थन कर देते हैं। सभी विवाद-ग्रस्त स्थलो मे उन्होने पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष मे प्राचीन वैयाकरणो के मतो का उल्लेख किया है और अन्त मे लोक मे प्रचलित प्रयोग तथा सर्व-सम्मत व्याकरण-विषयक मौलिक सिद्धान्त के आधार पर अपना निर्णय दिया है और जहाँ कही लोक-प्रयोग के आधार पर उत्तर देना शक्य नहीं जान पडा, वहाँ 'देवा ज्ञातुमर्हन्ति', 'देव एव जानाति' जैसा विनोदात्मक उत्तर देकर काम चला लिया है। इस प्रकार उन्होने व्याकरण जैसे नीरस विषय को भी सरस बना दिया है। वास्तव मे उन्होंने सारा ग्रन्थ शिष्यो को पढाते-पढाते लिखा। इसीलिए, उसमे इतनी सजीवता और प्रासादिकता आ गई है।

भाष्यकार से पूर्व अष्टाध्यायी पर अनेक वृत्ति-ग्रन्थ विद्यमान थे, जिनमे सूत्रो के अर्थ, उदाहरण और प्रत्युदाहरण दिये गये थे। इसलिए, भाष्यकार यह मानकर चले कि उनके पाठक को यह सब अवगत है। उन्होने अपनी *व्याख्यान-पद्धति* तीन तत्त्वो पर आवृत की—सूत्र का प्रयोजन बतलाना, पदो का योग्य अर्थ करते हुए सूत्रार्थ निश्चित करना और सूत्र की व्याप्ति बढ़ाकर या कम करके सूत्रार्थ का नियन्त्रण करना। सूत्र का प्रयोजन बतलाने के लिए वे अपना व्याख्यान 'किमुदाहरणम्', 'अय योग शक्यमकर्तुम्' जैसे वाक्यो से प्रारम्भ करते है। सूत्रार्थ का निश्चय करते समय 'अमुकपद किमर्थम्', 'कथमिद विज्ञायते' तथा सूत्रार्थ का नियन्त्रण करते समय 'एवं कर्त्तव्यम्', 'इत्युपसख्यानम्,' 'इति वक्तव्यम्', 'इत्यस्य प्रतिषेधो वक्तव्य' इत्यादि वाक्यो का प्रयोग करते हैं।

पाणिनि के मनोऽनुकूल इष्ट-प्रयोग-साधक और अनिष्टनिवारक अर्थ लगाना पतजलि का उद्देश्य था। इसलिए, जहाँ कही सूत्र से यह काम सिद्ध होता न दिखाई दिया, वहाँ उन्होने सूत्र का योग-विभाग किया या पूर्व-विप्रतिषेध से काम चलाया। यदि कही सूत्र से अनिष्ट-प्रयोग सिद्ध होने लगा, तो उसे शिष्टासम्मत होने के कारण 'अनभिधानम्' कहकर निवारित किया। इन सब बातो का विवेचन करते हुए उन्होने अनेक स्थानो पर पूर्वाचार्यो के वार्त्तिक उद्धृत किये और यदि उस विचार के समर्थक या विरोधी अनेक आचार्य हुए या किसी कारण उनका नाम-ग्रहण सम्भव न हुआ, तो वहाँ 'अपर आहु' या 'अपर आह' द्वारा उनके मत का प्रतिपादन कर दिया। वार्त्तिककार द्वारा सूत्र अथवा सूत्रस्थ किसी पद का प्रत्याख्यान किये जाने के अवसर पर उन्होने यथासम्भव सूत्रकार का पक्ष ग्रहण किया। फिर भी, उनकी दृष्टि सूत्रकार और वार्त्तिककार दोनो के प्रति आदरयुक्त रही। सूत्रकार के साथ उन्होने वार्त्तिककार के लिए भी भगवान्, सुहृद् और आचार्य विशेषणो का प्रयोग किया।[1] सूत्रकार का समर्थन करने के लिए ही, यदि आवश्यक हुआ तो, उन्होने वार्त्तिककार का खण्डन किया। केवल दो स्थानो पर 'एतदेक-माचार्यस्य मङ्गलार्थं मृष्यताम्' तथा 'प्रमादकृतमेतदाचार्यस्य शक्यमकर्त्तुम्' कहकर उन्होंने सूत्रकार का दोष दिखलाया। किसी-किसी स्थान पर उन्होंने सूत्र के शब्दो मे अन्तर प्रस्तावित किया और वैसा करने के लाभ भी बतलाये, किन्तु अन्त मे यह कहकर कि सूत्रकार ने अर्थ का पूर्ण स्पष्टीकरण करने के लिए ही वैसा किया है, उन्होने सूत्र को ज्यों-का-त्यों रहने दिया।

महाभाष्य की भाषा—महाभाष्य को सरस और आकर्षक बनाने मे उसकी भाषा ने बहुत अधिक योग दिया है। विरोधियो के तर्कों का उत्तर देते समय भाष्यकार बड़ी चुभती, व्यग्यमयी और कटाक्षपूर्ण भाषा का प्रयोग करते है। कभी-कभी उस मे चिढ और झुँझलाहट की भी झलक मिलती है, पर शुष्क सिद्धान्त-निरूपण के प्रसगो मे इस प्रकार की अभिव्यक्ति स्फूर्त्ति लाने मे ही सहायक हुई है। भाष्यकार की कटाक्ष-शैली के कुछ उदाहरण उपस्थित करना यहाँ अप्रासगिक न होगा—

१ किं पुनरनेन वर्ण्येन ? किं न महता कष्टेन नित्य शब्द एवोपात्तो यस्मिन्नुपादीयमाने सन्देह स्यात् ।[2]

२ आहो पुरुषिका मात्र तु भवानाह।[3]

३. सैषा महतो वशस्तम्बाल्लट्वानुकृष्यते।[4]

४ परवशतानि कार्याणि।[5]

५. नहि काको वाश्यत इत्यधिकारा निवर्त्तन्ते।[6]

---

१. तदाचार्यः सुहृद्भूत्वाऽन्वाचष्टे।—५-३-२०, पृ० ४३३।

२. आ० १, पृ० १५।

३. आ० २, पृ० ३५।

४. आ० २, पृ० ५२।

५. १-१-१०, पृ० १६९।

६. ४-३-५३, पृ० २३६।

६. नैवेश्वर आज्ञापयति नापि धर्मसूत्रकाराः पठन्त्यपवादे उत्सर्गा बाध्यन्तामिति।[१]
७. तत्कारी च भवांस्तद्द्वेषी च।[२]
८. अन्यद्भवान् पृष्टोऽन्यदाचष्टे। आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे।[३]
९. अवतप्ते नकुलस्थितं त एतत्। उदके विशीर्णं त एतत्[४]।
१०. योहि तत्पुरुषमारभते न तस्य दण्डवारितो बहुव्रीहिः[५]।
११ यदि प्रयोगे धर्म सर्वो लोकोऽभ्युदयेन युज्येत। कश्चेदानीं भवतो मत्सरो यदि सर्वो लोकोऽभ्युदयेन युज्येत ?[६]
१२. कश्चेदानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरुषः शब्दाना प्रयोगे साधु स्यात् ?[७]
१३. सर्पोभयतस्पाशा रज्जुर्भवति।[८]
१४ अनुगृहीताः स्मो यैरस्माभि. प्रथमैकवचनमास्थाय गो गुनो प्रतिषेधो न वक्तव्यो भवति ।[९]

महाभाष्य के उपमान, न्याय, दृष्टान्त और सूक्तियाँ भी कम मनोरम नही हैं। उन्होंने विषय मे बडी रोचकता उत्पन्न कर दी है। उसके उपमान सुपरिचित हैं और प्रभावशाली भी। उदाहरणार्थ—

(१) नह्ययमनुबन्धै शल्यकवच्छक्य उपचेतुम्।[१०] (२) यदि पुनरिमे वर्णा शकुनिवत् स्युः। शकुनय आशुगामित्वात् पुरस्तादुत्पतिता पश्चाद् दृश्यन्ते ।[११] (३) यदि पुनरिमे वर्णा आदित्यवत्स्यु । तद्यथा एक आदित्यो नैकाधिकरणस्थो युगपद्देश पृथक्त्वेषूपलभ्यते।[१२] (४) कथ पुनरसताम लिङ्ग शक्य द्रष्टुम्? मृगतृष्णावत् तद्यथा मृगास्तृषिता अपोधारा. पश्यन्ति न च ता. सन्ति।[१३] गन्धर्वनगराणि यथा दूरतो दृश्यन्ते उपसृत्य च नोपलभ्यन्ते तदवत् खट्वावृक्षयोरसल्लिङ्ग द्रष्टव्यम्। यथाऽऽदित्यस्य गती सती नोपलभ्यते तद्वत् खट्वावृक्षयो सल्लिङ्ग नोपलभ्यते। यथा वस्त्रान्तर्हितानि द्रव्याणि नोपलभ्यन्ते तद्वत् खट्वावृक्षयो सल्लिङ्ग नोपलभ्यते ।[१४] (५) गोयूथवदविकारा.। तद्यथागोयूथमेकदण्डप्रचट्टित सर्वसम घोष गच्छति तद्वदविकारा।[१५] (६) अकृतकारि खल्वपि शास्त्रमग्निवत्। तद्यथा अग्निर्यददग्ध तद्दहति। कृतकारि खल्वपि शास्त्र पर्जन्यवत्। तद्यथा पर्जन्यो यावदून पूर्ण च सर्वमभिवर्षति ।[१६] (७) व्यजनानि पुनर्नटभार्यावद्भवन्ति। तद्यथा नटाना स्त्रियो रङ्गगा यो य पृच्छति कस्य यूय कस्य

---

१. १-१-४७, पृ० २८७।
२. १-२-३९, पृ० ५१६।
३. १-२-४५, पृ० ५३२।
४. १-४-१३, पृ० १४३।
५. २-१-२४, पृ० २७९।
६. आ० १, पृ० २२
७. आ० १, पृ० २०
८. ६-१-६८, पृ० ९६।
९. आ० २, पृ० ४४।
१०. आ० २, पृ० ४०।
११. वही।
१२. आ० २, पृ० ४२।
१३. ४-१-३, पृ० १७।
१४. वही, पृ० १८।
१५. ४-२-७०, पृ० १९४।
१६. ६-१-१२७, पृ० १०८।

यूय तत तव तवेत्याहु ।[१] (८) इतरेतराश्रयाणि कार्याणि न प्रकल्पन्ते। तद्यथा नौर्नावि वद्धा नेतरत्राणाय भवति।[२]

उक्त उदाहरणो मे भाष्यकार ने अपने कथन की पुष्टि के लिए प्रतिदिन सम्पर्क मे आने-वाले उपमानो को लेकर उनका अपने ढग से उपयोग कर लिया है और यह उपयोग इतना समान-गुणक है कि पाठक उसके सहारे विना तर्क के वक्ता की वात को स्वीकार करने के लिए वाध्य हो जाता है। यही स्थिति भाष्य मे प्रयुक्त दृष्टान्तों की है। उपमानो के समान उनके दृष्टान्त भी सुपरिचित और सुग्राह्य है। यथा–

(१) नष्टाश्वदग्धरथवत्। तवाश्वो नष्टो ममापि रथो दग्ध उभौ सम्प्रयुज्यावहा इति। एवमिहापि तवाप्यन्तरतमा प्रकृतिर्नास्ति ममाप्यन्तरतम आदेशो नास्त्यस्तु नौ सम्प्रयोग इति।[३] (२) अभ्यन्तरो हि समुदायस्यावयव। तद्यथा वृक्ष प्रचलन् सहावयवै प्रचलति।[४] (३) असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे एपा (परिभाषा) लोकत सिद्धा। प्रत्यङ्गवर्त्ती लोको सन्दृश्यते। तद्यथा पुरुषोऽय प्रातरुत्थाय यान्यस्य प्रतिशरीर कार्याणि तानि तावत् करोति। तत मुहृदान्तत सम्बन्धिनाम्।[५] (४) नह्यन्यस्यासिद्धत्वादन्यस्य प्रादुर्भावो भवति। न हि देवदत्तस्य हन्तरि हते देवदत्तस्य प्रादुर्भावो भवति।[६] (५) लोकविज्ञानात् सिद्धम्। लोकेऽमीषा ब्राह्मणानामन्त्यात् पूर्व आनीयतामित्युक्ते यथा जातीयकोऽन्त्यस्तथा जातीयकोऽन्त्यात् पूर्व आनीयते।[७] (६) नञ् प्रयुज्यमान पदार्थं निवर्त्तयति। कीलप्रतिकीलवत्। तद्यथा कील आहन्यमान प्रतिकील हन्ति।[८] (७) प्रसक्तस्य चानाभिनिर्वृत्तस्य प्रतिषेधेन निर्वृत्ति. शक्या कर्त्तु नाभिनिर्वृत्तस्य। यो हि भुक्तवन्त ब्रूयान्मा भुङ्क्था इति किं तेन कृत स्यात्?[९] (८) न खल्वप्यन्यत् प्रकृतमनुवर्त्त-नादन्यद्भवति। न हि गोधा सपन्ती सर्पणादेवाहिर्भवति।[१०] (९) अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति। तद्यथा शाल्यर्थं कुल्या प्रणीयन्ते ताभ्यश्च पानीय पीयत उपस्पृश्यते च शालयश्च भाव्यन्ते।[११] (१०) आमिश्रस्यायमादेश उच्यते स नैव पूर्वग्रहणेन गृह्यते नापि परग्रहणेन। क्षीरोदके सम्पृक्ते आमिश्रत्वान्नैव क्षीरग्रहणेन गृह्येते नाप्युदकग्रहणेन।[१२] (११) उभयत आश्रये नान्तादिवत्। तद्यथा लोके यो द्वयोस्तुल्यवलयोरेक प्रेष्यो भवति स तयो पर्यायेण कार्यं करोति। यदा तु तमुभौ युगपत् प्रेषयतो नाना दिक्षु च कार्ये भवतस्तत्र यद्यसाववरोधार्थी भवति तत उभयोर्न करोति।[१३]

इस प्रकार भाष्य ने जीवन के सामान्य तथ्यो के सहारे व्याकरण के अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों और परिभाषाओ की सृष्टि की है। उनके कुछ न्याय तो अत्यन्त प्रसिद्ध हुए। वे भी यद्यपि दृष्टात ही हैं, किन्तु उनकी अपेक्षा संक्षिप्त तथा विशिष्ट अर्थग्राही। यथा–

---

१. ६-१-२, पृ० १३।
२. १-१-१, पृ० १०२।
३. १-१-५०, पृ० ३१३।
४. १-१-५६, पृ० ३४०।
५. १-१-५७, पृ० ३६१।
६. १-१-५७, पृ० ३६४।
७. १-१-६५, पृ० ४२१।
८. २-२-६, पृ० ३३९।
९. ६-१-३७, पृ० ६४।
१०. ६-१-५०, पृ० ८१।
११. वही।
१२. ६-१-८५, पृ० १२०।
१३. वही, पृ० १२१।

(१) कूपखानकन्याय—कूपखानक. कूप खनन् यद्यपि मृदा पांसुभिश्चावकीर्णो भवति सोऽप्सु सञ्जातासु तत एव त गुण समासादयति येन स च दोषो निर्हण्यते भूयसा चाप्यस्भ्युदयेन योगो भवति।[१] (२) कुम्भीधान्याय—यस्य कुम्भ्यामेव धान्य स कुम्भीधान्य.। यस्य पुनः कुम्भ्यां चान्यत्र च नासौ कुम्भीधान्य.[२]। (३) काकतालीयन्याय—काकागमनमिव तालपतनमिवकाकतालम्। काकतालमिव काकतालीयम्।[३] (४) प्रासादवासिन्याय—ये प्रासादवासिनो गृह्यन्ते ते प्रासदवासिग्रहणेन। ये भूमिवासिनो गृह्यन्ते ते भूमिवासिग्रहणेन। ये उभयवासिनो गृह्यन्ते ते प्रासादवासग्रहणेन भूमिवासिग्रहणेनच एवमिहापि[४]। (५) अजाकृपाणीयन्याय—पूर्ववत्[५]। (६) अविरविकन्याय—तद्यथा अवेर्मासमिति विगृह्य अविकशब्दादुत्पत्तिर्भवत्याविकमिति। एव पञ्चसु कपालेषु सस्कृत इति विगृह्य पञ्चकपाल इति भविष्यति पञ्चकपाल्या सस्कृत इति विगृह्य वाक्यमेव।[६]

भाष्य मे अनेक स्थानो पर मनोरम सूक्तियों और कहावतों का, जो जीवन के वास्तविक अनुभव पर आधृत है, समावेश हुआ है। कभी-कभी ये सूक्तियाँ और कहावते सोदाहरण मिलती है और कभी साररूप मे। भाष्यकार ने इन सूक्तियो का उपयोग अपनी बात की पुष्टि के लिए किया है। उदाहरणार्थ—

(१) द्विवद्ध सुवद्ध भवति।[७] (२) नहि भिक्षुका सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते नच मृगा सन्तीति यवा नोप्यन्ते।[८] (३) समान गुण एव स्पर्धा भवति। नह्याढ्याभिरूपौ स्पर्धेते। (४) अदूरविप्रकर्ष एव स्पर्धा भवति। नहि निष्कधन. शतनिष्कधनेन स्पर्धेते।[९] (५) वै कामाना तृप्तिरस्ति।[१०] (६) वुभुक्षित न प्रतिभाति किञ्चित्।[११] (७) पर्याप्तो ह्येक पुलाक. स्थाल्या निदर्शनाय।[१२]

भाष्य मे प्रयुक्त अनेक शब्द संस्कृत शब्दकोश की अमूल्य निधि है। विशिष्ट अर्थ मे और विशिष्ट अवसरो पर प्रयुक्त होनेवाले बहुमूल्य शब्दों और वाक्याशो से सम्पूर्ण भाष्य भरा पडा है। अनेक ऐसे अर्थगर्भित शब्द भाष्य मे आये हैं, जिनके लिए सम्पूर्ण वाक्य की आवश्यकता होती। यह एक स्वतन्त्र विषय है, जिसकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होना स्वाभाविक है। यहाँ उदाहरणार्थ कुछ शब्द दिये जा रहे है—

(१) शब्दगुडमात्रम् (शब्दो की बकवास-भर), (२) उष्ट्रासिका. (ऊँटो की तरह अलग-अलग प्रकार से बैठना), (३) हतशायिका (मरे हुए लोगो की तरह अस्त-व्यस्त पड़े होना), (४) काकपेया नदी (क्षीण, कम जलवाली नदी), (५) सान्यासिक (जैसे का तैसा), (६) वृकवञ्ची, (७) आहोपुरुषिका, (८) वहलिट् (चलते-चलते खेत खानेवाला

---

१. आ० १, पृ० २४।
२. १-३-७, पृ० २७।
३. ५-३-१०६, पृ० ४८०।
४. १-१-७, पृ० १५७।
५. ५-३-१०६, पृ० ४८० (वही)।
६. ४-१-८९, पृ० १०२।
७. ६-१-२२३, पृ० २४३।
८. ४-१-१, पृ० १३।
९. ५-३-५५, पृ० ४४६-४७।
१०. ६-१-८५, पृ० ११९।
११. २-३-२, पृ० ४०५।
१२. १-४-२३, पृ० १५७।

बैल या पशु), (९) सघुष्टक (एक साथ जुए मे जुतने वाले जोड़ीदार बैल)। (१०) समाश (सहभोज), (११) प्रत्यङ्ङवर्त्ती लोक (पास की वस्तु को पहले देखनेवाले), (१२) साचीन (टेढा-मेढा), (१३) आर्त्ततर (अधिक उपयुक्त), (१४) अक्त परिमाण (निश्चित माप), (१५) पुष्पक (आँख मे फुल्लीवाला व्यक्ति), (१६) कालक (काले चित्तेवाला), (१७) कल्माष अथवा सारग (कुछ-कुछ काली, कुछ-कुछ सफेद वस्तु), (१८) उपोद्वलक (दृढ करनेवाला), (१९) विपादिका (पैर का फोडा), (२०) व्यसन अथवा विहरण (फोडना या टुकडे करना), (२१) अपस्किरण (आनन्दित बैल की सीग से भूमि खरोदने की क्रिया, कुत्ते और मुर्गे की पाँव से भूमि कुरेदने की क्रिया), (२२) विप्रलाप (परस्पर विरुद्ध बोलना), (२३) आध्यान (उत्कण्ठापूर्वक स्मरण), (२४) अन्यवसर्ग (यथेच्छ काम करने की अनुज्ञा), (२५) निश्रयिणी (नसेनी, सीढ़ी), (२६) प्रसित (कसकर बँधा हुआ), (२७) प्रजन (सन्तान), (२८) केशक (बालों का शौकीन), (२९) अशक (दायाद), (३०) औदरिक (पेटू)। (३१) पथक (चलने मे होशियार), (३२) तन्नक (ताजा बुना हुआ वस्त्र), (३३) उष्णक (शीघ्र करने योग्य काम को शीघ्रता से करने-वाला), (३४) शीतक (शीघ्र करने योग्य काम को ढिलाई से करनेवाला), (३५) उष्णिका (लपसी) (३६) पार्श्वक (सीधे ढग से करने योग्य काम को चालाकी या अनृजु उपाय से करनेवाला), (३७) अय शूलिक (मृदु उपाय से करने योग्य कामों को और जबरदस्ती से करनेवाला), (३८) हिमेलु (बिना बर्फ के पर्वत), (३९) श्रृंगारक (सीगवाला), (४०) अवक्षेपण (कुत्सित काम), (४१) बृहतिका (शाल या चादर), (४२) अवडक्षीण (दो व्यक्तियों के बीच की गुप्त मन्त्रणा), (४३) आशितंगु (गायो द्वारा जिसकी घास चर ली गई है, ऐसा चरागाह), (४४) आवपन (बोने का पात्र), (४५) नीशार (झूल), (४६) धनक (द्रव्य की लालसा)। (४७) युग्म (गाड़ी मे जुतने योग्य बैल)। (४८) चचा (स्यार आदि पशुओ को डराने के लिए खेत में घास की बनाई हुई आकृति) (४९) भ्रूकुश (नाटक मे स्त्री की भूमिका करनेवाला पुरुष)।

ये शब्द निदर्शनमात्र है। भाष्य से ऐसे शब्दो की बड़ी तालिका उपस्थित की जा सकती है और वह आधुनिक भारतीय भाषाओ की श्रीवृद्धि मे बड़ी सहायक हो सकती है।

भाष्यकार ने महत्त्वपूर्ण सिद्धातो की स्थापना करते समय भी इस बात का ध्यान रखा है कि वे सरलता से सर्वग्राह्य हो सके। एतदर्थ उन्होने सर्वत्र लोकविज्ञान या लोक-व्यवहार का आश्रय लिया है। उनके अधिकाश तर्क, चाहे वे पूर्वपक्ष के हो या उत्तरपक्ष के, लोकाचार पर टिके है। यदि उन्हें यह कहना हुआ कि प्रत्यय का स्थान निश्चित कर देना चाहिए, अन्यथा वे कभी शब्दो के आदि मे, कभी मध्य मे और कभी अन्त मे होने लगेंगे, तो वे इस बात की पुष्टि के लिए एक सुपरिचित उदाहरण अवश्य देंगे। जैसे, गाय का बछड़ा कभी माँ के आगे, कभी पीछे और कभी पार्श्व मे चलता है।[1] ऐसे उदाहरणों के सहारे भाष्य मे अनेक परिभाषाएँ और नियम स्थिर किये गये है। यथा—

---

१. ३-१-२, पृ० ६।

(१) सनियोग-शिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यपाय ।[1]

साथ-साथ रहने वालो मे एक के न रहने पर दूसरा भी नही रहता। जैसे, देवदत्त और यज्ञदत्त को मिलाकर कोई काम करना है। यदि देवदत्त नही करेगा, तो यज्ञदत्त भी नही करेगा।

(२) सामान्येऽतिदिश्यमाने विशेषोऽनतिदिष्टो भवति ।[2]

सामान्य का अतिदेश करने पर विशिष्ट का अतिदेश नहीं होता। जैसे इस क्षत्रिय के प्रति ब्राह्मणवद् व्यवहार करना चाहिए, ऐसा कहने पर उसके प्रति वे व्यवहार किये जाते है, जो सामान्य ब्राह्मण के योग्य होते है। माठर, कौण्डिन्य आदि विशेष ब्राह्मणों के प्रति किये जाने योग्य व्यवहार का अधिकारी वह नही होता।

(३) अवेदका अपि गुणा दृश्यन्ते।[3]

गुणवाचक शब्द अव्यवच्छेदक होते है। जैसे, एक देवदत्त जटा रखने पर, केश मुँडा लेने पर या शिखा रखने पर भी अपनी आख्या नही छोडता।

शब्दो के अनेक अर्थो तथा परस्पर समान दिखनेवाले शब्दों के अर्थ-भेद पर भी भाष्यकार ने प्रसगानुसार विचार किया है, जिससे पता चलता है कि शब्दो के वैज्ञानिक प्रयोग के विषय में वे कितने सतर्क थे। भाष्य से विदित होता है कि (१) नित्य शब्द स्थिर रहनेवाले पदार्थो के लिए व्यवहृत होता है (जैसे नित्या पृथ्वी, नित्य आकाश) और आभीक्ष्ण्य अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है (जैसे नित्य प्रहसित, नित्य प्रजल्पित)।[4] (२) जाति और वीप्सा मे अन्तर है। जाति एकार्थाश्रया है और वीप्सा अनेकार्थाश्रया।[5] (३) ग्राम शब्द के अनेक अर्थ हैं। शाला समुदाय अर्थ मे 'ग्रामो दग्ध।' वाट-परिक्षेप अर्थ मे 'ग्राम प्रविष्ट,' मनुष्यों के अर्थ मे 'ग्रामो गत' और सारण्य ससीमक सस्यण्डलिक स्थान के अर्थ मे 'ग्रामो लब्ध' प्रयोग देखा जाता है।[6] (४) आदि उसे कहते है, जिसके विद्यमान रहने पर उसके वाद कुछ अवश्य हो, किन्तु पहले कुछ न हो और अन्त उसे कहते हैं। जिसके विद्यमान रहने पर उसके पहले कुछ अवश्य हो किन्तु वाद मे न हो।[7] (५) कुत्सन और भर्त्सन मे अन्तर है। कुत्सन असूयाजन्य होता है और भर्त्सन क्रोध-जन्य।[8] (६) आशसा और सभावना मे भी अन्तर है। जिस वस्तु की आशसा की जाती है, उसका स्वरूप मन मे निश्चित रहता है। किन्तु, उसका मिलना शक्य भी हो सकता है, अशक्य भी। जिस वस्तु की सभावना की जाती है, उसका स्वरूप मन मे निश्चित रहता है और उसकी प्राप्ति भी सभव रहती है।[9] ये दोनों भविष्यत्काल से सम्बन्ध रखती हैं। सभावना एक प्रकार से आशसा की अवयवभूता है। (७) विधि और अधीष्ट मे भी भेद है। विधि प्रेषण या आज्ञा देने को कहते हैं और अधीष्ट वडे लोगों को सत्कार-पूर्वक कोई काम करने को

---

१. ४-१-३६, पृ० ५४ ।
२. ६-३-६८, पृ० ३४५ ।
३. १-१-१, पृ० १०५ ।
४. आ० १, पृ० १४ ।
५. ८-१-४, पृ० २६६ ।
६. १-१-३६७, पृ० १५५ ।
७. १-१-२१, पृ० १९९ ।
८. ८-१-८, पृ० २७० ।
९. ३-३-१३३, पृ० ३२३।

कहने का नाम है। (८) निमन्त्रण सन्निहित को बुलाने और आमन्त्रण दूरस्थ को बुलाने के लिए प्रयुक्त होता है। निमन्त्रण नियोगत. (आवश्यक) स्वीकार्य है और आमन्त्रण स्वेच्छा-पूर्वक।[1] (९) पर शब्द के अनेक अर्थ है। व्यवस्था अर्थ मे 'पूर्व पर' आदि, अन्यार्थ मे परपुत्र, परभार्या और प्राधान्य अर्थ मे 'परमिय ब्राह्मणी अस्मिन् कुटुम्बे' और इष्ट अर्थ मे 'पर धाम गत.' प्रयोग प्रचलित है।[2] (१०) इसी प्रकार एक शब्द भी बह्वर्थक है। सख्यावाची तो विदित ही है। असहाय अर्थ मे 'एकाग्नि, एकानिमि क्षुद्रकैर्जितम्' और अन्य अर्थ मे 'सवरमादो द्युम्न एकास्ता' प्रयोग प्रसिद्ध है।[3] (११) अवयवश आख्यान का नाम व्याख्यान है।[4] (१२) वृष और वृषन्, ब्रह्मन् और ब्राह्मण पर्याय है।[5] (१३) भोग शब्द शरीर-वाची भी है।[6] (१३) पूर्वपुरुषो के निवासस्थान को अभिजन और अपने निवास-स्थान को निवास कहना चाहिए आदि।[7]

महाभाष्य की मौलिक देन—व्याकरण के क्षेत्र मे महाभाष्य की मौलिक देन सर्वोपरि है। शुष्क सिद्धान्तो को लोकाश्रय, लोकविज्ञान या लोक-व्यवहार के आधार पर सर्व-बुद्धि-गम्य बना देने का श्रेय तो उसे (महाभाष्य को) है ही, मौलिक विचारों का समावेश कर व्याकरण को दर्शन का स्वरूप प्रदान करने का गौरव भी उसे प्राप्त है। महाभाष्य के प्रारम्भ मे ही शब्द की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि लोक मे उस ध्वनि को शब्द कहते हैं, जिससे व्यवहार मे पदार्थ का ज्ञान हो। ध्वनि करनेवाले बालक को लोग 'शब्दकारी' कहते है। इसलिए, ध्वनि ही शब्द है। यह ध्वनि वास्तव मे स्फोट की दर्शक है। शब्द नित्य है और अर्थ उस नित्य शब्द का ही होता है। इस नित्य शब्द की ही स्फोट सज्ञा है। स्फोट की न उत्पत्ति होती है और न नाश। बोलते समय ध्वनि द्वारा उस नित्य स्फोट-रूपी शब्द का प्रकाशनमात्र होता है और वही श्रोता के मन मे अपना अर्थबोध कराता है।[8] इस दृष्टि से शब्द के दो भेद किये जा सकते है—नित्य और कार्य। स्फोट-रूपी शब्द नित्य और ध्वनि-रूपी शब्द कार्य या उत्पाद्य होता है।[9] सग्रहकार व्याडि ने इस विषय पर विशद विवेचन किया था और व्याकरण मे शब्द-निष्पत्ति की दृष्टि से उसके नित्यत्व और कार्यत्व दोनों पक्षो को स्वीकार किया था। पाणिनि ने भी इन दोनो मतो का समन्वय कर सूत्र-रचना की थी। भाष्यकार ने भी स्फोट और ध्वनि इन शब्दो के दो स्वरूप स्वीकार किये[10] और शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध को नित्य माना।[11]

---

१. ३-३-१६१, पृ० ३३५।
२. १-४२, पृ० ११४।
३. १-४-२१, पृ० १५०।
४. ४-३-६६, पृ० २३९।
५. ५-१-७, पृ० २९९।
६. ५-१-९, पृ० ३००।
७. ४-३-९०, पृ० २४४।

८. अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द उच्यते। शब्दकार्ययं माणवक इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते।—आ० १, पृ० २।

९. द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च।—आ० १, पृ० ७।

१०. किं पुनराकृतिः पदार्थ आहो...उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्यम्।—आ० १, पृ० १३।

११. आ० १, पृ० १७।

शब्द के नित्य होने के कारण ही वर्ण भी कूटस्थ, अविचाली तथा अपाय, उपजन और विकार से रहित है। यद्यपि दण्ड शब्द का प्रथम और द्वितीय प्रकार भिन्न है। काल-व्यवसाय और शब्द-व्यवसाय के कारण भिन्न-भिन्न दिखनेवाले वर्ण एकात्म होकर भी भिन्न हैं। एकात्म शब्द में व्यवसाय औपाधिक भले हो, वास्तविक नहीं हो सकता। इसीलिए, आगम के कारण शब्द में विकार आता देखकर भाष्यकार ने आगम को भी आदेश माना और सम्पूर्ण शब्द के स्थान में सम्पूर्ण शब्दान्तर को आदेश स्वीकार किया।[1] 'सर्वे सर्वपदादेशा' का सिद्धान्त इसी तथ्य पर आवृत है, अन्यथा एकदेश-विकार के कारण शब्द की नित्यता नहीं ठहर सकती थी।[2] जिस प्रकार शीघ्र उड़नेवाले पक्षी एक क्षण में एक स्थान पर और दूसरे क्षण में अन्य स्थान पर दिखाई देते हैं अथवा जिस प्रकार एक सूर्य अनेकाधिकरणस्थ होने के कारण एक साथ पृथक्-पृथक् स्थानों पर दिखाई देता है, उस प्रकार एक वर्ण स्थान-भेद के कारण भिन्न नहीं होता। वास्तव में, शब्द श्रोत्र द्वारा प्राप्त किया जानेवाला, बुद्धि द्वारा ग्रहण किया जानेवाला, ध्वनि द्वारा प्रकाशित होनेवाला और आकाश में रहनेवाला विशिष्ट तत्त्व है। आकाश के एक होने के कारण शब्द ही एक है, किन्तु आकाश-देशों के अनेक होने के कारण वर्ण अनेक हैं।[3] व्यावहारिक दृष्टि से शब्द चार प्रकार के होते हैं——जाति-शब्द, गुण-शब्द, क्रिया-शब्द और यदृच्छा-शब्द। यदृच्छा-शब्दों का अन्तर्भाव क्रिया-शब्दों में मान लिया जाय, तो तीन ही प्रकार के शब्द रह जाते हैं।[4] किन्तु, यह बात उन्हीं आचार्यों के मत में सगत हो सकती है, जो प्रत्येक शब्द को आख्यातज मानते हैं। ऐसे ही शब्दों की निष्पत्ति के लिए पाणिनि को उणादि प्रत्ययों की कल्पना करनी पड़ी। भाष्यकार ने इन्हें अव्युत्पन्न प्रातिपदिक माना है।[5] शब्द या स्फोट को नित्य मानकर ही उन्होंने अक्षर को 'नष्ट न होनेवाला' अथवा 'व्याप्त करनेवाला' कहा है। अक्षर को पूर्वाचार्यों ने अपने सूत्रों में वर्ण संज्ञा दी है। नित्यत्व और व्यापकत्व की दृष्टि से ही शब्द ब्रह्म कहा जाता है। अक्षर-समाम्नाय ही ब्रह्मराशि है। उसी पर सारा वाक्-समाम्नाय अवलम्बित है। यह अक्षर समाम्नाय-रूपी ब्रह्मराशि शब्द-शास्त्र के ज्ञान से पुष्पित और साधु शब्दों के प्रयोग से फलित होती है और चन्द्र तथा तारों के समान अनादि काल से भास्वर चली आती है। इसके ज्ञान से सर्ववेद-पुण्य-फल की प्राप्ति होती है।[6] इसीलिए, भाष्यकार के मत से एक भी शास्त्र-सम्मत

---

१. तत्र शब्दान्तराच्छब्दान्तरस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता। आदेशास्तर्हि मे भविष्यन्त्यनागमकानां सागमकाः।——१-१-२०, पृ० १९६।

२. सर्वे सर्वपदादेशाः दाक्षीपुत्रस्य पाणिने.।
एकदेश विकारे हि नित्यत्व नोपपद्यते॥ (वही)।

३. नित्येषु च शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः।——आ०; श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्द. एकं च पुनराकाशम्। आकाशदेशा अपि बहवः यावता बहवस्तस्मादन्यभाव्यमकारस्य।——आ० १, पृ० ४२।

४. आ० २, पृ० ४५, ४७।

५. उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि।——७-२-८, पृ० १०६।

६. न क्षीयते न क्षरतीति वाक्षरम्। अश्नुते इत्यक्षरम् अथवा पूर्वसूत्रे वर्णस्याक्षरमिति

शब्द का सम्यक् ज्ञान और सुष्टु प्रयोग स्वर्ग और लोक मे कामधुक् होता है।[१] शब्द के नित्य होने पर व्याकरण-शास्त्र की उपयोगिता 'निवर्त्तक' होने मे है। वह अनिष्ट और इष्ट का नियमन करना है।[२] नैयायिको के अनुसार, जो शब्द को अनित्य मानते है, व्याकरण का लक्ष्य शब्द-सिद्धि है।

स्फोट वर्ण नित्य है। वे उत्पन्न नही होते, व्यजक ध्वनि के उच्चारण से अभिव्यक्त होते है। ध्वनि-रूप वर्ण का प्रध्वस होता है। इसी दृष्टि से वाणी एकैकवर्णवर्त्तिनी कही जाती है; क्योकि वह अग्रिम वर्ण बोलते समय प्रथम का त्याग कर देती है और वह प्रध्वस्त हो जाता है।[३] उच्चारण द्रुत, विलम्बित और मध्य वृत्तियो के अनुसार तीन प्रकार के होते हैं। द्रुतवृत्ति से उच्चारित वर्ण का उच्चारण यदि मध्यम वृत्ति से किया जाय, तो उसमे एक तिहाई समय अधिक लगता है। इसी प्रकार, यदि मध्यम वृत्ति से उच्चारित वर्ण को विलम्बित वृत्ति से बोला जाय, तो भी एक तिहाई समय अधिक लगेगा, फिर भी तीनों स्थितियो मे वर्ण का स्वरूप एक ही रहता है। उच्चारण के भेद से उत्पन्न अन्तर ऐसा ही है, जैसे एक ही मार्ग को पदाति देर मे पार करता है, आश्विक उससे कम समय मे और रथिक उससे भी कम समय मे।[४] उच्चारण-क्रिया से उत्पन्न होनेवाली ध्वनि नित्य शब्द की व्यजक है। स्फोट शब्द है और ध्वनि शब्द का गुण। जैसे, कोई नगाडा बजानेवाला नगाड़े पर चोट मारकर आगे चलता हुआ बीस डग तक उस नगाडे की ध्वनि सुन सकता है। किसी को तीस डग चलने तक नगाड़े की ध्वनि सुनाई देती रहती है और किसी को चालीस डग तक। स्फोट तीनो स्थितियो मे समान होता है, अन्तर उसकी ध्वनि मे होता है। इसी प्रकार शब्द का स्वरूप एक रहता है। ध्वनि-भेद से द्रुत विलम्बित और मध्य वृत्तियो मे भेद प्रतीत होता है।[५]

पाणिनि के समय से ही शब्द की नित्यता और कार्यता को लेकर विचारको मे दो दल हो गये थे। भाष्यकार ने ४-४-१ सूत्र के भाष्य मे नैत्य शाब्दिक और कार्य शाब्दिक सम्प्रदायो का उल्लेख किया है। पाणिनि ने अपनी सामान्य समन्वयवादिनी नीति के अनुसार दोनो पक्षों को स्वीकार किया। व्याडि और पतजलि ने दोनो पक्षो को दार्शनिकता की कोटि तक पहुँचाकर उनके सामजस्य का उपर्युक्त मार्ग ढूँढ निकाला। व्यावहारिक रूप से भी उन्होने इस प्रकार शब्द-निष्पत्ति की, जो दोनो पक्षो को ग्राह्य हो सकें। तदनुसार ही उन्होंने वर्णो के अर्थवत्त्व और निरर्थकत्व के विषय मे भी दोनो पक्षो का समर्थन किया। वर्ण अर्थवान् है। एक वर्णवाली

सज्ञा क्रियते। सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत्प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः।—आ० २, पृ० ९१।

१. ६-१-८४, पृ० ११९।
२. १-१-१, पृ० १०२।
३. ६-३-५९, पृ० ३३९।
४. १-१-७०, पृ० ४४४।

५. स्फोटः शब्दो ध्वनिः शब्दगुणः। कथम् भेर्यभिघानवत्—स्फोटश्च तावानेव ध्वनि-कृता वृत्तिः। ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते अल्पो महांश्च केषाञ्चिदुभयं तत्स्व-भावतः।—१-१-७०, पृ० ४४५।

६. १-१-४४, पृ० २६० से।

धातुएँ, प्रातिपदिक, प्रत्यय तथा निपात सार्थक होते हैं। शब्दो मे वर्ण-व्यत्यय से अर्थ बदल जाता है कूप, सूप और यूप के अर्थ मे अन्तर क्, स् और य् के अन्तर के कारण ही तो है। वर्ण के निकाल देने पर शब्द का यह अर्थ नही रह जाता। वृक्ष मे से व् निकाल देने पर ऋक्ष से वह अर्थ उपलब्ध नही होता। वृक्ष का अर्थ ही पूर्णतया नष्ट हो जाता है। अनेक वर्णो का सघात सार्थक होता है और जिनका सघात सार्थक होता है, उनके अवयव भी सार्थक होते हैं। इसी प्रकार, जिनके अवयव निरर्थक होते हैं, उनका सघात भी निरर्थक होता है। एक अन्धा नही देख सकता, तो सैकड़ो अन्धे भी मिलकर नही देख सकते। यही स्थिति वालुका-कणो की है। चक्षुष्मान् अकेला देख सकता है, तो उनका समुदाय देख भी सकता है। तिल अकेला तैलवान् होता है और उनका समूह भी। दूसरी ओर वर्ण अनर्थक भी पाये जाते हैं। उनमे प्रतिवर्ण से अर्थ की उपलब्धि नही होती। वर्ण के व्यत्यय, अपाय, उपजन और विकार होने पर भी शब्दो के अर्थ मे अन्तर नही आता। कृत्, कस् और हिंस् धातुओ और उनसे बने तर्कु, सिकता और सिंह शब्दो के अर्थ मे वर्ण-व्यत्यय होने पर भी अन्तर नही पड़ता। 'घ्नन्ति' मे वर्ण-लोप, 'लविता' मे वर्णागम और 'घातक' मे वर्ण-विकार होने पर भी अर्थ मे विकार नही आता। इससे स्पष्ट है कि वर्ण सार्थक भी होते हैं और निरर्थक भी। जिस प्रकार कई विद्यार्थी गुरु के पास अध्ययन करते हैं, उनमे कुछ फलवान् होते हैं और कुछ अफल। इसी प्रकार, कुछ वर्ण सार्थक और कुछ निरर्थक होते हैं।[१]

पतजलि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य मानते हैं और शब्द मे अर्थाभिधान की शक्ति स्वाभाविक है, यह भी स्वीकार करते हैं[२], क्योकि लोक मे एक-एक अर्थ को लेकर उसके लिए शब्द का प्रयोग देखा जाता है।[३]

भाष्यकार ने पद के चार अर्थ माने हैं—गुण, क्रिया, आकृति और द्रव्य। आकृति को ही जाति कहते हैं जो द्रव्य के भिन्न या छिन्न होने पर भिन्न या छिन्न नही होती।[४] यह सामान्यभूत पदार्थ है और नित्य है। एक द्रव्य मे उपरत होने पर भी वह अन्य द्रव्यो मे बनी रहती है। यद्यपि 'ध्रुव, कूटस्थ, अविचाली, अनपायोपजनविकारी, अनुत्पत्त्यवृद्ध्यव्ययोगी' यह नित्य की परिभाषा आकृति में घटित नही होती, क्योकि पिण्डरूप मृत्तिका की पिण्डाकृति को मिटाकर घटिका बनाई जाती है एव घटिकाकृति को मिटाकर कुण्डिका। उसी प्रकार, सुवर्ण की पिण्डाकृति को मिटाकर रुचक बनाये जाते हैं, रुचकाकृति को मिटाकर कटक, कटकाकृति को मिटाकर स्वस्तिक और उसको मिटाकर कुण्डल बनाते हैं। इस प्रकार, आकृति बदलती रहती है, किन्तु द्रव्य वही रहता है। इसलिए, जिसमे तत्त्व या तद्भाव नष्ट न हो, उसे भी नित्य

---

१. आ० २, माहे० सू० ५, पृ० ७५-८९।

२. स्वाभाविकमभिधानम्।—१-२-६४, पृ० ५८६।

३. आ० १, पृ० १७।

४. यत्तर्हि तद्भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वछिन्नं सामान्यभूतं स शब्दः? नेत्याह आकृतीनपि सा—आ० १, पृ० १।

मानना चाहिए। आकृति या जाति मे भी तत्त्व तो वना ही रहता है।[1] गुण और क्रिया द्रव्य में ही रहती है। अत, मुख्य रूप से जाति या व्यक्ति (द्रव्य) मे पदार्थ किसे मानना चाहिए, इस विषय मे वैयाकरणो के भिन्न मत थे। व्याडि द्रव्याभिधानवादी थे।[2] द्रव्याभिधानवादियो का कहना था कि प्रत्येक अर्थ (द्रव्य) के लिए शब्द नियत है। अत प्रत्यर्थ (प्रत्येक अर्थ के लिए) शब्दाभिनिवेश होता है। इसलिए, एक शब्द से अनेक द्रव्यों का अभिधान सम्भव नही है[3]। द्रव्य पदार्थ मानने से ही शब्दो के लिंग-वचन सिद्ध होते है। आकृति अर्थ मानने पर 'गो पशु को वाँधना चाहिए' यह वाक्य ही अर्थ हो जायगा। द्रव्य पदार्थ मानने से विशिष्ट गो वाँधी जा सकती है। इसके अतिरिक्त कोई भी एक (उदाहरणार्थ देवदत्त) एक साथ अनेकाविकरणस्थ नही हो सकता। फिर, जाति एक होकर एक साथ अनेक स्थानो मे कैसे रह सकती है। उत्पत्ति और विनाश के प्रसग मे भी आकृति अर्थ उपयुक्त नही हो सकता। श्वा या गो के उत्पन्न और विनष्ट होने से सारी श्वान या गो-जाति को एक साथ उत्पन्न या नष्ट होते नही देखा जाता। एक जाति के अनेक व्यक्तियो मे वैरूप्य भी देखा जाता है। कोई वैल खण्ड होता है और कोई मुण्ड।[4] जाति किसी श्रेणी के सव द्रव्यो को मिलाकर एक होती है और उसका आश्रय उसका अभिव्यजक या प्रकाशक होता है। अर्थात्, सव आश्रयभूत व्यक्ति उसका प्रकाशन करते हैं। ऐसी स्थिति मे एक व्यक्ति के नष्ट होने पर उसका प्रकाशन वन्द हो जाना चाहिए और एक भी व्यक्ति के उत्पन्न होने पर उस जाति की उत्पत्ति मानी जानी चाहिए। गोत्व जाति के प्रकाशन के लिए अतीत, अनागत और वर्त्तमान के अनन्त गो व्यक्तियों का होना आवश्यक होगा। इस प्रकार, सारा ससार गो-व्यक्तियों से ही भर जायगा।

आचार्य वाजप्यायन जातिवादी थे। वे एक आकृति का अभिधान स्वाभाविक मानते थे। उनका कथन था कि गो कहने पर शुक्ल, नील, पीत आदि विशिष्ट रग की गाय मन मे नही आती। सव गो-समूह के विषय मे एक-सी वुद्धि वनती है। इसीलिए यदि किसी को किसी विशिष्ट स्थान और काल मे एक गाय दिखा दी जाय, तो वह अन्य देश, काल और वयोऽवस्था मे अन्य गो को देखकर उसे गो ही समझ लेता है। इसीलिए, जव कहा जाता है कि ब्राह्मण को नही मारना चाहिए या सुरा नही पीनी चाहिए, तो किसी भी ब्राह्मण का वध और किसी भी सुरा का पान निषिद्ध माना जाता है। यदि पदार्थ द्रव्य होता, तो एक ब्राह्मण को न मारकर और एक सुरा को न पीकर काम चलाया जा सकता था। शब्द से यदि व्यक्ति का वोध हुआ, तो जाति का वोध नही होगा और जव शब्द की शक्ति एक व्यक्ति का वोध कराकर क्षीण हो जायगी, अन्य व्यक्तियों का वोध उससे न हो सकेगा।[5]

---

१. आ० १ पृ० १७।

२. द्रव्याभिधानं व्याडिराचार्यो न्याय्यं मन्यते—द्रव्यमभिधीयते इति।—१-२-६४, वा० ४५, पृ० ५९०।

३. प्रत्यर्थं शब्दनिवेशादेतस्मात् कारणान्नेकेन शब्देनानेकस्यार्थस्याभिधानं प्राप्नोति—वही, वा० १, पृ० ५६५।

४. वही, वा० ४६ से ५०, पृ० ५९०-९१।

५. १-२-६४, वा० ३५ से ४०, पृ० ५८६ से ८८।

भाष्यकार ने दोनो पक्षो पर सविस्तर प्रकाश डाला है और दोनो का औचित्य स्वीकार किया है। उनके मत से पाणिनि भी दोनो पक्षो को स्वीकार करते थे।[1] पतजलि के मत से शब्द न केवल जाति और न केवल व्यक्ति का, अपितु जाति और व्यक्ति दोनो का निर्देशक है। उसमे कभी जाति और कभी व्यक्ति अर्थ का प्राधान्य रहता है। जब व्यक्ति अर्थप्रधान रहता है, तब जाति गौण हो जाती है और बहुवचनादि का प्रयोग सगत होता है। जब जाति प्रधान होती है और व्यक्ति अप्रधान, तब शब्द मे एकवचन का प्रयोग न्याय्य माना जाता है। इस प्रकार, 'सम्पन्नो यव' और 'सम्पन्नो यवा' दोनो प्रयोग साधु माने जाते है।[2]

जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्थावृत्ति, अन्वय-व्यतिरेक, सज्ञा और सज्ञी, गुणो का भेदकत्वाभेदकत्व, काल-विभाग, क्रिया, जाति, गुण, द्रव्य आदि के विषय मे विचार करते समय भी पतजलि ने अनेक मौलिक विचार प्रकट किये है। शब्दो के प्रयोग, वाक्य मे शब्दो का स्थान, सामर्थ्य, शब्दो के नियतविषयत्वादि के सम्बन्ध मे उनके द्वारा व्यक्त विचार किसी भी भाषा पर लागू होते है। उनके मत से लिंग का अनुशासन व्याकरण नही कर सकता। वह सर्वथा लोकाश्रित होता है।[3] यही बात शब्द-प्रयोग के विषय मे है। व्याकरण का काम व्यवस्था करना है।[4] वह सस्कार कर पदो को व्यवहार के योग्य बतला देता है। लोक एक पद का दूसरे पद के साथ यथेष्ट सम्बन्ध जोडकर प्रयोग करता है।[5] पद की शुद्धि से व्याकरण का सम्बन्ध है। प्रयोग लोक का अधिकार है। उदाहरणार्थ, प्लक्ष और न्यग्रोध को ले। अर्थ की दृष्टि से दोनो मे कोई अन्तर नही है। प्लक्ष न्यग्रोध है और न्यग्रोध प्लक्ष। फिर भी, लोक मे ये दोनो दो अलग वृक्षो के लिए व्यवहृत होते है। इससे सिद्ध होता है कि 'कारणाद् द्रव्ये शब्द-निवेश' की अपेक्षा 'दर्शन हेतु' का सिद्धान्त अधिक ठीक है। वास्तव मे, शब्द 'नियतविषय' होते हैं। उदाहरणार्थ, गाय और अश्व दोनो का रग लाल होने पर भी गाय को लोहित कहा जाता है और अश्व को शोण, समान रूप से काला रग होने पर भी गो कृष्ण और अश्व हेम कहलाता है। इसी प्रकार, तुल्य रूप से शुक्ल वर्ण होने पर भी गो श्वेत कही जाती है और अश्व कर्क।[6] यह भी देखा जाता है कि लोग सुविधा के लिए पूर्ण वाक्य के स्थान पर वाक्य के एकदेश और पूर्ण शब्द के स्थान पर शब्द के एक देश से ही काम चला लेते हैं। विवक्षा के अनुसार एक देश या सम्पूर्ण का प्रयोग होता है। विवक्षा दो प्रकार की होती है—प्रायोक्त्री और लौकिकी। प्रायोक्त्री विवक्षा वह है, जिसमे वक्ता मृदु, स्निग्ध और श्लक्ष्ण वाणी से स्वय मृदु, स्निग्ध और श्लक्ष्ण शब्दो द्वारा कोई बात कहे। लौकिकी विवक्षा प्राय सामान्य लोगो मे प्रचलित ढग को

---

१. आ० १ पृ० १३।

२. जातिशब्देन हि द्रव्यमप्यभिधीयते जातिरपि—तद्यदा द्रव्याभिधानं तदा बहुवचन भविष्यति यदा सामान्याभिधानं तदेकवचन भविष्यति।—१-२-५८, पृ० ५५९।

३. २-१-३६, पृ० २९३

४. शास्त्रेण नाम व्यवस्थाकारिणा भवितव्यम्।—३-१-९१, पृ० १६४।

५. संस्कृत्य संस्कृत्या पदान्युत्सृज्यन्ते तेषां यथेष्टमभिसम्बन्धो भवति।—१-१-१,पृ० ९८।

६. २-२-२९, वा० १० से १३, पृ० ३८४।

कहते हैं। लोक और प्राय समानार्थी समझने चाहिए।[1] जो भी वाक्य बोला जाय, वह स्वय मे पूर्ण होना चाहिए, क्योकि सापेक्ष वाक्य अर्थ-व्यक्ति मे असमर्थ होता है।[2]

पतजलि अपनी अद्वितीय प्रतिभा और विद्वत्ता के वल से शीघ्र ही आचार्य-परम्परा मे सर्वाधिक प्रमाण माने जाने लगे। व्याकरण-शास्त्र मे महाभाष्य का शब्द आप्त वन गया और न केवल महाभाष्य-विरोधी, अपितु महाभाष्यानुक्त तक अप्रामाण्य की कोटि मे गिना जाने लगा। इसीलिए, उन्होने 'इष्टमेवैतत्सगृहीत भवति' कहकर जिन पाणिनि-कात्यायनानुक्त वातो को ग्राह्य कह दिया, वे तो ग्राह्य हो गई[3], किन्तु जिन वातों को न कह सके और परवर्त्ती वैयाकरणो ने सगृहीत कर लिया, वे ग्राह्य न वन पाईं। उदाहरणार्थ, काशिकाकार ने वहुव्रीहि स्त्रीलिंग मे जो मृद्वगी, मृद्वगा, सुगात्री सुगात्रा, स्निग्धकण्ठी, स्निग्धकण्ठा ये दो-दो रूप माने थे, उन्हे भट्टोजिदीक्षित आदि ने 'भाष्यानुक्त' कहकर अस्वीकार कर दिया। इसी प्रकार, काशिकाकार ने मुनित्रय द्वारा अनुक्त, किन्तु काव्यो मे प्रयुक्त शव्दो के लिए जो नवीन वचन दिये, उन्हे[4] भी कैयटादि ने भाष्यानुक्त होने के कारण अप्रमाण ठहरा दिया।[5]

महाभाष्यकार पतंजलि

जीवन-चरित—महाभाष्यकार पतजलि के जीवन के विपय में प्रमाणित सामग्री उपलव्ध नही है। रामभद्र दीक्षित के 'पतजलि-चरित' के अनुसार वे शेष के अवतार थे। एक वार भगवान् विष्णु शिव के ताण्डव नृत्य को मनश्चक्षुओं से देखते देखते ध्यान-मग्न हो गये। उनके स्थिर भार से शेपनाग को अत्यन्त त्रास हुआ। ध्यान टूटने पर शेप ने विष्णु से उनके अपूर्व गुरुभार का कारण पूछा। विष्णु द्वारा मनोरम वर्णन सुनकर शेष के मन मे भी ताण्डव देखने की इच्छा जागरित हुई। शेष के प्रार्थना करने पर विष्णु ने आशीर्वाद दिया कि भगवान् नीलकण्ठ की कृपा से पाणिनि ने व्याकरण-शास्त्र तथा कात्यायन ने उस पर वार्त्तिको की रचना की है। वे वार्त्तिक अत्यन्त कठिन है। नीलकण्ठ भगवान् तुम्हें उन वार्त्तिकों का भाष्य करने की आज्ञा देंगे। तव तुम उनकी आज्ञा से भूतल पर अवतार लेकर चिदम्बर-क्षेत्र को जाओगे और वहाँ शिव-नृत्य का दर्शन करोगे।[6]

तदनुसार, पृथ्वीतल पर योग्य माता की चिन्ता मे घूमते हुए एक तपोवन मे शेप ने गोणिका नाम की मुनि-कन्या को देखा, जो पुत्र-प्राप्ति की कामना से अखण्ड तप मे सलग्न थी।

---

१. ५-१-१६, पृ० ३०६।

२. सापेक्षमसमर्थं भवति।—५-१-११९ पृ० ३५९।

३. २-४-७४, ४-१-७४, ४-१-८७ आदि।

४. यथा ईदूदेद्द्विवचनंप्रगृह्यम्, १-१-११ पर मणीवादीनां प्रतिषेधोवक्तव्यः।

५. भाष्यवार्त्तिकाराभ्यामपठितत्वादप्रमाणमेतत्।—कैयट।

६. भोगीन्द्र तेषां भुविवार्त्तिकानामशेषविद्वज्जनदुर्ग्रहाणाम्।—
भाष्यं महत् कुर्विति भक्तरक्षी नियोक्ष्यते त्वां किलनीलकण्ठः॥
तदा नियोगात्तत्तरुणेन्दुमौलेर्धरातलेत्वं विहितावतारः।
चिदम्बरक्षेत्रगतः पवित्रं नभोत्सवं द्रक्ष्यति नृत्तमैशम्॥—पत० चरित, १-६३, ६४।

उसे देखकर शेष ने मन मे उसे मातृरूप मे स्वीकार कर लिया। और, एक दिन जब वह भगवान् अशुमाली को अर्घ्य दे रही थी, वे तापस का रूप धारण कर उसकी अजलि से नीचे गिर पडे।[1] और फिर, ज्यो ही प्रणाम के लिए माता के चरणो पर झुके कि उसने उठाकर कहा—तुम मेरी अजलि से नीचे गिरे हो, अत. तुम्हारा नाम पतजलि होगा।[2] पतजलि बाल्यावस्था मे ही तप के लिए चल दिये और अपनी अखण्ड तपस्या से शिव को प्रसन्न कर उन्होने चिदम्बर-तीर्थ मे शिव-नृत्य देखा। यही शिव ने उन्हे पदशास्त्र वार्त्तिको का भाष्य करने का आदेश दिया। तदनुसार, पतजलि ने कात्यायन के वार्त्तिको का भाष्य किया। यह भाष्य इतना प्रसिद्ध हुआ कि सहस्रो की सख्या मे पण्डित लोग उनके पास अध्ययन के लिए आने लगे। पतजलि अपने और शिष्यों के बीच एक मोटा परदा डालकर अपने शरीर को गुप्त रखते हुए उन सबको एक साथ पढ़ाने लगे।[3] वे फणिपति रूप मे सहस्र मुखो से एक साथ पढाते थे। इसलिए, उन्होंने शिष्यो से कह दिया कि जो कोई इस परदे को उठाकर भीतर झाँकेगा वह मेरा अप्रसाद-भाजन होगा। वे वार्त्तिको मे कुछ को कम करते हुए, कुछ को यथावत् ग्रहण करते हुए और कुछ को व्याख्या द्वारा और समुज्ज्वल बनाते हुए पढाने लगे।[4] एक बार छात्रो से न रहा गया। वे इस बात का रहस्य जानने को आतुर हो उठे कि ये प्रत्येक छात्र को एक ही काल मे अलग-अलग कैसे पढाते है और उत्सुकतावश उन्होने परदा उठा दिया। परदा उठाते ही वे शेष रूप के तेज से दग्ध होकर कामदेव-जैसी दशा को प्राप्त हुए। केवल एक विद्यार्थी जो बाहर जल लेने गया था, बच रहा। उसे भी बिना आज्ञा बाहर जाने के कारण ऋषि ने राक्षस-शरीर पाने का शाप दिया, किन्तु पश्चात् अनुनय से प्रसन्न होकर कहा कि तुम्हे जो विद्वान् मिले, उनसे पच् धातु का निष्ठा-प्रत्यय मे रूप पूछना और जो विद्वान् शुद्ध उत्तर दे, उसे मेरा महाभाष्य पढाना। तब तुम शाप से मुक्त हो जाओगे। इसके बाद पतजलि वहाँ से तिरोहित हो गये और फिर उन्होने योगसूत्र एव वैद्यक-शास्त्र पर वार्त्तिको की रचना की। पश्चात् उन्होंने गोनर्द देश मे जाकर जननी (गोणिका) को प्रणाम किया और उसके स्वर्गस्थ हो जाने पर वे शेष रूप को प्राप्त हो गये।[5]

---

१. तत्र काऽपि ददृशे मुनिकन्या गोणिकेति गुणसिन्धुरनेन। या हि यापयति पुत्रनिमित्तं दारुणेन तपसा दिवसानि। सम्भृतार्घ्यं जलमञ्जलिमुच्चै. सा सहस्रकिरण प्रति देवम्। याव-दुत्क्षिपति तावदमुष्मत्तापसाकृतिरहिः संपपात।—वही, २-७-११।

२. त तदाभिवदितुं प्रणतं प्राङ् नापतस्य जननी वितताम। यत्पतन्नभवदञ्जलितोऽसौ तत्पतञ्जलिरिति प्रथिमानम्।—वही, २-१९।

३. तदनु यवनिकां वितत्य गूढं वपुरनया च पतञ्जलिर्निधाय उपविशत बहिस्तिरस्क-रिण्या. पठत कृति च ममेति तानुवाच।—वही, ५-५।

४. किमपि विघटयन् किमप्यनुज्ज्झन् किमपि समुज्ज्वलयंश्च वार्त्तिकेषु—वही, ५-१२।

५. सूत्राणि योगशास्त्रे वैद्यकशास्त्रे च वार्त्तिकानि ततः कृत्वा पञ्जलिमुनिः। प्रचारयामास जगदिदं त्रातुम्। गोनर्दाख्यं देशं प्राप्य नमस्कृत्य गोणिकां जननीम् तस्यां त्रिदिवगतायां तस्थौ शेषः स्वयं स मुनिः।—वही, ५-२५, २६।

पतजलि-चरित काव्य है। अत, स्वाभाविक है कि उसका कथानक कल्पनाओं पर आश्रित हो, फिर भी इससे इतना स्पष्ट होता है कि पतजलि की माता का नाम गोणिका था और वे गोनर्द के निवासी थे। वे चिदम्बरम् मे भी रहे और वही उन्होने महाभाष्य की रचना की। भर्तृहरि का यह कथन कि महाभाष्य की प्रति केवल दाक्षिणात्य प्रदेश मे ही शेष रह गई थी, भाष्य का दक्षिण भारत से घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य सूचित करता है, यद्यपि इसमे यह भी सकेत निहित है कि भाष्यकार दक्षिण के नही थे।[1] सभव है, इस सुदूर प्रदेश मे वे गोनर्दीय नाम से भी प्रख्यात रहे हो।

लघुभाष्य-विषयक किंवदन्ती—कुछ विद्वान् महाभाष्य को गोनर्दीय-विरचित लघुभाष्य का विस्तृत रूप मानते है। महाभाष्य का महान् शब्द सापेक्षिक है। इस मत के अनुसार गोनर्द देश मे एक ऋषि ने शिष्यो को व्याकरण पढ़ाते हुए अष्टाध्यायी भाष्य की रचना की। वह लघु भाष्य था। इससे ऋषि के मन को समाधान नही हुआ। एक दिन सन्ध्या करते हुए उन ऋषि की अजलि से एक वाल ऋषि गिरा, जिसका अन्वर्थ नाम पतजलि पड़ गया।[2] पतजलि ने मूल भाष्य मे शास्त्रीय विवेचन अधिक जोडकर उसे महाभाष्य नाम दे दिया। लघुभाष्य और महाभाष्य में मतभेद कही नही है। उसमे लघुभाष्य को पूर्णत आत्मसात् कर लिया गया है। इसी कारण, कालान्तर मे लघुभाष्य निष्प्रयोजन होकर नष्ट हो गया। महाभाष्य मे गोनर्दीय नाम से सर्वत्र लघुभाष्य के कर्त्ता का ही मत उद्धृत है। इस मत की पुष्टि मे अन्य प्रमाण भी दिये जा सकते है। महाभाष्य का 'उक्तो भावभेदो भाष्ये' कथन किसी अन्य भाष्य की ओर सकेत करता है; क्योकि कोई भी ग्रन्थकार पीछे कही हुई या आगे कही जानेवाली वात के लिए 'उक्त पूर्वम्' या 'वक्ष्यते' निर्देश करता है।[3] प्रस्तुत ग्रन्थ के नाम का उल्लेख कोई नही करता। इसी प्रकार, महाभाष्य मे 'तस्यानुदात्तेत्' (६-१-१८६) सूत्र के प्रसग मे 'वक्ष्यत्यस्य परिहारम्' कहा है और उसका परिहार 'आनेमुक्' (७-२-८२) सूत्र के भाष्य मे दिया भी है। यहाँ भी वक्ष्यति क्रिया का कर्त्ता लघुभाष्यकार ही है, अन्यथा 'वक्ष्यति' के स्थान पर 'वक्ष्यामि' प्रयोग किया जाता। लघुभाष्य का प्राप्त न होना उसके अनस्तित्व का प्रमाण नही माना जा सकता था, क्योकि अधिक उपयोगी ग्रन्थ की रचना के वाद पूर्व ग्रन्थ का प्रचार प्राय वन्द हो जाता है। यह वात अन्य अनेक ग्रन्थो के वारे मे पीछे कही जा चुकी है। महाभाष्य के प्रारम्भ मे ही व्याकरणाध्ययन के लाभ वतलाते हुए कहा गया है कि 'तेभ्य एव विप्रतिपन्नबुद्धिभ्योऽध्येतृभ्य. सुहृद्भूत्वाऽऽचार्य इद शास्त्रमन्वाचष्टे। इमानि प्रयोजनानि, अध्येय व्याकरणमिति।' इस वाक्य मे आचार्य-पद लघु भाष्यकार गोनर्दीय के लिए प्रयुक्त हुआ है। पाणिनि के लिए यह विशेषण नही हो सकता क्योकि अष्टाध्यायी मे कही भी व्याकरणाध्यापन के प्रयोजनों का उल्लेख नहीं है और पतजलि

---

१. यः पतञ्जलिशिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकरणागमः।
काले स दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थितः॥—वाक्यपदीय, २-८-८८।

२. गोनर्ददेशे कस्यचिद् ऋषेरञ्जलेः सन्ध्याकरणसमये पतित इत्यैतिह्यात्।—नागोजिभट्टः लघुशब्देन्दुशेखर।

३. भाष्य, ३-३-१९ तथा ३-४-६७।

स्वय अपने लिए आचार्य विशेषण का प्रयोग करते कैसे ? इससे स्पष्ट है कि महाभाष्य के पूर्व एक लघुभाष्य ग्रन्थ अवश्य विद्यमान था और उसका कर्त्ता गोनर्दीय था।[१]

क्या गोनर्दीय और गोणिका-पुत्र पतजलि है—महाभाष्य मे चार बार गोनर्दीय मत उद्धृत मिलता है। १-१-२१ सूत्र की व्याख्या मे आदि और अन्त की 'अपूर्वलक्षण आदि-रनुत्तरलक्षणोऽन्त' इस परिभाषा मे 'सति त्वन्यस्मिन्' यह जोडने का परामर्श देते है। १-१-२९ सूत्र के अन्तर्गत वे 'अकच्स्वरौ तु कर्त्तव्यौ प्रत्यङ्ग मुक्तसशयौ' कहकर त्वकत्पितृक , मकत्पितृक प्रयोगो का समर्थन करते है। ३-१-९२ सूत्र मे भाष्यकार ने 'काशकटीकारम्' प्रयोग का समर्थन करते हुए 'इष्टमेवेतद्गोनर्दीयस्य' कहा है और ७-२-१०२ सूत्र के भाष्य मे 'अतिजराम्, अतिजरै' रूपो के समर्थन मे गोनर्दीय 'इष्टमेवैतत् सगृहीत भवति' कहते है। उपर्युक्त चार स्थानो मे से तृतीय मे पतजलि की ओर हल्का-सा सकेत भले कहा जा सके, अन्यत्र कही गोनर्दीय से भाष्यकार की ओर सकेत नही है। तृतीय सूत्र मे भी पतजलि की अपेक्षा 'लघुभाष्य' का अस्तित्व अधिक ध्वनित होता है। १-४-५२ के भाष्य मे गोणिका-पुत्र का उल्लेख है, जहा वे 'नेताश्वस्य सुघ्नम्' और 'नेताश्वस्य सुघ्नस्य' इन दोनो प्रयोगो का समर्थन करते है। कैयट ने १-२-२९ सूत्र की टीका मे गोनर्दीय को भाष्यकार माना है और नागोजिभट्ट ने १-४-५२ की टीका मे गोणिका-पुत्र को भाष्यकार कहा है। वात्स्यायन के कामसूत्र मे पाँच वार गोनर्दीय और आठ बार गोणिका-पुत्र का मत उद्धृत किया है, जिनमे १-५-५ सूत्र पर 'अन्य कारणवशात् परपरिगृहीतापि पाक्षिकी चतुर्थीति गोणिकापुत्र' और १-४-५५ सूत्र पर 'उत्क्रान्तबालभावाकुलयुवतिरूप-चारान्र्यत्वाद् अष्टमी गोनर्दीय' कहा गया है। इससे प्रथम के मत से चार और द्वितीय के मत से आठ नायिकाएँ सिद्ध होती है। यादव प्रकाश आदि कोशकारो ने गोनर्दीय को पतजलि स्वीकार किया है किन्तु महाभाष्य मे गोनर्दीय या गोणिका-पुत्र से उनके पतजलि होने की ध्वनि कही नही निकलती। गोनर्दीय को मूल भाष्यकार मान लेने से अनेक शकाओ का समाधान अवश्य हो जाता है, फिर भी गोनर्दीय और गोणिका-पुत्र एक ही नही जान पडते। सम्भव है, गोणिकापुत्र पतजलि हो। तब भी यह शका शेष ही रह जाती है कि क्या वैदिक विद्वान् और वैयाकरण गोनर्दीय और पतजलि कामशास्त्र के भी अधिकारी ज्ञाता थे। श्रीराजेद्रलाल मित्र और डॉ० कीलहॉर्न ने युक्तिपूर्वक गोनर्दीय और गोणिका-पुत्र को पतजलि से भिन्न सिद्ध किया है।[२] अन्य किसी ग्रन्थ मे तो इनके कामशास्त्रज्ञ होने का उल्लेख नही मिलता। पतजलि को ४-२-९३ की टीका मे कैयट ने नागनाथ अवश्य कहा है। चक्रपाणि ने चरक की टीका के प्रारम्भ मे उन्हें अहिपति के साथ मनोवाक्काय दोषो का हन्ता और चरक का प्रतिसस्कर्त्ता कहा है।[३] भोजराज ने योगसूत्र-वृत्ति के प्रारम्भ मे इन्हे 'फणिभृत्' विशेषण से भूषित किया है। भर्तृहरि की महा-

---

१. जर्नल ऑफ दि एशि० सोसा० ऑफ बंगाल, जिल्द ५२, पृ० २४१ तथा इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जिल्द १४, पृ० ४०।

२. पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः।—
मनोवाक्कायदोषाणां हन्त्रेऽहिपतये नमः॥

३. वाक्चेतो वपुषां मलः फणिभृतां भर्त्रेव येनोद्धृतः।

भाष्य-दीपिका मे वे तीन वार चूर्णिकार कहे गये है। स्कन्दस्वामी ने निरुक्त ३-१४ की व्याख्या मे भाष्यकार को चूर्णिकार के नाम से उद्धृत किया है। इत्सिग मे इन्हे चूर्णिकार सज्ञा से सम्बोधित किया है। स्कन्दस्वामी ने निरुक्तभाष्य (१-३२) मे एव उव्वट ने ऋक्प्रातिशाख्य (१३-१९) की टीका में इन्हे पदकार वतलाया है। प्रसिद्ध श्लोक 'अनुसूत्रपदन्यासा' की टीका मे 'पद शेषा हि विरचित भाष्यम्' से मल्लिनाथ ने इन्हे शेष का अवतार माना है।

योगसूत्र और चरक-संहिता के कर्त्ता पतंजलि—महाभाष्यकार-विषयक ये सब उद्धरण उनके विषय मे किसी विशेष निष्कर्ष पर पहुंचने मे सहायता नही प्रदान करते। इनसे केवल इतना ही पता चलता है, समस्त विद्वत्समाज मे पतजलि की शेषावतार के रूप मे प्रतिष्ठा थी और वे योगसूत्र, व्याकरण-महाभाष्य एव चरक-वार्त्तिकों के प्रणेता माने जाते रहे है। यहाँ तक कि भर्त्तृहरि जैसा अधिकारी विद्वान् भी उन्हे तीनों ग्रन्थो का कर्त्ता मानता था।[1] वैयाकरण-परम्परा मे व्याकरणाध्यापन से पूर्व 'योगेन चित्तस्य पदेन वाचा मल शरीरस्य च वैद्यकेन। योऽपाकिरत्त प्रवर मुनीना पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि' श्लोक द्वारा मगलाचरण करने की परम्परा वहुत प्राचीन है। सम्भवत, पतजलि नामक व्यक्ति एकाधिक हुए हैं। कनिष्क की कन्या को रोगमुक्त करनेवाले चरक के प्रतिसस्कर्त्ता एक पतजलि ईसा की दूसरी शती मे और योगसूत्र-कर्त्ता पतजलि ईसवी तीसरी या चौथी शती मे उत्पन्न हुए थे। वाद मे इतिहास की अनभिज्ञता ने तीनो को मिलाकर एक कर दिया। फिर भी, मीमासा और वेदान्त-दर्शन के 'अथातो धर्मजिज्ञासा, और 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' से भिन्न शैली पर 'अथ शब्दानुशासनम्' और 'अथ योगानुशासनम्' जैसे सदृश वाक्यों, भाष्य मे 'युज्यते योग ब्रह्मचारी' उल्लेख तथा योग मे स्फोट के खण्डन के अभाव आदि कारणों से लीविख और चक्रवर्ती योगसूत्रकार तथा महाभाष्यकार को एक मानते हैं।[2] प्रो० रेनो (Renou) के मत से योग मे प्रत्याहार, उपसर्ग, प्रत्यय और विकिरण का अर्थ व्याकरण से भिन्न है तथा उसमे च, वा आदि का भी प्रयोग नही है। भाष्य की भाषा भी विश्लेपणात्मक अधिक है। दोनों मे द्रव्य, गुण आदि का भी तात्पर्य भिन्न है। योगसूत्रव्याकरण के नियम और महाभाष्य योग के नियम नही मानता। अत, दोनों को दो भिन्न व्यक्तियो की कृति मानना चाहिए।

चरक-सहिता का मूल नाम आत्रेय-सहिता है। आत्रेय पुनर्वसु उसके कर्त्ता हैं। सहिता मे ही इस वात का उल्लेख है कि आत्रेय ने अग्निवेश को आयुर्वेद-सहिता का उपदेश किया था। अग्निवेश और आत्रेय दोनो समकालीन थे और तक्षशिला मे रहते थे। सहिता के ही अनुसार इसका प्रथम सस्करण चरक ने और दूसरा दृढवल ने किया। चरक इधर-उधर घूमनेवाले आयुर्वेदज्ञ वैद्य थे। चरकनाम्नी वेद-शाखा का उल्लेख पाणिनि तथा काशिकाकार ने किया है। काशिकाकार वैशम्पायन का दूसरा नाम चरक वतलाते हैं।[3] कृष्ण यजुर्वेद की चरक नाम की शाखा थी।

---

१. कायवाग्बुद्धिविषया ये मला हि समवस्थिताः।
चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः ॥—वाक्यपदीय, १-१४८।

२. इण्डि० हिस्टा० क्वा०, भाग २, पृ० २६५।

३. ४-३-१०७, ५-१-११ तथा काशि० ४-३-१०४।

उसके अनुयायी भी चरक कहलाते थे। आत्रेय-सहिता के प्रतिसस्करण करनेवाले चरक शेष के अवतार माने जाते थे। पतजलि का उल्लेख चरक-सहिता मे कही नही है। उपर्युक्त सूचनाओ से अनुमान होता है कि चरक शाखा के किसी आयुर्वेदज्ञ यायावर विद्वान् ने अग्निवेश-सहिता का प्रतिसस्कार किया और उसके वाद अग्निवेश नाम गौण पडकर चरक के नाम से यह सहिता प्रसिद्ध हो गई। चरक शाखा के लोग सामान्यतया आयुर्वेदज्ञ, मान्त्रिक और नागोपासक थे। धीरे-धीरे महत्ता स्थापित करने के लिए इन लोगो ने अपने सहिताकार पूर्वपुरुष को शेषावतार प्रसिद्ध कर दिया। कुछ विद्वानो का मत है कि महाभाष्य के प्रारम्भ मे दिये गये 'शन्नोदेवीरभीष्टये' आदि चार मन्त्रो मे कृष्णयजुर्वेद के 'शन्नोदेवी' वाक्य के प्रथम आने से भाष्यकार कृष्ण-यजुर्वेद की चरक शाखा के अनुयायी मालूम होते हैं। उन्होने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण भी किया था। यह वात भी महाभाष्य से स्पष्ट है। वे आयुर्वेद की अच्छी जानकारी रखते थे, यह भी इस निवन्ध के 'स्वास्थ्य और शरीर विज्ञान' प्रकरण से स्पष्ट होगी। हो सकता है, उन्होंने ही सर्वप्रथम आत्रेय-सहिता का सस्करण किया हो और बाद मे महाभाष्य की रचना की हो। यही बात योग-सूत्र के विषय मे कही जा सकती है। उसमे भी आर्ष प्रयोग नही है। सूत्रो के अर्थ मे अध्याहार की आवश्यकता नही पडती। शैली महाभाष्य जैसी स्पष्ट और प्रासादिक है। अन्य दर्शनो की तुलना मे योगसूत्रकार श्रेष्ठ वैयाकरण प्रतीत होते है। प्रथम सूत्र तथा 'प्रत्ययानुपश्य' (योग-सू० २-२०) इस व्याकरणसिद्ध अप्रचलित प्रयोग से अनुमान होता है कि महाभाष्यकर्त्ता पतजलि ही योगसूत्रकार थे। इस दृष्टि से लघुशब्देन्दुशेखर के प्रारम्भिक श्लोक की भैरवमिश्र की टीका का यह कथन कि महाभाष्य कर्त्ता ही चरक-सहिता और योग-सूत्र के प्रणेता थे, ठीक हो सकता है और पुरातन परम्परा भी निर्मूल नही प्रतीत होती।[1] लैसेन और गार्वे भाष्यकार और योगसूत्रकार को एक मानते भी हैं। परस्पर असम्वद्ध विषयो पर एक ही विद्वान् का इतने प्रामाणिक ग्रन्थ लिखना अशक्य है, इस तर्क के आधार पर मैक्समूलर का दोनो को भिन्न मानना तर्कयुक्त नही कहा जा सकता।[2] वैयाकरण गोनर्दीय और गोणिका-पुत्र का कामशास्त्र का अधिकारी विद्वान् होना ही इस कथन की विसगति स्पष्ट करता है।

पतजलि का निवास-स्थान—पतजलि ने कात्यायन को दाक्षिणात्य कहा है और अन्यत्र भी दक्षिणापथ की इस प्रकार चर्चा की है, जिससे इतना स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे उत्तर भारत के निवासी थे। यदि लघुशब्देन्दुशेखर के तथाकथित ऐतिह्य पर विश्वास कर लिया जाय, अथवा लघुभाष्य और पतजलि-चरित की वात प्रमाणित स्वीकार कर ली जाय, तो उनका गोनर्द-निवासी होना निश्चित-सा हो जाता है। अन्य पुष्ट प्रमाण के अभाव मे इसे स्वीकार करने मे विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए। डॉ० भण्डारकर वर्त्तमान अवध के गोंडा को गोनर्द का स्वाभाविक

---

१. प्रथमं पातञ्जलशब्दोपादानं वलवत्तरमङ्गलाय। महाभाष्यमात्रोक्तौ शारीरक-सूत्रभाष्यस्यापि वोध. स्यादतः पातञ्जलपदम्। तावन्मात्रोक्तौ चरकेऽतिव्याप्तिरतो महापदम्।

२. वोथ लैसेन एण्ड गार्वे सोम इन्क्लाइण्ड टु एक्सेप्ट दि आइडिण्टिटी ऑफ टु पतजलि वट दिस वुड फोर्स अस टु एस्काइव दि मोस्ट हैट्रोजोनियस वर्क्स टु वन एण्ड दि सेम ऑयर—मैक्समूलर।

अपभ्रश मानते हैं। यह स्थान अवध के पश्चिमोत्तर मे है। ३-३-१३६ सूत्र के भाष्य मे 'योऽय-मध्वागत आपाटलिपुत्रात्तस्य यत्परं साकेतात्' वाक्य मे प्रयुक्त 'योऽयम्' शब्द इस वात को व्यजित करता है कि भाष्यकार साकेत और पाटलिपुत्र के मार्ग के पास-पडोस अवश्य रहे थे। वेवर गोनर्द प्रदेश को पाटलिपुत्र के पूर्व मे मानते है और कनिघम इसकी व्युत्पत्ति गौड से वतलाते है।[1] वैयाकरणों की दृष्टि मे गोनर्द प्राच्यदेश था। वेबर और गोल्डस्टुकर तो कात्यायन तक को प्राच्य मानते है। पतजलि के विषय मे वेवर का मत महाभाष्य के 'मथुरायाः पाटलिपुत्र पूर्वम्' वाक्य मे पूर्व के अर्थ की भ्रान्ति पर निर्भर है।[2] पतजलि के निवास के सवध मे विचार करते समय हमारा ध्यान दो वातो की ओर विशेष जाता है। एक तो वे आर्यावर्त्त के वड़े अभिमानी थे और हिमवन्त, कालक, पारिपात्र और आदर्श के मध्यवर्त्ती प्रदेश को ही आर्यावर्त्त मानते थे। अत, उनका स्थान इसी क्षेत्र मे होना चाहिए। दूसरे यो तो उन्होने पूर्व मे पाटलिपुत्र तक, दक्षिण मे अवन्ती और माहिष्मती तक, पश्चिम मे कच्छ तक और उत्तर मे कश्मीर तक यात्रा की थी, किन्तु वे वाहीक, कुरु और साकेत के समीपवर्त्ती प्रदेशों से अधिक निकटता से परिचित थे। वाहीक के छोटे-से-छोटे गाँवो तक का नाम उन्होने लिया है। मथुरा और सुघ्न मे वे अवश्य रहे थे। इससे विशेष सम्भावना इस वात की है कि वे वाहीक (पूर्व पजाव) के निवासी थे। सम्भव है, इस प्रदेश का ही अन्वर्थ नाम गोनर्द रहा हो। अद्यावधि यहाँ के गो भारत मे सर्वोत्कृष्ट माने जाते हैं। जो भी हो, इतना स्पष्ट है, वे काश्मीर, मथुरा, सुघ्न, साकेत, वाराणसी, पाटलिपुत्र और सम्भवत उज्जयिनी अवश्य गये थे। उनका अधिक समय ग्रामो मे वीता था। महाभाष्य मे ग्रामीण सस्कृति के ही चित्रो की प्रचुरता है।

गोनर्द को गोडा मानने मे कुछ विद्वानों को इस कारण भी आपत्ति है कि पतजलि अवध के समीप के निवासी होते, तो रामायण के पात्रों का उल्लेख अवश्य करते। महाभारत के उद्धरणों तथा उसके पात्रों के नामों एव उससे सम्बद्ध वशो की वार-वार सविस्तर चर्चा भाष्य मे है जव कि रामायण का एकाध ही उद्धरण भाष्य मे आया है। उसके कर्त्ता तथा पात्रों का कही उल्लेख नही है। अत., अवध की अपेक्षा उनका कुरु-वाहीक से अधिक सम्बद्ध होना स्पष्ट है। डॉ० मोतीचन्द्र ने प्राचीन भारत की पथ-पद्धति का व्याख्यान करते हुए 'डिक्शनरी ऑफ् पालि प्रापर नेम्स' के प्रमाण से यह वताया है कि वौद्ध साहित्य मे यह कथा आई है कि वावरी नाम के आचार्य ने एक ब्राह्मण के शाप का अर्थ समझने के लिए अपने शिष्यो को बुद्ध के पास भेजा था। उसके शिष्यो ने आत्मक से अपनी यात्रा प्रारम्भ की। वहाँ से वे पतिट्ठान (प्रतिष्ठान), महि-स्सति (माहिष्मती), उज्जैनी (उज्जयिनी), गोनद्द (गोनर्द), वेदसा (विदिशा) और वनसह्वय होते हुए कौशाम्बी पहुँचे। इसके अनुसार गोनर्द विदिशा और उज्जैन के बीच मे होना चाहिए। यदि यह मान लिया जाय, तो विदिशा के उत्खनन मे प्राप्त मुद्राओ और यज्ञशाला के अवशेषों से 'पुष्यमित्र याजयाम' की भी सगति बैठ जाती है। जो भी हो, जवतक इस विषय मे कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध न होगा, पतजलि का निवास-स्थान कल्पना का ही विषय वना रहेगा।

---

१. एन० ज्याग्रा०, पृ० ४०८ तथा आर्कि० सर्वे, जिल्द १, पृ० ३२७।

२. इण्डि० एण्टिक्वेरी, जिल्द २, पृ० ६१।

पतजलि का काल

साहित्यिक अन्तःसाक्ष्य—पतजलि के काल मे अब विशेष विवाद नही रह गया है। वस्तुत, महान् प्राचीन साहित्यकारो मे एक पतजलि का ही समय असन्दिग्ध है। महाभाष्य मे रामायण के अतिरिक्त महाभारत के उद्धरणो, उसके पात्रो और घटनाओ की पौन पुनिक चर्चा है। पतजलि के समय मे कसवध और वलिवन्ध की कहानियाँ प्रसिद्ध और प्रचलित थी। वे नाटको का विषय वन चुकी थी तथा अति प्राचीन भी मानी जाने लगी थी। 'कस घातयति, वलि वन्धयति, जघान कस किल वासुदेव, असाधुर्मातुले कृष्ण, सकर्षणद्वितीयस्य वल कृष्णस्य वर्धताम्, अक्रूरवर्ग्य, अक्रूरवर्गीण, वासुदेववर्ग्य वासुदेववर्गीण, जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एव'[1] आदि उक्तियाँ इसके प्रमाण है। पतजलि-काल मे वासुदेव की पूजा का प्रचलन हो चुका था और कृष्ण भगवान् माने जाने लगे थे।[2] भाष्यकार ने प्रजापति और सर्प देवता के समान ही वासुदेव के लिए 'तत्रभवान्' पद का प्रयोग किया है। जातको की रचना भी हो चुकी थी। १-३-२५ सूत्र के भाष्य मे पतजलि ने जो 'वहूनामप्यचित्तानाम् कापेयमनुतिष्ठति' ये दो श्लोक उद्धृत किये है, वे आदिक्कुपत्थान जातक के पालि श्लोको से मिलते-जुलते है।[3] जातक का द्वितीय श्लोक वोधिसत्त्व के प्रवोधन के रूप मे वानर द्वारा छले गये मनुष्यो के लिए है। महाभाष्य और जातक दोनो के श्लोको मे दो वक्ता हैं। भाष्य मे वानर की वुद्धि और जातक मे पवित्रता का खण्डन है। दोनो मे उप-स्था+धातु का प्रयोग है। अन्तर केवल इतना है कि भाष्य मे वानर वहुत है और जातक मे एक। इससे इतना स्पष्ट है कि रामायण और महाभारत के सस्करणो एव जातक-कथाओ के प्रचलन के अनन्तर ही महाभाष्य की रचना हुई होगी। महाभाष्य मे वौधायन, वासिष्ठ धर्मशास्त्र, आपस्तम्व आदि धर्मसूत्रग्रन्थो के उद्धरणो से यह भी स्पष्ट है कि इसके पूर्व धर्मसूत्रो की भी रचना हो चुकी थी। सामान्य अलकृत शैली के विविध छन्दोमय काव्य भी इस समय तक लिखे जा चुके थे।

धार्मिक अन्तःसाक्ष्य—धार्मिक दृष्टि से श्रमणो और ब्राह्मणो का विरोध शाश्वतिक-सा वन चुका था। मूर्त्ति-पूजा प्रचलित हो चुकी थी। मन्दिर वनाने की प्रथा का प्रारम्भ हो चुका था। ग्रन्थिक और अन्य प्रवचनकार सार्वजनिक सभागृहो मे धर्मोपदेश करते थे। कृष्ण के साथ वलराम, कुवेर, स्कन्द, विशाख और शिव की पूजा प्रचलित थी। यज्ञो का पुनरुत्थान हो रहा था। आर्त्विजीन होना ब्राह्मण के लिए प्रतिष्ठा का द्योतक था। ब्राह्मणो का उत्कर्ष और वृषलो का

---

१. ३-१-२६, ३-२-१११, २-३-३६, २-२-२३, ४-२-१०४, ६-३-६ भाष्य।

२. ४-३-९९ भाष्य 'अथवा नैषा क्षत्रियाख्या। संज्ञैषा तत्र भवतः' तथा इसपर कैयट 'नित्य. परमात्मदेवताविशेष इह गृह्यते।'

३. सब्बेसु किर भूतेसु सन्ति सीलसमाहिता।
पस्स साखाभिग जम्मं आदिच्च मुपतिट्ठति॥
मास्से सीलं विजान्यथ अतंजाय पसंमय।
अग्गिद्दतंच ऊहंति तेन भिन्ना कमण्डलू॥—जातक-सं० १७५।

पराभव चरम सीमा पर था।[1] भाष्य मे वृषल कुल को सिकुड़कर संगठित हुआ, किन्तु जेय बतलाया है।[2] यह सकेत मौर्यो की ओर है।

इनके अतिरिक्त महाभाष्य मे कुछ ऐसे स्पष्ट सकेत है, जिनके आधार पर उनका काल-निर्धारण ठीक-ठीक किया जाना सम्भव है। पतजलि ने मौर्यो की दारिद्र्य-पूर्ण स्थिति की, जिसमें वे मूर्त्तियाँ ढलवाकर उनकी बिक्री से राज्यकोष की पूर्त्ति करते थे, चर्चा की है।[3] कैयट, नागोजि-भट्ट आदि टीकाकारों ने इस बात को और स्पष्ट किया है, जिससे पता चलता है कि मौर्यो ने प्रतिमा-निर्माण-शिल्प को व्यवसाय बना लिया था और वे शिवस्कन्द और विशाख आदि की मूर्त्तिया ढलवा-कर द्रव्यार्जन करते थे।[4] पतजलि ने एतदर्थ उनके लिए 'हिरण्यार्थी' इस निन्दासूचक विशेपण का प्रयोग किया है। आस्तिक-वर्ग ने इन मूर्त्तियो की पूजार्थ निर्मित मूर्त्तियों से भिन्नता व्यक्त करने के लिए उनके आगे 'क' लगाना प्रारम्भ कर दिया था। अत., ये मूर्त्तिया शिव, स्कन्द आदि न कहलाकर शिवक, स्कन्दक आदि कहलाती थी।

राजनीतिक अन्त साक्ष्य—पतजलि ने पुष्यमित्र-सभा और चन्द्रगुप्त-सभा का उल्लेख किया है और पुष्यमित्र तथा चन्द्रगुप्त को राजा बतलाया है।[5] स्पष्ट ही यह चन्द्रगुप्त मौर्य है। पाटलिपुत्र से उनका घनिष्ठ परिचय था। छह सूत्रों के भाष्य मे उन्होने पाटलिपुत्र की चर्चा की है।[6] उनके समय मे पाटलिपुत्र शोण के किनारे बसा हुआ था. किन्तु आज गगा के किनारे बसा है। विशाखदत्त के मुद्राराक्षस मे भी चन्द्रगुप्त की राजधानी पाटलिपुत्र 'अनुगग' ही बतलाई गई है। इस समय यह नगर इतना समृद्ध और विशाल था कि इसके प्रासादों, प्राकारो तथा विपणियो आदि की जानकारी देने के लिए व्याख्यानी (डायरेक्टरी) विद्यमान थी।

ऐतिहासिक अन्त.साक्ष्य—पतजलि ने पुष्यमित्र द्वारा किसी ऐसे विशाल यज्ञ के किये जाने का उल्लेख किया है, जिसमे अनेक पुरोहित एक साथ भाग ले रहे थे। पतजलि भी इस यज्ञ मे आचार्य थे। इस प्रकार वे स्वय ब्राह्मण याजक थे। सम्भवत., इसी कारण उन्होंने क्षत्रिय याजक पर कटाक्ष किया है।[7] इस याजक-स्थिति मे वे दीर्घ अवधि तक एक स्थान पर ठहरे थे

---

१. देखिए धर्म, दर्शन और मूर्त्तिपूजा एवं वर्णप्रकरण।

२. काण्डीभूतं वृषलकुलम्, कुण्ड्यीभूतं वृषलकुलम्; ६-३-६१ तथा ज्ञेयो वृषलः। —१-१-५०॥

३. मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः। भवेत्तासु न स्यात्। यास्त्वेताः सम्प्रति पूजार्थास्तासु भविष्यति।—५-३-९९. पृ० ४७९।

४. कैयटः यास्त्वेतां इति याः परिगृह्य गृहाद् गृहमटन्ति तास्वित्यर्थः। यास्तु विक्रीयन्ते तासु भवति शिवकान् विक्रीणीते इति। नागोजिभट्टः मौर्यः विक्रेतुं प्रतिमाशिल्पवन्तः। तैरर्चाः प्रकल्पिता विक्रेतुमिति शेषः। अतस्तासां पण्यत्वात् तत्र प्रत्ययश्रवणं प्रसङ्ग इति भावः।—५-३-९९।

५. १-१-६८, पृ० ४३५।

६. १-३-२, पृ० १८; अनुशोणं पाटलिपुत्रम् २-१-१६, पृ० २७३, २, ३, २८ पृ० ४२६, ३-३-१३६, १३३ पृ० ४२६, २८: ५-३-५७; पाटलिपुत्रस्य व्याख्यानी सुकोसलेति। पाटलिपुत्रं-चाप्यवयवश आचष्टे ईदृशा अस्य प्राकारा इति।—४-३-६६, पृ० २३९।

७. यदि भवद्विधः क्षत्रियं याजयेत्।—३-३-१४७, पृ० ३३२।

और वहाँ छात्रों को व्याकरण पढ़ाते थे। यह बात भाष्य में दिये हुए उदाहरणों से स्पष्ट है।[1] यज्ञ के प्रसंग में उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि यज् धातु का प्रयोग केवल यज्ञकुण्ड में आहुति डालना ही नहीं है। त्याग करना भी उसका अर्थ है। पुष्यमित्र के यज्ञ में द्रव्य का त्याग पुष्यमित्र करता है। याजक लोग केवल उसके प्रेरक हैं। इसीलिए 'पुष्यमित्रो यजते, याजकाः याजयन्ति' यह कथन सफल होता है 'पुष्यमित्रो याजयते, याजकाः यजन्ति' का प्रयोग नहीं होता।[2] ये दोनों उल्लेख पुष्यमित्र द्वारा किये गये अश्वमेध यज्ञ से सम्बद्ध हैं। भाष्यकार ने अपनी याजन-क्रिया को 'प्रवृत्तस्याविराम' वाला वर्तमानकालिक बतलाया है।[3]

महाभाष्य का एक दूसरा ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण उल्लेख, जो न केवल पतजलि के काल-निर्धारण में सहायक है, अपितु तत्कालीन इतिहास पर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है, किसी यवन द्वारा मध्यमिका और साकेत पर घेरा डाले जाने से सम्बद्ध है। भाष्यकार ने यद्यपि इन दोनों आक्रमणों को प्रत्यक्ष देखा नहीं था, तथापि वे उनके जीवन-काल में घटित हुए थे और लोक-विज्ञात थे। वे चाहते तो उन्हें देख भी सकते थे। ये दोनों घेरे एक ही यवन द्वारा डाले गये थे। आक्रामक इन नगरियों को जीत नहीं सका। उसे बीच में ही अपना घेरा उठा लेना पड़ा था या पराजित होकर भाग जाना पड़ा था। यह बात भी उपर्युक्त उद्धरणों से ध्वनित होती है।[4]

महाभाष्य के इन समस्त ऐतिहासिक उद्धरणों पर एक साथ विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि पतजलि रामायण, महाभारत और सूत्र-साहित्य के प्रणयन के पश्चात्, किन्तु कालिदास से पूर्व और पुष्यमित्र के काल में विद्यमान थे। इस समय शूद्रों या मौर्यों का पतन हो चुका था। पतन से पूर्व उनकी आर्थिक स्थिति शोचनीय हो गई थी। शूद्रों का सार्वजनिक अपमान किया जाता था। ब्राह्मणों का वर्चस्व चरम उत्कर्ष पर था। यज्ञ-यागादि की पुनः प्रतिष्ठा बढ़ गई थी। पुष्यमित्र ने स्वयं कोई महायाग किया था। इस समय किसी यवन ने साकेत और मध्यमिका (चित्तौड़ के समीप का नगरी-स्थान) पर एक साथ आक्रमण किया था। पुष्यमित्र ने यवनों की पराजय के बाद ही महायज्ञ किया था, जिसमें पतजलि भी आचार्य-रूप से विद्यमान थे। 'शूद्राणामनिरवसितानाम्' सूत्र के भाष्य में भी यवनों की पराजय का संकेत है। इसी समय

---

१. प्रवृत्तस्याविरामे शासितव्यो भवन्ती इहाधीमहे, इह वसामः, इह पुष्यमित्रं याजयामः। ३-२-१२३, पृ० २५४।

२. यज्यादिषु चाविपर्यासो वक्तव्यः। पुष्यमित्रो यजते, याजकाः याजयन्ति। तत्र भवितव्यम्—पुष्यमित्रो याजयते, याजकाः यजन्तीति यज्यादिषु चाविपर्यासो वक्तव्यः। नानाक्रियाणां यज्यर्थत्वात्। नानाक्रियाः यजेरर्थः। नावश्यं यजिः हविष्प्रक्षेपण एव वर्त्तते। किं तर्हि त्यागेऽपि वर्त्तते। अहो यजत इत्युच्यते यः सुष्ठुत्यपि करोति। तं च पुष्यमित्रः करोति याजकाः प्रयोजयन्ति।—३-१-२६, पृ० ७४।

३. प्रवृत्तस्याविरामे शासितव्या भवन्ती इहाधीमहे इह वसामः. इह पुष्यमित्रं याजयामः। —३-२-१२३, पृ० २४५।

४. परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये लङ् वक्तव्यः। अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्।—३-२-१११, पृ० २४६, ४७।

याज्ञिक वनने की कामना रखनेवाले ब्राह्मण-वालको को व्याकरण पढाते हुए उन्होंने महाभाष्य की रचना की थी। साकेतावरोध तथा याजनविषयक उल्लेख महाभाष्य के तृतीय अध्याय के अन्तर्गत आये है। इस समय उनके पचासी दिनो के पाठ मे लगभग आवा समय व्यतीत हो चुका था।

पुष्यमित्र शुंग—ऐतिहासिक दृष्टि से पुष्यमित्र का अश्वमेध यज्ञ तथा यवन का आक्रमण ये दोनों घटनाएँ महत्त्वपूर्ण है। वाण के हर्षचरित के अनुसार पुष्यमित्र मौर्य सम्राट् वृहद्रथ का सेनापति था। एक वार जव वृहद्रथ सेनापति के साथ सैन्य का निरीक्षण कर रहा था, तव सेनापति ने सेना को अपने पक्ष मे साधकर सहसा वृहद्रथ का वध कर डाला[1] और स्वय राज्य का स्वामी वन बैठा। इस राजहत्या की पूर्वभूमिका पहले से ही तैयार कर ली गई थी। मौर्य-शासन मे ब्राह्मण अत्यन्त असन्तुष्ट थे और ऐसा प्रतीत होता है कि वृहद्रथ के राज्य-काल मे यह असन्तोष चरम सीमा पर पहुँच गया था। उन्होने सेनापति को अपना नेता वनाया, फलत मौर्य-सम्राज्य के नष्ट होते ही चारो ओर ब्राह्मणों का उत्कर्ष दृष्टिगोचर होने लगा। नष्टप्राय यज्ञ-सस्था और विस्मृतप्राय वेदो को पुनर्जीवन मिला। महाभाष्य मे पतजलि द्वारा यत्र-तत्र वृषलो (मौर्यो) के प्रति कहे गये दुर्वचन, एक स्थान पर मौर्यो की प्रत्यक्ष निन्दा तथा पद-पद पर ब्राह्मणो का जयघोप इस वात का साक्षी है। महाभाष्य वस्तुत वैदिक सस्कृति और ब्राह्मणत्व का जयनाद है।

शुंग और उनका साम्राज्य—पुराणो के अनुसार पुष्यमित्र शुगवंशीय था। पाणिनि के मत से शुग भारद्वाज ब्राह्मण थे।[2] किन्तु, हरिवशपुराण ने (२-४०) ब्राह्मण सेनानी को अश्वमेध का उद्‌वर्त्ता और काश्यप कहा है। प्रवरदर्पण मे शौग लोग वसिष्ठगोत्रीय पाराशरो के गोत्रावयव वतलाये गये है। वृहदारण्यक मे (६-४-३१) शौंगीपुत्र शिक्षक का उल्लेख मिलता है। आश्वलायन श्रौतसूत्र (१२-१३-५) मे भी शुग आचार्य हैं। कालिदास के मालविकाग्निमित्र मे पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र को कश्यप गोत्र की वैम्बिकि शाखा का वतलाया गया है। वैम्बिकि शव्द महाभाष्य मे आया है। वहाँ उसकी निष्पत्ति विम्व शव्द से अपत्य अर्थ मे वतलाया गया है, किन्तु शुगगोत्रावयव से उसका कोई सम्वन्ध है या नही, यह वात स्पष्ट नही की गई है।[3] श्री एच्० ए० शाह विम्वक को विन्दुसार के परिवार से सम्वद्ध मानते है।[4] इन सव उल्लेखों से इतना स्पष्ट है कि शुग ब्राह्मण माने जाते थे। भले ही वे भारद्वाज रहे हो या काश्यप, यह अलग वात है। फिर भी, प० हरप्रसाद शास्त्री इस वंश के नामो के अन्त मे मित्र शव्द देखकर इन्हे ग्रीक आक्रमण के समय फारस से भागा हुआ मानते थे।[5] प्रो० वी० के० ठाकुर का

---

१. सेनापतिरनार्यो मौर्यं बृहद्रथं पिपेष पुष्यमित्रः स्वामिनम्।—हर्षचरित।

२. विकर्णशुङ्गच्छगलाद्वत्सभरद्वाजात्रिषु—४-१-११७।

३. सुधातृव्यासवरुणनिषादचण्डालबिम्बानामिति वक्तव्यम्।—बैम्बकि, ४-१-९७, पृ० १२९।

४. प्रोसीडिंग्स ऑफ् ओरियण्टल कान्फ्रेन्स, मद्रास, प० ३७९।

५. इण्डि० हिस्टा० क्वार्ट०, जिल्द ८, पृ० ३९।

अनुमान है कि ये लोग पाणिनि से भी पूर्व के सामवेदीय ब्राह्मण थे।[1] भरहुत के शिलालेख में दो द्वार शुंगकाल मे बने बतलाये गये हैं।

पुष्यमित्र के राज्य मे मौर्यों का मध्यभाग सम्मिलित था। आंध्र, कलिंग तथा उत्तर भारत का कुछ भाग स्वतन्त्र हो गया था। पाटलिपुत्र, अयोध्या, विदिशा, जालन्धर और शाकल ये नगर इसके अन्तर्गत थे।[2] राजधानी पाटलिपुत्र बनी रही। मालविकाग्निमित्र के अनुसार पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र विदिशा मे पिता का राष्ट्रिय था। अयोध्या के मन्दिर-द्वार के एक शिलालेख के अनुसार वहाँ एककेतन पुष्यमित्र की छठी पीढ़ी के एक कोसलाधिपति ने बनवाया था। नर्मदा तक के सीमान्त दुर्ग मे अग्निमित्र का साला वीरसेन रक्षार्थ नियुक्त था। पुष्यमित्र के अन्तर्गत विदर्भ यज्ञसेन और माधवसेन मे विभक्त था। वर्धा (वरदा) नदी इस विभाजन की सीमा-रेखा थी। विदर्भराज यज्ञसेन मौर्यराज बृहद्रथ के मन्त्री के बहनोई थे। अत, उनका पुष्यमित्र विरोधी होना स्वाभाविक था। अग्निमित्र ने उसे 'प्रकृत्यमित्र' और 'प्रतिकूलकारी' कहा है। इस कारण विदिशा और विदर्भ के सम्बन्ध भी खराब हुए। यज्ञसेन का चचेरा भाई माधवसेन अग्निमित्र का मित्र था। यज्ञसेन के अन्तपाल ने उसे बन्दी बना लिया। अग्निमित्र ने यज्ञसेन को आज्ञा दी कि वह तुरन्त उसे मुक्त कर दे। यज्ञसेन ने बदले मे यह शर्त्त उपस्थित की कि पहले उसके सम्बन्धी मौर्य सचिव को मुक्त किया जाय। अग्निमित्र ने यह शर्त्त न मानकर वीरसेन को आदेश दिया कि वह विदर्भ पर आक्रमण करे। इस आक्रमण मे वीरसेन ने यज्ञसेन को पराजित कर माधवसेन को बन्दीगृह से छुड़ा लिया। पश्चात् विदर्भ का राज्य यज्ञसेन और माधवसेन मे बाँट दिया गया[3] और विदर्भ पर पुष्यमित्र का सिक्का जम गया। खारवेल और सातकर्णी विदर्भ के पूर्व और पश्चिम मे अग्निमित्र के समकालीन थे। खारवेल उससे अधिक बलवान् था और विदर्भ से सम्बन्ध भी रखता था। विदर्भ पर आक्रमण के समय खारवेल और सातकर्णी का चुप बैठे रहना आश्चर्यजनक मालूम होता है। इस आधार पर प्रो० ठाकुर ने तो यह कल्पना कर डाली है कि कालिदास ने प्लाट के लिए इतिहास मे परिवर्तन कर डाला है। अत, मालविकाग्निमित्र का वर्णन प्रमाण नही माना जा सकता।[4] प्रो० ठाकुर के कथन की सत्यता सन्दिग्ध है, क्योकि कालिदास ने यज्ञसेन को 'अचिराधिष्ठितराज्य' कहा है। इससे विदित होता है कि विदर्भ पहले मौर्यों के अधिकार मे था। बाद मे राज्य-विप्लव होने पर यज्ञसेन ने विदर्भ को दबा लिया।[5]

साकेत और मध्यमिका का अवरोध—गोल्डस्टुकर के अनुसार साकेत और मध्यमिका का अवरोध करनेवाला मिनाण्डर था, जिसका समय ई० पू० द्वितीय शती है। प्रो० लैसेन के

---

१. मालविकाग्निमित्र, गुजराती, अनु० श्री बी० के० ठाकुर।

२ दिव्यावदान तथा प्रो० तारानाथ के अनुसार।

३. मालविकाग्निमित्र, अंक १।

४. ठाकुर : मालविका० गुज० अनु०।

५. अचिराधिष्ठितराज्यः शत्रुः प्रकृतिष्वरूढमूलत्वात्। नवसंरोपणशिथिलास्तरुरिव सुकरः समुद्धर्त्तुम्॥ —मालविका० अंक १, श्लोक ८।

अनुसार १४४ ई० पू० मे वह शासन करता था। चन्द्रगुप्त मौर्य ३२२ ई०पू० मे गद्दी पर बैठा। उस वश के १० राजाओ ने कुल १३७ वर्ष राज्य किया।[1] इसके अनुसार पुष्यमित्र के सिंहासनारोहण का समय १८५ ई०पू० होना चाहिए। मत्स्यपुराण के अनुसार पुष्यमित्र ने ३६ वर्ष राज्य किया।[2] अतः, उसके शासन की निचली काल-सीमा १४९ ई०पू० पडती है। यही काल पतजलि द्वारा पुष्यमित्र को यज्ञ कराये जाने का है और यही भाष्य के निर्माण का समय है। ब्रह्माण्ड-पुराण एव विष्णुपुराण भी पुष्यमित्र का शासन-काल ३६ वर्ष ही वतलाते है।[3] गोल्डस्टुकर ने मिनाण्डर के काल को ध्यान मे रखकर महाभाष्य का काल १४० से १२० ई०पू० के मध्य माना है। मिनाण्डर का राज्यारोहण-काल भिन्न-भिन्न ऐतिहासको ने २०० से १२६ ई० पू० के मध्य माना है। डॉ० भण्डारकर के मत से पतजलि-काल मे मौर्यो का शासन गये कुछ समय वीत चुका था। अर्चाविपयक उदाहरण इसके साक्षी है। अत, 'जीविकार्थे चापण्ये' का भाष्य पतजलि ने १५८ ई० पू० के लगभग लिखा होगा। मिनाण्डर और पुष्यमित्र समकालीन थे। अत, मिनाण्डर का समय भी ऊपर मे १७५ और नीचे १४२ ई० पू० होना चाहिए। इस आधार पर डॉ० भण्डारकर ने तृतीय अध्याय के भाष्य का रचना-काल १४४-१४२ ई० पू० मे माना है।[4] प्रो० वेवर ने 'मध्यमिका' का अर्थ वौद्धमाध्यमिक शाखा मानकर पतजलि का समय २५ ई० स्वीकार किया है। उनके विचार से वौद्धधर्म मे दीक्षित होने से पूर्व कनिष्क हीनयानो का पक्षपाती और माध्यमिको का नाशक रहा। अत, महाभाष्य का समय कनिष्क के वाद ही होना चाहिए। वेवर के इस कथन का डॉ० भण्डारकर ने सयुक्ति खण्डन किया है।[5] डॉ० भण्डारकर के अनुसार, जिसकी पुष्टि वायुपुराण एव अन्य पुराणो मे भी होता है। मौर्यो के वाद शुग, आन्ध्रभृत्य एव काण्वायन क्रमश राजा हुए। अशोक के लेखो मे 'अंतियोको' नाम 'योण' राजा का उल्लेख है। योरोपीय इतिहास के विद्यार्थी अन्तियोकस (Antiochus) से सम्यक् परिचित है। सिकन्दर के वाद सिल्यूकस ने सिरिया से भारत तक अपना साम्राज्य स्थापित किया था। अन्तियोकस उसका पौत्र था। अशोक के लेख के अन्तियोकस द्वितीय का समय २६१ से २४० ई०पू० है। ये लोग मेसिडोनियन ग्रीक थे। भाष्य मे यवन शब्द से इन्ही का उल्लेख है और इसी जाति का मिनाण्डर साकेत और माध्यमिका का आक्रामक है। ग्रीक इतिहास के अनुसार इसका समय १४२ ई० पू० है। इससे पजाव और अफगानिस्तान पर शासन स्थापित कर लिया था। उस समय ये प्रदेश भारत के अग थे। उसकी प्राप्त मुद्राओ पर 'महाराजस्स दरस्स मिलिन्दस्स' अकित है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इसकी

---

१. विष्णु पु० ६-२४।

२. कारयिष्यति वैराज्यं षटत्रिंशत् सभाः नृपः। पार्जिटर, डायनेस्टीज, ऑफ् कलि०, पृ० ३१।

३. विल्सन : विष्णु पु०, प्रथम सं०, पृ० ४७१।

४. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ् डॉ० भण्डारकर, भाग १, पृ० १०८ से ११४।

५. इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जिल्द २, सन् १८७२, पृ० २९९ से।

प्रजा पालिभाषिणी थी। 'मिलिन्दपण्हो' में उसकी और नागसेन की वार्ता उल्लिखित है। इसकी राजधानी शाकल थी।[1]

मालविकाग्निमित्र का साक्ष्य—मालविकाग्निमित्र में पुष्यमित्र का अपने पुत्र अग्निमित्र के नाम पत्र भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस पत्र से विदित होता है कि पुष्यमित्र ने अश्वमेध का अनुष्ठान करते हुए अपने राजपुत्र शत-परिवृत पौत्र और अग्निमित्र के पुत्र वसुमित्र के संरक्षण में अश्व छोड़ा था। उसे सिन्धु के दक्षिण तट पर यवनों ने पकड़ लिया। तब अश्व के लिए यवनों का वसुमित्र की सेना से महान् युद्ध हुआ, किन्तु अन्त में वसुमित्र ने यवन-सेना को सिन्धु-तट पर पराजित कर अश्व लौटा लिया। इस प्रकार पुष्यमित्र का यह यज्ञ सफल हुआ। पुष्यमित्र के आमन्त्रण पर अग्निमित्र ने भी इस यज्ञ में भाग लिया। जायसवाल के मत से पुष्यमित्र का यह द्वितीय अश्वमेध है।[3] खारवेल ने पुष्यमित्र को प्रथम अश्वमेध के बाद हराया था। खारवेल की हार के बाद अपनी झेंप मिटाने के लिए इसने दुबारा यज्ञ किया। पतंजलि का 'पुष्यमित्रं याजयामः' इस द्वितीय यज्ञ से ही सम्बद्ध है। यह यज्ञ डेमेट्रियस की पराजय के बाद सम्भव नहीं है; क्योंकि डेमेट्रियस के आक्रमण १८४ से १६७ ई० पू० के मध्य हुए।[4] पाटलिपुत्र पर आक्रमण १७५ ई० पू० में हुआ। अपोलोडोटस के अनुसार भी ग्रीकों के दो आक्रमण हुए, जिनमें प्रथम पुष्यमित्र के प्रारम्भिक काल में हुआ था। इसमें पुष्यमित्र ने सन्धि कर ली या वह दब गया, जिससे अप्रसन्न होकर अग्निमित्र ने विदिशा में स्वतन्त्र सत्ता बना ली। गृह-विद्रोह के कारण डेमेट्रियस के वापस चले जाने पर पुष्यमित्र ने प्रथम अश्वमेध किया। द्वितीय आक्रमण पुष्यमित्र के अन्तिम दिनों में मिनाण्डर ने किया। द्वितीय आक्रमण के समय वसुमित्र ने सिन्धु-तट पर उसे हराया। तब उसने दूसरा अश्वमेध किया और अग्निमित्र की अप्रसन्नता दूर हुई।[5] अयोध्या के शिलालेख का 'कोसलाधिपेन द्विरश्वमेधयाजिनः पुष्यमित्रस्य' वाक्य दोनों अश्वमेधों का प्रमाण है। विवश होकर यवनों के चले जाने पर किया गया अश्वमेध पुष्यमित्र के मन को पूर्ण संतोष न दे सका होगा, अतः उनकी वास्तविक पराजय के साथ द्वितीय अश्वमेध किया गया। जायसवाल द्वितीय अश्वमेध खारवेल की पराजय के बाद मानते हैं।[6] रायचौधरी (पृ० २६७) के मत से दोनों यज्ञ विदर्भ-यवन-विजय के बाद हुए। डॉ० भण्डारकर के मत

---

१. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ् डा० भण्डारकर, भाग २, पृ० ६२६।

२. स्वस्ति यज्ञशरणात् सेनापतिः पुष्यमित्रो वैदिशस्थं पुत्रमायुष्मन्तमग्निमित्रं परिष्वज्येदमनुदर्शयति। विदितमस्तु। योऽसौ राजयज्ञदीक्षितेन मया राजपुत्रशतपरिवृतं वसुमित्रं गोप्तारमादिश्य संवत्सरोपावर्त्तनीयो निरर्गलस्तुरङ्गो विसृष्टः स सिन्धोर्दक्षिणरोधसि चरन्नश्वानीकेन यवनानां प्रार्थितः। तत उभयोः सेनयोर्महानासीत्संमर्दः। —मालविका०, अंक ५।

३. जर्नल ऑफ् बंगाल ओरियण्टल रिसर्च सोसा०, भाग १०, पृ० २०५।

४. टॉर्न: ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया, पृ० १३३।

५. स्ट्रेबो, ११-५१६।

६. जर्नल ऑफ् बंगाल ओरि० रि० सोसा०, भाग १०, पृ० २०५।

से प्रथम यज्ञ साकेत और मध्यमिका की विजय के बाद और दूसरा वसुमित्र द्वारा यवनो की पराजय के बाद हुआ।

साकेत का अवरोधक कौन था—स्मिथ ने कनिंघम का अनुसरण करते हुए माना है कि विदेशी यवनों ने पुष्यमित्र की ललकार के प्रत्युत्तर-स्वरूप सिन्धु-तट पर उसकी सेनाओ से युद्ध किया। यह सिन्धु नदी काली सिन्धु है, जो मध्य भारत और राजस्थान की सीमा बनाती है। सम्भवत ये यवन मिनाण्डर की सेना के अग थे, जिन्होंने मध्यमिका पर आक्रमण किया था। यह कथन भ्रातिमूलक है। काली सिन्धु को सिन्धु मानना ठीक नही है, क्योकि शाकल विदिशा और विदर्भ के शासक पर काली सिन्धु के पास यवनो द्वारा आक्रमण की कल्पना नही की जा सकती। दूसरे, खारवेल से पराजित होकर पुष्यमित्र मथुरा मे रहा था। मथुरा अवश्य ही उसके विरोधी बौद्धों और मिनाण्डर से दूर रही होगी और उसके राज्य मे होगी। तब शाकल से बाहर सिन्धु और कौन हो सकती है? तीसरे धारिणी का यह कथन भी कि 'अतिघोरे खलु पुत्रक सेनापतिना नियुक्त' तभी सार्थक हो सकता है,जब वसुमित्र का युद्ध सिन्धु के दूर प्रदेश मे हुआ हो, काली सिन्धु के तट पर नही, अन्यथा वसुमित्र की विजय का समाचार अग्निमित्र को पत्र द्वारा भेजने की कोई आवश्यकता ही न हुई होती। काली सिन्धु मे विदिशा मे यह समाचार पहले ही प्राप्त हो गया होता।[1] फिर, स्मिथ ने मिनाण्डर और डेमेट्रियस के आक्रमणो को एक मानकर पुष्यमित्र को खारवेल और मिनाण्डर का समकालीन बना दिया है।[2] यह बात महामेघ-वाहन खारवेल के हथिगुम्फ-शिलालेख के बृहस्पतिमित्र को ही पुष्यमित्र मानने से कही जाती है। पुष्यमित्र के निज के सिक्के भी उपलब्ध है। अत, बृहस्पतिमित्र को पुष्यमित्र मानना ठीक नही है। अग्निमित्र के रुहेलखण्ड मे प्राप्त सिक्के भी किसी अन्य अग्निमित्र के है। अग्निमित्र विदिशा मे रहता था। उसके सिक्के विदिशा या पाटलिपुत्र मे प्राप्त हो सकते थे। पुष्यमित्र के बाद उसका राज्य उसके आठ पुत्रों मे विभक्त हो गया था। वासुदेव काण्वायन (मत्री) इस वश के अन्तिम राजा देवभूति को हटाकर स्वय राजा बन गया। इसीलिए पुराणो ने काण्वो को शुग-भृत्य कहा है। वासुदेव ने नौ तथा उसके पुत्र भूमिमित्र ने चौदह वर्ष शासन किया।[3] इनके भय से शुग वशजो का रुहेलखण्ड को भाग जाना सभावित है। आँवला, बदायूँ और अहिच्छत्र मे प्राप्त होनेवाले सिक्को का कारण यह भी हो सकता है।[4] इस प्रकार बृहसतिमित्त और पुष्यमित्र एक नही है। फिर, हथिगुम्फ-लेख का पाठ निश्चित नही है। यदि हम इस पाठ को 'दिमित' मानें, तो यह आक्रामक डेमेट्रियस होगा, मिनाण्डर नही। गार्गी सहिता का युग-

---

१. इण्डिया इन कालिदास भगवतशरण उपाध्याय, पृ० ३६१ से ३६८।

२. अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, चौथा सं० २०९, १० तथा २२७, २२९।

३. पुष्यमित्रसुताश्चाष्टौ भविष्यन्ति समा नृपा।—जर्नल ऑफ् बंगाल ओरि० रि० सो०, भाग १०, पृ० २०२ तथा १५, पृ० ५४३।

४. अमात्यो वासुदेवस्तु बाल्याद् व्यसनिनं नृपम्।
देवभूतिमथोत्साद्यस्वयंतु भविता नृपः॥—(वही)

पुराण पुष्यमित्र के थोड़े ही बाद, अर्थात् प्रथम ई०पू० की रचना मानी जाती है।[1] उसमें शालिशूक मौर्य के ठीक बाद यवन-आक्रमण का उल्लेख है। शालिशूक अशोक का चौथा उत्तराधिकारी था। विष्णुपुराण के अनुसार शालिशूक के बाद तीन राजा हुए—सोमशर्मन् (वायु० पु० का देववर्मन्), शतधन्वन् और बृहद्रथ (वायु० पु० का बृहदश्व)। डेमेट्रियस आक्रमण यदि शालिशूक के ठीक बाद हुआ, तो उसमें और पुष्यमित्र में तीन पीढ़ी का अन्तर रहा होगा। स्मिथ स्वयं शालिशूक (२०६ ई० पू० से पहले) और पुष्यमित्र (१८५ ई०पू०) के बीच इक्कीस वर्ष का अन्तर स्वीकार करते हैं।[2] इस स्थिति में यह आक्रमण पुष्यमित्र के समय में सम्भव नहीं है। खारवेल ने भी मगध पर दो बार आक्रमण किये। प्रथम में मगधराज पराजित हो गया और द्वितीय में दिमित पाटलिपुत्र छोड़कर मथुरा भाग गया और खारवेल पाटलिपुत्र का शासक बन गया। दिमित या डेमेट्रियस के लौटने का कारण यूक्रेटाइड्स (Eucratides) द्वारा गृह-विद्रोह था। 'शूद्राणामनिरवसितानाम्' सूत्र के भाष्य में यवनों की इस वापसी की ओर संकेत है। यह बात पुष्यमित्र से तीन पीढ़ी पहले की है। टॉर्न के अनुसार मिनाण्डर डेमेट्रियस का सेनापति था और दामाद भी।[3] ऐसी स्थिति में मिनाण्डर का पुष्यमित्र का समकालीन होना सम्भव है। मगध पर आक्रमण के समय वह धर्ममित (डेमेट्रियस) के साथ रहा होगा और इस आक्रमण के मार्ग में ही साकेत और मध्यमिका पर आक्रमण हुआ होगा। इस दृष्टि से टॉर्न का यह कथन कि पूर्व में मिनाण्डर और पश्चिम में डेमेट्रियस एवं अपोलोडोटस सेना के नेता थे, सगत बैठ जाता है। ये दोनों योद्धा दो भिन्न मार्गों द्वारा विजय प्राप्त करते हुए पाटलिपुत्र में जा मिले होंगे। साकेत का आरोप मिनाण्डर और मध्यमिका का डेमेट्रियस द्वारा किया गया होगा। महाभाष्य में दोनों अवरोधों को एक साथ और एककर्तृक बतलाया गया है। गार्गी संहिता में भी एक ही यवन द्वारा आक्रमण का उल्लेख है।[4] संहिता में साकेत के आक्रमण की चर्चा है। युगपुराण के अनुसार पाटलिपुत्र पर अनेक आक्रमण हुए, पर स्मिथ उन्हें एक मानते हैं और वह भी पुष्यमित्र के अन्तिम काल में, जिसका आक्रामक मिनाण्डर था। वास्तव में, पहला आक्रमणकारी डेमेट्रियस था, जिसका पूर्वी सेनापति मिनाण्डर था। कुछ समय पाटलिपुत्र यवनों के हाथ में रहा, पर गृह-विद्रोह के कारण इन्हें शीघ्र वहाँ से हटना पड़ा। इस समय विवश होकर उसने मिनाण्डर को सौंप दिया। मिनाण्डर ने स्वयं को शाकल का शासक घोषित किया। यह बात युगपुराण के भी अनुकूल है।[5]

इस समय पुष्यमित्र ने मिनाण्डर को युद्ध के लिए ललकारा और सिन्धु-तट पर उसे पराजित किया। मिनाण्डर की पराजय के बाद शाकल खाली हो गया और तक्षशिला तथा सिन्धु का

---

१. वही, भाग १४, सन् १९२८, पृ० ५९९।

२. अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इण्डि०, पृ० २०७।

३. ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया ऐण्ड इण्डिया, पृ० १४०, २२५।

४. जर्नल ऑफ् अं० ओरि० रि० सो०, १९२८, पृ० ४०२।

५. आकुला. विषया. सर्वे भविष्यन्ति न संशयः।
मध्यदेशे न स्थास्यन्ति यवना युद्धदुर्मदाः॥—पृ० ४०२, ४०३।

भाग भी स्वतन्त्र हो गया। तब द्वितीय अश्वमेध हुआ। यह काम वसुमित्र द्वारा सम्पन्न हुआ, जिसका उल्लेख मालविकाग्निमित्र मे मिलता है।

अन्य विद्वानों का मत—पुष्यमित्र १८५ ई० पू० मे सिंहासन पर बैठा। यह समय चन्द्रगुप्त मौर्य (३२२ ई०पू०) के काल मे से मौर्यों के शासन-काल १३७ वर्ष निकाल देने पर आता है। पार्जिटर ने अपनी पुस्तक 'डायनेस्टीज ऑफ कलि एज' (पृ० ३०) मे समस्त पुराणो का पाठभेद मिलाकर यह निष्कर्ष निकाला है। पी० सी० बागची के अनुसार पुष्यमित्र-काल और शीघ्र प्रारंभ होकर १७५ ई० पू० मे समाप्त हो जाता है।[1] बागची के अनुसार दंष्ट्रा-निवासी राजा ने डेमेट्रियस को, जिसे उन्होने क्रिमिष कहा है, अपनी पुत्री से विवाह का प्रलोभन देकर बौद्ध बनने के लिए आमन्त्रित किया। साथ ही यह वचन लेना चाहा कि वह पुष्यमित्र के वध मे उसकी सहायता करेगा। डेमेट्रियस ने वैसा किया और युद्ध मे एक शिलाखण्ड फेककर पुष्यमित्र को मार दिया। इसके बाद वह पाटलिपुत्र तक आया, पर गृह-विद्रोह के कारण लौट गया। पुष्यमित्र की मृत्यु के बाद पाटलिपुत्र पर आक्रमण सरल हो गया।[2] बागची का यह कथन ७७० ई० की रचना 'मंजुश्रीमूलकल्प' पर आश्रित है। पुष्यमित्र और उसके वंशजो ने कुल मिलाकर १२० वर्ष (पुष्यमित्र ३६, अग्निमित्र ८, वसुज्येष्ठ, ७ वसुमित्र १०, अन्धक २, पुलिन्द ३, घोष३, वज्रमित्र ९, भागवत ३२ और देवभूति १० वर्ष) राज्य किया। वायुपुराण मे यह काल ११२ वर्ष 'शत पूर्णं दश द्वे च' बतलाया है। दिव्यावदान मे पुष्यमित्र का राज्य-काल ६० वर्ष दिया है। आर० सी० मजूमदार के मत से यह काल सेनापतित्व और राजपद दोनों को मिलाकर है।[3] पीटर्सन महाभाष्य मे पुष्यमित्र के स्थान में पुष्पमित्र पाठ मानकर उसे स्कन्दगुप्त के साथ युद्ध में पराजित पुष्यमित्र स्वीकार करते हुए उसका समय चतुर्थ ईसवी ठहराया है।[4] वेबर के मत से पतजलि पुष्यमित्र के समय मे नही हुए। यज्ञ-विषयक उल्लेख ब्राह्मणो द्वारा की जानेवाली उसकी सरस स्मृति के परिणाम स्वरूप ही डाल दिया गया है।[5] डी० सी० सरकार के मत से पतजलि पुष्यमित्र के समय मे थे, पर उनके मूल महाभाष्य मे कुषाण-काल तक परिवर्त्तन-परिवर्धन होते रहे।[6] बोथलिंक पतजलि को २०० ई० पू० मानते हैं।[7] मैक्समूलर दूसरे प्रकार

---

१. बागची : इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टली, भाग २२, पृ० ८१।

२. तदा साकेतमाक्रम्य पञ्चालान् मथुरां तथा।
यवना दुष्टविक्रान्ता प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजम् ॥
ततः पुष्पपुरे प्राप्ते कर्मदे प्रथिते हिते।
आकुला विषयाः सर्वे भविष्यन्ति न संशयः ॥
—युगपुराण, ज० आप० बं० ओरि० रि० सो०, भाग १९, पृ० ४२०।

३. इण्डि० हिस्टा० क्वा०, भाग १, पृ० ९१।

४. जर्नल ऑफ् रायल एशि० सो० बंगाल, भाग १६, पृ० १८९।

५. वेबर : आन दि डेट ऑफ् पतंजलि—इण्डि० एण्टिक्वेरी, भाग २, पृ० ५७।

६. इण्डि० हिस्टा० क्वा०, भाग १५ पृ०, ६३३।

७. पाणिनिज ग्रैमेटिक, पृ० ११।

से इसी मत के समर्थक हैं।[1] कीथ १५० ई० पू० पतंजलि-काल बतलाते हैं, यद्यपि उन्होंने 'संस्कृत ड्रामा' में १४० ई० पू० ही पतंजलि का समय माना है।

महाभाष्य का लोप और पुनरुद्धार—पतंजलि वैदिक धर्माभिमानी थे। उन्होंने अष्टाध्यायी का पाण्डित्यपूर्ण विवेचन करते हुए व्याकरणविषयक स्वतन्त्र सिद्धान्तो का भी समावेश महाभाष्य मे किया और साथ ही वैदिक संहिताओ की अपौरुषेयता, नित्यता एव स्वत.प्रामाणिकता स्थापित करते हुए उदाहरण-स्वरूप यत्र-तत्र वैदिक एव सूत्र-ग्रन्थो से वाक्य भी उद्धृत किये। निरुक्त का प्रभाव भी इन पर बहुत था। उन्होंने अनेक स्थानो पर वेद-शब्द-व्युत्पत्ति-कर्त्ता निरुक्त को ज्यो-का-त्यो उद्धृत किया। फलत, महाभाष्य का स्वरूप अष्टाध्यायी के समान निष्पक्ष न रह गया। पाणिनि ने किसी भी दर्शन के प्रति अपना पक्षपात न प्रकट करते हुए प्रधानतया लौकिक और आपातत वैदिक भाषा के शब्दो का यथार्थ ज्ञान कराने के लिए अपना ग्रन्थ लिखा था। वेदाभिमानी पतंजलि द्वारा स्थान-स्थान पर वैदिक वाक्य उद्धृत कर आर्त्विजीन ब्राह्मणो के लिए लिखा गया ग्रन्थ वेद को प्रमाण न माननेवाले बौद्ध, जैन तथा अन्य दर्शनकारो की दृष्टि मे सहज ही खटकने लगा। दूसरे महाभाष्य की रचना के कुछ शताब्दियो बाद बौद्ध एव जैन सूत्रग्रन्थो पर अश्वघोष, असंग, वसुबन्धु, नागार्जुन, उमास्वाति, कुन्दकुन्द आदि बड़े-बड़े विद्वानो ने तत्त्वज्ञान का ऊहापोह करनेवाले ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ किया। इसी समय मीमांसा, न्याय आदि शास्त्रो पर शबरस्वामी, वात्स्यायन, प्रशस्तपाद आदि ने भाष्य-ग्रन्थो की रचना की। स्वभावतया कुछ समय बाद (१०० से ६०० ई०स०) लोगों का ध्यान इन ग्रन्थो की ओर जाने से महाभाष्य का अध्ययन उपेक्षित हो गया और धीरे-धीरे उसकी प्रतियाँ दुर्लभ होने लगी। इसी समय कातन्त्र और चान्द्र व्याकरणों की रचना हुई। कातन्त्र पाणिनि की परम्परा पर आश्रित न होकर उनसे पूर्ववर्त्ती कालाप व्याकरण पर आश्रित था। पाणिनि और कात्यायन दोनो ने कलापी और उनकी शिष्य-परम्परा का उल्लेख किया है।[2] भाष्य मे भी महावार्त्तिक के साथ कालापक शब्द आया है और उसके बाद तुरन्त ही पाणिनीय शास्त्र की चर्चा है।[3] इससे

---

१. हिस्ट्री ऑफ् एनशि० संस्कृत लिटरेचर, पृ० २४४।

२. ४-३-१०४, १०८।

३. ४-२-६५, पृ० १८९।

प्रायेण संक्षेपरुचीनल्पविद्यापरिग्रहान्।
सम्प्राप्य वैयाकरणान् संग्रहेऽस्तमुपागते॥
कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदेशिना।
सर्वेषां ये च बीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥
अलब्धगाधेगाम्भीर्यादुत्तानिव सौष्ठवात्।
तस्मिन्नकृतबुद्धीनां नैवविस्थितनिश्चय॥
वैजिसौभवहर्यक्षैः शुष्कतर्कानुसारिभिः।
आर्षे विप्लाविते ग्रन्थे संग्रहप्रतिकञ्चुके॥
यः पतञ्जलिशिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकरणागमः।

अनुमान होता है कि पाणिनि से पूर्व कलापी की कोई व्याकरण-शाखा थी। कातन्त्र-व्याकरण उसी पर आश्रित है। इस ग्रन्थ के सूत्र कारिकामय है और इसमे अद्यतनी, श्वस्तनी, परोक्षा आदि अपाणिनीय सज्ञाओ का प्रयोग है। कथासरित्सागर के अनुसार सातवाहन नृपति के आज्ञानुसार शर्ववर्मा ने कातन्त्र या कालाप व्याकरण का प्रणयन किया। कार्त्तिकेय द्वारा इस व्याकरण का उपदेश किया गया, इस धारणा के कारण उसे कौमारव्याकरण भी कहते हैं। चान्द्र व्याकरण के प्रणेता चन्द्रगोमी नामक बौद्ध आचार्य थे। चन्द्रगोमी प्राच्य वैयाकरण-परम्परा के विद्वान् थे। उनका ग्रन्थ पाणिनीय पद्धति पर आश्रित है। इसी समय जैनेन्द्र व्याकरण लिखा गया। इसमे भी पाणिनि-शैली का ही अनुसरण है। शवरस्वामी आदि के भाष्यो को धार्मिक स्वरूप प्राप्त हो जाने के कारण लोगो की प्रवृत्ति उस ओर स्वाभाविक थी। दूसरे इस समय संस्कृत लोकभाषा नही रह गई थी। पालि और प्राकृत मे ग्रन्थ लिखे जा रहे थे। शास्त्रीय वाङ्मय का अध्ययन करने के पूर्व सस्कृत के कामचलाऊ ज्ञान की आवश्यकता होती थी और वह कातन्त्र, चान्द्र आदि सक्षिप्त व्याकरणों से प्राप्त किया जा सकता था। अष्टाध्यायी को वेदात के रूप मे महत्त्व प्राप्त हो चुका था। इसलिए मुख-परम्परा से उसके सूत्र-पाठ का क्रम तो चलता रहा, किन्तु उसके पठन-पाठन की परम्परा लुप्तप्राय हो गई। भर्त्तृहरि ने वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड के अन्त मे इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा है कि धीरे-धीरे लोगों की रुचि सक्षेप मे पढने तथा अल्प-विद्या-परिग्रही हो गई। ऐसे अल्प-विद्या-परिग्रही वैयाकरणो को पाकर संग्रह का पठन-पाठन वन्द हो गया। तब तीर्थदर्शी आचार्य पतजलि ने समस्त न्याय-तत्त्वो का एकत्र निवन्धन कर महाभाष्य की रचना की। किन्तु, महाभाष्य अत्यन्त गम्भीर था और अकृतवुद्धि लोगों के लिए उसकी थाह पाना कठिन था। महाभाष्य सग्रह का प्रतिकचुक स्वरूप था। वैजि, सौभव और हर्यक्ष जैसे शुष्क तार्किकों ने इस आर्षग्रन्थ को विप्लावित कर दिया और धीरे-धीरे यह व्याकरण-शास्त्र पतंजलि के शिष्यो के हाथ से निकल गया। इसका पठन-पाठन वन्द हो गया। यहाँतक कि इसकी प्रतियाँ केवल दाक्षिणात्य प्रदेश मे ही कही-कही वच गईं। तव चन्द्र आदि आचार्यों ने दाक्षिणात्य पर्वत प्रदेश से इसकी प्रति प्राप्त कर इसका पुनः प्रचार किया।

राजतरंगिणी के अनुसार महाभाष्य के प्रथम उद्धारकर्त्ता कश्मीर के राजा अभिमन्यु थे। उन्ही के आदेश से आचार्य चन्द्रगोमी ने महाभाष्य का फिर से प्रवर्त्तन किया और स्वयं भी एक नवीन व्याकरण वनाया।[१] डॉ० ओटो वोथलिक के अनुसार अभिमन्यु का काल ई०पू०

काले स दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थितः ॥
पर्वतादगमं लब्ध्वा भाष्यवीजानुसरिभिः ।
स नीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः ॥

—वाक्यपदीय २-४८४-४८९।

१. आविर्बभूवाभिमन्युः शतमन्युरिवापरः ।
चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वा देशंतस्मात्तदागमम् ॥
प्रवर्त्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं नवम् ।

—राजतरंगिणी, १-१७४ तथा १७६॥

१०० तथा लैसेन के अनुसार ४० से ६५ ई० तक है। अन्य विद्वानो के मत से चन्द्रगोमी का समय पाँचवी शती का अन्तिम चरण है। छठी शताब्दी के लगभग उपर्युक्त कारणो से ही महाभाष्य का प्रचलन फिर कम हो गया। तब कश्मीर के जयापीड ने देशान्तरो से विद्वानों को बुलाकर विच्छिन्न भाष्य-परम्परा को पुन. प्रवर्त्तित किया।[1] वास्तव मे, महाभाष्य के प्रचार का बहुत कुछ श्रेय भर्त्तृहरि और कैयट को है। भर्त्तृहरि के वाक्यपदीय तथा महाभाष्य-दीपिका ने लोगो को महाभाष्य की ओर उन्मुख किया। दीपिका के केवल सात ही आह्निक हस्तलिखित रूप मे उपलब्ध है। इससे पता चलता है कि वह भी कालान्तर मे लुप्त हो गई थी। यह टीका विस्तृत थी। नागेशभट्ट ने लघुशब्देन्दुशेखर मे 'सोऽयमक्षरसमाम्नाय. पुष्पित' आदि पर भर्त्तृहरि की टीका उद्धृत की है। जयादित्य और भर्त्तृहरि के समय मे विशेष अन्तर नही है। भर्त्तृहरि के वाक्यपदीय ने महाभाष्य को दर्शन-ग्रन्थो की कोटि मे पहुँचा दिया। इसके परिणामस्वरूप उसके अध्ययन को प्रोत्साहन मिला। ६९० ई० मे, अर्थात् भर्त्तृहरि के कोई पचास वर्ष बाद इत्सिग ने जो अपने सस्मरण लिखे, उनमे उसने महाभाष्य का भी उल्लेख किया। उसने महाभाष्य को २४००० श्लोको का चूर्णिग्रन्थ कहा।[2] यद्यपि वह कात्यायन के वार्त्तिको को भूल से काशिका-वृत्ति-सूत्र कह गया। डॉ० भण्डारकर ने इस भूल की ओर सकेत करते हुए कहा है कि काशिका या जयादित्य के किसी अन्य ग्रन्थ को वृत्ति-सूत्र मान लेना या तो इत्सिग की भूल है या उसे समझने मे और आगे चलकर उसका अनुवाद करने मे दूसरो ने भूल की है।[3]

---

१. देशान्तरा दागमय्याथव्याचक्षाणान् क्षमापतिः।
प्रावर्त्तयत विच्छिन्नं महाभाष्यं स्वमण्डले॥

—राजत० ४-४८८।

२. देयर इज ए कमेण्टरी ऑन इट (दि वृत्तिसूत्र—दि काशिकावृत्ति) एण्टाइटिल्ड चूर्णि, कण्टेनिंग २४००० श्लोक्स। इट इज ए वर्क ऑफ् दि लर्नेड पतंजलि—मैक्समूलर द्वारा अपने रिनेसाँ ऑफ् सं० लिटरेचर में उद्धृत।

३. ह्वेन इत्सिग स्पीक्स ऑफ् पतञ्जलिज वर्क एज ए कमेण्टरी ऑन दि वृत्तिसूत्र ऐण्ड ऑफ् जयादित्य काशिका आर सम वर्क ऑफ् जयादित्य आर हैज बीन मिस अण्डरस्टुड आर मिस ट्रान्सलेटेड लेटर।—कलेक्टेड वर्क्स ऑफ् भण्डारकर, भाग १, पृ० १५८।

खण्ड २

भारत की भौगोलिक स्थिति

साथ वही है,' जो बौधायन धर्मसूत्र या वासिष्ठ धर्मशास्त्र की है। वासिष्ठ धर्मशास्त्र ने पारियात्र के अतिरिक्त विन्ध्य भी आर्यावर्त्त की दक्षिणी सीमा माना गया है।[२] बौधायन ने आरट्ट, कारस्कर, पुण्ड्र, सौवीर, वंग और कलिंग को पतित देश कहा है तथा इनमें जानेवालों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है।[३] भाष्यकार ने भी शकयवनादि देशों को निरवसित या बहिष्कृत माना है और इनकी वही स्थिति स्वीकार की है, जो चातुर्वर्ण्य में शूद्रों की थी। बौधायन के समान वे भी आरट्ट या वाहीक देश को पतित मानते थे। उन्होंने कहा है कि यद्यपि मूर्खत्वादि गुणों के साम्य के कारण वाहीक-वासी को गो या पशु कह देते हैं, किन्तु जहाँ गो या अज के बलि-प्रदान का विधान होता है, वहाँ वाहीक की बलि नहीं दी जाती।[४]

प्रादेशिक विभाग—दिशाओं के आधार पर भी पतंजलि ने भारत के विभाग किये हैं। आर्यावर्त्त की सीमा से मिले हुए वाहीक-प्रदेश से आगे के स्थलों को उन्होंने उदीच्य[५] कहा है और विन्ध्य या पारियात्र से दक्षिण की ओर के प्रदेश को दक्षिणापथ। इस प्रदेश के निवासी दाक्षिणात्य कहलाते थे। उन्होंने कात्यायन (वार्त्तिककार) को भी दाक्षिणात्य[६] कहा है और दाक्षिणात्यों की एक विशेषता बतलाई है—उनका तद्धितान्त प्रयोगों के प्रति प्रेम। कहा नहीं जा सकता कि दाक्षिणात्य से उनका आशय आर्यावर्त्त के अन्तर्गत दक्षिण प्रदेश से था या दक्षिणापथ से। वर्त्तमान भारतीय भाषाओं में मराठी की प्रवृत्ति तद्धितान्त प्रयोगों की ओर सर्वाधिक है। इससे अनुमान होता है कि यह दाक्षिणात्य प्रदेश महाराष्ट्र रहा होगा। दक्षिण में वे न केवल चोल, केरल और पाण्ड्य जनपदों तथा कन्याकुमारी, अनूप, नासिक्य आदि नगरों से परिचित थे, अपितु इन स्थानों की भाषागत विशेषताओं को भी जानते थे। उन्होंने कहा है कि दक्षिणापथ में बड़े-बड़े सरों को सरसी कहते हैं।[७] उदीच्य और प्रतीच्य सीमान्त-प्रदेशों के भी अनेक आर्य और आर्येतर जनपदों का उल्लेख उन्होंने किया है। कम्बोज, गान्धार, वाह्लीक, शैब, दारद, सिन्धु, सौवीर काश्मीर, शैव एवं वासात् जनपदों तक की उन्हें जानकारी थी।

पतंजलि ने दक्षिणापथ को छोड़कर शेष भारत को प्राचीन और उदीचीन भागों में बाँटा है।[८] यद्यपि इन शब्दों के साथ उन्होंने प्रतीचीन शब्द का भी उल्लेख किया है, किन्तु किसी प्रतीचीन नगर या ग्राम का वर्णन नहीं किया है। उदीच्य ग्राम और वाहीक ग्राम दोनों का पृथक्-पृथक्

---

१. शिष्टाः खलु विगतमत्सरा निरहङ्कारा. कुम्भीधान्याः अलोलुपा दम्भदर्पलोभमोहक्रोधविवर्जिताः।—बौधा० १-१-५ तथा शिष्टः पुनरकामात्मा।—वासिष्ठ, १-६।

२. उत्तरेण हि विन्ध्यस्य।—वासिष्ठ, १-९।

३. आरट्टान् कारस्करान् पुण्ड्रान् सौवीरान् कलिङ्गान् प्रानूनानिति च गत्वा पुनस्तोमेन यजेत सर्वपृष्ठया वा।—बौधा० १-१-१५।

४. ८-३-८३, पृ० ४५८।

५. ४-२-१०४, पृ० २०५।

६. प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः।—आ० १, पृ० १८।

७. दक्षिणापथे महान्ति सरांसि सरस्य इत्युच्यन्ते।—१-१-१९, पृ० १९०।

८. ५-४-८, पृ० ४८५।

उल्लेख इस ओर संकेत करता है कि उदीच्य देश पूर्वी पंजाब से ऊपर का क्षेत्र माना जाता था।[1] इन दोनों से भिन्न 'प्राचाम्' ग्राम-नगर थे।[2] पाणिनि ने 'प्राचाम्' मत अनेक बार उद्धृत किया है। उनकी दृष्टि मे कुरुक्षेत्र और पचाल प्राच्यदेश थे। पतजलि ने उदीच्य और प्राच्य शब्दों का प्रयोग दो अर्थो मे किया है। पाणिनीय सूत्रो से जिन स्थानों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, उनके सम्बन्ध मे उन्होंने उसी अर्थ मे इन शब्दों का व्यवहार किया है, जिस अर्थ में पाणिनि ने। किन्तु, जहाँ स्वतन्त्र रूप से इन शब्दो का प्रयोग हुआ है, वहाँ प्राच्य का अर्थ 'आर्यावर्त्त से पूर्व का प्रदेश' है, जिसमे विदेह, वृजि, मगध आदि थे। इस प्रकार, पाणिनि और पतजलि के प्राच्यदेश भिन्न-भिन्न है।

आर्यावर्त्त की सीमा के भीतर भी प्राच्य, उदीच्य और मध्यम विभाग थे।[3] पतजलि द्वारा उल्लिखित प्राच्यादि चरण आर्यावर्त्त की सीमा के ही भीतर थे।

आर्यावर्त्त मे रहनेवाले शिष्ट लोगों के लिए भाष्य मे सामान्यतया आर्य शब्द का प्रयोग है, किन्तु बाह्य लोगों का अभिधान उनके प्रदेश के नाम से हुआ है। उदाहरणार्थ—उन्होने कहा है कि गति अर्थ मे 'शव' धातु का व्यवहार कम्बोजो मे ही होता है। आर्य लोग विकार अर्थ मे ही इसका प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार, जाने के अर्थ मे सुराष्ट्र मे 'हम्म' धातु प्रचलित है, प्राच्य और मध्य देशो मे 'रह्' तथा आर्यो मे 'गम्'। प्राच्यों मे काटने के अर्थ मे 'दाति' शब्द का प्रचार है, किन्तु उदीच्य देशों मे 'दात्र' का।[4] प्राच्य-मध्य या प्राच्य और मध्यदेश से उनका क्या आशय है, यह उन्होने स्पष्ट नही किया है। वास्तव मे, भाष्यकार के प्राच्य, प्राच्य-मध्य, मध्यम, दाक्षिणात्य, प्रतीच्य आदि देशो के बीच कोई निश्चित सीमारेखा नही है। स्थूल रूप से आर्यावर्त्त को केन्द्र मानकर उन्होंने इन शब्दो का प्रयोग किया है।

पूर्व मे अंग वग, सुह्म और पुण्ड्र तक से उनका परिचय था।

जनपद और विषय—पतजलि ने जनपद, विषय, निवास और देश शब्दों का प्रयोग भिन्न अर्थो मे किया है। जनपद किसी-न-किसी क्षत्रिय जाति के नाम पर बने थे। कोई क्षत्रिय जाति जितने प्रदेश पर अधिकार करके वहाँ बस गई, उतना प्रदेश उस क्षत्रिय जाति के नाम पर पुकारा जाने लगा। कम्बोज, गान्धार, काश्मीर, अंग, वंग, चोल, केरल, अवन्ति आदि इसी अर्थ मे जनपद थे। कभी-कभी एक 'जन' की स्थिति दुर्बल हो जाती थी और दूसरा 'जन' उसके प्रदेश पर अधिकार कर लेता था। ऐसी स्थिति मे प्रथम लोगों का वह निवासमात्र रह जाता था और द्वितीय जन का विषय या विषयाभिधान जनपद बन जाता था। भाष्य ने जहाँ किसी प्रदेश को

---

१. अष्टा० ४-२-१०९ तथा ११७; भाष्य ४-२-१०४, पृ० २०५-६।

२. ७-३-१४, पृ० १७९।

३. त्रयः प्राच्याः, त्रयः उदीच्याः, त्रयो मध्यमाः सर्वे निवासलक्षणाः।—४-२-१३८, पृ० २१८।

४. शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु रंहतिः प्राच्यमध्येषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्र-मुदीच्येषु।—आ० १, पृ० २१।

किन्ही लोगों का निवास कहा है, वहाँ उनका तात्पर्य केवल निवास से है, यह आवश्यक नही कि वहाँ उनका आधिपत्य भी हो। उदाहरणार्थ—मालावत लोगो का निवास मालावत-प्रदेश था।[1] विषय का अर्थ अधिकृत देश था। यह आवश्यक नही कि अधिकारी 'जन' उस प्रदेश के निवासी भी हो। उदाहरणार्थ—शैव, वासात्, गान्धार, वग, सुह्म, पुण्ड्र, राजन्य दैवयातव आदि विषय इन प्रदेशो पर सम्बद्ध जातियो के अधिकार को सूचित करते है। सम्भव है, इनमे किसी जाति का ऐसा विषय भी हो, जिसमे वह रहती न हो।[2] देश शब्द सामान्यतया स्थान का द्योतक था। उसका विशेष नाम दो कारणो से पडता था। किसी जाति का निवास होने के कारण या उसके अभिजन-सम्बन्ध से। कोई देश तब किसी जाति का निवास कहला सकता था, जब वह जाति वहाँ बसती हो। अभिजन के लिए वर्त्तमान काल मे रहना आवश्यक न था।[3] पूर्वजो के निवास अभिजन माने जाते थे। भाष्य मे जनपद शब्द ग्राम-समूह के अर्थ मे कई बार प्रयुक्त हुआ है। जातिविशेष, उसके जनपद और उस जनपद के राजा के लिए एक ही शब्द का व्यवहार होता था।[4]

जनपदो मे कभी-कभी दो या अधिक सयुक्त हो जाते थे। तब वे जनपद-समुदाय कहलाते थे।[5] क्षुद्रक-मालव या काशी-कोशल इस प्रकार के जनपद-समुदाय थे। किसी-किसी जनपद के अन्तर्गत कई छोटे-छोटे जनपद उसके प्रान्त-रूप मे होते थे। इन्हे जनपदावयव कहते थे।[6] साल्व के कई घटक साल्वावयव के नाम से प्रसिद्ध थे। कुछ जनपद मिलकर एक सघ बना लेते थे। त्रिगर्त्तषष्ठ इस प्रकार का जनपद-सघ था।[7] एक ही जनपद के प्रान्तो मे सीमा पर के छोटे जनपद जनपदावधि कहे जाते थे।[8]

देश—देश शब्द का प्रयोग जनपद, विषय या निवास अर्थ के अन्तर्भाव के विना ही होता था। इसी आशय से भाष्यकार ने कहा है कि जो शब्द एक देश मे प्रयुक्त नही होते, वे देशान्तर मे प्रयुक्त होते है। देशो मे कम्बोज, सुराष्ट्र आदि भी गृहीत होते थे और प्राच्य, मध्य आदि भी, इसी सामान्य अर्थ मे भाष्य मे प्राचा देश, उदीच्य देश या दाक्षिणात्य देश शब्दो का व्यवहार[9] है और लोहितगग, उन्मत्तगग, द्वीरावतीक, निर्ग आदि का भी।[10] इन स्थानो मे देश शब्द छोटे-से क्षेत्र का वाचक है। बस्ती या निवास के साथ उसका कोई सम्बन्ध नही।

राष्ट्र—राष्ट्र शब्द का भी व्यवहार पतजलि ने किया है, किन्तु उसका निश्चित स्वरूप

---

१. ४-२-७२, पृ० १९५।
२. ४-२-५२, पृ० १८४।
३. निवासो नाम यत्र सम्प्रत्युष्यते अभिजनो नाम यत्र पूर्वैरुषितम्।—४-३-९०,पृ० २४४।
४. ४-१-१६, पृ० १६२।
५. ४-१-५४, पृ० ६८।
६. ४-२-११३, पृ० २१७ तथा ४-१-१७३।
७. ५-३-११६, का०।
८. ४-२-१२४, पृ० २१५।
९. आ० १, पृ० २१।
१०. १-४-१, पृ० १०७।

उन्होंने उपस्थित नही किया है। पाणिनि और पतंजलि दोनों से इतना संकेत अवश्य मिलता है कि राष्ट्र किसी राजा के अधीन प्रदेश को कहते थे।[१] उसमे किसी जाति-विशेष के निवास-स्थान या उसके द्वारा अधिकृत विषय होने का अर्थ निहित नही था। 'नेशन' के अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग कही भी नही हुआ है।

तीर्थ—अनेक जनपदों, उनमे निवास करनेवाली जातियों, पर्वतो, पर्वतीय निवास-देशो, उनमे बसी जातियो, नगरो, ग्रामों और नदियो से परिचय पाने के बाद भी महाभाष्य के पाठको को यह देखकर आश्चर्य होता है कि सम्पूर्ण भाष्य मे किसी स्थल का तीर्थ के रूप मे उल्लेख नही है। इतना ही नही, तीर्थ शब्द तक केवल एक बार आया है और वह भी गुरुकुल के अर्थ मे।[२]

समुद्र—भाष्यकार के भारत का दर्शन तबतक पूर्ण नही होता, जबतक तीन सीमान्तो पर उसका पाद-प्रक्षालन करनेवाले समुद्रो का दर्शन न कर लिया जाय। उन्होंने वाडव-सहित समुद्र का अनेक बार उल्लेख किया है।[३] जिस प्रकार हिमालय के समानार्थी अनेक शब्दों मे केवल हिमवान् से उन्हे प्रेम है, उसी प्रकार सागर के अनेक पर्यायो मे समुद्र से। सागर ही नही, सागर से सम्बद्ध प्रदेशो मे कच्छ, द्वीप, अनूप, अन्तरीप और अन्वीप नाम भाष्य मे आये है।[४] कन्यानूप से तो वे परिचित थे ही।

सांस्कृतिक एकता—पतजलि द्वारा वर्णित देश के भीतर हिन्दूकुश से हिन्द-महासागर तक (जिसमे अफगानिस्तान का भी अधिकाश सम्मिलित है) तथा कच्छ-काठियावाड से आसाम तक का सारा क्षेत्र आ जाता है। इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि जो जातियाँ इस क्षेत्र के भीतर रहती रही है, वे रहन-सहन के सामान्य भेदो के होते हुए भी कुछ सामान्य सूत्रो मे आबद्ध थी। इनमे सबसे बढ़कर एकसूत्रता भाषा की थी।

---

१. यो हि राष्ट्रे प्रायेण भवति तत्र भवोसौ भवति।—४-३-३९, पृ० २३३।
२. २-१-४२, पृ० २९४।
३. ८-१-४, पृ० २६४।
४. १-१-६७, पृ० ४२१ तथा १-४-९, पृ० १३६।

अध्याय २

पर्वत और अरण्य

हिमवान्—आर्यावर्त्त की सीमा के वर्णन-प्रसग मे भाष्यकार ने हिमवान् और पारियात्र का उल्लेख किया है।[1] हिमवान् भारत की उत्तरी सीमा का प्रहरी रहा है। यह नाम सार्थक था, क्योकि इसकी चोटियों पर बारहो मास बर्फ जमी रहती है। हिमवान् की शृग-श्रेणियाँ 'हिम्य' कही जाती थी।[2] हिम की अधिकता के कारण यह सज्ञा दी गई थी। इसके ठीक विरुद्ध वे पर्वत हैं, जिनपर हिम का लेशमात्र नही रहता। ये पर्वत 'हिमेलु' कहे जाते थे।[3] भाष्यकार हिमालय की महत्ता, तुगता और विस्तार से परिचित थे।[4] उन्होंने गुरुता के प्रतीक के रूप मे उसका वर्णन किया है।[5] हिमालय पर जमनेवाली बर्फ का अम्बार 'हिमानी' कहलाता था।[6] शृगो पर जमी हुई बर्फ ग्रीष्म काल मे पिघलती है, जिससे नदियो मे पूर आता है। भाष्य मे इसे 'हिमश्रथ' कहा है।[7] हिमश्रथ हिमालय से निकलनेवाली नदियो को सतत जल प्रदान करता रहता है। इन नदियो मे गगा का उल्लेख भाष्य मे विशेषत हुआ है।[8]

हिमश्रृंग—भाष्य मे हिमालय की दो चोटियो के नाम मिलते है। ये चोटियाँ 'सौर्य'[9] कहलाती थी, जिनके कारण हिमालय का एक नाम 'सौर्यी' भी था। सौर्य-शृग कौन-से हैं, यह पता अभी तक नही लग सका है। 'प्रस्थ' भी हिमालय के दो शृग बतलाये गये हैं। प्रस्थ सौर्य-शृगो का ही दूसरा नाम था या अन्य किन्ही शिखरों का, अथवा पर्वत के ऊपर की सपाट भूमि के अर्थ मे प्रस्थ शब्द आया है, यह निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन है। भाष्यकार ने सौर्य और प्रस्थ दोनो का प्रयोग द्विवचन मे किया है, जिससे यह अनुमान होता है कि वे हिमालय की किन्ही दो चोटियो से अवश्य परिचित थे। सौर्य-शृगो के कारण ही हिमालय का नाम सौर्यी पडने से इतना तो निर्विवाद है कि सौर्य किसी विशेष चोटी का नाम था, सामान्य सज्ञा शब्द नही था। प्रस्थ के

---

१. २-४-१०, पृ० ४६५।
२. ५-२-१२०, पृ० ४२०।
३. ५-२-१२२, पृ० ४२१।
४. ५-३-५५, पृ० ४४५।
५. १-४-१३, पृ० १४०।
६. ४-१-४९, पृ० ६३।
७. १-१-४, पृ० १३३।
८. १-४-३१, पृ० १६६।
९. सौर्यो हिमवतः शृङ्गे। तद्वान् सौर्यी हिमवान्।—१-१-५७, पृ० ३७१।

विषय मे यह बात नही कही जा सकती। फिर भी, प्रस्थ हिमालय की ही चोटियाँ थी। अन्य किसी पर्वत की चोटी के लिए यह शब्द प्रयुक्त नही होता था। 'प्रस्थे हिमवत. शृङ्गे'[1] का अर्थ यह भी हो सकता है कि हिमालय की दो चोटियाँ प्रस्थ (ऊपर समतल स्थानवाली) है। हिमवान् का एक शृग गौरीशकर मध्य मे नीचा होकर पूर्व और पश्चिम छोरो पर ऊँचा है। इस कारण वह एक होकर भी 'द्विवत्' प्रतीत होता है। सभव है, इसी शृग को प्रस्थ कहते हों।

भाष्यकार ने हिमालय को गमनशील कहा है। यह उससे पिघलकर बहनेवाली वर्फ या निकलनेवाली नदियों को लक्ष्य कर कहा गया है।[2] सामान्यतया पर्वत त्रिकाल-स्थिर कहे गये हैं।[3]

त्रिककुत्-श्रेणी—प्राचीन ग्रन्थो मे हिमालय के अनेक नाम मिलते है, किन्तु पतजलि ने सर्वत्र हिमवान् शब्द का ही प्रयोग किया है। हिमालय का विस्तार सुलेमान पर्वत-श्रेणी से लेकर भारत की समस्त उत्तरी सीमा आसाम तथा पूर्व मे अराकान पर्वत-श्रेणियो तक माना गया है। पाणिनि भी इससे परिचित थे। उन्होने त्रिककुत् का उल्लेख किया है, जो काशिकाकार के अनुसार ककुदाकार शृगोवाले पर्वत-विशेष का नाम था।[4] तीन शिखरोवाले अन्य पर्वत त्रिककुद् कहे जाते थे। किंशुलकादि गण के साल्वकागिरि, अजनागिरि, भजनागिरि, लोहितागिरि और कुक्कुटागिरि सुलेमान और समीपवर्त्ती पर्वत-श्रेणियो के नाम थे।[5] इनमे कुक्कुटागिरि का उल्लेख तो पालि-ग्रन्थो मे भी मिलता है।[6] अजनागिरि का उल्लेख रामायण के किष्किन्धाकाण्ड (३७-५) मे है। यह सुलेमान पर्वत का ही प्राचीन नाम है। यह बलूचिस्तान को पजाव और पश्चिमोत्तर प्रदेश से पृथक् करता है। इसकी सबसे ऊँची चोटी तख्ते सुलेमान ११२९५ फुट ऊँची है। इसी प्रकार अजनागिरि का वर्णन जातक (५-४५१) मे पाया जाता है। पाणिनि ने आयुधजीवियो के निवास-पर्वतो की चर्चा की है और काशिकाकार ने उनमे हृद्गोल, अन्धकवर्त्त, रोहितगिरि एव ऋक्षोद नाम गिनाये हैं।[7] ये सब भी सुलेमान पर्वत-श्रेणी के ही अग हैं। हृद्गोल का प्राकृत नाम हिंगुल है, जो अघोर या हिंगुला नदी के किनारे, समुद्र-तट से कोई २० मील की दूरी पर पर्वत-श्रेणी के छोर के रूप मे बलूचिस्तान मे अवस्थित है।[8] जातक (५-४१५) मे भी हिंगुलागिरि हिमालय मे ही बतलाया गया है। लोहितागिरि हिन्दूकुश पर्वत का पुराना नाम है, जिसके आधार पर अफगानिस्तान को प्राचीन काल मे रोह नाम दिया गया था। पतजलि

---

१. ३-३-५८, पृ० ३०८।

२. हिमवानपि गच्छति।—३-२-१२३, पृ. २५६।

३. वही, पृ० २५५।

४. त्रिककुत् पर्वते ककुदाकारं पर्वतस्य शृङ्गं ककुदमित्युच्यते। न च सर्वस्त्रिशिखरः पर्वतस्त्रिककुत्। किं तर्हि? संज्ञैषा पर्वतविशेषस्य। त्रिककुदोऽन्यः।—५-४-१४७, काशि०।

५. ६-३-११७।

६. अवदान, पृ० १७८।

७. ४-३-९१।

८. दे० ज्या० डिक्श०, पृ० ७५।

का मालावत या वर्त्तमान मलाकन्द भी, जो स्वात नदी के दक्षिण मे है, इसी श्रेणी का अग है। श्री वी० सी० ला के मत से हिन्दूकुश का प्राचीन नाम माल्यवत् था।[1] रामायण और कालिदास ने माल्यवान् लका और चित्रकूट के बीच माना है। सम्भव है, मालावत ही हिन्दूकुश का प्राचीन नाम रहा हो। कापिशी के साथ भाष्यकार ने पार्दयन का उल्लेख किया है।[2] डॉ० वा० श० अग्रवाल के मत से यह किंशुलकागिरि का प्रदेश है, जिसे प्राचीन लेखको ने pardene कहा है।[3] पार्दायन शब्द, पतजलि के अनुसार, पर्दि से बना है। डॉ० अग्रवाल के मत को स्वीकृत करने पर किंशुलक, हिंगुला और पर्दि पर्यायवाची ठहरते हैं। दरद की चर्चा भाष्य मे बार-बार हुई है। दरद पर्वत-श्रेणी तथा उसके निवासियो से भाष्यकार का निकट परिचय जान पडता है।[4] दरद मे होकर वहने के कारण सिन्धु दारदी कही गई है।[5] उत्तर-पश्चिम पर्वत-श्रेणियो को छोडकर हिमवान् के अन्य भागो का उल्लेख भाष्य मे नही मिलता।

हिमवान् के अवान्तर भाग—हिमालय के तीन विभागो महाहिमवान्, क्षुद्रहिमवान् और वर्हिर्हिमवान् से भी भाष्यकार परिचित जान पडते हैं। 'जम्बुदीवपण्णति' मे भी इन विभागों की चर्चा आई है। इससे अनुमान होता है कि भाष्यकार ने 'महान् हिमवान्' का उल्लेख पूर्वीय पर्वत-माला के लिए उसके विशिष्ट अर्थ मे ही किया है। पाणिनि का 'गिरेश्च सेनकस्य' सूत्र (५-१-११२) भी इस ओर सकेत करता है कि पतंजलि-काल मे ऊँचाई और विस्तार की दृष्टि से हिमालय के अवान्तर भेद और नाम प्रचलित थे। इस सूत्र के अनुसार निष्पन्न शब्द सज्ञावाचक थे। उदाहरणार्थ—अन्तर्गिरि सन्तालपरगना जिले की राजमहल पहाडियो का एक भाग कहलाता था।[6] हिमालय की अधित्यका वहिर्गिरि कहलाती थी।[7] उपत्यका हाथियो की अधिकता के लिए प्रसिद्ध थी।[8] यह नेपाल की तराई और पूर्व का भाग है। पर्वत वृक्षो से भरे-पूरे होते हैं, यह अनुमान भाष्यकार ने हिमवान् को देखकर ही किया होगा।[9]

पारियात्र—पारियात्र आर्यावर्त्त की दक्षिणी सीमा थी। भाष्यकार ने आर्यावर्त्त की सीमा के प्रकरणो को छोडकर अन्यत्र भी हिमवान् के साथ ही पारियात्र का उल्लेख किया है।[10]

---

१. अग्रवाल: पाणिनि, पृ० ४१ तथा हिस्टा० ज्याग्रा०, पृ० १८।

२. ४-२-९९, पृ० २०३।

३. हिस्टा० ज्याग्रा०, पृ० ४०।

४. ४-१-१२०, पृ० १४१, ६-३-३४, पृ० ३२०; ६-३-४२, पृ० ३२९।

५. ४-३-८३ काशि०।

६. पार्जिटरः मार्क० पु०, पृ० ३२५ नोट।

७. ७-३-४५, पृ० १८९। श्री ला (ट्राइब्स इन ऐन इ०, पृ० ३८९) के अनुसार भागलपुर और मुंगेर के पासका पहाड़ी क्षेत्र बहिर्गिरि था।

८. ५-२-९४, पृ० ४०८।

९. वही, पृ० ४०३।

१०. ८-१-४, पृ० २६४।

धर्मसूत्र भी पारियात्र को उत्तरापथ और दक्षिणापथ के बीच सीमा-रेखा मानते है। पारियात्र का सर्वप्रथम उल्लेख बौधायन (१-१-२५) मे मिलता है। स्कन्दपुराण मे इसे भारतवर्ष के मध्य मे स्थित और कुमारीखण्ड का दूरतम छोर बतलाया है। पार्जिटर के मत से पारियात्र वर्त्तमान भोपाल के पश्चिम मे स्थित विन्ध्य भाग तथा अरावली पर्वतों का प्राचीन नाम था।[1] इसी को टालेमी (Ptolemy) ने Apokopa कहा है।[2]

विन्ध्य—विन्ध्य की चर्चा भाष्य मे आनुषंगिक रूप से ही आई है—कोई चाहे, तो छोटी-सी धान्य-राशि को विन्ध्य कह सकता है। इससे स्पष्ट है कि पतंजलि विन्ध्य की ऊँचाई से परिचित थे। इसीलिए, उन्होंने वर्धितक की उपमा हिमवान् से न देकर विन्ध्य से दी है।[3] पतंजलि काल मे विन्ध्य शब्द वर्त्तमान विन्ध्य पर्वत की उस श्रेणी के लिए प्रयुक्त होता था, जो नर्मदा और ताप्ती का उद्‌गम-स्थल है और जिसे टालेमी ने ओइण्डन (Ouindon) कहा है। विन्ध्य के विभिन्न भागो के अलग-अलग नाम थे। उदाहरणार्थ—विन्ध्य-पाद-पर्वत उस श्रेणी का नाम था, जिसे टालेमी ने Sardonyx बतलाया है। यह ताप्ती का उद्‌गम-स्थल सतपुडा-श्रेणी है।

विदूर—विदूर पर्वत वैदूर्य मणि का प्रभव माना जाता था। वास्तव मे, इसका नाम बालवाय था, किन्तु वैयाकरण विदूर कहते थे।[4] वैदूर्य मणि विदूर मे उत्पन्न नही होती थी, वहाँ उसका सस्कार किया जाता था।[5] विदूर सतपुडा की उस श्रेणी को कहते थे, जिससे होकर ताप्ती की सहायक नदियाँ पयोष्णी और नर्मदा बहती है।[6] यह गुजरात-प्रदेश मे है। महाभारत के अनुसार अगस्त्य का आश्रम इस पर्वत पर था। सह्याद्रि से सबद्ध सबसे महत्त्वपूर्ण पर्वत यही है। पश्चिमी घाट-श्रेणी का उत्तराचल इसके अन्तर्गत था, किन्तु महाभारत के अनुसार इसमे दक्षिणी विन्ध्य का एक भाग तथा सतपुडा-श्रेणी सम्मिलित थी।

खलतिक—खलतिक पर्वत के चारो ओर के वन भी खलतिक कहलाते थे।[7] पतंजलि के अतिरिक्त अशोक के गुफा-लेखो (स० २, ३) मे भी इसका उल्लेख है। गया के उत्तर और राजगृह के पश्चिम मे स्थित वर्त्तमान बराबर पहाडियो का ही दूसरा नाम खलतिक था।[8]

अरण्य

पतंजलि के समय मे देश का एक बड़ा भाग वनों या अरण्यो से घिरा था। आरण्य पशु

---

१. ला : भाउ० ऑफ् इण्डिया, पृ० १७-१८।
२. मैक्रिंडिल : टालेमी, पृ० ३५५।
३. २-३-५०, पृ० ४४२।
४. वैयाकरणाः वालवायं विदूर इत्युपाचरन्ति।—४-३-८४, पृ० २४३।
५. अयुक्तोऽयं निर्देशो न ह्यसौ विदूरात् प्रभवति, विदूरे संस्क्रियते।—वही।
६. महाभारत, ३-१२१-१६ से १९।
७. खलतिकस्य पर्वतस्यादूरभवानि खलतिकं वनानि।—१-२-५२, पृ० ५५५।
८. जर्नल ऑफ् बंगाल ओरियण्टल रिसर्च सोसायटी, जिल्द १, भाग २, पृ० १६२।

आखेट की वस्तु थे। वन्य पशुओ और पक्षियों का शिकार अनेक लोगो का नियमित व्यवसाय था। अरण्य गम्य और अगम्य दोनो प्रकार के थे। देवीपुराण (अध्याय ७४) मे वर्णित नौ यावन अरण्यो मे दण्डकारण्य प्राय अगम्य माना जाता था। इन नौ महावनो मे ही कुरु-जागल भी था। जिसकी ओर पाणिनि (७-३-२५) ने सकेत किया है। भाष्यकार इससे अवश्य परिचित रहे होगे, यद्यपि उन्होंने उसका प्रत्यक्ष उल्लेख नही किया है।

महाभाष्य मे वन, अरण्य और कान्तार शब्द मिलते हैं। यात्री कान्तार मे होकर जाते समय लुट जाने के डर से दलवद्ध होकर चलते थे। जगल-पथ, कान्तार-पथ और उनसे लाई जानेवाली वस्तुओ से भाष्यकार परिचित थे।[1] उन्होंने आरण्यक पशु, मनुष्य, हस्ती, सुमनस् और विहार का भी उल्लेख किया है।[2] हस्ती अरण्यो से ही पकडकर लाये जाते थे। देवीपुराण के नौ महावनो मे हिमालय का महावन हाथियो के लिए प्रसिद्ध रहा है। इसी को भाष्यकार ने हस्तिमती उपत्यका कहा है।[3] सभवत यह उपत्यका पारिलेय्यक वन-राजि थी, जो हाथियो के लिए प्रसिद्ध थी और कौशाम्बी से कुछ दूर पर श्रावस्ती के मार्ग मे पडती थी। आर्यावर्त्त की पूर्वी सीमा पर प्रयाग के पास विस्तृत कालक वन था। खलतिक के समान कालक पर्वत और वन दोनो का नाम था। मोनियर विलियम्स ने कालक वन को पर्वत माना है।[4] नीचे उतरकर खलतिक पर्वत के पास-पडोस खलतिक वनो की पक्ति थी, जो एक ओर गया, दूसरी ओर राजगृह और तीसरी ओर गिरिव्रज को छूती थी।[5] कोटरावन, मिश्रकावन, सिध्रकावन, सारिकावन, पुरगावन, अग्रेवन, जिनका उल्लेख पाणिनि ने किया है, वन-विशेषो के नाम थे, किन्तु आज उनके ठीक स्थान का पता चलाना कठिन है।[6] मिश्रकावन सम्भवत वर्त्तमान मिशरिख तीर्थ का समीप-वर्त्ती वन था। इसके पास ही नैमिषारण्य महावन था। मिशरिख वर्त्तमान नीमसार (नैमिष) के समान तीर्थ भी है, जो सीतापुर (उत्तरप्रदेश) जिले मे स्थित है।

पाणिनि द्वारा ही उल्लिखित शरवन, इक्षुवन, प्लक्षवन, आम्रवन, कार्ष्यवन, खदिरवन और पीयूक्षावन विशिष्ट वन भी थे और इन वृक्षो के सामान्य वन भी। विशिष्ट वनो के विषय मे आज कुछ ज्ञात नही है।[7] भाष्यकार ने देवदारु-वन, इरिका-वन और तिमिर-वन का उल्लेख किया है।[8] देवदारु-वन हिमालय के भवाली तथा अन्य क्षेत्रो मे पाये जाते हैं। तिमिर-वन नदी-तट पर उगनेवाली झाऊ की झाडियो को कहते थे। तिमिर अरहर की लकडी के बराबर मोटी और ऊँची होती है। इरिका नामक वृक्ष-विशेष की झाडियाँ ही इरिका-वन कहलाती थी।

---

१. ५-१-७७, पृ० ३३८।
२. ४-२-१०४, पृ० २०४ तथा ४-२-१२९, पृ० २१६।
३. ५-२-९४, पृ० ४०८।
४. १-२-५२, पृ० ५५५।
५. २-४-१०, पृ० ४६५।
६. संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी।
७. ८-४-४, ५।
८. ८-४-६, पृ० ४७८।

ये किन्ही विशेष वनों के नाम नही मालूम होते। इसी प्रकार, प्रर्षभवन[1] ऋषभ नामक बूटी या वनस्पति के वनों का सामान्य नाम था।

भाष्यकार ने वन शब्द का प्रयोग वनस्पति या वृक्षों के समूह के अर्थ मे भी किया है। वन के लिए यह आवश्यक न था कि वह कोस-दो कोस या अधिक विस्तृत हो। ऋग्वेद मे वन शब्द का अर्थ वृक्ष भी है।[2] इसी अर्थ मे भाष्यकार ने वनगुल्म शब्द का प्रयोग किया है, जिसका स्मरण कोकिल बार-बार कहता है।[3] आगे चलकर वन वृक्ष-समूह का बोधक माना गया। फिर, समूह प्रधान बन गया एव वृक्ष अर्थ लुप्तप्राय हो गया। ऋग्वेद मे तो बस्ती से दूर होने के कारण लाक्षणिक अर्थ मे वन शब्द का प्रयोग परदेश या दूर प्रदेश के अर्थ मे भी हुआ है।[4] भाष्यकार ने शिरीष-वन का उल्लेख किया है। शिरीष-वन के समीपवर्त्ती गाँव का नाम भी सामीप्य-सम्बन्ध से शिरीषा (वर्त्तमान सिरसा) पड गया था। वन का पर्यायवाची अरण्य शब्द, जो अरणि या परस्पर रगड़ से आग उत्पन्न करनेवाली लकड़ी से बना है, इस बात का द्योतक है कि प्राचीन काल मे वन शब्द एक वृक्ष के लिए भी प्रयुक्त होता था।

कोस-भर तक लगातार हरी-भरी और मनोरम दिखनेवाली वनराजि का उल्लेख भाष्यकार ने किया है।[5] वे छोटे-बडे दोनो प्रकार के अरण्यों से परिचित थे। बड़े अरण्य अरण्यानी कहे जाते थे।[6]

गुहा—भाष्य मे गुहा शब्द केवल एक बार आया है। गिरि-गुहा के लिए ही इस शब्द का प्रयोग प्रचलित बतलाया गया है।[7] अन्य अर्थ मे गूढि शब्द व्यवहृत होता था। सुप्रसिद्ध किष्किन्धा-गुहा से भी भाष्यकार परिचित थे।[8]

मरुस्थल—मरुप्रदेश को भाष्यकार ने धन्वन् कहा है। उन्होंने पारेधन्वन् और पारेधन्वक प्रदेश की चर्चा की है। सम्भवत., यह स्थान मारवाड़ के उस पार का होगा, यदि उस समय मारवाड़ मरु रहा हो, यद्यपि इसमें सन्देह है।[9] दूसरा मरुस्थल था अष्टक, जिसमे रहनेवाले को आष्टकीय कहते थे। यह अटक जिले का धन्नी क्षेत्र है, जो उस समय रेगिस्तान था।[10]

---

१. १-४-६०, पृ० १९१।
२. ऋग्० ७-१-१९।
३. १-३-६७, पृ० ८७।
४. ऋग्० ७-१-१९।
५. २-३-५, पृ० ४०९।
६. ४-१-४९, पृ० ६३।
७. गुहा गिर्योषध्योरिति वक्तव्यम्। गूढिरन्या।—३-३-१०४, पृ० ३१४।
८. ६-१-१५७, पृ० १९४।
९. ४-२-१०४, पृ० २१३।
१०. अष्टकं नाम धन्वस्तस्माद्भवं प्राप्नोति आष्टकीयः।—वही।

अध्याय ३

नदियाँ

सिन्धु—महाभाष्य मे पर्वतो के साथ-साथ सम्पूर्ण आर्यावर्त्त और उससे बाहर भारत मे बहनेवाली बहुत-सी नदियो के नाम आये हैं। इनमे भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त देश सिन्धु तथा पजाब मे बहनेवाली सिन्धु-समूह की नदियाँ प्रमुख हैं। ऋग्वेद की इक्कीस नदियो मे सात का ही उल्लेख भाष्यकार ने किया है। ऋग्वेद मे सिन्धु का महत्त्व सर्वाधिक है। इसमे सिन्धु इस प्रकार जनों का पोषण करनेवाली कही गई है, जैसे माता पुत्रो का या गो दुग्ध से मनुष्यो का पालन करती है।[1] नदीसूक्त (१०-७५) मे, जो प्रियमेध-परिवार के सिन्धुक्षित की रचना है, सिन्धु का वर्णन अन्य सब नदियो से अधिक हुआ है। वह देवताओ के समान रथ पर चलती कही गई है।[2] इस सूक्त की छठी और आठवी ऋचाओ मे भी उसमें देवत्व की प्रतिष्ठा की गई है।[3] ऋग्वेदकालीन सभ्यता का निर्माण नदियो के किनारे पर हुआ था। इस काल मे घटनाओ और व्यक्तियो के नाम तक नदियो के नाम पर रखे जाते थे। महाभाष्य-काल की स्थिति भिन्न थी। उस समय सभ्यता का केन्द्र सिन्धु-प्रदेश के बदले आर्यावर्त्त बन गया था, जिसकी सीमा सरस्वती के नीचे की ओर थी। इसीलिए भाष्यकार ने सिन्धु-समूह की अपेक्षा गगा-समूह की नदियो का उल्लेख अधिक किया है।

सप्त सिन्धव·—सिन्धु का स्वतन्त्र उल्लेख भाष्य मे केवल एक बार ऋग्वेद के एक उद्धरण के अन्तर्गत हुआ है।[4] इससे पता चलता है नौका द्वारा सिन्धु पार की जाती थी, यद्यपि यह काम कठिन माना जाता था। एक स्थान पर उद्धरण के भीतर ही सप्त सिन्धुओ की भी चर्चा आई है।[5] प्राचीन काल के आर्य देश का वर्णन सात सिन्धुओ, सरस्वतियो, गगाओ या नदियो के द्वारा करने की परिपाटी रही है। ऋग्वेद-काल में सम्पूर्ण आर्याविष्ठित प्रदेश का वर्णन 'सप्त सिन्धवः' कहकर किया जाता रहा।[6] पजाब की पाँच नदियाँ, सरस्वती या कुभा (काबुल) और सिन्धु मिलकर 'सप्त सिन्धव.' कही जाती थी। जब आर्यावर्त्त का विस्तार आसमुद्र हो गया,

---

१. अभित्वा सिन्धो शिशुमिन् न मातरो वाश्रा अर्षन्ति पयसेव धेनवः। —ऋग्० १०-७५-४।

२. सुखं रथं युयुजे।—ऋग्० १०-७५-९।

३. वही, ऋग्० ६, ८।

४. सनः सिन्धुमिव नावया।—७-१-३९, पृ० ४५।

५. आ० १, पृ० १०।

६. ऋग्० १०-७५-४।

तब गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी ये 'सप्तसिन्धु' कहलाने लगी।[1] बौद्धो के मध्यदेश की भी वाहुका, अधिकक्का, गया (फल्गु), सुन्दरिका, सरस्वती, प्रयाग (गंगा-यमुना-सगम) और वाहुमती ये सात ही पवित्र नदियाँ है।[2] विसुद्धिमग्ग मे इनके स्थान पर गंगा, यमुना, सरयू, सरस्वती, अचिरवती, माही और महानदी ये सात नाम मिलते हैं।[3] चन्द्र के मेहरौली स्तम्भ-लेख मे सिन्धु के सात मुख वतलाये गये है। ये समुद्र मे मिलने से पहले सिन्धु की सात धाराएँ है। ये भी 'सप्त सिन्धु' कही जाती रही है।[4]

सिन्धु-समूह—सिन्धु तिव्वत के पश्चिम भाग मे कैलास पर्वत के उत्तर-पूर्व मे स्थित मानस झील से निकलकर पहले दो धाराओ मे वहती है, जिनमे एक धारा कैलास के उत्तर-पश्चिम की दिशा मे चली जाती है और दूसरी दक्षिण-पश्चिम दिशा मे। प्लिनी के अनुसार सिन्धु-समूह मे उन्नीस नदियाँ गिनी जाती थी, जिनमे सर्वाधिक महत्त्व की नदी सतलज (Hesydrus) है। सिन्धु भारत की पश्चिमी सीमा मानी जाती रही है।[5] नदीसूक्त मे सिन्धु की कई सहायक नदियो का उल्लेख है। इनमे कुभा का आधुनिक नाम कावुल है, जिसे ऐरियन (Arrian) ने Kophes कहा है और पुराणो ने 'कुहु'। इसी मे सुवास्तु या स्वात और गौरी (पजकोरा) मिलती है। वैदिक क्रमु, जिसे अव कुर्रम कहते है, तची नामक नदी को आत्मसात् कर सिन्धु मे मिलती है। गोमती या गोमल इसकी पश्चिमी सहायक नदी है।[6]

सिन्धु-समूह की नदियाँ—सिन्धु की पूर्वी सहायक नदियो मे चन्द्रभागा (चेनाव), वितस्ता (झेलम), इरावती (रावी) और विपाशा (व्यास) है। चन्द्रभागा नदी का परिगणन वाह्वादि गण मे हुआ है।[7] यही ऋग्वेद की असिक्नी है, जिसे ऐरियन ने Akesines कहा है। इरावती का उल्लेख काशिकाकार[8] ने द्वन्द्व के एकत्व-प्रसग मे उद्ध्य के साथ किया है। इसे ग्रीक इतिहास-कारो ने Hydraodis, Adris या Rhonadis कहा है। यह सर्वप्रथम काश्मीर मे चम्व के दक्षिण-पश्चिमी किनारे पर दिखाई देती है। वहाँ से लाहौर होकर दक्षिण-पश्चिम की ओर वहती हुई वितस्ता और चन्द्रभागा की सयुक्त धारा मे मिल जाती है। विपाट्, विपाशा या व्यास पीरपजाल गिरिमाला से निकलकर काश्मीर मे रावी के उद्गम-स्थल चम्व के पास ही दृष्टिगोचर होती है और फिर दक्षिण-पश्चिम की ओर वहती हुई २९० मील के वाद शुतुद्रि मे मिलती है। इसे ग्रीक लोगो ने Hypases या Hyphasis कहा है। भाष्यकार ने विपाशा और शुतुद्रि दोनो

---

१. गङ्गा यमुना चैव गोदा चैव सरस्वती।
नर्मदा सिन्धु कावेरी जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

२. मज्झिमनिकाय १, पृ० ३९।

३. विसुद्धिमग्ग, १-१०।

४. तीर्त्वा सप्त मुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिकाः।

५. मैक्रिण्डल: ऐन० इण्डि०, पृ० २८, ४३।

६. लॉ: रिवर्स ऑफ् इण्डिया, पृ० ९-१०।

७. ४-१-४५, पृ० ५६।

८. २-४-७।

का उल्लेख गगा और यमुना के साथ किया है।[१] उन्होने ऋग्वेद का एक मत्राश (३-३३-१ तथा १०-७५-५) भी उदधृत किया है[२], जिसमे शुतुद्रि नाम आया है।[३] विपाशा का परिगणन शरदादि गण मे भी है।[४] पाणिनि ने विपाशा के उत्तर और दक्षिण प्रदेशो मे बनाये जानेवाले कूपो का विशेषत. उल्लेख किया है और दोनों ओर बने कूपो मे अन्तर बतलाया है।[५] भाष्यकार ने भी शरदादि गण मे विपाश् के परिगणन पर विचार किया है।[६] शतुद्रि नाम शतधाराओ मे बहने के कारण पडा है। शतुद्रि मानसरोवर के पश्चिमी भाग से निकलकर कमेत (Kamet) पर्वत पर दक्षिण-पश्चिम की ओर मुड़ी है और फिर पश्चिम की ओर चली है। बाद मे कपूरथला के दक्षिण-पश्चिम छोर पर विपाशा इसमे मिल गई है। इसके बाद शुतुद्रि और विपाशा की सयुक्त धाराएँ दक्षिण-पश्चिम की ओर बही हैं और अलीपुर तथा उच (Uch) के बीच मे वे चन्द्रभागा से मिल गई है। पार्जिटर के अनुसार प्राचीन काल मे यह सिन्धु के सीमान्त तक स्वतन्त्र बहती थी।[७] शुतुद्रि और विपाशा की सयुक्त धारा अब 'घग्गर' कहलाती है। एरियन के समय तक यह नदी कच्छ की खाडी तक स्वतन्त्र रूप से बहती थी।[८]

भाष्यकार ने सिन्धु की पाँचो सहायक नदियो के समूह को पचनद कहा है और पचनद मे उत्पन्न होनेवाली वस्तु को पाचनद।[९] इस प्रकार, उन्होंने सतलज, व्यास, रावी, चेनाव और झेलम का अप्रत्यक्ष रूप से उल्लेख भी कर दिया है। इनमे इरावती नाम इसके गहरे होने और तेज बहने के कारण पड़ा था। इरा (जल) की अतिशयता इसका कारण थी। इरावती कही-कही दो या तीन धाराओ मे भी बहती थी और जिस प्रदेश मे इसकी दो या तीन धाराएँ पाई जाती थीं, वह प्रदेश द्वीरावतीक या त्रीरावतीक कहलाता था।[१०] कालिकापुराण (२४-१४०) के अनुसार इसका उद्गम इरा झील से है। इरावती १३० मील तक हिमालय मे बहती है और लाहौर होती हुई अहमदपुर और सरायसिन्धु के बीच वितस्ता और चन्द्रभागा की सयुक्त धारा मे मिल जाती है।[११] सिन्धु की पाँचो सहायक नदियाँ सयुक्त रूप से पचनद कहलाती थी।

इस समूह की नदियो मे सर्वाधिक महत्त्व की नदी सिन्धु है और डेरियस के बेहिस्तन (Behistun)-शिलालेख मे इसे हिन्दू तथा Vendidad मे Hentu कहा है। योरोपीय लेखक

---

१. १-१-२३, पृ० २०७।
२. ऋग्वेद, ३-३३-१ तथा १०-७५-५ ।
३. इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शतुद्रि।—१-२-३२, पृ० ५१०।
४. ५-४-१०७।
५. उदक्च विपाशः।—४-२-७४।
६. १-१-२३, पृ० २०७।
७. पार्जिटर: मार्क० पु०, पृ० २९१ नोट।
८. इम्पीरियल गजेटियर ऑफ् इण्डिया, भाग २३, पृ० १७९।
९. ४-१-८८, पृ० १००।
१०. १-४-१, पृ० १०७।
११. लाः रिवर्स ऑफ् इण्डिया, पृ० १३।

इसे Indus तथा चीनी Sintu कहते है। यह जिस प्रदेश से होकर बही है, उसका नाम भी इसी के आधार पर सिन्धु पड़ गया है।[1] अल्बेरुनी के अनुसार चेनाव या चन्द्रभागा के सगम के वाद से अरोर तक सिन्धु को पचनद कहते थे। इससे पूर्व उसका नाम सिन्धु और वाद मे मेहरान था।

सरस्वती—सिन्धु-समूह से नीचे की ओर उतरकर सरस्वती और दृषद्वती नामक दो प्रसिद्ध नदियाँ है। भाष्यकार ने दृषद्वती का उल्लेख नही किया है, किन्तु सरस्वती का नाम गगा और यमुना के साथ कई वार लिया है।[2] मनु का ब्रह्मावर्त्त इन्ही दो नदियो के बीच अवस्थित था। मिलिन्दपण्ह मे सरस्वती को हैमवती नदी कहा है। सिद्धान्तशिरोमणि मे यह 'क्वचिद्-दृश्या क्वचिददृश्या' कही गई है। जिस स्थान पर यह विलुप्त होती है, उसे महाभारत (८२-३) तथा पद्मपुराण (अ०२१) मे विनशन कहा है। पद्मपुराण (३२-१०५) मे इसके गगा से मिलने के स्थान को गगोद्‌भेद तीर्थ कहा है। कात्यायन (१२-३-२०), लाट्यायन (१०-१५-१ तथा १०-१८-१३ तथा १०-१९-४), आश्वलायन (१२-६-२-३) तथा साख्यायन (१३-२९) के श्रौतसूत्रो मे सरस्वती-तट पर किये गये यज्ञों का वड़ा महत्त्व वतलाया गया है। प्राय. सभी प्राचीन ग्रन्थों मे, मुख्यत ऋग्वेद मे सरस्वती का वार-वार उल्लेख हुआ है। वर्त्तमान दृश्या सरस्वती शुतुद्रि और यमुना के बीच मे से होकर वहती है। ऋग्वेद-काल मे यह वडी शक्तिमती नदी थी और समुद्र मे गिरती थी।[3] सरस्वती हिमालय की सिरमुर (sirmur)-श्रेणी से, जिसे शिवालिक कहते है, निकलकर पटियाला के नीचे वहती हुई राजपूताना के मरु के उत्तरी भाग मे विलुप्त हो जाती है। यही मनु का विनशन-प्रदेश है। चलोर नामक ग्राम के मरु मे लुप्त होकर यह एक वार भवानीपुर मे प्रकट होती है। फिर, वालचापर मे विलुप्त होकर वरखेडा मे दिखाई देती है। उर्नई के पास मार्कण्डा नदी इसमे मिलती है और अन्त मे यह घग्गर या घर्घर मे मिल जाती है। महाभारत के अनुसार भी सरस्वती एक वार लुप्त होकर तीन वार फिर प्रादुर्भूत हुई है। ये स्थान है—चमसोद्‌भेद, शिरोद्‌भेद और नागोद्‌भेद।[4]

अन्य नदियाँ—पश्चिमी भारत की नदियो में उदुम्बरावती और मशकावती का नाम भी भाष्य मे आया है।[5] काशिका (४-२-८५) मे पुष्कलावती का भी उल्लेख हुआ है। इनमे पुष्कलावती गान्धार-प्रदेश मे होकर वहनेवाली स्वात नदी का पुष्कलावती नगरी के पास स्थानीय नाम मालूम होता है। पुष्कलावती गान्धार जनपद की पश्चिमी राजधानी थी, जिसे अव चरसड्ड कहते है। यह नगरी स्वात और कावुल नदी के सगम से कुछ ऊपर की ओर

---

१. १-३-१०, पृ० ३६ ।

२. १-२-३२, पृ० ५१०।

३. मैक्समूलर: ऋग्०, सं०, पृ० ४६।

४. वनपर्व : अ० ८२; एन० एल० दे: ज्याग्रा० डिक्श०; पंजाब गजेटियर, अम्बाला जिला।

५. ४-२-७१, पृ० १९४।

स्थित रही है।[१] मशकावती भी पुष्कलावती के समान स्वात का स्थानीय नाम ही जान पड़ता है। मशकावती युद्धप्रेमी आश्वकायनों की, जिन्हें ग्रीक लेखकों ने assakenoi कहा है, राजधानी थी। इसे मशग कहते हैं। मशग के पास से बहनेवाली स्वात को ही स्थानीय लोग मशकावती कहते होंगे। स्वात का प्राचीन नाम शुभवास्तु या सुवास्तु था। उदुम्बरावती, औदुम्बर प्रदेश की, जिसे श्री बी० सी० ला पठानकोट[२] के पास-पड़ोस मानते हैं, स्थानीय नदी थी। पाणिनि (४-१-१७३) के अनुसार उदुम्बर साल्व-जनपद का एक भाग था। कनिंघम वर्तमान अलवर-राज्य को प्राचीन साल्व मानते हैं। उदुम्बर-प्रदेश की नदी उदुम्बरावती रही हो, यह सम्भावना की जा सकती है। भाष्यकार के मत से ये नाम सम्बद्ध देशों के विशेषण हैं। इस प्रकार, उदुम्बर मशक, पुष्कर, वारण नामक स्थानों से होकर बहनेवाली नदियाँ क्रमश. उदुम्बरावती, मशकावती पुष्करावती और वारणावती कहलाती थी।

गंगा-समूह—मध्यदेश की नदियों मे गगा और यमुना मुख्य हैं। भाष्यकार ने सर्वाधिक उल्लेख उन्ही का किया है।[३] ये इनमे मिलनेवाली अनेक नदियों से परिचित, थे जो इनमे मिलकर अपना नाम-रूप विलीन कर देती हैं और गगा यमुना नाम से ही पहचानी जाती हैं।[४] गगा हिमालय से निकलती है और उससे प्राप्त होनेवाले जल से सदा भरपूर रहती है।[५] इसीलिए उसे हैमवती कहते थे। इसी प्रकार, सिन्धु दरदिस्तान की पहाड़ियों से होकर बहने के कारण दारदी कहलाती थी[६]। गगा के किनारे हस्तिनापुर और वाराणसी नगरियाँ बसी हैं, यह बात भाष्यकार को ज्ञात थी।[७] उन्होंने पारेगङ्ग शब्द का भी प्रयोग किया है। यह गगा के दक्षिण ओर का प्रदेश होगा। गगा मध्यदेश की सर्वाधिक प्रसिद्ध नदी थी। भाष्यकार के समय में सभ्यता का केन्द्र सिन्धु और सरस्वती से हटकर गगा और यमुना का दोआब हो गया था। सस्कृत लेखकों के अनुसार गगा की मुख्य सहायक नदियाँ उन्नीस हैं।[८] गगा के अनेक भागों मे भाष्यकार ने गगा के अतिरिक्त अन्य कोई नाम नही लिया है। आधुनिक भूगोलविद् गगा का उद्गम गढ़वाल पर्वत-श्रेणी मे गगोत्री से मानते हैं। रामगगा, गोमती, यमुना, तमसा (टोंस) सरयू गण्डकी (सदानीरा), कमला, कौशिकी (कोसी), सोन (शोण), फल्गु, सकुति (सकरी) चम्पा, दामोदर आदि नदियाँ मार्ग मे गगा से मिलती चलती हैं। गगा इतनी पवित्र मानी जाती थी कि उसकी पूजा-प्रतिष्ठा मे मेले लगते थे एव यज्ञादि किये जाते थे, जो गगामह कहलाते थे।[९]

---

१. वा० श० अग्रवाल।—ज्याग्रा० डेटाइन पाणिनीज अष्टाध्यायी।—जर्नल ऑफ यू० पी० हिस्टा० सो०, जिल्द १६, भाग १, पृ० १८।

२. ट्राइब्स इन ऐन० इण्डिया, पृ० ३५५।

३. १-१-२३, पृ० २०७—१-२-३२ पृ० ५१२।

४. अनेका नदी गंगा यमुनां च प्रविष्टा गंगायमुनाग्रहणेन—गृहते १-१-७२, पृ० ४५०

५. १-४-३१, पृ० १६७।

६. ४-३-८३।

७. २-१-१६, पृ० २७३।

८ मैक्रिण्डिल : ऐन० इन्डि०, पृ० १३६ से।

९. ५-१-१२, पृ० ३०२।

गगा विशेष कूलकषा भी नही है, इसीलिए 'गङ्गाया घोष' यह लाक्षणिक प्रयोग प्रचलित हो सका।[1] उन्मत्तगग, लोहितगग आदि प्रदेशो के नाम गगा के कारण ही रखे गये थे।[2] यमुना गगा की प्रथम और सबसे बडी सहायक नदी है। यमुनोत्री या कमेत पर्वतमाला से निकलकर यमुना शिवालिक नग-श्रेणी की घाटी और गढवाल से होकर मैदान मे उतरती है और समानान्तर बहती चलती है। प्रयाग के पास वह गगा मे मिल जाती है। इसी बात को दृष्टि मे रखकर भाष्यकार ने कहा है कि अनेक नदियाँ गगा और यमुना मे प्रविष्ट होकर उन्ही के नाम से जानी जाती हैं। यमुना बौद्धों की प्रसिद्ध पाँच नदियों मे से है। इसके किनारे भी अनेक तीर्थ हैं। ग्रीक लेखकों ने इसे Erannaboas या हिरण्यवाह् कहा है। स्कन्दपुराण के अनुसार इसकी एक सहायक नदी वालुवाहिनी भी है।

रथस्पा गगा की दूसरी बडी सहायक नदी है, जिसका उल्लेख भाष्यकार ने किया है।[3] यह रामगगा का प्राचीन नाम है, जो अलमोडा (कुमायूँ) के ऊपर से निकलकर फर्रुखाबाद और हरदोई के बीच गगा मे मिलती है। इसकी एक बडी सहायक नदी द्रुमती है, जिसे आजकल द्योहा कहते हैं। द्रुमती या द्योहा भी कुमायूँ से निकलकर रामगगा के समानान्तर बहती हुई बरेली, शाहजहाँपुर जिलो को पार कर रामगगा-गगा-सगम से कुछ ही पहले हरदोई जिले मे रामगगा से मिलती है। गगा के दूसरी ओर फर्रुखाबाद जिले से होकर बहनेवाली नदी इक्षुमती है, जो आजकल ईखन कहलाती है। इसे काली या कालिन्दी भी कहते हैं। भाष्यकार ने इन दोनो नदियो का उल्लेख किया है।[4] भागवतपुराण (५-१०-१) के अनुसार इक्षुमती कुरुक्षेत्र की एक नदी का नाम था।

सरयू से भाष्यकार परिचित थे। पाणिनि-सूत्र (६-४-१७४) की, जिसमे सरयू मे होने-वाली वस्तु को सारव कहा है, भाष्यकार ने विस्तृत व्याख्या की है। सरयू छपरा के पास गगा मे मिलती है। इसे आजकल घाघरा कहते है। प्राचीन प्रसिद्ध नगरी अयोध्या इसी के तट पर बसी थी। अजिरवती या हिरण्यवती या अचिरवती सरयू की प्रमुख सहायक नदी है। इसका उल्लेख काशिकाकार ने किया है।[5] इसका आधुनिक नाम राप्ती है। कोसल की तृतीय और अन्तिम राजधानी श्रावस्ती इसी के पश्चिमी तट पर थी। अवदानशतक मे इसे ऐरावती कहा है।[6]

गगा की पूर्वी सहायक नदियो मे शोण का नाम भाष्य मे मिलता है। भाष्यकार पाटलिपुत्र को शोण के किनारे बसा हुआ बतलाते हैं। शोण मध्यप्रदेश के मण्डला जिले मे अमरकण्टक से निकलती है और बघेलखण्ड, मिर्जापुर, शाहाबाद जिलो मे बहती हुई, ५०० मील चलकर पाटलि-

---

१. ४-१-४८, पृ० ५९।
२. १-४-१, पृ० १०६।
३. ६-१-१५७, पृ० ११४।
४. ४-२-७१, पृ० ११४।
५. ६-३-१०९।
६. अव० शतक, १-६३, २-६०।

पुत्र के पास गगा में मिल जाती है। भाष्यकार और पाणिनि दोनो ने देविका नदी का वर्णन किया है।[1] भाष्यकार ने इसके तट पर उत्पन्न होनेवाले शालि को दाविका-मूल कहा है। डॉ० वा० श० अग्रवाल ने विष्णुधर्मोत्तर (१-६७-१५) तथा वामन (अध्याय ८४) पुराणो के आधार पर इसे आधुनिक देग (Deg) माना है,[2] जो जम्मू की पहाड़ियो से निकलकर स्यालकोट और शेखूपुरा जिलो मे बहती हुई रावी मे मिलती है। पार्जिटर का भी यही मत है। डॉ० अग्रवाल का मत इस बात पर आश्रित है कि देग के किनारे उत्पन्न होनेवाला चावल पंजाब में श्रेष्ठ माना जाता है। अग्निपुराण (अध्याय २००) मे देविका सौवीर-प्रदेश से होकर बहती हुई बतलाई गई है।[3] उत्तरप्रदेश की देवा या देविका, जो सरयू की दक्षिणी धारा का एक नाम है, देविका नदी बतलाई जाती है।[4] कालिका-पुराण के अनुसार यह सरयू और गोमती के मध्य बहती थी। देवा का तट भी शालि की उपज के लिए प्रसिद्ध है।

परीवाह—भाष्यकार ने छोटे-छोटे नालो का भी उल्लेख किया है, जो नदी-सदृश मालूम होते हैं। उन्होंने इन्हें नदीकल्प परीवाह कहा है।[5] गिरिणदी सामान्य नदियो से भिन्न होती है। उसमे क्षण मे देखते-देखते पूर आ जाता है और स्वल्प काल मे उतर जाता है। इसीलिए, गिरिणदी का पृथक् उल्लेख किया है।[6]

सर-सरसी—नदी-कल्प-परीवाहो के बाद सर और सरसी का स्थान है। भाष्यकार उत्तर और दक्षिण भारत के सर-सरसियो से परिचित थे। दक्षिणापथ मे बड़े-बड़े सरोवरों को सरसी कहने की प्रथा थी। ये सरसियाँ कमलो और कुमुदो से खिली रहती थी।[7]

अनूप—नदियो की दो धाराओं के बीच बसे प्रदेश अनूप कहलाते थे। इन्हें कच्छ भी कहते थे। भाष्यकार गांग अनूप, कन्यानूप (कन्याकुमारी) तथा कच्छ प्रदेश से परिचित थे।[8] उन्होंने द्वीप (जिसके दो ओर जल हो), उनमे रहनेवाले द्वैप्य लोगों का, जो समुद्र-तट पर रहते थे। उल्लेख किया है। समीप (जिसमे जल भरा हो) अन्तरीप, प्राप और पराप प्रदेशो की भी चर्चा की है। निश्चय ही उन्हे अन्तरीपों एव प्रापादि प्रदेशो की जानकारी रही होगी।[9] समुद्र से भी वे अवगत थे। समुद्र के अनेक नामो मे उन्हें समुद्र नाम से ही प्रेम था। वाडव की जानकारी उन्हें थी। वाडव का उल्लेख उन्होंने समुद्र के प्रसग मे ही किया है।[10]

---

१. ७-३-१, पृ० १७१।
२. इण्डिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० ४५।
३. अग्नि पु०, अध्याय २००।
४. आगरा गाइड और गजेटियर १८४१, भाग २, पृ० १२० तथा २५२।
५. ४-२-९१, पृ० १९८।
६. ८-४-१०, पृ० ४७९।
७. १-१-१९, पृ० १९०।
८. ८-२-६, पृ० ३११।
९. ६-३-९७, पृ० ३५६।
१०. २-६-६७, पृ० ४५४ तथा ८-१-४, पृ० २६४।

अध्याय ४

जनपद

महाभाष्य मे निम्नलिखित जनपदो, विषयों, निवासों या देशो के नाम आये हैं :

कम्बोज—कम्बोज का उल्लेख पतजलि ने दो बार किया है—एक पाणिनि के 'कम्बोजाल्लुक' (४-१-१७५) सूत्र मे कम्बोज के स्थान पर 'कम्बोजादि' सशोधन उपस्थित करने मे कात्यायन का समर्थन करते समय[1] और दूसरे देशभेद से भाषा का अन्तर बतलाने के प्रसग मे।[2] प्रथम नियम के अनुसार कम्बोज लोगो के प्रदेश तथा राजा दोनो ही कम्बोज कहलाते थे। द्वितीय कथन से विदित होता है कि 'शव्' धातु का प्रयोग कम्बोज देश मे गति के अर्थ मे होता था, किन्तु आर्य लोग उसका प्रयोग विकार के अर्थ मे ही करते थे। यथा–शव। भाष्य का यह कथन यास्क का अनुवाद-मात्र है।[3] जातको के अनुसार कम्बोज महाभारत के उत्तर-पश्चिम का प्रदेश था, जहाँ के लोग आर्य विधियाँ छोडकर असभ्य और पतित हो गये थे।[4] शान्तिपर्व (६५-१४) मे भी यही बात कही गई है। अनुशासनपर्व (३३-२१) मे इसकी पुष्टि करते हुए कहा गया है कि 'ब्राह्मणादर्शन' से कम्बोजो मे क्रिया-लोप हो गया है और वे क्षत्रिय शूद्र बन गये है। ग्रियर्सन पतजलि (यास्क) के उक्त कथन के आधार पर कम्बोजो को अनार्य मानते है। उनके मत से 'शवति' ईरानी किया है, सस्कृत नही और ये लोग सस्कृत-ईरानी-मिश्र भाषा बोलते थे।[5]

महाभारत मे कम्बोज की राजधानी राजपुर बतलाई गई है।[6] राजपुर का उल्लेख ह्वेनसाग ने भी किया है। उसके मत से यहाँ के निवासी देखने मे कर्कश और असंस्कृत थे।[7] कम्बोज काश्मीर के पुच-क्षेत्र के दक्षिण-पूर्व मे था। श्रीराय चौधुरी काश्मीर मे पुच के पास-पड़ोस के इलाके को, जिसमे कफीरिस्तान भी शामिल है, प्राचीन कम्बोज मानते हैं।[8] कनिंघम ने राजपुर

---

१. ४-१-१७५, पृ० १६४।

२. शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति। विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति।—आ० १, पृ० २१।

३. निरुक्त, २-२।

४. कावेल जातक ६, पृ० ११०।

५. जर्नल ऑफ् रॉयल ए० सो० १९११, पृ० ८०१-२।

६. महाभारत ७-४-५।

७. वॅटर्स ऑन युआनचांग, १-२८४।

८. पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, पृ० ३०८।

को काश्मीर के दक्षिण भाग की राजौरी जागीर माना है, जिसके शासक खश लोग रहे हैं।[1] रीज डेविड्स कम्वोज की राजधानी द्वारका वतलाते है।[2] वी० ए० स्मिथ और चार्ल्स इलियट ने सम्भवत. कम्वुज (कम्वोडिया) और कम्वोज को एक मानकर उसे तिव्वत या हिन्दूकुश-प्रदेश के अन्तर्गत वतलाया है और वहाँ की भाषा ईरानी वतलाई है।[3] मैक्रिण्डिल ने ह्वेनसाग के काओफु या (अफगानिस्तान) को ही कम्वोज मान लिया है।[4]

कम्वोज के कम्वल वहुत प्रसिद्ध थे।[5] यह वात इसकी प्रख्यात थी कि यास्क ने कम्वोज शब्द की व्याख्या करते हुए उसे कम्वल से सम्वद्ध करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कम् + भुज से इसकी व्युत्पत्ति स्वीकार कर काम्वोजो को कमनीयभोजी माना है। कम्वल (शीत प्रदेश मे) कमनीय होते ही हैं।

नान्दीपुर, जिसे पतजलि ने वाहीक ग्राम कहा[6] है, लूडर के अनुसार कम्वोज मे था।[7] सभवत, लूडर ने वाहीक को वाह्लीक समझ लिया है।

गान्धार—भाष्यकार ने गान्धारि लोगो के विषयाभिवान जनपद को गान्वार या गान्वारय (वहु व०) कहा है।[8] गान्वार की स्त्री गान्वारी कहलाती थी।[9] यह जनपद गान्वारि लोगो का निवास भी था और विषय, अर्थात् उनके द्वारा शासित भी।

गान्धार-प्रदेश भारत की उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर कम्वोज के पास ही स्थित था। वर्त्तमान रावलपिंडी और पेशावर के जिले इसके अन्तर्गत थे, यद्यपि इसकी वास्तविक सीमा के विषय मे विद्वानो मे मतैक्य नही है।[10] भाष्यकार द्वारा उल्लिखित औदीयन (४-२-९९, पृ० २०३) या सुवास्तु और गौरी नदी के वीच का उड्डियान प्रदेश गान्वार के अन्तर्गत था।

सिन्धु के दोनो ओर फैले होने के कारण गान्वार की दो राजवानियाँ थी। तक्षशिला पूर्वी तथा पुष्कलावती पश्चिमी थी। पुष्कलावती का आधुनिक रूप चरसड्ड है, जो स्वात और कावुल नदी के सगम के पास स्थित है। पुष्कलावती या पुष्करावती को भरत-पुत्र और राम के भतीजे पुष्कर ने वसाया था।[11]

---

१. एन० ज्या०, पृ० ६८३।
२. वुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० २८।
३. अर्लि हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, चौथा सं०, पृ० १९३।
४. अलेग० इनवेजन, पृ० ३८।
५. सभापर्व, पृ० ४८-९, तथा ५१—३।
६. ४-२-१०४, पृ० २१२।
७. लूडर्स इनस्क्रिप्शन्स, सं० १७६, ४७२।
८. ४-२-५२, पृ० १८४।
९. ४-१-१४, पृ० ३६।
१०. ट्राइब्स इन एन० इण्डिया, पृ० ९।
११. रामायण, उत्तर का० १००-१०।

कापिशी—कापिशी के अन्तर्गत सम्पूर्ण कफीरिस्तान और घोरवन्द तथा पचगीर की घाटियाँ थी। यह सारा प्रदेश पर्वतों से घिरा हुआ था, जिसमे उत्तरी पर्वत हिमाच्छन्न रहता था। 'कापिश्या ष्फक्' सूत्र मे सशोधन-स्वरूप वार्तिक जोडने से स्पष्ट है कि भाष्यकार कापिशी की वास्तविक स्थिति से परिचित थे।[1] यह प्रदेश फलो, विशेषत द्राक्षा के लिए प्रसिद्ध था।

वाह्लीक—भाष्यकार ने उपर्युक्त सूत्र के वार्तिक मे वाह्लि का भी उल्लेख किया है। इससे अनुमान होता है कि कापिशी, वाह्लि, उर्दि और पर्दि समीपवर्त्ती प्रदेश थे। वाह्लि या वाह्लिक बहुत प्राचीन काल से भारत के उत्तरी भाग मे रहते थे। रामायण के उत्तरकाण्ड (१००-३) मे ऐल जाति के कर्दम या कर्दमेय के वशजो का उल्लेख है और वाह्लिक उनसे सम्बद्ध बताये गये है। उत्तरकाण्ड (१०३-२१) मे वाह्लि या वाह्लिक प्रदेश मध्यदेश के बाहर बतलाया गया है। कर्दसक फारस की कर्दमा नामक नदी से सम्बद्ध थे।[2] इसलिए, वाह्लिक-प्रदेश ईरान के बलख का प्राचीन रूप माना जाता है।[3] चन्द्र का मेहरौली-स्तम्भलेख, जिसमे वाह्लिको को सिन्धु के पार बतलाया गया है, इस बात का पोषक है।[4] वाह्लिक बैक्ट्रिओइ लोग थे, जो अरकोसिया के पास के प्रदेश मे रहते थे।[5] वाह्लिक प्रादीप्य राजा का उल्लेख शतपथ-ब्राह्मण (१२-९-३-१ से ३ तथा १३) मे मिलता है।

नैश—यह काबुल (कोकेन) और सिन्धु नदी के बीच मे मेरु पर्वत के पादमूल मे एक छोटा-सा पर्वतीय क्षेत्र था, जिसे ग्रीक इतिहासकारो ने नायस कहा है। यही पतजलि का नैश जनपद था, जिसके निवासी नैश्य कहलाते थे। सिकन्दर के आक्रमण से बहुत पहले ही ग्रीक-निवासियो (हेलेनिक) ने इस नगर की नीव डाली थी। एरियन ने कहा है कि नैश्य भारतीय नही है। वे डियोनिसस के साथ भारत आनेवाले ग्रीक पुरुषो की सन्तान है। मज्झिमनिकाय (२-१४९) मे भी कम्बोज के साथ एक यवन-राज्य का उल्लेख है, जिसके विषय मे कहा गया है कि उसमे दो ही वर्ग है—आर्य या दास।[6] नैश नगर इस जनपद की राजधानी था, जो स्वात प्रदेश मे कोहेमूर की उपत्यका मे स्थित था।[7] इसकी शासन-प्रणाली सघात्मक थी और शासन-सभा मे ३०० सदस्य थे।[8] नैश नगर-राज्य था।

---

१. ४-२-९८, पृ० २०३।

२. रायचौधुरी : भा० हिस्ट्री ऑफ् ऐन० इण्डिया, पृ० ४४९।

३. पारसीकेषु कर्दमा नाम नदी।—अर्थशास्त्र-व्या०, २-११ तथा इण्डि० हिस्टा० क्वार्टरली, भाग ९, पृ० ३७, ३९।

४. तीर्त्वा सप्त मुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिकाः।

५. इण्डियन हिस्टा० क्वा०, भाग ९, पृ० ३९।

६. योनकम्बोजेषु द्वे एव वण्णा अइयो चैव दासो च।

७. कैम्ब्रिज हि० ऑफ् इण्डि०, पृ० ३५३।

८. एन० ऑफ् अलेक्जेण्डर, पृ० ८१।

दरद—पतंजलि ने दरद, दारद, दारदिका, दारद वृन्दारिका शब्दों के द्वारा दरद-प्रदेश से अपना निकट परिचय व्यक्त किया है।[1] दरद भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश के निवासी थे। महाभारत में कश, शक, यवन आदि के साथ इनका उल्लेख है।[2] मत्स्यपुराण में दरदों का प्रदेश गन्धार, त्रिपुर, ऊर्ण, औरस आदि के साथ सिन्धु का कछार बतलाया गया है।[3] महाभारत और पुराणों के अनुसार ये पंजाब के ऊपरी भाग की खश जाति के प्रदेश के पास काश्मीर की उत्तर-पश्चिमी सीमा के आगे प्रदेश के निवासी माने जा सकते हैं। ये पर्वतीय लोग थे यह बात तो इनके नाम (दरद=पर्वत) से ही स्पष्ट है।

काश्मीर के इतिहास में दरदों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। राजतरंगिणी में इनकी बार-बार चर्चा है।[4] आज भी इनका प्रदेश दरदिस्तान (जिला दरदी) कहलाता है। ग्रीक लेखकों ने इन्हें विभिन्न नामों से स्मरण किया है। उदाहरणार्थ—स्ट्रैबो इन्हें डर्डइ, प्लिनी डर्डे और डियो-नीसिअस डर्डेनोइ कहते हैं।

पार्द या पारद—पार्द जिनका उल्लेख भाष्यकार ने एक वार्तिक में किया है और जिनके यहाँ होनेवाली वस्तु को पारदीनी कहा है, दरदों के समान ही पर्वतीय बर्बर जाति के लोग थे। पुराणों और महाभारत में भी इनका उल्लेख इन असंस्कृत जातियों के साथ हुआ है। हरिवंश (१३-७६३, १४ तथा १४-७८४ से ८३) में तो इन्हें म्लेच्छ और दस्यु तक कहा गया है। मनुस्मृति के पतित क्षत्रियों की श्रेणी में ये लोग भी आते हैं। पार्जिटर पारदों को शकों, कम्बोजों और यवनों आदि के साथ उत्तर-पश्चिमी सीमान्त-प्रदेश का निवासी मानते हैं।[5]

यवन देश—यवन ग्रीकदेशीय आयोनियन लोग थे जिन्हें उत्तर-पश्चिमी भारत के राजनीतिक इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त[6] है। शिलालेखादि में इनका उल्लेख ई० पू० तीसरी शती से ईसा की दूसरी शती तक मिलता है। महाभारत में कम्बोज शक, मद्र आदि लोगों के साथ ये भी कौरवों के पक्ष में थे।[7] पतंजलि ने भी इन्हें आर्यावर्त से निरवसित शूद्र कहा है।[8] रामायण के किष्किन्धाकाण्ड (४३-१२-१२) में शक-यवनों को कुरु और मद्र प्रदेशों के मध्यवर्ती क्षेत्र का निवासी कहा है। महाभारत में इनका स्थान बर्बरों, किरातों और गान्धारों के पास है।

यवन-प्रदेश की ठीक स्थिति के बारे में अभी तक विद्वानों में मतैक्य नहीं है। डॉ० भण्डार-कर इसे भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा से मिला कोई क्षेत्र मानते हैं,[9] जिसे ई० पू० ५५० के

---

१. ४-२-१२० पृ० १४१; ६-३-३४, पृ० ३२० तथा ६-३-४२, पृ० ३२९।
२. द्रोणपर्व. १०-१८।
३. २१-४५ से ५१।
४. एन० इण्डियन हिस्टा० ट्रेडि०, पृ० २०६, २६८।
५. इण्डि० कल्चर, भाग १, पृ० ३४३ से।
६. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डि०, भाग १, पृ० २२५।
७. वही, पृ० २७४।
८. २-४-१०, पृ० ४६५।
९. वही, पृ० २९।

लगभग यवनों या ग्रीक लोगों ने बसाया होगा। पाणिनि के समय मे भारत का इस प्रदेश से घनिष्ठ सम्पर्क हो चुका था। पाणिनि के बाद कात्यायन के समय मे उनकी लिपि काफी प्रचलित हो चुकी थी और उसे यवनानी कहते थे।[1] पतजलि ने यवनों द्वारा साकेत और मध्यमिका पर किये गये आक्रमणों की चर्चा की है।[2]

शकस्थान—शकों का उल्लेख पतजलि ने यवनों के साथ ही आर्यावर्त्त से निरवसित के रूप मे किया है। इनका प्रदेश शकस्थान कहा गया है। यह भारत के सीमान्त के पास का सीदिया क्षेत्र था। पेरिप्लस के अनुसार भारत सागर मे मिलनेवाली नदियो मे विशालतम सिन्धु नदी शकस्थान होकर बहती थी। इसकी राजधानी मिननगर थी और समुद्र-तट पर स्थित बारबेरियस नगर इसका सबसे बडा व्यापारिक केन्द्र था। ईसा की तीसरी शती मे शकस्थान और उत्तर-पश्चिम भारत के कुछ प्रदेश सेसानियन लोगों के अधिकार मे थे। ईसा-पूर्व दूसरी और पहली शताब्दी मे भी न केवल शकस्थान, अपितु कापिशी और गान्धार पर भी शकों का अधिकार था।

काश्मीर—अशोक के समय मे काश्मीर मौर्य-साम्राज्य का अग था, किन्तु पतजलि के समय मे स्वतन्त्र राज्य जान पडता है। उन्होने मद्रराज और मद्रराज्ञी के साथ काश्मीरराज और काश्मीरराज्ञी का उल्लेख किया है।[3] काश्मीर पजाब के उत्तर मे स्थित था और चारो ओर से ऊँचे-ऊँचे पर्वतो से घिरा था। उसकी राजधानी के पश्चिम ओर से वितस्ता बहती थी। इसकी भूमि उपजाऊ थी, जिसमे अन्न, फल और फूल खूब पैदा होते थे। ह्वेनसाग के अनुसार राज्य का घेरा ७००० ली० था।[4]

सिन्धु—भाष्यकार ने पाणिनि-सूत्र (४-३-९३) के सिन्धु पद को चर्चा के लिए उद्धृत किया है।[5] सिन्धु नदी के कारण इस प्रदेश का नाम सिन्धु पडा है। वैदिक काल मे यह प्रदेश घोडो के लिए प्रसिद्ध था।[6] डॉ अग्रवाल ने इसे सिन्धु-सागर के दो-आब का प्रदेश माना है।[7]

पारस्कर—पारस्कर देश का उल्लेख पतजलि ने किया है।[8] यह सिन्धु-प्रदेश के थर-पारकर जिले का प्राचीन नाम था।[9]

सौवीर—सौवीर मे वर्त्तमान मुलतान और झालावाड़ के क्षेत्र सम्मिलित थे।[10] स्कन्द-

---

१. ४-१-४९, पृ० ६३।
२. ३-२-१११, पृ० २४७।
३. ४-१-१, पृ० ११।
४. वैटर्स ऑन युवांगचांग, भाग १, पृ० २६७ से ७१।
५. १-३-१०, पृ० ३६।
६. वैदिक इण्डैक्स, भाग २, पृ० ४५।
७. इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि, पृ० ५०।
८. ६-१-१५७, पृ० १९४।
९. डॉ० अग्रवाल : पाणिनि, पृ० ५१।
१०. रायचौधुरी : पालि० हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, पृ० ६१९।

पुराण मे मुलतान (मूलस्थान) को देविका-तट पर स्थित बतलाया है।[1] यह वही देविका मूल (स्थान) है, जहाँ के शालि का उल्लेख भाष्यकार ने किया है।[2] रुद्रदामा के जूनागढ-शिलालेख मे उसका एक प्रदेश के रूप मे उल्लेख है। लॉ के अनुसार सिन्धु-सौवीर नाम इस बात का द्योतक है कि सौवीर सिन्धु और वितस्ता (झेलम) के बीच का प्रदेश था। कनिंघम के मत से बदरी (एडर) प्रदेश का, खम्भात की खाडी के ऊपर का क्षेत्र सौवीर कहलाता था।[3] रौरुक सौवीर की राजधानी थी, जिसका राजगृह से व्यापारिक सम्बन्ध था।

पतजलि ने सौवीर गोत्रो का विशेष उल्लेख किया है। भाष्य मे भागवित्ति,[4] ताणंबिन्दव[5] और फाण्टाहृति[6] ये सौवीर गोत्रो के नाम आये है। सौवीरी स्त्रियो का भी भाष्यकार ने चार बार उल्लेख किया है।[7]

सुराष्ट्र—सुराष्ट्र का उल्लेख महाभाष्य मे भाषा-भेद के प्रसग मे हुआ है।[8] इसका दूसरा नाम सुरथ भी था।[9] पद्मपुराण (१९०-२) के अनुसार सुराष्ट्र गुजरात के अन्तर्गत था, किन्तु भागवतपुराण मे उसे स्वतन्त्र देश बतलाया है।[10] अर्थशास्त्र (अनु० पृ० ५०) मे यहाँ के हाथी अग और कलिग प्रदेश की अपेक्षा निम्नकोटि के बतलाये गये है। चन्द्रगुप्त के समय मे सुराष्ट्र मौर्य-साम्राज्य का अग था और एक राष्ट्रिय वहाँ का शासन चलाता था। अशोक के समय मे यह स्थानीय स्वराज्य-प्राप्त प्रदेश था और तुषास्फ यहाँ का स्थानीय शासक था। वर्तमान जूनागढ या गिरिनगर सुराष्ट्र का मुख्य नगर था। शिलालेखो मे इसे ऊर्जयत् भी कहा है।[11]

कच्छ—कच्छ की राजधानी प्रो० लैसेन के मत से कच्छेश्वर और कनिंघम के अनुसार कोटीश्वर थी। कोटीश्वर तीर्थ-स्थान है और यहाँ बडी सख्या मे शिवलिंग भी प्राप्त हुए हैं।[12] भाष्य मे अनेक बार कच्छ नाम आया है। यहाँ के निवासी काच्छक कहलाते थे।[13]

ब्राह्मणक—महाभाष्य मे ब्राह्मणक नामक जनपद का उल्लेख है। इसके निवासी ब्राह्मणकीय कहलाते थे।[14] ह्वेनसाग के अनुसार सन् ६४१ ई० मे सिन्ध चार भागो मे विभाजित था—उत्तर,

---

१. स्कन्द पु०, प्रभासक्षेत्र-माहात्म्य, अध्याय २७८।
२. ७-३-१ पृ० १७१।
३. एन० ज्या०, पृ० ५६९ तथा लॉ : हिस्टा० ज्या०, पृ० २९६।
४. ४-१-९०, पृ० १०८।
५. ४-२-२८, पृ० १७५।
६. ४-१-१५०, पृ० १४७।
७. २-४-६२, पृ० ४९६ आदि।
८. आ० १, पृ० २१।
९. लूडर्स लिस्ट, संख्या ११२३।
१०. १-१०-३४; १-१५-३९।
११. स्कन्दगुप्त और रुद्रदामन् के गिरनार-लेख।
१२. कनिंघम : एन० ज्या०, पृ० ३४६।
१३. ४-२-१३०, पृ० २१७।
१४. ४-२-१०४, पृ० २१३।

मध्य, निम्न तथा कच्छ। इनमें मध्य सिन्ध का प्राचीन नाम ब्राह्मणक था। इसे मुस्लिम लेखको ने ब्राह्मणावाद कहा है।[1] इस प्रदेश की राजधानी ब्राह्मणस्थलनगर थी। यह आयुध-जीवी ब्राह्मणो का जनपद था और सिकन्दर के आक्रमण के समय राजा द्वारा आत्मसमर्पण कर देने पर भी यहाँ की जनता ने उसका सामना किया था। पतजलि का अवृषलक देश भी ब्राह्मणक जनपद का ही बोधक है।[2] उन्होने वृषल शब्द का उपयोग सदा ही ब्राह्मण-विरोधी के रूप मे किया है। स्मिथ ने पटलनगर और ब्राह्मणावाद को एक ही माना है।[3]

शूद्र या शौद्रायण—अवृषलक के समान अब्राह्मणक भी देश का नाम था।[4] यह देश, जैसा कि विरुद्धार्थी शब्द से स्पष्ट है, वृषल-देश होना चाहिए। एक अन्य स्थान मे भाष्य मे 'शूद्राभीरम्'[5] शब्द आया है, जो लॉ के मत से शूद्र और आभीर दो स्वतन्त्र जातियो का बोधक है। यह शूद्र जाति शूद्र वर्ण से भिन्न थी, जिसका महाभारत, पुराणों तथा ग्रीक-इतिहासकारो ने बार-बार उल्लेख किया है। ये लोग वर्त्तमान सिन्धु के एक भाग, शूद्र देश मे रहते थे। महाभारत मे इनका प्रदेश विनशन (पश्चिमी राजपूताना) के पास बतलाया गया है[6] और मार्कण्डेयपुराण मे अपरान्त या पश्चिमदेश। ब्राह्मणको के समान इन्होने भी डटकर सिकन्दर का सामना किया था।[7]

क्षुद्रक-मालव—क्षुद्रक और मालव दो स्वतन्त्र क्षत्रिय-जातियाँ थी। जिनके जनपद का नाम भी क्रमश क्षुद्रक और मालव था। मालव के निवासी, जो अपने प्रदेश और गण के प्रति निष्ठावान् थे, मालवक कहलाते थे।[8] मालवगण के राजपदधारियो की सन्तान मालव और उनके युवापत्य मालव्य कहे जाते थे। इसी प्रकार क्षौद्रक और क्षौद्रक्य शब्दो का व्यवहार होता था। क्षौद्रक्य और मालव्य केवल क्षत्रिय जाति के लोगो को ही कह सकते थे। उनके दास और कर्मकर क्षौद्रक और मालवक ही कहलाते थे।[9]

मालव पहले पजाब मे रहते थे, किन्तु धीरे-धीरे वे उत्तरी भारत, राजपूताना, मध्य-भारत, उत्तरप्रदेश और लाट देश तक फैल गये और अन्त मे स्थिर रूप से वर्त्तमान मालवा मे बस गये।

मालवो को सिकन्दर के इतिहासकारो ने मल्लोई, मल्ली या मल्लाइ कहा है और इनके

---

१. कनिंघम: एन० ज्या०, पृ० ३०६ से ३१८।
२. १-४-१, पृ० १०७।
३. अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, पृ० १०७।
४. १-४-१, पृ० १०७।
५. १-२-७२, पृ० ६०७।
६. शूद्राभीरम् प्रतिद्वेषाद् यत्र नष्टा सरस्वती।—महा० ९-३७-१।
७. लॉ: ट्राइब्स इन एन० इण्डिया, पृ० ३५२।
८. ४-२-४५, पृ० १८२-८३।
९. ४-२-१०४, पृ० २०९ तथा इदं तर्हि क्षौद्रकाणामपत्यं मालवानामपत्यमिति। अत्रापि क्षौद्रक्यः मालव्य इति नैतत्तेषां दासे वा भवति कर्मकरे वा। किंतर्हि ? तेषामेव कस्मिंश्चित्।—४-१-१६८, पृ० १६२।

साथ क्षुद्रक लोगो (Oxydrakaı Sudracae Hydrakaı) का भी नाम लिया है। स्मिथ के अनुसार ये लोग झेलम[1] और चेनाव के सगम के नीचे, अर्थात् झग जिले तथा माण्टगोमरी जिले के एक भाग मे रहते थे।[1] मैक्रिण्डिल का मत है कि इनका जनपद इससे वडा था और उसमे चेनाव तथा रावी का वर्तमान दोआव तथा चेनाव-सिन्धु के सगम तक का प्रदेश सम्मिलित था। इसमे वर्तमान मुलतान जिला तथा माण्टगोमरी का कुछ भाग आता है।[2] रायचौधुरी इन्हें रावी की निम्न घाटी मे इस नदी के दोनो तटो पर वसे मानते हैं।[3]

क्षुद्रको और मालवो का सयुक्त सेना-सगठन था, जिसे भाष्यकार ने क्षौद्रक-मालवी सेना कहा है। यह शब्द सेना का ही वाचक था। क्षुद्रक मालवो से सम्वन्ध रखनेवाली अन्य वस्तुएँ क्षौद्रक-मालवक कही जाती थी, ये दोनो सघ आयुधजीवी थे। इसलिए इनकी सेना स्वभावत वलिष्ठ थी। यह वात इनके द्वारा सिकन्दर के विरुद्ध किये गये युद्धो से स्पष्ट है। इन युद्धो मे दोनो सघो की सेनाएँ सयुक्त रूप से लडी थी। इन सेनाओ से हुए युद्ध के विपय मे ग्रीक इतिहासकारो मे मतैक्य नही है। कर्टियस का कहना है कि इस सयुक्त सेना का सेनापति एक क्षुद्रक योद्धा था। डियोडोरस का मत है कि सेनापति-निर्वाचन के विपय मे क्षुद्रको और मालवो मे मतैक्य न हो पाने के कारण ही सयुक्त रूप से न लड सके। एरियन के विचार से मतभेद नही था, किन्तु सिकन्दर ने आक्रमण इतनी अप्रत्याशित शीघ्रता से कर दिया कि उन्हे सेना को सयुक्त करने का अवकाश ही न मिल पाया।[4] मालव और क्षुद्रक वार-वार पीछे हटकर भी सिकन्दर से लडते रहे।

भाष्यकार ने एकाकी क्षुद्रको की विजय का तीन वार उल्लेख किया है।[5] भाष्य का यह कथन मिथ्या गौरव का द्योतक नही है, अपितु प्रचलित भारतीय धारणा का अभिव्यजक है। उन्होंने इस बहुख्यात वाक्य को एकाकी का अर्थ असहाय वतलाने के लिए उद्धृत किया है। क्षुद्रको के साथ सिकन्दर का यह अन्तिम युद्ध था, जिसमे सिकन्दर गम्भीर रूप से घायल होकर वापस लौट पडा था। यह क्षुद्रको की निश्चित विजय थी। इस युद्ध मे चाहे अप्रत्याशित आक्रमण के कारण हो, चाहे मतभेद के कारण, मालवो की सेना क्षुद्रको के साथ नही थी। द्वितीय कारण अधिक ठीक जान पडता है। एरियन और प्लुटार्क यह युद्ध मालवो के साथ और कर्टियस तथा डियोडोरस क्षुद्रको के साथ मानते हैं।[6] भाष्य के कथन के सन्दर्भ मे द्वितीय मत ही सही जान पडता है।[7]

युद्ध के वाद भी मालव पजाव मे वने रहे। वाद मे वे राजपूताना मे आकर जयपुर के पास वस गये। कोटा से लगभग ४५ मील दूर नगरस्थान मे इनके वहुत-से सिक्के मिले हैं, जिन

---

१. जर्नल ऑफ् रॉयल एशि० सो०, १९०३, पृ० ६३१।

२. इनवेजन ऑफ् इण्डि०, पृ० ३५७।

३. पालि० हि० ऑफ् ऐन० इण्डि०, पृ० २०२।

४. मैक्रिण्डल: इनवेजन ऑफ् इण्डि०, पृ० २३६, १५०, ३५१।

५. १-१-२४ पृ० २१६; १-४-२१, पृ० १५० तथा ५-३-५२, पृ० ४४३।

६ इनवेजन ऑफ इण्डिया, पृ० ३५१।

७. १-१-२४, पृ० २१६।

पर 'मालवाना जय.' अंकित है। कनिंघम के मत से ये सिक्के २५० ई० पू० से २५० ई० तक के है।[1]

पुरु—पुरु देश के राजा को भाष्यकार ने पौरव कहा है।[2] पुरुओ का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद मे मिलता है।[3] वाद मे, इनकी परम्परा विस्मृत-सी हो गई और फिर महाभारत मे ययाति और शर्मिष्ठा के पुत्र के रूप मे पुरु के दर्शन होते है।[4] प्राचीन पुरु सिन्धु के पश्चिम मे रहते थे, किन्तु वाद मे वे सरस्वती नदी के चारो ओर प्राच्य देश मे भी मिलते है। ओल्डेनवर्ग के अनुसार पुरु लोग आगे चलकर कुरु लोगो मे सम्मिलित हो गये, जिस प्रकार तुर्वस और क्रिवि लोग पचालो मे विलीन हो गये थे, इसीलिए वैदिक काल के वाद उनका पृथक् पता नही चलता। ऋग्वेद में पुरुओ को जिस सरस्वती के किनारे वताया गया है, वह जिमर के मत से सिन्धु ही है।[5]

शिवि—शिवि लोगो का विषय (अधिकृत प्रदेश) 'शिवय' या शैवदेश कहलाता था।[6] शिवि लोग सम्भवत. वे ही थे, जिनका नाम ऋग्वेद (७-१८-७) मे आया है और जिनके सहित १० जातियो से सुदास के युद्ध का वर्णन मिलता है। ग्रीक लेखको ने इन्हे सिवइ या सिवोइ कहा है और अकेसाइन्स (ऋग्० असिक्नी) या चन्द्रभागा और सिन्धु के मध्यवर्त्ती देश का निवासी वतलाया है।[7]

शिवियो की राजधानी शिवपुर थी, जिसका उल्लेख पतजलि ने किया है। उन्होने इसे उदीच्य ग्राम कहा है और इसके निवासी को शैवपर।[8] यह शिवपुर मूलत. शिविपुर था। इसी का उल्लेख शारकोट के शिलालेख मे हुआ है।[9] शारकोट का टीला ही प्राचीन शिवियो की राजधानी शिविपुर था और पजाव मे झग-क्षेत्र मे इरावती और चन्द्रभागा के वीच ये लोग रहते थे।

शिवियो मे कुछ लोग अपना प्रदेश छोड़कर उत्तर पजाव और राजपूताना चले गये जान पडते हैं।[10] उत्तर पजाव मे भी उनके एक जनपद का पता चलता है, जिसका मुख्य नगर अरिट्ठपुर (अरिष्टपुर) था। इसे टालेमी ने अरिस्टोसेथरा कहा है। सभवत. इसी का दूसरा नाम द्वारावती था।[11] शिवियो की दूसरी शाखा राजपूताना में चित्तौड़ के पास जा वसी। यहाँ इनकी राजधानी जेतुतर थी, जिसे श्री एन्० एल्० दे नागरी मानते हैं। यह स्थान चित्तौड़ से ११ मील उत्तर में है।

---

१. आर्कि० सर्वे रिपोर्ट, भाग ६-१८७१-७३, पृ० ७२ से।
२. ४-१-१६८, पृ० १६३।
३. वैदिक इण्डे०, भाग २, पृ० १३।
४. मैक्समूलर: सेक्रेड बुक्स ऑफ् ईस्ट, ३२-३९८।
५. वै० इण्डे०, भाग २, पृ० १२।
६. ४-२-५२ पृ० १८४।
७. ऐरियन: इण्डिका ५-१२ तथा डियोडोरस १७-९६।
८. ४-२-१०४, पृ० २०५।
९. एपि० इण्डि० १९२१, पृ० १६।
१०. शिविजातक, सं० ४९९, उम्मदन्ती जातक, सं० ५२७, वेस्सन्तर जातक, सं० ५४७।
११. दे० ज्या० डिक्श०, पृ० ८१।

यही पतजलि की मध्यमिका है। इस स्थान पर जो सिक्के मिले हैं, उनपर 'मज्झमिकाय सिविजनपदस्स' लिखा हुआ है जिससे सिद्ध होता है कि शिवियो का जनपद चित्तौड की मध्यमिका नगरी के चारो ओर था। जिसमे शिवि-राज ने प्रजा के कहने से अपने युवराज वेस्सन्तर को देश से निकाल दिया था। वाद मे वढने-वढते शिवि लोग दक्षिण तक पहुँच गये। प्राचीन चोल-राजवश शिवि ही था। वाराह-मिहिर की वृहत्सहिता में दक्षिण देश मे जिस शिविका देश का उल्लेख है, वह इन शिवियो का ही स्थान जान पडता है।

पार्जिटर के अनुसार ये लोग एक समय उशीनर मे रहते थे और वाद मे इनके राजा शिवि उशीनर तथा उनके चार पुत्रो ने वृषदर्भ, सुवीर, केकय और मद्रक जनपदो पर भी आधिपत्य कर लिया था। इस प्रकार उत्तर पश्चिम कोने को छोडकर शेष सारे पजाव पर इनका शासन रहा।

वसाति—भाष्य मे शिवि या शैवदेश के साथ ही 'वासात' या 'वसातय'[२] देश का नाम आया है। यह वसाति जाति का विषय (अधिकृत देश) था। ये लोग भी चेनाव और सिन्धु के सगम के पास चेनाव के निचले प्रदेश मे रहते थे[३]।

दार्द— दार्द कम्वोज से ही फूटकर पृथक् जनपद वना था। स्ट्रेवो के मत से इसके अन्तर्गत झेलम और चेनाव के वीच का सारा निम्न तथा मध्यवर्त्ती पर्वतीय क्षेत्र था।[३] यह तक्षशिला से ऊपर की ओर पर्वतो के भीतर का प्रदेश था। मोटे तौर पर इसमे पुच तथा पड़ोस के कुछ काश्मीरी जिले और सीमा-प्रान्त के हजारा जिले का कुछ भाग शामिल था।[४] सिकन्दर के आक्रमण के समय यहाँ अभिसार का शासन था। इसकी तथा पुरु की तक्षशिला से कट्टर शत्रुता थी। जब सिकन्दर इसकी ओर वढा, तव इसने आत्मसमर्पण का सवाद कहला भेजा, किन्तु जब वह पुरु से लडने लगा, तव अभिसार ने भी पुरु का साथ दिया।[५] अभिसार को कई इतिहासकारो ने दार्वाभिसार भी लिखा है। महाभारत मे दार्दो का उल्लेख त्रिगर्त्तो तथा दरदो एव अन्य उत्तरी पजाव की जातियो के साथ हुआ है। काशिकाकार ने दार्व और अभिसार को पृथक् जनपद माना है।[६]

केकय—केकय-प्रदेश के निवासियो को भाष्य मे कैकेय कहा है। प्राचीन केकय विपाशा से प्रारम्भ होकर गन्धार की सीमा तक विस्तृत था।[७] वर्त्तमान झेलम, शाहपुर और गुजरात के जिले इसके अन्तर्गत थे। राजशेखर ने काव्यमीमांसा मे शक, हूण, कम्बोज और वाह्लिक-प्रदेश के उत्तर भाग मे इसकी स्थिति वतलाई है। महाभारत मे उसका नाम प्राय वाह्लिक और पुराणो मे मद्र के साथ आया है। पौराणिक परम्परा के अनुसार कैकेय लोग अनु (अनार्यजाति)

---

१. पालि० हिस्ट्री ऑफ् ऐन० इण्डि०, पृ० २०५ तथा कीलहार्न: लिस्ट ऑफ् सदर्न इन्स्क्रिप्शन्स स०, ६८५।

२. पालि० हिस्ट्री ऑफ् एन० इन०, पृ० २५७।

३. इनवे० ऑफ् अलेक०, पृ० ११२।

४. वही।

५. वही।

६. ४-२-१२४, १२५।

७. रामायण, अयो० काण्ड, ६८-१९ से २२।

के वशज थे। ऋग्वेद (८-७४) से अनुमान होता है कि अनु लोग पहले उसी प्रदेश मे रहते थे, जहाँ बाद मे कैकेय लोग बस गये।

केकय के सर्वप्रथम राजा अश्वपति का उल्लेख प्राप्त है। यह अश्वपति अनेक ब्राह्मणो के धर्मोपदेष्टा थे।[1] इनकी राजधानी राजगृह या गिरिव्रज थी।[2] कनिंघम झेलम-तट पर स्थित जलालपुर को ही प्राचीन गिरिव्रज या राजगृह मानते है।[3]

पुराणों मे कैकेयो का शिवि-उशीनरों से घनिष्ठ सम्बन्ध बतलाया है। ये शिवि-उशीनर के चार पुत्रो मे से एक के वशज थे।[4]

मद्र—मद्र देश वर्तमान स्यालकोट तथा रावी और चेनाब नदियो के मध्यवर्ती एव समीपवर्ती प्रदेश का नाम था। मद्र वाहीक देश का एक भाग था। यह पूर्व और अपर दो भागो मे विभाजित था। पूर्व (पूर्वी) मद्र रावी से चेनाव तक और अपर (पश्चिमी) मद्र चेनाव से झेलम तक फैला था। इसकी राजधानी साकल थी, जो स्यालकोट का प्राचीन नाम है।[5] मद्र प्राचीन वैदिक कालीन क्षत्रिय जाति के वशज थे। व्यापारिक दृष्टि से यह प्रदेश महत्त्वपूर्ण था। ३२६ ई० पू० मे यह प्रदेश सिकन्दर के अधिकार मे आया। ईसा की प्रथम शताब्दी मे उस पर मिनाण्डर (मिलिन्द) का शासन था। भाष्य मे मद्रराज और मद्रराज्ञी का उल्लेख है।[6] उसमे 'मद्रो का राजा' शब्द भी आया है।[7] मद्र मे जौ की उपज अधिक थी।[8] भाष्य से अनुमान होता है कि मद्र और उशीनर की भूमि उपज की दृष्टि से समान थी। मद्र के किसी ह्रद से भाष्यकार परिचित थे। मद्र के निवासी को मद्रक कहते थे। मद्र या मद्र के राजा के प्रति भक्ति (निष्ठा) रखनेवाला भी मद्रक कहलाता था।[9]

उशीनर—उशीनर कुरु-प्रदेश के उत्तर मे था। गोपथ-ब्राह्मण (२-९) मे उशीनरो को उत्तरीय कहा है। ऐतरेय (८-१४) ब्राह्मण कुरु-पाचालों को वश और उशीनरो के साथ मध्यदेश मे साथ-साथ रहते बतलाया है। पतजलि ने मद्रो के साथ बार-बार उशीनरों का उल्लेख किया है। इससे ये पडोसी जान पडते हैं। उशीनर की बनी कन्थाएँ भाष्यकार के समय मे प्रसिद्ध थी, यहाँतक कि वहाँ की बनी कन्थाओ के नाम तक बनानेवाले परिवारो के आधार पर प्रसिद्ध थे। यथा—सौशमिकन्थम्, आह्वरकन्थम् आदि। ये नाम विशेष प्रकार की कन्थाओ के थे।[10]

---

१. शत० ब्रा० १०-६-१-२, छान्दो०उप०, ५-११-४।
२. रामायण, अयो० ६७-७, ६८-२२।
३ कनिंघम : आर्कि० सर्वे रि०, भाग २।
४. वायुपु०, अ० ९९; मत्स्यपु०, अ० ४८; विष्णुपु० ४-१८।
५. महाभारत, २-११९६ तथा ८-२०३३।
६. ४-१-१, पृ० ११।
७. २-१-२, पृ० २६३।
८. ४-१-९०, पृ० ११०।
९. ४-३-१०, पृ० २४६।
१०. ४-१-९०, पृ० ११०; १-३-६२; पृ० ७८; ६-३-४४, पृ० ३१४; ७-१-७४, पृ० ७०।

पाणिनि-सूत्रो (४-२-११७-११८) से पता चलता है कि उशीनर वाहीक के अन्तर्गत था। उन्होने उशीनर के अन्तर्गत वाहीक ग्राम वतलाये है। इस प्रकार केकय, उशीनर और मद्र तीनो वाहीक के ही भाग मालूम होते है। इनमे केकय झेलम और चेनाव के वीच मे, मद्र चेनाव और रावी के मध्य मे उत्तरी भाग मे तथा उशीनर दक्षिणी भाग मे था।

वाहीक—यह प्रदेश वाह्लीक से भिन्न था। कर्णपर्व (अ० ४४, श्लोक १० तथा १७) मे कहा है— शाकल नामनगरमापगा नाम निम्नगा। जार्तिका नाम वाहीकास्तेषा वृत्त सुनिन्दितम्॥ इससे स्पष्ट है कि वाहीको को जार्तिक (जाट ?) भी कहते थे। इनकी राजधानी शाकल या स्यालकोट थी। यह राजा मिलिन्द की भी राजधानी थी। वाहीको के वृत्त को महाभारतकार ने निन्दित कहा है। भाष्यकार ने वाहीक की व्युत्पत्ति वहि से मानकर उसे आर्यावर्त्त से वाह्य-प्रदेश वतलाया है।[1] काशिकाकार ने शाकल को वाहीक ग्राम कहा है।[2] भाष्यकार ने वाहीक ग्रामो मे आरात्, कास्तीर, दासरूप्य, शाकल, सौसुक, पातानप्रस्थ, नान्दीपुर, कौकुडीवह और मौज का उल्लेख किया है, जिससे अनुमान होता है कि वाहीक विशाल एव समृद्ध प्रदेश था। यह प्रदेश आर्यावर्त्त से वाह्य, किन्तु उससे सटा हुआ होगा। अन्यथा, मध्यदेशीय पतजलि को उसके गाँवो की इतनी अधिक जानकारी न होती।[3] भाष्यकार ने शाकल को भी ग्राम कहा है, जिससे अनुमान होता है कि शेष ग्रामो की स्थिति शाकल के समान ही वडे कस्वो-जैसी होगी। पूर्वी पजाव वाहीक-प्रदेश था। पाँचनद पाच नदियो का प्रदेश था। इसमे वर्त्तमान पजाव का सारा प्रदेश आ जाता है।[4] राजनीतिक दृष्टि से पाचनद और वाहीक कभी इकाई नही रहे। भाष्यकार ने लोक-व्यवहार की दृष्टि से ही वाहीक और पाचनद प्रदेशो का उल्लेख किया है, जनपद के रूप मे नही।

अम्बष्ठ—इन्हे ग्रीक लोगो ने अवस्तनोइ या अम्वस्तइ कहा है। ये चेनाव के निचले भाग मे रहते थे। ये लोग ऐतरेय ब्राह्मण के समय मे ही पजाव मे वस गये थे।[5] महाभारत मे इनका स्थान उत्तर-पश्चिम भारत वतलाया गया है। पार्जिटर के अनुसार ये पजाव के पूर्वीय अचल मे वसे हुए थे और इनका शिवियो तथा यौधेयो से घनिष्ठ सम्बन्ध था।[6] सम्भवत, वाद मे ये लोग नर्मदा के उद्गम-स्थल मेकल पर्वत के पास चले गये।[7] भाष्यकार ने अम्वष्ठ-प्रदेश के निवासी पुरुषो को आम्वष्ठ्य और स्त्रियो को आम्वष्ठ्या कहा है।[8]

---

१. ४-१-८५, पृ० ९५।
२. ४-२-११७।
३. ४-२-१०४, पृ० २०५ से २१२ तथा ४-२-१२४, पृ० २१५।
४. ८-१-१२, पृ० २७३; ८-३-८२, पृ० ४५८।
५. ऐत० ब्रा०, ७-२१-३।
६. एन० इण्डियन हिस्टा० ट्रेडि०, पृ० १०९-२६४।
७. लॉ: ट्राइव्स इन एन० इण्डिया, पृ० ९७, ३७४।
८. ४-१-१७०, पृ० १६३; ३-१-३, पृ० १९।

त्रिगर्त्त—भाष्यकार ने त्रिगर्त्त-निवासी त्रैगर्त्तको को क्षत्रिय कहा है।[1] त्रिगर्त्त का उल्लेख यौधेयादि गण मे भी है।[2] ये लोक आयुधजीवी थे। कौण्डोपरथ, दाण्डकि, क्रौटकि, जालमानि, ब्रह्मगुप्त और जानकि या जालकि इन छह आयुधजीवी सघो का एक महासघ था। इनमे छठा सघ त्रिगर्त्तो का था।[3]

त्रिगर्तो को महाभारत (सभा प० ५२-१४, १५ तथा द्रोण प० १८-१६) मे पंजाब का और राजतरगिणी (५-१४४) मे काश्मीर के समीप का वतलाया है। हेमचन्द्र के अभिवान-चिन्तामणि मे त्रिगर्त्त और जालन्वर पर्यायवाची कहे गये है।[4] कनिघम ने काँगड़ा-क्षेत्र को, जो जालन्वर मे चम्व पर्वत-श्रेणी और व्यास के उत्तरी मार्ग के वीच मे है, प्राचीन त्रिगर्त्त माना है।[5] यह पुराणो के अनुकूल है, जिनमे त्रिगर्त्तो को पर्वतीय जाति कहा है। वास्तव मे त्रिगर्त्त सतलज और रावी के वीच का प्रदेश था। काँगड़ा इसके अन्तर्गत था और इसकी केन्द्रीय नगरी जालन्वर थी।[6] त्रिगर्त्त नाम रावी, व्यास और सतलज इन तीन नदियो के कछार मे स्थित होने के कारण पडा था। इस प्रकार के गर्त्तान्त नाम रखने की प्रथा जान पडती है। यथा—श्वाविद्गर्त्त, वृकगर्त्त आदि।

त्रिगर्त्त प्राय. अनावृष्टि से पीडित रहता था। महाभारत (२-४८-१३) मे भी त्रिगर्त्त मे अनावृष्टि का विशद वर्णन है। इस सन्दर्भ मे भाष्यकार का यह कथन है कि 'वादल केवल त्रिगर्त्त को छोडकर अन्य सव स्थानो मे वरस गया', विशेप महत्त्व रखता है।[7]

साल्व—४-२-१३३ सूत्र के भाष्य मे कई वार साल्व का उल्लेख है। सूत्र ४-१-१७३ से पता चलता है कि साल्व के अनेक अवयव थे। पाणिनि ने साल्वेय का भी उल्लेख किया है, जो राजविशेप तथा देशविशेप का द्योतक है (४-१-१६९)। काशिकाकार (४-१-१७३) ने साल्वेय और साल्व का अर्थ स्पष्ट करते हुए वतलाया है कि साल्वा एक क्षत्रिया का नाम था, उसकी सन्तान सल्वेय और साल्व कहलाई। उनके निवास का नाम साल्व जनपद हुआ। इस जनपद के उदुम्वर, तिलखल, मद्रकार, युगन्धर, भुलिंग एव शरदण्ड ये छह अवयव थे। इनमे रहने-वाले लोग क्षत्रिय-वृत्ति, अर्थात् आयुधजीवी थे, जो साल्वक कहलाते थे। पाणिनि ने साल्वको की हर शारीरिक चेप्टा को भी साल्वक नाम दिया है। कच्छ, सिन्वु, वर्णु गान्धार, मवुमत्, कम्वोज, काश्मीर, साल्व, कुरु, रकु आदि कच्छादि देशो के पहनाव-ओढ़ाव, वोलचाल, खान-पान के

---

१. ४-२-१०४, पृ० २०९ तथा ४-२-१३७, पृ० २१८।

२. ५-३-११७।

३. येषामायुधजीविनां सङ्घानां षडन्तवर्गास्तत्र त्रिगर्त्तः षष्ठः। त्रिगर्त्तः षष्ठो येषां ते त्रिगर्त्तषष्ठा इत्युच्यन्ते। तेषु चेयं स्मृतिः आहुस्त्रिगर्त्त षष्ठांस्तु कौण्डोपरथदाण्डकिक्रौप्ट-किर्जालमानिश्च ब्रह्मगुप्तोथ जानकिः।— ५-३-११६ का०।

४. जालन्धरास्त्रिगर्त्ताः स्युः।—अभि० चि०, ४-२४।

५. कनिघम : आर्कि० सर्वे रि० भाग ५, पृ० १४८।

६. एपि० इण्डि०, भाग १, पृ० १०२, ११६।

७. ८-१-५, पृ० २७०।

अपने-अपने अलग-अलग रंग थे और उनके अलग-अलग नाम भी थे। उदाहरणार्थ—वाल्हीक भाग पर्णल काञ्छिकी घटा या गैरन्धयिकी चूडा, साल्वक हसित या जल्पित इन सबकी अपनी-अपनी विशेषताएँ थीं।[1] साल्व-जनपद इन सबके अतिरिक्त तीन और बातों के लिए भी प्रसिद्ध था—पदाति सैनिक, बैल और यवागू।[2] साल्व का पदाति साल्व ही कहलाता था, साल्वक नहीं। बैल को साल्वक और यवागू को साल्विका कहते थे।

साल्व का सर्वप्रथम उल्लेख गोपथ-ब्राह्मण में (१-२-९) मिलता है। साल्व जनपद उस भू-भाग का नाम था, जिसे अब अलवर-राज्य कहा जाता है।[3] महाभारत (वनपर्व अ० १४) के अनुसार साल्व की राजधानी साल्वपुर थी, जिसे सौभग नगर भी कहते थे। काशिकाकार ने साल्व-जनपद में वैधूमाग्नी नगरी का नाम दिया है जिसका निर्माण विधूमाग्नि ने किया था।[4] डॉ० अग्रवाल के मत में साल्व अत्यन्त प्राचीन जाति थी जो बलूचिस्तान और सिन्ध होती हुई पश्चिम से आई थी और राजस्थान में बस गई। ये साल्वका-गिरि के रूप में, जो हाला पर्वत का प्राचीन नाम है और जिसका परिगणन पाणिनि ने किंशुलकादि गण (६-३-११७) में किया है, अपने स्मृति-चिह्न पीछे छोड़ आये थे।[5]

उदुम्बर—उदुम्बर साल्व का एक अवयव था जिसका राजा औदुम्बरि कहलाता था।[6] भाष्य में उदुम्बर देश में बहनेवाली नदी का नाम उदुम्बरावती बतलाया है।[7] सभापर्व (२-१८६९) में उदुम्बरों का स्थान मध्यदेश बतलाया है। मार्कण्डेयपुराण (१०८-९) में उदुम्बरों का उल्लेख कपिजलों, कुरुबाह्यों और गजाह्वयों के साथ हुआ है। इनमें गजाह्वय लोग तो हास्तिनपुर के और कुरुबाह्य भी किसी-न-किसी प्रकार कुरुओं से सम्बद्ध रहे होंगे। इससे अनुमान होता है कि ये लोग भी कुरु-प्रदेश के समीप ही कहीं रहे होंगे। पंजाब के कांगड़ा जिले में इनके सिक्के मिल जाने से अब इतना निश्चितप्राय हो गया है कि उदुम्बर देश रावी और व्यास के बीच कांगड़ा घाटी तथा गुरदासपुर जिले के पठानकोट के ही पास पड़ोस का प्रदेश था और यहीं होकर बहनेवाली कोई नदी उदुम्बरावती कहलाती थी। भाष्य में मशकावती के साथ उदुम्बरावती का नाम आने से यह अनुमान किया जा सकता है कि उदुम्बर देश की राजधानी का नाम उदुम्बरावती था, जिसके कारण ही इसके पास से बहनेवाली नदी का नाम उदुम्बरावती पड़ा।

युगन्धर—युगन्धर देश के मनुष्य को यौगन्धर या यौगन्धरक कहते थे।[8] युगन्धर का राजा यौगन्धरि कहलाता था। डॉ० अग्रवाल ने जर्नल एशियाटिक (Journal Asiatic

---

१. ४-२-१३४।
२. ४-२-१३५, ३६।
३. कनिंघम : आर्कि० सर्वे रि०, भाग २०, पृ० १२०।
४. ४-२-७६।
५. पाणिनि, पृ० ५५।
६. २-४-५८, पृ० ४९३ तथा ६-३-१११, पृ० ३६२।
७. ४-२-७१, पृ० १९४।
८. ४-२-१३०, पृ० २१७।

१९२९,पृ०३११–१४) मे उद्धृत एक वैदिक मंत्र (जिसका वेद और सख्या नही दी गई है) के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि युगन्धर यमुना के क्षेत्र मे कही था और इस प्रकार यमुना के ऊपरी भाग तथा सरस्वती के वीच अम्वाला जिले मे उसे मान लिया है। उनके अनुसार जगाधरी युगन्धर का अपभ्रंश माना जा सकता है।[1] श्रीविमलचरण ला का अनुमान है कि दक्षिणी पजाव की पुरानी जीद रियासत ही युगन्धर-जनपद थी। महाभारत (३-१२९-९) मे युगन्धर को कुरु-क्षेत्र का प्रवेश-द्वार कहा है। काशिका के अनुसार युगन्धर साल्वो के अधिकार मे था और साल्वा-वयव गिना जाता था।

स्रुघ्न (१)––स्रुघ्न थानेश्वर से लगभग ४० मील की दूरी पर छोटा-सा जनपद था, जिसका घेरा लगभग १०० मील था। यह पूर्व की ओर गगातट और उत्तर मे ऊँचे पर्वतो की श्रेणी तक विस्तृत था। यमुना इसके बीच से होकर वहती थी। कनिंघम के अनुसार सिरमोर की पहाडियो और गगा के वीच का प्रदेश तथा गढवाल का पहाडी क्षेत्र भी इसके अन्तर्गत था। ह्वेनसाग ने इसे सु-लुकिन-नो कहा है। स्रुघ्न की राजधानी भी स्रुघ्न थी, जिसे आज भी सुघ कहते है।[2] स्रुघ्न मे रहनेवाले स्रौघ्न कहलाते थे। भाष्य मे स्रौघ्नी स्त्रियो का आदरपूर्वक उल्लेख है। भाष्यकार स्रुघ्न जनपद, स्रुघ्न नगर, उसको जानेवाले मार्ग तथा वहाँ की सुख-समृद्धि से सुपरिचित थे।[3]

अजमीढ––भाष्य के अनुसार यह एक जनपद था।[4] काशिकाकार ने इसे जनपदावधि, अर्थात् वडे जनपद का एक अवयव कहा है।[5] सभव है, महाभारत के सुप्रसिद्ध अजमीढ-परिवार से इसका कोई सम्वन्ध हो। ऋग्वेद (७-१८-१९) मे अज लोगो का उल्लेख है, जिन्हे तृत्सु और सुदासजनो ने पराजित किया था। ऋग् (६-४४-६) मे अजमीढ के वशजो आजमीढों की भी चर्चा है। सम्भव है, इन प्रदेशो और नगरो का सम्वन्ध अजो और आजमीढो से हो।

अजक्रन्द––इसका उल्लेख अजमीढ के ही साथ हुआ है। इसे भी काशिका ने जनपदावधि कहा है।[6]

नीप––नीप का राजा नैप्य कहलाता था।[7]

निचक––निचक के राजा को नैचक्य कहते थे।[8] नीप के समान इसके क्षेत्र के विषय मे भी जानकारी उपलब्ध नही है।

---

१. इण्डिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० ५५ तथा पृ० ५७।
२. कनिंघम: एन० ज्या०, पृ० ३९५ से ९९।
३. ४-३-२५, पृ० २३१; ४-३-१२, पृ० २५१; ६-३-४२, पृ० ३२७।
४. ४-१-१७०, पृ० १६३।
५. ४-२-१२५।
६. वही।
७. ४-१-१७०, पृ० १६३।
८. वही।

बुध—बुध जनपद के राजा को बौधि कहते थे।[1] भाष्य में उदुम्बर के साथ भी बुध का उल्लेख है। बुध के राजा तथा उस राज के अपत्य दोनों को ही बौधि कहते थे।[2] बौधि लोगों की चर्चा महाभारत और रामायण में भी आई है।[3] श्री बी० सी० ला के मत से ये लोग पूर्वी पंजाब में किसी स्थान में रहते थे।

जिह्नुक—जिह्नुक का निवासी जैह्नुक कहलाता था।[4]

मालावन—मालावन् लोगों का निवास-देश मालावन था। यह पर्वतीय प्रदेश था और वर्तमान मलाकन्द (उत्तर-पश्चिम सीमाप्रदेश) का पहाड़ी क्षेत्र था।[5]

इसी प्रकार हौरावतीक और बौरावतीक देश इरावती[6] की दो या तीन धाराओं के बीच बसे हुए देशों के नाम थे। भाष्य का निर्देश सम्भवत देश-सामान्य का बोधक है।[7] काशिका में विखल्लि तथा अन्तर्घन जनपदों का नाम आया है।[8] किन्तु, इनकी स्थिति के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। अन्तर्घन काशिका के अनुसार ही वाहीक देश का एक भाग था। इसे पाणिनि ने भी देश कहा है, किन्तु भाष्यकार इसके विषय में मौन हैं।

कुरु—कुरु लोगों का जनपद जिसमें कुरुक्षेत्र या थानेश्वर, सोनपत, अमीन, कर्नाल, पानीपत और पास-पड़ोस का क्षेत्र सम्मिलित था कुरु कहलाता था। इसकी सीमा उत्तर में सरस्वती और दक्षिण में दृषद्वती नदी थी। इसका विस्तार ९०० मील था। और राजधानी इन्द्रप्रस्थ थी। इन्द्रप्रस्थ का क्षेत्रफल २१ मील था।[9]

कुरु जनपद के दो भाग थे— उत्तर कुरु और दक्षिण कुरु। जिमर (वैदि० इन०, भाग १, पृ० ८४) के अनुसार उत्तर कुरु काश्मीर के किसी भाग को कहते थे। कुरु राष्ट्र की स्थापना के विषय में कहा जाता है कि चक्रवर्ती सम्राट् मान्धाता ने पूर्व विदेह अपर गोदान और उत्तर कुरु को विजित किया। विजय के बाद जब वे उत्तर कुरु से लौट रहे थे तब उस देश के बहुत-से निवासी मान्धाता के पीछे-पीछे चले आये। जम्बूद्वीप में जिस स्थान पर वे लोग बस गये, वही कुरु राष्ट्र कहलाने लगा।[10]

कुरु जनपद का राजा भी कुरु कहलाता था। भाष्यकार ने नकुल, सहदेव और भीमसेन को कुरु कहा है।[11] कुरु में रहनेवाले कौरव या कौरवक कहलाते थे।[12] कुरु-वंश की पुरुष-सन्तान को

---

१. वही। २. २-४-५८, पृ० ४९३।

३. सभापर्व, १३-५९० तथा भीष्मपर्व, ९-३४७; अयो० का० १२०-१५।

४. ४-२-१०४, पृ० २१३।

५. ४-२-७२, पृ० १९५।

६. पृ० १०७।

७. ३-२-४८, पृ० २१७।

८. ३-३-४१ तथा ३-३-७८।

९. जातक ५३७ तथा बोधिसत्त्वावदानकल्पलता।—पल्लव ३ तथा ६४।

१०. प्रपञ्चसूदनी, १-२२५, २६।

११. ४-१-११४, पृ० १३९। १२. ४-२-१३०, पृ० २१७।

कौरव्य और स्त्री-अपत्य को कौरव्यायणी कहते थे।[1] भाष्य मे अनेक वार कुरु-प्रदेश तथा कुरुजनो का उल्लेख हुआ है। मथुरा और कुरु के बडे मधुर सम्बन्ध थे।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन कुरु तीन भागो मे विभाजित था--कुरुक्षेत्र, कुरुदेश और कुरुजागल।[3] कुरुक्षेत्र मे यमुना के पश्चिम का सम्पूर्ण प्रदेश था। इसमे सरस्वती और दृषद्वती के बीच की उपजाऊ भूमि सम्मिलित थी। यह प्रदेश पवित्र धर्म-क्षेत्र माना जाता था।[4] गगा और यमुना की मध्यवर्त्ती भूमि कुरुदेश कही जाती थी। कुरुजागल ऊषर जगल-भाग था, जो गगा और उत्तर पचाल के बीच काम्यक वन तक फैला हुआ था।[5] कुरु की राजधानी हास्तिनपुर थी, जो गगा के तट पर वसी हुई थी।[6]

पंचाल---कुरु के पूर्व मे पचाल और दक्षिण मे मत्स्य था। वर्तमान वरेली, वदायूं, फर्रुखाबाद तथा पास-पडोस के जिले एव उत्तरप्रदेश का मध्यवर्ती दोआव पचाल-प्रदेश कहलाता था। इसके पूर्व मे गोमती और दक्षिण मे चम्बल वहती थी। इस प्रकार, पचाल उत्तर मे हिमालय से चम्बल तक फैला हुआ था।[7] उत्तरकालीन वैदिक सहिताओ तथा ब्राह्मण-ग्रन्थो मे पचाल लोगो का सैकडो वार उल्लेख हुआ है। वृहदारण्यक (६-१-१) एव छान्दोग्य (५-३-१) उपनिषदो तथा साख्यायन श्रौतसूत्र (१२-१३-६) मे पचाल के ब्राह्मणो द्वारा दार्शनिक चर्चा मे भाग लिये जाने का वर्णन है। पचाल उत्तर और दक्षिण दो भागो मे विभक्त था।[8] उत्तर पचाल की राजधानी अहिच्छत्र और दक्षिण पचाल की काम्पिल्य थी। यह अत्यन्त प्राचीन नगर था, जिसका उल्लेख वाजसनेयी सहिता (२३-१८) तक मे मिलता है। उत्तर भाग मे गगा के पूर्व तथा अवध के उत्तर-पश्चिम के जिले एव दक्षिण भाग मे कुरु और शूरसेन-जनपदो से दक्षिण-पूर्व का तथा गगा-यमुना के बीच का पूर्वी प्रदेश इसमे सम्मिलित था।

पतजलि ने भी पचाल के दो भाग वतलाये है---पूर्व और उत्तर। भाष्यकार ने अपने कथन को तीन वार दुहराया है,[9] जिससे स्पष्ट है कि उनकेसमय मे पचाल के ये ही विभाग प्रसिद्ध थे। भाष्यकार इस प्रदेश से वहुत निकट रूप मे परिचित भी थे, यह वात उनके अनेक उल्लेखो से स्पष्ट है। उन्होने इस जनपद को सुभिक्ष, सम्पन्नपानीय तथा वहुमाल्यफल कहा है।[10] पचाल राजतन्त्र जनपद था। उत्तर काल मे जिस प्रकार कुरु-प्रदेश मे सघ-शासन वन गया, उस प्रकार पचाल मे नही वन सका। कौटिल्य ने कुरुओ को 'राजशब्दोपजीविन' कहा है।[11]

---

१. ४-१-१९, पृ० ४४।
२. ४-१-१४, पृ० ३४।
३. महाभारत, आदिपर्व, ९-४३३७-४०।
४. वनपर्व, १३३-५०७१, ७८; ८०८३, ७६।
५. रामा०, अयो० का०, अ० १२२। सभापर्व, १९-७९३, ९४।
६. २-१-१६, पृ० २७३।
७. कनिघम: एन० ज्या०, पृ० ३६०।
८. रैप्सन: एन० इण्डिया, पृ० १६७।
९. आ० १, पृ० २७, ४-३-१५५, पृ० २६५; ५-१-११५, पृ० ३४७।
१०. १-२-५२, पृ० ५५४।
११. अर्थशास्त्र, अनु० शामशास्त्री, पृ० ४५५।

भाष्य मे सुपचाल, अर्धपचाल और पूर्वपचाल के निवासी को क्रमश सुपाचालक, अर्धपाचालक और पूर्वपाचालक कहा है[1] और वहाँ के एक शासक ब्रह्मदत्त का उल्लेख किया है।[2]

रकु—रकु-प्रदेश मे रहनेवालो को राकवक कहते थे।[3] पाणिनि के अनुसार इस देश की मनुष्य से भिन्न वस्तुओ को राकवक या राकवायण कहा जाता था। काशिका के अनुसार रकुदेश बैलो और कम्वलो के लिए प्रसिद्ध था।[4] डॉ० अग्रवाल यह प्रदेश अलमोडा के आसपास बतलाते है।[5]

भारद्वाज—पाणिनि ने भारद्वाज को भी देश कहा है, जिसके अन्तर्गत कृकण और पर्ण नामक ग्राम थे। भाष्यकार ने ऐणीक और सौसुक ये दो ग्राम भी भारद्वाज देश के अन्तर्गत वतलाये हैं।[6] पार्जिटर के अनुसार महाभारत में भारद्वाज-प्रदेश का उल्लेख प्राय गगा के ऊपरी भाग के पर्वत-प्रदेश के लिए हुआ है और इस आधार पर वे गढवाल को भारद्वाज-प्रदेश मानते है।[7] अत्रि या आत्रेय और भारद्वाजो का महाभारत, पुराणो तथा पाणिनि के गणपाठ तथा महाभाष्य मे अनेक बार जो साथ-साथ उल्लेख मिलता है,[8] उसका कारण इन गोत्रो का पारस्परिक मैथुनिक (दाम्पत्य) सम्बन्ध है।

कोसल—भारत के सोलह महाजनपदो मे कोसल भी सम्मिलित था।[9] इसके पश्चिम मे कुरु-पचाल तथा पूर्व मे विदेह था। सदानीरा (गण्डक) नदी इसे विदेह से पृथक् करती थी।[10] कोसल लोग सूर्यवशी मनु के वशज थे। इनके पूर्वज इक्ष्वाकु थे, इसलिए कोसल को इक्ष्वाकु-जनपद भी कहते थे।[11] रामायण-काल मे इस जनपद को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ, किन्तु राम के बाद वह दो भागो मे विभक्त हो गया। उनके बड़े पुत्र कुश दक्षिण-कोसल के शासक हुए। उन्होने कुशस्थली नगरी, जिसे विन्ध्यमाला मे उन्होने ही बसाया था, राजधानी बनाई (वायु पु० ८८-१९८)। छोटे पुत्र लव उत्तर-कोसल के राजा हुए। उन्होने अपनी राजधानी श्रावस्ती मे स्थापित की। जैन और बौद्ध साहित्य मे कोसल के अनेक स्त्री-पुरुषो की कथाएँ हैं। बौद्धधर्म के प्रारम्भ-काल मे भी कोसल के उत्तर और दक्षिण ये दो भाग मिलते है। उत्तर-कोसल की दो राज-

---

१ १-१-७२, पृ० ४५४।
२. अधि ब्रह्मदत्ते पञ्चालाः २-३-९, पृ० ४१२।
३. ४-२-१००, पृ० २०३।
४. वही, काशिका।
५. पाणिनि, पृ० ५९।
६. ४-२-१४५, पृ० २१९।
७. पार्जिटर: मार्क० पु०, पृ० ३२०।
८. २-४-६२, पृ० ५००; ४-१-८९, पृ० १०५।
९. अगु० नि०, १-२१३।
१०. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डि०, भाग १, पृ० ३०८।
११. ४-२-१०४, पृ० २१३।

धानियाँ थी—श्रावस्ती और साकेत। सरयू नदी इन दोनों के बीच विभाजक रेखा थी। रामायण तथा अन्य प्रारम्भिक बौद्धग्रन्थो के अनुसार कोसल की पहली राजधानी अयोध्या थी, किन्तु बुद्ध के समय मे उसका महत्त्व कम होता गया। रीज डेविड्स के अनुसार साकेत और अयोध्या दोनो दो पृथक् नगर थे।[1] श्रावस्ती और साकेत भारत के प्रमुख नगरो मे गिने जाते थे। इनके अतिरिक्त सतेव्य और उक्कत्थ भी बड़े नगर थे।

काशी और कोसल लगभग समान शक्ति और क्षेत्रफलवाले जनपद थे। बाद मे कोसल अधिक शक्तिवान् बन गया और अन्त मे उत्तर-कोसल श्रावस्ती के नाम से प्रसिद्ध हुआ। महाभाष्य मे काशिकोसलीयो का साथ-साथ ही उल्लेख मिलता है, यद्यपि पृथक् जनपदो के रूप मे उन्होने उसमे इन्हे जनपद-समुदाय कहा है। इनमे एक जनपद दूसरे की अवधि, अर्थात् उसका अवान्तर भाग नही था।[2] कोसल की सन्तान कौसल्यायनि कहलाती थी।[3]

काशी—कोसल के समान काशी भी महाजनपद थी।[4] भाष्य मे इसका उल्लेख सदा कोसल के साथ हुआ है। इसकी राजधानी वाराणसी थी। महाभारत-युद्ध के पूर्व ही काशी को राजनीतिक महत्त्व प्राप्त हो चुका था। उसकी सीमा गोमती तक विस्तृत थी। यह भारत का सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य था।[5] कभी काशी का अधिकार कोसल पर और कभी कोसल का काशी पर हो जाता था। पतजलि इस स्थिति से परिचित थे। उन्होने 'काशिकोसलीय' को इसी दृष्टि से एकीभूत जनपद और जनपद-समुदाय कहा है।[6] राजनीतिक दृष्टि से क्षीण हो जाने पर काशी कभी कोसल का और कभी मगध का अग बना। काशी को लेकर ही कोशल के प्रसेनजित् और मगध के अजातशत्रु मे झगडा हुआ, जिसमे प्रसेनजित् हार गया और काशी मगध मे सम्मिलित हो गई।[7]

ऋषिक—ऋषिक जनपद के निवासी या उसमे होनेवाली वस्तुएँ आर्षिक कहलाती थी।[8] ऋषिक सम्भवत शूरसेन-जनपद का एक नाम था, जिसे मनु ने ब्रह्मर्षि देश कहा है।[9]

इक्ष्वाकु—इक्ष्वाकु-जनपद, जिसे भाष्यकार ने क्षत्रिय-निवास होने के कारण 'इक्ष्वाकव', कहा है, कोसल का दूसरा नाम था। इसके निवासी ऐक्ष्वाक कहलाते थे।[10]

निलीनक—निलीनक मे होनेवाली वस्तु या व्यक्ति को नैलीनक कहते थे।[11]

---

१. बुद्धिस्ट इण्डि०, पृ० ३४।
२. ४-१-५४, पृ० ६८।
३. ४-१-१५५, पृ० १५०।
४. अंगु० नि०, १-२१३, ४-२५२।
५. संयुत्त नि०, १-८२ से ८५।
६. जनपदसमुदायो जनपदग्रहणेन न गृह्यते काशिकोसलीया इति।—४-१-५४, पृ० ६८।
७. जातक, ३-११५।
८. ४-२-१०४, पृ० २१३।
९. मनु, २-१९।
१०. ४-२-१०४, पृ० २१३।
११. ४-२-५२, पृ० १८४।

आरोहणक—आरोहणक मे होनेवाली वस्तु या व्यक्ति आरोहणकीय कही जाती थी।[१]

राजन्यक—राजन्यक, दैवयातवक, वैल्ववनक, आम्बरीषपुत्रक और आत्मकामेयक नाम की छोटी-छोटी जागीरे गान्धार, शैव और वामात् जनपदो के समीप मे थी, जिनपर क्रमश राजन्य, देवयातव, विल्ववन, अम्बरीषपुत्र और आत्मकामेय नामक आयुधजीवी पर्वतीय क्षत्रियो का अधिकार था।[२] ये सब प्रदेश पश्चिमोत्तर भारत मे थे। वहाँ के निवासी क्षत्रियो के स्थानान्तरण के साथ इन प्रदेशो की सीमाएँ भी बदलती रहती थी।

कुन्ति—कुन्ति का उल्लेख भाष्य मे सर्वत्र कुरु और अवन्ति के साथ हुआ है, जिससे इसका जनपद होना स्पष्ट है। भाष्य के अनुसार कुन्ति का राजा कौन्त्य तथा कुन्तिराज की पुत्री कुन्ती कहलाती थीं। कुन्ति-जनो का उल्लेख काठकसहिता के एक मत्र मे है। इन्होंने पाचालो को पराजित किया था। इनका प्रदेश पचाल और कुरु-जनपद के समीप ही कही था।

वृजि—भाष्यकार ने कुरु और वृजि के गार्हपत (परिवार-व्यवस्था) का विशेषत. उल्लेख किया है।[३] ये व्यवस्थाएँ, परस्पर भिन्न थी। कुरु मे परिवार छोटे-छोटे होते थे और वृजि मे बहुत बड़े-बडे। आज भी यह अन्तर पूर्ववत् विद्यमान है।

वृजि अष्टकुलक जाति-सघ का सदस्य था, जिसमे विदेह, लिच्छवि तथा वृजि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थे। ज्ञातृक, उग्र, भोज और ऐक्ष्वाक भी इस सघ के घटक थे। आठवे सदस्य का नाम ज्ञात नही है। वज्जि नामक क्षत्रिय जाति का निवास और विषय वज्जि या वृजि कहलाता था। इनका भी लिच्छिवियो के समान वैशाली से निकट सम्बन्ध था। यही अष्टगणसघ का प्रमुख नगर था। इसका वैभव अपार था। वृजियो का एक सघ या गण था। इसका पाटलिपुत्र से भी मधुर सम्बन्ध रहा, किन्तु बाद मे अजातशत्रु ने इसे तहस-नहस कर डाला। वृजिसघ की जनता, जो सघ की भक्त थी, वृजिक कहलाती थी। भाष्य मे मद्र और वृजि के प्रति भक्ति का विशेषत उल्लेख है।[४]

विदेह—विदेह वर्त्तमान तिरहुत क्षेत्र का नाम था, जिसे सदानीरा या गण्डकी नदी कोसल राज्य से पृथक् करती थी। इसकी राजधानी मिथिला थी। ब्राह्मण-काल से भी पूर्व विदेह सस्कृत हो चुका था। शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार विदेह मे आर्य-सस्कृति के प्रथम प्रवर्त्तक विदेघ माथव थे, जिन्होंने प्रतीच्य भाग से ज्ञान की ज्योति लाकर यहाँ जलाई।[५] विदेहो का कोसलो और कभी काशी के साथ सयुक्त उल्लेख भी मिलता है।[६] पचविंश ब्राह्मण (२५-१०-१७) मे यहाँ के राजा निमिसाप्य का उल्लेख है।[७] वैदिक काल से बौद्धकाल तक विदेह वैदिक सस्कृति का महान् केन्द्र रहा।

१. ४-२-१०४, पृ० ११३।
२. ४-२-५२, पृ० १८४।
३. ६-२-१४२, पृ० २५८
४. ४-३-१००, पृ० २४६।
५. शत० ब्रा०, १-४-१-१० ।
६. तैत्ति० ब्रा०, ३-१०९-९ ।
७. पंचविंश ब्रा०, २५-१०-१७ ।

भाष्य ने विदेह के राजा को वैदेह कहा है। दूसरे स्थान पर विदेह को एकराज्य से भिन्न सघराज्य माना है, जिससे पता चलता है कि बौद्धकाल मे विदेह भी सघराज्य था।[१]

मगध—वर्त्तमान पटना और गया जिले मोटे तौर पर प्राचीन मगध कहलाते थे। दिव्यावदान मे इसे सर्वरत्नमय सुन्दर नगर कहा है।[२] पतजलि ने इसे आर्यावर्त्त की सीमा के वाहर माना है। मगध की राजधानी गिरिव्रज या प्राचीन राजगिरि थी, जो पॉच पर्वतो से घिरी थी। इसका क्षेत्रफल लगभग २३०० मील था। दक्षिण मे विन्ध्य और पश्चिम मे सोन मगध की सीमा थी। मगध बौद्धधर्म का प्रसिद्ध केन्द्र रहा। यही सारिपुत्त और मौद्गल्यायन ने बौद्धधर्म की दीक्षा ली थी। अशोक के समय मे मगध की राजधानी पाटलिपुत्र थी। प्रारम्भिक बौद्धकाल मे यह व्यापार का भी वडा केन्द्र था। मगध और लिच्छवि-सघ की सीमा का निर्धारण गगा से होता था। इसी प्रकार, मगध और अग की सीमा चम्पा नदी थी। मगध और अग मे समय-समय पर युद्ध होता रहता था। इसके वैवाहिक सम्बन्ध अनेक महाजनपदो से थे। गान्धार तक से मगध के राजनीतिक सम्वन्ध थे।

मगध के निवासी को मागधक कहते थे। सुमागधक, अर्धमागधक, पूर्वमागधक शब्द भी भाष्य मे आये हैं।[३] मद्र के समान मगध भी अच्छा उपजाऊ प्रदेश था। इसी कारण उसके लिए 'सुमगधा' शब्द का प्रयोग किया है। अन्यत्र भी भाष्य मे ऋद्धि अर्थ मे किये गये समास का उदाहरण 'सुमद्रम्' और 'सुमगधम्' ही मिलता है।[४] मगध मे चावल की उपज विशेष थी। भाष्यकार ने मगध-शालि का इस प्रकार उल्लेख किया है, जिससे पता चलता है, कि वे उच्चकोटि के होते थे और मगध से दूर-दूर तक निर्यात किये जाते थे।[५] मथुरा के वस्त्रो के समान ही मगध की शालि का वाहर आदर था। भाष्य मे मगध के राजा का भी उल्लेख मिलता है।

अंग—मगध के पूर्व मे अग लोग रहते थे। इनकी राजधानी चम्पा (भागलपुर) के पास थी। अग प्रसिद्ध षोडश महाजनपदो मे था। दिग्घनिकाय (२-२३९) के अनुसार यह भारत के सात प्रमुख राजनीतिक विभागो मे से एक था। बुद्ध के समय मे यह मगध के अधीन वन गया और इसके वाद इसकी स्वतन्त्रता का उल्लेख नही मिलता, यद्यपि इसके पूर्व वह स्वतन्त्र था।[६]

अग जनपद वर्त्तमान भागलपुर, मुंगेर जिलो तथा पास-पड़ोस के प्रदेश का नाम था। यह उत्तर मे कोसी नदी तक विस्तृत था।

भाष्यकार ने अग, वग, सुह्म और पुण्ड्र का एक साथ उल्लेख किया है और इनके निवास

---

१. ४-१-१६८, पृ० १६२।
२. दिव्यावदान, पृ० ४२५।
३. १-१-७२, पृ० ४५४।
४. २-४-८४, पृ० ५१५।
५. तानेव शालीन् भुञ्ज्महे ये मगधेषु।—आ० २, पृ० ४४।
६. जातक, ५-३१६, ६-२७१।

उन्मत्तगंग और लोहितगंग--प्रदेशो से भी भाष्यकार परिचित थे।[1] ये प्रदेश गगा के किनारे थे, इसमे सन्देह नही। काशिकाकार ने इनमे कृष्णगग तथा शनैर्गंग नाम और जोड दिये है। ये प्रदेश-विशेपो के रूढ नाम थे। सार्थक और रूढ नाम का उदाहरण काशिका ने शीघ्रगग देश दिया है। शीघ्रगग किसी प्रदेश-विशेष का नाम न था, अपितु जिस स्थान पर गगा का प्रवाह तेज होता, उस प्रदेश को कह सकते थे। इन प्रदेशो के विषय मे कुछ ज्ञात नही है।

किष्किन्धा---किष्किन्ध-गन्धिको मे किष्किन्ध सुप्रसिद्ध किष्किन्धा पर्वत के पास रहने-वाले थे। यह पर्वत भारत के दक्षिण मे औड्र-प्रदेश था, जिसमे प्रसिद्ध किष्किन्धा गुहा थी।[2] यही राम.यण के वालि का निवास-स्थान था। इसके पास-पड़ोस का क्षेत्र, जो आजकल मैसोर मे है तथा जहाँ से पम्पा नदी निकली है, किष्किन्धो का प्रदेश था। गन्धिक लोग इन्ही के पडोसी थे।[3] रामायण के अनुसार ये असभ्य जातियाँ थी।

क्रौंच---क्रौच लो‹ क्रौच पर्वत के निवासी थे। यह हिमालय के एक भाग का नाम था, जो आसाम के उत्तर मे हिमालय की पूर्वी श्रेणी के अन्तर्गत था। पुराणो के अनुसार कार्त्तिकेय ने इसका भेदन किया था। इसके दो भागो के बीच का मार्ग क्रौचरन्ध्र कहलाता था। क्रौचो की राजवानी क्रौचपुर थी। शौर्य लोग इन्ही के पड़ोसी रहे होगे। भाष्य मे शौर्य ग्राम का भी उल्लेख है।[4] हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व मे भी शौर्य नगर का नाम आया है। सम्भव है, यह नगर शौर्य लोगो की राजवानी रही हो। भाष्यकार ने किष्किन्ध, गन्धिक, शौर्य और क्रौच को आर्यावर्त्त से निरवसित माना है।[5]

अवन्ति---अवन्ति, जिसे अवन्तिका भी कहते थे, भारत के पश्चिमी भाग मे नर्मदा के किनारे पर स्थित प्रदेश था।[6] रीज डेविडस के अनुसार अवन्ति विन्ध्य-पर्वत के उत्तर मे तथा वम्वई-प्रदेश के उत्तर-पूर्व मे थी।[7] आपके मत से दूसरी शताब्दी के अन्त तक यह प्रदेश अवन्ति कहा जाता रहा, किन्तु वाद मे इसका नाम मालव पड़ गया।[8] अवन्ति के दक्षिणी और उत्तरी दो भाग थे। दक्षिणी भाग की राजधानी माहिष्मती और उत्तरी भाग की उज्जयिनी थी, जो शिप्रा नदी के तट पर वसी थी। मोटे तौर पर वर्त्तमान मालवा, निमाड़ और पास-पडोस का क्षेत्र इसके अन्तर्गत था। प्राचीन भारत मे अवन्ति-क्षत्रिय वड़ी शक्तिशाली जाति के थे। अवन्ति के राजा को आवन्त्य और उसकी पुत्री को भाष्य मे अवन्ती कहा है।[9]

---

१. १-४-१, पृ० १०६।
२. ६-१-१५७, पृ० १९४।
३. २-४-१०, पृ० ४६५।
४. वही।
५. वही।
६. अवन्तिषु प्रतीच्या वै।---वनपर्व, ३-८९।
७. साम्स ऑफ् दि व्रदरेन, पृ० १०७।
८. वुद्धि० इण्डि०, पृ० २८।
९. ४-१-१७०, पृ० १६४ तथा ४-१-१४, पृ० ३७ ; १-२-३९, पृ० ५४८।

महिष्मान्—महिष्मान् माहिषको का निवास था।[१] माहिष (क) लोगो की चर्चा पुराणो मे आई है और वहाँ उन्हे दाक्षिणात्य कहा है।[२] इनकी राजधानी माहिष्मती विन्ध्य और ऋक्ष पर्वतो के बीच नर्मदा-तट पर अवस्थित थी। इसके चारो ओर का प्रदेश महिष्मान् कहलाता था।

विदर्भ—पतजलि ने विदर्भ का उल्लेख किया है और उसके राजा को वैदर्भ कहा है।[३] यह वर्त्तमान बरार का प्राचीन नाम था। कालिदास के मालविकाग्निमित्र (५-२०) मे शुगकाल मे विदर्भ को 'अचिराधिष्ठित' राज्य कहा है और उसके राजा को 'नवसरोपणशिथिलस्तरु'।

केरल—केरल तमिल के चेरल का कनाड़ी रूप है। इसका प्राचीन नाम चेर या चेरल-नाडु था। चेरल का अर्थ है पर्वत-श्रेणी। स्मिथ के अनुसार चन्द्रगिरि नदी के दक्षिण मे पश्चिमी घाट का प्रदेश प्राचीन केरल था।[४] वर्त्तमान मलाबार ट्रावन्कोर और कोचीन प्राचीन केरल के घटक थे। भाष्यकार ने केवल एक स्थान पर केरल का उल्लेख किया है और उसके राजा को भी केरल कहा है।[५]

चोल—चोल तजोर और त्रिचनापल्ली जिलो तथा पुडुवकोट्टा रियासत के कुछ भाग का प्राचीन नाम था। इसकी राजधानी उरगपुर (उरैयुर) थी, जिसे अब त्रिचनापल्ली कहते हैं। भाष्य मे केरल के साथ ही इसका नाम आया है।

पाण्ड्य—प्राचीन पाण्ड्य-प्रदेश के अन्तर्गत वर्त्तमान मदुरा और तिन्नवल्ली जिले एव सम्भवत रामनद और त्रावकोर-कोचीन राज्यो का दक्षिण भाग था। इसकी दो राजधानियाँ थी—कोलड तथा मदुरा (दक्षिण मथुरा)। ताम्रपर्णी और कृतमाला (वेगट्ट) नदियाँ इससे होकर बहती थी।[६]

भाष्यकार ने पाण्डु शब्द का प्रयोग देश के अर्थ मे किया है और उसके राजा को पाण्ड्य कहा है।[७] इससे अनुमान होता है कि दक्षिण मे भी पाण्डु का कोई राज्य था, यद्यपि इसका शासक स्वतन्त्र था। मदुरा (मथुरा) भी पाण्ड्य और उत्तर भारत के निकट सम्बन्ध की ओर सकेत करता है। सभव है, पतजलि की पाण्ड्य शब्द की व्युत्पत्ति इस कल्पना पर आश्रित हो, क्योंकि पाण्डुलोगो के किसी दक्षिणी राज्य का उल्लेख अन्यत्र नही मिलता।

उग्र—उग्र बड़ी पुरानी तथा किसी समय सुप्रसिद्ध जाति थी। वृहदारण्यक उपनिषद् (३-८-२) मे इसका उल्लेख है। अगुत्तरनिकाय (१-२६) से उनका सम्बन्ध वैशाली से जान पड़ता है और हस्तिग्राम से भी। सूत्रकृताग से यह सकेत मिलता है कि उग्रो का सम्बन्ध ज्ञातृको

---

१. ४-२-८७, पृ० १९६ ।
२. मार्कण्डेय पु०, १०७-४६ तथा मत्स्य पु०, १३-४७ ।
३. १-४-१, पृ० ९७ ।
४. अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, पृ० ४६६ ।
५. ४-१-१७५, पृ० १६४।
६. रायचौधरी: पालि० हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, पृ० ३२८।
७. ४-१-१६८, पृ० १६३ ।

और लिच्छवियों से था। पतजलि ने उग्रो का उल्लेख किया है, किन्तु यह निश्चित नही कि वे किसी उग्र-प्रदेश से भी परिचित थे।[1]

भोज— उग्रो के साथ ही भाष्य मे भोज का भी उल्लेख है। उन्होंने उग्रपुत्री और भोज-पुत्री का भी उल्लेख किया है। भोज यादव जाति के थे और उत्तर पूर्वी गुजरात मे रहते थे। प्रारम्भ मे इनके मध्य तथा दक्षिण-भारत मे रहने का प्रमाण मिलता है। पुराणो मे सात्वतो और भोजो को यदुवश का अग वतलाया गया है।[2] महाभारत ने इन्हे द्रुह्य का वशज माना है।[3]

मद्रकार— महाभारत (सभापर्व १३-५९०) के मद्रकार या मद्रको का यह प्रदेश कुरु, मत्स्य और शूरसेन जनपदो के समीप था। भाष्यकार ने मद्रह्लद के साथ भद्रह्लद का उल्लेख किया है, जिससे अनुमान होता है कि वे मद्र के समान भद्र देश से भी परिचित थे।[4]

आत्रेय—मार्कण्डेयपुराण मे (५७-३९) आत्रेयो का पुष्कलो, कुशेरुको और लम्पाकों के साथ उल्लेख है। मत्स्यपुराण मे अत्रि और आत्रेयो को एक माना है।[5] महाभारत मे भी इनका अनेक वार नाम आया है।[6] ये सरस्वती के पास द्वैतवन मे रहते थे। भाष्यकार ने भारद्वाजो के साथ ही इनका उल्लेख किया है।[7]

वत्स—वत्सो का उल्लेख भाष्य मे अनेक वार मिलता है[8], किन्तु विदों और उर्वों के साथ सदा इनका नाम आने से यह स्पष्ट नही कहा जा सकता कि उनका आशय वत्सगोत्रीय लोगों से है या वत्स-जनो से। वश, वश या वत्स देश का उल्लेख वैदिककाल से ही प्राप्त होता है। साख्या-यन श्रौतसूत्र (१६-११-२३) मे भी वत्सो की चर्चा है। इस जनपद की राजधानी कौशाम्बी का नाम भाष्य मे अनेक वार आया है। वौद्धकाल से पूर्व उत्तर-भारत मे चार वडे राज्य थे—मगध, कोसल, अवन्ति और वत्स। ये समीप के छोटे राज्यो को हडपकर वलवान् वने थे। मगध ने अंग को, कोसल ने काशी को, अवन्ति ने शूरसेन को और वत्स ने भर्ग को आत्मसात् कर लिया था। वत्स, मगध और अवन्ति का मध्यवर्त्ती राज्य था।

आभीर—पतजलि ने शूद्रो के साथ आभीरो का उल्लेख किया है।[9] महाभारत (शान्ति-पर्व, अ० ५१) के अनुसार ये अपरान्तक प्रदेश के निवासी थे। इसका समर्थन 'दि पेरिप्लस ऑव दि एरिथ्रियन सी' के लेखक ने भी किया है। पेरिप्लस का काल पतजलि के कुछ ही वाद का है। महाभारत (९-३७-१) मे इनकी ठीक स्थिति पश्चिमी राजपूताना मे वतलाई है। टालेमी और

१. ६-३-७०, पृ० ३४७।
२. मत्स्य पु०, ४३-४८; वायु पु०, ९४-५२।
३. आदिपर्व, अ० ८४।
४. आ० २, पृ० ६९।
५. मत्स्य पु०, ११३-४३।
६. महाभारत, वनपर्व, २६-९७१।
७. २-४-६२, पृ० ५००।
८. १-२-६४, पृ० ५७८।
९. १-२-७२, पृ० ६०७।

पेरिप्लस आभीर या अबेरिया देश का सुराष्ट्र से घनिष्ठ सम्बन्ध बतलाते हैं। टालेमी के समय मे इण्डोसीदिया, जिसमे पेरिप्लस के अनुसार आभीर देश भी सम्मिलित था, तीन भागो मे बँटा था—सुराष्ट्र, पाताल और आभीर। ईसा-पूर्व दूसरी शती के मध्य मे सम्भवत यह देश बैक्ट्रियन ग्रीको के अधिकार मे चला गया, किन्तु समुद्रगुप्त की इलाहाबाद-प्रशस्ति के अनुसार ईसा की दूसरी शती मे यह दक्षिण-पश्चिम भारत की सशक्त जाति बन चुकी थी।

यौधेय—यह पाणिनि से पूर्व की ही वीर क्षत्रिय जाति थी। पुराणो के अनुसार ये उशीनरो की वश-परम्परा मे थे।[1] कनिंघम ने इन्हे मुलतान के पास-पडोस के जोहियवर (यौधेय-वार) क्षेत्र मे रहनेवाले जोहिया राजपूतो से सम्बद्ध बतलाया है।[2] इनके तीन वर्ग थे। यौधेयो के प्राप्त सिक्को से भी इस बात की पुष्टि होती है, जिसमे 'जय यौधेयगणस्य' के साथ 'द्वि' और 'त्रि' अंकित[3] है। यह 'द्वितीयस्य' और 'तृतीयस्य' का बोधक है। रुद्रदामन् के समय मे इन लोगो का सुदृढ सेना-सगठन था। गिरिनार के शिलालेख से यह बात स्पष्ट है।

शालंकायन— भाष्य मे बामरथो और शालकायनो का नाम आया है। ये नाम सम्भवत. गोत्रो के है। शालकायनो के तीन विभाग थे।[4] इनके अपने सघ भी थे। डॉ० जायसवाल इन्हे राजनीतिक सघ मानते है। इनके किन्ही प्रदेशो की कोई जानकारी अभी तक प्राप्त नही है। सम्भवतः ये क्षात्रसघ थे, राजनीतिक नही।

त्रिपुरी—त्रिपुरी चेदि-राज्य की राजधानी थी[5], किन्तु गुप्त राजाओ के समय मे यह एक प्रान्त था और राष्ट्रिय के अधिकार मे था। त्रिपुरी प्राचीन चेदि-राज्य (वर्तमान जबलपुर के समीप का क्षेत्र) के रूप मे भी प्रसिद्ध थी।

---

१. ब्रह्माण्ड पु०, ३-७४ तथा हरिवंश, अ० ३२।
२. एन० ज्या०, पृ० २४५, २८१।
३. रैप्सन: इण्डियन क्वायन्स, पृ० १४।
४. ५-१-५८, पृ० ३२६।
५. २-१-५१, पृ० २९९।

अध्याय ५

नगर और ग्राम

ग्राम और उनके भेद—भाष्यकार ने चार प्रकार के सस्त्याय (वस्तियाँ) बतलाये हैं—ग्राम, घोष, नगर और सवाह।[1] जिस वस्ती मे कुछ ब्राह्मण, कृषक तथा पचकारुकी रहते थे, वह गाँव कही जाती थी। जिस स्थान मे गाय-भैस आदि पशु पालनेवाले लोग प्रमुखता से रहते थे, उसे घोष कहते थे। जिस वडी वस्ती मे भिन्न जातियो के वहुत-से लोग अलग-अलग अपने मुहल्ले वनाकर रहते थे, वह नगर कहलाती थी तथा नगर के समान वसी हुई, किन्तु उससे भी वडी वस्ती को सवाह कहते थे।[2] भाष्य मे नगरी का भी उल्लेख है, किन्तु नगर से उसका भेद स्पष्ट नही किया गया है।[3] भाष्यकार ने इन चारो सस्त्यायो को आर्य-निवास कहा है।[4]

सामान्यतया ग्राम प्रत्येक वस्ती को कहते थे, चाहे वह घोष हो या नगर। जव वस्ती की विशेषता का उल्लेख करना होता था, तभी नगर, सवाह आदि शब्द व्यवहार मे आते थे। इसीलिए 'विशिष्टलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामा' (२-४-७) सूत्र के लिए वार्तिककार को 'ग्रामप्रतिषेधे नगरप्रतिषेध' वार्तिक का निर्माण करना पडा, जिससे ग्राम कहने से केवल ग्राम का ही ग्रहण हो, नगर का न हो। आज भी राजस्थान और महाराष्ट्र मे ग्राम शब्द सामान्यतया हर वस्ती के लिए प्रयुक्त होता है। 'प्राचा ग्रामनगराणाम्' (७-३-१४) सूत्र के भाष्य मे पतजलि ने कहा है कि ग्राम और नगर मे कोई अन्तर नही है। जो काम गाँव मे होते है, वे ही नगर मे होते हैं और जो गाँव मे वर्जित है, वे नगर मे भी वर्जित है। फिर भी, जव सस्त्याय-विशेष वतलाना होता है, तव ग्राम और नगर का अलग-अलग नाम लेना पड़ता है। इस विषय मे कोई कठोर नियम नही है। कभी ग्राम कहने से केवल ग्राम का ही वोध होता है और कभी नगर का भी। ब्राह्मण (३-४४) तथा जैमिनीय उपनिषद् मे जिन महाग्रामो की चर्चा है, वे सभवत सवाह रहे होंगे। केगी के अनुसार वैदिकयुगीन भारत मे नगर नही थे। यद्यपि वाजसनेयी सहिता (३३-१८) मे काम्पिल्य का उल्लेख है। पश्चिम भारत मे ग्रामो की सख्या वहुत थी। वहाँ पूर्व के समान अरण्य नही थे। ऐतरेय (६-३३) और शतपथ-ब्राह्मण (१३-३-७-१०) मे जिन महारण्यो की चर्चा है, वे पूर्व मे ही थे। महाभाष्य मे उदीच्य और वाहीक प्रदेश के ही ग्रामो का उल्लेख है। शेष भारत के नगरो के ही नाम आये है।

---

१. संस्त्यायविशेषा ह्येते ग्रामो घोषो नगरं संवाह इति।—७-३-१४, पृ० १८० ।

२. प्राकारो नगरस्य, ५-१-१३, पृ० ३०४।

३. ८-४-४२ पृ० ४९६।

४. कः पुनरार्यनिवासः? ग्रामो घोषो नगरं संवाह इति।—२-४-१०, पृ० १५४।

भाष्य में ग्रामों और नगरों के प्राच्य और उदीच्य ये दो भेद मुख्य हैं। उदीच्य देश में प्रायः ग्रामों का उल्लेख है, नगरों का बहुत कम, यद्यपि प्राच्य देश में ग्राम और नगर का उल्लेख पृथक्-पृथक् है।[1] प्राच्य देश में नगरों की संख्या अधिक थी। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि जिस समय सिन्धु और पांचनद आर्य-सभ्यता के केन्द्र थे, उस समय देश कृषिप्रधान था। कृषि की प्रधानता में ग्राम तो समृद्ध बन जाते हैं, किन्तु नगरों का निर्माण नहीं होता। बाद में जब प्राच्य देश विद्या और संस्कृति का केन्द्र बना, तब व्यापार उन्नत हो चुका था। गणतन्त्रों के स्थान पर बड़े-बड़े एकतन्त्र राज्य गठित हो चुके थे। फलतः, बड़े नगरों का निर्माण हुआ। वस्तुतः, भाष्यकार के समय में सभ्यता का केन्द्र प्राच्य देश से और आगे पूर्व में बढ़ गया था। भाष्य के उदाहरणों से स्पष्ट है कि पाणिनि की दृष्टि में शालातुर (लाहौर) से पूर्व का प्रदेश, जिसकी पूर्वी सीमा कुरु-पांचाल थी, प्राच्य था। इससे और पूर्व की ओर उनका ध्यान कम गया था। गया भी तो, वे प्राच्यदेश उसे नहीं मानते थे; क्योंकि वह प्रदेश आर्यदेश की सीमा से बाहर था। इसलिए, ग्राम-नगरों के सम्बन्ध में भाष्यकार ने भी सिन्धु-वाहीक को उदीच्य और उससे पूर्व पांचाल तक के प्रदेश को प्राच्य कहा है।

पाणिनि ने उत्तर-पद के आधार पर ग्रामों के वर्गीकरण का प्रयत्न किया था। इनमें तीर, रूप्य, कन्थ, प्रस्थ, पुर, वह, कच्छ, अग्नि, वक्त्र, गर्त, कन्था, पलद, नगर, ग्राम, ह्रद आदि उत्तर पद मुख्य हैं।[2] उदीच्य देश के सम्बन्ध में उन्होंने भी सर्वत्र ग्राम शब्द का ही प्रयोग किया है, नगर का नहीं। पतंजलि के समय में वर्गीकरण का यह प्रकार छोटा पड़ने लगा था। उनके समय में ऐसे अनेक नगरों का निर्माण हो चुका था, जो इनसे स्वतन्त्र थे। पतंजलि ने सूत्रकार के ग्राम-सम्बन्धी सूत्रों में अधिकांश के उदाहरण नहीं दिये हैं, अन्यथा उनकी सूची बहुत बड़ी होती। उनके ग्रामों के नाम यों ही अन्य प्रसंगों में आ गये हैं। भाष्यकार के ग्रामों और नगरों में निम्न-लिखित मुख्य हैं—

कापिशी—कापिशी का स्वतन्त्र उल्लेख तो भाष्यकार ने नहीं किया है, किन्तु पाणिनि के 'कापिश्याः ष्फक्' (४।२।९९) सूत्र पर उन्होंने एक वार्तिक का निर्माण कर कापिशी के साथ वाह्लि, उर्दि और पर्दि को भी जोड़ दिया है, जो इस बात का प्रमाण है कि वे कापिशी से सम्यक् परिचित थे। टाल्मी के अनुसार यह नगरी काबुल से १५५ मील उत्तर-पूर्व की ओर बसी हुई थी। कनिंघम के मत से कापिशी कोहिस्तान के उत्तरी छोर पर पंजशीर और तगाओ की घाटी में स्थित थी। ह्वेनसांग ने इसका विस्तार १० ली० बतलाया है। कापिशी फलों और अन्न की उपज के लिए प्रसिद्ध थी। बील के 'बुद्धिस्ट रेकार्ड्स ऑव वेस्टर्न वर्ल्ड' (१-५४) के अनुसार यहाँ का राजा क्षत्रिय था, जो प्रति वर्ष मोक्षमहापरिषद् का आयोजन करता था। यहाँ के निवासी निर्दय और भयंकर थे। वे ऊन के वस्त्र पहनते थे। कापिशी सुरा के लिए प्रसिद्ध थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र (अधि०२, अ० २५) में भी कापिशी का उल्लेख मिलता है।

---

१. ७-३-१४, ४-२-१०९, ४-२-११७।

२. ४-२-१०६, ११०, १२१, १२२, १२६, १४२।

मशकावती—मशकावती का उल्लेख भाष्यकार ने नदी के प्रसग मे किया है।[1] इस नगरी से सम्बद्ध नदी भी मशकावती कहलाती थी। यह नगरी अश्मकों (४-१-१७३) की राजधानी थी, जिसे मसग कहते थे। मशकावती मलाकन्द दर्रे के पास-पड़ोस बसी हुई थी। 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया' (भाग १, पृ० ३५३) के अनुसार सिकन्दर की सेनाओ ने इस पर आक्रमण किया और नगर पर अधिकार कर सारी सेना को मौत के घाट उतार दिया था।

तक्षशिला—सिन्धु के पूर्व की ओर बसी हुई यह नगरी गान्धार की प्राचीन राजधानियों मे एक थी। कनिंघम के अनुसार काल-का-सराय के एक मील उत्तर-पूर्व मे शाह-ढेरी के पास के टीले प्राचीन तक्षशिला के अवशेष है। यहाँ खुदाई मे ५५ स्तूप, २८ मठ और ९ मन्दिर मिले है। अशोक के समय मे कुणाल यहाँ का राष्ट्रिय था। उस समय इस स्थान मे उपद्रव होते रहते थे। एरियन ने इसे महान्, समृद्ध और जनाकीर्ण नगर कहा है। प्लिनी ने इसे पर्वत-पाद के समतल प्रदेश मे स्थित प्रसिद्ध नगरी बतलाया है। यह ८० वर्ष तक ग्रीक शासन मे रही और बाद मे अशोक के अधिकार मे आई। ह्वेनसांग ने इसका घेरा ६॥ मील बतलाया है। तक्षशिला प्राचीन भारत के सबसे बड़े शिक्षा-केन्द्रो मे थी।

वाहीक ग्राम—उदीच्य और वाहीक ग्रामो मे कखतीर, वायसतीर, चणारुरूप्य, मणिरूप्य, शिवपुर, वाडवकर्ष, निलीनक, औलूक, आरात, कास्तीर, दासरूप्य, शाकल, सौसुक, निधाहकर्ष, दाक्षिकर्षु, मालाप्रस्थ, पातानप्रस्थ, काचीपुर, नान्दीपुर, वातवह, कौकुडीवह, आप्रीतमायु, मौज और करन्तव नाम भाष्य मे आये है।[2] इनमे से अधिकाश के विषय मे कुछ ज्ञात नही है। शिवपुर का मूल नाम शिविपुर था। शारकोट के शिलालेख के अनुसार यह शारकोट का पुराना नाम था। शारकोट शिवियो की राजधानी थी[3] और झेलम तथा चेनाब के सगम से कुछ दूर ऊपर की ओर अवस्थित थी। अब इसके केवल खण्डहर-पत्थर अवशेष हैं। पातानप्रस्थ काश्मीर मे कांगडा घाटी के प्रवेश द्वार पर स्थित पठान या पठानकोट का प्राचीन नाम था। यह उदुम्बरो की राजधानी थी।[4]

शाकल—शाकल या शागल मद्रदेश की राजधानी थी।[5] यह रावी या इरावती के पश्चिम मे आपगा नदी के किनारे, जिसे अब अयक कहते है, स्थित थी। महाभारत मे इसे शमीपीलु और करीलो के वन के मध्य मे बसी बतलाया गया है।[6] पीलुवृक्ष पजाब के इस भाग मे बहुत अधिक होते भी हैं। ह्वेन्साग (६३०ई०) ने भी शाकल के पास पो-लो-श वनो का वर्णन किया है, जो कनिंघम के मत मे पीलु ही है। महाभारत के अनुसार मद्र लोक जार्त्तिक और वाहीक भी कहे जाते थे।

---

१. ४-२-७१, पृ० १९४।

२. ४-२-१०४, वा०, २, ३, ५, २४, २५, २७, पृ० २०४-१३।

३. महाभारत, २-३-१४।

४. कनिंघम: आर्कियो० सर्वे रि०, भाग १४, पृ० ११६।

५. १-३-१०, पृ० ३६।

६. शमीपीलुकरीराणां वनेषु सुखवर्त्मसु।—पेण्टापोटेमिया इण्डिका०, प्रो० लैसेन, पृ० ७३-७४।

कनिंघम ने पर्याप्त खोजबीन के पश्चात् शागंलवाला टिवा नामक पहाडी पर के ध्वसावशेषो को ही शाकल माना है।[1] मिलिन्दप्रश्न (पृ० १-२) के अनुसार यह व्यापार का भी केन्द्र था। 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया' (१-५४९-५०) के अनुसार ई० पू० ३२६ मे इस पर सिकन्दर ने अधिकार कर लिया। पतंजलि ने शाकल को वाहीक-ग्राम कहा है। सम्भव है, उनके समय यह नगरी इतनी विशाल न रही हो। इनके अतिरिक्त कपिष्ठल का उल्लेख पाणिनि ने गोत्र के रूप मे किया था, किन्तु भाष्यकार के कथन से जान पड़ता है कि वे गोत्र से भिन्न कपिष्ठल से भी परिचित थे।[2] यह सभवत कर्नाल जिले का वर्तमान कैथल स्थान है।[3]

हास्तिनपुर—कुरुओ की यह प्राचीन राजधानी उत्तरप्रदेश के मेरठ जिले मे थी। पतंजलि ने इसे गगा-तट पर वसा हुआ वतलाया है।[4] कनिंघम ने इसे मेरठ की मवाना तहसील का एक पुराना कस्वा माना है।[5] विविध तीर्थकल्प के अनुसार इस नगर को राजा हस्तिन ने भागीरथी-तट पर वसाया था। भगवान् महावीर यहाँ कई वार गये थे। भगवती-सूत्र (२-९), हरिवश (२०–१–५३, ५४) तथा भागवतपुराण (९–२१–२०) इन तथ्यो की पुष्टि करते हैं। पार्जिटर के अनुसार हस्तिन के दो पुत्र हुए– अजमीढ और द्विमीढ। इनमे अजमीढ ने हास्तिनपुर मे पौरव परम्परा स्थिर रखी। अधिसीम कृष्ण के पुत्र निकक्षु के शासन-काल मे यह नगर गंगा से कट-कर वह गया। तव यहाँ के राजा कौशाम्बी मे जाकर रहने लगे।[6]

स्रुघ्न (२)—पतजलि ने वार-वार स्रुघ्न का उल्लेख किया है। यह स्थान हास्तिनपुर से ४० मील की दूरी पर उत्तर मे स्थित था।[7] मथुरा से इसका निकट सम्बन्ध रहा होगा। कई स्थानो पर भाष्य मे स्रुघ्न और मथुरा का इस ढग से उल्लेख मिलता है, मानो उनमे दैनन्दिन याता-यात-सबंध रहता हो।[8] उन्होंने स्रुघ्न जानेवाले मार्ग का उस पर खडे होकर उल्लेख किया जान पड़ता है।[9] सम्भवत, मथुरा से स्रुघ्न को सीधा मार्ग जाता था। अश्वादि पशु इसी मार्ग से स्रुघ्न को ले जाये जाते होंगे।[10] स्रौघ्न प्रासादो और प्राकारो की भी भाष्य मे चर्चा है, जिससे स्पष्ट है कि स्रुघ्न वडी सम्पन्न नगरी थी। स्रौघ्नी स्त्रियों के लिए भी भाष्यकार ने श्रेष्ठ विशेषणो का प्रयोग किया है।[11] स्रुघ्न, जिसे अव सुघ कहते हैं, स्रुघ्न जनपद की राजधानी थी। कनिंघम के अनुसार

१. कनिंघम : एन० ज्या०, पृ० २०६-१९।
२. ८-३-९१, पृ० ४६२।
३. अग्रवाल : पाणिनि, पृ० ७१।
४. अनुगङ्गम् हास्तिनपुर, २-१-१६, पृ० २७३।
५. एन० ज्या०, पृ० ७०२।
६. पार्जिटर : डायनेस्टीज ऑफ् दि कलि एज, पृ० ५।
७. आर्कि० सर्वे रि०, भाग १४, पृ० ११६।
८. आ० २, पृ० ४२।
९. अयं पन्थाः स्रुघ्नमुपतिष्ठते।—१-३-२५, पृ० ६४।
१०. १-४-५१, पृ० १८१।
११. ४-३-३९, पृ० २३३।

स्रुघ्न चारो ओर से प्राकृतिक सीमाओं द्वारा दृढता से सुरक्षित था और इस प्रकार वह वास्तव मे दुर्ग था। स्रुघ्न का घेरा लगभग चार मील था। आज सुघ, मण्डलपुर, दयालगढ़ और वुरिया ये गाँव प्राचीन स्रुघ्न की ही भूमि पर बसे हैं, जिनकी कुल जनसख्या लगभग २००० है। इन स्थानो मे दिल्ली के तोमर राजाओ से वुद्धकाल (५०० ई० पू०) तक के सिक्के प्राप्त हुए है। स्रुघ्न नगरी मेरठ, सहारनपुर-अम्वाला होकर उत्तर पजाव जानेवाले मुख्य मार्ग पर स्थित थी। यही होकर यमुना के लिए मार्ग जाता था। महमूद गजनवी, तैमूरलग और वावर कन्नौज, हरद्वार और दिल्ली की लूट एव विजय के वाद इसी मार्ग से वापस लौटे थे। पतजलि के समय मे भी यह भाग प्रसिद्ध रहा होगा, जिसका उन्होने अगुलि-निर्देशपूर्वक उल्लेख किया है। काशिकाकार के कथन से भी ज्ञात होता है कि स्रुघ्न पाटलिपुत्र से तक्षशिला जानेवाले उत्तरापथ के मुख्य मार्ग पर स्थित था।[1]

मथुरा—पतजलि के समय में मथुरा भारत की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नगरियो मे थी। मथुरा, स्रुघ्न और पाटलिपुत्र इन तीनो का उल्लेख भाष्य मे सवसे अधिक हुआ है।[2]

मथुरा शूरसेन जनपद की राजधानी थी, यद्यपि भाष्य मे शूरसेन जनपद का नाम नही है। वैदिक काल मे इस नगरी का उल्लेख नही मिलता। पार्जिटर के अनुसार शत्रुघ्न ने लवणासुर को मारकर और मधुवन के अरण्य को काटकर मथुरा को वसाया था।[3] इसे मधुरा भी कहा जाता था।[4] ग्रीक इतिहासकारो ने इसे मथुरा या मेडोरा कहा है। बौद्ध-जैनग्रन्थो, फाह्यान, ह्वेन्साग और टालेमी के वर्णनों से स्पष्ट है कि ईसा-पूर्व ३०० से तीसरी शती के अन्त तक यह नगरी वहुत ही महत्त्वपूर्ण रही। पतजलि से यह भी पता चलता है कि मथुरा व्यापार-उद्योग के लिए प्रसिद्ध और धन-धान्य से समृद्ध नगरी थी।[5] कुरु जनपद से उसके व्यापारिक सम्बन्ध घनिष्ठ थे और वड़ी सख्या मे कुरु लोगो का मथुरा मे आना-जाना लगा रहता था। कुरु के साथ मथुरा के वड़े प्रिय सम्बन्ध थे।[6]

मथुरा कई शताब्दियो तक वौद्धधर्म का केन्द्र रही। पतजलि-काल मे वहाँ जैन पर्याप्त सख्या मे वस चुके थे। कुषाण-काल से पूर्व मथुरा मे वाघपाल, धनभूति और उनके पूर्वजो का शासन था। यह वात खुदाई मे प्राप्त रेलिग, स्तम्भो तथा लेखो से विदित होती है। भरहुत के द्वार-मार्ग के लेखो मे भी इन शासको के नाम हैं। उनमे यह स्पष्ट उल्लिखित है कि शुगो के राज्यान्तर्गत (शुङ्गाना राज्ये) वाघपाल ने ये स्तम्भ वनवाये थे। इस समय मथुरा-राज्य शुग-राज्य की सीमा के अन्तर्गत रहा होगा। लेखो मे यह वात स्पष्ट नही है कि वाघपाल स्वय राजा था या नही।

---

१. ६-३-४२, पृ० ३२७ तथा अन्तरा तक्षशिलां पाटलिपुत्रं च स्रुघ्नस्य प्राकाराः।—२-३-४ काशि०।

२. अ० २, पृ० ४२; १-२-६४ आदि।

३. एन० इण्डियन हिस्टा० ट्रेडिशन, पृ० १७०।

४. १-२-५२, पृ० ५५३।

५. ट्रेविल्स ऑफ् फाहियान: वैटर्स-युवानचांग, पृ० क्रमशः ४२ तथा १-३०१।

६. प्रियकुरुचरा मथुरा बहुकुरुचरा मथुरा।—४-१-१४, पृ० ३४।

मथुरा ने न जाने कितने राजनीतिक उत्थान-पतन देखे हैं। शत्रुघ्न ने अपने दो पुत्रों स्वभु और शूरसेन के साथ यहाँ शासन किया।[1] महाभारत और पुराणों के अनुसार यहाँ यादवों का शासन रहा।[2] अन्धक और वृष्णि यहाँ पहले निवास करते थे।[3] बाद में राक्षसों से भीत होकर वे यहाँ से चले गये और उन्होंने द्वारावती को राजधानी बनाया।[4] मगधराज जरासन्ध ने इसे आक्रान्त किया।[5] महाप्रयाण के समय युधिष्ठिर ने वज्रनाभ को मथुरा का शासन सौंपा था। अन्धकों के शासन-काल में यह नगरी उग्रसेन के अधिकार में थी।[6] गुप्त-साम्राज्य के उत्थान के पहले यहाँ सात नाग-राजाओं ने शासन किया।[7] बुद्धकाल में मथुरा के शासक को मातृपक्ष द्वारा उज्जयिनी से सम्बद्ध होने के कारण अवन्तिपुत्र कहते थे।[8] दीपवंश के अनुसार यह सर्वोत्तम नगरी थी। जैनग्रन्थों के अनुसार यहाँ वासुदेव नामक शक्तिशाली राजा था। यौधेयों का भी शासन मथुरा पर समुद्रगुप्त से पूर्व रहा। पंजाब और काबुल के शासक मिनाण्डर का भी मथुरा पर अधिकार रहा।[9] मेगास्थनीज के समय में इस पर मौर्यों का शासन था। प्रथम शताब्दी में शक राजाओं ने हिन्दू-राजाओं का उन्मूलन कर मथुरा पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। द्वितीय शताब्दी में मथुरा कुषाण राजा हुविष्क के अधिकार में आई।[10] पतंजलि के समय में मथुरा शुंग-राजाओं के अधिकार में थी, यद्यपि कुछ विद्वानों को इसमें सन्देह है। फिर भी, शुंगों के प्रभाव में तो वह अवश्य थी। पतंजलि द्वारा अत्यधिक आत्मीयता के साथ बार-बार मथुरा का उल्लेख किया जाना भी इस कथन के पोषण में सहायक है।

फाह्यान के अनुसार मथुरा में बहुत बौद्ध मठ थे, जो भिक्षुओं से भरे रहते थे। कृषि यहाँ का मुख्य व्यवसाय था। अच्छे रेशे की कपास, कपड़ा और सोना यहाँ का प्रसिद्ध था। भाष्यकार ने भी यहाँ के कार्षापण और सुन्दर वस्त्रों का उल्लेख किया है। अंगुत्तरनिकाय (३-२५६) में अवश्य यहाँ की सड़कें विषम, रजोमयी, चण्डशुनका, दुर्लभपिण्डा और बालायक्खा (पशु-प्रेतों से भरी) कही गई हैं।

प्राचीन मथुरा यमुना के दक्षिण तट पर इन्द्रप्रस्थ और कौशाम्बी के मध्य स्थित थी। गंगा-तट पर अवस्थित साकाश्यनगर यहाँ से चार योजन दूर था।[11] वर्तमान मथुरा यमुना के कटाव

---

१. रामा० ७-६२-६।

२. विष्णु पु०, ४-१३-१ तथा वायु पु०, ९६-१, २।

३. ब्रह्मपुराण, अ० ३४।

४. हरिवंश पु०, अ० ३७।

५. स्कन्द पु०, विष्णुखण्ड।

६. पार्जिटर: एन० इण्डियन हिस्ट्रा० ट्रेडि०, पृ० १७१।

७. वायुपुराण, अ० ९९।

८. रायचौधुरी: पालि० हिस्ट्री ऑफ् एन० इण्डिया, पृ० ३९१।

९. स्मिथ: अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, चौथा सं०, पृ० २१०।

१०. वही, पृ० २८६।

११. कच्चायन: पाली ग्रामर, भाग ३, अ० १।

के कारण उत्तर की ओर हट गई है। भाष्य मे पाटलिपुत्र इससे पूर्व दिशा मे बतलाया गया है।[1]

माथुर लोग स्वास्थ्य और सौदर्य के लिए प्रसिद्ध थे। भाष्यकार ने उन्हे साकाश्यो और पाटलिपुत्रको से अधिक सुन्दर कहा है।[2]

अहिच्छत्र—अहिच्छत्र के रहनेवाले पुरुष आहिच्छत्र और स्त्रियाँ आहिच्छत्री कहलाती थी। अहिच्छत्र उत्तर पचाल की राजधानी थी।[3] महाभारत से भी इसकी पुष्टि होती है।[4] अहिच्छत्र उत्तरप्रदेश के बरेली जिले मे स्थित रामनगर का प्राचीन नाम था। यहाँ जो सिक्के मिले हैं, उनसे पता चलता है कि वराहमिहिर यहाँ का शासक रहा था। पभोसा के गुफालेख से भी इस बात का पता चलता है। सौनकायनि भी यहाँ का शासक था। प्रयाग के समुद्रगुप्तवाले शिलालेख मे जिस शक्तिशाली राजा अच्युत का नाम आया है, उसके सिक्के भी अहिच्छत्र मे मिले है। अहिच्छत्र को कही-कहीं अहिक्षेत्र भी लिखा गया है। वैसे इसका प्राचीनतर नाम अहिच्छत्र था, जो लूडर्स के ब्राह्मी शिलालेखो की सूची के एक लेख मे सुरक्षित है। यह रूप टालेमी के अदिसद्र से भी मिलता है।[5] हरिवशपुराण के अनुसार अर्जुन ने यह नगर द्रोणाचार्य को दे दिया था। विविध तीर्थ-कल्प के अनुसार इसका प्राचीन नाम सख्यावती था। एक बार पार्श्वनाथ इस नगर मे भ्रमण कर रहे थे कि कमठासुर ने ईर्ष्यावश इतनी वर्षा की कि सारा नगर जलमग्न हो गया और पार्श्वनाथ भी आकण्ठ जलमग्न हो गये। तब नागराज ने रानियो-सहित उन पर फनों का क्षत्र लगा दिया और उनके शरीर को कुण्डली से आवृत कर उनकी रक्षा की। तब से इस नगर का नाम अहिच्छत्र पड गया। ह्वेन्साग के समय तक इसका महत्त्व बना हुआ था। आज यह स्थान खण्डहरो के रूप मे है। प्राचीन किले के ध्वसावशेष, जो मीलो मे बिखरे है, पाण्डु का किला कहलाते है। इसे देखने से पता चलता है कि इस किले मे ३४ बुर्ज थे।

कान्यकुब्ज—कान्यकुब्ज उत्तरप्रदेश के फर्रुखाबाद जिले के वर्त्तमान कन्नौज का पुराना नाम है। भाष्यकार ने अहिच्छत्र के साथ ही इसका उल्लेख किया है। इसके गाधिपुर, कुशस्थल, और महदप नाम भी मिलते है।[6] रामायण (बालकाण्ड) के अनुसार यह विश्वामित्र की जन्मभूमि थी। भागवतपुराण (६–१–२१) मे इसे अजामिल की नगरी कहा है। कान्यकुब्ज भी पचाल-जनपद के अन्तर्गत था।[7]

सांकाश्य—साकाश्य, जिसे पालि-ग्रन्थो ने सकस्स कहा है, फर्रुखाबाद (उ०प्र०) जिले मे अवस्थित एक ग्राम था, जिसे आजकल सकीसा कहते हैं। यह स्थान कुन्दारकोट से ३६ मील उत्तर मे तथा अलीगज से दक्षिण-पूर्व की ओर ११ मील दूर है। इटावा से उत्तर-पूर्व की ओर

१. १-१-५७, पृ० ३५७ ।
२. ५-३-५७, पृ० ४५४ ।
३. रैप्सन: एन० इण्डिया, पृ० १६७।
४. आदिपर्व, अ० १४० ।
५. मैंक्रिण्डिल: इण्डिया ऐंज० डिस्क्राइब्ड बाइ टालेमी, पृ० १३४ ।
६. अभि० राजेन्द्रकोष, ४-३९।
७. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग ४, पृ० २५६।

यह ४० मील दूर पडता है। कुछ लोगो के मत से साकाश्य कन्नौज से ४५ मील उत्तर-पश्चिम की ओर एव फतहगढ से २३ मील दूर, इटावा जिले मे अतरजी और कन्नौज के बीच कालिन्दी (प्राचीन इक्षुमती) नदी के उत्तरी तट पर स्थित सकिस्स वसन्तपुर का प्राचीन नाम था। पतजलि के अनुसार साकाश्य गवीधुमान् से चार योजन दूर था।[1] यह दूरी गवीधुमान् की सीमा की समाप्ति से साकाश्य के सीमारम्भ तक थी। साकाश्य के निवासी साकाश्यक कहलाते थे। सौन्दर्य की दृष्टि से भाष्यकार ने पाटलिपुत्रको एव माथुरो दोनो को इनसे श्रेष्ठ माना है और बार-बार इस कथन को दुहराया है।[2]

गवीधुमान्—गवीधुमान् सम्भवत वर्त्तमान कुण्डरकोट है, जो इटावा से उत्तर पूर्व की ओर २४ मील और फर्रुखाबाद जिले मे स्थित सकिसा से ३६ मील दूर है।[3] पतजलि ने गवीधुमान् को साकाश्य से चार योजन दूर बतलाया है।

कौशाम्बी—पतजलि ने बिना कोई विशेष विवरण दिये बारह बार कौशाम्बी का उल्लेख किया है।[4] इससे केवल इतना पता चलता है कि यह अत्यन्त प्रसिद्ध स्थान था और वे इससे बहुत अधिक परिचित थे। काशिकाकार ने इसे कुशाम्ब द्वारा बसाई गई नगरी कहा है।[5]

कौशाम्बी को पालि ग्रन्थो मे कोसम्बी और चीनी ग्रन्थो मे किआउ-शेंग-मि कहा है। यह वश या वत्स जनपद की राजधानी थी। इलाहाबाद जिले का कोसमग्राम, जो प्रयाग से लगभग ३० मील दूर दक्षिण-पश्चिम मे यमुना के किनारे स्थित है, कौशाम्बी का वर्त्तमान रूप है। जैन आज भी इसे कौशाम्बी कहते है।[6] ह्वेन्साग के अनुसार कौशाम्बी प्रयाग से ५००० ली० की दूरी पर स्थित थी। इसके तथा प्रयाग के बीच मे हाथी आदि वन्य पशुओ से भरा सघन वन था। इस आधार पर कुछ लोगो को उपर्युक्त मत स्वीकार नही है। मेजर वास्ट ने रीवॉं स्मिथ ने भरहुत के समीप का प्रदेश तथा वैटर्स ने बॉंदा जिले मे अजयगढ का उत्तरी-पूर्वी भाग को कौशाम्बी माना है।[7]

पौराणिक परम्परा के अनुसार पुरुवशीय वत्सराज उदयन यहॉं के प्रसिद्ध राजा हुए। पुरु लोगो की राजधानी हस्तिनापुर और राज्य कुरुक्षेत्र था। जब हस्तिनापुर को गगा ने नष्ट कर दिया, तब परीक्षित के वशज राजा यहॉं चले आये। महाभारत के अनुसार यमुना वत्स मे

---

१. गवीधुमतः साकाश्यं चत्वारि योजनानि। गवीधुमतो निःसृत्य यदा चत्वारि योजनानि भवन्ति ततः सांकाश्यम् ।—२-३-२८, पृ० ४२६।

२. सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रका अभिरूपतराः।—१-३-११, पृ० ४५।

३. एन्० एल्० दे.—ज्या० डिक्श०, पृ० ५९।

४. १-१-५६, १-२-४४ आदि।

५. ४-२-६८।

६. कनिंघम : आर्किया० सर्वे रि०, भाग १, पृ० ३०३।

७. कनिंघम : आर्कि० सर्वे रि०, भाग १, पृ० ३०३ तथा जर्नल ऑफ् रा० ए० सो० १९०४, पृ० २४९ तथा वैटर्स, २-३३९।

होकर वहती थी। कौशाम्वी साकेत को श्रावस्ती एव प्रतिष्ठान से जोडनेवाले व्यापार-मार्गों का केन्द्र-स्थल थी।[1] कोसम मे प्रद्योत का वनवाया हुआ ईंटो का किला आज भी वर्तमान है।

साकेत—साकेत उत्तर-कोशल की राजधानी तथा उसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नगर था, जहाँ से यमुना पारकर कौशाम्वी के लिए मार्ग जाता था। श्रावस्ती से साकेत तक सात वार थके हुए घोडे वदलकर रथ द्वारा जाया जा सकता था।[2] यह नगर कोसल की उत्तरी पूर्वी सीमा पर अवस्थित था और भारत के छह प्रमुख नगरों मे था।[3] विनयपिटक (१-८८) के अनुसार साकेत और श्रावस्ती का मार्ग डकैतो से भरा था, जो भिक्षुओं तक को लूट लेते थे। राजसेना डाकुओं को पकडकर मार डालती थी। टालेमी ने इसे सौगद कहा है। पतजलि के अनुसार साकेत पूर्व और पश्चिम भारत को जोडनेवाले मुख्य मार्ग पर अवस्थित था। उन्होने स्रुघ्न और साकेत जानेवाले मार्गों से अपना परिचय वतलाया है।[4] उन्होने कहा है कि पाटलिपुत्र जानेवाले मार्ग पर पहले साकेत पडता है।[5]

पतंजलि ने यवनो द्वारा साकेत पर घेरा डाले जाने की वात कही है।[6] यह यवन कौन था और उसने कव साकेत पर आक्रमण किया? कुछ इतिहासकार यह आक्रमण डिमेट्रियस द्वारा किया गया मानते हैं। उसने भारत पर दो ओर से आक्रमण किया। पश्चिम मे इसका सेनापतित्व स्वयं डिमेट्रियस ने किया और पूर्व मे उसके सहायक मिनाण्डर ने। दोनो कैंची के फल के समान चलकर पाटलिपुत्र मे मिले। टार्न ने भी इस कथन का समर्थन किया है।[7]

अधिकाश विद्वान् साकेत और अयोध्या को एक मानते है। विल्सन के सस्कृत-कोप मे भी साकेत का अर्थ अयोध्या दिया है। रघुवश (सर्ग १३, श्लो० ७९ तथा १४-१३) मे साकेत राजा दशरथ की राजधानी वताई गई है। रामायण मे भी साकेत दशरथ की राजधानी वताई गई है। इन आधारो पर कनिंघम साकेत और अयोध्या को एक नगर मानते है।[8] ऐतरेय ब्राह्मण ने (७-३) अयोध्या को एक ग्राम कहा है और साख्यायन श्रौतसूत्र (१५-१७-२५) ने इस वात की पुष्टि की है कि साकेत और अयोध्या एक थे। प्रो० रीज डेविड्स ने सफल तर्कों द्वारा यह सिद्ध किया ह कि वुद्ध के समय मे साकेत और अयोध्या दोनो पृथक् नगर थे।[9] फुहरर के 'मानुमेण्टल ऐण्टिक्विटीज ऑव नार्थ वेस्ट प्राविन्सेज ऐण्ड अवध, (पृ० २७५) मे उन्नाव जिले

---

१. वरुआ और सिनहा: भरहुत इन्सि०, पृ० १२।
२. मज्झिम नि० १-८८।
३. दिघ० नि० २-१४६।
४. १-३-२५, पृ० ६४।
५. योऽयमध्वा गत आपाटलिपुत्रात् तस्य यदवरं साकेतादिति।—३-२-१३६, पृ० ३२८।
६. अरुणद्यवनः साकेतम्।—३-२-१११, पृ० २४६।
७. टार्न ग्रीक्स इन वैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया, पृ० १४०, २२५, २२६।
८. एन० ज्या०, पृ० ४६४।
९. लॉ: ज्या० ऑफ् अर्ली वुद्धिज्म, पृ० ५।

के सुजनकोट के खण्डहरों को, जो सई नदी के तट पर हैं, प्राचीन साकेत वतलाया गया है। कनिंघम के अनुसार साकेत को ही फाह्यान ने श-चि और ह्वं-साग़ ने विशाख नगरी कहा है।[1]

साकेत या अयोध्या पुष्यमित्र शुग के राज्य के अन्तर्गत थी। पतजलि ने अयोध्या पर यवनो द्वारा घेरा डाले जाने की बात कही है। यहाँ पाये गये एक शिलालेख मे वतलाया गया है कि पुष्यमित्र ने दो अश्वमेघ यज्ञ किये थे।[2]

काशी या वाराणसी—भाष्य मे एक स्थान को छोडकर अन्यत्र कौशाम्बी और वाराणसी नाम साथ-साथ आये है। भाष्यकार ने वाराणसी को गगा-तट पर वसा हुआ वतलाया है।[3] पतजलि के समय मे भी वाराणसी गगा-तट पर लम्बी-लम्बी वसी हुई थी। व्यापारी-वर्ग मे वाराणसी का नाम जित्वरी प्रसिद्ध था।[4] वाराणसी भिन्न-भिन्न कालो मे भिन्न-भिन्न नामो से पुकारी जाती रही है। यथा—सुरुन्धन, सुदस्सन, ब्रह्मवड्ढन, पुष्पवती, रम्म, मोलिनी आदि।[5] यह प्राचीन काशी-राज्य की राजधानी थी और काशी नाम से भी प्रसिद्ध थी। कूर्मपुराण (३०-६३) के अनुसार यह वरणा और असी नदियो के मध्य मे स्थित थी। यह वरणा सम्भवत अथर्व वेद (४-७-१) की वरणावती है। वाराणसी या काशी और श्रावस्ती के वीच मे अच्छा व्यापार-मार्ग था। काशी व्यापार और उद्योग के लिए प्रसिद्ध थी। इसका श्रावस्ती और तक्षशिला से निकट व्यापारिक सम्वन्ध था।[6] भाष्यकार ने काशी को वस्त्र व्यापार का केन्द्र बतलाया है, जहाँ विशेष प्रकार का कपडा तैयार होता था।[7]

जातको के अनुसार इसका विस्तार १२ योजन था।[8] वाराणसी वडी समृद्ध एव घनी वसी नगरी थी। हिन्दू, जैन और वौद्ध साहित्य मे समान रूप से ख्यात और समादृत वाराणसी को आनन्द ने वुद्ध के परिनिर्वाण के लिए सुझाए हुये नगरो की सूची मे सम्मिलित किया था।[9] जैन विविध तीर्थकल्प के अनुसार वाराणसी चार भागो मे वँटी थी। जैनो के अनुसार पार्श्वनाथ का जन्म काशी मे हुआ था। वुद्ध के समय मे काशी-जनपद कोसल मे मिल चुका था। चीनी यात्रियो ने इसे पो-लो-नि-स्से कहा है और यहाँ के लोगो को बहुत भला अवौद्ध तथा अध्ययनशील वतलाया है।[10] साख्यायन श्रौतसूत्र (१६-२९-५), वृहदारण्यकोपनिषद् (३-८-२), शतपथ-

---

१. एन० ज्या०, पृ० ४६० ।

२. एपि० इण्डि०, भाग २०, पृ० ५७ ।

३. अनुगङ्ग वाराणसी गङ्गा चाप्यायता वाराणस्यप्यायता।—२-१-१६, पृ० २७३।

४. वणिजो वाराणसीं जित्वरीत्युपाचरन्ति—४-३-८४, पृ० २४३।

५. जातक, ४-१५ तथा १९९ चर्यापिटक, पृ० ७।

६. धम्मपद कमेण्ट्री, ३-४२९ तथा १-१२३।

७. इह समान आया मे विस्तारे पटस्यान्योऽर्थो भवति काशिकस्यान्यो माथुरस्य।—५-३-५५, पृ० ४४६।

८. जातक, ५-३७७, ६-१६०।

९. दिग्घ नि०, २-१४६।

१०. बील: बुद्धिस्ट रेकार्ड्स ऑफ् वेस्टर्न वर्ल्ड, २-४४।

ब्राह्मण (१३-५-४-१९), कौशीतकी उपनिषद् (४-१) बौधायन श्रौतसूत्र (१८-४४), रामायण एव महाभारतादि प्राचीन ग्रन्थो एव पुराणो मे काशी का पौन पुनिक उल्लेख मिलता है। महाभारत के अनुशासनपर्व (अ० ३०, पृ० १८८९,१९००) के अनुसार काशी दिवोदास ने बसाई थी।

पाटलिपुत्र—भाष्यकार ने बीस से भी अधिक सूत्रो के भाष्य मे किसी-न-किसी रूप मे पाटलिपुत्र का उल्लेख एक या अनेक बार किया है। इससे दो बातो का अनुमान होता है। एक यह कि भाष्यकार के समय मे पाटलिपुत्र भारत का सर्वाधिक प्रसिद्ध नगर था, और दूसरे यह कि भाष्यकार का उससे बहुत निकट का सम्बन्ध था। वे जानते थे कि यह नगर मथुरा से पूर्व दिशा मे है।[1] जिसके बीच मे अनेक स्थान है। वह शोण नदी के तट पर लम्बा-लम्बा बसा हुआ है।[2] जिस स्थान पर बैठकर उन्होने अध्यापन कार्य किया, वहाँ से पाटलिपुत्र पहुँचने मे कई दिन लग जाते थे। इसीलिए, उन्होंने कहा है कि कोई पाटलिपुत्र जानेवाला एक दिन चलकर कहे कि आज चलना हो गया, तो उससे उसकी गमन-क्रिया समाप्त नही हो जाती। जितना चला, उतने को दृष्टि मे रखकर इस प्रकार की बात कही जाती है।[3] उन्होने पाटलिपुत्र का मार्ग बतलाते हुए कहा है कि इसके बीच मे साकेत मिलता है।[4] मार्ग मे कुएँ मिलते है।[5] पाटलिपुत्र मथुरा से दूर है, यह बात भी भाष्य मे कही गई है। सम्भव है, मथुरा मे बैठकर ही भाष्यकार ने स्रुघ्न, साकेत और पाटलिपुत्र जानेवाले मार्गों का निर्देश किया हो।[6] उन्होंने साकाश्यको से पाटलिपुत्रको को और पाटलिपुत्रको से भी माथुरों को अभिरूपतर कहा है। यह कथन भी उक्त अनुमान का पोषक है।[7]

पाटलिपुत्र मगध-साम्राज्य की राजधानी था। प्रारम्भ मे वह मगध का एक सामान्य ग्राम था और इसे पाटलिग्राम कहते थे। यह गगा के दूसरे तट पर स्थित कोटग्राम के ठीक सामने था। राजगृह से वैशाली जानेवाले मुख्य मार्ग पर यह पडाव का गाँव था। नगर के रूप मे इसकी नीव अजातशत्रु के सुनीध और वर्षकार नामक दो मन्त्रियो द्वारा इसमे दुर्ग बनाये जाने के प्रसग मे पडी।[8] पाटलिपुत्र गगा, शोण और गण्डक के सगम के पास बसाया गया था। पतजलि के समय मे वह शोण तट पर ही अवस्थित था। बाद मे शोण दूर हटती चली गई।

पाटलिपुत्र बहुत विशाल नगर था। इसकी सुरक्षा के लिए ६० फुट चौडी और ३० हाथ गहरी परिखा बनाई गई थी। मेगास्थनीज के अनुसार परिखा की लम्बाई ८० स्टेडियम या

---

१. पूर्व मथुरायाः पाटलिपुत्रम्।—१-१-५७, पृ० ३५७।
२. २-१-१६, पृ० २७३।
३. ३-२-१०२, पृ० २३९।
४. ३-३-१३६, पृ० ३२८।
५. ३-३-१३३, पृ० ३२६।
६. ८-२-८४, पृ० ३९०।
७. ५-३-५७, पृ० ४५४।
८. सुमङ्गलविलासिनी, २-५-४०।

१६१६० गज और चौड़ाई १५ स्टेडियम या ३०३० गज थी।[1] भीतरी खाई से २४ फुट भीतर हटकर एक प्राकार था, जिसमे ५७० गुम्बज तथा ६४ दरवाजे थे। नगर मे चार द्वार थे, जिनसे अशोक को चार लाख कार्षापण की दैनिक आय थी।[2] पाटलिपुत्र भारत का सर्वाधिक समृद्ध और शानदार नगर था। इसके प्रासाद, प्राकार और परिखा देश-भर मे[3] प्रसिद्ध थे। भाष्यकार ने बार-बार इसका उल्लेख किया है। नगर इतना बडा था कि उसके विभिन्न अगो की व्याख्या करनेवाली पुस्तिका थी, जिसका नाम 'सुकोसला' था। सुकोसला मे पाटलिपुत्र के प्राकार, परिखा, प्रासाद आदि समस्त अवयवो का वर्णन था।[4] फाह्यान के समय मे इसकी टक्कर का कोई दूसरा नगर देश मे न था[5], किन्तु लगभग दो सौ वर्षो के भीतर ह्वेन्साग के समय मे वह बहुत कुछ उजड चुका था।[6]

राजकीय उद्यानो की पुष्प-विविधता के कारण पाटलिपुत्र का पूर्वनाम पुष्पपुर या कुसुम-पुर था। जैन परम्परा के अनुसार दर्शक के पुत्र उदयन ने यह नगर बसाया है। वास्तव मे इसके निर्माण का श्रेय अजातशत्रु को है।

पाटलिपुत्र उत्तरकालीन शिशुनागो, नन्दों एव चन्द्रगुप्त, अशोक आदि मौर्य-सम्राटो की राजधानी रहा था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन-काल मे भी वह बहुत शानदार एव जन-सकुल था। छठी शताब्दी के हूण-आक्रमण के समय तक यह अच्छी स्थिति मे रहा। पाटलिपुत्र की खुदाई मे जो वस्तुएँ मिली हैं, उनमे एक रेलिंग और स्तम्भ भी हैं, जो सम्भवत शुग या पतजलि के काल का है।[7]

उज्जयिनी—यद्यपि भाष्य मे उज्जयनी नाम केवल एक बार आया है, किन्तु उसमे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भाष्यकार को इस नगरी से प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त था। वे माहिष्मती और उज्जयिनी के मध्य की दूरी से अवगत थे। इसीलिए, सायकाल को उज्जयिनी से पैदल चलकर सूर्योदय तक माहिष्मती पहुँच जाने को उन्होंने आश्चर्यकारी बात कही है।[8]

भाष्यकार का उज्जयिनी से परिचित होना स्वाभाविक है, क्योकि इस प्रदेश मे विदिशा,

---

१. मैक्रिण्डिल: एन०‌ इण्डि० एज डैस्क्रा० बाई मेगास्थनीज एण्ड ऐरियन, पृ० ६५ से ६७।

२. वही।

३. सामान्तपासादिका, १-५२ लॉ: हिस्टा० ज्या०, पृ० २५० पर उद्धृत।

४. पाटलिपुत्रस्य व्याख्यानी सुकोसलेति। अवयवशो ह्याख्यानं व्याख्यानं पाटलिपुत्रं चाप्यवयवश आचष्टे ईदृशा अस्य प्राकार इति।—४-३-६६, पृ० २३९ तथा पाटलिपुत्रका' प्रासादा. पाटलिपुत्रकाः प्राकारा.।—४-३-१३४, पृ० २५८।

५. लेगी: फाह्यान, पृ० ७७-७८।

६. वैटर्स: ऑन युआनचांग, २-८७।

७. मनरंजन घोष: पाटलिपुत्र, पृ० १४-१५।

८. उज्जयिन्या. प्रस्थितो माहिष्मत्यां सूर्योद्गमन' सम्भावयति सूर्यमुद्गमयति—२-३-७६, पृ० ७६।

और विदर्भ तक का प्रदेश शुग-राज्य के अधिकार मे था। विदिशा मे पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र राष्ट्रिय पद पर नियुक्त था।

उज्जयिनी अवन्ति या पश्चिमी मालव-प्रदेश की राजधानी थी और चर्मण्वती की सहायक शिप्रा नदी के तट पर वसी हुई थी। उज्जयिनी हीनयानो और महायानो का केन्द्र रही। ब्राह्मणो के आधिपत्य-काल मे भी ३०० बौद्धधर्म प्रचारक यहाँ रहते और स्वतन्त्रतापूर्वक प्रचार करते थे।[१] यही जैनधर्म के प्रवर्त्तक वर्धमान महावीर ने समाधि ली थी। ईसा-पूर्व चौथी शती मे उज्जयिनी मगध के अधिकार मे आई। अशोक वहा का पहला राष्ट्रिय नियुक्त हुआ। उसने विदिशा की विदिशा रानी से विवाह किया। यही उसका पुत्र महेन्द्र उत्पन्न हुआ। विदिशा रानी का स्मारक-स्तूप साँची मे विद्यमान है।

उज्जयिनी व्यापार का वड़ा केन्द्र रही है। तीन प्रमुख व्यापार-मार्गो के सगम पर अवस्थित होने के कारण भृगुकच्छ से निर्यात होनेवाला सारा माल यहाँ होकर जाता था। इसीलिए, नगरी बडी समृद्ध वन गई थी। सस्कृत-साहित्य उज्जयिनी-वैभव के वर्णनो से भरा है। प्राचीन उज्जयिनी वर्त्तमान उज्जैन से कोई १॥ मील आगे हटकर वसी थी। इस स्थान की खुदाई मे आहत एव ढले सिक्के तीसरी शताब्दी ईसा-पूर्व तक के मिले हैं। दूसरी शती ईसा-पूर्व की एक पत्थर की मजूषा तथा वरतन मिले है। और भी सामग्री मिलने की सभावना है।

माहिष्मती—माहिष्मती उज्जयिनी से तीस कोस की दूरी पर स्थित दक्षिण अवन्ति की राजधानी थी, जिसे आजकल माहेश्वर या मान्धाता कहते है। महाभारत अश्वमेधपर्व के माहिष्मक या माहिषक लोग यहाँ के निवासी थे। पद्मपुराण (१८३-२) के अनुसार यह नर्मदा-तट पर स्थित थी। सम्भवत. रामायण (किष्किन्धा का०) मे वर्णित माहिषिकी नदी के प्रदेश मे, जो विन्ध्य और ऋक्ष पर्वत के वीच मे वहती थी, होने के कारण यह नाम पडा हो। भाष्यकार ने जिस महिष्मान् देश का उल्लेख किया है, वह यही प्रदेश था।[२] भाष्यकार ने महिष्मान् की व्युत्पत्ति महिष से मानी है। महिष और महिषक लोग एक ही थे।

मध्यमिका—चित्तौड़ (मेवाड) से ११ मील दूर नगरी का ही पुराना नाम मध्यमिका था। यहाँ वहुत-से प्राचीन सिक्के मिले हैं, जिनपर 'मज्झमिकाय सिवि जनपदस्स' अकित है।[३] जातकों मे एक शिवि राजा का उल्लेख है, जिसकी दो राजधानियाँ थी—अरिट्ठपुर और जेतुत्तर।[४] एन्० एल्० दे जेतुत्तर नगरी का ही पूर्व नाम मानते है।[५] इसी को अल्वेरुनी ने मेवाड़ की राजधानी जरूर कहा है।[६] इसके आधार पर यह पता चलता है कि शिवियों की एक शाखा उत्तर से आकर ईसा-

---

१. वील : बुद्धि० रेकार्ड्स, २-२७०।

२. ४-२-८७, पृ० १९६।

३. कनिंघम : एन० ज्या०, पृ० ६६९।

४. लॉ : ट्राइब्स इन ऐंन इण्डिया, पृ० ८३।

५. दे : ज्या० डिक्स०, पृ० ८१।

६. अल्बेरुनीज इण्डिया, १-१०२।

पूर्व ३०० के लगभग यहाँ बन गई थी।[1] भाष्यकार ने महाभाष्य में ग्रीकों द्वारा मध्यमिका पर किये गये आक्रमण का उल्लेख किया है।[2]

नासिक्य—नासिक्य को पतंजलि ने नगर कहा है। पुराणों में इसे नासिक और रामायण में जनस्थान कहा है। ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार नासिक्य नर्मदा-तट पर अवस्थित था। जनस्थान पञ्चवटी और गोदावरी के समीप था। इसके इस नाम का कारण यहाँ लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा का नासिकाच्छेदन है। गोदावरी के दक्षिण तट पर बसा हुआ वर्तमान नासिक नगर नासिक्य का आधुनिक रूप है। आगे चलकर सातवाहन राजाओं के समय में नासिक हीनयानों की भद्रयान शाखा का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया, जिनकी २३ गुफाएँ यहाँ विद्यमान हैं।[3] भरहुत के बौद्ध लेबल नं० ३८ में भी नासिक का उल्लेख है।[4]

शिरीषा—यह हिसार जिले का वर्तमान सिरसा है। इसका नाम शिरीषवन के समीप होने के कारण पड़ा।[5]

रोणी—सम्भवतः यह हिसार जिले का रोड़ी स्थान है। किन्तु, आजकरोण और सैंहकरोण के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। सम्भव है, यह इसी के पास-पड़ोस के ग्राम हों।[6]

कटुबदरी—कटुबदरी गुल्मों के समीप बसे होने के कारण यह नाम पड़ा होगा।[7]

अन्य ग्राम—नगग्राम, नवनगर, शौम्बहान, नगर,[8] गौर्य और जाम्बवनगर तथा कैतवत और माल्लुक्ती ग्राम[9] तिसूक्ता ग्राम,[10] ऐणीक नामक उदीच्य ग्राम[11] नैपुर और स्कौनगर नामक प्राच्य ग्राम,[12] द्विपुरी एवं त्रिपुरी नगरी[13] उदुम्बरावती नगरी[14] पञ्चग्रामी, षण्णगरी (ग्राम और नगरविशेष)[15] एवं पूर्वेषु कामशमी और अपरेषु कामशमी,[16] इन सबसे भी भाष्यकार

---

१. कनिंघम: आर्कि० सर्वे रि०, भाग ६, पृ० १९६-२०२।

२. ३-२-१११. पृ० २४६।

३. बरुआ एण्ड सिन्हा: भरहुत इंस्क्रिप्शन्स, पृ० १८, १२८।

४. लूडर्स लिस्ट-सं० ११२२, ११४९।

५. शिरीषाणामदूरभवा ग्रामाः शिरीषाः।—१-२-५१, पृ० ५५०।

६. १-१-७२, पृ० ४४२।

७. १-२-५१, पृ० ५५०।

८. ५-३-७२, पृ० ४७०।

९. २-४-७, पृ० ४६४।

१०. ७-२-९९. पृ० १५५।

११. ४-२-१४५, पृ० ३१९।

१२. १-१-७५, पृ० ४६३।

१३. ५-४-६८, पृ० ४९९।

१४. ४-२-७१, पृ० १९४।

१५ २-१५-१. पृ० २९९।

१६. १-४-२, पृ० १२४।

परिचित थे। इनमें डॉ० अग्रवाल ने नवनगर को वग या पश्चिमी वगाल की प्राचीन राजधानी नवद्वीप माना है, किन्तु भाष्यकार ने वग के अन्य किसी ग्राम या नगर का उल्लेख नही किया है। त्रिपुरी का उल्लेख जाजल्ल देवी (चेदि) के रतनपुर के सन् ८८६ के शिलालेख मे मिलता है, जिस पर कोकल्ल के अठारह पुत्रो मे से एक का शासन था।[1] पाणिनि (६-१-१५५) के कास्तीर और अजस्तुन्द ग्रामो की स्थिति का भी कोई पता नही चला है। भाष्य का कन्यानूप केप कमोरिन का प्राचीन तमिल नाम था। ग्रीक लेखको ने इसे 'कोमेरिया ऐक्रान' कहा है।

---

१. एपि० इण्डि० १-३३ तथा लॉ: ट्राइब्स इन ऐन० इण्डिया, पृ० ५०, २३९९।
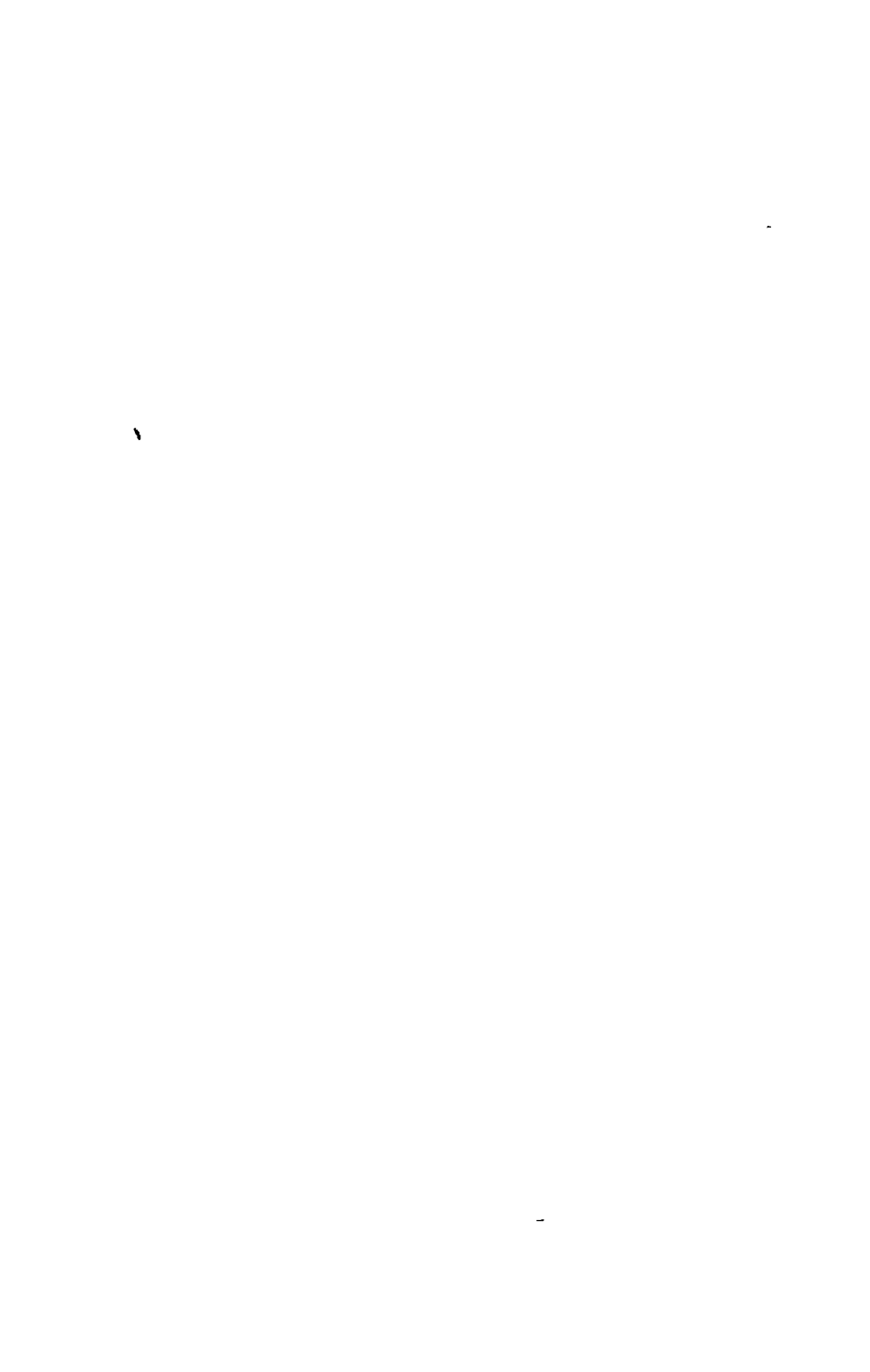
खण्ड ३

भारत की सामाजिक स्थिति

अध्याय १

समाज-संगठन

कुल (परिवार)—समाज का सबसे छोटा घटक कुल था।[१] विशिष्ट व्यक्तियो के प्रति सम्मान-प्रदर्शन के लिए उनके कुल का उल्लेख किया जाता था।[२] कुल प्राय. पुरुषो के नाम पर थे। उदाहरणार्थ—कारीषगन्ध्या का कुल उसके पति या पुत्र के नाम से लोगो मे प्रसिद्ध था। कारीषगन्ध्या के नाम से स्वतन्त्र कुल की गणना नही की जाती थी।[३] कुछ कुल कई पूर्वजो के नाम से प्रसिद्ध हो जाते थे। जैसे षट्कुल परिवार के छह पूर्वजो के नाम पर प्रसिद्ध था। इसके सदस्य षाट्कुल कहलाते थे। ब्राह्मणो मे आज भी कुछ लोग स्वयं को 'षाट्कुल' मानते है।[४] पद, जाति, कार्य या व्यक्ति के नाम से कुलो का उल्लेख किया जाता था—यथा सेनानिकुल, ब्राह्मणकुल[५], वृषलकुल, याज्यकुल,[६] कारीषगन्ध्या-पतिकुल आदि। इस प्रकार, कुल शब्द वर्तमान परिवार के अर्थ मे प्रयुक्त होता था। लोक-व्यवहार मे कुल और गोत्र प्राय एक ही अर्थ मे बोले जाते थे। कुल गोत्र का अवयव था।[७]

कुलीन—कुल मे उत्पन्न व्यक्ति की सज्ञा कुलीन थी।[८] कुछ कुल प्रतिष्ठित माने जाते थे और कुछ कुख्यात। प्रतिष्ठित कुल की सन्तान माहाकुल, माहाकुलीन[९], या महाकुलीन कही जाती थी और कुख्यात कुल की सन्तान दौष्कुलेय या दुष्कुलीन।[१०] कुलीन, कुल्य[११] और कौलेयक भी अच्छे कुल के बोधक थे। धनी परिवार के लोग आढ्यकुलीन कहलाते थे। श्रेष्ठ सच्चरित्र परिवा र की कन्याएँ कुलपुत्री या कुलदुहिता कही जाती थी।[१२] ये पद गौरव के परिचायक थे। परिवारो के अपने मित्र परिवार या व्यक्ति होते थे, जिनका पीढियो से पारिवारिक स्नेह-सम्बन्ध चला आता था। ये परिवार कुलमित्र कहे जाते थे।[१३] कुलदुहिता से ठीक उलटी घर-घर आहिण्डन करनेवाली कुलटा स्त्रियाँ भी होती थी।[१४] पारिवारिक प्रतिष्ठा या अयश पीढी-दर-पीढ़ी सन्तान के साथ सलग्न रहता था। कुलीन की सन्तान कौलीन कही जाती थी और कौलीनि के छात्र कौलीन।

---

१. १-१-६२, पृ० ३९७।
२. १-१-५१, पृ० ३२१।
३. ६-१-१३, पृ० ४०।
४. ४-१-८८, पृ० १००।
५. १-१-५६, पृ० १५४।
६ १-१-५६ पृ० ३३४।
७. ४-१-७९, पृ० ८८।
८. ४-१-१३९।
९. ४-१-१४१।
१०. ४-१-१४३।
११. ४-१-१४०।
१२. ६-३-७०, पृ० ३४७।
१३. ६-२-१०६, पृ० २७७।
१४. ६-१-९४, पृ० १५१।

कौलीन कह देना मात्र यह बतला देने के लिए पर्याप्त था कि इस छात्र का गुरु न केवल स्वयम् अभिजात है, अपितु उसके पूर्वज भी सच्चरित्र एव ख्यात रहे हैं।[१] इसी प्रकार, कुलटा का अपयश उसकी सन्तान के साथ लगा रहता था। कौलटिनेय या कौलटेय कह देना यह बतला देने के लिए पर्याप्त था कि इसकी माता समाज मे हीन दृष्टि से देखी जाती थी।[२] यदि किसी परिवार मे सामाजिक या धार्मिक मर्यादा के विरुद्ध काम होता था, तो लोगो का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट होता था और वह लोगो की दृष्टि से गिर जाता था।[३]

प्राचीन भारत मे कुल का महत्त्व बहुत अधिक था। गोत्र के समान कुल का नाम भी कभी-कभी विख्यात पूर्वज के नाम पर चलता था और कभी जीवित वृद्ध पुरुष के नाम पर। यथा, गार्ग्य लोगो के कुल को गार्ग्यकुल भी कहते थे और गर्गकुल भी। इसी प्रकार, वात्स्यकुल और वत्सकुल या वैदकुल और विदकुल दोनो प्रकार से व्यवहार चलता था।[४]

कुल-भेद—कुल दो प्रकार के माने जाते थे—गुरुकुल और पितृकुल। विवाहिता का कुल पतिकुल होता था।[५] घर मे वृद्ध पुरुष या पति न रहने पर पुत्र का कुल माता आदि स्त्रियो का कुल माना जाता था। यदि कई भाई कुल मे हुए और वे विभक्त हो गये, तो एक ही कुल के कई घर हो जाते थे। घर का स्वामी गृहपति या आवसथिक कहलाता था।[६] गृहपति घर का ज्येष्ठ पुरुष होता था। पितामह या पिता के न होने पर ज्येष्ठ भ्राता या कोई बडा पुरुष गृहपति कहलाता था।[७] गृहपति प्रथा को गार्हपत कहते थे, जिसमे जनपद-भेद के अनुसार साधारण अन्तर रहता था। भाष्य मे कुरुगार्हपत और वृजिगार्हपत का विशेष उल्लेख मिलता है।[८]

कुल के अंग—कुल या परिवार के मूल पुरुष थे माता और पिता, जिन्हे सयुक्त रूप से 'पितरौ,[९] मातापितरौ या मातरपितरौ' भी कहते थे।[१०] वेदो मे 'पितरा', 'मातरा' प्रयोग मिलते है। उत्तर भारत मे मातरपितरौ प्रयोग प्रचलित था। माता-पिता से सद्व्यवहार तथा उनकी सेवा पुत्रो का कर्त्तव्य था।[११] भाइयो के बडे आदि के क्रम से ज्येष्ठ,मध्यम और कनिष्ठ नाम होते थे। दो मे बडे को ज्यायान् कहते थे। सम्मान की दृष्टि से ज्येष्ठ का स्थान पिता के बाद ही था।

---

१. ४-१-९०, पृ० १०९।
२. ४-१-१२७।
३. उपरतान्यस्मिन्कुले व्रतान्युपरतः स्वाध्यायः—१-४-११०, पृ० २२३।
४. २-४-६४, पृ० ५०३।
५. १-१-५१, पृ० ३२१।
६. ४-४-९०, पृ० २८६ तथा ४-४-७४।
७. ४-१-१६४।
८. ६-२-४२, पृ० २५८।
९. १-२-७०।
१०. ६-३-३२, ३३।
११. १-१-९, पृ० १६३।

कनीयान् ज्यायान् की आज्ञा का पालन करता था।[1] पुत्रों के नामकरण से युवा होने तक माता-पिता उनका पोषण करते थे। वे खुले मण्डप मे सबके सामने पुत्र का नाम रखते थे।[2]

पुत्र—कुल या परिवार मे पुत्र का महत्त्व बहुत अधिक था। उसे शोकापनुद् या शोक को दूर करनेवाला मानते थे। सगे भाई सोदर्य या समानोदर्य कहलाते थे।[3] पिता से प्राप्त होनेवाली सम्पत्ति मे, जिसे पित्र्य या पैतृक कहते थे,[4] तथा पितामह से प्राप्त होनेवाली सम्पत्ति मे, जिसे पैतामहक कहते थे[5], क्रमश सब सोदर्य तथा पितृव्य अशक या अशहारी होते थे।[6] अपने पुत्र के अतिरिक्त अन्य बालको को भी कभी-कभी पुत्र मान लिया जाता था।[7] पुत्र गोद भी लिये जाते थे, जो पुत्रक कहलाते थे। पुत्र की कामना सभी गृहस्थ करते थे।

अन्य घटक—पिता के भ्राता को पितृव्य और माता के भ्राता को मातुल कहते थे।[8] पिता और माता के पिता की सज्ञा पितामह और मातामह थी।[9] उनकी माता को क्रम से पितामही और मातामही कहा जाता था।[10] मातुल की पत्नी मातुली या मातुलानी कहलाती थी।[11] पितामह के पिता को प्रपितामह कहते थे। इस प्रकार पुत्र, पिता, पितामह और प्रपितामह तक चार पीढियाँ प्राय मिल जाती थी। इनसे ऊपर सबको पितर कहते थे। मातृवश की तीन पीढियो तक का ही भाष्य मे उल्लेख है, प्रमातामह का नही। प्रपितामह की दृष्टि से नीचे की पीढियाँ प्रपौत्र, पौत्र, पुत्र होते थे।[12] माता और पिता की बहन को मातृष्वसा, मातुःष्वसा या मातु स्वसा तथा पितृष्वसा, पितु ष्वसा या पितु स्वसा कहते थे।[13] बहन स्वसा कहलाती थी और उसका पुत्र स्वस्रीय।[14] भाई के पुत्र को भ्रातृव्य या भ्रात्रीय कहते थे। भावज के लिए भ्रातृजाया शब्द का व्यवहार था।[15] भतीजे के लिए भ्रातुष्पुत्र शब्द भी प्रचलित था।[16] बुआ का लडका या फुफेरा भाई पैतृस्वसेय[17] कहा जाता था और मौसी का पुत्र या मौसेरा भाई मातृष्वस्रीय।[18] पत्नी जाया, भार्या या जनी कहलाती थी[19] और उसके माता-पिता श्वश्रू और श्वशुर।[20] साले के लिए श्याल और श्वशुर्य शब्द थे।[20] श्वशुर्य का पुत्र श्वाशुरि और उसके छात्र श्वाशुर कहलाते थे। नाती को नप्ता कहते थे[21] और ननद को ननान्दृ तथा ननदोई को

---

१. १-१-२१, पृ० २०२।
२. १-१-१, पृ० ९५।
३. ४-४-१०८।
४. ४-३-७९।
५. ४-२-१०४, पृ० २०८, ९।
६. ५-२-६९।
७. ३-१-८, पृ० ३९।
८. ४-२-३६, पृ० १७६।
९. वही।
१०. वही।
११. ४-१-४९, पृ० ६३।
१२. ५-२-१०।
१३. ३८–८४ तथा ८-३-८५, पृ० ४५८।
१४. ४-१-१४३ तथा ४-१-९०, पृ० १०९।
१५. ४-१-१४४ तथा ४-१-१४५, पृ० १४५।
१६. कस्कादिगण, ८-३-४८।
१७. १-१-५१, पृ० ३१७।
१८. ४-१-१३४, पृ० १४४।
१९. २-१-११२, पृ० १८८ तथा ६-१-८४, पृ० ११८ तथा ४-४-८२, पृ० २८५।
२०. १-२-७१, पृ० ६०५।
२१. ४-१-९०, पृ० १०९।
२२. १-१-७२, पृ० ४५५

ननान्दृपति। पुत्री और दुहिता दोनो शब्द व्यवहार मे आते थे।[1] ननान्दा की सन्तान नानान्द और दुहिता की सन्तान दौहित्र कही जाती थी। इसी प्रकार पुत्र का पुत्र पौत्र कहलाता था।[2] स्वसा और भगिनी समानार्थी थे। भगिनी का पुत्र भागिनेय होता था।[3]

संयुक्त कुल—पिता, माता और भाई एक साथ रहते थे, किन्तु कभी-कभी किसी कारण से अनबन हो जाने पर भाई-भाई अलग भी हो जाते थे। इन विभक्त-धन भाइयो को 'विभक्त' कहते थे।[4] मातृ-सम्बन्ध पर टिप्पणी करते हुए भाष्य मे कहा है 'देवदत्त का भ्राता' इसमे षष्ठी विभक्ति का क्या अर्थ है ? यही न कि दोनो एक स्थान से उत्पन्न हुए हैं। किन्तु, यह कहना बिलकुल गप ही है। क्योकि, जिस प्रकार रात के समय सार्थिक लोग एक ही प्रतिश्रय मे ठहर जाते है और सवेरे उठकर चल देते है। उनका परस्पर कोई भी सम्बन्ध नही होता। यही स्थिति भ्रातृत्व की है। भ्रातृव्यो मे तो प्राय झगडे हुआ करते थे। इसीलिए, भ्रातृव्य शब्द का अर्थ ही सपत्न हो गया था।[5] एक पति की कई स्त्रियाँ परस्पर सपत्नी होती थी और सपत्नी की सन्तान सापत्न।[6] शत्रुवाचक सपत्न और भ्रातृव्य शब्द स्वय भारतीय परिवार के सगठन के दोषो पर प्रकाश डालते है। समान पति या पत्नीवालो का परस्पर शत्रुभाव रहना स्वाभाविक था। सपत्न का मूल अर्थ शत्रु नही था, अपितु समान-पतिकत्व के कारण निरन्तर चलनेवाले शात्रव को दृष्टि मे रखकर लाक्षणिक रूप से उसका अर्थ शत्रु प्रचलित हो गया। यही बात भ्रातृव्य के विषय मे कही जा सकती है। भाष्यकार ने कहा है कि अपने भाई और चचेरे भाई मे अन्तर तो होता ही है।[7]

कुलाचार—परिवारो मे शिष्टाचार के नियम निश्चित थे। माता-पिता और आचार्य की सेवा करना पुत्र और शिष्य का धर्म था।[8] गुरु-पुत्र के साथ भी चरण-स्पर्श तथा उच्छिष्ट-भोजन के अतिरिक्त, गुरु के समान ही व्यवहार किया जाता था।[9] छोटे लोग बडो को प्रणाम करते थे। अभिवादन और प्रत्यभिवादन के नियम निश्चित थे। पिता के जीवित रहते पुत्र उसका आज्ञानुवर्त्ती रहता था। पिता के जीवन-काल मे स्वतन्त्रवत् आचरण करनेवाला पुत्र समाज मे धिक्कृत होता था।[10] फिर भी, कभी साम्पत्तिक तथा अन्य कारणो से परिवार मे विग्रह उत्पन्न हो जाता था। भाष्य मे पुत्रहती, पुत्रजग्धी, पुत्रपुत्रादिनी, पितृहा, मातृहा, भ्रातृहा शब्द मिलते है।[11] ये अपवाद हैं। माता, पिता, भ्राता, पुत्र आदि की हत्या अत्यन्त गर्हित थी, इसीलिए ये शब्द गाली के रूप मे व्यवहृत होते थे।

कुल सम्बन्ध—परिवार तथा उसके मित्र-कुल मे कुछ पुरुष या स्त्री ऐसे भी होते थे, जो

---

१. १-१-७२, पृ० ४५२।
२. ४-१-१०४, पृ० १३४।
३. ३-३-१८, पृ० २९७।
४. ३-४-६७, पृ० ३६९।
५. ४-१-१४५, पृ० १४५।
६. ६-३-३५, पृ० ३२३।
७. २-१-१, पृ० २४६।
८. १-१-९, पृ० १६।
९. १-१-५६, पृ० ३३८।
१०. ४-१-१६२, पृ० १५५।
११. ८-४-४८, पृ० ४९८ तथा ३-२-८७, पृ० २३५।

सम्बन्ध में भले ही पितृव्यादि न लगते हो, पर उनका सम्मान पितृव्यादि के समान किया जाता था। इतना ही नही, उन्हे घर के लोग कल्पित सम्बन्ध से ही पितृव्य, श्वशुर, मातृष्वसा आदि कहकर पुकारते थे। यह सम्बन्ध उन व्यक्तियो तक ही सीमित रहता था। उनकी सन्तान से उस प्रकार का सम्बन्ध होना आवश्यक नही था। इसीलिए लोक-व्यवहार मे यदि कोई व्यक्ति किसी को श्वशुर कहता था, तो भी उसकी सन्तान श्वशुर्य नही कही जाती थीं। वास्तविक (रक्त-सम्बन्ध) से कल्पित सम्बन्ध (स्नेह-सम्बन्ध) का अन्तर स्पष्ट करने के लिए ही उसे श्वाशुरि कहते थे।[१] श्वशुर्य पत्नी का सोदर होता था और श्वाशुरि चचेरा या स्नेह के कारण माना हुआ भाई। इसी प्रकार माता की सगी बहन मातृष्वसा होती थी तथा रिश्ते मे या स्नेह के कारण लगनेवाली अन्य बहनें मातृस्वसा।[२] पिता के समान पूज्य व्यक्ति पितृ-सदृश कहलाता था।[३] पिता के लिए हितकारी वस्तु को पितृभोगीण कहते थे। हितकारी बात वह मानी जाती थी, जो या तो पिता को रुचनेवाली बातो से सम्बद्ध हो या आर्थिक दृष्टि से उसके अनुकूल हो या उनके शारीरिक सुख मे सहायक हो।[४] सम्बन्धवाची पिता, भ्राता के विषय मे पतंजलि ने कहा है कि इन शब्दो के यौगिक अर्थ का ग्रहण नही करना चाहिए। ये शब्द इन-इन अर्थो मे समाज मे प्रचलित हो गये है इसलिए इनका जो अर्थ प्रसिद्ध है, वही ग्रहण करना चाहिए। यों भी बहुत-से शब्द नियतविषय लोक मे प्रचलित है। यदि यौगिक अर्थ मानने लगेंगे, तो भरण करनेवाला, यह अर्थ भ्राता शब्द का होगा और इस अर्थ मे यदि भाई को भ्राता कहे, तो स्वसा को भी भ्राता कहना चाहिए; क्योकि भरण जितना छोटे भाइयो का बडा भाई या बडे का छोटा भाई करता है, उतना बहन भी करती है। यदि पुत्र का अर्थ कुल को पवित्र करनेवाला या प्रसन्न करनेवाला माने, तो दुहिता को भी पुत्र कहना चाहिए, क्योकि वह भी उनके समान माता-पिता को आनन्दित करती है। यदि पिता का अर्थ रक्षा करनेवाला या पालन करनेवाला माने, तो माता को भी पिता कहना चाहिए, क्योकि वह भी पुत्रो के रक्षण और पालन का काम करती है और यदि श्वशुर उसे कहे, जिसे आशु (शीघ्र) प्राप्त करना चाहिए, तो श्वश्रू भी श्वशुर कहला सकती है। किन्तु, लोक मे इन सबका प्रयोग उक्त अर्थो मे नही होता। इसलिए, सम्बन्धवाचक शब्दो को रूढ या नियतविषय ही मानना चाहिए।[५]

सम्बन्धों का आधार—पारिवारिक सम्बन्ध दो प्रकार के माने जाते थे। एक पत्नीवश या स्त्रीवश से और दूसरे पितृमातृवश से। स्त्रीवश मे श्याल या श्वशुर्य, पत्नीष्वसा, श्यालवधू, श्वशुर, श्वश्रू आदि थे। इन्हे सयुक्त कहते थे। सयुक्त शब्द उनके पृथग्वशीय होने की ओर सकेत करता है, जो सम्बन्ध होने के बाद मिल जाते थे। पितृमातृसम्बन्धियो मे भाई, भतीजे, चाचा आदि थे, जो बान्धव या कुटुम्बी कहलाते थे। इन्हे ही 'ज्ञाति' कहते थे। इस प्रकार, ज्ञाति के लोगों मे आत्मीयत्व की भावना रहती थी। इसीलिए, वे 'स्व', अर्थात् आत्मीय भी कहलाते थे।[६] स्व-सम्बन्ध अपने कुलवालो से होता था और सयुक्त सम्बन्ध पत्नीवशवालो से।[७] इन सम्बन्धो मे

---

१. ४-१-९६, पृ० १२९।
२. ८-३-८४।
३. ४-१-१, पृ० १०।
४. ५-१-९, पृ० ३०१।
५. १-२-७१, पृ० ६०५।
६. १-१-३५, पृ० २३७।
७. ६-२-१३३, काशिका।

कुछ स्त्रियो के ही पारस्परिक सम्बन्धो के परिचायक थे। यथा—ननान्दा, ननान्दृपति, याता आदि और कुछ पुरुषो के पारस्परिक सम्बन्धो के सूचक थे। यथा—श्याल आदि। कुछ स्त्री-पुरुष दोनो के समान सम्बन्ध, किन्तु पृथक् व्यक्तियो के बोधक थे। जैसे—श्वशुर, श्वश्रू आदि और कुछ दोनो के सामान्य थे। यथा—भ्राता, दुहिता, मातुल आदि। ये सम्बन्ध एक साथ तीन परिवारो की तीन कोटियो को एक सूत्र मे बाँधते थे। जहाँ कुलदुहिता व्याही जाती थी, जहाँ पुत्र व्याहे जाते थे और अपना कुलाचार पीढियो मे बीसो परिवार एक सूत्र मे बँध जाते थे। कुछ लोग माता-पिता न होकर भी उनके समान ही व्यवहार करते थे और माता-पिता के सम्मान से सम्मानित भी होते थे।[१]

विद्या-सम्बन्ध—रक्त-सम्बन्ध या योनि-सम्बन्ध के अतिरिक्त विद्या-सम्बन्ध भी प्रचलित थे। इनका बन्धन भी योनि-सम्बन्ध जैसा ही परिपुष्ट होता था, भले ही वह सदा पीढी-दर-पीढी न चल पाता हो। पाणिनि ने विद्या और योनि-सबध की एक साथ चर्चा बार-बार की है।[२] भाष्यकार ने गुरु के अतिरिक्त गुरुपुत्र का कई बार उल्लेख किया है[३] और उसके साथ व्यवहार के नियम[४] बतलाये है। विद्या-सम्बन्धो मे गुरु-परिवार के अतिरिक्त सतीर्थ्य सम्बन्ध भी सम्मिलित था।[५] जिस प्रकार मातामह से मिलनेवाली सम्पत्ति को मातामहक कहते थे, उसी प्रकार उपाध्याय या आचार्य से प्राप्त होनेवाली वस्तु औपाध्यायक या आचार्यक कही जाती थी। इससे स्पष्ट है कि सन्तान के न होने पर शिष्य आचार्य की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता था।[६]

कुल के घटको का सापेक्षिक महत्त्व—परिवार मे प्रत्येक सदस्य का स्थान उसकी आयु के क्रम से था। एक ही पीढी के लगभग समान वय के स्त्री-पुरुषो मे पुरुष का स्थान स्त्री के ऊपर माना जाता था। स्त्री पुरुष मे ही अन्तर्भूत मानी जाती थी। इसीलिए, पितरौ, भ्रातरौ, पुत्रौ, श्वशुरौ आदि मे पिता, भ्राता, पुत्र, श्वशुर आदि के द्विवचन मे उल्लेख से उनके साथ माता, बहन दुहिता या पुत्री और श्वश्रू का भी बोध हो जाता था।[७] वृद्ध पुरुष या स्त्री का नामोल्लेख कर देने से युवापत्य भी उसमे सम्मिलित मान लिया जाता था।[८] जैसे गार्ग्यौ (द्विवचन) कहने से गार्ग्य और गार्ग्यायण (उसके बाद का वंशज) दोनो का ग्रहण हो जाता था। वृद्ध स्त्री के द्विवचन मे उल्लेख से युवापत्य भी उसमे अन्तर्निहित स्वीकार कर लिया जाता था, किन्तु उस स्त्रीवाचक शब्द को पुंलिंग के समान बना दिया जाता था।[९] जैसे गार्गी और गार्ग्यायण (अगली पीढी की सन्तान) के लिए 'गार्ग्यौ', दाक्षी और दाक्षायण के लिए 'दाक्षी', वात्स्या और वात्स्यायन के लिए 'वात्स्यौ' कह देना पर्याप्त था। ऐसे स्थल मे अवशिष्ट स्त्रीलिंग शब्द का पुंवद्भाव कर देना पुरुष की प्रधानता को सुरक्षित रखने की अप्रत्यक्ष चेष्टा का सुन्दर निदर्शन है, क्योकि गार्गी, वात्सी, दाक्षी आदि के पुंलिंग रूप उनके पति के बोधक है। इसलिए, सम्मान-रक्षार्थ उसे युवापत्य

---

१. ६-१-१२ पृ० ३६।
२. ४-३-७७ तथा ६-३-२३।
३. २-१-१, पृ० २३२।
४. १-१-५६, पृ० ३३८।
५. ६-३-८७।
६. ४-२-१०४, पृ० २०८, ९।
७. १-२-६८ तथा १-२-७०, ७१।
८. १-२-६७ तथा २-१-६५।
९. २-१-६६।

की अपेक्षा भले महत्त्व देने के लिए अवशिष्ट रखा जाता हो, वास्तव मे इस अवशेप का कारण उसके पति की प्रधानता थी, उसकी स्वय की नही। यह वात पुवत्कार्य से स्पष्ट हो जाती है। इस उदाहरण से यह निष्कर्प निकलता है कि परिवार या वश पितृमूलक था। अत, वागिक सम्बन्धो मे स्त्री-पुरुष की छायामात्र थी, किन्तु अभ्यर्हितता की दृष्टि से उसका स्थान सुरक्षित था। इसीलिए, माता और पिता का समास होने पर मातापितरौ मे अभ्यर्हित माता शब्द का प्रयोग प्रथम दिखाई पडता है।[१]

कुल-मित्र—रक्त-सम्वन्ध से भले न हो, किन्तु व्यवहार मे मित्र भी परिवार के अति निकट होते है। मैत्री व्यक्तियो तथा परिवारो की अलग-अलग रहती थी। कभी-कभी यह मैत्री दो परिवारो मे पीढ़ी-दर-पीढी चलती थी। इस प्रकार, कुल-मित्र भी होते थे।[२] मित्र की सद्भावना पूर्ण होने के कारण सुहृद् कहते थे। इसका ठीक उल्टा दुहृद् (शत्रु) था।[३] सखि और मित्र समानार्थी थे। सखा का स्नेह-व्यवहार सख्य कहलाता था। यह पारस्परिक होता था।[४] मित्रता की भावना से किसी की ओर सात डग चलना मैत्री के लिए पर्याप्त था। इसलिए, सख्य को साप्त-पदीन कहते थे।[५] सम्भवत, यह विशेपण वैवाहिक सप्तपदी के आधार पर वना था, जिसका मूल अर्थ दाम्पत्य-सम्वन्ध था। वाद मे लक्षणा से सामान्य मैत्री के लिए साप्तपदीन शब्द का प्रयोग होने लगा।

मित्रता को सगत भी कहते थे। ऐसी मैत्री, जो कभी ढीली न पडे, अजर्य कहलाती थी। इसी अर्थ मे मैत्री से भिन्न प्रसग मे अजर या अजिरता शब्द का व्यवहार होता था।[६] सगतकरण या मित्रकरण आवश्यकतावश भी होता था। यात्री लोग अपनी सुविधा के लिए 'रथिको और अश्वारोहो से मैत्री'[७] करते है, यह उदाहरण भाष्य मे मिलता है। मित्रो की कोटियाँ उनके सौहार्द के स्थायित्व तथा गाम्भीर्य के आधार पर सुसखा, परमसखा आदि की जाती थी।[८]

कुलातिथि—अतिथि परिवार का स्थायी नही, किन्तु आकस्मिक अग था। आतिथ्य परिवार का धर्म था। अतिथि को अर्घ्य पाद्य, अर्थात् पीने और पाँव धोने के लिए तो उसके आने के साथ ही दिया जाता था।[९] उसे घर मे परिवार के अन्य सदस्यो के साथ ठहराया जाता था, इसीलिए उसे दुरोणसत्[१०] कहते थे। भिन्न-भिन्न कोटि के अतिथियो का स्वागत उनके अनुरूप होता था। किसी को मांसौदन खिलाया जाता था। कोई मटर या उडद की दाल (कालाय-सूप) का ही अधिकारी होता था। किसी को श्वेतच्छत्र भेट किया जाता था। श्वेतच्छत्र विशेप सम्मान के लिए उसके वैठने या ठहरने के लिए लगाया जाता था। ऐसे अतिथि क्रमश मासौदनिक, कालाय-

---

१. २-२-३४, पृ० २९०।
२. ६-२-१०६, पृ० २७७।
३. ५-४-१५०
४. ५-१-१२६, आ० १, पृष्ठ ८।
५. ५-२-२२।
६. ३-१-१०५, पृ० १८३।
७. १-३-२५, पृ० ६४।
८. १-१-७२, पृ० ४५६।
९. ५-४-२५।
१०. ३-२-६१, पृ०२२५।

सूपिक और श्वेतच्छत्रिक कहलाते थे।[१] आचार्य, राजा और श्रोत्रिय का स्वागत गोमास से किया जाता था। यह उनके प्रति विशेष सम्मान के प्रदर्शन के लिए था। इसलिए, इन्हे गोघ्न अतिथि कहते थे।[२] कुछ अतिथि व्यक्तिविशेष के न होकर सारे गाँव के माने जाते थे और गाँव के सारे परिवार या कुल उनकी सेवा करते थे।[३] अतिथि के सत्कार को आतिथ्य और सत्कार करने वाले को अतिथेय (स्त्री आतिथेयी) कहते थे।[४]

कुल-भृत्य—सेवको या कर्मकरो मे वहुत-से स्वामी के घर ही रहते थे और भोजन-वस्त्र पाते थे। जो नही रहते थे, वे भी काम के लिए अपना अधिकाश समय वही विताते थे। ऐसे नौकरो मे उदहार,[५] वैवधिक[६] आदि थे। उदवीवध जल ढोने का साधन था। धनी परिवारो मे द्वारपाल[७] या दौवारिक, मणिपाली[८], अभ्यग,[९] स्नान,[१०] लेप आदि करनेवाले भृत्य तथा राजपरिवारो मे दण्ड-ग्रह, छत्रग्रह[११] आदि भी रहते थे। ये सब किंकर भी कहलाते थे।[१२]

इस प्रकार, परिवार या कुल पितृवश, मातृवश, विद्यायोनिक सम्वन्धी, मित्रगण, अतिथि, भृत्य आदि की समष्टि थी। यह समाज का मुख्य तथा शक्तिशाली घटक था।

सपिण्ड—कुल के वाद सपिण्डो का स्थान था। पिता की सात तथा माता के वश की पाँच पीढियाँ सपिण्ड कहलाती थीं।[१३] यदि किसी परिवार मे स्थविरतर सपिण्ड जीवित होता, तो उसके पौत्र, प्रपौत्रादि को युवा[१४] कहते थे।

वंश—वश एक परम्परा थी। वश एक पीढी से दूसरी पीढी मे वढता हुआ स्थायी सामाजिक अग था। व्यक्ति की अगली पीढियाँ उसकी वश्य कहलाती[१५] थी। रक्तवश पिता द्वारा प्रचलित माना जाता था। सामान्यतया स्त्री के नाम पर वश नही चलता था। कुछ लोग मातृवश और पितृवश दोनो मानते थे और देश के कुछ भागो मे मातृवश भी प्रचलित था।[१६] वश और सम्वन्ध प्रायः पर्याय थे। योनि-सम्वन्ध या वश के अतिरिक्त विद्या-वश या विद्या-सवध भी प्रचलित था। आचार्य की शिष्य-परम्परा उसका वश मानी जाती थी। उदाहरणार्थ—व्याकरण की तीन मुनि 'वश्य' माने जाते रहे।[१७] 'त्रिमुनिव्याकरणस्य' का अर्थ वह व्याकरण था, जिसमे तीन मुनि वश्य रहे हो। भारद्वाज की इक्कीस पीढियाँ तथा गौतम की तिरपन पीढियाँ भाष्यकार के समय तक हो चुकी थी।[१८] भाष्य के 'एकविंशति भारद्वाजम्' और त्रिपञ्चाशद् गौतमम्' ये उदाहरण इस वात के प्रमाण हैं कि लोग अपने परिवार की वशावली तैयार रखते थे। न केवल वशावली, अपितु उनका

---

१. ४-१-१९, पृ० ३०९।
२. ३-४-७३।
३. २-२-२४, पृ० ३३६।
४. ५-४-२६, तथा ४-४-१०४।
५. ६-३-६०।
६. वही, तथा ४-४-१७, पृ० २७५।
७. ७-३-४।
८. याजकादिगण, ६-२-५१ तथा २-२-९।
९. महिष्यादिगण, ४-४-४८ तथा ६-२-५१।
१०. वही, तथा २-९-२।
११. रेवत्यादिगण, ४-१-१४६।
१२. ३-२-२१, पृ० २१३।
१३. ४-१-१६५, पृ० १५७।
१४. वही।
१५. ४-१-१४७, पृ० १४६।
१६. वही।
१७. २-१-१९, काशिका।
१८. २-४-८४, पृ० ५१५,

सक्षिप्त इतिहास भी उन्हे ज्ञात रहता था। तभी इस बात का पता लगना सम्भव था कि किसके वश मे दस पूर्वज पीढियो तक अशिक्षित और कर्त्तव्यच्युत लोग नही हुए है। सोमपान के अधिकारी का निर्णय करते समय पहली दस पीढियो का इतिहास देखा जाता था।[1]

सगोत्र—सामाजिक सगठन मे गोत्र का महत्त्व पतजलि-काल मे बहुत अधिक था। वश के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियो के नाम पर उस वश का नाम पड़ जाता था। विद्या, बल, कार्य आदि किसी दृष्टि से कोई पुरुष महत्त्वपूर्ण हुआ, तो उसकी सन्तानो को लोग उसके नाम से जानने लगते थे आगे चलकर पौत्र, प्रपौत्र आदि उसके नाम को अपने नाम के साथ जोडने लगते थे। भाष्यकार के समय मे यह प्रथा इतनी अधिक थी कि पिता, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र तथा अगली पीढ़ियो के नाम पूर्वज के नाम के आधार पर रखने के लिए कुछ नियम निश्चित कर दिये गये थे।

गोत्र शब्द के दो अर्थ थे—सामान्य अपत्य या सन्तान तथा व्याकरणशास्त्र का पारिभाषिक गोत्र। प्रथम लौकिक व्यवहार मे प्रचलित था[2] और उसका प्रयोग सम्मान या प्रतिष्ठा के द्योतन के लिए होता था। ऐसा वहाँ होता था, जहाँ परिवार मे कोई पूर्वज सम्मानित व्यक्ति होता था। सन्तान अभिमान-पूर्वक अपने गोत्र का उल्लेख करती थी।[3] लौकिक गोत्रो मे आर्ष और अनार्ष दो प्रकार होते थे। आर्ष गोत्र विद्या-सम्बन्ध से तथा अनार्ष[4] गोत्र योनि-सम्बन्ध से माने जाते थे। शास्त्रीय दृष्टि से इन्हे गोत्रावयव कहते थे। जैसे कुणिक, भुणिक या मुखर नामक व्यक्तियो के प्रसिद्ध हो जाने के कारण उनकी सन्ताने, भले ही वे उन गुणों से सम्पन्न न हो, कौणिक, भौणिक या मौखरि कही जाती थी। स्त्री कौणिक्या, भौणिक्या या मौखर्या कहलाती थी।[5] व्याकरण-शास्त्र मे पौत्र से लेकर अगली प्रपौत्रादि सन्तान को गोत्र कहते थे[6], किन्तु यदि गोत्रापत्य का प्रपितामह, पितामह, पिता, बडा भाई या गोत्र मे अन्य कोई सपिण्ड स्थविरतर जीवित होता था, तो उसे युवा कहते थे।[7] गर्ग की पौत्रादि के बाद की सन्तान (गोत्र) को गार्ग्य और युवापत्य को गार्ग्यायण कहते थे। इसी प्रकार वत्स, वात्स्य, वात्स्यायन, प्लक्ष, प्लाक्ष्य, प्लाक्षायण, दक्ष, दाक्ष्य, दाक्षायण आदि कहलाते थे। इनकी सामान्य सन्तान (पुत्रादि) को गार्गि, वात्सि, प्लाक्षि, दाक्षि कहते थे। भाष्यकार ने गोत्र के प्रारम्भ का उल्लेख करते हुए कहा है कि ऊर्ध्वरेतस् ऋषि (सन्तान का जनन या अजनन जिनके अधिकार की बात थी) अट्ठासी सहस्र हुए हैं। उनमें कश्यपादि सात तथा आठवे अगस्त्य ने सन्तान उत्पन्न करना स्वीकार किया था। उनकी सन्तान गोत्र कहलाती है।

---

१. एवं हि याज्ञिकाः पठन्ति दशपुरुषानूकं यस्य गृहे शूद्रा न विद्येरन् स सोमं पिबेदिति—४-१-९३, पृ० १२०।

२. २-४-६२, पृ० ५०२।

३. २-३-१८, पृ० ४२०।

४. ४-१-७८।

५. ४-१-७९ काशिका।

६. ४-१-१६२, पृ० १५४।

७. ४-१-१६३, पृ० १५५।

उपचारात अन्यो को भी गोत्र कह देते हैं।[1] वास्तव मे ये गोत्रावयव है। लौकिक व्यवहार मे युवा आदि सभी सन्तानों को गोत्र कहते थे।[2] उदाहरणार्थ—बालक से लोग पूछते थे, 'बच्चे, तुम्हारा गोत्र कौन-सा है।' इस प्रकार गोत्र शब्द वश के अन्त मे प्रयुक्त होता था।[3]

सवर्ण का उल्लेख ऊपर हुआ है। वर्ण या जाति का क्षेत्र गोत्र की अपेक्षा कही अधिक व्यापक था। एक ही वर्ण या जाति के लोग परस्पर एक दूसरे को बन्धु समझते थे। बन्धुत्व जाति को एक सूत्र मे बांधनेवाली डोर था। बन्धु शब्द ब्राह्मणादि जाति का अभिव्यजक था। बन्धुत्व के द्योतन के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ब्राह्मणजातीय, क्षत्रियजातीय या वैश्यजातीय कहते थे।[4]

सजनपद—एक जनपद मे रहनेवाले भी अपने को परस्पर एक सूत्र मे आबद्ध मानते थे। ये सजनपद कहलाते थे।[5] यो तो जन विशिष्ट सघो, मुख्यत. क्षत्रिय-सघो को कहते थे, जैसे भरतजन या पचालजन। जब ये लोग स्थायी रूप से एक स्थान में बस गये, तब वह स्थान जनपद कहा जाने लगा और उसका नाम उस जाति या सघ के नाम पर पड गया, जो मुख्यतः उस प्रदेश का निवासी था। इस प्रकार, अधिकाश जनपदो के नाम विभिन्न क्षत्रिय जातियो के नाम पर निश्चित हुए। किन्तु, इन जनपदो मे केवल क्षत्रिय ही नही, अन्य वर्ण या जातियाँ भी रहती थी और वे सब सजनपद कहलाती थी। इन प्रदेशो के स्वामी क्षत्रियो को जनपदी कहते थे।[6] जनपद के नाम से उसके निवासी पुकारे जाते थे।

अन्य घटक—पाणिनि ने कुल और वश के अतिरिक्त सबन्धु, सवचन, सवय, सवर्ण, सस्थान, सरूप, सगोत्र, सनाम, सज्योति, सजनपद और सनाभि शब्दो का भी प्रचलन बतलाया है। सबन्धु एक ही जाति के लोग होते थे। सवचन एक भाषा बोलनेवाले कहलाते थे। सवय एक साथ खेलने-कूदनेवाले; सस्थान एक ही ग्राम या नगर के निवासी, सरूप एक ही रूपाकृति के लोग, सगोत्र एक गोत्र की सन्तानें, सनाम तुल्य नाम के लोग, यथा राम (रामचन्द्र, बलराम, परशुराम), सज्योति कुण्डली मे एक-से ग्रहवाले, सजनपद एक जनपद के निवासी और सनाभि एक ही मूल वश्य की सन्तानें कही जाती थी। सोदर, सतीर्थ्य, सब्रह्मचारी आदि के समान ये लोग भी परस्पर सम्बद्ध होते थे। नाभि, वर्ण, स्थान, वचन ये सब लोगो को एकसूत्रता मे आबद्ध करने के साधन थे।[7] इनमे सनाभि सपिण्ड से भी व्यापक शब्द था। एक मूल पुरुष से उत्पन्न सन्तान, भले ही वह बीसियो पीढी पहले से अलग हो चुकी हो और दूर-दूर स्थानो मे रहती हो, सनाभि मानी जाती थी।

---

१. अष्टाशीतिः सहस्राण्यूर्ध्वरेतसामृषीणांबभूवुस्तत्रागस्त्यस्याष्टमैऋषिभिःप्रजनोभ्युपगतः तत्रभवतो यदपत्यं तानि गोत्राणि। अतोऽन्ये गोत्रावयवाः।—४-१-७९, पृ० ८८।

२. अथवापत्यो गोत्रसज्ञो भवतीति वक्तव्यम्।—४-१-१६३, पृ० १५६।

३. ४-१-९०, पृ० ११२।

४. ५-४-९, काशिका।

५. ६-३-८५।

६. ४-३-१००, काशिका।

७. ५-३-८५।

लोक--जनसाधारण को लोक कहा जाता था।[1] इसी से 'लोग' शब्द बना है। लोक मे आर्यों का अपना वर्ग था। 'आर्य' शब्द सामाजिक संगठन का परिचायक था।[2] शिष्ट, अबोनी तथा आचारवान् लोग अपने को आर्य कहते और एक सूत्र में आबद्ध मानते थे, यद्यपि इनके प्राच्य, उदीच्य, दाक्षात्य आदि भेद-प्रदेश भेद के अनुसार थे।[3] भाषा तथा रीति-रिवाज की दृष्टि से भी इनमें थोड़ा अन्तर था, किन्तु सामाजिक दृष्टि से वे एक थे।

---

१. अभ्यन्तरोऽहं लोके न त्वहं लोकः।—आ० १, पृ० २०।

२. आ० १, पृ० २१।

३. वही तथा अ० १, पृ० १८।

अध्याय २

वर्ण और जाति

चातुर्वर्ण्य—भाष्य मे चार वेदो, चार वर्णों और चार आश्रमो का उल्लेख है। इन्हे क्रमश चातुर्वैद्य, चातुर्वर्ण्य और चातुराश्रम्य कहते थे। भाष्यकार ने ब्राह्मणादिगण (५-१-१२४) के चातुर्वर्ण्यादि मे आश्रमो और वेदो को परिगणित कर लिया है।[1] इससे स्पष्ट है कि भाष्यकार के समय मे यह चतुष्टय-त्रयी समाज मे भली भाँति प्रतिष्ठित थी। इस समय वेदत्रयी नही, अपितु वेदचतुष्टयी स्वत प्रमाण मानी जाती थी। जीवन भी तीन मे नही, चार आश्रमो मे विभक्त था। इसी प्रकार, समाज के भी चार व्यवस्थित विभाग हो चुके थे।

जाति—वर्णों के ब्राह्मण, क्षत्रिय, विट् और शूद्र ये नाम भाष्य[2] मे आये है। पाणिनि ने वर्ण शब्द का उल्लेख ब्राह्मणादि[3] वर्ण, लिंग या चिह्न[4] और रग[5] तीनो अर्थों मे किया है। वर्णो के भीतर, किन्तु और अधिक व्यापक अर्थ मे जाति शब्द का प्रचलन इस समय हो चुका था। जाति ने गोत्रों और चरणो को भी अन्तर्भूत कर लिया था।[6] यह युग चरणो के भी उत्कर्ष का था। गोत्र और चरण भिन्न-भिन्न घरो या वशो मे जन्मे और पृथक् विद्या-सस्थाओ मे पढे व्यक्तियो के विशिष्ट व्यक्तित्वो के परिचय मे मुख्य सहायक हो सकते थे। इससे दो बाते हुई। प्रथम तो प्रत्येक जाति किसी-न-किसी वर्ण के अन्तर्गत रही। दूसरे, वर्ण केवल चार थे और सारे समाज को चार भागों मे बाँट देने पर प्रत्येक के भीतर इतना विशाल जनसमूह आता था कि उसमे विशिष्ट व्यक्तियो के उत्कृष्ट गुणात्मक या क्रियाशीलात्मक परिचय के लिए अवकाश न था। इसलिए, प्रारम्भ मे, जिन लोगो के पूर्वज श्रेष्ठ थे, उन्होने अपने को उनके नाम से पुकारना प्रारम्भ किया। जिनके वश मे प्रख्याति की कोई बात न थी, उन्होने अपनी आख्या अपने आचार्य के नाम पर प्रारम्भ की। भाष्यकार की जाति की परिभाषा मे समाज की यही मनोवृत्ति प्रतिबिम्बित है? धीरे-धीरे जब चरणो के अपकर्ष का समय आया, तब केवल वश ही अभिमान की वस्तु रह गया।

---

१. ५-१-१२४, पृ० ३६४।

२. सर्व एते शब्दा गुणसमुदायेषु वर्त्तन्ते ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्र इति।—५-१-११५, पृ० ३४७ तथा २-२-३४, पृ० ३४१।

३. ५-२-१३२।

४. ५-२-१३४।

५. २-१-६९ तथा ४-१-३९।

६. आकृतिग्रहणाज्जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह॥ ४-१-६३, पृ० ७२।

चरण केवल ब्राह्मणो तक सीमित रह गये। अन्य लोग उनपर अभिमान न कर सकते थे। इस कारण धीरे-धीरे गोत्रो की प्रधानता हो गई और चरण गौण पड़ गये। इस स्थिति में जाति जन्मना मानी जाने लगीं। भाष्यकार ने जाति को जनन से प्राप्य कहा। उसमें उत्कर्षापकर्ष नही हो सकता था।[1] भाष्यकार ने एक स्थान पर जाति और वर्ण मे भेद किया है। जाति जन्म से प्राप्त होती है और वर्ण जन्म तथा गुणकर्म दोनो से। जिसमे अपने वर्ण के गुण नहीं होते, वह जाति-ब्राह्मण या जाति-क्षत्रिय ही कहा जाता था। जाति-ब्राह्मणादि शब्द इस वात को स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त होते थे कि वह व्यक्ति अपनी योग्यता से अपने वर्ण का अधिकारी[2] नही है।

पाणिनि ने चरणो को भी जाति के अन्तर्गत माना है। काशिकाकार ने भी कठ, कालाप आदि को जातिबोधक मानकर 'कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने' (२-१-६३) तथा 'वा बहूना जातिपरिप्रश्ने डतमच्' (५-३-९३) सूत्रो के उदाहरणो मे सगृहीत किया है तथा 'जातेश्च' (६-३-४१) मे कठी, बह्वृची को जाति का उदाहरण माना है।[3] भाष्यकार ने गोत्र के आधार पर प्रयुक्त जाति शब्दो मे अवन्ती, कुन्ती, गान्धारी ये उदाहरण दिये है, जो इन देशों के राजाओ के स्त्री-अपत्य के वाचक है।[4] गोत्र, जिसके आधार पर जाति मानी जाती थी, पौत्र के वाद की सन्तान, अर्थात् प्रपौत्र (चौथी पीढी) से प्रारम्भ होता था।[5] इससे एक वात और स्पष्ट होती है कि जाति का मूल जन्म के आधार पर व्यक्तियो के वर्गीकरण मे है। व्यवसाय या शिल्प के आधार पर जातियाँ पतजलि के समय तक नही पाई जाती थी। भाष्य मे यद्यपि अनेक व्यवसायो की चर्चा है, किन्तु उनके आधार पर जाति के नामकरण का सकेत कही नही मिलता। इस प्रकार, स्वर्णकार, कुम्भकार, कर्मार, नापित, चर्मकार आदि को भाष्य ने शिल्पकार माना है, जाति-विशेष नही। इन्हे जाति रूप वहुत वाद मे प्राप्त हुआ जान पड़ता है।

ब्राह्मण—भाष्यकार ने जिस क्रम से चारो वर्णो का उल्लेख किया है, वही उनके सामाजिक सम्मान का भी क्रम था। ब्राह्मणो का स्थान[6] प्रथम था। भाष्यकार का काल ब्राह्मणो का सुवर्णकाल जान पड़ता है। 'ब्राह्मण क्षत्रिय विट् शूद्र' यह वर्णो की आनुपूर्वी थी, जिसमें ब्राह्मण मूर्धन्य थे।[7] ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न, विद्वान् तथा ब्राह्मणो के विहित कर्मो को करनेवाला व्यक्ति ब्राह्मण कहलाता था।[8] इस प्रकार जन्म, विद्या और कर्म इन तीनो वातो से वर्ण का निर्धारण

---

१. जननेन या प्राप्यते सा जातिर्न चैतस्यार्यस्य प्रकर्षापकर्षौ स्तः।—५-३-५५, पृ० ४४७।

२. तपः श्रुतं च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मणकारकम्।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः॥—२-२-६, पृ० २४०।

३. ६-३-४१ काशिका।

४. ४-१-१४, पृ० ३६ तथा ४-१-१७७, ७८।

५. ४-१-१६२।

६. ५-१-११५, पृ० ३४७।

७. २-२-३४, पृ० ३९१।

८. त्रीणि यस्यावदातानि विद्या योनिश्च कर्म च।
एतच्छिवे विजानीहि ब्राह्मणाग्र्यस्य लक्षणम्॥—४-१-४८, पृ० ६२।

होता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि शब्द गुणो के आधार पर प्रयुक्त होते थे। जन्म, शास्त्राभ्यास और तपस् (श्रेष्ठ कर्म, त्याग) ये किसी व्यक्ति को ब्राह्मण बनाते थे। जो व्यक्ति विद्या तथा तप से हीन होता था, उसे जाति-ब्राह्मण (केवल जन्म से ब्राह्मण) कहते थे।[1] इनके अतिरिक्त ब्राह्मण के परिचायक कुछ बाह्य लक्षण थे। ब्राह्मण प्राय गौरवर्ण, शुद्धाचरण, पिंगलाक्ष, और कपिलकेश होते थे। ये लक्षण भी ब्राह्मण की परिभाषा के अन्तर्गत थे और उन्हे देखकर लोग व्यक्ति के ब्राह्मण होने का अनुमान कर लेते थे।[2] फिर भी, जिस प्रकार किसी समुदाय के लिए प्रयुक्त होनेवाला शब्द उसके अवयवो के लिए भी प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार उपर्युक्त समस्त गुणो से युक्त व्यक्ति को भी ब्राह्मण कहते थे और उनमे से एक या दो से हीन को भी। उदाहरणार्थ, बैठकर मल-त्याग करना, भोजन करना ये ब्राह्मण के गुण थे, किन्तु यदि कोई ब्राह्मण खडे-खडे मूत्र-त्याग करता या चलते-चलते खाता था, तो भी उस अब्राह्मणाचार को ब्राह्मण कहा ही जाता था। गौर, शुच्याचार आदि गुणो से युक्त व्यक्ति अन्य वर्णो मे भी थे। ऊपर-ऊपर के लक्षणो से भी कभी-कभी उनके ब्राह्मण होने की भ्राति हो जाती थी। बाद मे पता चलता कि वह ब्राह्मण नही है। ऐसे प्रकरणो मे सन्देह भ्राति का कारण होता था और जाति सन्देह निवारण करती थी। किसी ने किसी स्थान के विषय मे कह दिया कि वहाँ ब्राह्मण मिलेगा। वहाँ जाकर जो व्यक्ति देखा, उसे ब्राह्मण समझ लिया। ऐसे प्रकरणो मे भ्रात निर्देश सन्देह का कारण होता था और जाति-ज्ञान उसका निवर्त्तक। फिर भी, सन्देह समान-रूप-गुणवालो के विषय मे ही हो सकता था। उरद के समान काले रग के पुरुष को दूकान पर बैठा देखकर उसके विषय मे किसी को ब्राह्मण होने का सन्देह नही होता था।[3]

भाष्यकार के इस सम्पूर्ण कथन से कई बाते स्पष्ट होती है। प्रथम, यह कि ब्राह्मणो का वर्ण गौर था। शायद ही कोई ब्राह्मण काले रग का हो। रगो का मिश्रण आगे चलकर हुआ। दूसरे, वर्ण अभिमान एव उच्चता का द्योतक था। इस वर्ण (रग) के आधार पर ही त्रिवर्ण की सृष्टि हुई थी। तीसरे, ब्राह्मण सामान्यतया तप-स्वाध्याय-रत समाज था। पण्य से शायद ही कोई ब्राह्मण जीवन-यापन करता हो। चौथे, जो ब्राह्मण अपनी मर्यादा का उल्लघन करते थे, वे हेय दृष्टि से देखे जाते थे, किन्तु ब्राह्मण माने जाते थे।

वर्ण और जाति दो पृथक् वस्तुएँ थी। जाति जन्म से प्राप्त हो जाती थी। उसमें घट-बढ को स्थान न था। जो जिस गोत्र मे उत्पन्न होता या जिस चरण में पुनर्जन्म पाता, उसी के नाम पर उसकी जाति पुकारी जाती थी। चरणो के आधार जाति केवल द्विजन्मा, विशेषत कुछ ब्राह्मणो की होती थी। व्यवसाय या शिल्प के आधार पर भी वर्ग थे। जो जिस व्यवसाय के

---

१. सर्व एते शब्दाः गुणसमुदायेषु वर्त्तन्ते, ब्राह्मण. क्षत्रियो, वैश्यः शूद्र इति। गौरः, शुच्याचारः, पिङ्गलः, कपिलकेश., इत्येतानप्यभ्यन्तरान् ब्राह्मण्ये गुणान् कुर्वन्ति। समुदाये ब्राह्मणशब्दः प्रवृत्तोऽवयवेष्वपि वर्त्तते जातिहीने गुणहीने च।—न ह्ययं काल माषराशिवर्णमापण आसीनं दृष्ट्वाध्यवस्यति ब्राह्मणोऽयमिति।—२-२-६, पृ० ३४०।

२. २-२-६, पृ० ३४०।

३. वही।

परिवार मे उत्पन्न होता, वही उसका व्यवसाय होता था, पर ऐसा कोई नियम न था। धीरे-धीरे कर्मार, कुम्भकार, मालाकार आदि परिवार मे उत्पन्न लोगो की जाति भी कर्मार आदि होने लगी। इस समय जाति केवल कुल या वश की परिचायिका थी। इससे अधिक उसका कोई महत्त्व न था। वर्ण का क्षेत्र इतना व्यापक न था, यद्यपि वह जाति से उच्च कोटि की वस्तु थी। वर्ण अनायास नही प्राप्त हो जाता था। उसके लिए तदुचित गुण-कर्म और स्वभाव का अर्जन आवश्यक था। उदाहरणार्थ, ब्राह्मणत्व के लिए तप और श्रुति ये अर्हताएँ निश्चित थी। इस प्रकार, पतजलि-काल मे वर्ण और जाति आज के समान परस्पर उलझे हुए न थे। वे पृथक्-पृथक् समझे और माने जाते थे। भाष्य के ब्राह्मणकारक और जाति-ब्राह्मण' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं। जाति-ब्राह्मण, ब्राह्मण से छोटा माना जाता था। आगे चलकर वर्णकारकत्व क्षीण होता गया और जाति प्रमुख बनती गई। यहाँतक कि वर्ण को अपने अस्तित्व के लिए जाति का आश्रय लेना पड गया।

शुच्याचार दैनन्दिन व्यवहार मे परिलक्षित था। ब्राह्मण नित्य दन्त-मार्जन, स्नान आदि करते थे। भाष्य का 'ब्राह्मण के दाँत शुक्ल है, वृषल के कृष्ण हैं', यह कथन इस ओर सकेत करता है।[२] शुचिता समाज मे ब्राह्मण को उच्च स्थान दिलाये थी।[३] शिष्ट ब्राह्मणो का पद सामान्य ब्राह्मण से ऊँचा था। आर्यावर्त्त के वे ब्राह्मण, जो केवल[४] दिन-दो दिन खाने भर से अधिक धान्य सचित नही करते थे, लोलुपता से अस्पृष्ट रहते थे, इन्द्रियो के वशीभूत नही होते थे और थोड़े बहुत अन्तर से किसी-न-किसी एक विद्या मे पारगत अवश्य होते थे, वे शिष्ट कहलाते थे। केवल शास्त्र-पारगत शिष्ट नही माने जाते थे। भाष्यकार ने कहा है कि केवल शास्त्र जाननेवाले को शिष्ट कहने मे अन्योन्याश्रय दोष है, क्योकि शास्त्र से शिष्टि प्राप्त होती है और शिष्टि से शास्त्र।[५] इसलिए, कुम्भीधान्य, अलोलुप, अगृह्यमानकारण, विद्या-विशेष-पारग-आर्यावर्त्तीय ब्राह्मण को शिष्ट कहना चाहिए। नियमित स्नानादि क्रियाएँ करनेवाले ब्राह्मण भोगवान् कहे जाते थे।[६] शिष्ट, भोगवान् आदि विशेषण ब्राह्मणो को तप, आचार, स्वाध्याय की प्रेरणा के लिए थे। कुछ बाते तो ब्राह्मण के लिए अनिवार्य थी। उसे शब्द-विद्या या व्याकरण का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक था।[७] भाष्यकार ने अष्टाध्यायी को 'शिष्टज्ञानार्था' कहा है। अष्टाध्यायी का अध्ययन करनेवाला

---

१. २-२-६, पृ० ३४०।

२. अब्राह्मणोऽयं यस्तिष्ठन् मूत्रयति। अब्राह्मणोऽयं यो गच्छन् भक्षयति।—२-२-६, पृ० ३४० तथा २-२-११, पृ० ३४५।

३. वही।

४. एतस्मिन्नार्यनिवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारगास्तत्रभवन्तः शिष्टाः।—६-३-१०९, पृ० ३५९।

५. वही।

६. ५-१-९, पृ० ३००।

७. आ० १, पृ० ३।

ही जान सकता है कि कौन शिष्ट है और कौन नही।[1] विना व्याकरण के अपशब्दो का सम्यक् ज्ञान नही होता। अपशब्द म्लेच्छ हैं। यदि ब्राह्मण व्याकरण का अध्ययन न करता, तो वह म्लेच्छ (अपशब्द) शब्दो का प्रयोग कर म्लेच्छन और अपभाषण के दोष का भागी माना जाता।[2] मनीषी ब्राह्मण नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात इन चारो मे सीमित पदो को जानते थे। वे जानते थे कि परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी मे किसका कौन-सा स्थान है और मनुष्य की कौन-सी वाणी व्यवहार मे दिखाई पडती है और कौन गुह्य रहती है।[3]

श्रुति का अध्ययन ब्राह्मण का धर्म था। इसी से उसे ब्रह्मण्य या ब्राह्मण्य प्राप्त होता था।[4] श्रुति का अधीती ब्राह्मण श्रोत्रिय कहलाता था। श्रोत्रिय का स्वभाव या अध्ययन-कर्म श्रौत कहा जाता था।[5] एतदर्थ जन्म से आठवे वर्ष उसका उपनयन कर दिया जाता था और उससे श्रुति का अध्ययन प्रारम्भ कराया जाता था। ब्राह्मण-बालक के माता पिता एतदर्थ बालक को बचपन से तैयार करते थे। उसके अनेक याज्ञिक कर्मो मे वासन्तिक याग भी था, जो ब्राह्मण का ही कर्त्तव्य था।[6] इस प्रकार, यह उसका कष्ट-साध्य, तप पूत, दायित्व-पूर्ण सात्त्विक जीवन था, जिसने समाज मे उसे अद्वितीय प्रतिष्ठा प्रदान की थी। उसकी यह प्रतिष्ठा शक्ति के नही, त्याग और नि.स्पृहता के कारण थी।

ब्राह्मण लोग मद्य नही पीते थे। अन्य वर्णो की स्त्रियाँ मद्य पी सकती थी, किन्तु ब्राह्मणी के लिए सुरा सर्वथा वर्जित थी। शास्त्रो की आज्ञा थी कि सुरापी ब्राह्मणी को परलोक मे पति का सयोग नही प्राप्त होता।[7]

कुछ ब्राह्मण आयुधजीवी भी होते थे। ब्राह्मण के समस्त गुणो के अर्जन के साथ वे शस्त्र-विद्या मे, जिसका महत्त्व अन्य विद्याओ से कम न था, पारग होते थे। ऐसे ब्राह्मण सगठित रूप से एक साथ रहते थे। भाष्य मे ब्राह्मणक जनपद का उल्लेख है।[8]

ब्राह्मणो की सख्या समाज मे अधिक थी। बहुत-से गाँवो मे तो पाँच कारुगृहो को छोडकर शेष घर ब्राह्मणो के ही थे।[9] जहाँ ऐसा नही था, वहाँ भी ब्राह्मणो के घर अनन्तर, अर्थात् पास-पास रहते थे, शायद ही कभी उनके बीच मे वृषल-कुल रहता था।[10]

भाष्यकार का युग विद्या की दृष्टि से ब्राह्मणो के चरम उत्कर्ष का युग नही था। अब

---

१. ६-३-१०९, पृ० ३५९।
२. आ० १, पृ० ४।
३. आ० १, पृ० ७।
४. ५-१-१२५।
५. ५-१-१३०, पृ० ३३६।
६. ६-१-८४, पृ० ११६।
७. या ब्राह्मणी सुरापी भवति नैनां देवाः पतिलोकं नयन्ति।—३-२-८, पृ० ३११।
८. ५-२-७१।
९. ब्राह्मणग्राम आनीयतामित्युच्यते तत्र चावरतः पञ्चकारुकीभवति।—१-१४८, पृ० २९।
१०. १-१-७, पृ० ११५।

जाति और ब्राह्मण भी पर्याप्त मिलने लगे थे। भाष्यकार से पूर्व जाति-ब्राह्मण और वर्ण-ब्राह्मण मे अन्तर नही था; क्योंकि सभी ब्राह्मण स्वाध्याय को जीवन का लक्ष्य मानते थे। पहले यह प्रथा थी कि उपनयन-संस्कार के बाद ब्राह्मण-बालक व्याकरण का अध्ययन करते थे। जब वे वर्णों का उच्चारण-स्थान, आभ्यन्तर प्रयत्न या करण और बाह्य प्रयत्न आदि का वैज्ञानिक स्वरूप समझ लेते थे, तब उन्हें वैदिक शब्दो का उपदेश किया जाता था। भाष्यकार के समय मे स्थिति बदल गई थी। विद्यार्थी उपनयन के बाद कुछ वेदांश कण्ठस्थ करके कहने लगते थे कि वैदिक शब्द हमे वेद से मालूम हैं और लौकिक शब्द लोक-व्यवहार से ज्ञात हैं। फिर, व्याकरण की क्या आवश्यकता।[1] ब्रह्म-बन्धु (कुत्सित ब्राह्मण) पुरुषो और स्त्रियो की संख्या बढ रही थी।[2] दान की अपेक्षा प्रतिग्रह की ओर ब्राह्मणो की दृष्टि अधिक थी। ब्राह्मणों को भोजन कराने की प्रथा अन्य वर्णों मे थी।[3] लोग ब्राह्मणो को भोजनार्थ घर पर निमन्त्रित करते थे। इधर ब्राह्मण लोग भी निमन्त्रण की प्रतीक्षा करते रहते थे। भोजन तैयार हुआ नही कि उपस्थित। सम्भवतः कुछ, ब्राह्मण याचक भी थे और भोजन तैयार होते ही यजमान के घर जा धमकते थे।[4] भोजन के विषय मे संयम की ओर ध्यान रखा जाता था। कुछ ब्राह्मण नमक नही खाते थे। कुछ श्राद्ध-भोजन नही करते थे।[5] कुछ लोग कभी-कभी केवल दूध पीकर रहते थे। ये पयोव्रत कहलाते थे।[6]

ब्राह्मणों का सम्मान सर्वाधिक था। लोग बालक-ब्राह्मण का भी उठकर अभिनन्दन[7] करते थे। वह अवध्य था।[8] धोखे से भी ब्राह्मण को मारनेवाला पतित माना जाता था।[9] ब्रह्महा और भ्रूणहा दो महापातकी माने जाते थे।[10] इसका कारण यह था कि वेद-रक्षा का दायित्व ब्राह्मणों को सौंप दिया गया था और वेद अपौरुषेय माने जाते थे। वे ब्रह्म के प्रतिरूप थे। इसीलिए, ब्रह्म और वेद पर्याय-रूप मे प्रचलित थे। वेदरक्षक के नाते ब्राह्मण ब्रह्म की सन्तान माने जाते थे। ब्रह्म से विभिन्न अर्थो मे निष्पन्न होनेवाले ब्राह्म और ब्राह्मण शब्द मे भेद किया गया था। ब्रह्म-सम्बन्धी ओषधि, हवि और जाति-भिन्न अपत्य ब्राह्मी और ब्राह्म कहे जाते थे।[11] जाति अर्थ मे ब्रह्म की सन्तान ब्राह्मण कहलाती थी। इस प्रकार, ब्राह्मण साक्षात् वेद-पुत्र या ब्रह्मपुत्र माने जाने लगे थे।

---

१. आ० १, पृ० १०।

२. १-२-४५, पृ० ५३८; १-१-४८, पृ० ३७४ आदि।

३. ६-१-४९, पृ० ७९।

४. २-३-६४, पृ० ४५१।

५. २-१-१, पृ० २३२।

६. आ० १, पृ० १९।

७. पूर्ववया ब्राह्मणः प्रत्युत्थेयः।—६-१-८४, पृ० ११७।

८. १-२-६४, पृ० ५८७।

९. यो ह्यजानन् ब्राह्मणम् हन्यात् सुरां वा पिवेत् मन्ये सोऽपि पतितः स्यात्।—आ० १, पृ० ५।

१०. ८-२-२, पृ० ३१५।

११. ५-१-७, पृ० २९८ तथा ६-४-१७१।

ब्राह्मण की रक्षा का अर्थ था वेद-रक्षा। इसीलिए, ब्रह्मन् और ब्राह्मण मे यहाँतक तादात्म्य हो गया था कि दोनो पर्याय बन गये। ब्रह्मन् या ब्राह्मण के लिए हितकर वस्तु या कार्य 'ब्रह्मण्य' कहा जाता था, जो लाक्षणिक रूप से शुभ का बोधक बन गया था।[१] अब्रह्मण्य शब्द अकल्याणकर का पर्याय था। भाष्य मे ब्रह्मन् और ब्राह्मण का यह सामीप्य ब्राह्मणो की अत्यधिक लोकप्रियता का प्रमाण है।

स्थान या जनपद-भेद से ब्राह्मणो के उल्लेख की प्रथा बहुत पुरानी है। गौड, सारस्वत, कान्यकुब्ज, सरयूपारीण, महाराष्ट्रीय, औदीच्य आदि भेदो का प्रारम्भ पाणिनि-काल मे हो चुका था। काशिकाकार ने सुराष्ट्रब्रह्म, अवन्तिब्रह्म का उल्लेख किया है।[२] महाब्राह्मण शब्द भी बहुत पुराना है। यह दूसरी बात है कि उसके अर्थ में समय-समय पर सकोच-विस्तार या पूर्ण विपर्यास होता रहा हो। कर्त्तव्यहीन ब्राह्मण कुब्राह्मण कहलाते थे।[३]

क्षत्रिय—आनुपूर्व्य क्रम से ब्राह्मण के बाद क्षत्रिय का स्थान था। ब्राह्मण से कुछ ही नीचे उतरकर क्षत्रिय आते थे।[४] क्षत्रिय या राजन्य शासक वर्ण था। अभिषिक्त क्षत्रिय राजन्य कहलाते थे। राजन्य क्षत्रियो की विशेष उपजाति भी थी।[५] राजन्यो के निवास का देश भी राजन्य या राजन्यक कहलाता था। राजन्यो के समूह का नाम राजन्यक था।[६] इसी प्रकार क्षेम-वृद्धि क्षत्रियो की एक उपजाति थी, जिनकी स्त्रियो की सज्ञा तनुकेशी थी। इन क्षत्रियों मे स्त्रियो और पुरुषो की उपजाति के पृथक् स्वतन्त्र नाम थे। स्त्रियो की गणना क्षेम-वृद्धि शब्द के भीतर नही होती थी।[७]

क्षत्रिय वर्ण मे भी ब्राह्मणो के समान वर्ण से भिन्न स्वतन्त्र गोत्र या जातियाँ थी। गोत्र पहले तो पौत्र-प्रभृति अपत्य से प्रारम्भ[८] होते थे। बाद मे ये पारिभाषिक गोत्र से भिन्न हो गये। इस प्रकार व्याकरण का गोत्र और लौकिक गोत्र दोनो दूर-दूर पड गये। द्रुह्यु, पुरु,[९] अन्धक, वृष्णि, कुरु,[१०] उपगु, कापटु ये क्षत्रियो के लौकिक गोत्रो के नाम थे। नकुल, सहदेव, साम्ब, अर्जुन, वासुदेव आदि क्षत्रिय नामो का उल्लेख पाणिनि ने किया है। इनके प्रति भक्ति रखनेवालो को क्रमश नाकुलक, साहदेवक, आर्जुनक,[११] साम्बक,[१२] वासुदेवक कहते थे। क्षत्रिय वर्ण और जाति के लोग

---

१. ५-१-७, पृ० २९८।

२. ५-१-१०४।

३. ५-१-१०५।

४. १-१-१४, पृ० १८३।

५. क्षेमवृद्धयः क्षत्रियास्तेषां तनुकेश्य. स्त्रियः।—६-३-३४, पृ० ३१७ तथा ४-२-५२, पृ० १८४।

६. ४-२-९ काशिका तथा वही, पृ० १७८।

७. ६-३-३४, पृ० ३१७।

८. वही; अपत्याधिकारादन्यत्र लौकिकं गोत्रं गृह्यतेऽपत्यमात्रं न तु पौत्रप्रभृत्येव।

९. ४-१-११४ काशिका।

१०. ४-१-१६८, पृ० १६३।

११. ४-३-९८।

१२. ४-३-९९।

देश-भर मे बिखरे थे। किसी-किसी जनपद मे इनकी विशिष्ट शाखा के लोगो की संख्या इतनी अधिक थी कि उस जनपद का नाम ही उस गोत्र या जाति के नाम पर पड़ गया था। ऐसे जनपदों की सख्या बहुत अधिक थी। पचाल, इक्ष्वाकु, विदेह,[1] क्षुद्रक, मालव, पुरु, पाण्डु, साल्व, गान्धार,[2] मगध, कलिंग, सूरमस, अग,[3] वग, पुण्ड्र, सुह्म, मगध, कलिंग, कोसल,[4] अम्बष्ठ, सौवीर, निषध, कुरु, कम्बोज,[5] चोल, केरल आदि क्षत्रिय जनपद थे। इनके राजा भी इन्ही क्षत्रिय वंशो के थे, इसलिए उनके नाम भी इन्ही के आधार पर आग, वाग पड़ गये थे।[6]

क्षत्रियो का आचार-व्यवहार प्राय ब्राह्मणो से मिलता-जुलता था। इसीलिए, उन्हे ब्राह्मण-सदृश कहा है। 'अब्राह्मण को बुलवाने पर ब्राह्मण से मिलता-जुलता क्षत्रिय बुलाया जाता है। नञ् से युक्त का अर्थ इव या समान होता है', यह भाष्य का कथन है।[7] अनेक बार ब्राह्मण के अभाव मे क्षत्रिय से काम चला लिया जाता था और जो काम ब्राह्मण के द्वारा या ब्राह्मण के प्रति किये जानेवाले होते थे, वे क्षत्रिय द्वारा या उसके प्रति करवा लिये जाते थे।[8] इस प्रकार विशेष परिस्थितियो मे क्षत्रिय ब्राह्मण का स्थानापन्न हो जाता था। भाष्य मे आर्य और क्षत्रिय का कई बार साथ-साथ उल्लेख मिलता है। क्षत्रिय युवा और आर्य 'युवा भी साथ परिगणित हैं।[9] क्षत्रिय-स्त्री क्षत्रिया या क्षत्रियाणी कही जाती थी।[10]

क्षत्रिय क्षत्र शब्द से अपत्य अर्थ मे बना है। क्षत्र भी क्षत्रिय का ही वाचक है। रक्षा उसका धर्म था। एतदर्थ, उसे विशेष विद्या का अभ्यास करना पड़ता था, जिसे क्षत्रविद्या कहते थे। क्षत्र-विद्या के अध्ययन करनेवाले क्षात्रविद्य कहलाते थे।[11] विद्या के समान प्रत्येक के आचार और नाम रखने के नियम निश्चित थे। 'यह नाम ब्राह्मणो जैसा है, यह नाम देवो जैसा है।[12] आप का व्यवहार ब्राह्मणो जैसा है, अर्थात् यह व्यवहार ब्राह्मणो को शोभा देता है'[13] आदि कथन इस बात के पोषक हैं। भाष्यकार ने क्षत्रिय नाम के अन्त मे वर्मन् शब्द का प्रयोग किया है और वैश्य के अन्त

---

१. ४-१-१६८, पृ० १६२।

२. ४-१-१९६।

३. ४-१-१७०।

४. ४-१-१७१।

५. ४-१-१६८ से १७२ तक भाष्य तथा काशिका।

६. २-४-६२।

७. अब्राह्मणमानयेत्युक्ते ब्राह्मणसदृशं क्षत्रियमानयति।—६-१-१३५, पृ० १८९।

८. ब्राह्मणवदस्मिन् क्षत्रिये वर्त्तितव्यमिति सामान्यं यद् ब्राह्मणकार्यं तत्क्षत्रियेऽतिदिश्यते।—६-३-६८, पृ० ३४५।

९. ८-४-११, पृ० ४८०।

१०. ४-१-४९, पृ० ६३।

११. ४-२-६०, पृ० १८७।

१२. ५-१-११६, पृ० ३५०।

१३. ५-१-११७, पृ० ३५०।

मे पालित का। उदाहरणार्थ, इन्द्रवर्मन् क्षत्रिय और इन्द्रपालित वैश्य का नाम होता था।[१] ब्राह्मण-नाम इन्द्रदत्त, देवदत्त, यज्ञदत्त आदि होते थे।

वैश्य—क्षत्रिय और वैश्य की स्थिति ब्राह्मण और शूद्र के मध्य थी। शूद्र के अभिवादन के उत्तर मे वाक्य की टि को प्लुत नही किया जाता था, किन्तु ब्राह्मण के अन्त मे अवश्य किया जाता था। क्षत्रिय और वैश्य के अन्त मे प्लुत विकल्प से होता था।[२] इससे स्पष्ट है कि वे व्याकरण मे न विशेष दक्ष होते थे और न उससे अनभिज्ञ ही।

वैश्य को विट्[३] भी कहते थे। वैश्य की स्थिति क्षत्रिय से कुछ ही नीचे थी। इनके नाम पालितान्त या गुप्तान्त होते थे, जिससे स्पष्ट है कि वे समाज द्वारा रक्षित रहते थे। वैश्य सम्पत्ति या रै के उत्पादक थे।[४] भाष्य मे माण्डजगिंघ और कार्णखरकि इन वैश्य-गोत्रो के नाम आये हैं।[५]

शूद्र—शूद्रो का स्थान अन्तिम था। शूद्र दो प्रकार के व्यक्ति कहलाते थे—(१) वे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, जो शास्त्र-विहित स्वकर्त्तव्यो का पालन न कर शूद्रवत् जीवन व्यतीत करते थे। अशिक्षित सन्ध्याग्निहोत्र-विरहित, असयमी ब्राह्मण भी शूद्र माने जाते थे और (२) शूद्र माता-पिता से उत्पन्न सन्तान। इस प्रकार, कर्म-शूद्र और जन्म-शूद्र दो प्रकार के शूद्र थे। कर्म-शूद्र तो हेय दृष्टि से देखे ही जाते थे, उन्हें कोई भी ब्राह्मणोचित अधिकार प्राप्त नहीं होता था। जिस वश मे कोई शूद्र होता था, उसे भी कुछ अधिकारो से वचित रहना पडता था। उदाहरणार्थ, यदि किसी ब्राह्मण-परिवार मे कोई शूद्र उत्पन्न हो जाता, तो उस परिवार का दस पीढी तक सोमपान का अधिकार छिन जाता था।[६] शूद्र जाति की स्त्री शूद्रा कहलाती थी। शूद्र की भार्या उसकी स्त्री होने के नाते, भले ही वह अशूद्रा हो, शूद्री कही जाती थी। शूद्र स्त्रियो मे अधिक सम्मानित स्त्री को महाशूद्रा कहते थे।[७]

शूद्रो की अनेको जातियाँ थी। जो लोग भृति लेकर काम करते थे, वे सब शूद्र माने जाते थे। कात्यायन ने महाशूद्र जाति भी मानी है।[८] काशिका के अनुसार आभीर को महाशूद्र[९] कहते थे। धीवर भी शूद्रो मे गिने जाते थे।[१०] भाष्यकार ने भी आभीर को शूद्र कहा है।[११] रथकारो का

---

१. भो राजन्य विशां वेति वाच्यम् राजन्य इन्द्रवर्माहं भोः। आयुष्मानेधीन्द्रवर्माहम्, विट् इन्द्रपालितोऽहं भोः। आयुष्मानेधीन्द्रपालिता ३ इन्द्रपालित।—८-२-८३, पृ० ३८८।

२. वही।

३. २-२-३४, पृ० ३९१।

४. आ रेवानेतु नो विशः।—८-२-१५, पृ० ३३९।

५. २-४-५८, पृ० ४९३।

६. एवं हि याज्ञिकाः पठन्ति दशपुरुषानूकं यस्य गृहे शूद्रा न विद्येरन् स सोमं पिबेदिति।—४-१-९३, पृ० १२०।

७. ४-१-४, पृ० २६।

८. वही।

९. महाशूद्रशब्दो ह्याभीरजातिवचनः।—४-१-४ काशिका।

१०. ४-१-१४, पृ० ३५।

११. १-२-७२, पृ० ६०७।

स्थान शूद्रों मे सबसे ऊँचा था। वे त्रिवर्ण से कुछ ही नीचे थे।[1] तन्तुवाय, कुम्भकार, नापित, त्वष्टा[2], कर्मार, अयस्कार, रजक, चर्मकार ये सब शूद्रो के अन्तर्गत थे। सारी 'कारि' जातियाँ शूद्र थी। कटकारो का स्थान शूद्रो मे भी नीचा था।

शूद्रो की सख्या बहुत अधिक थी। वास्तव मे आर्यावर्त्तीय त्रिवर्णो को छोड़कर शेष सब की गणना सामान्यतया शूद्रों मे की जाती थी। इनमे आर्यावर्त्त से बाहर के भी लोग थे और आर्यावर्त्तीय भी। बाहर के लोगो मे किष्किन्ध-गन्धिक, शक, यवन, शौर्य, क्रौंच आदि थे। आर्य बस्तियो—ग्राम, घोष, नगर, सवाह आदि—से बाहर रहनेवाले चण्डाल मृतप भी शूद्र थे। बस्ती के भीतर रहनेवाले, किन्तु यज्ञ-कर्म से बहिष्कृत तक्षा, अयस्कार, रजक, तन्तुवाय आदि भी शूद्र थे, यद्यपि इनका दर्जा विशेष नीचा न था। जिनके द्वारा स्पर्श किये गये पात्र अपवित्र माने जाते थे, वे जातियाँ भी शूद्र कहलाती थी।

शूद्र अशिक्षित थे। व्याकरणादि का ज्ञान इन्हे न था, अत अभिवादन के प्रत्युत्तर मे इनके लिए प्लुत नही किया जाता था। इस विषय मे इनकी स्थिति स्त्रियो जैसी थी। उदाहरणार्थ, यदि तुषजक ब्राह्मण को प्रणाम करता, तो वह उत्तर मे कहता था 'कुशली तो हो तुषजक ?'[3]

निरवसित—शूद्र दो श्रेणियो मे विभक्त थे—निरवसित और अनिरवसित। तक्षा, अयस्कार, रजक, तन्तुवाय आदि अनिरवसित थे और चण्डाल, मृतप आदि निरवसित। अनिरवसित लोग त्रिवर्णो के पात्र छू सकते थे, किन्तु निरवसित नही। निरवसित निम्नतम कोटि के शूद्र थे। ये यदि किसी त्रिवर्ण के पात्र मे खा-पी लेते थे, तो त्रिवर्ण इस पात्र को सस्कार द्वारा शुद्ध करके भी व्यवहार मे नही ला सकते थे, यद्यपि कुछ अन्य निम्न शूद्रों द्वारा व्यवहृत त्रिवर्णो के पात्र अन्यादि द्वारा शुद्ध करके काम मे ले लिये जाते थे। निरवसित शूद्र गाँवो के बाहर रहते थे। इनके और त्रिवर्णो के घरो के बीच दूरी रहती थी। इनके घर गाँव के छोर पर होते थे।[4] यद्यपि बड़े-बडे नगरो मे वे नगर के बीच भी रहते थे।[5]

वृषल—वृषल को शूद्र का पर्याय कहा गया है। ब्राह्मण से शूद्रा मे उत्पन्न सन्तान वृषल कही जाती थी। मनुस्मृति मे ओण्ड्र, दरद, खश, यवन, शक आदि क्षत्रिय-जातियो को वृषल-भाव को प्राप्त बतलाया गया है। इस दृष्टि से वृषल के प्रति समाज मे द्वेष-भाव नही होना चाहिए, उलटे उनका स्थान शूद्र से ऊपर माना जाना उचित था। किन्तु, भाष्य मे जिस प्रकार बार-बार वृषल का स्मरण किया है, उससे उसके प्रति अत्यन्त हेय दृष्टि तथा द्वेषबुद्धि का पता चलता है। वृषल , दस्यु, चोर और दास की स्थिति लगभग समान थी। दासी और वृषली के प्रति कामुकता

---

१. त्रैवर्णिकेभ्यः किञ्चिन्न्यूना रथकारजातिः।—४-१-१५१ काशिका।

२. ४-१-१५२ काशिका।

३. ८-२-८३, पृ० ३८७।

४. १-१-३६ काशिका।

५. एवमपि य एते महान्तः संस्त्याया स्तेष्वभ्यन्तराश्चण्डाला मृतपाश्च वसन्ति।—२-४-१०, पृ० ४६५।

का व्यवहार यद्यपि अशिष्ट माना जाता था, तथापि समाज मे प्रचलित था और दण्ड्य[1] नही था। दासी और वृषली का सादृश्य निन्दा का द्योतक था।[2] भाष्य मे कामुकता की पात्री के रूप मे अनेक बार दासी और वृषली का साथ-साथ उल्लेख है।[3] दस्यु, चोर और वृषल को नीच स्वभाववाला माना जाता था। वार्त्तिककार ने प्रशसा-अर्थ मे इन तीनो के आगे रूपम् प्रत्यय कर वृषलरूप, दस्युरूप, चोररूप इन शब्दो का प्रयोग सामान्य से अधिक वृषल, दस्यु या चोर बतलाया है। और फिर यह कहकर कि प्रशसार्थ मे प्रत्यय न करके प्रकृत्यर्थ-वैस्पष्ट्य मे प्रत्यय कर देना पर्याप्त बतलाया है और उदाहरण दिया है कि यह वृषलरूप, अर्थात् असली वृषल है। यह न केवल प्याज खा जा सकता, अपितु उसके साथ सुरा भी पी सकता है। यह चोररूप या पक्का चोर है। यह चाहे तो आँखो का काजल ले जाय। यह दस्युरूप या वास्तविक दस्यु है। यह भागते हुए का भी खून पी सकता है।[4] ये उदाहरण इन तीनो के स्वभाव पर अच्छा प्रकाश डालते है। वृषल अभक्ष्यभोजी और सुरापायी होते थे। समाज उनसे घृणा करता था, उनकी स्त्रियो को उपभोग्या बनाने मे ग्लानि या पाप का भय नही मानता था। वृषल का ताडन सामान्य बात थी। वे लातो से भी पीटे जाते थे।[5] एक स्थान पर उसे श्वाघात्य, अर्थात् कुत्तो द्वारा मरवा डालने योग्य अथवा कुत्तो की मौत मरने योग्य कहा है।[6] पाप क्षेय है और वृषल जेय है,[7] यह सामान्य कहावत थी। वृषल गन्दे भी रहते थे। उनके दाँत काले और मैले होते थे।[8] वृषल एक गाली थी।[9] असूयक यदि अभिवादन के साथ बड़े व्यक्ति का अपमान करता, तो वह आशीर्वाद न देकर कहता, 'नीच तू असूयक है। तू प्रत्यभिवाद का अधिकारी नही। अरे जा वृषल, तेरे टुकडे-टुकडे[10] हो।' जब वृषल की यह स्थिति थी, तब ब्राह्मण को ऊँचा और वृषल को नीचा स्थान मिलना स्वाभाविक था।[11] इसमे भी कोई आश्चर्य नही, यदि एक साथ नदी पार करने के लिए वृषल और ब्राह्मण पहुँचते, तो मल्लाह वृषल को तट पर छोडकर ब्राह्मण को पहले पार उतार देता था।[12] भाष्य में चोर और वृषल को

---

१. २-३-६९, पृ० ४५६।

२. ६-२-११, पृ० २५४।

३. २-३-६९, पृ० ४५६ तथा दास्या सम्प्रयच्छते, वृषल्या सम्प्रयच्छते। यो हि शिष्ट-व्यवहारे ब्राह्मणीभ्यः सम्प्रयच्छतीत्येव।—१-३-५५, पृ० ६९।

४. ५-३-६६, पृ० ४६०।

५. १-३-२८, पृ० ६५।

६. ३-१-१०७, पृ० १८४।

७. १-१-५०, पृ० ३०५।

८. २-२-८, पृ० ३४३।

९. ८-२-८३, पृ० ३८८।

१०. वही।

११. २-२-११, पृ० ३४५।

१२. २-३-३६, पृ० ४३१।

सतापित करने,[1] साथ-साथ धिक्कारने[2] का इस प्रकार उल्लेख मिलता है, जैसे चोर और दस्यु के समान वृषल होना ही अपराध या पाप की बात हो।

इस प्रकार, वृषलो की स्थिति शूद्रो से बहुत नीची थी। भाष्य मे एक बार भी शूद्र का उल्लेख निरादर के साथ नही हुआ है, यहाँतक कि निरवसित शूद्रो के प्रति भी कही दुर्भावना की गन्ध नही मिलती। वृषल की स्थिति भिन्न थी। वृषल पुरुष उच्च वर्णो की लात-गाली के अधिकारी थे और स्त्रियाँ उनकी काम-वृत्ति की तृप्ति का साधन।

आर्य और दास—आर्य और दास इन दोनो का उल्लेख भी भाष्य मे कई बार हुआ है। आर्ययुवन्[3], आर्यकृती[4], आर्या, आर्याणी[5], आर्यकुमार[6], आर्यनिवास[7] इन शब्दो का प्रयोग आर्यो के सम्बन्ध मे मिलता है। उदाहरणो मे आर्य और क्षत्रिय प्राय साथ-साथ ही[8] आये हैं। इससे अनुमान होता है कि आर्य और क्षत्रिय समीपी अवश्य थे। त्रिवर्ण आर्य कहलाते थे। दास आर्यो से बहिर्गत थे। सम्भवत , वे आर्यक्रीत होते थे और उनपर उनका पूरा अधिकार होता था। दासो का स्तर वृषलो के समकक्ष था। वे नीची नजर से देखे जाते थे, पर द्वेष्य दृष्टि से नही। क्रीत और परिक्रीत दासो मे अन्तर था। परिक्रीत निश्चित द्रव्य से विशिष्ट काल के लिए नियुक्त कर्मकर होते थे और क्रीत विशिष्ट द्रव्य द्वारा तवतक के लिए, जबतक वह राशि लौटा न दी जाय।[9] इस अवधि मे उनके भरण-पोषण का भार उनके आर्य या स्वामी पर रहता था। स्वामी या स्वतन्त्र जन का बोधक अर्थ शब्द आर्य से भिन्न था।[10] पाणिनि ने दासी-भार शब्द का उल्लेख किया है।[11] पतजलि ने इस सज्ञा शब्द को बहुवचन माना है।[12] डॉ० वा० श० अग्रवाल के मत से स्वामी द्वारा दासी की प्रसूतावस्था का दायित्व तथा व्यवस्था ही दासी-भार है।[13] अर्थशास्त्र के अनुसार गर्भवती दासी को विना प्रसव की समुचित व्यवस्था के वेच देना अपराध था।[14] किन्तु, दासी के प्रसव का भार दासी-भार क्यों था। उसे तो दास-भार मानना चाहिए यदि वह गर्भ उसके पति का हो। इस

---

१. २-३-५४, पृ० ४४७।
२. २-३-२, पृ० ४०५।
३. ८-४-११, पृ० ४८०।
४. ४-१-३०।
५. ४-१-४९, पृ० ६३।
६. ६-२-५८।
७. ६-३-१०९, पृ० ३५९।
८. ४-१-४९, पृ० ६३।
९. १-४-४४।
१०. ३-१-१०३ तथा आर्यस्वामी, वही, पृ० १८२।
११. ६-२-४८, पृ० २५९।
१२. वही।
१३. इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि, पृ० ७९।
१४. अर्थशास्त्र अनु०, पृ० २०७।

स्थिति में पति उसका भारवाह होता, स्वामी नहीं। यदि दोनों स्वामी की दासी से होते तो भी वह भार दास-भार कहलाता; क्योंकि एक तो स्वामी की अपेक्षा उसका दायित्व दास पर अधिक होता। दूसरे यदि वह भार दोनों के कारण स्वामी पर होता, तो भी पुंस्त्व की प्रधानता के कारण तत्पुरुष समास में दास-भार शब्द का ही प्रयोग होता। फिर, दास की बीमारी या मृत्यु के बाद का भार भी तो स्वामी पर ही रहता था। ऐसी स्थिति में दास-भार शब्द का व्यवहार भी मिलना चाहिए था। दासी-भार शब्द संज्ञा, अर्थात् किसी विशेष भार का बोधक है और वह भार ऐसा था, जो दासी का ही हो सकता था, दास का नहीं। यह भार निश्चय ही उसकी प्रसूति का था। दासी-प्रसूत सन्तान के पालन-व्यय का भार स्वामी को ही वहन करना पड़ता था; क्योंकि वह सन्तान स्वामी की होती थी। यदि स्वामी द्वारा दासी से सन्तान उत्पन्न हो तो उसका भार स्वामी को वहन करना चाहिए, यह राजकीय व्यवस्था थी और इस दायित्व से बचने के लिए वह दासी को बिना प्रसव और प्रसूति की समुचित व्यवस्था किये किसी अन्य के हाथ नहीं बेच सकता था। अर्थशास्त्र में वर्णित दण्ड इस नियम का उल्लंघन करनेवालों के लिए ही है। स्वामी द्वारा दासियों से सन्तान होना पतंजलि-काल में साधारण बात थी। भाष्यकार ने दासियों के प्रति स्वामियों की कामुक-वृत्ति का बार-बार जो उल्लेख[1] किया है, उसके प्रकाश में 'दासीभार' शब्द का अर्थ और स्पष्ट हो जाता है। स्वामियों से दासी में उत्पन्न सन्तानों को दासेर कहते थे और यही वह भार था, जिसका दायित्व स्वामी पर रहता था। यही कारण था कि 'दास्याः पुत्र' शब्द गाली माना जाता था। भाष्य में 'दासभार्या' का एकाधिक बार उल्लेख है।[3]

आदर्श पर्वत से पूर्व, कालक वन से पश्चिम, हिमालय से दक्षिण और पारियात्र के उत्तर का प्रदेश आर्यावर्त माना जाता था। इस प्रदेश के निवासी आर्य कहलाते थे। इस प्रदेश को भाष्यकार ने आर्य-निवास कहा है।[4] दास कर्मकर आर्यों के घरेलू नौकर होते थे, जिनकी स्थिति अन्य शिल्पी वैतनिकों से कहीं नीची थी। इन्हें स्वामी से भोजन वस्त्र और यथा-कथा परिभाषा (हैंड-डाउन) प्राप्त होती थी।[5] जनपद-निवासियों के जो नाम जनपद के आधार पर होते थे उनके भी दासों तथा अन्य जनों के बीच अन्तर किया जाता था।[6]

१. १-३-५५, पृ० ६९ तथा २-३-६९, पृ० ४५६।
२. ४-१-११४, पृ० १३८।
३. २-१-१, पृ० २३०।
४. ६-३-१०९, पृ० ३५९।
५. ३-१-२६, पृ० ७७।
६. ४-१-१६८, पृ० १६२।

अध्याय ३

संस्कार

भाष्य मे नामकरण, चूडाकर्म और उपनयन-संस्कारो का ही स्वतन्त्र रूप से उल्लेख मिलता है। गर्भ, प्रजनन, प्रसव, गर्भकालीन स्वास्थ्य, गर्भ को पिण्डीभूत रूप से 'इदमित्थम्' दिखा सकने की अक्षमता आदि की अनेकत्र चर्चा होने पर भी संस्कार के रूप मे गर्भाधान का वर्णन भाष्य मे उपलब्ध नही होता और न पुसवन, सीमन्तोन्नयन आदि की ही उसमे चर्चा है।

नामकरण—नाम जन्म से दस दिन बाद रखा जाता था। दस दिन तक अशौच मनाया जाता था। भाष्यकार का 'दशम्युत्तरकालं जातस्य पुत्रस्य नाम विदध्यात्' (आ० १, पृ० ९) कथन शतपथ-ब्राह्मण की प्रतिध्वनि-मात्र है।[1] नाम माता और पिता मिलाकर निश्चित करते थे।[2] एतदर्थ न कोई बड़ा उत्सव किया जाता था और न विशेष मण्डप बनाया जाता था। नामकरण माता और पिता मिलकर घर के भीतर ही 'संवृत अवकाश' मे कर लेते थे।[3]

नाम रखने के विशिष्ट नियम थे। नाम का प्रारम्भ घोषवत्[4] व्यंजन से होता था। मध्य मे अन्त.स्थ व्यंजन रहता था। वृद्ध अक्षर-रहित, तीन पीढियो के नाम के अनुसार, शत्रुवर्ग मे अप्रतिष्ठित, दो या चार अक्षरवाला कृदन्त नाम श्रेष्ठ माना जाता था। तद्धितान्त नाम नही रखा जाता था। पारस्कर गृह्यसूत्र (१-१७-१) तथा वासिष्ठ धर्मसूत्र (अध्याय ४) मे भी इस कथन का समर्थन मिलता है। आश्वलायन में द्व्यक्षर को प्रतिष्ठा तथा चतुरक्षर को ब्रह्मवर्चस् का दायक बतलाया है।[5] पारस्कर[6] और बैजवाप[7] ने कन्या के नाम के लिए पृथक् नियम दिये है, किन्तु भाष्यकार इस विषय मे मौन हैं।

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य नामों मे भी अन्तर रहता था। ब्राह्मण नामों के अन्त मे दत्तादि, क्षत्रिय नामो के अन्त मे 'वर्मन्' और वैश्य नामो के अन्त मे पालितादि वर्णबोधक शब्द रखे जाते थे। प्रत्यभिवादेऽशूद्रे (८-२-८३) सूत्र के वार्त्तिक 'भो' राजन्यविशां च' की व्याख्या में भाष्यकार

१. तस्मात् पुत्रस्य जातस्य नाम कुर्यात्।—शत० ब्रा० ६-१-३-९।

२. वीरमित्रोदयसंस्कार-प्रकाश, भाग १, पृ० २४१ में उद्धृत बैजवाप।

३. लोके तावन्मातापितरौ पुत्रस्य जातस्य संवृतेऽवकाशे नाम कुर्वीत देवदत्तो यज्ञदत्त इति।—१-१-१, पृ० ९५।

४. घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थं त्रिपुरुषानकमनतिप्रतिष्ठित तद्धि प्रतिष्ठिततमं भवति। द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा नामकृतं कुर्यान्न तद्धितम्।—आ० १, पृ० ०९।

५. आश्व० गृ० सू०, १-१५-५।

६. पार० गृ० सू०, १-१७-३।

७. त्र्यक्षरमीकारान्तं स्त्रियाः। —वैज० वीरमित्रो० भाग १, पृ० २४३।

द्वारा दिये गये उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होती है। शूद्रों के नाम तुपजक आदि क्षुद्रत्वबोधक होते थे। मनु के मत से ब्राह्मण का नाम मांगल्य, क्षत्रिय का बलान्वित, वैश्य का धन-संयुक्त और शूद्र का जुगुप्सित होना चाहिए।[1] व्यास के अनुसार ब्राह्मण का नाम शर्मान्त, क्षत्रिय का वर्मान्त, वैश्य को गुप्तान्त और शूद्र का दासान्त होना चाहिए।[2] भाष्य में शर्मान्त और दासान्त नामों का उल्लेख नहीं प्राप्त होता। मनुस्मृति-काल तक आते-आते वर्णों का पारस्परिक अन्तर बहुत बढ़ गया जान पड़ता है। भाष्यकाल में अन्तर की ओर इतना ध्यान नहीं दिया जाता था। भाष्य में उल्लिखित सैकड़ों नामों में इन नियमों का अनुसरण नहीं है। इसी प्रकार, परवर्ती काल में प्रचलित नक्षत्र, मासदेवता और कुलदेवता के नाम पर रखे गये, तथा लोक-विदित इन चौहरे नामों की भी भाष्य में चर्चा नहीं है। नक्षत्र नाम पर रखे गये नामों का उल्लेख भाष्य में अवश्य है, किन्तु उसके अतिरिक्त दूसरे लोक-विदित नाम का संकेत भाष्य में नहीं मिलता। गृह्यसूत्रों को भी नक्षत्र-नाम तथा लोक-नाम ये दो ही इष्ट थे। स्मृतियों तथा ज्योतिष-ग्रन्थों में अन्य दो नामों की भी चर्चा है। इस युग में प्रत्येक काल-विभाग का एक स्वतन्त्र देवता माना जाने लगा था। आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र (१-१५-४) में नक्षत्र और नक्षत्र-देवता के नाम पर नाम रखने का विधान है। शंख और लिखित ने पिता या अन्य कुल-वृद्ध को नक्षत्रों से सम्बद्ध नाम रखने का आदेश[3] दिया है। यह दूसरा नाम है। बौधायन गृह्यसूत्र में नक्षत्र-नाम को गुह्य[4] कहा है। इसे केवल माता-पिता या परिवार के लोग ही जानते थे। आश्वलायन के अनुसार इस नाम को उपनयन-काल तक अभिवादन के समय बोला[5] जाता था। पाणिनि ने नक्षत्र के आधार पर रखे जानेवाले नामों के सम्बन्ध में नियम[6] दिये हैं। कात्यायन और पतंजलि के समय तक आते-आते इस प्रकार के नामों में विविधता उत्पन्न हो गई थी। उदाहरणार्थ, श्रविष्ठा या आषाढा नक्षत्र में उत्पन्न होनेवाले के नाम श्रविष्ठ या श्राविष्ठीय और आषाढ या आषाढीय दोनों हो सकते थे। इसी प्रकार, पतंजलि के समय में लड़कियों के नाम भी नक्षत्रों पर रखे जाने लगे। महाभाष्य में चित्रा रेवती, रोहिणी, फाल्गुनी आदि कन्याओं के नाम मिलते हैं।[7]

गार्ग्य और शंख द्वारा प्रतिपादित मासदेवता और कुलदेवता से सम्बद्ध नामों का प्रचार पतंजलि-काल में नहीं था। नक्षत्र-देवताओं से सम्बद्ध नाम भाष्य में अवश्य आये हैं। नक्षत्र तथा उनसे सम्बद्ध देवता निम्नलिखित माने जाते थे—

---

१. मनु० २-३१।

२. व्यास : राजबली पाण्डेय—हिन्दू संस्कार, पृ० १३८ पर उद्धृत।

३. नक्षत्राणामसम्बद्धं पिता वा कुर्यादन्यः कुलवृद्ध इति—वीर० मि० संस्कार प्र०, भाग १, पृ० २३७ पर उद्धृत।

४. नक्षत्रनामधेयेन द्वितीयं नामधेयं गुह्यम्।—बौधा० गृ० सू०, वीरमित्रो०, भाग २, पृ० २३७ पर उद्धृत।

५. आश्व० गृ० सू० १-१५-९।

६. ४-३-३४ तथा ८-३-१००।

७. ४-३-३४, पृ० २३२।

नक्षत्र	देवता	नक्षत्र	देवता
अश्विनी	अश्वि	स्वाति	वायु
भरणी	यम	विशाखा	इन्द्राग्नि
कृत्तिका	अग्नि	अनुराधा	मित्र
रोहिणी	प्रजापति	ज्येष्ठा	इन्द्र
मृगशिरस्	सोम	मूल	निर्ऋति
आर्द्रा	रुद्र	पूर्वाषाढा	आप्
पुनर्वसु	अदिति	उत्तराषाढा	विश्वेदेवा.
पुष्य	बृहस्पति	श्रवण	विष्णु
आश्लेषा	सर्प	धनिष्ठा	वसु
मघा	पितृ	शतभिक्	वरुण
पूर्वाफाल्गुनी	भग	पूर्वभाद्रपद	अजैकपाद
उत्तराफाल्गुनी	अर्यमन्	उत्तरभाद्रपद	अहिर्बुघ्न्य
हस्त	सवितृ	रेवती	पूषन्
चित्रा	त्वष्टा		

चूडाकर्म—चूडाकर्म को भाष्यकार ने चौल (चौड) सस्कार कहा है।[१] यद्यपि इसके विषय मे विशेष विवरण भाष्य मे नही मिलता, फिर भी अन्यत्र उद्धरणो से इतना स्पष्ट है कि एक ही व्यक्ति कभी मुण्डी, कभी जटी और कभी शिखी हो सकता था।[२] मुण्डन प्राय. सम्पूर्ण सिर का करा दिया जाता था। कभी-कभी शिखा शेष रख दी जाती थी, किन्तु शिखा का होना अनिवार्य नही था। सम्पूर्ण मुण्डन के लिए ही 'मद्राकरोति' या 'भद्राकरोति' शब्द[३] भाष्य मे आये है। सम्भवत., मुण्डी और जटी के समान शिखी होना भी एक केश+भूषा-प्रकार था। शिखा एक से अधिक भी हो सकती थी। उनकी सख्या प्रवरो के अनुसार होती थी।[५] आश्वलायन (१-१७) के अनुसार कुलधर्म के अनुकूल केश बनवाने की प्रथा थी।[६] लौगाक्षी के अनुसार वसिष्ठगोत्रीय लोग शिरो-मध्य-भाग मे एक शिखा रखते थे। अत्रि और कश्यप वशो के लोग दोनो ओर दो शिखाएँ धारण करते थे। आगिरस् लोगो के पाँच शिखाएँ थी। भृगुवशीय बिना चोटी के, अर्थात् सर्वमुण्डित रहते थे।[७]

चूडाकर्म का बहुत महत्त्व था; क्योकि उसके बाद बालक को लिखना-पढ़ना प्रारम्भ

---

१. चूडा प्रयोजनमस्य चौडम्।—५-१-९७, पृ० ३४४।

२. देवदत्तो जट्यपि मुण्ड्यपि शिख्यपि स्वामाख्यां न जहाति।—१-१-१, पृ० १०५।

३. ४-१-५४, पृ० ६६।

४. ५-४-६७, पृ० ४९८।

५. यर्षि शिखां निदधाति।—आश्व० गृ० सू०, १६-६ तथा वराह गृ०सू०, अ० ४।

६. यथाकुलधर्मं केशवेशान् कारयेत्।—आ० गृ० सू०, १-१७।

७. वीरमित्रो०, भाग १, पृ० ३१५ पर उद्धृत।

अध्याय ४

आश्रम

चातुराश्रम्य—भाष्य मे जीवन को चार भागो मे विभक्त किया गया है। प्रत्येक भाग आश्रम कहलाता था। चारो आश्रमो को 'चातुराश्रम्य'[1] कहते थे। पतजलि मे इन चारों आश्रमो का पृथक्-पृथक् उल्लेख न करके उनके कर्त्तव्यो एव जीवन-चर्या पर ही यत्र-तत्र विचार व्यक्त किये हैं।

ब्रह्मचारी—प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य[2] था, जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। ब्रह्मचर्य मे दीक्षित बालक ब्रह्मचारी कहलाता था। ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते थे दण्डमाणव[3] और अन्तेवासी[4]। दण्डमाणव अल्पायु और निम्नकक्षा के तथा अन्तेवासी बडी आयु एव उच्च शिक्षा प्राप्त करनेवाले ब्रह्मचारी होते थे। त्रिवर्ण मे प्रत्येक बालक का उपनयन-सस्कार सोलह वर्ष की आयु के भीतर कर दिया जाता था। आयु की मर्यादा का यह अन्तिम छोर था। सामान्यतया उपनयन बारह वर्ष की आयु के भीतर हो जाता था। ब्राह्मण का उपनयन तो गर्भ के आठवें[5] वर्ष मे ही हो जाता था। उपनयन करनेवाले को आचार्य कहते थे। इसीलिए, उपनयन-कर्म का दूसरा नाम आचार्यकरण भी था।[6] उपनयन का अर्थ है, उपनेता माणवक को ऐसी विधि से पास लाता था, जिससे वह उसका आचार्य बन जाता था। इसीलिए, उपनयमान और आचार्य पर्याय थे।[7] उपनयन के बाद माणवक दण्डमाणव बन जाता था। उसकी यह संज्ञा पलाश-दण्ड या आषाढ[8] साथ मे रखने के कारण थी। दण्डमाणव और अन्तेवासी प्राय. कमण्डलु भी अपने साथ रखते थे।[9] हिन्दी मे 'दण्ड-कमण्डल उठाकर चल लेना' यह मुहावरा ब्रह्मचारी के इन दो उपलक्षणो के आधार पर ही बना है। माणव और ब्रह्मचारी मुण्डित होते थे। मुण्डित करने की क्रिया 'भद्राकरण'

---

१. ५-१-१२४, पृ० ३६४।

२. ५-१-९४।

३. ४-३-१३० काशिका।

४. वही।

५. गर्भाष्टमेऽब्दे ब्राह्मण उपनेयः इत सकृदुपनीय कृतः शास्त्रार्थ इत कृत्वा पुनः प्रवृत्तिर्न भवति।—६-१-८४, पृ० ११६।

६. १-३-३६ कशिका।

७. ३-१-१००, पृ० १८२।

८. ५-१-११०।

९. १-४-८२, पृ० २०१।

या 'परिवापण' कहलाती थी।[1] बौद्ध और जैन ब्रह्मचारी श्रमण कहलाते थे। भाष्यकार के समय मे श्रमणो के भी विहार या विद्या-प्रतिष्ठान विद्यमान थे, किन्तु उनमे और ब्राह्मणो मे शत्रुभाव चला करता था। यह शत्रुभाव इस चरम सीमा तक था कि भाष्य मे उसे काकोलूकीय विरोध के समान शाश्वतिक कहा है।[2]

ब्रह्मचारी को अन्तेवासी[3] कहते थे। वह 'चरण' या वैदिक शाखा के विद्यालय मे रहकर अध्ययन करता था। चरण वैदिक अध्ययन, अध्यापन और अनुसन्धान के केन्द्र थे। उच्च कक्षाओ के विद्यार्थी ही, जो व्याकरणादि का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त कर चुकते थे, चरणो मे प्रविष्ट होते थे। ब्रह्म वेद को कहते है। उसके लिए लिया जानेवाला व्रत ही ब्रह्म कहलाता था। इस ब्रह्म-व्रतवाले की सज्ञा ब्रह्मचारी[4] थी।

ब्रह्मचर्य की अवधि—व्रत की अवधि लक्ष्य के अनुसार भिन्न थी। कुछ लोग सारा जीवन ही निष्कारण, अर्थात् नि स्वार्थ वेदाध्ययन मे लगा देते थे। ये ब्रह्मचारी नैष्ठिक होते थे। नैष्ठिक ब्रह्मचारी अडतालीस वर्ष का ब्रह्मचर्य-व्रत लेते थे।[5] इस प्रकार, वे आठवें वर्ष मे उपनीत होकर छप्पन वर्ष की आयु तक अध्ययन करते थे। सामान्यतया एक वेद के अध्ययन मे बारह वर्ष लगते थे। ब्रह्मचारी द्वादशवार्षिक, वार्षिक, मासिक और अर्धमासिक भी होते थे। ये वे लोग होते थे, जो किसी विशेष विषय के अध्ययन के निमित्त दीक्षित होकर कुछ समय चरण मे रहते थे। चरणो मे इस प्रकार की व्यवस्था थी कि कोई थोडे समय के लिए भी दीक्षित होकर रह सके। उदाहरणार्थ, कोई 'विदामघवन्' (ऐत० आर० ४) इत्यादि तथा 'आपमापामय०' (तै० आ० १-१) इत्यादि मे पाँच महानाम्नी सज्ञक ऋचाओ के अध्ययन के लिए ही चरण मे प्रवेश ले लेता था और उनका अध्ययन समाप्त कर चला जाता था। महानाम्नी ऋचाओ के लिए लिया गया व्रत महानाम्नी कहा जाता था। ऋचाओ के साहचर्य के कारण व्रत को भी महानाम्नी कहते थे। इस व्रत मे दीक्षित ब्रह्मचारी माहानाम्निक[6] कहलाता था। इसी प्रकार आदित्य साम (जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण) का व्रत देनेवाले को आदित्यव्रतिक ब्रह्मचारी कहते थे। भाष्य मे अवान्तरदीक्षी और तिलव्रती ब्रह्मचारियो का भी उल्लेख है। अवान्तरदीक्षी एक वेद के हेतु निश्चित अवधि के अन्तर्गत मध्यवर्त्ती काल के लिए दीक्षित ब्रह्मचारी थे।

---

१. ५-४-६७, पृ० ४९८।

२. २-४-१२, पृ० ४६७।

३. ४-३-१३० काशिका।

४. ब्रह्म वेदस्तदध्ययनार्थं व्रतं तदपि ब्रह्म। तच्चरतीति ब्रह्मचारी।—८-३-८६ काशिका।

५. वही, वा० ४।

६. तदस्य ब्रह्मचर्यमिति महानाम्न्यादिभ्य उपसंख्यान कर्त्तव्यम्। महानाम्नीना ब्रह्मचर्यं माहानाम्निकम् आदित्यव्रतिकम्। महानाम्नीश्चरति माहानाम्निकः, आदित्यव्रतिकः। नैष युक्तो निर्देशस्तच्चरतीत। महानाम्न्यो नामतो नच ताश्चर्यन्ते व्रत तासां चर्यते। नैष दोषः साहचर्यात्ताच्छब्द्य भविष्यति। महानाम्नी सहचरित व्रत महानाम्न्यो व्रतम्।—५-१-९४, पृ० ३४१।

मासिक से अष्टचत्वारिंशक या अष्टचत्वारिंशी तक ब्रह्मचारी चरणो मे प्रविष्ट होते थे।[१] कालविषयक ये उदार नियम इस वात के परिचायक है कि चरणो के द्वार प्रत्येक सत्यान्वेषी के लिए सदा खुले रहते थे।

वर्णी—ब्रह्मचारी त्रैवर्णिक ही होते थे। इसीलिए उन्हे वर्णी कहते थे। 'वर्णाद् ब्रह्मचारिणि' (५-२-१३४) सूत्र की व्याख्या मे काशिकाकार ने कहा है कि ब्रह्मचारी त्रैवर्णिक ही समझना चाहिए। वही विद्याग्रहण के लिए उपनयन के वाद व्रतचर्या करता है। ब्राह्मणादिक तीन वर्णो को ही वर्णी कहते है।[२] वर्णी लोग किसी-न-किसी आम्नाय का अध्ययन करते थे। प्रत्येक आम्नाय का नाम उसके आचार्य के नाम पर प्रचलित था। जैसे, काठक (कठ), मौदक (मौद), कालापक (कलाप), पैप्पलादक (पिप्पलाद), छान्दोग्य (छन्दोग) आदि।[३] एक विषय या वेद का अध्ययन करनेवाले सभी वर्णी ब्रह्मचारी[४] कहलाते थे और एक ही चरण मे रहकर पढनेवाले[५] सतीर्थ्य।

मानव, माणव और माणवक—माणव कुत्सित (विहित कर्म न करनेवाले और निषिद्ध कर्मवाले) तथा मूढ (विद्याविहीन) मानव को कहते थे। मानव (मनु की सन्तान) और माणव मे इतना ही भेद था।[६]

भाष्यकार ने माणव और माणवक मे अन्तर किया है। छोटा माणव माणवक कहलाता था। आठ वर्ष से कम आयु के वालक को माणवक या माणविका (स्त्री) कहते थे। माणवक घर पर रहते और खेलते कूदते थे।[७] इनके नाम पिता के नाम पर पड जाते थे। जैसे, फाण्टाहृति का पुत्र माणवक फाण्टाहृत[८] या उपगु की पुत्री औपगवी माणविका।[९] खेलना-कूदना इनका मुख्य काम था।[१०] ये वडे चचल और अधीर होते है,[११] इसलिए इन्हे धैर्यशील वनाने का प्रयत्न किया जाता था। माणवक जव कुछ वड़े होते थे, तव उनका उपनयन कर उन्हे आचार्य के पास भेज दिया जाता था। ये लोग वेदाध्ययन की तैयारी करते थे। भिक्षा माँगने जाते थे। भाष्यकार ने

---

१. ५-१-९५, पृ० ३४१।
२. ५-२-१३४ काशिका।
३. ४-३-१२६ तथा ४-३-१२० पृ० २५२।
४. ८-३-८६, पृ० ३५४।
५. ६-३-८७।
६. अपत्ये कुत्सिते मूढे मनोरौत्सर्गिकः स्मृतः।
नकारस्य च मूर्धन्यस्तेन सिध्यति माणवः॥—४-१-१६१, पृ० १५३।
७. १-३-२१, पृ० ६२।
८. १-३-२९, पृ० ६२।
९. १-२-४१, पृ० ५१८।
१०. ५-४-१५४, पृ० ५१५।
११. आगमयस्व माणवकः॥—१-३-२१, पृ० ६२।

इन्हे 'अनूच'[1] कहा है। माणवक बाल रखते थे[2], किन्तु माणवो के बाल मुडा दिये जाते थे।

ब्रह्मचर्य का पतन—पतजलि के समय मे ब्रह्मचारियो मे चरित्रहीनता भी विद्यमान थी। पाणिनि ने स्वय गोत्रो, अन्तेवासियो, माणवको और ब्राह्मणो के निन्दनीय कृत्यो का उल्लेख किया है। पतजलि ने इस प्रसग मे उदाहरण नही दिये हैं, किन्तु काशिकाकार के उदाहरण पतजलि-काल से चले आनेवाले परम्परागत उदाहरण ही हैं, जिनसे स्पष्ट है कि कुछ ब्रह्मचारी कुमारी, घृत, ओदन आदि के लोभ से विशिष्ट चरणो मे प्रवेश कर लेते थे। कोई कुमारी-प्राप्ति के लोभ से दाक्ष आम्नाय पढता था, तो कोई घृत के लालच से रौढि का शिष्य बन जाता था। दाल-भात के लोभ से ही कुछ ब्रह्मचारी पाणिनीय व्याकरण पढने लगते थे। छोटे लडके भिक्षा के लोभ से माणव बन जाते थे।[3]

ब्रह्मचर्य की साधना योग[4] मानी जाती थी। एक गुरुकुल मे जाकर व्रत-समाप्ति तक अध्ययन करनेवाला या उच्च कक्षा का विद्यार्थी प्रान्तवासी कहलाता था। जो विद्यार्थी बार-बार गुरुकुल बदलते रहते थे, वे निन्दित माने जाते थे और उन्हे तीर्थकाक या तीर्थध्वस[5] कहते थे। कुछ-कुछ ब्रह्मचारी अध्ययन-समाप्ति के पूर्व ही बिना स्नातक बने और बिना गुरु की आज्ञा लिये अध्ययन छोडकर घर लौट जाते थे और गृहस्थ बन जाते थे। यह बात परम्परा के विरुद्ध थी। नियम यह था कि अध्ययन समाप्त कर समावर्त्तन-सस्कार के बाद (जो विशेष स्थान तथा स्रग्धारण के साथ मनाया जाता था और जिसके कारण ही अधीती ब्रह्मचारी स्नातक और स्रग्वी कहलाता था) ब्रह्मचारी गुरु से आज्ञा लेकर गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करे। जो ऐसा न कर व्रत को खण्डित कर डालता था, उसे खट्वारूढ[6] कहते थे। यह वचन निन्दा का वाचक था।

गृहस्थाश्रम—ब्रह्मचर्य के बाद दूसरा आश्रम गृहस्थ या गृहपति का था। गृह मे प्रवेश के अवसर पर यज्ञादि धार्मिक सस्कार किया जाता था। इस सस्कार के अवसर पर प्रयुक्त होनेवाले मन्त्र गेहानुप्रवेशनीय कहे जाते थे।[7] आश्रम मे प्रवेश करनेवाले को गृहपति कहते थे। प्रत्येक गृहपति के लिए प्रतिदिन पचमहायज्ञ करना आवश्यक था।[8] प्रत्येक घर

---

१. ५-४-१५४, पृ० ५१५।

२. १-२-३२, पृ० ५११।

३. ६-२-६९ काशिका।

४. ३-१-८७, पृ० १५५।

५. यथा तीर्थे काका न चिरं स्यातारो भवन्त्येवं यो गुरुकुलानि गत्वा न चिरस्तिष्ठति स उच्यते तीर्थकाक इति।—२-१-४२, पृ० २९५।

६. अधीत्य स्नात्वा गुरुभिरनुज्ञातेन खट्वा रोढव्या। य इदानीमतोऽन्यथा करोति स उच्यते खट्वारूढोऽयं जाल्मः।—२-१-२६, पृ० २८१।

७. ५-१-१११, पृ० ३४५।

८. ४-१-३३, पृ० ५१।

मे आठो पहर यज्ञाग्नि जाग्रत् रहती थी। यह अग्नि गार्हपत्य कहलाती थी।[1] गृह का एक भाग इसके लिए नियत रहता था, जिसे आवसथ कहते थे। आवसथ[2] की शुद्धता, पवित्रता का ध्यान रखा जाता था। मूत्रादि क्रियाएँ उससे दूर की जाती थी। आवसथ मे रहने के कारण ही गृहस्थ का नाम आवसथिक[3] भी था। आवसथ की यज्ञाग्नि का नाम आवसथ्य था। गृहस्थ का प्रमुख यज्ञ पत्नी-संयाज था, जिसका सम्पादन वह पत्नी के साथ करता था और इस यज्ञ मे भाग लेने के कारण ही भार्या का नाम पत्नी भी था। पत्नी-सयाज मे बोले जानेवाले मत्रो का नाम भी गृह-पति ही था। यो गृहस्थ का सम्बन्ध दक्षिणाग्नि से भी था; क्योकि वह पत्नी-सयाज के अतिरिक्त अन्य भी बहुत-से यज्ञ करता था, किन्तु उसका मुख्य यज्ञ पत्नी-सयाज ही था।[4]

पतजलि-काल मे परिवार सामान्यतया सयुक्त था। परिवार के वृद्ध पुरुष या पिता के जीवन-काल मे पुत्र-पौत्र उनके अधीन या अस्वतन्त्र रहते थे। यदि कोई पिता के जीवन-काल मे स्वतन्त्र आचरण करता, तो उसे निन्दित या कुत्सित माना जाता था। यदि वह पुरुष वत्स या गर्ग गोत्र का हुआ, तो लोग कहते थे, 'जाल्म तुम वात्स्य हो, जाल्म तुम गार्ग्य हो।' अर्थात्, तुम्हे गर्ग या वत्स की सन्तान होना शोभा नही देता,[5] ऐसे अपवाद बहुत कम थे। परिवार भरे-पूरे और पुत्र-पौत्र-सम्पन्न थे। सप्रजस् और बहुप्रजस् परिवारो का बाहुल्य था, यद्यपि अप्रजस् (सन्तान हीन) एव कुप्रजस् परिवार भी थे।[6] जिस व्यक्ति के पुत्र-पौत्र जीवित होते थे, वह पुत्रपौत्रीण कहा जाता था।[7] पुत्र माता के नाम पर भी पुकारे जाते थे—यथा गार्गीपुत्र।[8] गार्गीपुत्र की सन्तान गार्गीपुत्रकायणि, गार्गीपुत्रायणि या गार्गीपुत्रि कही जाती है। परिवार का वयोवृद्ध व्यक्ति वृद्ध या वश्य कहा जाता[9] था। पुत्र और पौत्र के आगे की सन्तान गोत्र[10] कही जाती थी, किन्तु यदि घर मे प्रपितामह, पितामह, पिता, ज्येष्ठ भ्राता या अन्य ज्येष्ठ पुरुष जीवित रहता, तो पौत्रादि की सन्तान युवा कहलाती थी।[11] एक गोत्र के लोगों मे सपरिवारता का भाव था। इसीलिए, यदि स्थविरतर सपिण्ड भी जीवित होता, तो भी सन्तान युवा कहलाती थी। घर मे बडा व्यक्ति स्थविर कहलाता था। युवा कहलाना गौरव की बात मानी जाती थी। इसीलिए,

---

१. ४-४-९०, पृ० २८६।

२. ४-४-७४।

३. दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम्।—२-३-३५, पृ० ४३०।

४. ४-४-९०, पृ० २८६।

५. पितृतो लोके व्यपदेशवताऽस्वतन्त्रेण भवितव्यम्। य इदानीं पितृमान् स्वतन्त्रो भवति स उच्यते गार्ग्य त्वमसि जाल्म। न त्वं पितृतो व्यपदेशमर्हसि।—४-१-१६२, पृ० १५५।

६. ५-४-१२२, २३।

७. ५-२-१०।

८. ४-२-१५९।

९. ४-१-१६३, पृ० १५५।

१०. वही, ४-१-१६२, पृ० १५४।

११. ४-१-१६३, ६४, ६५, पृ० १५५ से १५७।

वृद्ध को भी सम्मान प्रदर्शित करने के लिए युवा कह देते थे। जैसे, श्रीमान् वात्स्यायन या श्रीमान् गार्ग्यायिण। सामान्यतया वृद्ध गार्ग्य और युवा गार्ग्यायिण पुकारे जाते थे।[१] ये सब बातें संयुक्त परिवार-प्रथा तथा रक्त-सम्बन्ध के महत्त्व को प्रतिपादित करती हैं।

परिव्राजक—सर्वस्व को छोडकर चले जानेवाले प्रव्रजित या परिव्राजक कहलाते थे। ये अपने साथ त्रिविष्टब्धक रखते थे। त्रिविष्टब्धक परिव्राजक का परिचायक था। जिस प्रकार धूम को देखकर अग्नि का अनुमान होता है, उसी प्रकार त्रिविष्टब्धक से परिव्राजक की उपस्थिति का अनुमान किया जा सकता था।[२] त्रिविष्टब्धक तीन काष्ठ-खण्डो को एक साथ रस्सी से बाँधकर त्रिदण्ड के समान बनाया जाता था।[३] भाष्यकार ने शकरा नामक परिव्राजिका[४] तथा मस्करी परिव्राजको की चर्चा की है।[५]

भिक्षु—भिक्षुओ का उल्लेख भाष्य मे परिव्राजक की अपेक्षा अधिक हुआ है। भिक्षु सर्वस्व का परित्याग कर भिक्षा के सहारे जीवन विताते थे। इन लोगो के आश्रम का नियामक एक सूत्रग्रन्थ था, जिसके प्रणेता पाराशर्य थे।[६] एक भिक्षुसूत्र कर्मन्दक का भी था।[७] इन दोनो के अनुयायी क्रमश पाराशरी[८] और कर्मन्दी कहलाते थे। सम्प्रदाय-परम्परा के अनुसार ये स्थण्डिलशायी होते थे। यह भिक्षुव्रत था। इसलिए, भिक्षु स्थण्डिल्य कहलाते थे।[९] वे चलते समय इधर-उधर न देखकर पैरो पर दृष्टि गडाये केवल कुक्कुटी-पाद भर भूमि को देखते चलते थे। दृष्टि-सयम भी उनकी साधना का एक अग था। इन अविक्षिप्तदृष्टि भिक्षुओ को इसी कारण कौक्कुटिक[१०] कहते थे। भिक्षु के लिए वस्ती से दूर अरण्य मे रहने का विधान था। कुछ भिक्षु वस्ती से अलग, किन्तु वस्ती के पास रहते थे। ये नैकटिक कहे जाते थे।[११] भिक्षु की जीविका का आधार भिक्षा थी। भिक्षा मे उन्हे सभी प्रकार के अन्न प्राप्त होते थे। सर्वान्न भक्षण करने के कारण भिक्षु सर्वान्नीन[१२] कहलाते थे।[१३] इस साधन-चर्या ने उसे समाज-प्रतिष्ठा का पात्र बना दिया

---

१. ४-१-१६३, पृ० १५५, १५३।
२. २-१-१, पृ० २४३।
३. यथा तर्हि त्रिविष्टब्धकं। तत्राप्यन्ततः सूत्र भवति।—१-१-१, पृ० १०२।
४. ३-२-१४, पृ० ३१२।
५. ६-१-१५४, पृ० १९३।
६. ४-३-११०।
७. ४-३-१११।
८. ४-२-६६, पृ० १९३।
९. ४-२-६६, पृ० १९३ तथा ४-२-१५ काशिका।
१०. देशस्याल्पतया हि भिक्षुरविक्षिप्तदृष्टिः पादविक्षेपदेशे चक्षुः सयम्य गच्छति स उच्यते कौक्कुटिक इति।—४-४-४६ काशिका।
११. ४-४-७३ काशिका।
१२. ५-२-९, पृ० ३६९।
१३. ५-१-११३, पृ० ३४६।

था। भाष्य मे उसे क्रौशशतिक कहा है, अर्थात् भिक्षु का अभिनन्दन सौ कोस पहले से करना चाहिए, यह सामाजिक मर्यादा थी।[1]

महाभाष्य मे परिव्राजक और भिक्षु शब्द अवश्य आये है, किन्तु वानप्रस्थ और सन्यास, आश्रमो का पृथक् स्पष्ट उल्लेख नही है। इसका कारण यह है कि आरम्भ से वैदिक आर्यो मे तीन ही आश्रमो की प्रथा थी—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वैखानस। वेदो मे अथर्व और वर्णो मे शूद्र के समान आश्रमो मे भिक्षु या सन्यास-आश्रम वाद मे सम्मिलित किया गया। बौद्धो मे सन्यास का महत्त्व था और वैदिको मे वैखानस का। धीरे-धीरे जव वैदिको और बौद्धो मे जव वहुत-सा सास्कृतिक आदान-प्रदान हुआ, तव वैदिको ने बौद्धो के अन्तिम आश्रम को भी आत्मसात् कर लिया। तो भी, दोनो आश्रमो का अन्तर वहुत काल तक स्पष्ट नही हो पाया। महाभाष्य मे जिस प्रकार वेदो को 'त्रैविद्य' भी कहा है और 'चातुर्वैद्य' भी, उसी प्रकार चातुराश्रम्य का उल्लेख करते हुए भी विवरण तीन का ही दिया गया है। कालिदास के समय तक यही स्थिति वनी रही। रघुवश के प्रारम्भ मे उन्होने तीन आश्रमो का ही उल्लेख किया है और तृतीय आश्रम को 'मुनिवृत्ति' का आश्रम कहा है।[2] अभिज्ञानशाकुन्तल मे भी उन्होने गृहस्थ के वाद वैखानस आश्रम का ही उल्लेख किया है। दुष्यन्त शकुन्तला के विषय मे जिज्ञासु भाव से पूछता है—'वैखानस किमनया व्रतमाददानाद् व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्'। कट्टर वैदिक लोग चतुर्थ आश्रम के वरावर विरोधी ही वने रहे। बौधायन धर्मसूत्र मे संन्यास को असुर-प्रवर्त्तित कहकर उसकी निन्दा की है।[3] इससे भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। इस पर 'साधु-संन्यासी' प्रकरण मे विशेष विचार किया जायगा।

---

१. क्रोशशतादभिगमनमर्हति इति क्रौशशतिको भिक्षुः। यौजनशतिको गुरुः।— ५-१-७४, पृ० ३३७।

२. शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥— रघुवंश।

३. बौधा० धर्म० सू०, प्रश्न २, खं० ११।

अध्याय ५

नारी

भाष्यकार ने अनेक रूपो मे नारी का उल्लेख किया है। आयु की दृष्टि से शिशु, कुमारीतरा,[1] कुमारी, किशोरी, युवती, वधूटी, जरती आदि शब्द भाष्य मे मिलते हैं और सम्बन्ध की दृष्टि से कन्या, वर्या, पत्नी, माता, भगिनी, मातामही, पितामही आदि। कुमारीतरा पांच-छह वर्ष की लडकी को कहते थे, कुमारी आठ-दस वर्ष की और किशोरी बारह-चौदह वर्ष की लडकी कहलाती थी।

प्रथमवयस्का—'वयसि प्रथमे' (४-१-२०) का भाष्य करते हुए पतजलि ने उत्तानशया, लोहितपादिका, द्विवर्षा, त्रिवर्षा, कन्या, वधूटी और चिरण्टी का उल्लेख किया है। इनमे वधूटी और चिरण्टी द्वितीय वय के बोधक हैं। उत्तानशया तीन-चार महीने की लडकी को कहते है जो बैठ नही पाती और ऊपर, मुँह किये सोती है। लोहितपादिका सात आठ महीने की लड़की को कहते हैं, जो अपने पाँवो नही चल पाती थी। इसके बाद द्विवर्षा, त्रिवर्षा आदि आती हैं। कुमारीतरा इसके बाद की अवस्था और कुमारी उससे अधिक अवस्था की लडकी होती है। प्रथम और द्वितीय वयस् का भेद पतजलि के मत से पुरुष के साथ सम्बन्ध न होने और होने पर आश्रित था। पुरुष के साथ असप्रयोग कन्या को वधूटी से पृथक् करता था।[2] कुमारी के साथ राजकुमारी का पृथक् उल्लेख भी भाष्य मे मिलता है।[3]

कुमारी और किशोरी तक की आयु की लडकियाँ कन्या कहलाती थी। वयस्क कन्याओ को वर्या कहते थे। वर्या के विवाह की प्रार्थना कोई भी कर सकता था।[4] इसके लिए कोई निरोध न था। पति के चयन मे कन्या की भी सम्मति ली जाती[5] थी। इसीलिए, उसे पतिवरा कहते थे। माता-पिता अभिरूप वर की खोज करते थे और यथाशक्ति अभिरूपतम वर को कन्या देते थे।[6] बड़ी आयु मे विवाह की प्रथा वैदिक काल से ही चली आ रही थी। ऋग्वेद मे

---

१. ४-१-२०, पृ० ४४, ४५।

२. ५-३-५५, पृ० ४४९।

३. १-१-६३, पृ० ४०९।

४. ३-१-१०१।

५. ३-२-४६।

६. अभिरूपाय कन्या देयेति न चानभिरूपे प्रवृत्तिरस्ति तत्राभिरूपतमायेति गम्यते।—१-४-४२, पृ० १७०।

कन्या के पितृगृह मे प्रौढ हो जाने का उल्लेख मिलता है।[1] तैत्तिरीय आरण्यक में भी बड़ी आयु तक कन्याओ के अविवाहित रहने का उल्लेख है[2], यद्यपि छान्दोग्य उपनिषद् मे बाल-विवाह का सकेत मिलता है और वहाँ ऐसी कन्या को आतिकी कहा[3] है। फिर भी सामान्यतया कन्या द्वारा स्वय पति के वरण के प्रसग ही ऋग्वेद से उत्तरकालीन वैदिक साहित्य तक प्राप्त होते है।[4]

वर द्वारा कन्या का पत्नी-रूप मे अगीकरण 'स्वकरण' कहलाता था। जो अपनी नही, थी उसे अपनी बनाने का नाम स्वकरण था। भाष्यकार ने कहा है कि यद्यपि 'स्वीकरण' शब्द इस अर्थ मे अधिक उपयुक्त है, तथापि तद्धित का स्वभाव विचित्र है और यहाँ स्वकरण शब्द ही प्रयुक्त[5] होता है। यह स्वकरण अन्य करणों से भिन्न था। यह कोरा स्वकरण नही था, अपितु पाणि-ग्रहणयुक्त स्वकरण था।[6] पाणि-ग्रहण या विवाह को उपनयन भी कहते थे। इस अर्थ मे 'भार्यामुपयच्छते', भार्यामुपायत' या 'उपायस्त' प्रयोग होता था अन्यथा 'उपयच्छति' बोला जाता था। विवाह के लिए दारकर्म शब्द का भी प्रयोग प्रचलित[7] था। पाणिग्रहण शब्द का विशेष अर्थ था। प्रत्येक दार-कर्म या विवाह वर-वधू के पारस्परिक पाणिग्रहणपूर्वक स्वकरण द्वारा सम्पन्न होता था। पाणिग्रहण द्वारा स्वीकृत भार्या पाणिगृहीती होती थी, यह पाणिगृहीती का विशेष अर्थ था। बिना विवाह के यो ही यदि किसी कार्यवश स्त्री का हाथ पकड लिया जाता, तो वह पाणिगृहीता कही जाती[8] थी। पाणिग्रहण की यह क्रिया 'हस्तेकरण' या 'पाणौकरण' कहलाती थी। विवाह करके जाने को 'हस्तेकृत्य गत' या 'पाणौकृत्य गत' कहते थे।

भार्या—विवाह कुमारी का भी होता था और त्यक्तभर्तृका, त्यक्ता और विधवा का भी। जिसने प्रथम बार पति का वरण किया हो, ऐसी भार्या कौमारी कहलाती थी। ऐसी अपूर्वपति कुमारी का पति कौमार कहा जाता था। कौमारी भार्या और कौमार पति दोनो मे कुमारत्व भार्या का ही देखा जाता था। पति का कुमार होना आवश्यक नही था। अन्यथा कौमारी भार्या का प्रस्तुत अर्थ न होकर कुमार पति की कुमारी पत्नी यह होता। सम्भवत, पाणिनि-काल मे ऐसी बात नही थी। उस समय पति का कुमार होना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण माना जाता था। इसीलिए, कात्यायन को पाणिनि के 'कौमारापूर्ववचने' (४-२-१३) सूत्र मे वर तथा कन्या दोनो पक्षो मे कौमारत्व-ग्रहण के लिए वार्त्तिक जोडना पड़ा, जिसे पतजलि ने ज्यो-का-त्यो स्वीकार कर लिया। पत्नी के कुमारीत्व का विशेष रूप से उल्लेख इस बात की ओर सकेत करता है कि इस समय ऐसे विवाह भी पाये जाते थे, जिनमे स्त्री-विवाह के समय कुमारी नही

---

१. आमाजूरिव पित्रोः स चासती समानाद्य सदसस्त्वामिये भगम्।—ऋग्०, २-१७-७।
२. कुमारीषु कानीनीषु जारिणीषु च ये हिताः।—तैत्ति० आर०, १-२७।
३. छान्दो० उप०, १-१०-१।
४. भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशा स्वयं सा मित्रं वनुते जनेचित्।—ऋग्०, १०-२७-१२।
५. १-३-५६, पृ० ७०।
६. वही, काशिका।
७. १-२-१६ काशिका।
८. ४-१-५२, पृ० ६४।

रहती थी। उसका कुमारीत्व पहले ही नष्ट हो चुकता है, ऐसी स्त्री त्यक्ता, त्यक्तभर्त्तृका या विघवा हो सकती थी। पुरुषो के लिए विवाह-काल मे कुमार होना अनिवार्य न था। पतजलि ने उक्त सूत्र को अनावश्यक मानकर उसका खण्डन कर दिया है। तो भी दोनो रूपो मे स्त्री के कुमारी होने की बात पर उन्होने किसी प्रकार का आक्षेप नही किया है। स्पष्ट है कि पतजलि-काल मे स्त्रियो की सामाजिक समानता पर उतना ध्यान नही दिया जाता था।[1]

जनी और जन्या—नवविवाहिता कन्या वधू या जनी कही जाती थी। जनी को उसके पति के पास ले जानेवाली या विवाह-वेला मे उन दोनो की गाँठ बाँधनेवाली उसकी सहेलियो को जन्या कहते थे। जन्या शब्द सज्ञावाचक था और परिवार मे यह कार्य कौन लडकियाँ करेगी, यह निश्चित रहता था। लडकी छोटी हो या वृद्ध हो जाय, परिवार मे जन्या ही कहलाती थी। यह सम्बन्ध उसी प्रकार का था, जैसा आजकल 'सहवाल' (वर का छोटा भाई) का होता है। जन्या वधू की वहनें या वयस्याएँ होती[2] थी।

जाया और पत्नी—जनी शब्द जननी का सक्षिप्त रूप था। 'सज्ञाया जन्या' (४-४-८२) जननी को ही जनीभाव निपातन करता है। जनी शब्द मे सन्तानोत्पादन का भाव निहित था। इसीलिए, पत्नी को जाया (जिसमे सन्तान उत्पन्न की जाय) कहते थे। जिसकी जाया युवती होती थी, उसे युवजानि कहते थे और वृद्ध पत्नीवाले को वृद्धजानि।[3] पत्नी को दार भी कहते थे। यह शब्द 'दृ' (विदारणार्थक) धातु से प्रेरणार्थ मे बना है, जिसका अर्थ है विदारण करानेवाली।[4] अथवा जिनके द्वारा विदारण किया जाय। पत्नी शब्द का व्यवहार सामान्य नही था। पति के साथ यज्ञ मे भाग लेनेवाली उसकी सहधर्मिणी को पत्नी कहते थे। जिन जातियो को यज्ञ का अधिकार नही था, उनमे भार्याओ के लिए यदि पत्नी शब्द का व्यवहार होता था, तो साम्य के कारण ही। वृपल और तुषजक की जाया को 'पत्नी के समान' मानकर ही पत्नी कहा जाता था।[5] वास्तव मे पाणिनि और उनके पूर्वकाल मे, जब कि यज्ञ का प्राधान्य था, द्विजातिमात्र को भार्या के लिए पत्नी शब्द प्रयुक्त होता था और अरुन्धती के पति वसिष्ठ 'या' वसिष्ठ की पत्नी अरुन्धती इस कथन का अर्थ होता था, 'जिस यज्ञ का अधिकार अरुन्धती को प्राप्त है, उसका फल भोगनेवाले वसिष्ठ' अथवा 'जिस यज्ञ का अधिकार वसिष्ठ को है,

---

१. कौमारापूर्ववचने कौमारापूर्ववचन इत्युभयतः स्त्रिया. अपूर्वत्वे। अपूर्वपति कुमारीमुपपन्न· कौमारो भर्त्ता। कुमार्यपूर्वपतिः पतिमुपपन्ना कौमारीभार्या।—४-२-१३, पृ० १७१, ७२।

२. जनी वहन्ति जन्याः। जनीं वोढारो जन्याः, जनीमवाक्षु जन्या इति।—४-४-८२, पृ० २८५।

३. ५-४१३४।

४. दारयन्ति इति दाराः, दीर्यंते तैर्दाराः—३-३-२०, पृ० ३०१।

५. पत्युर्नोयज्ञसयोगे यज्ञसयोग इत्युच्यते तत्रेदं न सिध्यति इयमस्मपत्नी। अथ तर्हि स्यात्? पत्नीसंयाज इति यत्र यज्ञसंयोगः।—एवमपि तुषजकस्य पत्नीति न सिद्ध्यति उपमानात्सिद्धम्। पत्नीव पत्नी।— ४-१-३३, पृ० ५०, ५१।

उसका फल भोगनेवाली अरुन्धती'। इस 'पत्नी-सयाज' (यज्ञ-विशेष) के सम्बन्ध मे ही पत्नी शब्द का प्रयोग होता था। पतजलि-काल तक आते-आते पत्नी-सयाज की प्रथा सामान्य घरो मे नष्ट हो गई, किन्तु पत्नी शब्द जो एक बार चल चुका था, चलता गया। वह द्विजातियो तक सीमित न रहकर भार्या का सामान्यबोधक बन गया। पतजलि के सामने पाणिनि के समर्थन का प्रश्न था और श्रोत्रिय होने के कारण वे सूत्र से 'यज्ञसयोगे' शब्द को निकालना भी सहन नही कर सकते थे। इसलिए, उन्होने दूसरी युक्ति का सहारा लिया। पचमहायज्ञ उनके समय मे भी प्रचलित थे। इसलिए, उन्होने कहा कि पत्नी शब्द जिस पति शब्द से बना है, उसका अर्थ भर्त्ता नही है। यह ऐश्वर्यवान् अर्थ मे व्यवहृत दूसरा पति शब्द है। इसी से पत्नी शब्द बनता है। द्विजाति के प्रत्येक पुरुष और स्त्री के लिए प्रतिदिन पचमहायज्ञो का विधान है। उनके लिए प्रात-साय गृहस्थ जिस चरु और पुरोडाश का निर्वाप करता है, उसका वह ईश्वर या स्वामी होता है। वह उसके फल का भी ईश्वर होता है। इस अर्थ मे पुरुष को पति कह सकते हैं और स्त्री को पत्नी।[१] किन्तु, इससे भी पूरी समस्या का समाधान नही हो सका। शूद्रो की स्त्रियो के लिए भी पत्नी शब्द का प्रचलन हो चुका था। उसके लिए भाष्यकार ने कहा कि वहाँ उपमान से काम चल जायगा। वह शुद्ध पत्नी न होते हुए भी पत्नी के समान होने के कारण औपचारिक अर्थ मे पत्नी कही जा सकती है।[२] पाणिनि-काल से पतजलि-काल तक पत्नी शब्द का अर्थ-विकास समाज मे शनै-शनै होनेवाले परिवर्त्तनो पर अच्छा प्रकाश डालता है।

बहुविवाह—पुरुष एक साथ एक से अधिक स्त्रियो से विवाह कर लेते थे। ऐसे पुरुषो की पत्नियाँ परस्पर सपत्नी कहलाती थी।[३] भाष्य मे अष्ट भार्याओवाले पुरुष का उल्लेख है।[४] स्त्री एक साथ एक से अधिक पुरुषो से विवाह कर सकती थी या नही, इसका भाष्य मे कोई उल्लेख नही है। पति का गौरव पत्नी की गौरव-वृद्धि मे सहायक था। वीरपत्नी, दासपत्नी जैसे शब्द क्रमश पति के कारण पत्नी को प्राप्त होनेवाले गौरव और क्षुद्रता के बोधक थे।[५] सपत्न्यादि गण मे एक, वीर, दास शब्दो का उल्लेख है।

पत्नी के भरण-पोषण का भार पुरुष पर होता था। पोषित होने के कारण ही पत्नी को भार्या[६] भी कहते थे। नवोढा भार्या को वधूटी और चिरण्टी कहते थे।[७] ये शब्द भार्या की यौवन-सम्पन्नता को व्यक्त करते थे। इभ्य और आढ्य युवतियाँ आकर्षण का विशेष केन्द्र थी।[८]

---

१. ४-१-३३, पृ० ५०, ५१।

२. नैष दोषः पतिशब्दोऽयमैश्वर्यवाची। सर्वेण च गृहस्थेन पंचमहायज्ञा निर्वर्त्याः। यच्चादः सायंप्रातर्होमचरुपुरोडाशान्निर्वपति तस्यासवीष्टे। एवमपि तुषजकस्य पत्नीति न सिद्ध्यति। उपमानात्सिद्धम्। पत्नीव।—वही।

३. ४-१-३५। ४. ७-१-२१, पृ० २६। ५. ४-१-३५।

६. ६-३-२८, पृ० १८२।

७. ४-१-२०, पृ० ४४।

८. २-१-६९, पृ० ३२२।

पत्नी का धर्म—पत्नी का धर्म पति को प्रसन्न रखना और उसकी काम-तृप्ति भी था। सन्तानोत्पत्ति-मात्र जो विवाह का लक्ष्य भारतीय सस्कृति का महत्त्वपूर्ण अग कहा जाता है, पतजलि काल मे आशिक रूप से ही सत्य था। भाष्यकार ने कहा है, 'खेद (कामपीडा) के कारण स्त्रियो मे प्रवृत्ति होती है। खेद-विगम (काम-शान्ति) जिस प्रकार गम्या मे हो सकती है, उसी प्रकार अगम्या मे। तो भी इस विषय मे नियम बनाया गया है कि कौन गम्या है और कौन अगम्या'[1] सुन्दर वस्त्रो से सज्जित होकर पति को कामयमान स्त्री जिस प्रकार पति के सामने स्वय को विवृत (निरावरण) करती है, उसी प्रकार वाग्विद् के सम्मुख वाक् उपस्थित होती है', इस प्रकार की उपमा भाष्यकार जैसे श्रोत्रिय ने नि सकोच दी है।[2] 'पति के निमित्त शयन करना' जैसी उक्तियाँ सकोच का कारण नही थी।[3]

सौन्दर्य नारी का महत्त्वपूर्ण गुण माना जाता था। स्त्रियाँ एतदर्थ सुन्दर आकर्षक वस्त्रो तथा आभूषणो का उपयोग करती थी। पति सौन्दर्य का मूल्य समझता था। 'वरतनु'[4] आदि सम्बोधन इसके प्रमाण हैं। भूषणो की चर्चा यथास्थान अन्यत्र हुई है। ऊपर अभिरूपतम वर का उल्लेख भी हो चुका है। पति-पत्नी का पारस्परिक आकर्षण दाम्पत्य-जीवन का महत्त्व-पूर्ण अग था। कभी-कभी प्रेमी के हृदय पर अधिकार करने के लिए वशीकरण मत्रो का भी उपयोग होता, जिन्हे 'हृद्य' कहते थे।[5] कर्णिका, ललाटिका, केशवेश तथा अन्य भूषणो और मण्डनो का खूब प्रचार था।[6]

दिधिषू—अनेक बहनो मे बडी बहन का विवाह पहले किया जाता था। छोटी बहन का पहले विवाह होना सामाजिक दृष्टि से अच्छा नही समझा जाता था। जिसकी छोटी बहन का विवाह पहले हो जाता था, उसे 'दिधिषू' कहते थे और उसके पति को दिधिषूपति[7]। इससे स्पष्ट है कि समाज ऐसे मामलो पर कडी दृष्टि रखता था और जो अपवाद होते थे, उन्हे स्मरण रखा जाता था।

भार्या के सम्बोधन—वधू को सुमगली कहते थे। यह शब्द उसके प्रति सम्मान-भावना का परिचायक है। कन्यादान के साथ पिता द्वारा कन्या को कुछ द्रव्य या वस्त्रादि दिये जाते थे। इसे 'हरण' कहते थे। हरण धर्म्य माना जाता था।[8]

विवाहित स्त्रियो को पति के नाम के आधार पर पुकारने की प्रथा थी। पूतक्रतु की स्त्री

---

१. आ० १, पृ० १८।

२. जायेव पत्ये उशतीसुवासा. तद्यथा जायापत्ये कामयमाना सुवासा' स्वमात्मान विवृणुते।—आ० १, पृ० ८।

३. १-४-३२, पृ० १६८।

४. १-३-४८, पृ० ६७।

५. ४-४-९६।

६. ४-३-६५, ४-१-४२, ३-२-१५१।

७. ६-२-१९।

८. ६-२-६५ टिप्पणी, पृ० २७१ (पूना – सस्करण)।

पूतक्रतायी,[1] वृषाकपि की वृषाकपायी,[2] मनु की मनायी या मनावी,[3] गणक की गणकी, गोपालक की गोपालिका, महामात्र की महामात्री, प्रष्ठ और प्रचर नेता की प्रष्ठी और प्रचरी कहलाती[4] थी। इसी प्रकार, उपाध्याय की पत्नी उपाध्यायी या उपाध्यायानी, मातुल (मामा) की पत्नी मातुली या मातुलानी, आचार्य की पत्नी आचार्याणी और क्षत्रिय की पत्नी क्षत्रिया या क्षत्रियाणी कही जाती थी। ये आख्याएँ केवल पति के नाम पर आश्रित थी। यह आवश्यक नही था कि आचार्याणी स्वय पढाती हो या क्षत्रियाणी स्वय क्षत्रिय हो। सूर्य की स्त्री को, देवता हो, तो सूर्या और मानुषी हो, तो सूरी (कुन्ती) कहते थे।[5] यह इस वात का सूचक है कि विवाहोपरान्त कन्या[6] पति के गुण-गौरव की सहभागिनी वन जाती थी। पति का कुल उसका कुल वन जाता था। सधवा होना वड़े भाग्य की वात मानी जाती थी। जिस स्त्री का पति जीवित होता था, उसे पतिवत्नी[7] कहते थे। पतिवत्नी शब्द जीवद्भर्तृकत्व का बोधक था।

यह आवश्यक नही था कि हर कन्या विवाह करे। इच्छानुसार कोई लड़की कुमारी रह सकती थी। ऐसी लडकी जवतक विवाह न करे, कन्या मानी जाती थी। समाज मे वृद्ध-कुमारियाँ और जरत्कुमारियाँ भी पाई जाती थी।[8]

नैतिक दोष—भाष्य मे नैतिक पतन को सूचित करनेवाले उल्लेख भी कई स्थानो पर मिलते हैं। कन्याएँ विवाह के पूर्व भी गर्भवती हो जाती थी। उनकी सन्तान कानीन कहलाती थी। भाष्यकार ने कानीन शब्द पर आपत्ति करते हुए कहा है कि यो तो यदि कन्या है, तो उसका अपत्य नही हो सकता और यदि अपत्य हो गया, तो कन्या कहाँ रही। कन्या और अपत्य ये दोनो परस्पर-विरोधी बाते है। अत., कन्यापुत्र को कानीन नही कह सकते। फिर भी, कन्या का कन्यात्व पुरुष के साथ विवाह और उसके साथ यौन सम्वन्ध होने पर समाप्त होता है। जिसका पुरुप के साथ यौन सम्वन्ध विवाह होने के पूर्व हो जाता है, उसका कन्यात्व तो नष्ट नही होता, इसलिए कन्या या कान्या पुकारी जानेवाली, या कन्या मानी जानेवाली लडकी के अपत्य को कानीन कहना उचित ही है।[9] जारभरा शब्द भी पचादिगण मे आया है और भाष्यकार ने 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो

---

१. ४-१-३६।

२. ४-१-३७।

३. ४-१-३८।

४. ४-१-४८, पृ० ५६।

५. ४-१-४९ वा० ४-६-७, पृ० ६३।

६. ४-१-४८, पृ० ६३।

७. ४-१-३२, पृ० ४९।

८. ६-२-९५।

९. कन्यायाः कनीन् च। इदं विप्रतिषिद्धम्—यदि च कन्या नापत्यमथापत्यं न कन्या। नैतद्विप्रतिषिद्धम्—कथम्? कन्या शब्दोऽयं पुंसाभिसम्बन्धपूर्वके सम्प्रयोगे वर्त्तते। या चेदानीं प्रागभिसम्बन्धात् पुंसा सह सम्प्रयोगे गच्छति तस्यां कन्या शब्दो वर्त्तत एव। कन्यायाः कन्योक्तायाः कन्याभिमतायाः सुदर्शनायाः यदपत्यं स कानीनः।—४-१-११६, पृ० १४०।

ल्युणिन्यच.' (३-१-१३४) सूत्र में उसके पचादिगण में पढने का समर्थन किया है। जार पति से भिन्न गुप्त प्रेमी को कहते थे। भाष्य की व्युत्पत्ति के अनुसार बुढ़ापा लानेवाले या वृद्धत्व की ओर ले जानेवाले को जार कहते हैं।[1] जार को पालने-पोसनेवाली स्त्री जारभरा कही जाती थी।[2] स्वाभाविक है कि जार की दृष्टि शरीर और सौन्दर्य के उपभोग की ओर रहती हो। ऐसी स्थिति में अवाञ्छित गर्भ रहना भी स्वाभाविक था। गर्भवती स्त्री को अन्तर्वत्नी कहते थे।[3] अनुचित गर्भ बहुधा गिरा या छिपा दिये जाते थे। गर्भ को नष्ट कर देनेवाली स्त्रियाँ पुत्रहती या पुत्रघ्नी कही जाती थीं। परिवार की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए बूढी स्त्रियाँ भी इस पाप में सहायक हो जाती थीं। ऐसी 'पुत्रपुत्रादिनी' स्त्रियाँ भी समाज में थीं। समाज इन्हें घृणा की दृष्टि से देखता था। पाणिनि ने ऐसी स्त्रियों के प्रति समाज की आक्रोश-भावना का उल्लेख किया है।[4] भाष्यकार के दिये हुए वैदिक उद्धरणों से इस पाप-परम्परा की गति वैदिक काल तक मालूम होती है।[5] भाष्य में भ्रूण-हत्या का नौ बार उल्लेख मिलता है।[6]

दासी—दासियों की स्थिति समाज में अच्छी न थी। वे मालिकों की काम-क्षुधा-तृप्ति का साधन बनती रहती थीं। ऐसी दास-भार्याओं की संख्या बहुत थी।[7] इनकी सन्तान, जो दासेर कहलाती थीं[8], घर में पलती रहती थी और वहीं सेवा-टहल करने लगती थी। ये दासियाँ रखेल बन जाती थीं। इनके अतिरिक्त यदा-कदा इस प्रकार के ऐसे अपमान उन्हें झेलने पड़ते थे, जिनमें मालिक किसी प्रकार का दायित्व लेने को तैयार नहीं होते थे। समाज स्वामियों के ऐसे आचरण को गर्हित मानता था। पतंजलि ने इसे अशिष्ट व्यवहार कहा है। शिष्टता के नियमों से बाह्यता व्यक्त करने के लिए ही इस प्रकार के सम्बन्ध में सं+यम् धातु को आत्मनेपद का विधान किया गया था।[9] संयच्छते का अर्थ है—दानपूर्वक उपयोग करना। भाष्यकार ने इस प्रकार के दासी या वृषली के सम्बन्ध को व्यतिहार या क्रिया-विनियम कहा है; क्योंकि दासी और कामुक दोनों का इष्ट परस्पर एक दूसरे से सिद्ध होता था।[10] काशिकाकार (१-३-२३) के काल तक आते-आते तो वृषली ग्राम-पुत्रों की काम-तृप्ति का सहज साधन बन गई थी।

कुमारत्वादि में इस प्रकार की अवाञ्छित घटनाओं की आशंका के कारण ही समाज स्वस्थ वैवाहिक जीवन को श्रेष्ठ मानता था। विवाह के लिए मनुष्य सम्पूर्ण साधन एकत्र करता था

---

१. ३-३-३०, पृ० ३०१।
२. ३-१-१३४, पृ० १९७।
३. ४-१-३२, पृ० ४९।
४. ८-४-४८, पृ० ४९८।
५. ३-१-१०८, पृ० १८५।
६. महाभाष्य शब्दकोष, पृ० ८४३, ४४।
७. २-१-१, पृ० २३५।
८. ४-१-११४, पृ० १३८।
९. १-३-५५, पृ० ६९।
१०. १-३-५५, पृ० ६९।

और तदर्थ जी-जान से परिश्रम करता था।[1] और कुछ उपाय न मिला, तो भीख माँगकर ही चार पैसे जोड लेता था और घर वसाता था।

माता—स्त्री शब्द मातृत्व की ओर सकेत करता है। स्त्री शब्द 'स्त्यै' धातु से बना है, जिसका अर्थ है गर्भधारण करनेवाली। सवन मे पुमान् कर्त्ता और अधिकरण स्त्री मानी जाती थी।[2] स्त्रीत्व की पूर्णता मातृत्व मे ही हो सकती है। पत्नीत्व और विवाह सव इसके सावन है। इसीलिए, स्त्री पुत्र की कामना किया करती है। भाष्य मे प्रयुक्त पुत्रकाम्यति, पुत्रीयति, पुत्रीयन्ते, पुत्रीयिषति आदि शब्द इसी कथन की पुष्टि करते हैं।[3] पुत्र उत्पन्न होने पर वड़ा हर्ष मनाया जाता था। भाष्य मे पुत्रोत्पत्ति के हर्ष मे दश सहस्र गायें तक दान किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[4]

माता का सन्तान पर प्रभाव—मातृ-रूप मे स्त्री का महत्त्व पत्नी से वढकर था। सन्तान की अच्छाई या वुराई वहुत कुछ माता पर निर्भर रहती है, यह वात समाज मे मान्य थी। इसीलिए, प्रशसा, निन्दा या किसी विशेष गुण-दोष की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए सन्तान को प्राय माता के नाम पर पुकारा जाता था। माता अच्छी हुई, तो सन्तान सौभागिनेय काल्याणिनेय,[5] भाद्रवाहेय,[6] भाद्रमातुर या सामातुर[7] कहलाती थी। माता की निन्दा प्रकट करने मे कानीन,[8] कौलटेय,[9] कौलटेर,[10] दास्या पुत्र, दासेर, काणेर[11] आदि शब्दो का प्रयोग होता था। मातृ-सम्वन्धी किसी विशेष वात की ओर ध्यान आकृष्ट करने मे द्वैमातुर, त्रैमातुर,[12] पाण्मातुर,[13] वैमात्रेय,[14]

---

१. २-१-५१, पृ० ३०२।

२. अधिकरणसाधना लोके स्त्री। स्त्यायत्यस्यां गर्भ इति। कर्त्तृसाधनश्च पुमान् सूते पुमानिति।—४-१-३, पृ० २०।

३. १-३-१, पृ० १३ तथा ६-१-१५८, पृ० २०० तथा ७-४-३५, पृ० २३४ तथा ६-१-४, पृ० १५।

४. यस्मिन् दशसहस्राणि पुत्रे जाते गवां ददौ।
ब्राह्मणेभ्यः प्रियाख्येभ्यः सायमुञ्छेन जीवति।।—१-४-३, पृ० १३१।

५. ४-१-१२६।

६. १-४-२, पृ० ११९ तथा ४-१-११४, पृ० १३८।

७. ४-१-११५।

८. ४-१-११६, पृ० १४०।

९. ४-१-१२७।

१०. ४-१-१३१।

११. ४-१-१२३।

१२. २-१-५२, पृ० ३००।

१३. ४-१-११५।

१४. १-४-१२०, पृ० १४१।

वैववेय, सापत्न[1] आदि शब्द आते थे। इस प्रकार, जो गुण-दोष या विशेषताएं माता मे रहती थी, वे उसकी सन्तान के साथ भी परिचयात्मक रूप से जोड दी जाती थी। अनेक सम्बन्धों का निर्धारण स्त्रियो के सम्बन्ध से होता था। उदाहरणार्थ—मातृष्वसा,[2] पितृष्वसा[3] एव स्वसा[4] के नाम पर उनकी सन्ताने पैतृष्वस्रीय, मातृष्वस्रीय और स्वस्रीय कही जाती थी। पिता का नाम न मालूम होने पर सन्तान माता के (गोत्र) के नाम से पुकारी जाती थी, किन्तु पिता का नाम न मालूम होना कुत्सा की बात थी। इसलिए, ऐसे नाम (गोत्र) से सन्तान का पुकारा जाना निन्दा का सूचक था। गार्गी (गोत्र) स्त्री की सन्तान गार्ग या गार्गिक कहलाती थी। इसी प्रकार, वातण्ड, ग्लौचुकायन आदि जाल्मबोधक नाम पड जाते थे।[5]

वश्य—भाष्यकार के समय मे वश पिता के नाम पर चलता था। स्त्री वश्य नहीं मानी जाती थी। इसीलिए, पाणिनि ने स्त्री की युवसज्ञा का निषेध कर दिया है।[6] पाणिनि ने सामान्यतया अपत्य नाम पिता के नाम पर ही आधृत माने हैं। स्त्रियों के नाम पर सन्तान के नाम विशेष कारणो से ही पडते थे। किन्तु, यह मत सर्वमान्य न था। कुछ विद्वान् माता और पिता दोनो को वश्य मानते थे और दोनो के नाम पर अपत्य-नाम स्वीकार करते थे।[7]

पुत्र के बाद पुत्र होना प्रसन्नता की बात मानी जाती थी। ऐसे पुत्र को पुसानुज[8] कहते थे। इसी प्रकार, कुलीन माता की सुशील एव सदाचारिणी पुत्री को कुलपुत्री या कुलदुहिता[9] कहते थे। पुत्री रूप, गुण और शील मे बहुत कुछ माता के समान[10] होती है। इसीलिए, कुलीनता को इतना महत्त्व दिया जाता था।[11] पाणिनि ने दुष्कुल, कुल और महाकुल तीनो का पृथक् उल्लेख किया है। इनमे उत्पन्न सन्तान क्रमश कुलीन, महाकुलीन[12] और दुष्कुलीन[13] होती थी।

सामाजिक प्रतिष्ठा—पतजलि का युग स्त्रियो की सामाजिक प्रतिष्ठा के अपेक्षाकृत ह्रास का काल था। यद्यपि स्त्रियो मे अब भी आपिशल और काशकृत्स्न-प्रणीत ग्रन्थो की अध्ययन-

---

१, ६-३-३५, पृ० ३२३।
२. ४-१-१३४, पृ० १४४।
३. ४-१-१३८।
४. ४-१-१४३।
५. ४-१-१४७, पृ० १४५।
६. ४-१-१६३, ४-१-९४।
७. न स्त्री वंश्या—अपरआह द्वावेव वंशौ मातृवशः पितृवंशश्च।—४-१-११४, पृ० १४६, १४७।
८. ६-३-३, पृ० २९९।
९. ६-३-७०, पृ० ३४७।
१०. १-१-५७, पृ० ३६५।
११. ४-१-१३९।
१२. ४-१-१४१।
१३. ४-१-१४२।

शीला विद्यमान थी।[1] कठ, कालाप और बह्वृच शाखाओ मे विदुपियाँ विद्यमान थी।[2] कुमारियाँ बाल्यकाल से ही दीक्षा लेकर श्रमणा और प्रव्रजिता का जीवन विताती थी।[3] कुछ कुमारी रहकर अध्यापिका का काम करती थी। कुछ धार्मिक सम्प्रदायो की श्रेष्ठ प्रचारिकाएँ स्त्रियाँ थी।[4] इस प्रकार, स्त्रियो मे उच्च शिक्षा का प्रचार अब भी था, तो भी वह बहुत-कुछ ब्राह्मणो एव राजन्य-वर्ग तक सीमित रह गया था। स्त्रियो को आचार्या और उपाध्याया का पद भी प्राप्त होता था।[5] उच्च परिवारो मे पर्दे की प्रथा थी। राज-परिवार की स्त्रियाँ तो असूर्यम्पश्या'[6] थी। वे सूर्य (पुल्लिग) तक का मुख नही देख पाती थी। स्त्रियाँ सभा मे नही जाती थी। सभा-गृह मे साधुपुरुष को सभ्य कहते थे, किन्तु स्त्री सभा मे साधु नही मानी जाती थी। यदि सभा का अर्थ श्रीअभ्यकर शास्त्री के अनुसार यज्ञ-सभा को, जिसमे विद्वान् पुरुपो का ही जाने का अधिकार है,[7] मान लिया जाय, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्रियो मे अध्ययन की प्रवृत्ति भी नष्ट होने लगी थी और यज्ञादि सभा मे उनकी उपस्थिति अच्छी नही मानी जाती थी। यदि सभा से तात्पर्य नगर-सभा या शाला से है, तो भी यह स्पष्ट है कि स्त्रियो का पुरुपो के साथ सार्वजनिक समारोहो मे भाग लेना अच्छा नही माना जाता था। इसीलिए तो भाष्यकार ने कहा है कि 'तत्र साधुः' सूत्र स्त्री के सम्बन्ध मे प्रत्यय का विधान नही करता, क्योकि स्त्री सभा में साधु (भली) कैसे लग सकती है?[8] पाणिनि के 'प्रत्यभिवादे शूद्रे' (८-२-८३) सूत्र पर कात्यायन का वार्त्तिक और उसपर पतजलि का भाष्य इस बात का प्रमाण है कि पाणिनि के बाद स्त्री की स्थिति गिरते-गिरते लगभग शूद्रो के समकक्ष आ गई थी। पाणिनि-काल मे छोटो के द्वारा बडो को प्रणाम करने पर बडो की ओर से किये प्रत्यभिवाद मे शूद्र के लिए प्लुत नही किया जाता था। उदाहरणार्थ, यदि यज्ञदत्त गुरु को प्रणाम करता, तो प्रत्यभिवाद मे गुरु कहता 'भो आयुष्मानेवि देवदत्ता३'। इस वाक्य मे गुरु देवदत्त के अन्तिम स्वर को प्लुत बोलता, किन्तु यदि कोई शूद्र प्रणाम करता और उसका नाम देवदास होता, तो वही व्यक्ति आशीर्वाद देता—'भो आयुष्मानेवि तुपजक'। तब तुषजक का अन्तिम स्वर लुप्त नही किया जाता था। पतजलि के समय मे स्त्रियो को भी शूद्रो के साथ जोड़ दिया गया और शूद्रो के समान उनके प्रणाम के उत्तर मे भी प्लुत नही किया जाने लगा। यदि गार्गी गुरु को प्रणाम करती, तो वह बिना प्लुत के प्रत्यभिवाद करता—'भो आयुष्मती भव गार्गि'। इस प्रकार शूद्र, स्त्री और असूयक (अविनीत) इन तीनो का स्थान शिष्टाचार की सामान्य मर्यादा मे भी निम्नकोटि का माना जाने लगा था।[9] स्त्रियो और पुरुषो

१. ४-१-१४, पृ० ३६।
२. वही।
३. २-१-७०।
४. ७-३-४५, पृ० १९०।
५. ४-१-४९, पृ० ६३।
६. ३-१-१, पृ० २३२।
७. ४-१-१५, पृ० ४०।
८. ४-१-१५, पृ० ४०।
९. ८-२-८३, पृ० ३८७।

के प्रति नमस्कार-पद्धति मे इसी कारण अन्तर कर दिया गया था। अपने से बडे पुरुषो के प्रति नमस्कार-निवेदन करते समय नमस्कारकर्ता अपने नामोल्लेख के साथ कहता था, 'अभिवादये देवदत्तोऽहू भो' और गुरुजन उत्तर देते थे आयुष्मानेधि देवदत्त३', किन्तु स्त्रियाँ नमस्कार करते समय न अपना नामोच्चार करती थी और न उन्हे नमस्कार करनेवाला अपना नामोच्चार करता था। आशीर्वाद देते समय स्त्रियाँ वाक्यान्त मे प्लुति भी नही करती थी, क्योकि उन्हे व्याकरण का ज्ञान नही होता था। भाष्यकार ने व्याकरण पढने का एक उद्देश्य यह भी वतलाया है कि नमस्कार के प्रत्यभिवाद मे हम प्लुति करना जान जायँ, अन्यथा छोटे सम्वन्धी वाहर से लौटकर हमे उसी प्रकार प्रणाम करने लग जायेंगे, जिस प्रकार स्त्रियो को केवल 'यह मैं आ गया' कह अभिवादन कर लेते हैं।[१]

राजनीतिक प्रतिष्ठा—यह सत्य है कि जनपदो या प्रदेश विशेष की निवासिनी नागरिका के रूप मे स्त्रियो की पृथक् स्थिति स्वीकार की जाती थी। महाभाष्य मे जनपदो की सदस्याओ के रूप मे उनका पुरुषो से पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया गया है। उदाहरणार्थ, अवन्ती, कुन्त, कुरु, शूरसेन, मद्र, दरत्, अम्वष्ठ, सौवीर, पचाल, विदेह, अग, वग, मगध, भर्ग, करूप, केकय, यौधेय, शौभ्रेय, शौक्रेय आदि की नागरिक स्त्रियाँ क्रमश अवन्ती, कुन्ती, कुरु, शूरसेनी, मद्री, दरत्, आम्वष्ठ्या, सौवीर्या, पाचाली, वैदेही, आगी, वागी, मागधी, भार्गी, कारूपी, कैकेयी, यौधेयी, शौभ्रेयी, और शौक्रेयी कही जाती थी। इसी प्रकार पर्शू, रक्षा, असुरी, काश्मीरी, साल्वी, ग्रावणेयी, वार्त्तेयी, धार्त्तेयी, त्रैगर्ती, भारती, औशीनरी आदि नाम सम्वद्ध प्रदेशो की स्त्रियो के लिए व्यहृत होते थे।[२] इसी प्रकार गोत्रापत्यो मे भी बहुत्ववाचक स्त्री-पुरुषो मे भेद किया जाता था और स्त्री गोत्रापत्यो के लिए पृथक् शब्दो का व्यवहार था। उदाहरणार्थ—यस्क, लम्य, द्रुह्यु, गर्ग, विद, वत्स, अत्रि, भृगु, कुत्स, वसिष्ठ, गोतम, अगिरस आदि गोत्रो की स्त्रियो (बहुवचन मे) के वोधक शब्दो मे अपत्यार्थ प्रत्यय वना रहता था, किन्तु पुरुषो के वोधक शब्दो मे प्रत्यय का लुक् (लोप) हो जाता था। इस प्रकार, यस्क के पुरुष गोत्रापत्य 'यस्का' कहलाते थे और स्त्रियाँ 'यास्क्य'। लम्या (लाम्य) द्रुह्या (द्रौह्य), गर्गा (गार्ग्य) विदा (वैद्य), वत्सा (वात्स्य), अत्रय (आत्रेय्य), भृगव (भार्गव्य), कुत्सा (कौत्स्य), वासिष्ठा (वासिष्ठ्य), गोतमा (गौतम्य), अगिरसा (आगिरस्य) आदि अनेक अन्य गोत्रापत्यो मे यह अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता था।[३] प्राच्य गोत्रो यथा पन्नागार, मन्थरेषण, भरत गोत्रो यथा युधिष्ठिर, अर्जुन आदि गोत्रो मे यह अन्तर प्रचलित था।[४] किन्तु, इस अन्तर का प्रभाव उनकी सामाजिक स्थिति पर नही था। नागरिक के रूप मे पृथक् परिगणित होने से उन्हे कौन-

---

१. अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत्॥
अभिवादे-स्त्री वन्माभूम।—आ० १, पृ० ६।

२. ४-१-१७६ तथा ४-१-१७७, १७८ तथा २-४-६२, पृ० ४९६।

३. २-४-६३ से ६६।

४. २-४-६६ काशिका।

से विशेष अधिकार प्राप्त होते थे या कौन-सी प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी, इसका उल्लेख भाष्य में कही नही मिलता। गोत्रापत्य के रूप मे भी उनका पृथक् उल्लेख उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा को वढाता नही मालूम होता। वास्तव मे यह अन्तर केवल लिंगभेद के लिए किया जाता था। इस अन्तर का यदि अन्य कोई उद्देश्य हो सकता था, तो वह था स्त्रियो का पुरुषो से व्यवच्छेद करना, जिससे उनके हीनत्व की ही पुष्टि विशेष होती है। गोत्रापत्य के एकवचन और द्विवचन के रूपो मे तो यो भी कोई अन्तर नही किया जाता था। केवल वहुवचन का अन्तर लोक-व्यवहार के कारण था। इसमे इससे अधिक कुछ पढने का प्रयास करना व्यर्थ है।

आजीवन कुमारियाँ—'कुमार श्रमणादिभि.' (२-१-७०) सूत्र के श्रमणादि गण मे पठित श्रमणा, प्रव्रजिता, कुलटा, गर्भिणी, तापसी, दासी, वन्धकी, अध्यापिका और पण्डिता शब्द पतजलिकालीन नारी की वास्तविक स्थिति पर सुन्दर प्रकाश डालते हैं। कुछ नारियाँ शिक्षा, स्वाध्याय, वैराग्य और तप को सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर देती थी। ये कुमारश्रमणा, कुमार-प्रव्रजिता, कुमाराध्यापिका, कुमारतापसी और कुमारपण्डिता देवियाँ समाज का गौरव थी। दूसरी ओर कुमारकुलटा, कुमारगर्भिणी स्त्रियाँ थी, जो इस वात को स्पष्ट करती हैं कि समाज मे कही-न-कही घुन अवश्य लग चुका था और उसके वैवाहिक नियमो मे ऐसे दोष आ चुके थे, जो समाज को चरित्रहीनता की ओर ले जाते हैं। कुमारदासी और कुमारवन्धकी स्त्रियाँ समाज के धनाढ्य और धनहीन वर्ग के वैषम्य की ओर इंगित करती है, जिसका दण्ड दुधमुँही निर्धन वालिकाओ को भी भोगना पडता था।

गणिकाएँ—अनेक स्त्रियाँ गणिकाओ और नटियो का कार्य करती थी। गणिकाओ की सख्या इतनी अधिक थी कि उनके सघ वन गये थे।[1] नटियो की प्रतिष्ठा इतनी कम थी कि रगस्थल मे कोई भी उनसे प्रेम की अभिव्यक्ति कर सकता था। वे सर्वभोग्या मानी जाने लगी थी।[2]

---

१. गणिकाना समूहो गाणिक्यम्।—४-२-४०, पृ० १७९।

२. नटानां स्त्रियोरङ्गगता यो यः पृच्छति कस्य यूय कस्य यूयमिति तं तं तव तवेत्याहुः।—६-१२, पृ० १३।

अध्याय ६

निवासी

निवास—निवास लोगो के रहने के स्थान को कहते थे।[1] किसी व्यक्ति का निवास वह स्थान था, जहाँ वह उस समय रहता था, भले ही उसके पूर्वज वहाँ न रहे हो। पूर्वजो के निवास-स्थान का नाम अभिजन था।[2] इस प्रकार, किसी का निवास और अभिजन एक ही स्थान हो सकता था। किन्तु, यदि कोई पूर्वजो के स्थान को छोडकर अन्यत्र रहने लगता, तो उसके निवास और अभिजन भिन्न-भिन्न स्थान होते थे।

आकार, अर्थात् महत्ता की दृष्टि से निवासो मे अन्तर होता था। सामान्य निवास और विशिष्ट निवास के लिए भी पृथक् नाम थे। निवास सामान्य शब्द था, जो जनपद से शाला तक के लिए प्रयुक्त होता था। निवास के नाम पर लोगो के नाम पड जाते थे। स्रुघ्न जिसका निवास होता था, उसे स्रौघ्न कहते थे।[3] इसी प्रकार जिसका अभिजन मथुरा होता, उसे माथुर कहते थे। व्यापक अर्थ मे निवास देश का वाचक था और सकुचित अर्थ मे घर का। घर के लिए भाष्य मे निम्नलिखित शब्दो का प्रयोग मिलता है—

शाला—शाला बहुत छोटा एक छप्पर का घर होता था। हिन्दी मे इसका अपभ्रश रूप सार (पशु बाँधने का छाया हुआ स्थान) प्रचलित है। सामान्य अर्थ मे शाला शब्द का प्रयोग किसी विशिष्ट कार्य के लिए निश्चित घर होता था। जैसे, गाय-बैल बाँधने का स्थान गोशाला,[4] बहुत-से दण्डधारियो के रहने का स्थान दण्डिमती शाला[5] और बहुत-से युवको के रहने का स्थान बहुयूका शाला[6] कहा जाता था। शुल्क वसूल करने के लिए बनाया गया छोटा-सा स्थान शुल्कशाला था, जिसके अधिकारी को शौल्क-शालिक कहते थे।[7] शाला सभा का भी पर्याय था। यह बात 'अशाला च' (२-४-२४) से ध्वनित होती है। सभा शब्द सघात और शाला दोनो का बोधक था और इस प्रकार शाला और सभा पर्याय थे। काशिका ने इसी सूत्र का प्रत्युदाहरण

---

१. निवसन्त्यस्मिन्निति निवासो देश उच्यते।—४-३-८९ काशिका।

२. ४-३-८९, पृ० २४४।

३. ४-३-८९, ९०, पृ० २४४।

४. २-४-२५।

५. ५-२-९६, पृ० ४०७।

६. ४-१-१३, पृ० ३४।

७. ४-४-६९।

'अनाथसभा' दिया है और सभा का अर्थ कुटी माना है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि शाला छोटा घर होता था।[१]

शाला अनाज सगृहीत और सुरक्षित रखने के लिए बनाई गई खत्ती को भी कहते थे।[२] भाष्यकार ने द्विहायना, त्रिहायना[३] और उलूक-पक्षीशाला का उल्लेख किया है।[४] शाला मे लोग रहते तो थे ही, अर्थात् वह घर की तो वाचक थी ही,[५] विद्यालय की भी वोधक थी। इसीलिए, शालाप्रवेश के योग्य अवृष्ट वालक को शालीन[६] कहते थे।

क्षय—निवास का एक अन्य नाम था क्षय। क्षय शब्द क्षि (निवास) धातु से अधिकरणार्थक प्रत्यय होकर बना है।[७] काशिकाकर ने क्षय शब्द के प्रयोग का सुन्दर उदाहरण भी दिया है—'क्षये जागृहि प्रपश्यन्'। इससे क्षय शब्द का अर्थ गृह स्पष्ट है।

गृह—गृह शाला से वड़ा होता था। प्रत्येक परिवार के पास एक गृह होता था। भाष्य के उल्लेखो से शाला और गृह मे दो अन्तर मालूम होते हैं। प्रथम यह कि शाला गृह से छोटी या भिन्न प्रकार की होती थी, यद्यपि सर्वदा ऐसा नही होता था और द्वितीय यह कि गृह व्यक्तिगत निवास को कहते थे और शाला का स्वरूप अपेक्षाकृत सामाजिक था। 'देवदत्त का घर कौन-सा है ?' जैसे उल्लेख शाला के विषय मे नही मिलते।[८] इसी प्रकार, 'देवदत्त के घर ऊँचे हैं' आदि वाक्यो से जिस प्रकार घरो के दुमजिला या तिमजिला होने का सकेत मिलता है, उस प्रकार शाला के विषय मे ऐसे सकेत उपलब्ध नही है। ऋग्वेद (२-४२-३) आदि मे गृह शब्द का प्रयोग वहुवचन मे ही मिलता है, जिससे अनुमान होता है कि गृह मे एक-से अधिक कमरे होते थे। गृह को गेह भी कहते थे। गेह, कुटी और मठ पर्यायवाची थे। गेह या कुटी छोटे भी होते थे और वडे भी। प्राय कुटी शाला के समान ही एक छप्पर या कमरे की होती थी। कमरे का आकार कितना भी वड़ा हो सकता था। छोटे आकार की कुटी को कुटीर कहते थे।[९]

निकाय—निवास का एक भेद निकाय भी था।[१०] निकाय निवास-स्थान के अतिरिक्त सघ (प्राणिसमूह) का भी वाचक था। यथा, भिक्षुकनिकाय, ब्राह्मणनिकाय या वैयाकरण-निकाय।[११] निवास से भिन्न अर्थ मे निचेय शब्द का प्रयोग होता था। निकाय से मिलता-जुलता

---

१. ४-३-२३, २४ काशिका।
२. ६-२-१०२।
३. ४-१-२७, पृ० ४२।
४. ४-१-५५, पृ० ६९।
५. ६-३-३५, पृ० ३२२।
६. ५-२-२०, पृ० ३७२।
७. ६-१-२०१ काशिका।
८. १-१-२६, पृ० २१९।
९. ४-१-९२, पृ० ११७।
१०. ३-३-४१।
११. ३-३-४२ काशिका।

एक दूसरा शब्द निकाय्य भी आवास के लिए प्रचलित था।[1] इन दोनो शब्दो की निष्पत्ति पाणिनि ने निपातन द्वारा वतलाई है। निकाय और निकाय्य सघो के निवास-स्थान थे।

अगार—अगार गृह से वडा होता था। इसके कई खण्ड होते थे। एक ही अगार के भिन्न-भिन्न भाग भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए उपयोग मे आते थे। अगार राजकीय भवन होते थे। वडे मन्दिरो के लिए अगार शब्द का प्रयोग हुआ है। अगार की देखभाल के लिए अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। देवागार, कोष्ठागार, भाण्डागार आदि के लिए नियुक्त अधिकारी देवागारिक कोष्ठागारिक और भाण्डागारिक आदि कहलाते थे।[2]

निषद्या—निषद्या उस निवास को कहते थे, जहाँ यात्री आवश्यकतानुसार ठहरता था। निषद्या एक प्रकार की धर्मशाला या सराय होती थी।[3]

विशिष्ट निवास—कुछ मकान केवल विशिष्ट व्यक्तियो के ही रहने या ठहरने के लिए निश्चित रहते थे। ये स्थान एकशालिक या ऐकशालिक कहलाते थे।[4]

इस प्रकार, आकार-भेद से तथा कार्य-विशेष के लिए निश्चित रहने के कारण निवास के अनेक भेद हो गये थे। इनमे शाला, एकशालिक, गृह, गेह, कुटी, मठ, कुटीर, क्षय, निकाय, निकाय्य, निपद्या और अगार का उल्लेख भाष्य मे मिलता है।

प्रासाद और हर्म्य—इनके अतिरिक्त दो प्रकार के निवास और थे—हर्म्य तथा प्रासाद। हर्म्य धनियो के घर को कहते थे।[5] ये अपेक्षाकृत वडे और सुन्दर होते थे। हर्म्य एक से अधिक मजिलो के और खूव ऊँचे होते थे। हर्म्य मे गृह तथा पास-पडोस की भूमि और पशुशाला के सम्मिलित रहने का भाव था (वैदि० इण्डे० १-२३०)। प्रासाद राजभवन होते थे।[6] भाष्यकार ने पाटलिपुत्र के प्रासादो की वार-वार चर्चा की है। इससे स्पष्ट है कि प्रासाद राजधानियो मे वनाये गये वडे-वडे महलो को कहते थे। प्रासाद भी छोटे-वडे दोनो प्रकार के होते थे। कभी-कभी छोटे प्रासाद कुटी-से दिखाई पडते थे।[7]

गृहनिर्माण-विधि—छोटे-छोटे घर या शालाएँ छप्पर से छाये जाते थे। छप्पर विशेष प्रकार के तृणो से वनते थे और छदि कहलाते थे।[8] छादि के काम आनेवाले तृण छादिषेय कहे जाते थे। छदि मे काण्डो (शरकाण्डो) का प्रयोग भी अधिक होता था। इसलिए, उसे काण्डीर भी कहते थे।[9] दीवारे या भित्तियाँ मिट्टी और ईंटो की वनती थी। पक्की और कच्ची दोनो प्रकार की

---

१. ३-१-१२९।
२. ४-४-७०।
३. ३-३-९९।
४. ५-३-१०९।
५. १-३-४०, पृ० ६७।
६. १-१-८, पृ० १५७।
७. ३-१-१०, पृ० ४४।
८. ५-१-२, पृ० २९४।
९. आ० २, पृ० ७६।

ईंटे भित्तिकर्म के लिए व्यवहार मे आती थी। ईंटों से बनी दीवार इष्टकचित और पक्की दीवार पक्वेष्टकचित कही जाती थी।[1] अच्छे मकानो मे नीचे पक्का फर्श बनाया जाता था। पक्के फर्श को 'कुट्टिमभूमि' कहते थे।[2] मकानो के फर्श ऊँचे बनाये जाते थे, जिससे वर्षा का पानी उसके भीतर न भर जाय। ये ऊँचे फर्श वेदिका कहलाते थे। वेदिका या पुण्डरीक की विशेष बनावट मकानो की पहचान के भी काम आती थी। 'क्तक्तवतू निष्ठा' (१-१-२६) सूत्र के भाष्य मे कहा गया है 'देवदत्त का घर कौन-सा है,' यह पूछने पर किसी ने उत्तर दिया, 'जहाँ कौआ बैठा है', तो कौए के उड जाने पर या खो जाने पर घर भी खो जायगा, किन्तु दूरदर्शी उस अस्थिर चिह्न से कोई स्थिर चिह्न यथा वेदिका या पुण्डरीक ग्रहण कर लेगा।[3]

घर के कमरो मे वायु तथा प्रकाश के लिए झँझरी या गवाक्ष बनाये जाते थे।[4] घर के भीतर आँगन रहता था, जिसे अजिर कहते थे।[5] स्नान के लिए पृथक् स्थान निश्चित रहता था, जिसे प्रस्न कहते थे।[6] सामान टाँगने के लिए दीवारो मे लकड़ी की खूँटियाँ गाड़ दी जाती थी, जो शंकु कहलाती थी।[7] घरो मे दीपक रखने का स्थान भी बनाया जाता था, जो घर के भीतर ऐसे स्थान मे होता था, जहाँ रखा हुआ दीपक सारे घर को प्रकाशित कर सके।[8] दीपक मिट्टी के होते थे, जो हवा से बुझ जाते थे।[9]

अगार बड़ा मकान होता था। इसे वेश्म भी कहते थे।[10] अगार के बाहरी कोठे को, जो गृहस्थ के घर का एक भाग था,[11] आवसथ कहते थे। इसमे आवसथ्य अग्नि रखी जाती थी और उसमे रहनेवाला आवसथिक[12] कहलाता था। आवसथ यज्ञ या उत्सव पर्वों के अवसर पर अतिथियो, खासकर ब्राह्मण अतिथियो के स्वागतादि के लिए बनाया जाता था (अथर्व ९-६-३)। वैदिक इण्डेक्स मे इसे धर्मशाला का एक रूप माना है (भाग १, पृ० ६६)। अगार का ही एक भाग प्रघण या प्रघाण कहलाता था।[13] प्रघण द्वार के पास के कमरे होते थे, जिनमे प्राय अगार-रक्षक रहते थे। द्वार भवन का बाह्य मार्ग होता था। अगारो, हर्म्यों और प्रासादो के द्वार पर रक्षक

---

१. ६-३-६५ तथा १-१-७२, पृ० ४५५।
२. ४-४-२०, पृ० २७५।
३. १-१-२६, पृ० २१८, १९।
४. ७-४-४१, पृ० २३५।
५. २-४-५४, पृ० ४९०।
६. ३-३-५८, पृ० ३०८।
७. ५-१-२, पृ० २९८।
८. १-१-४९, पृ० २९८।
९. ८-२-५०, पृ० ३६८।
१०. १-१-४९, पृ० २९८।
११. ५-४-४३।
१२. ४-४-७४।
१३. ३-३-७९।

नियुक्त रहते थे, जो दौवारिक कहलाते थे।[1] काशिका ने द्वार को अभिनिष्क्रमण-क्रिया का करण कहा है।[2] द्वार कपाटों से बन्द किये जाते थे, जिससे चोर घर में प्रवेश न कर सकें।[3] द्वार से ही घर का नाम दुरोण पड़ा (वैदि० इण्डेक्स, १-२३०)। किवाड़ परिघ या पलिघ द्वारा भीतर से बन्द कर लिये जाते थे। पलिघ लोहे की छड़ या चटखनी होती थी।[4] लौह-शृंखला का व्यवहार द्वार बन्द करने में होता था। शृंखलाएँ पशुओं को बाँधने के भी काम आती थीं।[5] इस तरह बन्द किवाड़ों को भी तोड़-फोड़कर शक्तिशाली चोर माल-मत्ता निकाल ले जाते थे। इसीलिए वे कपाटघ्न कहलाते थे।[6]

मकानों के ऊपर (सबसे ऊपर) अटारी या बुर्जी बनाई जाती थी, जिसे आमलकी[7] कहते थे। छत की दीवार के आगे छज्जे बनाये जाते थे और उन्हें कलापूर्ण खुदाई या कारीगरी से सजाया जाता था। छज्जे 'वलभी'[8] कहलाते थे। अलिन्द छप्परों या छज्जों की ढलाती को, जिससे बरसात का पानी टपकता था, वलीक कहते थे।[9]

मकानों में पहली के ऊपर बनाई हुई अन्य मंजिलें अट्टालिका कहलाती थीं। मकान में ऊपर का भाग भी अट्टालिका कहलाता था। इसी अनुकरण पर एक के ऊपर एक लगाई हुई गाँठ या बन्धन को अट्टालिका-बन्ध कहते थे।[10]

मकान बनाने की विद्या या कला को वास्तुकर्म, वास्तोष्पतीय या वास्तोष्पत्य कहते थे। इसका देवता वास्तोष्पति माना जाता था। वास्तुकर्म से सम्बद्ध वस्तु को वास्तव्य कहते थे।[11]

---

१. ४-४-७०।
२. ४-३-८६।
३. ३-२-५८।
४. ८-२-२२, पृ० ३४५।
५. ५-२-७९।
६. ३-२-५४।
७. ६-२-८२, पृ० २७४।
८. वही।
९. ३-१-८७, पृ० १५५।
१०. ३-४-४१, पृ० ३६२।
११. ४-२-३२ तथा ३-१-९६, पृ० १८०।

अध्याय ७

ग्राम और नगर

आर्य-निवास—भाष्यकार ने आर्य-निवासो के ग्राम, घोष, नगर और सवाह ये नाम बताये हैं।[1] घोष थोड़ी-सी झोपडियो का छोटा-सा गाँव होता था। इसमे एक प्रधान पुरुष और अन्य उसी के सवश या उससे छोटी स्थिति के लोग रहते थे। जैसे, गार्ग्यों का घोष, वात्स्यो[2] का घोष या दाक्षिघोष।[3] घोष मुख्यत गाय, भैंस आदि पशु पालनेवालो की बस्ती होती थी। जिस स्थान में ब्राह्मण तथा कृषक अधिक रहते थे, उसे ग्राम कहते थे। प्राकार और परिखावाली बस्ती, जिसमे अलग-अलग जातियो के लोग अलग मुहल्लो मे रहते थे, नगर कहलाती थी। अधिक जनसख्या-वाले नगर को सवाह कहते थे। इस प्रकार, घोष और ग्राम बसावट की दृष्टि से समान थे तथा नगर और सवाह समान थे। देश ग्राम, नगर, जनपद[4] और राष्ट्र[5] इन चार भागो मे विभक्त था।

ग्राम और नगर मे साम्य—ग्राम और नगर अनेक बातो मे समान थे। इसलिए कई बार ग्राम और नगर मे अन्तर नही किया जाता था। उदाहरणार्थ, यदि कहा जाता कि ग्राम्य कुक्कुट और ग्राम्य शूकर का मास नही खाना चाहिए, तो लोग नागर शूकर और नागर कुक्कुट का भी मास नही खाते थे। इसी प्रकार, गाँव मे अध्ययन नही करना चाहिए, इसका अर्थ होता था कि नगर मे भी अध्ययन नही करना चाहिए। यह बात सामान्य विधियो के विषय मे थी, किन्तु बस्ती की दृष्टि से यदि ग्राम का उल्लेख होता, तो उसमे नगर नही शामिल माना जाता था। उदाहरणार्थ, यदि किसी से पूछा जाता कि आप कहाँ से आ रहे है, और यदि वह इसके उत्तर मे कहता कि ग्राम से नही, तो सुतरा यह अर्थ समझ लिया जाता था कि नगर से आ रहा है। इसलिए ग्राम भिन्न था और नगर भिन्न। तात्त्विक अन्तर न होने पर भी सस्त्याय (रिवाज) विशेष के कारण ग्राम, घोष, नगर और सवाह ये भेद बन गये थे। भाष्य के मत से ग्राम कहने से नगर का भी ग्रहण होना चाहिए।[6]

ग्राम-रचना—ग्राम शाला-समुदाय, अर्थात् घरो के समूह को कहते थे। गाँव जल गया,

---

१. कः पुनरार्यनिवासः? ग्रामो घोषो नगरं संवाह इति।—२-४-१०, पृ० ४६५।

२. ४-३-१२७, पृ० २५३।

३. ६-२-८५।

४. १-१-६३, पृ० ४१४।

५. ५-३-७२, पृ० ४७०।

६. ७-३-१४, पृ० १८०।

इसका अर्थ 'घर जल गये' माना जाता था। गाँव के सीमा-चिह्न पत्थर, खाई आदि भी ग्राम मे ही अन्तर्निविष्ट थे। गाँव मे प्रविष्ट हुआ, इसका अर्थ कि ग्राम के सीमासूचक चिह्नो के भीतर आना था। ग्राम कहने से ग्रामनिवासियो का भी वोध होता था। गाँव गया, गाँव आया का अर्थ गाँव मे रहनेवाले लोग गये या आये, ऐसा समझा जाता था। गाँव से सम्बद्ध अरण्य, स्थण्डिल और सीमा-सूचक वस्तुएँ सब गाँव का अग मानी जाती थी। 'गाँव मिल गया' का अर्थ था कि गाँव की वस्ती, खेत, अरण्य, तट, नदी आदि सब मिल गये। इसीलिए, वे दो गाँव अनन्तर या पडोसी माने जाते थे, जिनके अरण्य, खेत तथा सीमाएँ परस्पर जुडी रहती थी, भले ही उनके बीच मे नदी या पहाडी का व्यवधान हो। इस प्रकार के व्यवधान उनके आनन्तर्य मे वाधक नही माने जाते थे।[१]

ग्राम एक मकान के भी होते थे और वडे भी।[२] प्राय सभी जाति के लोग ग्रामो मे निवास करते थे। जिस गाँव मे एक ही जाति या वर्ण की प्रमुखता होती थी, उसमे भी कम-से-कम लुहार, कुम्हार, वढई, नाई और धोवी ये पाँच कारु (शिल्पी) अवश्य रहते थे।[३] जिस जाति के लोग गाँव मे अधिक रहते थे, उसी के नाम पर गाँव का नाम पड जाता था, जैसे 'ब्राह्मणग्राम'। गाँव का मुखिया ग्रामणी कहलाता था।[४] गाँव की सीमा से लगे हुए सीमा से वाहर या भीतर के घर अन्तर-गृह कहलाते थे। चण्डाल, मृतप आदि लोगो के ये घर होते थे। ये लोग नगरवाह्य होते थे।[५] एक ही ग्राम मे रहनेवाले समानग्रामिक कहलाते थे।[६]

ग्राम्य अरण्य—गाँव चारो ओर से अरण्यो से घिरे रहते थे।[७] आम के वगीचे[८] न्योग्रोधो के समूह, शिरीष आदि के वृक्ष वस्ती के चारो ओर लगाये जाते थे। उनकी सीमाएँ या तो नदी से निश्चित की जाती थी या सीमा-वोधक चिह्न वनाये जाते थे। गिरि, कठिन (झाडियाँ),[९] प्रस्तार, वन,[१०] जगल आदि से भी सीमा निश्चित की जाती थी।

ग्राम-पानीय—गाँव के भीतर पानीय होते थे।[११] सभी गाँवो मे पानी की व्यवस्था थी। एतदर्थ लोग कुएँ खोदते थे। भाष्यकार ने कहा है कि कूपखानक कूप खोदते समय धूल-मिट्टी

---

१. १-१-७, पृ० १५५।

२. एकशालो ग्राम.।—१-१-२१, पृ० २०१।

३. ब्राह्मणग्राम आनीयतामित्युच्यते तत्र चावरतः पन्चकारुकोभवति।—१-१-४८, पृ० २९५।

४. १-१-३९, पृ० २४७।

५. १-१-३६, पृ० २३८ तथा वही, काशिका।

६. ४-३-६०, पृ० २३७।

७ १-१-७, पृ० १५५।

८. १-१-५६, पृ० ३४२।

९. ४-४-७२।

१०. ७-३-२५।

११. ग्रामे ग्रामे पानीयम्।—८-१-१, पृ० २५८।

से अवकीर्ण हो जाता है, किन्तु जब कुएँ मे पानी आ जाता है, तब उस पानी से धूल-मिट्टी तो धुल ही जाती है, अन्य भी बहुत-सा लाभ[1] होता है। कुओ के पास पशुओ के पीने के लिए पानी के हौज बनाये जाते थे, जो निपान कहलाते थे।[2] आदमियो के लिए भी प्याऊ बनाये जाते थे, जिन्हे प्रपा[3] कहते थे। निपान को आहाव भी कहते थे; क्योकि यही खडा होकर गाँव के पशु चरानेवाला आगवीन पशुओं को खोलने के लिए हाँक मारता था।[4] कुएँ समय-समय पर साफ किये जाते थे। जो लोग यह काम करते थे, वे उदगाह[5] कहलाते थे। इसी प्रकार कुओं से पानी ढोनेवालो को उदहार या उदकहार और जिस काँवर से वे पानी ढोते थे, उसे उदवीवध या उदकवीवध कहते थे।[6] उदहार प्राय. कहार होते थे।

ग्राम-परिसर—गाँव के चारो ओर की भूमि तीन भागों मे बँटी रहती थी—सीत्या,[7] गोचर[8] और ऊपर।[9] सीत्याभूमि केदारखण्डो मे विभक्त थी, जिसमे अन्न बोया जाता था। गोचर भूमि पशुओ के चरने के लिए नियत थी। वन्ध्या भूमि को ऊपर कहते थे। गोचर भूमि मे चरनेवाले ग्राम्य पशुसंघो का उल्लेख पाणिनि ने भी किया है।[10] गाँव का वह क्षेत्र, जहाँ गाँव के पशु प्राय. बैठते थे या बँधते थे, गोष्ठ कहलाता था। जहाँ एक बार गोष्ठ रहा हो, किन्तु बाद मे उखड़ गया हो वह स्थान गोष्ठीन कहा जाता था।[11] गोष्ठ गाँव के बाहर पशुओं के बाड़े होते थे, जिनका स्थान आवश्यकतानुसार बदलता रहता था। जब एक स्थान आशितंगु या आशितंगवीन हो जाता था[12], तो गोपाल लोग दूसरे स्थान मे गोष्ठ बना लेते थे। गाँव मे सेवक और नायक भी होते थे और जिन गाँवो से वे चले जाते थे, उन्हे विसेचक और विनायक कहते थे।[13]

नगर-निर्माण—नगर शब्द मत्वर्थ (वाला) मे नग शब्द के आगे र प्रत्यय होकर बना है, जिसका अर्थ है नग, अर्थात् वृक्षोवाला।[14] भाष्यकार ने पृथक् वार्तिक द्वारा नगर की व्युत्पत्ति

---

१. कूपखानकः कूपखनन् मृदा पांसुभिश्चावकीर्णो भवति सोऽप्सु सञ्जातासु तत एव तं गुणमासादयति येन सचदोषो निर्हण्यते। भूयसा चाभ्युदयेन योगो भवति।—आ० १, पृ० २४।

२. ३-३-७४।

३. ३-३-५८, पृ० ३०८।

४. वही, ३-३-७४।

५. ६-३-६०।

६. वही।

७. ४-४-९१।

८. ३-३-११९, पृ० ३१८।

९. ४-२-१०७, पृ० ४१६।

१०. १-२-७३।

११. ५-२-१८, गोष्ठ शब्देन सन्निहितगोसमूहो देश उच्यते (का०)।

१२. ५-४-६ काशिका।

१३. १-४-६०, पृ० १९१।

१४. ५-२-१०७, पृ० ४१६।

प्रतिपादित की है। अन्यत्र भी उन्होंने नगर को वनस्पतियो से युक्त कहा है।[1] भाष्यकार के इन कथनो से तत्कालीन नगर बसाने की पद्धति पर प्रकाश पडता है। नगर ऐसे ही स्थानो पर बसाये जाते थे, जहाँ जल की पूरी सुविधा हो, हरी-भरी उपजाऊ भूमि हो और जहाँ वनस्पतियो का आधिक्य हो। ऐसे स्थान मे नगरकार लोग सर्वप्रथम नगर-सीमा निश्चित करते थे।[2] भाष्य मे नगरकार शब्द का बार-बार उल्लेख नगर-निर्माण-कला का उत्कर्ष सूचित करता है। नगर-निर्माण करने-वाले यात्रियो का विशेष वर्ग इस कार्य के लिए उत्तरदायी होता था। ये लोग पहले परिखा और प्राकार तैयार करते थे। एतदर्थ उपयुक्त भूमि का चुनाव करना पडता था। परिखा (चतुर्दिक् खाई) के योग्य भूमि पारिखेयी कही जाती थी।[3] परिखा-युक्त नगर को पारिख और उसमे होने वाली वस्तु को पारिखीय कहते थे।[4]

नगर-प्राकार—नगर की दूसरी महत्त्वपूर्ण वस्तु थी उसके प्राकार। परिखा और प्राकार बाह्य आक्रमणो से नगर की रक्षा के लिए बनाये जाते थे। पतजलि ने जहाँ अनेक महत्व-पूर्ण नगरो का उल्लेख (प्राकार के लिए भी पहले से ही उचित भूमि और मजबूत ईंटो का चुनाव कर लिया जाता था)[5] किया है, वहाँ वे उनके प्राकारो का उल्लेख करना नही भूले हैं। पाटलिपुत्र[6] और स्रुघ्न[7] के प्राकारो का विशेषत , तथा अन्य नगरो के प्राकारो का सामान्यत उल्लेख उन्होने किया है।[8] प्राकार इतने ऊँचे और चौडे बनते थे कि उनके ऊपर से आवागमन की व्यवस्था रहती थी। प्राकार ईंटो से बनाये जाते थे।[9]

नगर-प्रसाद—प्रासाद नगर की तीसरी विशेषता थी। प्रासाद महलो को कहते थे, जो उच्च घरो से भिन्न होते थे। उच्चता, विस्तार और रचना सभी दृष्टियो से ये अधिक महत्त्वशाली थे। इनसे नगर का गौरव बढता था। इसीलिए, भाष्य मे स्रुघ्न[10] और पाटलिपुत्र[11] के प्रासादो का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है। प्राकार सम्पूर्ण नगर की वस्तु थी, किन्तु प्रासाद व्यक्तिगत सम्पति[12] थे। प्रासादवासी लोगो का सामाजिक महत्त्व अधिक था। प्रासादवासी ऊपरी मजिलो मे रहते थे।

---

१. १-१-५१, पृ० ५५१।
२. १-१-३९, पृ० २४७।
३. ५-१-१७।
४. १-१-५८, पृ० ३८०।
५. ५-१-१६। प्राकार आसामिष्टकानां स्यात् प्राकारीया इष्टकाः प्राकारीयो देशः।—वही, काशिका।
६. ४-३-१३४, पृ० २५८ तथा ४-३-६६, पृ० २३९।
७. ४-३-३९, पृ० २३३।
८. ६-३-१२२, पृ० ३६४।
९. ५-३-१००।
१०. ४-३-३९, पृ० २३३।
११. ४-३-१३४, पृ० २५८।
१२. ५-१-१३, पृ० ३०४।

सामान्य गृहवाले नीचे भूमि पर रहते थे। भाष्यकार ने इन्हे क्रमश प्रासादवासी और भूमि-वासी कहा है। कुछ लोग उभयवासी भी होते थे। इनके पास प्रासाद भी थे और सामान्य गृह भी।[१] प्रासाद मे कई मजिलें होती थी। उनकी उच्चता भी ध्यान आकृष्ट करती थी। प्रासाद पर चढकर देखने का अर्थ था ऊँचे चढकर देखना।[२] इसीलिए, गृहो के प्रवेश-संस्कार से सम्बन्ध रखनेवाले अनुप्रवचन (मत्र) गेहानुप्रवेशनीय कहे जाते थे, किन्तु प्रासाद के प्रवेश से सम्बन्ध रखनेवाले प्रासादारोहणीय।[३] प्रवेश और आरोहण शब्द इन दोनो का अन्तर स्पष्ट करते हैं।

नगर, प्राकार और प्रासाद इन तीनो शब्दो के लिए पतजलि को स्वतन्त्र वार्त्तिको का निर्माण करना पडा है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि पाणिनि और कात्यायन के समय तक ये शब्द अधिक प्रचलित न थे। प्रसाद और प्रकार से प्रासाद और प्राकार का भेद भाष्यकार ने इन्हे कृत्रिम कहकर स्पष्ट किया है।[४]

प्रासादो के अतिरिक्त नगर में राजकीय निवास, राजसभा,[५] इनसभा, कोष्ठागार,[६] भाण्डागार आदि राजकीय अगार, शुल्कादि की[७] शालाएँ, शुण्डागार, प्रपा[८] या पानागार तथा आपण[९], प्रेक्षागृह[१०] आदि होते थे। आगारों का दायित्व उनमे नियुक्त अधिकारियो पर होता था। शुल्क-शालाओ और पानागारो की व्यवस्था के लिए भी राजकीय कर्मचारी[११] रहते थे।

नगर भाग—नगर के दो भाग होते थे—अन्तर और वाह्य। साधारण नागरिक 'पुर' के अन्तर भाग मे रहते थे।[१२] चण्डालादि की वस्ती वाह्य भाग मे होती थी।[१३]

नगर-मार्ग—नगर के मार्ग गाँव की गलियो से चौड़े होते थे—इतने चौड़े कि उनपर रथ आ-जा सकें। ऐसे मार्ग रथ्या कहलाते थे।[१४] इधर-उधर से आनेवाले मार्ग यत्र-तत्र एक दूसरे

---

१. १-१-८, पृ० १५७।
२. २-३-२८, पृ० ४२५।
३. ५-१-१११, पृ० ३४५।
४. ६-३-१२२, पृ० ३६४।
५. २-४-२३।
६. ४-४-७०।
७. ४-४-६९।
८. २-१-१, पृ० २२८।
९. ४-२-१०४, पृ० २०८।
१०. ४-२-८०।
११. ४-४-७०।
१२. १-१-३६, पृ० २३८ तथा काशिका।
१३. वही।
१४. ५-१-६, पृ० २९८।

को काटते थे और इस प्रकार द्विपथ, त्रिपथ और चतुष्पथ बनते थे।[1] भाष्यकार ने दीर्घकेशी तथा बहुत श्वानोंवाली रथ्याओ का जिक्र किया है।[2]

नगर-द्वार—प्रत्येक नगर मे चार मुख्य द्वार होते थे, जिनपर द्वारपाल नियुक्त रहते थे।[3] ये द्वारपाल आवागमन पर नियन्त्रण रखते थे तथा निश्चित नियमो के अनुसार द्वार-कपाट बन्द करते थे। द्वारो के नाम रखने का भी नियम था। नगर का द्वार जिस प्रमुख नगर की ओर खुलता था, उसी के आधार पर उसका नाम रखा जाता था। उदाहरणार्थ, यदि कान्यकुब्ज नगर का द्वार मथुरा की ओर होता, तो उसे माथुर द्वार कहते थे। इसी प्रकार स्रौघ्न या पाटलिपुत्रक द्वार[4] थे। इन द्वारों से होकर प्रसिद्ध नगरो को जानेवाले मार्ग का नाम भी गन्तव्य नगर के नाम पर पड जाता है। उदाहरणार्थ, कान्यकुब्ज से स्रुघ्न या मथुरा जानेवाला मार्ग स्रौघ्न या माथुर कहा जाता था।[5] भाष्यकार ने इस प्रसग मे 'अभिनिष्क्रामति द्वारम्' (४-३-८६) सूत्र में 'अभिनिष्क्रामति' शब्द पर आपत्ति करते हुए कहा है कि सूत्र में 'अभिनिष्क्रामति' शब्द का प्रयोग ठीक नही है, क्योकि अचेतन द्वार निष्क्रमण नही कर सकता। जाने-आने की क्रिया तो चेतन पर ही अवलम्बित रहती है। इसलिए, 'अभिनिष्क्रमण द्वारम्' कहना अधिक ठीक होता। काशिका ने कहा है कि द्वार अभिनिष्क्रमण-क्रिया का करण होता है। उसकी स्वातन्त्र्य से विवक्षा की गई है। पतंजलि ने उक्त आपत्ति का उत्तर स्वय ही दे दिया है कि अचेतनों मे चेतनावालो के समान उपचार देखा जाता है। जैसे घर का कोना बाहर निकल आया है या घर का कोना भीतर धँस गया है। इसी प्रकार, यह द्वार मथुरा के सामने निकलता है आदि प्रयोग ठीक हैं।[6]

भाष्यकार ने ऐसे अनेक मार्गो का उल्लेख किया है, जो एक नगर से दूसरे नगर को जाते थे। स्रुघ्न, साकेत, मथुरा और पाटलिपुत्र[7] जानेवाले मार्ग बडे नगरो से सम्बद्ध थे।

परिखा, प्राकार और द्वार नगर की प्रतिरक्षा के प्रमुख साधन थे। आक्रमणकारी प्राकार तोड़कर ही नगर पर अधिकार कर सकता था।[8]

गन्धर्वनगर—भाष्यकार ने इन नगरो से भिन्न जादू-से प्रतीत होनेवाले उन गन्धर्वनगरो की भी चर्चा की है, जो दूर से तो दिखाई देते हैं, किन्तु पास जाने पर हाथ नही लगते।[9]

---

१. २-३-५०, पृ० ४७६।
२. ४-१-५४, पृ० ६६ तथा ४-१-१३, पृ० ३४।
३. ३-२-१, पृ० २०१।
४. ४-३-८६।
५. ४-३-८५।
६. ४-३-८६, पृ० २४३।
७. १-३-२५, पृ० ६४।
८. बाह्वादिगण, ४-१-९६।
९. ४-१-१३, पृ० १८।

अध्याय ८

गृह-सामग्री

सामान्य ग्रामीण घरो मे रहनेवाली दैनिक उपयोग की वस्तुओ का उल्लेख भाष्य मे मिलता है। इनमे शयन-सामग्री, पात्र तथा घरेलू काम के हथियार आदि हैं।

शयन-सामग्री—शयन-सामग्री मे विष्टर[1] विछौने या आसन के लिए प्रयुक्त होता था। विष्टर के अग कौन थे, इस वात का पता भाष्य से नही चलता। छोटी खाटे, जिन्हे मचा या मचक[2] कहते थे, वालको के सोने-सुलाने के काम आती थी। इन पर पडे वालक खिलखिलाया[3] करते थे। खट्वा (खाट) पुरुषो के सोने के काम आती थी। इसे शय्या भी कहते थे। शय्या सज्ञा शब्द था, जो खाट के लिए ही प्रयुक्त होता था, हर शयन के लिए नही।[4] यह मच से वड़ी होती थी। सम्भव है, मच पालने को भी कहते हो। अपढ लोग भूल से मच को मज भी कह जाते थे।[5] खट्वा की चर्चा भाष्य मे वार-वार आई है।[6] भाष्य मे खट्वा से वस्तुओ के खरीदने का भी पता चलता है।[7] किसी-किसी परिवार मे वहुत खाटे होती थी। उसे खट्वाढक कहते थे।[8] खट्वा शयन के साधनो मे एक थी। सामान्यतया लेटने के आधार को शयन और वैठने के आधार को आसन[9] कहते थे। जिसके पास खट्वा नही होती थी, वह घास-फूस भूमि पर विछाकर सो जाता था।[10]

वैठने के साधनो मे द्विपदिका और त्रिपदिका घरो मे रहती थी।[11] ये दो और तीन पॉव की लकड़ी की तिपाई-जैसी वस्तुएँ थी।

---

१. ८-३-९३।
२. आ० १, पृ० ३२।
३. मञ्च हसन्ति।—४-१-४८, पृ० ५९।
४. ३-३-९९।
५. आ० १, पृ० ३२।
६. आ० १, पृ० ३४।
७. ४-१-३, पृ० २६।
८. आ० १, पृ० ३६।
९. २-३-२८, पृ० ४२५।
१०. ३-२-११०, पृ० २४५।
११. १-१-५७, पृ० ३५२।

खट्वा को पर्यंक या पल्यक और शय्या भी कहते थे।[1] आसन्दी या आरामकुर्सी का भी व्यवहार होता था।[2] यह प्रतिष्ठित लोगो का आसन था। लँगडे या अपाहिज लोग पर्प के सहारे चलते थे। इन्हे पर्पिक कहते थे।[3] पर्प वैसाखी तथा पहियेदार 'कुर्सी दोनो को कहते थे।

पात्र—दैनिक व्यवहार के पात्रो मे घट, घटी, कुम्भ, कलश, कलशी, कुम्भी, महाकुम्भ, करक और कमण्डलु जलपात्र थे। घटी छोटे लोटे के वरावर का मिट्टी या धातु का पात्र था।[4] यज्ञादि मे वेदी के पास अनेक घाटियो मे जल भरकर रखा जाता था। घट उससे वडा था और सामान्यत मिट्टी का वनता था।[5] कलशी घटी के आकार की होती थी।[6] कुम्भ घट से भी वडा होता था।[7] कुम्भी मलैया या मिट्टी की छोटी-सी मटकी थी। महाकुम्भ, करसी के आकार का होता था, जिससे एक मन तक वस्तु समा सकती थी। कुलाल ये सव पात्र वनाते थे। जिसे घट की आवश्यकता होती थी, वह कुम्भकार के पास जाकर आवश्यकतानुसार वनवा लेता था।[8] घटी और घटिका समान थी।[9] इन्हें भी कुम्हार वनाते थे। कमण्डलु वडे लोटे के आकार का ब्रह्मचारियो का जलपात्र[10] था। सामान्य लोटे को करक कहते थे।[11] छात्र प्राय 'कमण्डलुपाणि' होते थे।

स्थाली (वटलोई) ओदन या सूप वनाने के काम आती थी।[12] पिठर थाली या छोटी थाली के आकार का (वेला या कटोरा) था।[13] पिठर काँसे का वनता था, जो वाद्य के समान वजाने के काम भी आता था।[14] स्थाली के विभिन्न आकार थे। भिन्न-भिन्न परिमाण के तन्दुलो के पकाने के लिए अलग-अलग स्थालियाँ रहती थी, जिनके नाम उनकी पकाने की योग्यता के आधार पर पड जाते थे। जैसे, एक द्रोण चावल पकाने की योग्यता रखनेवाली स्थाली द्रौणी या द्रौणिकी कहलाती थी। इसी प्रकार पात्रीणा, आढकीना, आचितीना, द्व्याढकिकी, द्विकुलिजीना आदि स्थालियाँ थी।[15]

---

१. ८-२-२२, पृ० ३४५।
२. ८-२-१२, पृ० ३३७।
३. ४-४-९, पृ० २७४ तथा ४-४-१०।
४. आ० १, पृ० ५ तथा ३-२-९, पृ० २११।
५. आ० १, पृ० १७।
६. ४-३-५६।
७. ३-१-९२, पृ० १६७।
८. आ० १, पृ० १७।
९. आ० १, पृ० १६।
१०. १-४-२, पृ० ११९ तथा २-३३-२१, पृ० ४२३।
११. ८-२-८४, पृ० ३९०।
१२. २-१-३६, पृ० २६४।
१३. १-४-१०१, पृ० २०८।
१४. ४-४-५५, पृ० २८०।
१५. ५-१-५२ से ५५, पृ० ३२५।

स्थाली के समान उखा या कटाह भी पकाने का पात्र था और उसके नाम भी स्थाली के समान प्रास्थिक आदि, पकाने की योग्यता के आधार पर होते थे।[१]

इनके अतिरिक्त कुण्डिका या कुण्डी, अमत्र, कस या कसपात्री या कास्यपात्री, कपाल, शराव आदि नित्य व्यवहार के पात्र थे। कुण्डी (कूँडी) पत्थर या लकड़ी की होती थी।[२] थोडे वडे भेद से इनके अनेक आकार थे। नाद को भी कुण्डिका कहते थे। यह मिट्टी की वनती थी। भाष्य मे कुण्डिका से पानी टपकने का उल्लेख है।[३] अमत्र कठौती या उसी प्रकार का अन्य पात्र था, जिसमे भात आदि परोसा जाता था।[४] कस कटोरी या कटोरा था, जो काँसे या ताँबे का वनता था। कस दूध-भात खाने के काम आता था।[५] यह भी भिन्न-भिन्न आकारो का वनता था। लौह-कस (ताँबे का कटोरा) इतना चमकता था कि वेरो की टोकरी (वदर-पिटक) के वीच रख देने पर ऐसा प्रतीत होता कि उसमे वेर भरे हुए है।[६] कस-पात्रो का प्रचार सम्पन्न घरो मे ही विशेप था और यह गौरव की वात मानी जाती थी।[७] कपाल कस से वड़े आकार के होते थे।[८] शराव प्याले के आकार के होते थे। शराव और कपाल मिट्टी के वने होते थे। शरावो का प्रचार अपेक्षाकृत अधिक था।[९] मिट्टी के पात्र पुराने होने पर वदल दिये जाते थे। नई कुण्डी और नई घटी का महत्त्व विशेप था।[१०] काशिकाकार ने 'भक्ताख्यास्तदर्थेपु' (६-२-७१) सूत्र के भाष्य मे भिक्षा-कस, श्राणा-कस और भाजी-कस शब्दो का उल्लेख किया है। कस जिस वस्तु के लिए व्यवहार मे आते थे, उसी के आधार पर उनके नाम पड़ जाते थे। ऋग्वेद मे भी अमत्र का उल्लेख है। वह सोमपात्र के रूप मे प्रयुक्त होता था।[११] उखा खाद्य वस्तुओ के तलने के काम आती थी। यह कढाई का प्राचीन रूप था। ऋग्वेद के यज्ञ-प्रसगों मे इसका वर्णन है और वहाँ वह मृण्मयी वतलाई गई है।[१२]

पेषणादि-साधन—भोजन से सम्वद्ध वस्तुओ मे शूर्प और तितउ (चालनी) अन्न को साफ करने के काम आते थे।[१३] उलूखल अन्न को कूटने के काम आता था। मूसल इस काम मे उसका

---

१. ४-२-१७ तथा ५-१-५२।
२. ४-१-४२ काशिका।
३. ३-१-८७, पृ० १५५ तथा आ० १, पृ० १६।
४. ४-१-४२ काशिका।
५. १-३-१, पृ० १४।
६. १-२-३०, पृ० ५०३।
७. ८-२-३, पृ० ३१७।
८. आ० १, पृ० १९।
९. ४-२-१४ काशिका।
१०. १-१-४४, पृ० २५९।
११. ३-३-२०, पृ० २९९ तथा आ० १, पृ० ८।
१२. २-१-३६, पृ० २८८ तथा १-१-५०, पृ० ३०७।
१३. आ० १-१६२-१३, १४; तैत्ति० सं० ४-१-६-३ तथा वाजस० सं०, ११-५९।

साथी था।[1] तिलपीडनी प्रत्येक घर मे नही होती थी। तेली के घर मे होती थी, तथापि उसका महत्त्व प्रत्येक परिवार के लिए था।

उदञ्चन-साधन—उदकोदचन, उदक (तेल ऊपर निकालने का साधन) कुएँ से पानी खीचने की रस्सी, अश्मा (पीसने की सिल) और दृषद् (चक्की) ये गृहोपयोगी वस्तुएँ प्राय सभी घरो मे थी। उदक पीपे मे से तेल निकालने के लिए था।[2] उदकोदचन धातु-पात्र था, जिससे घडे मे से पानी निकालते थे। ऐतरेय ब्राह्मण मे तथा शतपथ-ब्राह्मण मे उदचन शब्द पानी खीचने की बाल्टी के अर्थ मे मिलता है।[3] रस्सी को भाष्यकार ने पाणिसर्ग्या कहा है।[4] यह दुलडी या तिलडी बनाई जाती थी। रज्जु के बनाने या बटने को 'वर्त्तन' कहते थे। बटने के बाद रज्जु काष्ठ-स्तम्भ मे रगडकर चिकनी की जाती थी और तब वह सघुष्ट या सघुपित हो जाती थी।[5] इसके बाद दुबारा ऐंठकर वह तिलडी की जाती थी[6] और तब उससे पानी खीचा जाता था। अश्मा[7] (सिल) और दृपद्[8] (चक्की) ये दोनो पीसने के काम आते थे। दही मथने की मटकी तथा रई (मन्थ) भी प्राय घरो मे रहते थे।[9]

छिदा-साधन—असि,[10] परशु,[11] दात्र,[12] इध्म-प्रव्रश्चन,[13] पलाश-शातन[14] (हँसिया), आख, आखर, आखनिक[15] या आखनिकवक, वाशी,[16] वृक्षादन[17] और शकुला[18] सामान्य व्यवहार के औजार थे। असि और परशु काटने के काम आते थे। दात्र (गडासी) को कहते थे। इध्म-प्रव्रश्चन कुल्हाडी का नाम था, जो लकडी काटने के काम आती थी। पलाश-शातन पेडो से पत्ते छाँटने के

---

१. आ० २-१४-१।
२. ३-३-१२३, पृ० ३१८।
३. ऐत० ब्रा० ७-३२ तथा शत० ब्रा० ४-३-५-२१।
४. ३-१-१२४, पृ० १९२।
५. १-१-४४, पृ० २७५।
६. ५-१-११९, पृ० ३५५ तथा १-३-२८, पृ० ६५।
७. १-३-१, पृ० ८।
८. ४-३-२५, पृ० २३०।
९. ५-१-११०।
१०. १-४-१, पृ० १०९, ११०।
११. २-१-२, पृ० २६४।
१२. २-१-३२, पृ० २८५।
१३. २-२-८, पृ० ३४२।
१४. वही।
१५. ३-३-१२५, पृ० ३१९।
१६. ४-१-३, पृ० १८।
१७. वही।
१८. २-१-१, पृ० २२७।

काम आता था। आख या आखर फावडे को कहते थे। खोदने मे इसका प्रयोग होता था। वृक्षादन कुल्हाडी का दूसरा नाम था। वाशी या कुल्हाडी और वृक्षादन एक ही औजार का नाम था। शकुला सरौते को कहते थे, जो सुपारी आदि काटने के काम आता होगा।

भरनी और कोठे—पदार्थों को रखने के लिए जिन पात्रों का व्यवहार होता था, उनमे घृतघट और तैलघट भोजन से सम्वन्ध रखते थे। ये अन्य घटो से भिन्न थे और केवल घृत तथा तैल रखने के ही काम आते थे। घी या तेल निकाल लेने पर भी उनकी घृतघट या तैलघट संज्ञा अक्षुण्ण रहती थी। ये घट कभी-कभी घी और तेल खर्च हो जाने पर अग्नि मे तपाये जाते थे और तृण की कूची से मलकर साफ भी किये जाते थे, जिससे उनमे रखे गये घृत या तेल खराव नही होते थे।[1] कुतुप चमडे की कुप्पी होती थी, जो तैलादि रखने के काम आती थी। कुतू कुतुप से वडी होती थी। कुतू आवपन थी।[2] उसमे भरकर अन्न बोया जाता था। उष्ट्रिका भी आवपन-पात्र[3] था। सम्भवत, ऊपर का भाग (गरदन) ऊँट के समान लम्वा होने के कारण इसका नाम उष्ट्रिका पडा था। दृति (मशक) चमडे की थैली के रूप मे व्यवहृत होती थी। दृति मे भरी हुई वस्तु, दार्तेय कहलाती थी।[4] भस्त्रा, भस्त्रिका या भस्त्रका चमडे की बनी मशक-जैसी वस्तु थी, जो पदार्थ भरने के काम आती थी।[5] लुहार की चमडे की धौकनी को भी भस्त्रा कहते थे। गोणी और गोणी-तरी वडे और छोटे आकार की वोरियाँ थी, जो प्राय घरों मे रहती थी और अनाज भरने के काम आती थी।[6] गोणी का प्रचलन आज भी ग्रामो मे है। टट्टू पर अन्नादि लादनेवाले वनिये गोणी का ही उपयोग करते हैं। टट्टू की पीठ पर दो गोणियाँ दायें-वाये लटकाकर परस्पर जोड दी जाती है। वीवध (काँवर या वहेगी) पानी या अन्य सामान ढोने के काम आती थी।[7]

अन्न भरने के लिए मिट्टी के अनेक पात्रो का प्रयोग किया जाता था। रवी या खरीफ की उपज इनमे भरकर रखी जाती थी, जिससे चूहे या कीडे उसे नष्ट न कर सके। ऐसे पात्रो मे कुम्भ, कुम्हार का बनाया हुआ मटका होता[8] था। कलश और कलशी भी, जिनका अपभ्रंश रूप करसा और करसी आज भी प्रचलित है, अनाज भरने के काम आते थे।[9] कुशूल[10] उससे वडा मिट्टी का वना मटका या डेहरा होता था और कुम्भी कुम्भ का छोटा सस्करण।[11] कुशूल मे वहुत अधिक

---

१. २-१-१, पृ० २४०।
२. ५-३-८९ काशिका।
३. ४-१-३, पृ० २२।
४. ४-३-५६।
५. ४-१-६४, पृ० ७४ तथा ४-४-१६ तथा १-१-७२, पृ० ४५७।
६. १-२-५०, पृ० ५४९।
७. ४-४-१७, पृ० २७५।
८. ४-३-५६ तथा ६-४-१७४, पृ० ५०७।
९. ८-४-१३, पृ० ४८१ तथा १-३-७, पृ० २७।
१०. ६-१-१०२ तथा ४-१-१, पृ० ९।
११. १-३-७, पृ० २७।

अनाज समा जाता था। इसे कन्दु या कोष्ठ (कोठा) भी कहते थे।[१] इनका मुंह अनाज भरने के बाद ऊपर से वन्द कर दिया जाता था, किन्तु नीचे की ओर अनाज निकालने के लिए ऐसा छेद रखा जाता था, जिसे आवश्यकतानुसार खोला जा सके। इस छेद को कुशूल-विल कहते थे। कूप और शाला खत्तियो के रूप थे। भूमि के भीतर खोदकर कच्ची या पक्की खत्तियाँ भी अनाज रखने के लिए वनाई जाती थी। इनके मुख को भी कूपविल और शालाविल कहते थे। छोटा कुशूल कुशूली कहलाता था।[२]

आस्तरण—घरों मे भूमि पर वैठने के समय जिस आस्तरणो का उपयोग होता था, उनमे कट मुख्य था। कट काश तथा अन्य अनेक तृणो से वनाये जाते थे।[३] चर्म का व्यवहार विछौने के रूप मे भी होता था। द्वीपी का चर्म विछाने मे श्रेष्ठ माना जाता था, किन्तु वह सव घरो मे उपलव्ध नही था।[४]

---

१. २-१-१, पृ० २५३।
२. ४-१-१, पृ० ९।
३. ३-१-९२, पृ० १६८।
४. २-३-३६, पृ० ४३१।

अध्याय ९

वेशभूषा

सामान्य वस्त्र—भाष्यकार ने परिधानीय वस्तुओ मे वस्त्र और वसन का उल्लेख किया है। वस्त्रान्त और वसनान्त वस्त्र के अवयव ही होते है।[1] उनके इस कथन से पूरे बड़े वस्त्र की कल्पना होती है। उन्होने चीर, चीवर और चेल का भी उल्लेख किया है। वस्त्र और वसन सामान्यत सिले या विना सिले हो सकते थे। चीर विना सिला, कम चौडा, खण्डित और छोटा वस्त्र होता था। चीवर शब्द सन्यासियो के वस्त्रो के लिए प्रयुक्त होता था।[2] जैन, वौद्ध भिक्षुओं मे यह शब्द विशेष प्रचलित था। चेल सिले-सिलाये या विना सिले पहने हुए वस्त्र के लिए प्रयुक्त हुआ जान पडता है। इतनी हल्की वर्षा, जिससे खुले स्थान मे चलनेवाले के वस्त्र गीले हो जायँ, 'चेलक्नोप' कहलाती[3] थी। सामान्य वस्त्र के अर्थ मे पट शब्द का भी व्यवहार होता था।[4]

तन्तु-भेद—वस्त्र कार्पास, ऊमा, भगा, कौशेय और ऊर्णा के तन्तुओं से वनाये जाते थे। भाष्यकार ने कार्पास के लिए मृदु विशेषण का प्रयोग किया है।[5] वे कार्पास से वस्त्र तैयार करने की सारी प्रक्रिया से परिचित थे। उन्होने कार्पास को 'पिचव्य' कहा है।[6] ऊमा और भगा से वने वस्त्रो को औम या औमिक और भाग्य या भागीन कहते थे।[7] ऊर्णा या ऊन से वने वस्त्र और्ण या और्णक कहलाते थे।[8] कोश से वने वस्त्रो को कौशेय कहते थे। कोश वस्तुत. कृमि-कोश होते थे। ये कृमि हरी पत्ती खाकर जीते थे और कोश-प्रजनन करते थे। भाष्यकार ने इस वात पर विचार किया है कि कौशेय को कोश का विकास माना जाय या कोश से सभूत। अन्त मे उन्होंने कोश के विकार को ही कौशेय माना है।[9]

गुण-भेद—इन चारो प्रकार के वस्त्रो मे गुण या अर्हता की दृष्टि से अन्तर रहता था। भाष्यकार ने कहा है कि जिस प्रकार वस्त्र वनानेवाला अधिक वस्त्र तैयार करने का प्रयत्न करता है,

---

१. १-२-१०, पृ० ४८१।
२. ३-१-२०।
३. ३-४-३३।
४. ६-२-१२७ काशिका।
५. ४-१-५५, पृ० ००।
६. ५-१-२, पृ० २९४।
६. ४-३-१५९।
८. वही।
९. ४-३-४२, पृ० २३४।

उसी प्रकार वह उनमे श्रेष्ठता लाने का भी उद्योग करता है।[1] वह चाहता है कि मेरे वस्त्र अधिकाधिक सूक्ष्म हों। सूक्ष्मतर वस्त्र बनाने की बात भाष्यकार ने बार-बार कही है।[2] उन्होंने कहा है कि वस्त्रो की वस्त्रो से स्पर्धा होती है, अर्थात् वस्त्र बनानेवाले वस्त्रो के विषय मे दूसरे वस्त्र बनानेवालो से स्पर्धा करते हैं।[3] इन सब उद्धरणो से प्रमाणित होता है कि भाष्यकार के युग मे सूक्ष्म वस्त्रो को बनाने की कला बहुत उन्नत थी और इस दिशा मे जनरुचि भी बहुत जागरूक थी।

वस्त्रो की सिलाई—पहनने मे दोनो प्रकार के वस्त्रो का व्यवहार होता था—बिना मिले और मिले हुए। भाष्यकार ने तीक्ष्ण सुई से सीने का उल्लेख किया है।[4] तीक्ष्ण सूची सूक्ष्मतर वस्त्रो की सिलाई के लिए काम मे आती थी। उन्होंने अच्छी तरह सीकर तैयार किये गये वस्त्रो की ओर सकेत किया है।[5] फटे हुए कपडे के पुन उत्स्यूत या रफू करने का प्रचार भी भाष्यकार के समय मे था।[6]

उत्तरीय और अन्तरीय—काशिकाकार ने शरीर को वास्त्रयुगिक[7] कहा है, अर्थात् वस्त्रयुग से शरीर की शोभा बढती है। यह कथन इस बात का प्रमाण है कि सामान्यत लोग शरीर पर दो वस्त्र धारण करते थे। ये वस्त्र अन्तरीय और उत्तरीय कहलाते थे। अन्तरीय शरीर मे पहना जानेवाला वस्त्र था और उत्तरीय ओढा जानेवाला। ये दोनो मिलकर उपसव्यान कहलाते थे। सामान्यतया उत्तरीय वस्त्र छोटा होता था और अन्तरीय बडा, किन्तु कभी-कभी दोनो का आकार बराबर भी रहता था। भाष्यकार ने 'अन्तर बहिर्योगोपसव्यानयो' (१-१-३६) सूत्र के वार्त्तिको पर टीका करते हुए शका उठाई है कि इस सूत्र मे उपसव्यान शब्द ग्रहण करना निरर्थक है। उपसव्यान शब्द को यदि सूत्र मे निकाल दें, तो बहिर्योग शब्द शेष रह जाता है। उपसव्यान शब्द उप+सम्+वेञ् धातु+ल्युट् प्रत्यय होकर बनता है। इसमे क्रिया का अर्थ 'आच्छादन करना' है। उसके आगे होनेवाले प्रत्यय के कर्म और करण दोनो अर्थ सम्भव हैं। इस प्रकार, उपसव्यान के दो अर्थ हुए—वह वस्त्र, जिससे आच्छादन किया जाय और वह वस्त्र, जिसका आच्छादन किया जाय। उत्तरीय वस्त्र से शरीर का आच्छादन किया जाता है और अन्तरीय वस्त्र का उत्तरीय वस्त्र द्वारा आच्छादन किया जाता है। उत्तरीय शरीर के ऊपर रहता है, इसलिए बहिर्योग कहने से उसका ग्रहण हो जायगा। अन्तरीय वस्त्र का योग या सयोग बहिर्वस्त्र से रहता है, इसलिए उसका भी ग्रहण बहिर्योग कहने से हो सकता है। ऐसी स्थिति मे उपसव्यान की कोई आवश्यकता सूत्र मे नही है। इसका उत्तर वार्त्तिककार ने दिया है कि कभी-कभी उत्तरीय और अन्तरीय दोनो

---

१. यथैवायं द्रव्येषु यतते वस्त्राणि मे स्युरिति एवं गुणेष्वपि यतते सूक्ष्मतराणि मे स्युरिति।—२-१-६८, पृ० ३२६।

२. वही।

३. यावता वस्त्राणि तद्वत्तमपेक्षन्तेपद्वन्तं चापेक्ष्य वस्त्राणं वस्त्रैर्युगपत् स्पर्धा भवति।—वही।

४. तीक्ष्णया सूच्या सीव्यन्।—१-२-२, पृ० २६४।

५. १-१-५६, पृ० ३३५।

६. पुनरुत्स्यूतं वासो देयम्।—१-४-६०, पृ० १९०।

७. ५-१-९९।

वस्त्र विना सिले हुए एक समान लम्बे रहते हैं। उनमे पता नही चल पाता कि कौन उत्तरीय है और कौन अन्तरीय। ऐसे अवसर पर वहिर्योग दिखना कठिन हो जायगा, इसीलिए उपसव्यान शब्द का पृथक् ग्रहण किया है। वार्त्तिककार के इस समर्थन का भाष्य ने खण्डन करते हुए कहा है कि ऐसे अवसरो पर भी समझदार व्यक्ति को पता चलाना कठिन नही होता कि उत्तरीय वस्त्र कौन है तथा अन्तरीय कौन।[१]

उपर्युक्त विस्तृत चर्चा से दो वातें प्रकाश मे आती है। एक तो यह कि वस्त्रो मे कुछ ऐसे थे, जो पहने जाते थे और कुछ ऐसे थे, जो ओढे जाते है। पहने जानेवाले वस्त्र शरीर से चिपके रहते थे और उत्तरीय उनके ऊपर रहते थे। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, अन्तरीय वर्त्तमान धोती या साडी के स्थान पर थे और उत्तरीय चादर या दुपट्टे के स्थान पर। दूसरी वात यह कि कभी-कभी उत्तरीय और अन्तरीय दोनो विना सिले धोती-जैसे रहते थे, परन्तु प्राय दोनो भिन्न प्रकार के होते थे और उनका अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता था।

शाटक—शाटक सामान्यत धोती और साडी को कहते थे। विना सिले निश्चित परिमाण के वस्त्र भी जैसे चादर आदि शाटक ही कहे जाते थे। शाटक का प्रचार वहुत अधिक था। भाष्यकार ने वस्त्रो मे सर्वाधिक उल्लेख शाटक का ही किया है।[२] रगीन वस्त्र का स्मरण करते ही शुक्लाशाटी का चित्र उनके सामने आ जाता है।[३] आच्छादन मे वे शाटक की ही चर्चा करते है—'मै वे ही शाटक पहने हूँ, जिन्हे मथुरा मे पहने था'[४] आदि कथन इस वात के सकेत है कि शाटक पुरुष का अनिवार्य आच्छादन था और शाटी स्त्री का।

शाटक पाँव तक नीचा पहना जाता था, इसलिए उसे आप्रपदीन कहते थे।[५] लडकियाँ अधरोरुक या छोटा लहँगा पहनती थी।[६] शाटक, शाटी और अधरोरुक की गाँठ को नीवी कहते थे। जिस स्थान पर नीवी वाँधी जाती थी, उस स्थान को उपनीवि और उपनीवि के पास प्राय होनेवाली वस्तु औपनीविक कही जाती थी।[७]

शाटक और शाटी का सामान्य मूल्य लगभग एक राजत कार्पापण था। भाष्य मे 'सौ कार्पापणो से खरीदे गये सौ शाटक' यह वाक्य मिलता है।[८] ऐसे शाटको को शत्य कहते थे। यदि सौ रुपयो से खरीदी गई वस्तुएँ सौ न हुई, तो उन्हे शतिक भी कहते थे।

प्रावारक—शाटक के अतिरिक्त प्रावार[९] या प्रावारक का प्रयोग उत्तरीय वस्त्र के रूप मे

---

१. १-१-३७, पृ० २३८।
२. १-१-४५, पृ० २८०।
३. १-१-६४, पृ० ३९६।
४. आ० २, पृ० ४४।
५. ५-२-८।
६. अधरोरुकमेतत्कुमार्याः।—१-२-४५, पृ० ५२७।
७. ४-३-४०।
८. ५-१-२१, पृ० ३१३।
९. ३-३-५४।

होता था। प्रावार को प्रवर भी कहते थे। पाणिनि ने प्रावार को आच्छादन कहा है। प्रावार चादर या शाल को कहते थे। बृहतिका भी आच्छादन था, जो प्रावार के ही समान कन्धो से ओढा जाता था।[१] बृहतिका प्रावार से बडी थी और कमर के नीचे घुटनो तक पहुँचती थी। बृहतिका शब्द इसके लम्बे होने की ओर सकेत करता है। सम्भव है, यह लम्बा सिला हुआ वस्त्र अचकन का पूर्वज हो। यह घुटनो तक लम्बा कुरते जैसा वस्त्र था। पतजलि[२] ने वस्त्र और कम्बल के साथ बृहतिका का उल्लेख किया है, जिससे यह लम्बी चादर-तुल्य ओढना मालूम होता है। प्रावारक का एक भेद वर्णका भी था[३]। तान्तव अर्थ मे वर्णका शब्द प्रचलित था, अन्यथा वर्णिका शब्द का व्यवहार होता था।

कुतप—भाष्यकार ने कुतप वस्त्र[४] की चर्चा की है। उन्होने कुतप वस्त्र पहननेवाले सौश्रुत की 'कुतप-सौश्रुत' सज्ञा बतलाई है। कुतप हल्का, गरम ऊनी कम्बल या शाल होता था। यह पर्वतीय, विशेषत नैपाली ऊन का बना होता था।

उष्णीष—उष्णीष या पगडी बाँधने की भी प्रथा थी। भाष्यकार ने लाल पगडी बाँधकर घूमनेवाले ऋत्विजो[५] की चर्चा एकाधिक बार की है। पगडी का प्रचार इस बात का सकेत देता है कि 'वास्त्रयुगिक' शरीर सामान्यत शोभित माना जाता था। यह निम्नतम मर्यादा थी। वैसे लोग दो से अधिक भी वस्त्र धारण करते थे। इनमे शरीर के उत्तर भाग मे पहना जानेवाला वस्त्र निश्चित ही स्यूत होता था।

उपर्युक्त सब परिधान 'वासस्' कहलाते थे। पहनने के बाद इनकी ठीक तहे बनाकर रख देने की प्रथा थी, जिससे वे गन्दे न दिखे। भाष्य मे दोनो वस्त्रो का तह बनाकर रखने का उल्लेख है।[६] ये दोनो वस्त्र उत्तरीय और अन्तरीय थे।

वस्त्रो का रंग—वस्त्र अनेक रग के होते थे। रग-बिरगे वस्त्रोवाले देवदत्त को भाष्यकार ने विचित्राभरण कहा है।[७] 'तेन रक्त रागात्' (४-२-१) के प्रसग मे भाष्यकार ने नीली, मजिष्ठा, शकल, कर्दम, काषाय, हरिद्रा, पीत आदि अनेक रगो से वस्त्रो के रँगे जाने का उल्लेख किया है। फिर भी, शुक्ल वस्त्र का प्रचार उच्च सस्कृत लोगो मे अधिक था। वस्त्र, शाटी और कम्बल के साथ उन्होने सर्वदा शुक्ल विशेषण का उपयोग किया है।[८] कभी तो 'शुक्लतर' विशेषण भी प्रयुक्त हुआ है। लाल वस्त्र भी प्रयोग मे आते ही थे। भाष्यकार ने कहा है कि दो लाल वस्त्रो के बीच रखा हुआ शुक्ल वस्त्र भी लाल दिखाई देता है।[९]

---

१. ५-४-६।
२. १-२-६९, पृ० ६०३।
३. ७-३-४५, पृ० १९०।
४. २-१-६९, पृ० ३३०।
५. लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति।—१-१-२७, पृ० २२० तथा २-१-६९, पृ० ३२९।
६. प्रभुजति वाससी।—१-३-६६, पृ० ८४।
७. १-४-२ पृ० १८।
८. १-२-४०, पृ० ५०३।
९. १-१-६४, पृ० ५९६ तथा २-२-२४, पृ० ३६१।

कम्वल—कम्वल का व्यवहार प्राचीन भारत में बहुत था। शाटक के समान कम्वल भी निश्चित आकार के तथा निश्चित वजन के बनते थे। सामान्यतया ये ही कम्वल बाजार मे बिकते थे और इन्हे 'पण्यकम्वल' कहते थे।[1] 'पण्यकम्वल' विशिष्ट कम्वलों की सज्ञा थी। सामान्य तौर पर अन्य विक्रेतव्य कम्वलों को भी पण्यकम्वल कहते थे, पर उसके उच्चारण मे समासान्तोदात्त होता था, पूर्वपद प्रकृति-स्वर नही। पण्यकम्वल 'ऊर्णापलशतम्' से बनता था, जिसका वजन लगभग पाँच सेर होता था। एक कम्वल-भर ऊन को कम्वल्य कहते थे।[2] अत, कम्वल्या ऊर्णा का अर्थ पाँच सेर ऊन होता था। कम्वल बनाने के योग्य सामान्य ऊन कम्वलीय कहलाती थी। 'कम्वल्य' संज्ञा शब्द था, जो विशिष्ट परिमाण का द्योतक था। पण्यकम्वलो का प्रचार बहुत अधिक था। कम्वल प्राय शुक्ल वर्ण के बनते थे। शिष्टवर्ग मे शुक्लवर्णीय कम्वलो का प्रचार अधिक था। भाष्यकार ने सर्वत्र शुक्ल कम्वल का ही उल्लेख किया है।[3] कुतप के समान राकव कम्वल भी प्रसिद्ध थे, जो रकु-प्रदेश मे बनते थे। ये कम्वल बडे मजबूत बनाये जाते थे, जो वर्षों नही फटते थे। भाष्यकार ने कम्वल को 'अजरिता' कहा है[4] जिसका अर्थ है, 'न फटनेवाला'।

कन्था—कन्था बडे परिश्रम से बनाई जाती थी। जिसके लिए धैर्य के साथ कला भी अपेक्षित थी। कन्था से सम्बद्ध वस्तु कान्थिक कहलाती थी। कन्था का प्रचार बहुत अधिक था यह बात इसी से प्रमाणित होती है कि पाणिनि ने कान्थिक शब्द के लिए पृथक् 'कन्थायाष्ठक्' (४-२-१०२) सूत्र का निर्माण किया है। वर्णु देश की कन्था विशेष प्रसिद्ध थी। वर्णु नदी का समीपवर्त्ती प्रदेश भी वर्णु कहलाता था। वर्णु के लोग कन्था बनाने मे विशेष प्रवीण थे। वर्णु में बनी कन्था से शेष अर्थ मे कान्थक शब्द बनता था।[5] कान्थिक से भिन्न कान्थक शब्द केवल वर्णु की विशेषता बतलाने के लिए था। कन्था आस्तरण का काम देती थी। वर्णु के समान उशीनर जनपद के सौशमि और आह्वर प्रदेशो मे बनी कन्थाएँ भी अति प्रसिद्ध थीं। सौशमि और आह्वर की कन्थाओ की अर्हता तथा प्रचार अन्यत्र बनी कन्थाओं से अधिक था। इसलिए सौशमि-कन्थ, आह्वर-कन्थ शब्द सज्ञा बन गये थे। पाणिनि ने उशीनर-जनपद मे बनी विशिष्ट नामवाली कन्था का बोध करानेवाले कन्थान्त तत्पुरुष को नपुसकलिग माना है।[6] उशीनर से भिन्न प्रदेश की कन्था के साथ समास होने पर समस्त पद नपुसकलिंग नहीं होता। वीरण-कन्था और आह्वर-कन्था मे यह अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है। तत्पुरुषसमास मे इस प्रकार नपुसकलिंग बना कन्था शब्द के उत्तर पद होने पर आद्युदात्त हो जाता था। चर्मकन्थ तथा

---

१. पण्यकम्वलः संज्ञायामिति वक्तव्यम् यो हि पणितव्यः कम्वलः पण्यकम्वल एवासौ भवति।—६-२-४२, पृ० २५९।

२. कम्वलाच्च संज्ञायां—इदं तर्हि प्रयोजन संज्ञायामितिनं वक्ष्यामीति। इह माभूत कम्वलीया ऊर्णा।—५-१-३, पृ० २९७।

३. १-१-६४, पृ० ५९६।

४. ३-१-१०५, पृ० १८३।

५. ४-२-१०३।

६. २-४-२० काशिका।

चिहणादिगण मे पठित (चिहण, भडर, भड्डुर, वैतुल, पटत्क, चित्कण आदि) शब्दो के पूर्व होने पर कन्था शब्द आद्युदात्त होता था।[1] कन्था-विषयक इतने सूक्ष्म नियम उसके व्यापक उपयोग तथा उसके बनाने की उन्नत कला के परिचायक हैं।

उपानह्—'वासस्' के अतिरिक्त वेश की पूर्णता के लिए उपानह् आवश्यक माने जाते थे। उपानह् का उल्लेख संहिता-काल (तैत्ति० स० ५-४-४ तथा शतपथ ब्रा० ५-४-३-१९) से ही बराबर मिलता है। शतपथ मे शूकर चर्म के जूतो का उल्लेख है। कौशीतकी ब्राह्मण (३-३) मे दण्ड और उपानह् नाम साथ-साथ आये है। ये चर्म और काष्ठ दोनो के बनते थे। भाष्य मे औपानह्य दारु[2] और औपानह्य चर्म[3] दोनो का उल्लेख है। ब्रह्मचारी तथा वैखानस दारु के उपानह् धारण करते होगे। उपानत् अनुपदीन[4] होते थे, अर्थात पाँव की माप के तैयार किये जाते थे। वेश के साथ उपानत् भूपा के लिए भी उपयोग मे लाये जाते थे। अच्छा आकार, बनावट की मजबूती, सुन्दरता और कोमलता उन्हे आकर्षक बना देती थी। इसलिए, कुछ लोगो को उपानत् के प्रति विशेप आसक्ति रहती थी। भाष्य मे ऐसे व्यक्ति को जिसे छत्र और उपानत् प्रिय हो, 'छत्रोपानहप्रिय'[5] बतलाया है। उपानह् लकडी के इस प्रकार के भी बनते थे जिनमे छेद रहते थे और आधुनिक चप्पल के पट्टो के समान मूँज की रस्सी उन छेदो मे इस प्रकार पिरो दी जाती थी कि वह पाँव को सँभाल सके। उपानह् का यह प्रकार खडाऊँ से भिन्न था। इस प्रकार, उपानत् (पौली) आज भी ग्रामो मे पहने जाते है। काशिकाकार ने इन पौलियो को लक्ष्य करके ही 'औपानह्य मुज'[6] उदाहरण दिया है। चमडे के जूतो मे, जो कच्चे चमडे के बनाये जाते थे, कोमलता उत्पन्न करने के लिए तिल का कल्क[7] (तेल के नीचे जमा हुआ मैल या ठेंठ) लगाया जाता था।

यष्टि आदि—यष्टि आत्मरक्षा का साधन तो थी ही, भूषा के लिए भी उपयोग मे आती थी। लोग सदा यष्टि हाथ मे लेकर चलते थे। ऐसे लोगो का नाम ही यष्टि के आधार पर पड जाता था। उदाहरणार्थ, सदा यष्टि साथ मे रखनेवाले मौद्गल्य को 'यष्टिमौद्गल्य'[8] कहा जाता था। साधारणतया यष्टि लेकर चलनेवाले को याष्टीक[9] कहते थे। दण्ड यष्टि से बडा होता था। ब्रह्मचारी तो सर्वदा दण्ड साथ मे रखते थे, किन्तु उनका दण्ड भूषा[10] के रूप मे नही था। ब्रह्म-

---

१. ६-२-१२४।
२. ५-१-२, पृ० २९४।
३. वही।
४. ५-२-९।
५. २-१-५१, पृ० ३०४।
६. ५-१-१४ काशिका।
७. उपानदर्थस्तिलकल्कः।—५—३, पृ० ३०४।
८. २-१-६९, पृ० ३३०।
९. ४-४-५९।
१०. ४-२-१०४, पृ० २१०।

चारी का दण्ड पलाश का होता था, जिसे आषाढ भी कहते थे। दण्ड के लिए साड शब्द का भी व्यवहार होता था।[1] असि भी शोभार्थ धारण की जाती थी। कमर मे लटकने के कारण असि को कौक्षेयक भी कहते थे।[2]

सौन्दर्यप्रियता—पाणिनि और पतजलि दोनो मे इस प्रकार के अनेक, उल्लेख मिलते हैं, जिनसे तत्कालीन सौन्दर्यप्रियता का पता चलता है। प्रावीण्य के आधार पर व्यक्तियो के दो वर्ग थे–नागरक और प्राकृत।[3] नागरक जन शिक्षित तथा सुसंस्कृत थे। ,कामशास्त्र में नागरकों के सम्पूर्ण जीवन का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। 'उपमित व्याघ्रादिभि सामान्याप्रयोगे' (२-१-५६) सूत्र पुरुषो की शरीर-शक्ति के प्रति जागरूकता द्योतित करता है तथा 'ऊरूत्तरपदादौपम्ये' (४-१-६७) एव 'सहितशफलक्षणवामोदश्च' (४-१-७०) और उसपर भाष्यकार का संशोधन 'सहितसहाभ्यां चेति वक्तव्यम्' इस बात के सूचक है कि शक्ति के साथ शारीरिक सौन्दर्य की ओर भी लोग काफी ध्यान दिया करते थे। सौन्दर्य के लिए पहली आवश्यक वस्तु है स्वास्थ्य। पुरुषव्याघ्र पुरुषसिंह, कदलीस्तम्भोरु, सहितोरु, वनना विना स्वास्थ्य के सम्भव नही। दूसरी सौन्दर्यवर्धक वस्तु है वस्त्र, जिनकी अच्छी डिजाइनो और सूक्ष्मता के विषय मे ऊपर लिखा जा चुका है।

अलंकार—इनके अतिरिक्त अलंकारो के द्वारा शरीर को सजाने की ओर लोगो का ध्यान विशेष था। पुरुष और स्त्री दोनो अलकार धारण करते थे। अलंकार प्राय: सुवर्ण के होते थे। यो मणियाँ और मुक्ता भी पहने जाते थे, पर वे धनी-वर्ग तक सीमित थे। मणिकार (आभूषण बनाने और बेचनेवाले), वैंकटिक (हीरे, मणियाँ काटने-तराशनेवाले), रजक (रँगरेज) विशेषत: नीली कुसुम्भरजक, मालाकार और सौगन्धिक सौन्दर्य सज्जा मे सहायक थे। कामसूत्र मे इन व्यावसायिको की सविस्तर चर्चा मिलती है। भाष्यकार के समय मे इन सबका महत्त्व कम न था।

अलकारो मे, जो आढ्यकरण[4] (सौन्दर्यवर्धक) और सुभगकरण माने जाते थे, भाष्यकार ने सुवर्णालिकारो का उल्लेख किया है और वह भी विशेषत स्त्रियो के सम्बन्ध मे। 'कन्या को अलंकृत करता है'[5] वाक्य के साथ उन्होंने सुवर्ण का अलकार पहननेवाले पुरुष का भी निर्देश किया है।[6] कन्याओ मे सज्जा की प्रवृत्ति बचपन से ही होती है। वे स्वय अपने प्रसाधन के लिए चिन्तित रहती थी। 'कन्या स्वय ही अपने को मण्डित कर रही है; कन्या स्वय ही अपने को भूषित कर रही हैं', यह वाक्य भाष्य से मिलता है।[7] अलकारादि द्वारा मण्डित व्यक्ति 'अभिरूप' दिखाई देता है, 'दर्शनीय' मालूम होता है,[8] यह बात वे अच्छी तरह समझते थे।

---

१. ८-३-५६, पृ० ४३८।
२. ४-२-९६।
३. ४-२-१२९।
४. ३-२-५६, पृ० २२०।
५. २-२-१६, पृ० ४१८।
६. २-२-२४, पृ० ३६५।
७. ३-१-८७, पृ० १५६।
८. १-३-१, पृ०१५।

पुरुषो के आभूषणो मे अगद, कुण्डल और किरीट महत्त्वपूर्ण थे।[१] अगद भुजाओ मे पहने जाते थे। कुण्डल, वर्त्तुलाकार कर्णाभूषण थे। किरीट शिरोभूषण थे। ग्रैवेयक[२] ग्रीवा या कण्ठ मे पहना जाता था, जिसे कण्ठा कहते हैं। यह मोटा तथा कम लम्बा होता था और कण्ठ से सटा रहता था। ग्रैवेयक पुरुष और स्त्री दोनो पहनते थे।

स्त्रियाँ अगुलीय,[३] रुचक, कटक, वलय, स्वस्तिक, कुण्डल,[४] वध्र और पुटक[५] पहनती थी। कटक कलाई मे पहने जाते थे। स्वस्तिक के आकार के स्वस्तिको को कानो मे पहनने की प्रथा थी। वध्र सोने की मजबूत माला के समान बनते थे और कण्ठ तथा कटि मे पहने जाते थे। कर्णिका कान मे पहनी जानेवाली वालियाँ थी और ललाटिका मस्तक पर लटकनेवाला सोने का तिलक।[६] कर्णवेष्टक कान के आभूषण थे, जो मुख की सौन्दर्य-वृद्धि मे सहायक माने जाते थे।[७]

माल्य—स्रक् या माला भी भूषणो के अन्तर्गत मानी जाती थी। माला पहनने की प्रथा सर्वाधिक थी। भाष्य मे माला का उल्लेख बहुत बार हुआ है। कहा नही जा सकता कि सुवर्ण-माला पहनने की प्रथा थी या नही, पर पुरुष और स्त्री दोनो ही स्रक् धारण करते थे। मालाधारी पुरुष स्रग्वी कहलाता था।[८] 'माल्यगुणकण्ठ'[९] पुरुष की शोभा ही और होती है। सम्भव है, यह माल्यगुण सुवर्ण का भी हो। स्नान और अनुलेप के बाद माल्य पहना जाता था। मालाएँ सभी सुगन्धित पुष्पो की बनाई जाती थी। 'उत्पलमालभारिणी कन्या',[१०] से उत्पल-मालाओ के प्रयोग का पता चलता है। उत्पल-मालाएँ आज भी ग्रामीण कन्याओ मे बहुत प्रिय है। बाजार मे भी मालाओं की बिक्री बहुत थी। 'मालाढकम्' उदाहरण इसका प्रमाण है।[११]

केशवेश—केशवेश के प्रति लोक-रुचि सर्वाधिक जाग्रत् थी, यद्यपि दन्त और अधरों का भी शृंगार किया जाता था। जो लोग इन शृंगारो मे अत्यधिक आसक्त होते थे, वे समाज मे अच्छी नजर से नही देखे जाते थे। लोग उनके नाम रख देते थे। उदाहरणार्थ, जो व्यक्ति केश-सज्जा मे व्यस्त रहता था, उसे केशक कहते थे। इसी प्रकार दाँतो और ओठो को सजाने मे तत्पर रहने-

---

१. १-३-२, पृ० १८।
२. ३-२-९६।
३. ४-३-३९, पृ० २३३।
४. आ० १, पृ० १६।
५. ३-१-२६ पृ० ७९।
६. ४-३-६५।
७. ५-१-९९ काशिका।
८. ५-२-१२१।
९. आ० २, पृ० ४८।
१०. १-१-७२, पृ० ३५५।
११. आ० २, पृ० ३६।

वाले को लोग दन्तौष्ठक तथा केशो और नखो का शृंगार करने में आसक्त जन को केशनखक कहते थे।[१]

पुरुषो और स्त्रियो की केश-सज्जा मे अन्तर था। कुछ पुरुष केश कटवाते ही नही थे। वे जटिल रहते थे। तापस[२] तो जटिल होते ही थे, अनेक अध्यापक,[३] नट तथा सामान्य जन भी बाल नही कटवाते थे। नट को पतजलि ने सर्वकेशी कहा है।[४] हाँ, माणवक मुण्डित कर दिये जाते थे।[५] कुछ लोग बाल मुँडा देते थे, किन्तु शिखा शेष रहने देते थे। कुछ लोग सारे बाल मुँडा डालते थे। ये लोग क्रमश. जटी, शिखी और मुण्डी कहे जाते थे।[६] एक स्थान पर भाष्यकार ने कहा है कि लोक-व्यवहार मे देखा जाता है कि जब कोई कहता है कि यहाँ मुण्डी बनो, यहाँ जटी रहो, यहाँ शिखी बनो, तब जैसा जहाँ कहा जाता है, वैसा व्यक्ति वहाँ उपस्थित होता है।[७] वपि धातु का प्रयोग बाल कटवाने के अर्थ मे होता था। बाल कटवाने की क्रिया वपन कहलाती थी। लोग दाढ़ी भी बनवाते थे।[८] दाढ़ी बनानेवाले अपने शिल्प मे विशेष दक्ष होने का प्रयत्न करते थे। नागरक नापित एव राजनापित चतुर नापितो की सज्ञा थी। ऐसा नागरक नापित मिल गया, तो क्षौर कराया हुआ व्यक्ति फिर से क्षौर करा लेता था। शिल्प-विशेष या भोजन-विशेष के कारण क्षौर एव भोजन कर्म कर लेने पर भी पुन. उस काम मे प्रवृत्ति देखी जाती थी।[९] केश बनवाने के ढग इतने भिन्न-भिन्न थे कि केश देखकर ही आदमी की पहचान कर ली जाती थी। केशों के द्वारा पहचाना गया व्यक्ति केशचचु या केशचण कहाजाता था।[१०] जो लोग बाल नही कटाते थे, उनमे बहुत-से लोग जूडे के रूप मे उन्हे बाँध लेते थे। ऐसे लोक केशचूड कहे जाते थे।[११] जटाओं और श्मश्रू से लोगो को सरलता से धोखा दिया जा सकता था। नकली दाढी-मूँछ लगाकर लोग दूसरो को प्रवचित करते थे। जटाओ और बढे हुए श्मश्रू को देखकर लोगो के मन मे व्यक्ति के प्रति सम्मान-भाव पैदा होता है। अनेक प्रवचक इस आदर-भावना का अनुचित लाभ उठा लेते थे। इसीलिए, भाष्यकार ने कहा है 'जटाओ से वचना करता है, श्मश्रुओं से धोखा देता है।'[१२]

---

१. ५-२-६६ काशिका।
२. १-२-३२, पृ० ४११।
३. २-३-२१ तथा वही।
४. २-१-६९, पृ० ३२३।
५. ३-१-८, पृ० ४०।
६. १-१-१, पृ० १०५।
७. आ० २, पृ० ४०।
८. १-३-१, पृ० ८।
९. भुक्तवांश्च पुनर्भुङ्क्ते कृतश्मश्रुश्च पुनः श्मश्रूणि कारयति।
सामर्थ्यात्तत्र प्रवृत्तिर्भवति भोजनविशेषाच्छिल्पविशेषाद्वा ।।—१-२-९, पृ० ४७८।
१०. १-३-७, पृ० २६।
११. २-२-२४, पृ० ३०६
१२. ६-१-४८, पृ० ७९

केशों के समूह को कैश्य या कैशिक[1] कहते थे। कभी-कभी उनकी लटें आगे निकाल ली जाती थी। स्त्रियाँ वालों को आगे की ओर घुँघराला वना लेती थी या उनकी लटें आगे की ओर कर लेती थी। इन्हे प्रागुल्फा[2] कहते थे। स्त्रियो के केशवेश का नाम कवरी था। यह नाम पुष्प लगा लेने पर केशो के कबर दिखाई पडने के कारण पडा था। वालो से भिन्न कबर वस्तु कवरा कहलाती थी। कवरी शब्द पीछे की ओर बनाये हुये जूडे के लिए प्रयुक्त होता था।[3] जूडा वाँधने का ढग भिन्न-भिन्न प्रदेशो मे भिन्न-भिन्न था। प्रत्येक प्रदेश के जूडे उस प्रदेश के नाम पर प्रसिद्ध थे जैसे 'काच्छक चूडाकलाप'।[4] कच्छ-प्रदेश मे जूडा वनाने की शैली अन्य प्रदेश से भिन्न थी। इसी प्रकार अन्य प्रदेशो के अपने-अपने प्रकार थे। केश-विन्यास मे माँग को सीमन्त कहते थे।[5] स्त्रियो की केश-सज्जा का वह आवश्यक अग था। इसीलिए, स्त्रियो को सीमान्तिनी कहा जाता था। सीमन्त से भिन्न अर्थ मे सीमान्त शब्द प्रचलित था।

नारियाँ कवरी वनाती थी और चूडा भी। चूडा सिर के ऊपर उठा हुआ रहता था और कवरी पीछे की ओर। पुष्प दोनो के मण्डन थे। मल्लिका और चम्पक[6] के पुटो की चर्चा भाष्य मे आई है।

नेत्रो मे काजल या अजन लगाने की प्रथा थी। अजन लगे नेत्र अक्त कहलाते थे।[7]

अन्य प्रसाधन—स्नान और अनुलेप की चर्चा ऊपर हुई है। स्नान से पूर्व तेल की मालिश, उवटन और उसके वाद चन्दनादि सुगन्ध द्रव्यो का लेपन एव नारियो द्वारा मस्तक मे पत्र-रचना की प्रथा थी। धनिक परिवारो मे एतदर्थ, उत्सादक, उद्वर्त्तक, परिपेचक, अनुलेपक, प्रलेपक, विलेपक आदि परिचारक नियुक्त थे।[8] अनुलेपन आदि मे प्रयुक्त होनेवाले सुगन्ध-द्रव्यो का भी उल्लेख गणपाठ मे मिलता है। उदाहरणार्थ, किशरादि गण मे किशर, नलद, तगर, गुग्गुलु, उशीर का परिगणन हुआ है।[9] शलालु एक अन्य सुगन्धित द्रव्य था, जिसका वेचनेवाला शलालुकी कहलाता था।[10] चन्दन का भी प्रयोग अधिक होता था। भाष्यकार ने कहा है कि घी की गन्ध तेज होती है, किन्तु चन्दन की मृदु होती है।[11]

---

१. ४-२-४८।
२. ४-१-६०, पृ० ७१
३. ४-१-४२ काशिका
४. काच्छकश्चूडाकलापः।—४-२-१३४।
५. ६-१-९४, पृ० १५१
६. २-१-१, पृ० २४०
७. अङ्क्तेऽक्षिणीइत्युच्यते यत्तत्सित चासित चैतत्प्रकाशयति।—८-२-४८, पृ० ३६७।
८. याजकादि गण, २-२-९ तथा महिष्यादि गण, ४-४-४८।
९. ४-४-५३।
१०. ४-४-५४।
११. २-२-८, पृ० ३४३ तथा घृतस्य तीव्रः, चन्दनस्य मृदुः।—वही।

अध्याय १०

भोजन-पान

अन्न और क्रव्य—पतजलिकालीन समाज को हम भोजन के आधार पर दो भागों मे बाँट सकते है—अन्नाद और क्रव्याद। पकाये हुए धान्य या सस्य को अन्न कहते थे और उसे खानेवाले को अन्नाद। इसी प्रकार मास को पकाकर खानेवाले क्रव्याद कहलाते थे। धान्य और मास को विना पकाये, अर्थात् कच्चे रूप मे खानेवालो को क्रमश आमाद और क्रव्याद कहते थे।[1] भोजन के लिए अभ्यवहार शब्द प्रचलित था।[2]

अन्नाद या सस्याद लोग जिन अन्नो का व्यवहार करते थे, उन्हे दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—मुख्य और सहायक। मुख्यान्नो मे निम्नलिखित का उपयोग भाष्य मे पाया जाता है—

ओदन—पकाये हुए चावल को ओदन[3] कहते थे, जिसका दूसरा नाम भक्त[4] भी था। भक्त से ही वर्त्तमान शब्द 'भात' वना है। ओदन अनेक प्रकार के चावलो का वनता था। शालि, महाशालि, व्रीहि, महाव्रीहि, हायन, यवक, षष्ठिक एव नीवार ये धान्यो के प्रमुख भेद थे। शालि की पौध सावन मे रोपी जाती थी और अगहन मे कटती थी। इसके लिए जल की विशेष आवश्यकता होती है। मगध के शालि विशेष प्रसिद्ध थे। ये वडे और सुगन्धित होते थे। देविका नदी के किनारे, उत्पन्न होनेवाले शालि भी प्रसिद्ध थे। ये 'दाविका-कूल' शालि कहलाते थे।[5] महाशालि और भी वडी जाति थी। भाष्यकार ने एक स्थान पर कहा है कि यदि वर्षा अच्छी हुई, तो शालि हो जायेंगे।[6] अन्यत्र कहा है 'हम वे ही शालि खा रहे है, जो मगध मे होते है।'[7] शालि का ओदन स्वादिष्ठ होता था। इसीलिए, एक स्थान पर 'शालि का ओदन तुम्हे दूँगा'[8] ऐसा प्रलोभन दिये जाने का उल्लेख है। प्रश्नकर्त्ता भी पूछता है—'क्या भात शालि का है ?'[9]

---

१. २-३-६८, ६९ काशिका।
२. व्रत च नामाभ्यवहारार्थमुपादीयते।—आ० १, पृ० १९।
३. १-४-४९, पृ० १७३।
४. ४-४-१०० काशिका।
५. ७-३-१, पृ० १७१।
६. ३-३-१४३, पृ० ३२४।
७. आ० २, पृ० ४५।
८. २-१-१, पृ० २३० तथा २-१-१, पृ० २४८।
९. वही तथा ८-१-५१, पृ० २९३।

व्रीहि सर्वाधिक प्रचलित धान्य[1] था। व्रीहि भी शालि के समान रोपे जाते थे। आकार के अनुसार इनके छोटे और बडे भेद होते थे। व्रीहि की सबसे बडी जाति 'महाव्रीहि'[2] कही जाती थी। व्रीहि और शालि के लिए विशिष्ट केदार (क्षेत्र) निश्चित रहते थे, जिन्हे व्रैहेय और शालेय[3] कहते थे। हायन रोपे नही जाते थे, अपितु बोये जाते थे। षष्ठिक[4] (साठा) भी बोये जाते थे, रोपे नही जाते थे। इनके लिए अधिक पानी की आवश्यकता नही होती थी। ये साठ दिन मे पक जाते थे। इस प्रकार यह शब्द सार्थक था।

नीवार छोटा और निम्न कोटि का धान था, जो विना जोते-बोये अपने-आप उत्पन्न होता था।[5]

तण्डुल भारत का मुख्य भोजन था। भाष्यकार ने कहा है कि एक तण्डुल भूख मिटाने मे असमर्थ होता है, किन्तु उनका समूह वर्धितक (ढेर) समर्थ होता है।[6] तण्डुल से वनाये जाने के कारण ओदन को 'तण्डुल-विकार' कहते थे।[7] किसी तण्डुल का ओदन अधिक स्वादिष्ठ वनता था और किसी का कम। भाष्यकार ने शालि को भक्त कहा है, क्योकि उनका ओदन विशेष रुचिकर माना जाता था। अच्छी किस्म के अन्य चावल भी भाक्त कहे जाते[8] थे, इसीलिए खानेवाला उत्कठावश खाने से पहले पूछता है, 'क्या शालि का भात वना है?'[9]

भारत मे एक कोने से दूसरे कोने तक भक्त या ओदन का ही व्यवहार मुख्य भोजन के रूप मे होता था। मगध मे धान की उपज प्रमुख रूप से होती ही थी, कश्मीर मे भी चावल का व्यवहार होता था। भाष्य मे एक स्थान पर कहा गया है, 'देवदत्त, तुम्हे मालूम है कि हम कश्मीर गये थे। वहाँ ओदन खाये थे। हम कश्मीर जायेंगे, वहाँ ओदन खायेंगे।'[10] अधिक प्रचलन के कारण भक्त भोजन का पर्यायवाची वन गया था। जिस प्रकार भोजन करने के अर्थ मे उत्तर भारत मे 'रोटी खाना' प्रचलित है और पूर्वी भारतमे 'भात खाना,' उसी प्रकार भाष्यकार ने भक्त शब्द का व्यवहार अनेक बार भोजन के अर्थ मे किया है। इसीलिए,जो मजदूर रोटी-कपडे पाकर मजदूरी करते थे, वे 'भाक्तिक' कहे जाते थे।[11] भाष्यकार ने कहा है कि कर्मकर लोग काम करते हैं, जिससे

---

१. ८-१-४, पृ० २६५।

२. ६-२-३८।

३. ५-२-२।

४. षष्ठिकाः षष्ठिरात्रेण पच्यन्ते। षष्ठिके संज्ञाग्रहणं कर्तव्यम्। मुद्गा अपि हि षष्ठिरात्रेण पच्यन्ते।—५-१-९०, पृ० ३४०।

५. ३-३-४८।

६. १-२-४५, पृ० ५३५।

७. १-४-४९, पृ० १७३।

८. ३-१-१२६, पृ० ७३ तथा ४-४-१०० काशिका।

९. २-१-१, पृ० २३०।

१०. १-१-४४, पृ० २७४।

११. ४-४-६८ काशिका।

उन्हे भक्त (भोजन) और चेल (पहनने के कपडे) मिले।[1] इसी कारण पाचक या रसोइए को सामान्यतया 'भक्तकर' कहते थे।[2]

पाचक-क्रिया—ओदन पकाने की क्रिया का भी उल्लेख भाष्य मे कई वार हुआ है। पकाने की क्रिया के चार मुख्य तथा अनेक गौण अग वतलाये गये है। मुख्य अग है—अधिश्रयण (वटलोई को चूल्हे पर चढाना), उदकासेचन (वटलोई मे पानी भरना), तण्डुलावपन (वटलोई मे चावल डालना), और एधोपकर्षण (लकडी खीचना या वढ़ाना)[3]। गौण क्रियाओ मे चावल धोना, वीच-वीच मे आवश्यकतानुसार पानी डालना, पके-अनपके की परीक्षा करना आदि है। चूल्हे पर चढाये जाने के पूर्व चावल धोये जाते थे। धोवन का पानी घर की नालियो से होकर सडको पर वहा करता होगा। इस पानी को देखकर रथ्या मे चलनेवाला व्यक्ति अनुमान कर लेता था कि इस घर मे ओदन पकाया जा रहा है।[4] पके तण्डुल की पहचान एक पुलाक को देखकर कर ली जाती थी। एक चावल पक गया, तो वटलोई के सारे चावल पक गये मान लिये जाते थे।[5]

पकाने की क्रिया मे सहायक वस्तु के प्राधान्य के अनुसार कभी 'देवदत्त पकाता है, कभी वटलोई पकाती है और कभी लकडी पकाती है' आदि वाक्यो का प्रयोग होता था। एक 'पचति' (पकाना) क्रिया की अगभूत सम्पूर्ण क्रियाएँ करनेवाले के साथ पापच्यते (पूरी तरह पकाता है) क्रिया का व्यवहार होता था।[6] जव देवदत्त पकाने की क्रिया मे प्रमुख दिखता था, तव कहते थे, 'देवदत्त पचति'। यह तव होता था, जव देवदत्त अधिश्रयण, उदकासेचन, तण्डुलावपन और एधोपकर्षण आदि क्रियाओ मे व्यस्त दिखता था।[7] 'स्थाली द्रोण भर पकाती है', आढक भर पकाती है' आदि वाक्यो का व्यवहार तव होता था, जव स्थाली या वटलोई में द्रोण भर पकाने की क्षमता या पकाने की क्रिया पर वल देना होता था।[8] इसी प्रकार जव जलनेवाली और जलकर चावल गलाने की क्रिया करनेवाली लकडियो पर जोर देना होता था, तव 'लकडियाँ पकाती है', यह कथन उपयुक्त माना जाता था।[9]

ओदन-पात्र—भात खाने के लिए शराव या कास्य-पात्र काम मे आते थे। शराव सामान्य व्यवहार मे चलते[10] थे या धार्मिक विधि मे काम मे आते थे। शराव मे परोसा हुआ भात 'शाराव'

---

१. ३-१-२६, पृ० ७७।

२. १-३-७२, पृ० ९०।

३. अधिश्रयणोदकासेचनतण्डुलावपनैधोऽपकर्षणादि क्रियाः कुर्वन्नेव देवदत्तः पचतीत्युच्यते।—१-४-२३, पृ० १५६।

४. ३-२-११५, पृ० २४९।

५. पर्याप्तो ह्येकः पुलाकः स्थाल्या निदर्शनाय।—१-४-२३, पृ० १५७।

६. ३-१-२२, पृ० ६१।

७. १-४-२३, पृ० १५६।

८. १-३-२४, पृ० १५६।

९. वही।

१०. ५-४-१०१, पृ० ४५४।

कहलाता था।[१] ये मिट्टी के बनते थे। कास्यपात्री का प्रचार उच्च वर्ग मे था। इस बात की कामना की जाती थी कि हमारे पुत्र कास्यपात्र मे दूध भात खायँ।[२]

जिस पात्र मे ओदन पकाते थे, उसे स्थाली कहते थे।[३] सामान्य पात्र के लिए 'अमत्र' शब्द का भी व्यवहार होता[४] था। पकाने की क्रिया को 'रन्धन' भी कहते थे। इसका विकसित रूप 'राँधना' हिन्दी मे प्रचलित है।[५] खाकर बचे हुए के लिए उद्धृत शब्द का प्रयोग हुआ है।[६] गलने की क्रिया को विक्लिति[७] कहते थे। विक्लिति ही 'पच्' क्रिया का मुख्य अर्थ है। इसके लिए की जानेवाली समस्त क्रियाएँ (चावल धोने तथा उन्हे चूल्हे पर चढाने से उतारने तक) तो पच् के अन्तर्गत मानी ही जाती थी। प्रेषण (अपने अधीन काम करनेवाले व्यक्ति को आवश्यक सामग्री लाने के लिए आज्ञा देना) तथा अध्येषण (बडे व्यक्ति से प्रार्थना-पूर्वक आवश्यक वस्तुएँ माँगना) आदि भी पच् मे ही अन्तर्भूत थे।[८] पके हुए ओदन या भोजन को 'सिद्ध' कहते[९] थे।

विशिष्ट ओदन—ओदन के गुण मे तण्डुलो के गुण के अनुसार तो अन्तर होता ही था पकाने की क्रिया और शैली भी अन्तर उत्पन्न करती थी। भाष्यकार ने खाने मे विशेषस्वाद-युक्त ओदन के लिए 'मृदु' और 'विशद' विशेषणो का प्रयोग किया है। मृदु ओदन गुड या शक्कर डालकर पकाये जाते थे। आज भी 'मीठा भात' पकाने की प्रथा है। विशद ओदन पकाते समय उनमे थोडा दूध या घी डालते थे, जिससे उनके पुलाक या दाने अलग-अलग छिटक जाते थे। मृदु और विशद भात एक बार भोजन कर लिये जाने के बाद भी आमन्त्रण स्वीकार कर लेने के लिए आमन्त्रित को उत्साहित करता था। भाष्य मे उल्लेख है—'कोई किसी को भोजन के लिए बुलाता है। वह कहता है—'भोजन तैयार है, चलिए, भोजन कीजिए'। इस पर आमन्त्र्यमाण व्यक्ति उत्तर देता है— 'मैं तो काफी भोजन कर चुका हूँ।' निमन्त्रण देनेवाला कहता है—'चलिए, दही मिलेगा, दूध मिलेगा'। तब आमन्त्र्यमाण उत्तर देता है—'दही से खा लूँगा, दूध से खा लूँगा। यदि भात मृदु विशद हुआ, तो खा लूँगा।'[१०] इससे यह भी स्पष्ट है कि एक ही ओदन मे मृदुता और विशदता दोनो पाई जाती थी। पाचक की क्रिया को लक्ष्य करके ही भाष्यकार ने 'अच्छा पकाता है, बुरा पकाता है' वाक्यो का प्रयोग किया है।[११]

---

१. ४-४-१४ काशिका।
२. १-३-१, पृ० १४ तथा ८-२-३, पृ० ३१७।
३. २-१-३६, पृ० २८८।
४. ४-२-१४।
५. २-१-३६, पृ० २८८।
६. ४-२-१४ काशिका।
७. २-४-२३, पृ० १५६।
८. अथ पचेः कः प्रधानार्थः ? यासौ तण्डुलानां विक्लितिः।—३-१-२६, पृ० ७१।
९. आ० १, पृ० १४।
१०. २-१-१, पृ० २४७ तथा १-४-४९, पृ० १७३, ७४।
११. २-१-१, पृ० २४७।

ओदन जब मनुष्य का मुख्य भोजन था, तब देवता तथा उसके अन्य सहचर उससे क्यो वंचित रहते । यज्ञ मे चरु तथा बलि-कार्यो के लिए भी ओदन का ही उपयोग होता था।[१]

यवागू—ओदन के बाद यवागू का व्यवहार सर्वाधिक था। कदाचित् सक्तु ही इसके समकक्ष थे। यवागू स्वास्थ्यप्रद और सात्त्विक मानी जाती थी। इसीलिए, व्रतकाल मे भी उसका व्यवहार विहित था। ब्राह्मण दुग्ध पीकर, क्षत्रिय यवागू पीकर और वैश्य आमिक्षा ग्रहण कर व्रत या उपवास रखते थे।[२] ओदन के समान यज्ञ मे यवागू की आहुति दी जाती थी।[३] यह भी प्रसिद्ध था कि जौ का सेवन सुस्पष्ट उच्चारण की शक्ति प्रदान करता है और यवागू मूत्ररोगों को शान्त करती है।[४]

सामान्यतया यवागू यव से बनाई जाती थी। धान के समान यव के खेत भी निश्चित रहते थे। इन्हे यव्य कहते थे।[५] उशीनर और मद्र जनपदो मे जौ की पैदावार अधिक होती थी।[६] इस प्रकार पूर्वीय भाग का मुख्य भोजन चावल था और पश्चिम भारत का यव। कुछ लोगों के मत से प्राचीन साहित्य मे यव का अर्थ जौ और गेहूँ दोनो था। यव के चूर्ण का एक भाग सोलहगुने पानी मे घोलकर तबतक तपाते थे, जबतक जलते-जलते पानी आधा रह जाता था। तब उसमे दूध और शक्कर मिला दी जाती थी। यवागू चावल के माँड मे दूध और शक्कर मिलाकर भी बनाई जाती थी। यह लगभग उसी प्रकार का भोज्य था, जैसे पजाब मे फिरनी बनाई जाती है। यवागू फिरनी की अपेक्षा पतली भी बनती थी। इसमे दूध की मात्रा अधिक होती थी। इसे भाष्यकार ने 'पयस्कल्पा' और 'बहुपया.' कहा है।[७] यवागू नमकीन भी बनती थी।[८] सम्भवत. यह राजस्थानी राबड़ी-जैसी होती होगी। ठीक पकी हुई यवागू श्राणा या श्रपित[९] कही जाती थी, जब कि पकाये हुए दुग्ध या हवि श्रत कहलाते थे। श्राणा यवागू का दूसरा नाम हो गया था। जिस व्यक्ति को प्रतिदिन नियमित रूप से श्राणा दी जाती थी, उसे श्राणिक[१०] कहते थे। साल्व जनपद (सम्भवतः वर्त्तमान अलवर से बीकानेर रियासत तक) मे यवागू का प्रचार अधिक था और साल्व लोग उसके बनाने मे विशेष निपुण भी थे।[११] साल्वकी यवागू के लिए विशेष शब्द प्रचलित था 'साल्विका', जिसका व्यवहार वहाँ के बैलो और यवागू के लिए ही होता था। नमकीन और मीठी यवागू मे

---

१. ५-१-२, पृ० २९५।
२. आ० १, पृ० १९।
३. २-३-३, पृ० ३०६।
४. २-३-१४, पृ० ४१७।
५. ५-२-३।
६. ७-१-७३, पृ० ७०।
७. ५-३-६७, पृ० ४६२ तथा वही।
८. १-२-५१, पृ० ५४२।
९. ६-१-२७, पृ० ५६।
१०. ४-४-६७ काशिका।
११. ४-२-१३३, पृ० २१८ तथा ४-२-१३६।

कुछ विशेष मसाले और मेवे मिलाकर उसे और भी अधिक स्वादु बना लिया जाता था। भाष्यकार ने यवागू को 'स्वाद्वी' करके खाने का उल्लेख किया है।[१] फिर भी, स्वाद की दृष्टि मे उसमे चाहे जो अन्तर कर लिया जाता हो, रहती वह पेय ही थी। भाष्यकार ने उसे भोज्या कहा है, भक्ष्या नही। भक्ष्य शब्द चबाई जाने योग्य वस्तु के लिए प्रयुक्त होता था।[२] अधिक पतली यवागू, जिसे भाष्यकार ने पयस्कल्पा कहा है, उष्णिका भी कहलाती थी। उष्णिका मे अन्न का अश बहुत कम होता था।[३] क्षीर मे पकाई गई यवागू को 'क्षैरेयी' कहते थे।[४]

यावक—यह यवक से तैयार किया हुआ भोज्य पदार्थ था। एतदर्थ यवक का पहले उलूखल मे अवहनन किया जाता था। तुष निकालकर साफ किया हुआ चावल पानी में उबाला जाता था और उसमे दूध और शर्करा मिला दी जाती थी। भाष्यकार ने कहा है यावक को सस्कृत अन्न नही मान सकते। सस्कृत अन्न वह होता है, जो उठाकर तुरन्त खा लिया जाय। यवक का सस्कार उलूखल मे होता है, किन्तु वह वहाँ से उठाकर खा नही लिया जाता। उसके बाद उसे राँधना पडता है। भाष्य मे इसे औलूखल (उलूखल मे साफ किया गया) कहा है।[५]

सक्तु—सक्तु का प्रचार पतजलि-युग मे विशेष जान पडता है। बडी उत्कठा के साथ उन्होने कहा है, 'जानते हो देवदत्त, हम कश्मीर जायेंगे, वहाँ सक्तु पियेंगे।'[६] सक्तु का व्यवहार इतना अधिक था कि वे दुकानो पर बिका करते थे।[७] सक्तु किसी भी भुने हुए अन्न से बनते थे। सामान्यतया व्रीहि, यव, और गोधूम सक्तु बनाने के काम आते थे। इनके दानो (धाना) को सक्तव्य कहते थे।[८] भूनने के बाद उन्हे चक्की (दृपद्) मे पीसना पडता था, इसीलिए भाष्यकार ने उन्हे दार्षद कहा है।[९] पिसे हुए सक्तु तितउ (चलनी) मे छानकर साफ किये जाते थे। भाष्यकार ने व्याकरण द्वारा शुद्ध की गई वाणी की उपमा चालनी से छाने गये सक्तुओ से दी है।[१०] सक्तु शब्द 'षच्' धातु (सेचने) से तुन् प्रत्यय होकर बना है, जिसका अर्थ है दुश्शोध्य। अथवा कस् (गतौ) धातु से वर्ण-व्यत्यय द्वारा 'विकसन' अर्थ मे पृषोदरादित्वात् कर्म मे तुन् प्रत्यय होकर सक्तु शब्द बनता है। इस प्रकार सक्तु शब्द का अर्थ कठिनता से साफ किया हुआ अथवा फैलने या फूलनेवाला होता है और यह पूर्णत सार्थक है।[११] सक्तु अधिकतर यव के बनते थे। यव के गुणो की चर्चा

---

१. ३-४-२६, पृ० ३५५।
२. ७-३-६९, पृ० २०३।
३. ४-२-७१ काशिका।
४. ४-२-३०, पृ० १७२।
५. ४-३-२५, पृ० २३०।
६. ३-२-११४, पृ० २४७।
७. २-१-१, पृथे २३०।
८. ४-१-२, पृ० २९५।
९. ४-३-२५, पृ० २३०।
१०. सक्तुमिव तितउना पुनन्त'।—आ० १, पृ० ८।
११. वही।

ऊपर हो चुकी है। उलूखल से कूटकर यव के तुष निकालना कठिन होता है और थोड़े भी तुष शेष रह जाने पर स्वाद मे बाधा होती है। दूसरे यव के सक्तु पानी पड़ने पर फूलते भी खूब हैं। सक्तु छानने के लिए जिस तितउ का व्यवहार होता था, उसकी सज्ञा भी सार्थक थी। भाष्यकार ने ततवत् (विस्तृत) तथा तुन्नवत (छिद्रवत्) होने के कारण चालनी का उक्त नाम पड़ा हुआ बतलाया है। तन् (परिपवनार्थक) धातु से भी तितउ शब्द निष्पन्न हो सकता है, जिसका अर्थ 'परिपवन', अर्थात् परिशोधन करने का साधन' होता है।[1] सक्तु पेय तो थे ही, दही मिलाकर भी खाये जाते थे।[2] साधारणतया वे पानी मे घोलकर खाये या पिये जाते थे। इस प्रकार, उन्हे दधिसक्तु और उदकसक्तु या उदसक्तु[3] भी कहा जाता था। सक्तुओ का समूह साक्तुक कहलाता था।[4]

उदमन्थ—पाणिनि-सूत्र (६-३-६०) मे उदमन्थ या उदकमन्थ का उल्लेख मिलता है। जल के साथ खाये जानेवाले सक्तुओ को उदमन्थ कहते थे। भाष्यकार ने मन्थ या उदमन्थ का प्रयोग खाद्य अर्थ मे नही किया है। दूध से खाये जानेवाले सक्तु मन्थ कहलाते थे। ऋग्वेद तथा शाखा० आर० मे इसे पेय कहा है। सक्तु मधुमन्थ, दधिमन्थ और उदमन्थ इन तीन रूपो मे खाये जाते थे। मधुमन्थ मधु में सानकर, दधिमन्थ दही मिलाकर और उदमन्थ जल के साथ खाये जानेवाले सक्तु थे।[5]

पिष्टक—पाणिनि ने पिष्ट के विकार को 'पिष्टक' कहा है।[6] पिष्टक संज्ञा शब्द था, जो खाद्य-विशेष का वाचक था। पिष्ट किसी भी धान्य के चूर्ण, अर्थात् आटे को कहते थे। पिष्ट या पिष्टि का ही विकसित रूप 'पिट्ठी' हिन्दी मे पिसे हुए चावल के आटे या किसी भी पिसे हुए धान्य के चूर्ण के लिए प्रचलित है। भाष्यकार ने भी 'पिष्टपिण्डी'[7] का उल्लेख इसी अर्थ मे किया है। सज्ञा (नामविशेष) से भिन्न अर्थ मे पिष्ट से बनी हुई किसी भी सामान्य वस्तु को 'पिष्टमय'[8] कहते थे। हो सकता है कि पिष्टक 'रोटी' का सामान्य नाम हो।

पिष्टक शालि, व्रीहि, यव, गोधूम, अणु, बाजरा (Panicum mibaceum) और गवीधुका (Coix barbata) आदि अन्नो से बनते थे। इनमें गोधूम और गवेधुका का उल्लेख बिल्वादिगण (४-३-१३६) मे हुआ है।

पिण्डी—किसी सस्य के चूर्ण को भूनकर उसमे शर्करा या गुड़ और घी मिलाकर बनाई जाती थी। इसे भाष्य मे पिण्डी और पिष्टपिण्डी कहा है।[9] यात्राकाल मे जब भोजन बनाना कठिन

१. आ० १, पृ० ८।
२. १-१-५७, पृ० ३६८।
३. ६-३-६०।
४. ४-२-३९, पृ० १७९।
५. लाट्यायन सूत्रभाष्य, १-२-७, ८।
६. ४-३-१४७।
७. २-१-५७, पृ० ३१४।
८. ४-३-१४६।
९. २-१-५७, पृ० ३१४।

होता था, तब पिण्डी से काम चलाया जाता था। यो भी उपाहार के रूप मे पिण्डी का प्रयोग होता था। भाष्य मे पिण्डी के भक्षण का उल्लेख कई वार हुआ है।[१] श्रीवासुदेव शास्त्री अभ्यकर ने भ्रान्ति-वश पिण्डी को खजूर मान लिया है।[२] पिण्डी तिलो की भी वनती थी। एतदर्थ तिल पहले भून लिये जाते थे, किन्तु यह क्रिया घर पर किसी वन्द पात्र मे की जाती थी। वे चूल्हे पर यो ही नही भूने जाते थे। भाष्यकार ने कहा है कि 'तप्त-भ्राष्ट्र मे डालने पर तिल उसमे मुहूर्त-भर भी नही ठहरते।'[३]

अपूप—अपूप मधुर पक्कान्न था, जो गेहूँ या जौ के आटे से वनाया जाता था। आटे के सम्वन्ध मे यह स्मरण रखना चाहिए कि केवल जौ का ही उल्लेख भाष्य मे होने का यह तात्पर्य नही कि जौ के अतिरिक्त अन्य अन्नो का प्रयोग नही होता था। वे सारे सस्य, जो पिसकर आटे के रूप मे व्यवहृत होते थे, यव कहलाते थे। अपूप इनमे से कई अन्नो के बनते थे। वे शर्करा या गुड डालकर घृत मे पकाये जाते थे। ऋग्वेद (१०-४३-९) मे अपूप को घृतवत् कहा है। वे व्रीहि या यव के आटे से वनाये जाते थे।[४] यज्ञ मे भी अपूप की आहुति दी जाती थी। भाष्य ने चरु को अपूपवान् और दधिवान् कहा है।[५] अपूप वडे आकार के वनते थे। इसलिए, आधा अपूप भी खाने को दिया जाता था।[६] भाष्य मे दो और छह अपूपो का उल्लेख मिलता है।[७] जो कम-से-कम और अधिक-से-अधिक एक व्यक्ति का भोजन रहा होगा। अपूपो के ढेर को आपूपिक[८] कहते थे। चूर्ण अन्दर भरकर वनाये जाने के कारण अपूप 'चूर्णिन्' कहलाते थे।[९] यह अपूप का अन्य भेद था, जिसे आजकल गुझिया कहते है और जो भीतर भुना मीठा चूर्ण भरकर वनाई जाती है। भाष्यकार ने भ्राष्ट्र मे सस्कृत होने के कारण अपूपों को भ्राष्ट्र[१०] कहा है। यह भ्राष्ट्र शब्द चूल्हे का वोधक है। अपूप गुड या तिल डालकर भी वनते थे। किसी पौर्णमासी को गुडापूप और किसी को तिलापूप ही विशेषत खाये जाते थे।[११] सम्भवत यह वैशाखी पूर्णिमा थी।

शष्कुली—शष्कुली एक अन्य मधुर पक्वान्न था, जो चूर्णी होता था और घी या तेल मे पकाया जाता था। शष्कुली के समूह को शाष्कुलिक[१२] कहते थे। भाष्यकार ने धाना के साथ भी शष्कुली का उल्लेख किया है।[१३]

---

१. १-१-४५, पृ० ३७८ तथा १-४-५२, पृ० १८३।
२. १-४-४५, पृ० २७८।
३. तप्ते भ्राष्ट्रे तिला क्षिप्ता मुहूर्त्तमपि नावतिष्ठन्ते।—१-१-५०, पृ० ३००।
४. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० २६।
५. ८-२-१५, पृ० ३३९।
६. २-४-२६, पृ० ४७५।
७. १-४-९३, पृ० २०४ तथा १-१-१, पृ० ९४।
८. ४-१-८५, पृ० ९६ तथा ४-२-३९, पृ० १७९।
९. ४-४-२३।
१०. ४-२-१६।
११. ६-२-८३ काशिका।
१२. ४-१-८५, पृ० ९६।
१३. १-१-४७, पृ० २९२।

मोदक—मोदक भी चूर्णान्न, शर्करा और घृत से बनते थे। मोदकों के ढेर को मौदकिक कहते थे।[1] मोदक वास्तव मे मोददायक थे और बड़े चाव से खाये जाते थे। भाष्यकार ने कहा है, 'देवदत्त का अभिप्राय मोदक खाने से है।'[2] दो दो मोदकों को 'द्विमोदकिका'[3] कहते थे।

कृसर—कृसर तिल, चावल मिलाकर बनाया जाता था।[4] इसमे कुछ मटर और मसाले मिला दिये जाते थे। कृसर प्रातराशादि के काम आता था। सूत्र-ग्रन्थो तथा पचविंश ब्राह्मण (५-२) मे भी इसका उल्लेख मिलता है।

धाना और गुडधाना—भुने हुए अनाज के दानो को धाना कहते थे। भूनने का काम भ्राष्ट्र मे होता[5] था। भूननेवाले या भाष्ट्र को प्रज्वलित करनेवाले को भाष्ट्रमिन्ध[6] कहते थे। भाष्यकार ने धाना और शष्कुली का साथ-साथ उल्लेख किया है।[7] धाना गुड की चाशनी मे पकाये जाते थे। वे गुडधाना कहलाते थे। गुडधाना का पूरा अर्थ था गुड़ मे संसृष्ट[8] धाना।

वटक—तलकर खाई जानेवाली वस्तुओं मे वटक (वडा) का स्थान महत्त्वपूर्ण था। वटक किसी पौर्णमासी का मुख्य भोजन होता था। यह पौर्णमासी वटकिनी कहलाती[9] थी। वटकिनी सज्ञा थी। सम्भवत कार्त्तिकी पूर्णिमा को 'वटकिनी' कहते थे।

कुल्माप—वटकिनी के समान एक पौर्णमासी का नाम कौलमापी[10] भी था। कुल्माष घुघरी को कहते थे और सम्भवत. चैत्री पूर्णिमा को उसका मुत्यरूपेण आहार होता था।

कुल्माप का वास्तविक स्वरूप क्या था, इस विपय मे विभिन्न ग्रन्थो और विद्वानो मे मतैक्य नही है। निरुक्त मे कुल्माप को 'अवकुत्सित' आहार कहा है। छान्दोग्य उप० (१-१०-२) मे भी उसे दरिद्र भोजन कहा है। अमरकोश मे उसे यवक का पर्याय माना है। अन्य कोश काजिक यवक को कुल्माप मानते हैं। काजिक यवक, जो चावल से तैयार होता है, मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ क्षेत्र के दरिद्र-वर्ग मे बहुत प्रचलित है। आदिवासियो मे भी इसका प्रचार है और इन स्थानो मे वह स्वादु माना जाता है। कुल्माषपिण्ड जातक (स० ४१५) मे कुल्माप को 'अतेल, अलवणिक' दरिद्र-भोजन बतलाया है। चरक के सूत्र-स्थान (२७-२६९) मे उसे उष्णोदक-सिक्त, ईषत्स्विन्न, अपूपीकृत यव-पिष्ट कहा है, जो देर मे पचता है और रूक्ष होता है। काशिका (४-४-१०३) ने मुद्ग (मूंग) को कौल्माषिक कहा है, जिससे स्पष्ट है कि कुल्माप मूँग से भी बनाया जाता था।

---

१. ४-२-३९, पृ० १७९।
२. ५-१-११९, पृ० ३५३।
३. ५-४-१, पृ० ४८२।
४. ८-३-५९, वा० १, पृ० ४४१।
५. १-१-५०, पृ० ३०७।
६. ७-३-७०, पृ० ३४७।
७. १-१-४७, पृ० २९२।
८. २-१-३४, ३५, पृ० २९६।
९. ५-२-८२, पृ० ४००।
१०. ५-२-८३।

श्री पी० के० गोदे (म० ओ० रि० इस्टीट्यूट के अ० २२-२५६) ने उसे घुघरी वतलाया है, जिसे महाभाष्य के पूना-सस्करण ने स्वीकार किया है। डॉ वा० श० अग्रवाल ने भी कुलमाप का हिन्दी पर्याय, घुघरी ही स्वीकार किया है। हिन्दी मे घुघरी देर तक भिगोये हुए चने को कहते हैं, जिसका मेल प्राचीन कोशो से नही वैठता। वास्तव मे कुल्माष खटास लिया हुआ माँड होता था, जो किसी पिण्ड या चावल से तैयार किया जाता था। देर तक वासी रखने के कारण उसमे खटास आ जाती थी।

आमिक्षा—भाष्य मे आमिक्षा वैश्य का व्रताहार वतलाया गया है। आमिक्षा पेय थी, जो कच्चे दूध मे दही मिलाकर वनाई जाती थी।

चूर्ण—चूर्ण शव्द से वर्त्तमान चून शव्द वना है, जो आटे का पर्याय है। भाष्य मे चूर्ण शव्द का प्रयोग भुने हुए तथा शर्करा या गुड मिले हुए आटे के लिए हुआ है। इस प्रकार का चूर्ण सत्य-नारायण की कथा मे प्रसाद के हेतु वनाने की प्रथा है। यह चूर्ण गेहूँ का या अभाव मे शालि का वनाया जाता था। गुझिया के भीतर यह चूर्ण भरा जाता था। इसीलिए भाष्य मे गुझिया (अपूप) को चूर्णी कहा है।[1] पाणिनि ने भी भोज्य वस्तु के रूप मे चूर्ण का उल्लेख किया है।[2] काशिकाकार ने मुद्‌ग और मसूर के चूर्ण का भी उल्लेख किया है। मुद्‌ग चूर्ण के लड्डू तो सुपरिचित ही हैं।

पलल—भाष्य मे पलल-पिण्ड का उल्लेख एकाधिक[3] वार हुआ है और इस प्रकार हुआ है, जिससे वह सुपरिचित खाद्य जान पडता है। पाणिनि मे पलल का प्रयोग उसके साथ होनेवाले मिश्रवाची तत्पुरुष के प्रसग मे किया गया है।[4] काशिकाकार ने इसका उदाहरण गुडपलल और घृतपलल दिया है। 'पट् च काण्डादीनि' (६-२-३५) सूत्र मे उपर्युक्त सूत्र के अमिश्र के उदाहरणो मे काशिकाकार ने 'तिलपललम्' का उल्लेख किया है।[5] इन उदाहरणो से पलल वनाने की प्रक्रिया का पता चल जाता है। तिलो को भून और कूटकर उनमे गुड और घी मिलाकर अथवा केवल तिलो से वनाई गई कतरी या तिलकूट को पलल कहते थे।

सूप—सूप का व्यवहार ससृष्टि के लिए होता था। यह ओदन के साथ मिलाकर खाया जाता था।[6] सूप मे सर्वाधिक मुद्‌ग (मूँग) का उपयोग होता था। मूँग को मिलाकर वनाये हुए भात को मौद्‌ग ओदन (खिचडी) कहते थे।[7] सूप चवाकर खाने की वस्तु नही थी, वह पेयो के समान पतली वनती थी। 'शालिविकार (ओदन) को मुद्‌गविकार (मूँग की दाल) के साथ खाता है,' ऐसा उल्लेख भाष्य मे मिलता है।[8] मुद्‌ग के अतिरिक्त माष का व्यवहार दाल के लिए

---

१. ४-४-२३।
२. वही।
३. १-१-१, पृ० ९३।
४. ६-२-१२८ काशिका।
५. ६-२-१३५ काशिका।
६. ४-४-२५।
७. वही।
८. ४-३-११५, पृ० २६५।

होता था। माष, सूप और ओदन तीनो का एक साथ उल्लेख भाष्य मे हुआ है।[1] माष पचेलिम कहा गया है, क्योकि वह जल्दी ही गल जाता है।[2] दाल के रूप मे मटर का भी व्यवहार होता था। अतिथियो को भी मटर की दाल और चावल खिलाये जाते थे।[3] माष का व्यवहार ओदनादि के साथ ही होता था। इसीलिए, भाष्य[4] मे कहा है 'माष न खाओ', यह कहने पर माष अन्य भी किसी वस्तु के साथ मिलाकर नही खाये जाते थे।

सूप लवण डालकर वनाया जाता था। लवणयुक्त सूप को लवणसूप कहते थे। ससृष्ट अर्थ मे लवण के आगे होनेवाले प्रत्यय का लुक् हो जाता था। इसी को भाष्य मे 'लवणीकृत्य' या 'लवणकृत्य' कहा है।[5] भाष्यकार ने इस प्रसग मे लवण शब्द का प्रयोग दो अर्थों मे प्रचलित वतलाया है–रसवाची और ससृष्टनिमित्त। अससृष्ट अर्थ मे भी लवण शब्द का प्रयोग देखा जाता है। यथा लवणक्षीर, लवणपानीय। क्षीर और पानीय मे विना लवण मिलाये ही उनका स्वाद लवण होता है। इसलिए यहाँ लवण शब्द रसवाची है। ससृष्टनिमित्त लवण वहाँ होता है, जहाँ वह अलग से मिलाया जाता है। ससृष्ट पदार्थ मे भी जव वह अलग नही पाया जाता और घुलमिल कर एकाकर हो जाता है, तव कहते हैं, 'अलवण सूप है या अलवण शाक है।[6] 'तस्य भावस्त्वतलौ' (५-१-११९) सूत्र पर भाष्य करते हुए गुण शब्द के विवेचन के प्रसग मे भाष्यकार ने दाल मे डाले जानेवाले लवण के परिमाण के विपय मे भी चर्चा की है। उन्होने कहा है कि यदि कोई सेर भर मूँग मे सेर भर नमक डाल दे, तो वह उपयुक्त नही माना जायगा। यदि अद् (भक्षण करना) धातु से अन्न की व्युत्पत्ति माने, तो इस प्रकार तैयार किया हुआ अन्न सूप खाया ही नही जायगा और यदि अन्न (जीवित रहना) से अन्न को निप्पन्न माने, तो भी इस प्रकार से सूप को खाकर कोई जीवित नही रह सकता, इसलिए उसे अन्न कहना सभव नही होगा।[7]

लवण के अतिरिक्त सूप को घी, कुलत्थ, त्तित्तिडीक आदि से छौकने की भी प्रथा थी।[8] दाल मे अलग से भी घी मिलाया जाता था। मूली या दूसरे शाक भी पकाने के समय दाल मे डाल दिये जाते थे। इस प्रकार पकाया हुआ सूप 'घृतसूप' और 'मूलकसूप' कहलाता था।[9]

वाथिक—अन्नो के कुछ उपसेचक द्रव्य भी है, जिनकी चर्चा अन्नो के साथ ही होनी चाहिए।

---

१. २-१-९, पृ० २७२।

२. ३-१-९६, पृ० १८०।

३. ५-१-१९, पृ० ३१०।

४. १-१-५१, पृ० ३१८।

५. १-४-७४, पृ० १९६।

६. ४-४-२४, पृ० २७६।

७. संस्कृतमन्न गणवदित्युच्यते—यो हि मुद्गप्रस्थे लवणप्रस्थं प्रक्षिपेन्नादो युक्तं स्यात्। यदि तावददेरन्न नादोऽत्तव्यं स्यात्। अथानितेरन्न नादोजग्ध्वा प्राण्यात् ।—५-१-११९, पृ० ३५५, ५६।

८. ४-४-४ काशिका।

९. ६-२-१२८ काशिका।

उदाहरणार्थ, दधि ओदन के साथ मिलाकर खाया जाता था। इस प्रकार के ओदन को दध्योदन कहते थे।[१] भाष्य मे दध्योदन की चर्चा अनेक रूपो मे बार-बार आई है। इससे यह बहुप्रिय भोजन जान पडता है। दधि से ससृष्ट या सस्कृत वस्तु दाधिक कहलाती थी।[२] दही मे पकाया हुआ अन्य खाद्य भी दाधिक कहलाता था।[३] दही मे पकाई हुई और दही से सस्कृत की हुई वस्तु मे अन्तर होता था। ओदन के अतिरिक्त पिष्टक आदि भी दधि के साथ खाये जाते थे। इन्ही के लिए भाष्य मे कहा गया है, 'दही रहने दो। न सही दही, तुम शाक से खा लो।'[४]

दधि का इतना आधिक्य था कि वह घडे भर-भर कर जमाया जाता था।[५] भाष्यकार ने दधि की तीन श्रेणियाँ बतलाई है—मन्द, उत्तरक और निलीनक। मन्द कुछ कम जमा हुआ, उत्तरक पूर्णतया जमा हुआ और निलीनक जमकर कुछ बिगडता हुआ दधि कहलाता था। ब्राह्मण-भोजन मे भी दही परोसा जाता था।[६] भाष्यकार ने बार-बार इस वाक्य की आवृत्ति की है, 'सब ब्राह्मणो को दही परोसो, किन्तु कौण्डिन्य को मठ्ठा दो।'[७] दही परोसनेवाले को 'दधिसेच्' कहते थे।[८]

ओदन दध्युदक (मठ्ठे) मे पकाये जाते थे।[९] सत्तू भी दही से खाये जाते थे।[१०] भाष्य के उल्लेखो से दधि का प्रचार सूप से भी अधिक जान पडता है। भाष्यकार ने दधि-भोजन को अर्थसिद्धि का समीपी कहा है।[११]

पायस—दुग्ध का प्रयोग पान के रूप मे तो होता ही था, उसमे शालि, व्रीहि तथा अन्य अन्न मिलाकर पकाये जाते थे। पयस् मे पकाई वस्तु पायस कहलाती थी। जिस व्यक्ति को पायस अधिक प्रिय होता था, उसे पायसिक कहते थे।[१२] पायस पकाने का भी उल्लेख भाष्य मे स्वतन्त्र रूप से मिलता है।[१३] पायस खीर और खडी दोनो को कहते थे।

औदश्वित्क—उदश्वित् शब्द भाष्य मे अनेक बार आया है—उदश्विदुदक,[१४] मथि-

---

१. २-१-३४, ३५, पृ० २८६।
२. ४-४-४२ तथा ४-४-३।
३. ४-२-१८।
४. २-१-१, पृ० २५०।
५. २-१-३४, पृ० २८७।
६. दधीत्युक्ते बह्वोऽर्था गम्यन्ते मन्दमुत्तरक निलीनकम्।—२-१-३४, पृ० २८७।
७. सर्वेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्र तु कौण्डिन्याय।—१-१-४७, पृ० २८७।
८. १-१-६३, पृ० ४१२।
९. १-१-६७, पृ० ४२४।
१०. १-१-५७, पृ० ३६८।
११. दधिभोजनमर्थसिद्धेरादिः।—६-४-१६१, पृ० ४९६।
१२. ४-२-१०४, पृ० २०९।
१३. १-१-७२, पृ० ४५८।
१४. ६-१-८५, पृ० १२४।

तोदक,[1] दध्युदक[2], तक्र,[3] मथित[4] आदि। चावल तथा पिष्टक उदश्वित् मे पकाये जाते थे। इन्हे औदश्वित्क या औदश्वित कहते थे।[5] इस प्रकार के द्रव्यो मे तक्रौदन तथा कढी का प्रचार आज भी है।

उदश्वित् दधि से बनाया जाता था। दधि को विलोनेवाली रई को विशाख कहते थे। विशाख के मन्थदण्ड को वैशाख कहते थे।[6] रई की आकृति से मिलती होने के कारण चलने के सहारे के लिए बनाई गई लकड़ी वैसाखी कहलाती थी।

सर्पि—दधि से विलोकर निकाले गये पदार्थ को हैयगवीन[7] कहते थे, जिसे तपाकर घृत या सर्पि बनाया जाता था।[8] सर्पि का व्यवहार खाद्य पदार्थो को तलने, सस्कृत करने एव व्यजन के रूप मे होता था। व्यजन रूप मे सर्पि सूप एव ओदन मे मिलाकर खाया जाता था।[9] हैयगवीन से घृत वनाने के लिए उसे पकाया जाता था। जमे हुए घृत को शीन[10] कहते थे। अभि या अव उपसर्ग पूर्व होने पर अभिशीन और अभिश्यान दोनो प्रयोग होते थे। घृत-भोजन को भाष्यकार ने आरोग्य का आदि कहा है।[11] इसीलिए 'घृत की कामना[12] करता है,' घृत की एक बूँद[13] ही होती।' ऐसे उदाहरण भाष्य मे प्राप्त होते हैं। किन्तु, घृत और क्षीर सबके भाग्य मे नही था। जो गाय पालता था, वह उनका घी-दूध खाता था। जो नही पाल सकता था, उसके लिए इनका दर्शन तक दुर्लभ था।[14]

तैल—घृत के समान तैल भी सस्कारक द्रव्य था, जो तिल अथवा सर्षप से निकाला जाता था। दही से निकलनेवाले घी के साथ भाष्य मे तिलों के तैल की भी चर्चा है।[15] एक अन्य स्थान

---

१. ५-३-८३, पृ० ४७४।
२. ४-२-१९।
३. १-१-६७, पृ० ४२४।
४. १-१-४७, पृ० २८७।
५. ६-१-८५, पृ० १२४ तथा ५-३-८३, पृ० ४७४।
६. ५-१-११०।
७. ५-२-२३, पृ० ३७३।
८. १-३-११, पृ० ४६।
९. पुत्रा मे बहुघृतक्षीरमोदनं कांस्यपात्र्यां भुञ्जीरन्—६-२-३, पृ० ३१७ तथा ६-२-१२८ काशिका।
१०. ६-१-२३ तथा २६।
११. ६-४-१६१, पृ० ४९६।
१२. १-३-२५, पृ० ६३।
१३. वही।
१४. यस्य च ता गावः सन्ति स तासां क्षीरं घृतं चोपयुङ्क्तेऽन्यैरेतद् दृष्टुमप्यशक्यम्।—१-२-४५, पृ० ५२८।
१५. १-३-११, पृ० ४६।

पर भी तैलभोजन एव घृतभोजन का उल्लेख है।[१] सर्षप और तिल के अतिरिक्त इगुदी के तैल का भी प्रचार था।[२]

शाक—शाक का उपयोग दो प्रकार से होता था–पकाकर और कच्चे रूप मे। मूलक आदि भोजन के साथ यो भी काटकर खाये जाते थे। मूलक खाने की इस क्रिया को 'उपदंश' कहते थे।[३] मूल या मूलक का उत्पत्ति-क्षेत्र मूल-शाकट या[४] मूल-शाकिन कहलाता था।[४] मूलक को सूप मे मिलाकर भी पकाते थे, अर्थात् मूलक का सूप (रसीला खाद्य)[५] वनाते थे। कपित्थ का रस निकालकर खाया जाता था।[६] आज भी कपित्थ की चटनी वनाई जाती है। इनके अतिरिक्त अलावू, त्तित्तिडीक,[७] पनस, दर्दभक, शृंगवेर(अदरक) का भी प्रयोग किया जाता था।[८] पलाण्डु खाने का भी उल्लेख भाष्य मे मिलता है।[९]

पकाकर खाया जानेवाला शाक दो प्रकार का वनता था–लवण और अलवण। कुछ लोग लवण नही खाते थे।[१०] वे अलवण शाक और सूप का व्यवहार करते थे।[११] 'शाक को ओदन आदि मे मिलाता या सानता है', ऐसा उल्लेख भाष्य मे मिलता है[१२], जो उसके खाये जाने की प्रक्रिया की ओर सकेत करता है। एक स्थान पर शाक का उपयोग दधि के समान उपसेचक के रूप मे वतलाया गया है।[१३] शाक के लेश या स्वल्पता के लिए 'शाक-प्रति' शब्द रूढ था।[१४] इसी प्रकार 'माष-प्रति' 'सूप-प्रति' या 'ओदन-प्रति' शब्द प्रचलित थे। शाक घृत या तैल मे वनाया जाता था। कोई-कोई मूँग की दाल मे मिलाकर पकाया करते थे।[१५]

फल—फलो मे दाड़िम, द्राक्षा, विम्वा (Momordica monadelpha) मृद्वीका (लाल अगूर), और वदर एव कुवली (Qujube) भोजन के अग थे।[१६]

१. भा० १, पृ० २६ ।
२. ५-२-२९, पृ० ३७६ ।
३. ४-१-४८, पृ० ६१ ।
४. ५-२-२९, पृ० ३७६ ।
५. ६-२-१२८, काशिका ।
६ ४-३-१५५, पृ० २६६ ।
७. २-१-१, पृ० २५३ ।
८. २-२-३६, पृ० ३९२ ।
९. पचति पनसम् ।—१-१-७, पृ० १५४।
१०. १-२-५१, पृ० ५५२ तथा ४-४-२४, पृ० २७० ।
११. वही ।
१२. ३-२-१४१, पृ० २७३ ।
१३. २-१-१, पृ० २५० ।
१४. २-१-९, पृ० २७२ ।
१५. ६-२-१२८, काशिका ।
१६. १-१-१, पृ० ९४, ४ ४-९९; २-२-५, पृ० ३२६; १-१-५८, पृ० ३७९ तथा ६-३-४२, पृ० ३२९ ।

मांस—शाक और सूप के समान ही मास भी ओदन का सहायक आहार था। मास का व्यवहार समाज मे वहुत अधिक था। मालूम होता है कि यज्ञ मे पशुवल इसके प्रचार मे विशेष सहायक था। श्रोत्रिय लोग प्रसाद रूप मे 'आग्नि-वारुणी स्थूल-पृषती अनड्वाही' का मांस ग्रहण करते थे।[1] विशिष्ट अतिथियो के लिए समास मधुपर्क की प्रथा चल चुकी थी, इसलिए उन्हे मांसौदनिक अतिथि कहते थे।[2] शार्ङ्ग और कपोत के भक्षण का भी उल्लेख भाष्य मे मिलता है।[3] कपोत के रस या शोरवे को कापोत कहते थे। भाष्य मे प्रश्न करते हुए कहा है कि कपोत तो सलोम और सपक्ष प्राणी का नाम है। उसका रस वना लेने पर वह तो जीवित रहता नही। तव उस रस को कापोत कैसे कह सकते है? अच् प्रत्यय, जिससे कापोत शब्द वनता है, प्राणिवाचक शब्द से ही होता है। कपोत का मास उसका प्रथम विकार है और उस मास का विकार रस होता है। इन दो अर्थो मे दो विकारार्थक प्रत्यय न करके सीधे कपोत से ही एक अच् प्रत्यय किया जाता है। प्रश्नकर्त्ता का आशय यह है कि यदि कपोत से सीधे रस वनाया जाता, तो प्राणिवाचक से अच् प्रत्यय होना उचित था, किन्तु प्रत्यय होता हे कपोत के मास से और मांस प्राणी है नही। इसका उत्तर भाष्यकार एक वाक्य मे देते है कि 'यह वात सर्वमान्य है कि विकार मे प्रकृति का सम्वन्ध रहता है। इसलिए विकार के लिए प्रकृति शब्द का प्रयोग हो सकता है। इस दृष्टि से कपोत के मास के लिए कपोत शब्द का व्यवहार हो सकता है।'[4]

पक्षियो के अतिरिक्त मछलियाँ भी खाद्य थी। खाने के लिए उनका शिकार करने की प्रथा थी। मत्स्य, मीन, अजिह्म इन पर्यायवाची तथा शफर, शकुल आदि मीन-विशेषो का उल्लेख शिकार के लिए भाष्य मे मिलता है।[5] मासार्थी लोग काँटों-सहित पूरी-पूरी मछलियों को ले जाते थे और फिर घर पर ग्राह्य अश लेकर शेष फेक देते थे।[6]

पशुओं मे मृग का मास मुख्यत उच्चवर्ग में खाया जाता था। अज और अवि का[7] मांस सामान्य समाज मे खूव प्रचलित था। छाग की वलि यज्ञ मे भी दी जाती थी और उसका मांस खाया जाता था। मांसौदन के लिए मृग के शिकार का भी उल्लेख भाष्य मे मिलता है।[8] चण्डालादि कुत्ते तक का मास खाते थे।[9] पाँच-पाँच नखवाले प्राणी तो शास्त्र द्वारा भक्ष्य ठहराये गये थे।[9] ये थे—शशक, शल्यक, खड्गी, कूर्म और गोधा। आरण्य शूकर और कुक्कुट भी भक्ष्य थे।

---

१. आ० १, पृ० ३।
२. ४-४-६७।
३. २-२-३६, पृ० ३९२।
४. ४-३-१५५, पृ० २६७।
५. १-१-६८, पृ० ४३५।
६. १-२-३९, पृ० ५१६।
७. ४-३-१३१, पृ० २५५ तथा २-३-६१, पृ० ४४८।
८. २-३-१३, पृ० ४१७।
९. आ० १, पृ० ११ तथा (अभक्ष्यो ग्रामकुक्कुटोऽभक्ष्यो ग्रामशूकर इत्युक्ते गम्यत एतदारण्यो भक्ष्य इति।—वही।

मांस सामान्यतया ओदन के साथ खाया जाता था।[1] भाष्य के उल्लेखों से ऐसा ज्ञात होता है कि मांस खाने का स्वभाव बहुत-से लोगों का बन गया था, जो सदा मांस पाने की कामना किया करते थे।[2] मांस का लालच देकर लोग दूसरों को अपने पास रहने के लिए प्रलोभित करते थे।[3] भोक्ता मांसौदन की ओर शुष्कौदन की अपेक्षा अधिक तेजी से अग्रसर होता था।[4]

जिस पात्र में मांस पकाया जाता था, उसे मांसपचनी कहते थे।[5] मांस को कूटकर शूल या शलाका पर भूनने की प्रथा थी। यह मांस 'शूलाकृत' कहलाता था।[6] यह प्रथा पाणिनि-काल में भी प्रचलित थी। शूल पर पकाये गये मांस को शूल्य कहते थे।[7] इसी प्रकार उखा में संस्कृत की हुई वस्तु उख्य कहलाती थी। कभी-कभी बाणादि के द्वारा विद्ध पशु को पूरे का पूरा ही पका लेते थे और कभी खण्ड-खण्ड करके।[8] पशु को भूनकर खा लेने की प्रवृत्ति उस समय भी कुछ लोगों में थी।

शालि-मांस का व्यवहार जन-सामान्य में था, किन्तु साधक, व्रती आदि मांस का व्यवहार नहीं करते थे। भाष्य में ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्यादि के व्रत-भोजन का विधान करते हुए कहा गया है कि शालि मांसादि खाकर भी व्रत किया जा सकता है।[9]

गुड—गुड का प्रयोग अपूप या मोदक बनाने तथा धाना एवं पलल को पागने तथा अन्य मधुर खाद्यान्नों में किया जाता था। स्वतन्त्र रूप से भी गुड़ खाया जाता था।[10] गुड का स्वाद मधुरिमा का प्रतिमान था और अन्य मधुर पदार्थों की मिठास जानने के लिए मापदण्ड था। भाष्यकार ने द्राक्षा को गुडकल्पा, अर्थात् गुड के समान मीठी कहा है।[11] गुड इक्षु से बनता था और जिस इक्षु में गुड़ का परिमाण अधिक प्राप्त होता था उसे गौडिक इक्षु कहते थे।[12] भाष्य में गुड और शृंगवेर (अदरक) का स्वाद परस्पर विरोधी बतलाया है।[13]

---

१. २-३-१३, पृ० ४१७ ।
२. ३-२-१ पृ० २०४ ।
३. ३-३-१३९, पृ० ३३० ।
४. १-३-१, पृ० १४ ।
५. ६-१-६३, पृ० ८६ ।
६. ५-४-६५ ।
७. ४-२-१७ ।
८. पशुं विद्धं पचन्ति—आ० २, पृ० ५५ ।
९. आ० १, पृ० १९ ।
१०. १-४-४९, पृ० १७४ ।
११. ५-३-६७, पृ० ४६१ ।
१२. ४-४-१०३, काशिका ।
१३. ४-२-८४ ।

शर्करा—शर्करा का प्रत्यक्ष उल्लेख भाष्यकार ने मधुर खाद्य के अर्थ मे नही किया है, किन्तु पाणिनि ने 'शर्करायां वा' (४-२-८३) मे न केवल शर्करा का नामोल्लेख किया है,[1] अपितु उससे बनाई जानेवाली वस्तुओ की ओर भी सकेत किया है। पाणिनि के अनुसार शर्करा से बने पदार्थ को शर्करा, शार्कर, शार्करिक, शर्करिक या शर्करीय कहते थे।[2]

मधु—मक्षिकाओ द्वारा निर्मित होने के कारण माक्षिक या सारघ[3] कहा जाता था। भाष्यकार ने इसे द्रव्यपदार्थक और रसवाची कहा है।[4] मधु की लालसा करने के लिए विशेष क्रिया का प्रयोग होता था। मध्वस्यति या मधुस्यति।[5] मधु इतना प्रिय था कि लोग उसकी लालसा किया करते थे।[6]

द्राक्षा—द्राक्षा के माधुर्य को 'गुडकल्प' कहा गया है।[7] कपिशा द्राक्षा की उत्पत्ति का प्रसिद्ध क्षेत्र था।[8] पेय पदार्थ दो प्रकार के थे—पौष्टिक स्वादु एव मादक। पौष्टिक पदार्थों मे मुख्य ये थे—

क्षीर—क्षीर का मुख्य साधन गो थी, यद्यपि अन्य प्राणियो के क्षीर का उल्लेख भी भाष्य मे प्राप्त होता है।[9] गायो मे कृष्णा बहुक्षीरा मानी जाती थी।[10] आपीनऊध[11] क्षीर के आतिशय्य का परिचायक माना जाता था। क्षीर अन्य खाद्य पदार्थो के बनाने मे भी काम आता था। यवागू क्षैरेयी[12] या पयस्कल्पा होती थी।[13] आमिक्षा भी क्षीर से बनती थी। पायस भी, क्षीर मे पकाया जाता था। पायस के प्रेमी पायसिक[14] कहलाते थे और इनकी कमी न थी, फिर भी, पान के रूप मे क्षीर का महत्त्व सर्वाधिक था। ब्राह्मण पयोव्रत होते थे।[15] माणवको का यह मुख्य भोजन था। वे उसकी लालसा करते ही रहते थे।[16] उशीनर के लोग क्षीर पान से सर्वाधिक प्रेमी थे।[17]

१. वही।
२. नहि गुड इत्युक्ते मधुरत्व गम्यते शृङ्गवेरमिति वा कटुकत्वम्।—२-१-१, पृ० २५३।
३. ४-३-११६, पृ० २४९।
४. ५-२-१०७, पृ० ४१६।
५. ७-१-५१, पृ० ४९।
६. १-३-२५, पृ० ६३।
७. ५-३-६७, पृ० ४६१।
८. ४-२-९९।
९. ६-३-४२, पृ० ३२८।
१०. कृष्णा गवां सम्पन्नक्षीरतमा।—२-३-४२, पृ० ४३३।
११. ६-१-२८, पृ० ५६।
१२. ४-२-२०, पृ० १७२।
१३. ५-३-६७, पृ० ४६२।
१४. ४-२-१०४, पृ० २०९।
१५. आ० १, पृ० १९।
१६. ७-१, पृ० ४९।
१७. ८-४-९ काशिका।

मथित—मथित के लिए तक्र, मथितोदक, उदश्वित् आदि शब्दो का प्रयोग प्रचलित था[1], जो वैसाखमन्थ से मथकर बनाया जाता था।[2] यह दधि से निम्न कोटि का भोजन था। इसीलिए, कौण्डिन्य का अपमान करने के उद्देश्य से कहा गया है सब ब्राह्मणो को दही दो, किन्तु कौण्डिन्य को तक्र दो।[3] मथित का प्रयोग इतना अधिक था कि कुछ लोग केवल मथित बेचने का ही व्यवसाय करते थे।[4]

गुडोदक—गुड का शर्बत गुडोदक कहलाता था। इसका प्रचार आज भी उत्तर भारत मे अधिकता से पाया जाता है। भाष्य मे बार-बार गुडोदक का उल्लेख होने से इसके प्रिय पेय होने का अनुमान होता है।[5]

सुरा—सुरा का प्रयोग सामान्य जनता मे प्रचलित था। एतदर्थ पानागार थे, जिनमे जाकर लोग सुरापान करते थे।[6] ऐसे लोगो के प्रति समाज-सम्मान का भाव कम था। नियमित पीनेवाले दुर्मदी कहलाते थे। ये कभी सुरा से तृप्त नही होते थे।[7] सुरा का प्रचार प्राच्य लोगो मे अधिक था। वाह्लीक और सौवीर लोग भी पान अधिक करते थे। गान्धार लोग कषाय[8]-पान को पसन्द करते थे। सुरा बनानेवालो को शौण्डिक या आसुतीवल कहते थे। पीनेवाले के लिए 'शौण्ड' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[9] आसुतीवल सुरा खीचने, भभके से उसे टपकाने (अभिषव) का काम करता था।

सुरा या शुण्डा के अनेक प्रकार थे। मैरेय एक प्रकार का मद्य था, जो गुड या महुए से बनाया जाता था। इसे इसके अगभूत पदार्थो के अनुसार गुड-मैरेय या मधु-मैरेय कहते थे। उच्चकोटि के मैरेय को परममैरेय कहते थे। काशिकाकार ने आसव और मैरेय मे अन्तर बतलाया है।[10] प्रसन्ना सुरा का दूसरा भेद था। यह गुड से बनाई जाती थी। इसका रग तेल के समान हल्का पीला होता था। भाष्यकार ने बार-बार इसे 'तैलकल्पा' कहा है।[11] कापिशायनी सुरा अंगूरो के रस से बनाई जाती थी। इसीलिए उसे कापिशायन मधु कहते थे।[12] अंगूरो के रस के लिए मधु शब्द का व्यवहार होता था। यहाँ की द्राक्षा बहुत प्रसिद्ध थी। यही से द्राक्षा से बना हुआ

---

१. ६-१-८५, पृ० १२४ ।
२. ५-१-११० ।
३. १-१-४७, पृ० २८७ ।
४. ७-३-५०, पृ० १९५।
५. १-४-२, पृ० १२४ तथा ६-१-८५, पृ० १२४ ।
६. पिबति शौण्डः पानागारे।—२-१-१, पृ० २२८ ।
७. २-२-२९, पृ० ३७९ ।
८. ८-४-९ काशिका ।
९. २-१-१, पृ० २२८ ।
१०. ६-२-७० काशिका ।
११. ५-३-६७, पृ० ६८ तथा ५-४-१४, पृ० ४६१ ।
१२. ४-२-९९ ।

मधु अन्यत्र भेजा जाता था। कषाय हल्के नशेवाला पेय था। सामान्य कषाय घी-माँड़ (सर्पिर्मण्ड) तथा उमापुष्पो (अलसी के फूल) से बनाया जाता था। एक प्रकार का कषाय दौवारिकों का पेय था जिससे यह निम्न कोटि का पेय मालूम होता है। सर्पिर्मण्डकषाय, उमापुष्पकषाय और दौवारिककषाय ये कषाय के भेद थे और संज्ञा शब्द थे। इनमे उच्च कोटि के कषाय को परम-कषाय कहते थे।[1]

सुरा बनाने के यन्त्र (भभका)को आसुति[2] कहते थे। सुरा के घटक पदार्थों का प्रथम किण्व बनाया जाता था। किण्व की प्रक्रिया पूर्ण होने पर वे आसव्य[3] स्थिति मे होते थे। अभिषव (सुरा खीचने) के बाद बचा हुआ अश[4] कल्कविनीय कहलाता था, जिसे फेंक दिया जाता है।[5]

ब्राह्मण लोग सामान्यतया सुरा नही पीते थे, किन्तु सौत्रामणि आदि यज्ञों मे स्वल्प सुरा का सेवन भी वे धार्मिक दृष्टि से करते थे। भाष्य मे एक स्थान पर पूर्वपक्षी कहता है, 'यदि ताम्रवर्णी सुरा से भरी हुई अनेक घटी पीकर कोई स्वर्ग नही पहुँच सकता, तो यज्ञ मे थोडी-सी पी लेने पर कैसे पहुँच जायगा ?'[6]

सोम—सोम का प्रचार ब्राह्मणो, श्रोत्रियों और ऋत्विजो मे था।भाष्य मे सोमपान का[7] पौन पुनिक उल्लेख प्राप्त होता है। सोम बनाने की प्रक्रिया बडी जटिल थी। सोमवल्ली मूजवन्त पर्वत या कीकटो के देश मे होती थी। इस लता को त्वक् पर फैलाकर फिर वेदी या धिषणा पर रख-कर कूटते थे अथवा मन्था (मूसली) से ऊखल मे कूटते थे। फिर, इसका रस चम या चमस (कलश) मे भरते थे। कूटने या पीसने से पूर्व इसे पानी मे भिगोया जाता था। भाष्य के उल्लेख से सोम के पाक (पकाये जाने) का अनुमान होता है। भाष्यकार ने सोम के सम्बन्ध मे श्रात और श्रित शब्दो के प्रयोग को उचित ठहराया है। ये दोनो शब्द पाक अर्थ मे प्रयुक्त होनेवाली श्री धातु के आगे क्त प्रत्यय लगाकर बनते है। साधारणतया क्त प्रत्यय लगाने पर श्रीत शब्द बनना चाहिए, किन्तु निपातन से श्री को श्रा और श्रि बना दिया जाता है। श्रात का प्रयोग कहाँ हो ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भाष्यकार ने कहा है कि सोम के प्रसग मे श्री को श्रा भाव होता है, अन्यत्र श्रिभाव। फिर 'श्रित सोम' इत्यादि प्रयोग देखकर कह दिया है कि सोम का बहुत्व बतलाना हो, तो श्रात और अन्यत्र श्रित प्रयोग होता है। इससे सोम का पकाया जाना भी होता है।[8]

भोजन-पान के विषय मे प्रचलित कुछ पारिभाषिक शब्दो पर विचार कर लेना यहाँ

---

१. ६-२-१० काशिका।

२. ५-२-११२ ।

३. ३-१-१२६ ।

४. ३-१-११७ ।

५. वही।

६. यदुदुम्बरवर्णानां घटानां मण्डल महत्पीतं न गमयेत् स्वर्गं तत्किं क्रतुगतं नयेत्।—आ० १, पृ० ५, ६ ।

७. ३-१-९४, पृ० १७८ ।

८. ६-१-३६, पृ० ६२ ।

समीचीन होगा। भाष्यकार के मत से, भोज्य और पेय पदार्थों को चार भागों मे बाँटा जा सकता है—१ भोज्य, २. भक्ष्य, ३ व्यजन और उपसिक्त ४ सस्कृत।

भोज्य और भक्ष्य—भोज्य शब्द भुज् धातु से बना है। सामान्यतया 'अभ्यवहार करने के योग्य' इस अर्थ मे ण्यत् प्रत्यय होकर 'चजो कु घिण्ण्यतो' (७-३-५२) सूत्र से कुत्व होकर भोग्य बनना चाहिए था, किन्तु पाणिनि ने 'भोज्य भक्ष्ये' (७-३-६९) सूत्र से कुत्वभाव कर निपातन से भोज्य शब्द बना लिया है। इस प्रकार, पाणिनि के मत से भोज्य और भक्ष्य पर्याय है। कात्यायन का मत है कि सूत्रकार को भक्ष्य शब्द के स्थान पर अभ्यवहार्य शब्द का प्रयोग कर 'भोज्यमभ्यवहार्ये' सूत्र बनाना चाहिए था, क्योकि भोज्य और भक्ष्य मे अन्तर है। भक्षण केवल खर विशद, अर्थात् कड़ी वस्तु का होता है, जो चबाकर खाई जाती है। सूप और यवागू खर विशद नही हैं। वे द्रव होते हैं। यदि भोज्य और भक्ष्य को पर्याय मान लेंगे, तो सूप और यवागू भोज्य नही कहे जा सकेंगे।

पतजलि ने कात्यायन के मत पर आपत्ति की है। उनका कथन है कि भक्ष् धातु का व्यवहार केवल खर विशद पदार्थ के ही लिए नही होता। लोक मे अब्भक्ष, वायुभक्ष शब्दो का व्यवहार देखा जाता है, यद्यपि वायु और जल खर विशद पदार्थ नही है। इससे स्पष्ट है कि भक्ष्य खर विशद से भिन्न पदार्थ भी हो सकता है। इस प्रकार, पाणिनि और पतजलि दोनो भक्ष्य और भोज्य को पर्याय मानते हैं।[1] इसीलिए, पाणिनि ने पलल (मास), सूप और शाक को भक्ष्य माना है और 'भक्ष्येण मिश्रीकरणम्' (२-१-३५) के उदाहरण गुडपलल (गुड डालकर पकाया हुआ मास), घृतपलल, घृतसूप, घृतशाक आदि शब्द मानकर उनमे 'पललसूपशाक मिश्रे' (६-२-१२८) से आद्युदात्त स्वर का निर्देश किया है। उपर्युक्त शब्दो मे सूप खर (कठिन या कडा) और विशद (अलग-अलग दानोवाला) नहीं होता। दूसरी ओर पाणिनि ने अन्न और भक्ष्य मे भी अन्तर किया है, इसीलिए उन्होने 'अन्नेन व्यञ्जनम्' (२-१-३४) और 'भक्ष्येण मिश्रीकरणम्' (२-१-३५) मे अन्न और भक्ष्य का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। अन्न सामान्य खाद्य को कहते थे और भक्ष्य खर विशद, अर्थात् चबाकर खाये जाने योग्य खाद्य को। यद्यपि भाष्य और काशिका ने इन दोनो के जो उदाहरण (दध्योदन और गुडधाना) दिये हैं, उनसे यह अन्तर स्पष्ट नही होता। ओदन और धाना दोनो ही भक्ष्य है और अन्न भी।

वास्तव मे भक्ष्य और भोज्य मे शास्त्रीय दृष्टि से अन्तर था। शास्त्रीय दृष्टि से जहाँ प्रयोग होता था, वहाँ भोज्य अभ्यवहार्य मात्र को कहते थे और भक्ष्य खर-विशद को, किन्तु सामान्यतया लोक मे दोनो शब्दो का पर्याय रूप में ही प्रयोग होता था। पाणिनि ने भक्ष्य शब्द का प्रयोग दोनो दृष्टियो से किया है, इसीलिए उसमे ऊपर से देखने पर विसगति मालूम होती है।

मिश्रीकरण—भक्ष्य पदार्थों को अधिक स्वादु बनाने के लिए उनमे कभी-कभी दूसरे पदार्थ भी मिलाये जाते थे। इन दोनो मे एक मुख्य खाद्य होता था और उसका सहायक। मुख्य खाद्यो मे धाना, पलल, सूप, शाक आदि थे और इनके मिश्रीकरण थे गुड, घृत, मूलक आदि। इनके सयोग से बने मिश्रीकृत पदार्थों को गुडधाना, गुडपृथुक, गुडपलल, घृतसूप, मूलकसूप घृतशाक और मुद्गशाक आदि कहते थे। इन उदाहरणो से भक्ष्य पदार्थों की पाक-विधि पर

---

१. ७-३-६९, पृ० २०३।

भी प्रकाश पडता है।[1] यथा– मांस गुड मिलाकर भी पकाया जाता था। दाल मूली मिलाकर भी पकाई जाती थी और शाक जिस प्रकार आज दाल मिलाकर पकाया जाता है, उसी प्रकार पतजलि-काल मे भी पकाया जाता था। इसमे शाक मुख्य भक्ष्य होता था और मुद्ग मिश्रीकरण, अर्थात् सहायक। तिल भी मिश्रीकरण का काम देते थे।[2] मिश्रीकरण-युक्त भक्ष्यो मे गुडधाना का प्रचार सबसे अधिक था।[3]

व्यंजन—व्यजन शब्द अज धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'प्रकाशित करनेवाला'। जब किसी चिकने पदार्थ से अथवा मधुर पदार्थ से इन्द्रियो की स्थिति ऐसी जडीकृत हो जाती है कि उससे अन्य वस्तु के स्वाद का पता ही नही चलता या चलता है, तो ठीक नही चल पाता, उस समय जो वस्तु इन्द्रियो को अपनी स्वाभाविक स्थिति वापस ला देती है, उसका नाम है राग। उसी को व्यजन कहते हैं। यह नाम सार्थक भी है। चिक्कण अथवा मधुर पदार्थो से जिह्वा पर एक प्रकार का लेप-सा बैठ जाता है। उसका प्रतिबन्ध आ जाने पर जिह्वा को अन्नरस की वास्तविक प्रतीति नही हो पाती। ऐसी स्थिति मे चटनी, धनिया, खट्टी या अन्य चटपटी वस्तु खाने से जिह्वा का वह लेप दूर हो जाता है और जिह्वा अन्नरस का ठीक अनुभव करने लगती है। इसीलिए चटनी आदि को व्यजन[4] कहते है। 'अञ्चोऽनपादाने' (८-२-४८) सूत्र के भाष्य मे पतजलि ने व्यजन की यह परिभाषा दी है और 'अन्नेन व्यञ्जनम्' (२-१-३४) सूत्र के भाष्य में 'दध्योदन' उदाहरण देकर 'दधि' को व्यजन स्वीकार किया है।[5] काशिकाकार ने 'व्यञ्जनैरुपसिक्ते' (४-४-२६) मे दधि के साथ सूप और शाक का भी उल्लेख किया है।[6] इन सबसे भाष्यकार की उक्त परिभाषा की पूर्ण सगति नही बैठती। प्रस्तुत उदाहरणो से भोज्य के स्वाद मे वृद्धि करनेवाले उसके सहायक खाद्य के लिए व्यजन शब्द का प्रयोग रूढ जान पड़ता है।

इस प्रकार मिश्रीकरण और व्यजन तीन बातो मे भिन्न थे। प्रथम मिश्रीकरण व्यक्तिगत रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न होते थे, किन्तु व्यजन सामान्य रुचि पर आश्रित थे। पलल को गुड़ के साथ मिलाकर खाना न खाना पूर्णत व्यक्तिगत रुचि की बात थी, किन्तु दधि और ओदन या दधि और सूप रुचिसामान्य से सम्बद्ध था। दूसरे मिश्रीकरण की क्रिया खाद्य तैयार करने की दशा मे पाचक करता था और भोजन-क्रिया से पूर्व ही खाद्यान्न तथा मिश्रीकरण दोनो मिलकर एक हो जाते थे। व्यजन की स्थिति भिन्न थी। व्यजन और खाद्य दोनो अलग-अलग पकाये जाते थे

---

१. खरविशदमभ्यवहार्यं भक्ष्यम्। तस्य संस्कारक मिश्रीकरणम्।—२-१-३५ काशिका तथा ६-२-१२८ काशिका।

२. ६-३-१५४ काशिका।

३. २-१-३५, पृ० २८६।

४. अञ्जेर्व्यञ्जनंव्यञ्जनं च प्रकाशनम्। यत्तत्स्नेहेन च मधुरेण च जडीकृतानामिन्द्रियाणां स्वस्मिन्नात्मनि व्यवस्थापनं स रागस्तद्व्यञ्जनम्। अनर्थं खल्वपि निर्वचनम्। व्यञ्ज्यतेऽनेनेति व्यञ्जनमिति।—८-२-४८, पृ० ३६७।

५. २-१-३४, पृ० २६८।

६. ४-२-२६ काशिका।

और भोक्ता उनका मिश्रण करता था। इस प्रकार, मिश्रीकरण और व्यजन-क्रिया के कर्त्ता भी भिन्न होते थे। तीसरे मिश्रीकरण आवश्यक न था। व्यजन आवश्यक था। इस प्रकार स्वाद-वृद्धि की दृष्टि से मिश्रीकरण व्यजन से एक कोटि आगे की क्रिया थी।

उपसेचन—मुख्य अन्न में व्यजन मिलाने की क्रिया को उपसेचन कहते थे और जिस मुख्य अन्न में व्यजन मिलाया जाता था, उसे उपसिक्त[1] कहते थे। जैसे, दधि से उपसिक्त पदार्थ दाधिक कहलाता था। उसी प्रकार दाल से उपसिक्त औदनसौपिक कहा जाता था।

संसृष्टि—मिश्रीकरण की क्रिया संसृष्टि कहलाती थी।[2] उपसेचन में दोनों वस्तुएँ अलग-अलग रहती थी और पक्व अवस्था में परस्पर मिला दी जाती थी। संसृष्टि वह प्रक्रिया कहलाती थी, जिसमें किसी खाद्य के घटकभूत पदार्थ पकाने के पूर्व ही परस्पर मिला दिये जाते थे और वे सब मिलकर एक बन जाते थे। काशिकाकार ने भी संसृष्ट पदार्थों को एकीभूत अभिन्न[3] माना है। दधि में पकाई गई वस्तु, यथा कढ़ी आदि, दाधिक कहलाती थी। इसी प्रकार, मरीचि से संसृष्ट दाल, शाक आदि मारीचिक, शृंगवेर से संसृष्ट शार्गवेरिक[4], पिप्पली से संसृष्ट पैप्पलिक कहलाते थे। चूर्ण से संसृष्ट अपूप या धानाचूर्णी कहे जाते थे।[5] मुद्ग से संसृष्ट ओदन (खिचड़ी) तथा यवागू की मौद्ग संज्ञा थी।[6] लवण से संसृष्ट सूप, शाक या यवागू को लवण ही कहते थे। लवणशाक नमकीन शाक का बोधक था।[7] ये पदार्थ खाद्य पकने के पूर्व ही डाल दिये जाते थे।

कात्यायन ने लवण के संसृष्ट-निमित्त माने जाने पर आपत्ति की है। उनका कथन है कि लवण शब्द रसवाची है। वह छह रसों में एक है। लवणयुक्त (नमकीन) इस अर्थ में लवण शब्द का प्रयोग नहीं होता। वह खटास की तरह रस का बोध कराता है। खारा इस अर्थ का लवण शब्द स्वतन्त्र है और लवण पानी, लवण दूध आदि प्रयोग नमक न मिलाये जाने पर भी होते ही हैं। कभी-कभी नमक डालने पर भी जब दाल, शाक आदि नमकीन नहीं लगते, तो लोग उन्हें अलोना कह देते हैं। इसलिए लवण शब्द से संसृष्ट अर्थ में प्रत्यय कर फिर उसका लुक् करके लवण शब्द की लवण से संसृष्ट अर्थ में निष्पत्ति करना व्यर्थ का प्रयत्न है; क्योंकि इस अर्थ में लवण स्वतन्त्र शब्द है ही।[8]

---

१. ४-२-२६ काशिका।
२. ४-४-२२।
३. ४-४-२२ काशिका।
४. ४-४-२२ काशिका।
५. ४-४-२३।
६. ४-४-२५।
७. ४-४-२४।
८. रस वाच्येव लवणशब्दो नैव संसृष्टनिमित्त.। अतश्च रसवाची। असंसृष्टेऽपि हि लवणशब्दो वर्त्तते। तद्यथा लवणं क्षीरम्। लवणं पानीयम्। संसृष्टेऽपि च यदा नोपलभ्यते तदाऽऽह अलवणः सूप., अलवणं शाकमिति।—४-४-२४, पृ० २७६।

संस्कृत—विद्यमान वस्तु मे उत्कर्प की वृद्धि करने का नाम सस्कार है। खाद्य पदार्थों को दही, मिर्च, अदरक आदि के साथ मिलाकर पकाने की प्रथा उसे स्वादिष्ठ वनाने के लिए थी। कुलत्थ (कुलथा), तित्तिडीक (इमली) और दर्दभक भी सस्कार के लिए प्रयोग मे लाये जाते थे। इनके द्वारा सस्कृत खाद्यों को क्रमश दाधिक, मारिचिक श्रागवेरिक, कौलत्थ, तैत्तिडीक और दार्दभक कहते थे।[1]

सस्कृत शब्द सामान्यतया पकाने के अर्थ मे प्रयुक्त होता था। भ्राष्ट्र (चूल्हे) पर पकाई हुई भोज्य वस्तु भ्राष्ट्र कहलाती थी। इसी प्रकार शूल (शलाका) एव उखा (कडाही) पर पकाये गये मासादि शूल्य और उख्य कहे जाते थे। दही, मट्ठे और दूव मे डालकर पकाई हुई वस्तुएँ दाधिक, औदश्वित या औदश्वित्क और क्षैरेय कहलाती थी। दही, तक्र आदि मे सस्कृत और दही, तक्र आदि से सस्कृत वस्तुओ मे भेद होता था। जो वस्तुएँ दवि आदि मे सस्कृत होती थी, उनके लिए दवि केवल आवारभूत होता था, किन्तु उसका सस्कार (स्वादोत्कर्प) लवणादि से किया जाता था और जो दही आदि से सस्कृत होती थी, उनमे स्वाद-वृद्धि का सावन मात्र दधि आदि होता था,[2] आधारभूत वस्तु अन्य कोई रहती थी।

भोजनार्थ निमन्त्रण—अपने घर पर दूसरों को भोजन के लिए वुलाने की प्रथा वहुत पुरानी है। लोग विशेप अवसरों पर मित्रो, सम्वन्धियो और ब्राह्मणों को अपने घर पर भोजन के लिए वुलाते थे। निमन्त्रण के वुलावे दो प्रकार के होते थे। आमन्त्रण और निमन्त्रण। आमन्त्रण भोजनार्थ सामान्य वुलावे को कहते थे। यह आमन्त्रित व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर था कि वह आमन्त्रण स्वीकार करे, या न करे किन्तु निमन्त्रण स्वीकार करना आवश्यक होता था। निमन्त्रण द्रव्य या कव्य के दिये जाते थे। यज्ञ या श्राद्ध-सम्वन्वी भोजन के लिए की जानेवाली प्रार्थना निमन्त्रण कहलाती थी। निमन्त्रण को अस्वीकार करना अवर्म माना जाता था। किसी-किसी के मत से भोजन की सामग्री पास होने पर समीपस्थ व्यक्ति को खाने के लिए कहना निमन्त्रण कहलाता था और भोजन तैयार होने से पहले दूर से किसी को वुलाना आमन्त्रण कहलाता था।[3] निमन्त्रण ब्राह्मणों को दिये जाते थे। और उन्ही के लिए यह नियोग था। फिर भी, वहुत-से ब्राह्मण श्राद्ध मे भोजन नही करते थे वे अश्राद्धभोजी कहलाते थे।[4] जो लोग श्राद्ध-भोजन स्वीकार करते थे, वे लोग सामान्य थे। श्राद्ध मे न खानेवाले अश्राद्धभोजी कहे जाते थे। कुछ परिवार हव्य-कव्य भोजनों मे परस्पर एक दूसरे को ही न्योत लेते थे। निमन्त्रण स्त्रियो को भी दिये जाते थे और यह परस्पर निमन्त्रण[5] की प्रथा उनमे भी थी। कभी-कभी एक ही ब्राह्मण को कई निमन्त्रण

---

१. ४-४-३, ४ काशिका।

२. ४-२-२६, ४-४-१७, १८, १९, २० तया ४-४-१८ काशिका।

३. सन्निहितेन निमन्त्रणं भवत्यसन्निहितेनामन्त्रणम्। यन्नियोगत. कर्त्तव्यं तन्निमन्त्रणम्। किं पुनस्तत्? हव्यं कव्यं वा। ब्राह्मणेन सिद्धं भुज्यतामित्युक्तेऽवर्मः प्रत्याख्यातुः। आमन्त्रणे कामचार.।—३-३-१६१, पृ० ३३५।

४. ३-२-८०, पृ० २२९।

५. ८-१-१२, पृ० २७७।

प्राप्त हो जाते थे। ऐसी दशा मे वह एकाधिक स्थानों पर भी भोजन कर लेता था। मृदु विशद ओदन और दूध-दही का लालच देकर भोजन के लिए आग्रह करने का उल्लेख भाष्य मे है और एक बार भोजन कर लेने पर भी निमन्त्रित व्यक्ति दधि, दूध और मृदु विशद ओदन के लालच से आमन्त्रण स्वीकार कर लेता था।[१]

सहभोजन—सहभोजन को समाश कहते थे।[२] समाश मे भी ओदन परोसा जाता था। समाश मे शरावों (पात्र) का व्यवहार होता था। जिनको हीन दृष्टि से देखा जाता था, वे पंक्ति से अलग या बाद मे बिठाये जाते थे। 'माठर और कौण्डिन्य बैठे रहे। वे अभी (सब के साथ) भोजन नही करेंगे।' 'सब ब्राह्मण भोजन करें। माठर और कौण्डिन्य बैठे रहे। वे अभी (सब के साथ) भोजन नही करेंगे। 'सब ब्राह्मणो को दही दो, किन्तु कौण्डिन्य को मट्ठा दो' ये उल्लेख भाष्य मे कई स्थानो पर मिलते हैं।[३]

उपवास—विशिष्ट अवसरो पर लोग व्रत या उपवास भी करते थे। ब्राह्मण दूध, क्षत्रिय यवागू और वैश्य आमिक्षा पीकर उपवास करते थे।[४] कभी-कभी लोग केवल जल पीकर और कभी निराहार एव निर्जल रहकर व्रत रखते थे। ये लोग अब्भक्ष और वायुभक्ष कहलाते थे।[५] उपवास के दिन का भोजन निश्चित रहता था। उस दिन शालि-मासादि खाना वर्जित था। वैदिक काल से यह प्रथा चली आती थी।

वर्जित भोजन—ब्राह्मण के लिए सुरापान वर्जित था। भूल से भी सुरापान करनेवाला पतित माना जाता था।[६] केवल यज्ञकर्म इसका अपवाद था। सुरापान सामान्य जनों के लिए भी अच्छा नही माना जाता था।[७] मास के विषय मे कोई निषेध भाष्य मे नही उपलब्ध होता। हाँ, पाँच पञ्चनख प्राणियो का मास खाया जा सकता है, यह कथन अवश्य प्राप्त होता है। ये पञ्चनख प्राणी ब्राह्मणो के भी भक्ष्य थे। ग्राम-कुक्कुट और ग्राम-शूकर अवश्य अभक्ष्य थे, किन्तु आरण्य भक्ष्य थे।[८] शार्ङ्ग पक्षी का मास का भी अभक्ष्य जान पडता है। भाष्यकार ने पलाण्डु-भक्षिती के साथ शार्ङ्गजग्धी का उल्लेख किया है।[९] शार्ङ्ग का पृथक् नाम-ग्रहण ही उसके भक्षयिता के हीनत्व का द्योतक है। पलाण्डु स्वयं अभक्ष्य खाद्यो मे था। केवल पलाण्डु भी अभक्ष्य माना जाता था। जो कोई उसके साथ सुरा भी पिये, उसका तो कहना ही क्या। भाष्यकार ने ऐसे व्यक्ति

---

१. १-४-४९, पृ० १७३।
२. १-१-७२, पृ० ४४७।
३. आ० २, पृ० ७१ तथा १-४-४७, पृ० २८७।
४. आ० १, पृ० १९।
५. आ० १, पृ० १४।
६. आ० १, पृ० ५।
७. १-२-६४, पृ० ५८७।
८. आ० १, पृ० ११।
९. २-२-३६ पृ० ३९२।

को वृषलरूप कहा है।[1] ब्राह्मणी के लिए तो सुरापान नितान्त गर्हित था। सुरापी ब्राह्मणी परलोक मे पति का सहवास नही प्राप्त करती, यह विश्वास था।[2]

सामान्यत. भूमि पर बैठकर भोजन करने की प्रथा[3] थी। बुभुक्षा और पिपासा होने पर खाने की इच्छा के लिए तथा विना भूख-प्यास के भी लालचवश खाने की इच्छा के लिए पृथक् क्रियाओ का प्रयोग होता था।[4] इससे कुछ लोगो की भोजन-भटता पर प्रकाश पडता[5] है। वहुत खानेवालो को कुण्डोदर कहते थे।[6] ऐसे लोग प्रधस सखादक और सखादकी (स्त्री) कहे जाते थे। ऐसे लोग और किसी काम को तो जाते नही, वस भोजन के समय उपस्थित हो जाते है। इसीलिए इन्हे पात्रेसमित कहते है।[7] खाने के वाद पात्र मे छोड़ा हुआ भोजन उद्धृत[8] कहलाता था।

भिक्षुक—कुछ लोग भोजनार्थ केवल भिक्षा पर निर्भर करते थे। भिक्षा प्रचुर और व्यजनवती भी मिल जाती थी। इनके लालच से कुछ लोग एक स्थान पर स्थायी रूप से टिक जाते थे।[9] माँगनेवालो की सख्या वहुत थी। गृहस्थ उनसे तग आ जाते थे। पर क्या करते! भिक्षुको के डर से भोजन वनाना तो वन्द नही किया जा सकता था।[10] भिक्षा के समूह को भैक्ष[11] कहते थे। भिक्षा से ही सुभिक्ष (सम्पन्न) शब्द वना है। पैदावार अच्छी होने के कारण भिक्षा सरलता से मिल जाती थी।[12]

---

१. ५-३-६६, पृ० ४६०।
२. ३-२-८, पृ० २१०।
३. ३-१-९४, पृ० १७८।
४. ७-४-३४।
५. ६-२-१०८ काशिका।
६. २-१-४८।
७. ४-२-१४ काशिका।
८. २-४-३७ तथा ५-२-९४, पृ० ४१०।
९. भिक्षाश्चापि प्रचुरा व्यञ्जनवत्यो लभ्यमाना वासं प्रयोजयन्ति। भिक्षा वासयन्ति।—३-१-२६, पृ० ७२।
१०. न च भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते।—६-१-१३, पृ० ४।
११. १-२-६४, पृ० ५७७।
१२. १-२-५२, पृ० ५५४।

अध्याय ११

परिवहन

वाह्य या वाहन—यातायात के मुख्य साधन शकट और रथ थे। ये स्थल-पथ में व्यक्तियों एवं वस्तुओं को ले जाने के काम आते थे। सामान्यतया इन्हें 'वह्य'[1] कहते थे। वह्य का अर्थ था ले जाने के साधन शकट आदि। जहाँ करण या साधन अर्थ अभीष्ट नहीं था, वहाँ 'वाह्य' शब्द का प्रयोग होता था। धीरे-धीरे 'वह्य' शब्द का प्रयोग कम हो गया और उसके स्थान पर 'वाहन' शब्द का प्रयोग होने लगा।[2] गाड़ी से ढोई जानेवाली वस्तु 'वाह्य' कहलाती थी।[3]

वाहनों के प्रकार—वाहन दो प्रकार के थे - स्थलीय और जलीय। स्थल-वाहनों में शकट और रथ मुख्य थे और जल-वाहनों में नौ। जल के वाहनों को उदवाहन या उदकवाहन[4] कहते थे। कभी-कभी ये परस्पर भी एक दूसरे के वाहन बन जाते थे। भाष्यकार ने कहा है कि स्थल में गाड़ी नाव को ढोती है और जल में नाव गाड़ी को।[5]

शकट—शकट सवारी के काम आते थे और बोझ ढोने के भी। वे मनुष्यों के एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के साधन थे।[6] कृषि आदि की पैदावार भी उन्हीं से ढोई जाती थी। भाष्यकार ने वस्तुविशेष से भरी हुई गाडी तथा वस्तुविशेष भरने के लिए उसके पास खड़ी की गई गाडी के लिए विशिष्ट शब्दों का उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ, ईख से भरी हुई या शर से भरी हुई गाडी को इक्षुवाहण और शरवाहण कहते थे। यदि गाड़ी में भरने के लिए इक्षु या शर उसके पास रखे होते थे, तो भी उन गाड़ियों को इक्षुवाहण और शरवाहण ही कहते थे।[7] किसी-किसी आचार्य के मत से जो भी वस्तु गाड़ी में भरी हो या जो व्यक्ति गाड़ी में सवार हो, उसके नाम पर गाड़ी के लिए विशिष्ट शब्द का प्रयोग होता था—जैसे गर्गवाहण। किन्तु, यदि गर्ग की गाड़ी खुली हुई हो तो उसके लिए गर्गवाहन शब्द ही आता था।[8]

---

१. वह्यं करणम्, वहन्त्यनेनेति वह्यं शकटम्, वाह्यमन्यत् ।—ऋ० १-१०२, काशिका।

२. ८-४-४।

३. वाहनं वाह्यादिति वक्तव्यम्।—वही।

४. ६-३-५८ काशिका।

५ १-१-१, पृ० १२०।

६. १-२-२४, पृ० १६०।

७. वाहनमाहितात्, आहितोपस्थितयोरिति वक्तव्यम्, इहापि यथा स्यात्, इक्षुवाहणम्, शरवाहणम्।—८-४-४, पृ० ४७९।

८. अपर आह, वाहनं वाह्यादिति वक्तव्यम् यदाहि गर्गाणां वाहनमपविद्धं तद मानूत् गर्गवाहनम्।—वही।

गाडियाँ आकार के अनुसार बडी और छोटी होती थी। बड़ी गाडी शकट और छोटी शकटी कहलाती थी।[1] शकट और शकटी चलते हुए शब्द करते थे।[2] यदि धुरी मे तेल न पड़ा हुआ, तो गाडी कूजती हुई चलती थी। व्यापार-वस्तुएँ ढोने के लिए गाड़ियों के सार्थ (समूह)[3] एक साथ निकलते थे। शकट-सार्थ मेलो के अवसर पर भी चलते होगे। भाष्यकार ने गाडियो के शब्द करने का उल्लेख करते हुए कहा है कि शाकटायन नामक वैयाकरण को रथ्य मार्ग पर बैठे हुए होने पर भी पास से जाते हुए शकट-सार्थ का पता नही चल पाया।

गाँव के तक्षा शकटी और शकट बनाते थे।[4] शकटो मे कुछ बहुत बडे होते थे, जिन्हे खीचने के लिए आठ बैल एक साथ जोते जाते थे।[5] मार्ग ठींक न हुआ, तो कभी-कभी चलते हुए शकट टूट जाते थे, इसलिए शकटवाहक को मार्ग के ऊँच-नीच होने का ध्यान रखना पडता था।[6] कभी कमजोर होने से गाडी के अक्ष टूट जाते थे। तब बढई नये अक्ष बनाकर डालता था। एक स्थान पर भाष्य मे कहा गया है कि इस अक्ष ने गाडी का वैसा साथ नही दिया, जैसा पहले-वाले ने दिया था।[7]

शकट से माल ढोना एक व्यवसाय था और आय का साधन था। कुछ लोग केवल यही कार्य करते थे और इसीलिए बैल पालते थे।[8]

रथ—शकट सामान्य किसान का वाहन था। कृषि-कार्य मे तथा बोझ ढोने मे ही उसका विशेष उपयोग होता था। लम्बी यात्रा के लिए रथ का व्यवहार होता था। सम्पन्न लोग रथ रखते थे और उसी पर सवारी करते थे। भाष्यकार ने कुण्ड या वन तक जाने के लिए रथ के उपयोग का उल्लेख किया है।[9] उन्होने पैदल, घोडे पर और रथ पर की गई यात्राओ को उत्तरोत्तर शीघ्रतर काल मे सम्पन्न होनेवाली कहा है। रथिक बहुत शीघ्र चलता है, घुडसवार उससे धीरे और पदाति[10] उससे धीरे चल पाता है। एक अन्य स्थान पर भी उन्होने इन तीनो साधनो का साथ-साथ भिन्न क्रम से उल्लेख किया है—'भडके हुए घोडे से गिर पड़ा, दौडते हुए

---

१. यत्कूजति शकटम्, यतो कूजति शकटी, यद्वरथः कूजति।—८-१-३० पृ० २८८।

२. १-३-२१, पृ० ६२।

३. वैयाकरणानां शाकटायनो रथमार्ग आसीनः शकटसार्थं यान्त नोपलम्भे।—३-१-१५५, पृ० २५०।

४. २-३-५, पृ० ४०८।

५. ६-३-४६, पृ० ३३४।

६. अनेन चेद्यास्यति न शकटं पर्याभविष्यति।—३-३-१५६, पृ० ३३४।

७. २-१-१०, पृ० २७२।

८. गौरयं शकटं वहति गोतरोऽयं यः शकटं वहति सीरं च।—५-३-५५, पृ० ४४५।

९. आ० २, पृ० ६९।

१०. १-१-७०, पृ० ४४५।

रथ से गिर पड़ा, जाते हुए सार्थ से भटक गया।[1] रथ की सवारी सुखद मानी जाती थी। रथ कहते ही उसे थे, जिसमें विहार किया जाय।[2]

रथ के लिए विशिष्ट मार्ग बनाये जाते थे। ये मार्ग चौड़े और समतल होते थे। शकट सँकरे और ऊबड़-खाबड़ मार्ग में भी चले जाते थे, किन्तु रथ के लिए प्रशस्त मार्ग अपेक्षित होता था। गति तीव्र होने से विषम मार्ग में उसके उलटने या टूट जाने का भय अधिक रहता था। तीव्र गति से चलता हुआ रथ नीचे दबे पौधों की जड़ें तक उखाड़ देता या टेढ़ी कर देता था। इसीलिए, उसे 'मूल-विभुज' कहते थे।[3] रथ के मार्ग को रथ्या कहते थे।[4] रथ्या पर चलता हुआ रथ मृदु घोष करता चलता था।[5]

प्रवेता या प्राजिता—रथ के हाँकनेवाले को सारथि कहते थे। वह रथ में बाईं ओर बैठता था, इसलिए वह सव्येष्ठा भी कहलाता था।[6] सारथि के लिए सूत शब्द भी प्रयुक्त होता था जिसका अर्थ था अच्छी प्रकार हाँकनेवाला। इसी अर्थ में प्रवेता और प्राजिता शब्द भी बनते थे। इनमें प्रवेता व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध था, किन्तु लोक में, विशेषतः सारथियों में प्राजिता का शब्द प्रचलित था। भाष्यकार ने गत्यर्थक 'अज्' को 'वी' आदेश करने के प्रसंग में 'प्राजिता' शब्द की निष्पत्ति पर एक मनोरंजक वार्त्ता दी है। उन्होंने 'प्राजिता' शब्द का उल्लेख कर प्रश्न किया है कि क्या यह प्रयोग उचित है? और उसका उत्तर 'हाँ' में देते हुए निम्नलिखित वाद उपस्थित किया है—

कोई वैयाकरण किसी रथ को देखकर बोला, 'इस रथ का प्रवेता (सारथि) कौन है?' सूत ने उत्तर दिया, 'आयुष्मन्, इस रथ का प्राजिता मैं हूँ।' वैयाकरण ने कहा, 'प्राजिता तो अपशब्द (अशुद्ध) है।' सूत बोला, "देवानांप्रिय (आप) व्याकरण से निष्पन्न होनेवाले शब्दों की ही जानकारी रखते हैं, किन्तु व्यवहार में कौन-सा शब्द इष्ट है, यह नहीं जानते। 'प्राजिता' प्रयोग शास्त्रकारों को मान्य है।' इस पर वैयाकरण चिढ़कर बोला, 'यह दुरुत (दुष्ट सारथि) तो मुझे पीड़ा पहुँचा रहा है।' सूत ने शान्त भाव से कहा, "महोदय, मैं सूत हूँ। सूत शब्द 'वेञ्' धातु के आगे क्त प्रत्यय और पहले प्रशंसार्थक 'सु' उपसर्ग लगाकर नहीं बनता है, जो आपने प्रशंसार्थक 'सूत' निकालकर कुत्सार्थक 'दुर्' उपसर्ग लगाकर 'दुरुत' शब्द बना लिया। सूत 'सूञ् धातु' (प्रेरणार्थक) से बनता है और यदि आप मेरे लिए कुत्सार्थक प्रयोग करना चाहते हैं, तो आपको मुझे 'दु सूत' कहना चाहिए 'दुरुत' नहीं।'"[7]

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि सारथि, सूत और प्राजिता तीनों शब्दों का प्रचलन

---

१. १-४-२४, पृ० १६१।

२. रमन्तेऽस्मिन् रथ इति।—१-२-२५, पृ० १६१।

३. ३-२-५ पृ० २१०।

४. रथाय हिता रथ्या।—५-१-६०, पृ० २९८।

५. ८-१-३०, पृ० २८८।

६. ८-३-९७, पृ० ४६२।

७. २-४-५६, पृ० ४९२।

हाँकनेवाले के लिए था। व्याकरण की दृष्टि से प्रवेता शब्द शुद्ध माना जाता था। इसी प्रकार 'सूत' की व्युत्पत्ति के विषय मे भी वैयाकरणो मे मतभेद था।

परिवृत रथ—रथ वस्त्र से मढे जाते थे। उनकी टाप या छत वस्त्र से छाई हुई रहती थी। इसी प्रकार, चारो पार्श्व भाग वस्त्र से ढके रहते थे। ऐसे रथ वास्त्र कहलाते थे। जिस वस्त्र से वे परिवृत रहते थे, वह भी रथ का ही एक भाग होता था।[1] रथो के बैठने के स्थान तथा अन्य भाग कम्वल से भी मढे जाते थे। चर्म का व्यवहार भी रथ को समन्तत. (चारो ओर से) मढने के लिए होता था। ऐसे रथ काम्वल और चार्मण कहलाते थे।[2] वास्त्र, काम्वल और चार्मण शब्दो का प्रयोग रथ के लिए ही होता था। वस्त्र से ढके हुए शरीर को वास्त्र नही कहा जा सकता था। अधिक धनवान् लोग अपने रथो को पाण्डुकम्वल से परिवृत्त करते थे। पाण्डुकम्वल अपेक्षाकृत अधिक मूल्यवान् होता था, इसलिए इसे राजास्तरण कहते थे। यह रगीन होता था या इसमे किनारे किनारे-रगीन पट्टी रहती थी। इस कम्वल का स्वात घाटी से सारे भारत मे निर्यात होता था। पाण्डुकम्वल से परिवृत रथ पाण्डुकम्वली[3] कहलाता था। यह शब्द भी रथ के लिए ही प्रयुक्त होता था। द्वीपी और व्याघ्र के चर्म भी रथो पर मढे जाते थे। इन चर्मो से मढे रथ द्वैप और वैयाघ्र कहलाते थे।[4]

रथवाहक—रथो का समूह रथ्या या रथकट्या कहलाता था।[5] वाहक पशु या पात्र के अनुसार रथ के आकार मे अन्तर होता था। रथ मे जुतनेवाले पशुओ मे अश्व, उष्ट्र और गर्दभ के नाम भाष्य मे आये है। इनके रथ क्रमश आश्व, औष्ट्र और गार्दभ होते थे।[6]

रथाङ्ग—पत्र या वाहन के अनुसार रथो के आकार तथा लकडी मे अन्तर होता था और वाहनो के अनुसार ही रथ के अङ्ग वनाये जाते थे। रथ के अगो को अपस्कर कहते थे।[7] रथाग से भिन्न अर्थ मे अपकर शब्द का प्रयोग होता था। रथागो मे चक्र मुख्य था। रथ के चक्र को रथ्य कहते थे।[8] रथ्य चक्रवाहक पशुओ के अनुसार भिन्न-भिन्न आकार के होते थे। इसी प्रकार युग का आकार भी भिन्न होता था। इसीलिए, भिन्न भिन्न वाहनो के रथो के चक्रादि अङ्गो के लिए अलग-अलग शब्द निश्चित थे, यथा आश्वरथ, औष्ट्ररथ या गार्दभरथ[9] चक्र। रथ्य शब्द रथ और शकट के चक्रो का अन्तर भी सूचित करता है। शकट के चक्र रथ्यो के समान पुष्ट और कलापूर्ण

---

१. ४-२-१०, पृ० १७१ ।

२. वही, काशिका ।

३. ४-२-११ काशिका ।

४. ४-२-१२ काशिका।

५. ४-२-५० तथा ५१ ।

६. ४-३-१२३, पृ० २५१ ।

७. ६-१-१४९ काशिका ।

८. ४-३-१२१ ।

९. पतन्ति येनेति पत्रमश्वादिकं वाहनमुच्यते—आश्वरथं चक्रम् औष्ट्ररथं गार्दभरथम् ।—४-३-१२२ काशिका।

नही होते थे। अश्वरथ आदि का प्रयोग भी रथागो के लिए ही होता था। अश्वरथादि से सम्बद्ध अन्य बातो के लिए नही।[१] चक्र के भी अनेक अग होते है, जिनमे नाभि, नम्य, अर, अक्ष का उल्लेख भाष्य मे हुआ है। जिस प्रकार नाभि सम्पूर्ण शरीर का केन्द्रविन्दु होती है, उसी प्रकार चक्र की नाभि भी पहिये का केन्द्र-स्थल होती है। पहिये की बीच की गोलाकार लकडी को नाभि कहते थे और पहिये के बाह्य गोलाकार काष्ठो को नम्य। नाभि और नम्य को जोडनेवाले थे अर। नाभि के मध्य छिद्र को, जिसके भीतर अर डाला जाता था, उसे अक्ष कहते थे। अक्ष मे धुरा या धू रहती थी। अक्ष लोहे का होता था और धुरा लकडी की।

भाष्यकार ने नाभि और नभ के पारस्परिक अन्तर पर पर्याप्त विचार किया है। नाभि से नम्य शब्द की व्युत्पत्ति प्रदर्शित करते हुए भाष्य मे शका की गई है कि नाभि की प्रकृति नम्य को नही माना जा सकता और यत् प्रत्यय विकृतिवाचक शब्द से उसकी प्रकृति बतलाने के लिए ही होता है। गोलाकार पहिये के बाहरी मण्डलचक्र का नाम नम्य होता है। इसका उत्तर देते हुए भाष्य मे कहा गया है कि नाभि शब्द को शाखादिगण (५-३-१०३) मे पढना चाहिए और उसे ह्रस्व कर देना चाहिए। इस प्रकार 'नाभि के समान' इस अर्थ मे 'य' प्रत्यय होकर नम्य शब्द निष्पन्न हो जायगा। यदि पूछा जाय कि नाभि और नम्य मे कौन-सा ऐसा साम्य है, जिसके कारण इस सूत्र से 'य' प्रत्यय होगा, तो कहा जा सकता है कि अक्ष को धारण करना और घूमना दोनो समान है। दूसरे वैयाकरण के मत से तेल सोखना और उसे पास के रथागो पर फैलाना दोनो मे समान है। इसी प्रसग मे भाष्यकार ने अरोवाले चक्रको तथा अर निकले हुए चक्रो का भी उल्लेख किया है, जो यह सूचित करता है कि भाष्यकार रथ के समस्त अगो और उपागो की पूर्ण जानकारी रखते थे। इतना ही नही, वे धुरा मे तेल चुपडने तथा नम्यादि के छिद्रों मे तेल डालने की आवश्यकता और प्रक्रिया से भी अवगत थे।[२]

धुरा या धुर् शकट और रथ के मध्य मे रहती थी। रथ या शकट का सारा बोझ धुरा को झेलना पडता था। इसलिए, इसका पुष्ट होना आवश्यक था। एतदर्थं, रथकार पुष्ट काष्ठ-वाले वृक्षो को ही चुनते थे। इसीलिए, भाष्यकार ने कहा है कि रथकार हाथ मे आरी और कुल्हाडी लेकर मूल से ऊपर तक वृक्षो को काटते और लकडी छाँटते है।[३] भाष्यकार धुरा की दृढता का महत्त्व भली भाँति जानते थे, इसीलिए उन्होने 'दृढ धुरावाले अक्ष' की चर्चा की है।[४] अक्ष लोहे के होते है, फिर भी उनका पुष्ट होना या न होना लोहे की योग्यता पर निर्भर होता है। कमजोर अक्ष को 'कक्ष'[५] कहते थे, उपाधि नम्य बनानेवाले खण्डो को कहते थे, जिन्हे लोकभाषा मे 'पुट्ठी' कहते हैं। जिस काष्ठ से बनी उपधि होती थी, उसे औपधेय कहते थे। इस प्रकार उपधि और औपधेय व्यावहारिक रूप मे एक ही वस्तु थी। काष्ठ पर बल देना होता, तो औपधेय

---

१. ४-३-१२०, पृ० २५२।
२. ५-१-२, पृ० २९६
३. ४-१-३, पृ० १८
४. दृढ़धूरक्षः।—५-४-७४, पृ० ५०२।
५. ५-३-१०४।

और रथाग पर वल देना होता था उपधि शब्द प्रयुक्त होता था। उपवि विकृति है और औपधेय प्रकृति, इस विपय को लेकर भाष्यकार ने पर्याप्त विचार किया है। उन्होने कहा कि उपवि से औपवेय शब्द नही वनना चाहिए, क्योंकि औपधेय उपधि विकृति की प्रकृति नही है, वह तो स्वय रथाग है।[१] उपधियो को ही ऊवड-खावड मार्ग के धक्के झेलने होते है। इसलिए उनका वहुत पुष्ट होना आवश्यक होता है। सम्भवत. 'औपवेय' शब्द पुष्ट काष्ट की ओर रथकार का ध्यान आकृष्ट करने के लिए ही व्यवहृत हो गया था। इसी प्रकार नाभि के लिए भी मजवूत लकड़ी ढूँढी जाती थी अन्यथा गड्ढे मे गिरने पर नाभि के वीच से फट पडने का भय था। सावारणतया शिशपा की लकडी नाभि के लिए उपयुक्त मानी जाती थी। उपधि या नभ्य के लिए भी उसी लकडी का प्रयोग होता था।[२]

परमरथ—लकडी अच्छी और पुष्ट न हुई, या रथकार ने वनाने मे कोई त्रुटि कर दी, तो रथ अच्छा नही वन पाता था। ऐसे रथ को कद्रथ[३] कहते थे। इसी प्रकार श्रेप्ठ, सुन्दर कलापूर्ण रथ परमरथ कहलाता था। परमरथ के चक्र, घुरा आदि अंग परमरथ्य कहलाते थे।[४] सम्भवत., परमरथ वड़े आकार के रथ को कहते थे। उसके अग भी अपेक्षाकृत वडे होते थे।

प्राघ्वङ्करण—शकट और रथ के अगों का पृथक्-पृथक् निर्माण कर उन्हे यथास्थान विठाना भी कौशल की अपेक्षा रखता है, क्योंकि रथाग या शकटांग कितना ही पुष्ट और सुन्दर क्यों न हो, अकेले यात्रा का साधन नही वन सकता। इसीलिए भाष्यकार ने कहा है—'रथ के अलग-अलग अग या अवयव गमन के साधन नही वन सकते, किन्तु उनका समुदाय-रूप रथ गमन के काम आ सकता है। रथकार द्वारा प्रत्येक अवयव के ठीक-ठीक विठा देने पर भी कुछ काम शेप रह जाता है और वह है घुरी तथा युग को रस्सियो से वाँवना। पहिये अक्ष मे फँसे रहते थे। धुरी के चलने से वे चलते थे। किन्तु, धुरी पर जमा कर रखी हुई गाडी का ढाँचा धक्का लगते ही उससे हट सकता था। इसी प्रकार 'युग' (जुए) को शकटमुख या रथमुख से वाँवना आवश्यक था। रथ मे चारो ओर वस्त्र, कम्वल या चर्म लगा दिया जाता था, किन्तु शकट मे लगे हुए डण्डो का मध्य भाग रज्जु से पूरा जाता था। इस तरह रज्जु से यथास्थान वाँधने के वाद ही शकट या रथ चलने योग्य होते थे। वन्धन द्वारा शकट या रथ को यात्रा-योग्य वनाकर जाने के लिए 'प्राघ्वङ्कृत्य गत' ऐसा वाक्य प्रयुक्त होता था। 'प्राघ्वङ्कृत्य' का अर्थ था 'वाँध-वूँधकर यात्रा के अनुकूल वनाकर'। जहाँ वन्धन की आवश्यकता नही थी, वहाँ 'प्राध्वङ्कृत्वा गत' ऐसा प्रयोग हो सकता था।[५]

---

१. ५-३-१३, पृ० ३०३।
२. ५-१-२, पृ० २९७।
३. ६-३-१०२।
४. १-१-७२, पृ० ४५४।
५. १-४-७८ काशिका।

रथ यात्रा के साधन तो थे ही, वे सेना के भी महत्त्वपूर्ण अग थे।[१] सेना चार भागो मे विभक्त होती थी—हस्ती, अश्व, रथ और पदाति।[२]

पत्र-वाहन—पशुओ को पत्र कहते थे। पत्र उसे कहते थे, जिसके द्वारा जाया जाय। सवारी के पशुओ के लिए वाहन शब्द भी प्रयुक्त होता था। इस प्रकार, पत्र और वाहन पर्याय थे। जो पत्र गाडियो मे जोते जाते थे, वे युग कहलाते थे। वैल, अश्व, हस्ती, उष्ट्र और गर्दभ युग्य पत्र थे।[३]

वाहनो के नाम—पशु जिस गाडी मे जोते जाते थे, उसके अनुसार उनका नाम पड जाता था। शकट मे जुतनेवाले वैल को शाकट कहते थे।[४] हल जोतनेवाले वैल हालिक या सैनिक कहे जाते थे।[५] इसी प्रकार रथ खीचनेवाला वैल रथ्य कहलाता था और वडे रथ को खीचनेवाला परमरथ्य। पुष्ट वैल या अश्वादि कभी-कभी दो रथो को भी एक साथ खीच लेते थे। एक साथ दो रथो को खीचने की शक्ति रखनेवाले पशु को द्विरथ कहते थे, भले ही वह दो रथो मे जुता हुआ न हो। दो रथो मे जुते हुए और उन्हे वहन करते हुए पशु को द्विरथ्य कहते थे। भाष्यकार ने इन दोनो शब्दो का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'रथ को ढोता है' एक बात है और रथ को ढोनेवाला' दूसरी, भले ही एक ही पशु दोनो अर्थो का वाचक हो।[६] गाडी के दोनो ओर आवश्यकतानुसार जुतनेवाले युग्य सर्वधुरीण कहलाते थे और केवल एक ओर ही चलनेवाले एकधुरीण।[७] दाई या वाई ओर चलने की दृष्टि से उत्तरधुरीण, दक्षिणधुरीण आदि शब्द भी प्रचलित थे। काशिकाकार द्वारा सूत्र का योग-विभाग कर इन शब्दो को निष्पन्न मानना उनके प्रचलन का द्योतक है।[८] सामान्यतया गाडी या रथ खीचनेवाले पशु धुर्य या धौरेय कहे जाते थे।[९] वैल सामान्यतया शकट मे जोते जाते थे। यो रथ मे भी उनका प्रयोग होता था। श्रेष्ठ वैल ही रथ मे चलते थे। भाष्यकार ने अनवान् को अटरथ कहा है।[१०] अश्व और गर्दभ भी वाहन खीचते थे। इसी प्रकार उष्ट्र और हस्ती भी। जिस वाहन को अश्व खीचता था, उसे आश्व कहते थे। गार्दभ, औष्ट्र वाहनो का भी उल्लेख भाष्य मे मिलता है।[११]

वाहक—वैल, उष्ट्र, अश्व और हस्ती स्वतन्त्र रूप से भी पत्र या वाहन माने जाते थे। शकट आदि मे भी जब ये जुतते थे, तब शकट इनका 'वाह्य' कहलाता था। सूत्रकार ने गोसारथि के

---

१. १-१-७२, पृ० ४४७।
२. वही, तथा २-४-२ काशिका।
३. ३-१-१२१ काशिका।
४. ४-४-८१, ८०।
५. वही।
६. ४-४-७६, पृ० २८४।
७. ४-४-७८, ४-४-७९ काशिका।
८. ४-४-७७।
९. २-२-२४, पृ० ३३६।
१०. ४-३-१२० पृ० २५१।
११. वही।

साथ गोसाद और गोसादि शब्दो का भी उल्लेख किया है।[1] उष्ट्रसादी तो सामान्य वात है।[2] अश्ववार या अश्ववाल का उल्लेख भाष्य मे मिलता है।[3] हाथी के साईस को हस्तिपक कहते थे। भाष्य मे कहा है—'महावत हाथी पर वैठते है। लोग स्थल मे हाथी पर वैठते है और हाथी उन्हे अपने ऊपर विठाता है।'[4] गोसाद, उष्ट्रसाद आदि लोग गोसारथि या अन्य सारथियो से भिन्न होते थे। सूत्रकार ने युक्तारोही शब्द का भी उल्लेख किया है, जो सम्भवत. 'घुडसवार अविकारी' के लिए है।[5] इसी प्रकार परिस्कन्द शब्द का प्रयोग प्राच्य तथा भरत लोगो मे होता था। अन्य प्रदेशो मे परिष्कन्द शब्द का प्रचलन था। परिष्कन्द रथ के दाये-वाये चलनेवाले रथको के लिए प्रयुक्त होता था।[6] सर्वपत्री लोग सव वाहनो के हाँकने में निपुण होते थे[7]। अश्व के सवार को आश्विक कहते थे। रथ की गति अश्व से तीव्र होती थी।[8] सावारण अश्व एक दिन मे चार योजन चलता था, किन्तु अच्छा घोडा आठ योजन तक प्रतिदिन चल लेता था।[9] घोडा एक दिन मे जितनी मजिल तय करता था, उतने को आश्वीन कहते थे[10]। आश्वीन अध्वा सावारण और विशिष्ट घोडो के भेद से चार और आठ योजन दूरी को कहते थे।

जलवाहन—यह तो हुई स्थल के सवहन की वात। जल के वाहन की समस्या इससे भिन्न थी। भाष्यकार देश के चारो ओर के विस्तृत समुद्र से परिचित थे।[11] समुद्र का उल्लेख उन्होंने वार-वार तथा इस ढग से किया है, जैसे वे उसके महत्त्व से पूर्ण परिचित हो। एक स्थान पर उन्होने पारियात्र पर्वत के समीपवर्त्ती समुद्र की भी चर्चा की है।[12] देशव्यापी गम्भीर नदियो से वे परिचित थे ही। दोनो ओर जल से घिरे हुए द्वीप, भीतरी प्रदेश तक जल से घिरे अन्तरीप, प्रकृष्ट जल से युक्त प्राप्त, पुराण और जलप्राय अनूप से वे परिचित थे।[13] उदधि की अगाधता से वे अभिज्ञ थे।[14] ऐसी स्थिति मे यह स्वाभाविक था कि वे जल को पार करने के

---

१. ६-२-४१।
२. ६-२-४०।
३. ८-२-१८, पृ० ३४२।
४. १-३-६७, पृ० ८५।
५. ८-२-८१।
६. ८-३-७५।
७. ५-२-७।
८. १-१-७१, पृ० ४४५।
९. अश्वोऽयं यश्चत्वारि योजनानि गच्छति अश्वतरोऽयं योऽष्टौ योजनानि गच्छति—५-३-५५, पृ० ४४६।
१०. ५-२-१९।
११. १-४-२४, पृ० १६२।
१२. ८-१-४ पृ० २६४।
१३. १-१-५४, पृ० ३२९ तथा ६-३-९७ काशिका तथा ६-३-९८।
१४. ६-३-५८।

साधनो से भी परिचित होते। जल पार करने के साधनो को उदवाहन या उदकवाहन कहा गया है।[१]

नौ—उदवाहनो मे नौ मुख्य थी। नौ से पार करने योग्य जल या नदी को नाव्य कहते थे।[२] नौ के लिए नौका शब्द का प्रयोग भी मिलता है।[३] भाष्यकार ने कहा है कि एक दूसरे पर निर्भर रहनेवाले, अर्थात् इतरेतराश्रय कार्य पूरे नही पड़ते। जैसे एक नाव मे बँधी दूसरी नाव परस्पर एक दूसरी को पार नही लगा सकती।[४] नावें अरित्र या डाँड़ के सहारे चलती थीं।[५] नावो से पार करनेवाले या नाव चलानेवाले को नाविक कहते थे। नाव द्वारा पार होनेवाला भी नाविक कहा जाता था।[६] नदी को पार करने की क्रिया नदीतर कही जाती थी।[७] नौकाएँ भार ढोने का काम भी करती थी और यात्रियो के ले जाने का भी। जल में इनकी स्थिति शकट के समान थी। राज्य की ओर से घाट पार करने के लिए जो नावे रहती थी, उन्हे 'राजनौ' कहते थे। राजनौ राजा की सर्वथा निजी व्यक्तिगत व्यवहार की नाव भी कही जाती थी।[८] माल ले जानेवाली नावें शकटो के समान 'सार्थ' बनाकर भी चलती थीं। दो या अधिक नौकाओ द्वारा ढोई हुई वस्तु द्विनावमय या द्विनावरूप्य कहलाती थी। इसी प्रकार तीन या अधिक नौकाओ से लाई हुई वस्तु के लिए त्रिनावरूप्य आदि शब्दों का प्रयोग होता था। एक-एक व्यापारी अनेक नावें चलाता था। उदाहरणार्थ, पाँच नावे चलानेवाला, अर्थात् पाँच नावो पर माल लादकर लानेवाला पंचनावधन कहलाता था। कभी-कभी अन्यत्र माल ले जाते हुए व्यापारी मार्ग मे उचित बाजार पाकर माल बेच देते थे और वहाँ प्राप्त होनेवाला माल दूसरी नाव मे भर लेते थे। उदाहरणार्थ, पाँच नावो मे भरा हुआ माल बेचकर दूसरा खरीद लिया हुआ माल 'पंचनौ' कहलाता था।[९] संवोढा (नाव पर माल लादनेवाले) की सम्पत्ति, अर्थात् नाव पर लदे माल को सांवहित्र कहते थे।[१०]

उडुप—उडुप छोटी नाव थी, जो वर्त्तमान डोंगी के सदृश थी। उडुप से पार करनेवाले को औडुपिक कहते थे।[११] लकड़ी के तख्ते जोड़कर उनपर भी लोग साधारण गहरे जल को पार कर लेते थे। लकड़ी के तख्ते पानी में बहाकर भी एक स्थान से दूसरे स्थान तक

---

१. ६-३-५८ ।
२. ४-४-९१ ।
३. आ० २, पृ० ८६ ।
४. १-१-१, पृ० १०२ ।
५. ३-२-१८४ ।
६. ४-४-७ ।
७. १-१-२२, पृ० २०५ ।
८. ५-४-९९ काशिका ।
९. वही ।
१०. ४-३-१२०, पृ० २५२ ।
११. ४-४-५

पहुंचाये जाते थे। भाष्य मे पाँच सौ उडुपो और पाँच सौ फलकों के एक साथ तीर्ण होने का उल्लेख है।[१]

भस्त्रा—भस्त्रा फूले हुए चर्म को कहते थे। पशुओ के पूरे चमड़े को सीकर, जिसके भीतर हवा भरी रहती थी, पानी पर तैराया जाता था। भस्त्रा डनलप के चक्रो के समान पानी पर तैरती थी। भस्त्रा से पार करनेवाले को भास्त्रिक कहते थे।[२] भस्त्रादिगण मे उल्लिखित भरट सम्भवत फलक जैसा ही होता था। उत्सगादि गण मे उत्सग के अतिरिक्त पिटक, उडुप और उत्पट का भी उल्लेख है।[३] उत्सग लकडी के बडे गोले को भीतर से पोपला करके बनाते थे। पिटक बाँस की बनी छोटी नाव, पनसुइया जैसी होती थी। उत्पट मछुओ की लम्बी नाव के सदृश थी।

घटिक—इनके अतिरिक्त घट भी तरण के काम आते थे।[४] चार घटो को उलटकर उनमे लकडी बाँधकर उनकी घरनई, जिसे व्रज भापा के कवि ने 'घरनाव' कहा है, बना लेते थे। तालाब या झील के बँधे पानी मे इसका उपयोग होता था। साम और वेम को भी भाष्यकार ने तरण का साधन माना है।[५] बैल की पूँछ पकडकर धारा को पार करनेवाले 'गौपुच्छिक' कहे जाते थे।[६]

---

१. ५-१-५९, पृ० ३३३
२. ४-४-१६।
३. ४-४-१५।
४. घटेन तरति घटिकः।—आ० २, पृ० ३९।
५. ४१-१, पृ० ६।
६. ४-४-६।

अध्याय १२

मनोरंजन

मनोरजन की दृष्टि से सगीत, वादित्र, नृत्य, नाट्य, चित्र और आख्यान का स्थान प्रमुख था। ये सार्वजनिक मनोरजन के साधन थे। इनके विषय मे अन्यत्र विशद रूप से चर्चा की गई है। आख्यान के अन्तर्गत प्रवचन, कथा, कहानी तथा वर्णन आते थे। आख्यान सारी रात चलते थे और लोग बडे चाव से सुना करते थे।

मृगया--इनके अतिरिक्त मृगया, प्रहरण-क्रीडा, पुष्पावचायिका, उद्यान-यात्रा, अक्षक्रीडा और आपानक-गोष्ठी का उल्लेख भाष्य मे मिलता है। मृगया का प्रचार तो यहाँतक था कि उसका अपना पृथक् शास्त्र बन गया था। मृगया के अन्तर्गत न केवल मृगो का ही अन्वेषण, अपितु समस्त श्वापदो का वध आता है। इसीलिए, धीरे-धीरे शिकार के पशु मृग-शब्द के वाच्य बन गये। वास्तव मे वे सब पशु, जिनका शिकार अन्वेपणपूर्वक किया जाता था, मृग कहलाते थे। सामान्यत शिकार धनुष-बाण द्वारा किया जाता था। मृगया मनोरजन का भी साधन था और व्यवसाय भी। आखेटक लोग मृगया के लिए कुत्ते पालते थे और श्वापदो का पीछा करने के लिए उन्हे प्रशिक्षित करते थे। कुछ लोग बडी सख्या मे कुत्ते पालते थे और उन्हे मृगया के लिए किराये पर देते थे। सम्भवत ये लोग मृगया का एक अश श्व-शुल्क के रूप मे ले लेते थे। ये लोग 'श्वगणी' या 'श्वागणिक' कहलाते थे।[1] इसी प्रकार कुछ लोग जाल या आनाय रखते थे।[2] जाल को *वागुरा* भी कहते थे। ये कई प्रकार के होते थे और मृगादि पशु, पक्षी तथा मत्स्य पकडने के काम आते थे। जाल भी कुछ शुल्क लेकर मृगयार्थ उधार दिये जाते थे। जाल या वागुरा को किराये पर देनेवाले या मृगया के समय उनका प्रयोग करनेवाले मृतक वागुरिक कहलाते थे। शिकार बहुत कुछ तुरग पर चढकर की जाती थी और उसके लिए निपानवती, स्थिर (कर्दम-विहीन) मृग, गवय तथा पक्षियो से भरी-पूरी अरण्य-भूमि चुनी जाती थी।[3]

मृगया को मृगरमण भी कहते थे।[4] इस अर्थ मे रजयति क्रिया प्रयुक्त होती थी। उदाहरणार्थ, 'वह मृगो का रजन करता है (रजन नही)' यह वाक्य प्रचलित था। मृगरमण के अनुभव इतने मनोरजक होते थे कि वे वार्त्ता या गोष्ठी के स्वतन्त्र विषय माने जाते थे।

---

१. ४-१-११ काशिका।

२. ३-३-२४ काशिका।

३. श्वगणिवागुरिकैः प्रथमास्थितं व्यपगतानलदस्यु विवेश सः—स्थिर तुरङ्गमभूमि-निपानवन्मृगवयो गवयोपचित वनम्—रघुवश, ९-१३।

४. ६-४-२४, पृ० ४०७।

व्याकरण मे मृगरमण का ऐसा वर्णन करने के लिए, जो श्रोता मे उसे स्वय देखने की आकांक्षा उत्पन्न करे, स्वतन्त्र वाक्य 'मृगान् रमयति' बनाने का नियम दिया गया है।[1] मृगरमण के विषय में व्याकरण के ये दोनों नियम मृगया की अत्यधिक लोकप्रियता के सूचक है। मृगया को लुब्ध-योग भी कहते थे।[2] मृग का शिकार करनेवाला 'मार्गिक' कहलाता था। इसी प्रकार, हारिणिक, सौकरिक, सारंगिक, आदि शब्द प्रचलित थे।[3] वाण सपत्र होते थे। वाण से मृग को घायल करना 'सपत्राकरण' कहलाता था। इसी प्रकार वाण को शरीर के आर-पार निकाल देना 'निष्पत्राकरण' कहा जाता था। सपत्र बाण बहुत पीडा पहुँचाते थे, इसीलिए वे 'अतिव्यथन' कहे गये है।[4] लुब्धको की भाषा मे दाहिनी ओर घायल किया हुआ मृग 'दक्षिणेर्मा' कहा जाता था।[5] दक्षिणाग का आघात उतना घातक नही होता, जितना वाम अग का। दक्षिणेर्मा मृग चोट खाकर भी भाग निकलता है। ऐसे मृग की यह विशेष सज्ञा थी। आखेटक लोग बोली से मृग की जाति पहचान लेते थे। कुछ मृग रात्रि मे बोलते है, कुछ प्रदोष के समय। इसी प्रकार विभिन्न मृगों के बोलने का समय निश्चित होता है। लुब्धक बोली के आधार पर मृगो की जाति पहचानकर उनका शिकार करते थे। निशा मे बोलनेवाले मृग नैश या नैशिक और प्रदोप मे बोलनेवाले प्रादोष या प्रादोषिक[6] कहलाते थे। इन कालो मे बोलनेवाले अन्य पशुओं के लिए इन शब्दो का प्रयोग नही होता था।

मृगो के समान पक्षियो का शिकार भी मनोरजन का साधन था। पक्षियों के आखेटक को पाक्षिक या शाकुनिक[7] कहते थे। विशेप पक्षियो के नाम पर भी उनके आखेटको के नाम पड जाते थे। जैसे—मायूरिक, तैत्तिरिक आदि। पक्षियो के शिकार के लिए आखेटक लोग श्येन पालते थे। श्येन छूटते ही पक्षियो को दबोच लेता है। कभी-कभी क्रीडा के रूप मे अनेक पाक्षिक एकत्र होकर अपने-अपने बाज छोडते थे, जो पक्षियो को दबोचने के लिए एक साथ उन पर टूटते थे। यह क्रीडा श्येनम्पाता कहलाती थी।[8] जाल या आनाय के सहारे अथवा अन्य साधनो से मछलियाँ पकडना भी मनोरजन का साधन था। मछली का शिकार करनेवाले मैनिक, शाफरिक या शाकुलिक कहे जाते थे।[9]

प्रहरण-क्रीडा—प्रहरण-क्रीडा भी मनोरजन का एक महत्त्वपूर्ण अग थी। लाठी, भाला,

---

१. मृगरमणमाचष्टे मृगान् रमयतीति। दृश्यार्थायामिति किमर्थम? यदा हि ग्रामे मृगरमणमाचष्टे मृगरमणमाचष्ट इत्येव तदा भवति ।—३-१-२६, पृ० ७६ ।

२. ५-४-१२६ काशिका ।

३. १-१-६८, पृ० ४३५ ।

४. ५-४-६१ काशिका ।

५. ५-४-१२६ ।

६. ४-३-५१ काशिका ।

७. १-१-६८, पृ० ४३५ ।

८. ६-३-४७१ काशिका ।

९. १-१-६८, पृ० ४३५ ।

तलवार आदि में निपुण व्यक्ति पर्वादि आनन्दोत्सवों पर एकत्र होकर अपने नैपुण्य का प्रदर्शन करते थे। उनमें पक्ष-प्रतिपक्ष अपनी-अपनी विजय का प्रयत्न करते थे। लाठी या दण्ड के प्रहरण जिस क्रीडा में दिखाये जाते थे, उसे दाण्डा कहते[1] थे। इसी प्रकार मुष्टि-प्रहरण की क्रीडा मौष्टा कहलाती थी।

मल्लविद्या—मल्लविद्या का महत्त्व इनसे भी अधिक था। मल्ल लोग नियमित अभ्यास, व्यायाम और संयम द्वारा असाधारण शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। दो मल्लों की प्रतियोगिता जनसाधारण के मनोरंजन का विषय थी। भाष्यकार ने 'मल्ल मल्ल के लिए पर्याप्त है, मल्ल दूसरे मल्ल के लिए समर्थ है'[2] आदि उदाहरण देकर मल्लविद्या के प्रदर्शनों की ओर संकेत किया है। मल्ल लोगों के दांव-पेचों और पकड़ के लिए 'सग्राह' शब्द का प्रयोग होता था। मुष्टिक की पकड़ के लिए भी सग्राह शब्द ही आता था।[3] मल्लविद्या और मुष्टिक-विद्या बड़ी लोकप्रिय थी। काशिकाकार ने भी स्पर्धा अर्थ में आ+ह्वे धातु का उदाहरण 'मल्लो मल्लमाह्वयते' ही दिया है।[4] स्पर्धा, संघर्ष या पराभिभवेच्छा को कहते हैं। इस अर्थ में आह्वान करने पर 'ह्वे' धातु आत्मनेपदी हो जाती है।

पुष्पावचय—पुष्पावचय प्राचीन भारत की अत्यन्त प्रिय क्रीडा थी। इसमें उद्दालक, पुष्पभंजिका,[5] वारणपुष्पप्रचायिका, शालभंजिका, तालभंजिका, जीवत्पुत्रप्रचायिका आदि प्रमुख थीं। विभिन्न ऋतुओं में सामूहिक रूप में विशिष्ट पर्व के अवसर पर इन क्रीड़ाओं का आयोजन होता था। इनमें अन्तिम उत्तरी भारत में प्रचलित थी और शेष पूर्वी भारत में।[6] इनमें ताल को छोड़कर शेष पुष्पचयन से सम्बन्ध रखती थीं। ऊँची डाल पर लगे हुए पुष्पों का अधिक परिमाण में चयन करना स्पर्धा का विषय था। भंजिका शब्द डाल में लगे हुए फूलों को तोडने और प्रचायिका शब्द भूमि पर गिरे हुए पुष्पों के चयन का बोधक है। कालिदास ने मेघदूत में विदिशा का वर्णन करते हुए पुष्पलावियों का उल्लेख किया है। ये क्रीडाएँ सम्पन्न वर्ग में प्रचलित थीं और गुप्त-काल तक इनका प्रचार रहा।

उद्यान-यात्रा—उद्यान या उपवन नगर से बाहर होते थे। लोग सारा दिन वहाँ बिताते थे और मनोरंजन के लिए वहाँ अन्य क्रीडाओं का भी आयोजन करते थे। कामसूत्र में इन क्रीडाओं को समस्य क्रीडा या सम्भूय क्रीडा कहा है, जिनमें अनेक लोग एक साथ भाग लेते थे। पुष्पावचय

---

१. ४-२-४७ काशिका।

२. २-३-१६, पृ० ४१८।

३. ३-३-३६, पृ० ३०३।

४. १-३-३१।

५. २-२-१७ काशिका।

६. प्राचां क्रीडायाम्—उद्दालक पुष्पभञ्जिका......। प्राचामिति किम्? जीवत्पुत्रप्रचायिका। इयमुदीचां क्रीडा ६-२-७४ तथा जीविकार्थे इति किम्? इक्षुभक्षिकां मे धारयसि—६-३-७३ काशिका।

क्रीडाएँ स्त्रियो मे विशेष प्रचलित थी, किन्तु उद्यान-यात्राओं मे पुरुष और स्त्री समान रूप से भाग लेते थे।

आपान-गोष्ठी—आपान-गोष्ठियो की प्रथा पतजलि-काल मे उतनी नही थी, जितनी उनके उत्तर काल मे मिलती है। पतजलि के समय मे भी पानागार थे, जिनमे जाकर लोग मद्यादि का सेवन करते थे। उन्होने पानागार मे शौण्ड के पान करने का उल्लेख किया है।[1] पानो मे मधु, मद्य, मैरेय, कापिशायन आदि का प्रचार था, जिनका उल्लेख अन्यत्र हो चुका है।

द्यूत—पान से निकट सम्बद्ध था द्यूत। द्यूत का प्रचार प्राचीन भारत मे बहुत अधिक रहा है। भाष्य मे जितनी बार द्यूत का उल्लेख हुआ है, उतनी बार अन्य किसी क्रीडा का नही। द्यूत शब्द दिव् धातु से बना है। ऋग्वेद (२-२९-५) मे द्यूत खेलनेवाले को कितव कहा है। वाजसनेयी सहिता (३०-१८) ने अत्यधिक द्यूत खेलनेवाले को सभास्थूण सज्ञा दी है। महीधर और सायण ने तैत्तिरीय ब्रा० (३-४-१६-१) मे सभा (द्यूतस्थान) में स्तम्भवत् स्थित, अर्थात् सदा खेलनेवाला बतलाया है। द्यूत अक्ष से खेला जाता था। अक्ष विभीतक वृक्ष की लकड़ी से बनते थे और वे बभ्रु या भूरे रग के होते थे।[2] अक्ष खेलनेवाला अक्षद्यू कहलाता था।[3] अक्ष फेकना ग्राभ या ग्रह कहा जाता था। इसमे लगाई जानेवाली बाजी विज् कहलाती थी।[4] कुछ लोग अक्षद्यूत मे विशेष निपुणता प्राप्त कर लेते थे और प्रसिद्धि पा जाते थे।[5] कुछ लोग छल और धूर्त्तता से खेल मे विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। ये लोग अक्ष-धूर्त्त और अक्ष-कितव कहे जाते थे।[6] अक्षो से खेलनेवाले, जीतनेवाले व्यक्ति और जीती हुई सम्पति सब आक्षिक कहलाते थे।[7] अक्षद्यूत प्राय वैर का भी कारण होता था। खिलाडी के कैतव या धूर्त्तता का पता चल जाने पर अथवा जीता हुआ धन न देने पर द्यूत वैर मे परिणत हो जाता था। यह वैर आद्यद्यूतिक कहलाता था।[8] विजिगीषा ही अक्षद्यूत का उद्देश्य थी। काशिकाकार ने कहा है कि पासे जीतने की इच्छा से ही फेके जाते है। जीतने की इच्छा मे द्यूतशब्द का प्रयोग होता था, अन्यथा दिव् धातु के आगे क्त प्रत्यय लगाने पर द्यूत शब्द बनता था।[9]

द्यूत-शलाका—द्यूत शलाकाओ से भी खेला जाता था। अक्षो पर कुछ अक या चिह्न बने रहते थे। यह चिह्न शलाकाओ पर भी होते थे, पर अक्ष घनाकार बनते थे और शलाकाएँ आयताकार। अक्षो की लम्बाई, चौडाई और ऊँचाई बराबर होती थी, किन्तु शलाकाओ का आयाम

---

१. ३-१-१, पृ० २२८।
२. ऋग्० ७-८६-६ तथा अथर्व-पैप्लादसंहिता, २०-४-६।
३. १-४-२, पृ० १२३।
४. ऋग्० ८-८१-१ तथा १०-३४-२।
५. २-१-१, पृ० २२८।
६. २-१-४०, पृ० २९४।
७. ४-२-२।
८. ४-४-१९।
९. ८-२-४९ काशिका।

चौड़ाई और ऊँचाई में अधिक होता था। खेल में जिनका पर्याय या बार होता था, वह अक्ष या शलाकाएं 'पट्ट' पर फेंकता था और अक ऊपर होने पर विजयी माना जाता था। यदि पहले फेंका गया पासा सीधा पड़ा और बाद में फेंका गया उलटा, तो उलटे पासे और शलाका को अक्षपरि और शलाकापरि कहते थे। खेल में पाँच अक्ष या शलाकाएँ रहती थीं। पाँचों सीधी या पाँचों उलटी पड़ती थीं, तो फेंकनेवाले की जय होती थी। एक बार जय के पश्चात् एक अक्ष या शलाका उलटी पड़ी, तो 'एकपरि' शब्द का व्यवहार होता था। इसी प्रकार 'द्विपरि', 'त्रिपरि' और अधिक-से-अधिक 'चतुष्परि' खेल हो सकता था, क्योंकि पाँचों के सीधे या उलटे पड़ने पर तो जय ही मानी जाती थी। पासों की संख्या पाँच होने के कारण इस द्यूत को 'पंचिका' कहते थे। शलाका और अक्ष के एकवचन होने पर ही अक्षपरि और शलाकापरि द्यूत कहलाता था। इस प्रकार अक्षपरि का अर्थ होता था 'अक्ष इस प्रकार ऐसे नहीं पड़े, जैसे पहले पड़े थे।'[1] अक्षपरि आदि शब्द पारिभाषिक थे और कितव व्यवहार में ही प्रयुक्त होते थे। द्यूतक्रीडा का दूसरा नाम कितव-व्यवहार भी था। इसमें जीत के पासे को कृत और हार के पासे को कलि कहते थे। पासे सीधे पड़े, तो कृत कहलाते थे और उलटे पड़े तो कलि। सीधे पासे फेंकने की क्रिया को 'कृतयति' और उलटे पासे फेंकने की क्रिया को 'कलयति' कहते थे।[2]

पण या ग्लह—अक्षद्यूत में आक्रीडी लोग जीत के लिए धन या अन्य वस्तुओं की बाजी लगाते थे, जिसे पण या ग्लह कहते थे।[3] अक्ष से भिन्न प्रसंग में ग्रह शब्द प्रचलित था। सौ का पणन या व्यवहार साधारण बात थी। पाणिनि ने द्यूत के प्रसंग में प्रयुक्त 'व्यवहृ' और 'पण्' धातु के साथ ग्लह वस्तु के लिए षष्ठी का विधान किया है।[4] इसी अर्थ में प्रयुक्त दिव् धातु के योग में भी षष्ठी होती है।[5] उपसर्ग पहले रहने पर दिव् धातु के योग में षष्ठी विकल्प से होती है।[6] धन के साथ लोग गाय बैलों तक की बाजी लगा देते थे। ब्राह्मण-ग्रन्थों तक में इसका उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में दिव् धातु के योग में इसी अर्थ में ग्लह वस्तु के लिए द्वितीया विभक्ति का प्रयोग देखा जाता है।[8]

---

१. ३-१-२१ पृ० ५९।

२. ३-३-७०।

३. २-३-५७।

४. २-३-५८।

५. २-३-५९।

६. अक्षेणेदं न तथा वृत्तं यथा पूर्वमिति अक्षपरि, शलाकापरि—अक्षशलाकयोरेक-वचनान्तयोरिति वक्तव्यम् इह माभूत्, अक्षाभ्यां वृत्तम् अक्षैर्वृत्तम्।—२-१-१०, पृ० २७२ तथा पञ्चिकानाम द्यूतं पञ्चभिरक्षैः शलाकाभिर्वा भवति तत्र यदा सर्वे उत्ताना पतन्त्य-वाञ्चो वा तदा पातयिता जयति। तस्यैव विघातोऽन्यथा पाते सति जायते।—वही, काशि०।

७. २-१-१०, पृ० २७२।

८. द्वितीया ब्राह्मणे, २-३-६०; गां प्रदीव्यन्ति, गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः।—३२-६०, पृ० ४४८।

'द्वितीया ब्राह्मणे' (२-३-६०) सूत्र की व्याख्या मे भाष्यकार द्वारा दिये गये ब्राह्मण-ग्रन्थ के उद्धरण 'सभा मे उस दिन इसकी गाय का जुआ खेले' से प्रकट होता है कि द्यूतक्रीडा सभा मे होती थी। अन्यत्र यह कहा जा चुका है कि प्राय. ग्रामो और नगरो मे सभागृह होते थे। ये सभागृह सर्वसाधारण से सम्वन्ध रखनेवाली सभाओ, गोष्ठियो, क्रीडाओ और उत्सवो के काम आते थे। भाष्य मे अन्यत्र भी 'सभासन्नयन'[१] शव्द मिलता है। सभा मे चतुर या योग्य व्यक्ति सभ्य कहा जाता था। वैदिक भापा मे सभ्य के लिए 'सभेय' शव्द का व्यवहार मिलता है।[२] इन सभाओ मे स्त्रियाँ भाग नही लेती थी। इसीलिए, भाष्यकार ने स्त्रियो को लक्ष्य कर कहा है कि 'भली स्त्री सभा मे साधु कैसे लग सकती है?'[३]

स्त्रियो के मनोरजन के कुछ अन्य साधन थे। तीज-त्योहारो का जहाँ धार्मिक महत्त्व था, वहाँ सामाजिक भी। इन अवसरो पर घरो मे विशेप चहल-पहल हो जाती थी। विशेप पकवान वनाये जाते थे। गाँव भर की स्त्रियाँ एक स्थान पर पूजा के लिए एकत्र होती थी। ऐसे उत्सवो मे गुडापूपिका, तिलापूपिका, वटकिनी और कौल्मापी पौर्णमासियो का उल्लेख भाष्यकार ने किया है।[४] इन पौर्णमासियो को गुड के पुए, तिल के पुए या तिल-मिले पुए, वडे और कुल्माप या घुगरी खाने का महत्त्व था।

शारद्यूत—द्यूत के समान ही चौपड का भी प्रचार था। इसमे ग्लह नही होता था, अत यह विशुद्ध मनोरजन था। इसके लिए दो वस्तुएँ आवश्यक थी। आकर्प,[५] जिसपर चौपड विछाई जाती थी और शार[६], अर्थात् गोटिया। आकर्प एक चौकोर खानेदार या कोप्ठमय फलक होता था। आकर्प मे कुशल व्यक्ति आकर्पक कहलाता था। गोटियाँ आकर्प के कोप्ठो मे इधर-उधर घूमती थी। गोटियो का एक खाने से दूसरे खाने मे ले जाना 'परिणाय' कहलाता था। परिणाय का अर्थ था चारो ओर ले जाना। पाणिनि शार के खेल को भी द्यूत मानते है। काशिकाकार ने कहा है 'परिणाय से शारो को मारता है।' नियमित गति से चलती हुई गोटी यदि विरोधी गोटी पर पडी, तो वह उसका हनन करती है। द्यूत से भिन्न अर्थ मे परिणाय के वदले परिणय शव्द का प्रयोग होता था। भाष्यकार के मत से आकर्प के उस भीतरी कोप्ठ को 'अयानय' कहते थे, जिसमे गोटी के पहुँच जाने पर उसे कोई गोटी काट नही सकती थी। इस खाने मे पहुँची हुई गोटी को अयानयीन कहते थे। अय का अर्थ था दाँया और अनय का अर्थ था वाँया। दाये-वाये चलनेवाली गोटियाँ जिसमे अपने पाँव नही रख सकती थी, उसे 'अयानय' कहते थे। अयानय को जाने योग्य इस अर्थ मे 'अयानयीन' शार का प्रयोग होता था।[७]

---

१. सभासन्नयनेभव।—१-१-७३, पृ० ४६०।

२. ४-४-१०५, १०६।

३. कथ नाम स्त्री सभायां साधुः स्यात्।—४-१-१५, पृ० ४०।

४. तदस्मिन्नन्नं प्रायेण संज्ञायाम्, गुडापूपिका पौर्णमासी, तिलापूपिका—प्राये संज्ञायां वटकेभ्य इनिर्वक्तव्य.—वटकिनी पौर्णमासी, ५-२-८२ तथा कुल्माषादञ्, ५-२-८३ पृ० ४००।

५. ५-२-६४

६. द्यूते तावत् परिणायेन शारान् हन्ति, समन्तान्नयनेन।—३-३-३७, काशिका।

७. अयानय नेय इत्युच्यते तत्र न ज्ञायते, कोऽयः कोऽनय इति। अयः प्रदक्षिणम्, अनयः

अक्षद्यूत और शारद्यूत का प्रचार कितना रहा होगा, यह इस बात से समझा जा सकता है कि इन खेलों से सम्बन्ध रखनेवाले सज्ञा-शब्दों का उल्लेख भाष्य या अष्टाध्यायी मे प्राप्त होता है।

समाज—मनोरजन-क्रीडाएँ सामूहिक रूप से चलती थी, जिनमे भाग लेने के लिए वडी सख्या मे लोग एकत्र होते थे। क्रीडार्थ एकत्र जन-समुदाय को 'समाज' कहते थे।[1] पशुओ का समुदाय 'समज' कहलाता था। इस प्रकार, मनुष्यो और पशुओ के समुदाय का अन्तर स्पष्ट किया गया था। आवश्यक नही था कि समाज मनोरजन के लिए ही हो, किसी भी प्रकार के जन-समवाय समाज कहलाते थे। विचार-गोष्ठी के लिए भी समाज होते थे। समाज जहाँ एकत्र होता था उसे 'समज्या' कहते[2] थे। भाष्यकार ने भी उस स्थान को समज्या कहा है, जहाँ लोग इकट्ठे होते है। इस प्रकार समज्या, सभा और समाज प्राय समानार्थी जान पडते है। इस अर्थ मे समवाय[3] शब्द का भी प्रचलन था। भाष्यकार ने कहा है कि समाज, समाश और समवाय मे 'वैठिए' कहने पर स्वय प्रत्येक व्यक्ति वैठ जाता है, यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति से वैठने को नही कहा जाता।[4] परिषद् इससे वडी सस्था थी, जिसमे किसी विषय पर विचार-विमर्श के लिए ही लोग एकत्र होते थे।[5] भाष्यकार ने समवाय मे समवेत होने, अर्थात् समवाय मे जाकर उसका एक अग वन जाने की चर्चा की है।[6] समवाय मे समवेत होनेवाले सामवायिक, समाज मे जानेवाले सामाजिक और परिषद् के सदस्य 'पारिषद्य' कहे जाते थे।[7] सभा के सदस्य के लिए 'सभ्य' शब्द प्रचलित था। समवाय और समाजादि के सरक्षक दर्शको से भिन्न होते थे। इनका काम इस प्रकार के सगठनो की व्यवस्था एव दायित्व सँभालना था। ये लोग भी सामवायिक और सामाजिक ही कहे जाते थे।[8]

इस प्रकार, हम देखते है कि कलाओ के अतिरिक्त सामूहिक या वैयक्तिक क्रीडाएँ मनोरजन का मुख्य साधन थी। क्रीडाओ मे प्राच्य, उदीच्यादि देश-भेद से अन्तर था। क्रीडा मे भाग लेनेवाले को आक्रीडी कहते थे।[9] वालको की क्रीडा का भाष्य मे अलग उल्लेख किया है। क्रीडा के साथ सक्रीडा, परिक्रीडा, आक्रीडा, अनुक्रीडा आदि शब्दो का भी प्रचलन था।[10]

प्रसव्यम्। प्रदक्षिणप्रसव्यगामिनां शाराणा यस्मिन् परैः पदानामसमावेश. सोऽयानयः। अयानयं नेयोऽयानयीनः शारः।—वही।

१. ३-३-६९, काशिका।

२. समजन्ति तस्यां समज्या, ३-३-९९, पृ० ३१३।

३. ३-३-६९ काशिका।

४ समाजेषु समाशेषु समवायेषु चास्यतामित्युक्ते न चोच्यते प्रत्ययात्ममिति प्रत्यात्म चासते, १-१-५० पृ० ३०९।

५. ३-३-९९, पृ० ३१३। ६. ४-४-४३ का।

७. ४-४-४४

८. ६-४-३३ काशिका०।

९. ३-२-१४२। १०. १-३-२१ पृ० ६२।

खण्ड ४

आर्थिक स्थिति

अध्याय १

कृषि

कृषि का अर्थ—पतंजलि के समय मे कृषि भारत का मुख्य व्यवसाय था। भाष्य मे स्थान-स्थान पर जो उदाहरण प्रस्तुत किये गये है, उनमे से अधिकाश कृषि-व्यवसाय और ग्रामीण जीवन से सम्वद्ध है। कृषि शब्द 'कृष्' धातु से वना है, जिसका अर्थ है कूँड वनाना या जोतना। मराठी मे इसके लिए वहुत उपयुक्त शब्द प्रयुक्त होता है 'नागरना।' पतजलि के समय तक कृषि शब्द मे उन सव क्रियाओ का अन्तर्निवेश हो चुका था, जो आज इस व्यवसाय के अन्तर्गत गिनी जाती है। इनमे जोतना, खोदना, वोना, निराना, काटना, गाहना, सलाना आदि सभी कार्य आ जाते हैं। 'हेतुमति च'[1] (३-१-२६) सूत्र का भाष्य करते हुए पतजलि ने कहा है कि कृष् धातु के अर्थ के भीतर वहुत-सी क्रियाएँ आती है। कृष् केवल जोतने के अर्थ मे ही प्रयुक्त नही होता, उसका अर्थ प्रतिविधान भी है। जोतनेवाले को खिलाना-पिलाना, वीज तथा वैलो की व्यवस्था या प्रति-विधान करना भी कृषि के अर्थ के भीतर है। जिस दिन वह उक्त वातो का प्रवन्ध नही करता, उस दिन कृषि का कार्य ही नही हो पाता। इसका अर्थ यह हुआ कि कृषक केवल जोतनेवाला ही नही, जुताई करानेवाला भी माना जाता था। इसी सूत्र के भाष्य मे आगे चलकर उन्होने कहा है—'एकान्त[2] मे चुपचाप वैठे हुए पुरुष के लिए भी लोग कहते है कि यह पाँच हलो की खेती करता है। ऐसे प्रसग मे कहना चाहिए कि पाँच हलो की खेती करवाता है।' इस शका का समाधान करते हुए वे कहते है कि कृष् धातु मे अनेक क्रियाएँ सम्मिलित है। इसलिए, पाँच हल चलाता है, यह कहना भी उपयुक्त है; क्योकि वह स्वय हल न चलाकर हल चलाने के साधन प्रस्तुत करता है।

कृषक—वैल और हल कृषि के मुख्य साधन थे। जहाँतक कृषि-क्रियाओ का सम्वन्ध है, उन्हे किसान स्वय करता था या वेतन देकर भृतको से करवाता था। किसान के लिए कृषीवल[3] शब्द का व्यवहार होता था। वर्त्तमान किसान शब्द या तो कृषाण (कृष्+शानच्) का अपभ्रश रूप है या ऋग्वेद के कीनाश[4] शब्द से कालान्तर मे वर्ण-विपर्यय होकर विकसित हुआ है। अधिक

---

१. नानाक्रियाः कृषेरर्थः। नावश्यं कृषिर्विलेखन एव वर्त्तते। किं तर्हि? प्रतिविधानेऽपि वर्त्तते। यदसौ भक्तवीजवलीवर्दैः प्रतिविधानं करोति सोऽपि कृष्यर्थः। अतश्च प्रतिविधानेऽपि वर्त्तते।—३-१-२६, पृ० ७३।

२. वही, पृ० ७३।

३. ५-२-११२।

४. ऋग० ४-५७-८।

छडो का होना सौभाग्य का सूचक माना जाता था और तदर्थ गुरुजन आशीर्वाद भी देते थे।[1]
जिसके पास हल न होता, उसे अहल, अपहल, अपसीर या अपलागल कहते थे। जिसका हल खराब
होता, उसे दुर्हल और जिसका हल अच्छा होता, उसे सुहल कहते थे। मराठी का 'नागर' संस्कृत
लागल का अपभ्रंश रूप जान पडता है। सस्कृत हलयति, अजहलत्,[2] आदि के समान मराठी मे
नागर (हल) शब्द का व्यवहार क्रियारूपो मे भी होता है।

भूमि—हल से जोती जानेवाली भूमि हल्या[3] कहलाती थी। जुता हुआ खेत सीत्य[4] कहा
जाता था। अहल्य भूमि, ऊषर[5] (रेह या नमकीन मिट्टीवाली) होती थी। गोचर (चरागाह)
व्रज (पशुशालाएँ) और गोष्ठ (वाडे) ऊपर भूमि मे होते थे।[6] क्षेत्रोंको केदार[7] भी कहते थे।
केदारो का समूह कैदार्य, कैदारिक या कैदारक कहा जाता था। हल्य भूमि शुनासीरीय[8] भी कही
जाती थी, क्योकि शुन (वायु) और सीर (आदित्य) उसके देवता माने जाते थे। एक हल से
जोती जाने योग्य भूमि हल्या[9] और दो या तीन हलो से जोती जानेवाली द्विहल्या या त्रिहल्या
कही जाती थी। मजबूत बैलोवाले लोग सामान्य कृषको की अपेक्षा एक हल से अधिक भूमि
पर खेती कर लेते थे। यह भूमि परमहल्या या परमसीत्या कही जाती थी।[10] सामान्यतया जोतने
योग्य भूमि को कर्ष कहते थे।[11] एक हल होना सामान्यत परिवार की निर्धनता का सूचक था।
केवल असहाय लोग एक हल चलाते थे। सम्पन्न परिवार कई-कई हलो की खेती करते थे।

क्षेत्रो के नाम—हल्य भूमि क्षेत्रो मे विभक्त थी। क्षेत्रो के नाम दो प्रकार से निश्चित
किये जाते थे– उनमे वोई जानेवाली फसल के आधार पर और खेत मे पडनेवाले वीज के परिमाण
के अनुसार। जिस खेत मे किसी धान्य का एक प्रस्थ वीज वोया जाता था, उसे प्रास्थिक कहते
थे।[12] उसी प्रकार खारिक और द्रौणिक क्षेत्र होते थे। पात्र,कुम्भ, उष्ट्रिका आदि माप थे,जिनमे से
खेत मे वीज डाला जाता था। इन सवके निश्चित परिमाण थे। पात्र, कुम्भादि परिमाण ही थे।
खेतो का नाम भी इनके आधार पर पात्रिक आदि पड जाता था।[13] भाष्य मे मापकुम्भवाप तथा

---

१. ६-३-८३, पृ० ३५३।
२. ३-१-२१, पृ० ५९, ६०।
३. ४-४-९७।
४. ४-४-९१।
५. ५-२-१०७।
६. ३-३-११९ तथा ५-२-१८।
७. ४-२-४०, पृ० १७९।
८. ४-२-३२।
९. ४-४-९७।
१०. १-१-७२, पृ० ४५४।
११. ४-४-९७ तथा ६-१-१५९, पृ० २०४।
१२. ५-१-४५ का०।
१३. ५-१-४६ काशिका।

उष्ट्रिका-आवपन के उल्लेख मिलते है। फसल के अनुसार खेतों के मौद्गीन (जिसमे मूंग बोई गई हो), व्रैहेय (व्रीहिवाला), शालेय (धान का खेत), यव्य (जिसमे जौ बोये जायें), यवकय (जई का खेत), षष्टिक्य (साठी धानवाला), तिल्य या तैलीन (तिलवाला) माष्य या माषीण (उरद की फसलवाला), भाग्य या भागीन (पटसन का खेत), उम्य या औमीन (अलसी का खेत) और अणव्य या आणवीन (ज्वार-बाजरा का खेत) आदि नाम होते थे।[१] जिस खेत मे फसल बोई जाती थी, उसे 'वाप' कहते थे।[२]

कर्ष या जोत—भूमि तो कृषि का आधार ही है। इसी की जुताई को पतंजलि ने 'हलस्य कर्ष'[३] कहा है। हल चलने से भूमि मे जो कूंड बनता है, उसे सीता कहते थे। एक ही खेत मे दो, तीन, चार या अनेक बार जुताई की जाती थी। जोत उलटी भी होती थी। एक पुरुष हल की मूंठ पकडे हुए बैलो के पीछे चलता था और दूसरा उसके पीछे-पीछे खेत मे बीज छोडता जाता था। दोहरी तेहरी, उलटी जोत और वपन के साथ जोत की क्रिया को 'द्वितीया करोति', तृतीया करोति, 'शम्बा करोति' और 'बीजा करोति' कहते थे।[४] दोहरी गहरी या दुबारा जोत के द्वारा खेत की शक्ति बढ जाती है। ऐसी दोहरी जोत के लिए 'द्विगुणा करोति क्षेत्रम्' प्रयोग भी प्रचलित था।[५] जोतने के लिए विलेखन शब्द का व्यवहार होता था। जोतने के बाद खेत की आर्द्रता की रक्षा के लिए काष्ठ द्वारा खेत की मिट्टी बराबर कर दी जाती थी। अन्यथा खेत की भीतरी मिट्टी सूख जाने पर बीज के न उगने का भय रहता था। मिट्टी के समीकरण की यह क्रिया कृषक एक लम्बे भारी काष्ठ को रस्सी मे बाँधकर और उसमे बैल नाधकर स्वय लकडी पर खडा होकर करता था।[६]

जोतने के लिए बैल युग या जुये मे नाधे जाते थे, इसीलिए बैलो को युग्य कहते थे। जुये मे जुते हुए बैल गाँव से दो कोस तक की दूरी पर जाकर खेत जोतते थे; क्योकि प्राय गाँवो के क्षेत्रफल मे इतनी दूर तक की हल्य भूमि सम्मिलित रहती थी। कभी-कभी पडोस के कृपक के साथ खेती मे साझा होने के कारण भी इतनी दूर जाकर जोतना-बोना पडता था। जुये मे जुते बैल जितनी दूर तक जाकर खेत जोतते थे, वह दूरी 'गव्यूति' कहलाती थी, जो लगभग दो कोस होने के कारण पहले आनुमानिक और बाद मे दो कोस की निश्चित सज्ञा बन गई।

खेतो के कोने जो हल से नही जोते जा सकते थे, खोद दिये जाते थे। जिस औजार से कोने खोदे जाते थे, उसे आखन, आखान, आख, आखर, आखनिक या आखनिकवक कहते थे।[७] नामो मे यह अन्तर स्थान-भेद के कारण आ गया था।

---

१. ५-२-१ से ५-२-४, पृ० ३६७, ६८।
२. ५-१-४५।
३. ६-१-१५९, पृ० २०४।
४. ५-४-४८।
५. ५-४-५९।
६. १-४-४९, पृ० २९८।
७. ३-३-१२५, पृ० ३१९।

वपन—भाष्यकार ने वपन का उल्लेख अनेक वार किया है तथा इस व्यक्ति ने बैलो के सहारे खेत बोये, उरद बोनेवाली,[1] व्रीहि बोनेवाली, घड़े भर उरद[2] या व्रीहि बोये जाने योग्य खेत, उरद का वपन आदि।[3] दो धान्यो को एक साथ मिलाकर बोने की भी प्रथा थी। किसान लोग उरद और तिल मिलाकर बोते थे[4]। खेत उरद बोने के लिए तैयार किया जाता था। उसमे धान्य के रूप मे उरद बोये जाते थे, किन्तु गौण रूप से तिल भी बो दिये जाते थे।[5] यदि उरद के साथ तिल भी हो गये तो अच्छा, अन्यथा कोई विशेष हानि नही। तिल का वीज ही कितना पड़ता है।

फसलों के नाम—खेतो के समान फसल के नाम भी उनके बोये या काटे जाने की ऋतु या काल के अनुसार निश्चित किये गये थे। तैत्तिरीयसहिता (७-२-१० तथा ५-१-७) मे फसलों का समय दिया हुआ है। यव गरमी मे तथा धान वसन्त मे बोये जाते थे और वर्ष मे दो फसलें काटी जाती थी। हेमन्त मे बोये जाने के कारण जौ को हेमन्तिक कहते थे।[6] शरद् मे पकने के कारण शालि शारद कहलाते थे।[7] ग्रीष्म मे पकने के कारण गेहूँ, अरहर आदि ग्रैष्म या ग्रैष्मक अन्न कहे जाते थे। गरमी मे बोये जानेवाले व्रीहि भी ग्रैष्म थे। वर्षा मे मार्ग प्राय अवरुद्ध रहते थे। शरद आते ही नदियो का जल स्वच्छ हो जाता है। मार्गो का कर्दम सूख जाता है। व्यापारी यात्रा के लिए निकल पडते है। रथ और गाडियाँ जोती जाने लगती है। यह मुहूर्त्त शरत्पूर्णिमा को होता था। इस दिन घोडे रथ मे जोते जाते थे, इसीलिए शरत्पूर्णिमा को आश्वयुजी भी कहते थे। आश्वयुजी को बोये जानेवाले उरद आदि अन्नो का नाम आश्वयुज था।[8]

सिंचाई—भाष्य मे कई स्थानो पर खेतो की सिंचाई का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उल्लेख है। बोने के बाद खेतो को सीचने की आवश्यकता होती थी। सीचने तथा खाद डालने की प्रथा वैदिक काल से ही चली आती थी। ऋग्वेद मे खाद को कारिष और सिंचाई को खनित्रा कहा है।[9] खाद गोमय की होती थी। भाष्य मे कारीष तथा आरण्य गोमय का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद मे वर्षा (७-१०१-३, १०-१०५-१ आदि) के लिए तथा उर्वरता बढाने के लिए अनेक स्थानो पर प्रार्थनाएँ मिलती हैं। बहुत-सी सिंचाई तो वर्षा से हो जाती थी। खेती के लिए वर्षा पर अधिक निर्भर रहना पडता था। मेघ कृषको के देव थे। सस्कृत-साहित्य मे उन्हे बार-बार देव

---

१. ४-१-४८, पृ० ६० तथा ८-४-११, पृ० ४८०।

२. ८-४-१३, पृ० ४८१।

३. ८-२-१, पृ० ३३१ तथा १-४-४७, पृ० २८९।

४. तिलैः सह माषान् वपति। तिलैर्मिश्रीकृत्य माषा उप्यन्ते।—२-३-१९, पृ० ४२१।

५. यदा तु खलु कस्यचिन्माषबीजावाप उपस्थितस्तदर्थं च क्षेत्रमुपाजितं तत्रान्यदपि किञ्चिदुप्यते यदि भविष्यति।—२-३-१९, पृ० ४२१।

६. ४-३-४४।

७. ४-३-४३।

८. ४-३-४५।

९. वैदिक इण्डेक्स भाग १, पृ० १८२।

कहा है।[1] धानो के लिए वर्षा ही मुख्य आधार थी, इसलिए भाष्य मे एक व्यक्ति कहता है कि यदि देव बरस गया, तो धान हो जायेंगे। इस पर दूसरा कहता है कि इस वाक्य मे सुधार की आवश्यकता है। यो कहो कि पानी बरसा, तो समझो धान हो गये। बरसे हुए पानी की माप किसान अपने ढग से करते थे। कपडे भीगने भर को बरस गया[2], गौ के खुर का गड्ढा भरने भर को बरसा[3], चूहे के बिल भरने योग्य बरसा[4], या हल के कूँड-भर बरसा[5], इस तरह के उल्लेख भाष्य और काशिका मे मिलते है।

नदियों से भी सिंचाई करने की प्रथा थी। हो सकता है, कुल्या नदियो से निकाली जाती हो। तालावो से तो निकाली ही जाती थी। कुछ नदियो के तट खेती के योग्य होते थे। नदी-तट पर बोई गई फसल आज के समान तब भी नदी से ही सींची जाती होगी, इसीलिए, भाष्य-कार ने शालि को देविका-मूल कहा है।[6] देविका (नदी) के तट पर बोये जाने से ही यह नाम पडा था।

सिंचाई का तीसरा साधन था छोटी-छोटी नहरे, जिन्हे कुल्या कहते थे। गहरे गड्ढे या कुएँ खोदकर, नालियाँ और नहरे बनाकर उनसे सिंचाई का काम लिया जाता था। भाष्यकार ने कहा है कि शालि (धान) के लिए नालियाँ बनाई जाती हैं। उनसे पानी पिया जाता है, स्नान किया जाता है और धान सींचे जाते है। तालावो को बाँधकर उनके पानी से सिंचाई की व्यवस्था शासन भी करता था। गिरनार के सुदर्शन तडाग का निर्माण तो मौर्यकाल मे ही हो गया था।

कुएँ सिंचाई के प्रमुख साधन थे। सबसे अधिक सिंचाई कुओ से होती थी। वापी और कुएँ प्रत्येक गाँव मे होते ही थे। सिंचाई के लिए छोटे-छोटे कुएँ भी आवश्यकतानुसार बना लिये जाते थे। शकन्धु और कर्कन्धु का उल्लेख भाष्य मे हुआ है। विपाशा के दोनो ओर के किनारो के कुओ का उल्लेख पाणिनि ने किया है। प्रत्येक गाँव मे कुछ लोग सिंचाई का काम करने मे निपुण होते थे। ये लोग 'भृति' पर काम करते रहे होगे। इनके कामो मे कुल्याओ का प्रणयन और कूप-खनन भी था। भाष्य मे एक ऐसे गाँव की ओर सकेत है, जिसे छोडकर सेचक लोग चले गये है[7]। कूप-खनन को लेकर कूप-खानकन्याय ही बन गया था। कुआँ खोदता हुआ आदमी यद्यपि मिट्टी और धूल से ढक जाता है, किन्तु कुएँ मे पानी निकल आने पर उसे वह सुविधा प्राप्त हो जाती है

---

१. देवश्चेद्वृष्टो सम्पत्स्यन्ते शालय इति। स उच्यते मैवं वोचः। सम्पन्नाः शालय इत्येवं ब्रूहि।—३-३-१३३, पृ० ३२४।

२. चेलक्नोपं वृष्टो देवः।—३-४-३३, पृ० ३६०।

३. गोष्पद वृष्टो देवः।—४-३-३२, पृ० ३६०।

४. ४-३-३२ काशिका।

५. वही।

६. ७-३-१, पृ० १७१।

७. ८-३-६५, पृ० ४५०।

कि धूल-मिट्टी का दोष तो दूर ही हो जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य वहुत-सा कल्याण होता है।[१] इसी को कूपखानकन्याय कहते थे। इस कथन मे अन्य 'वहुत-सा कल्याण' यह कथन सिचाई की ओर ही सकेत करता है। आमों के सीचे जाने का उल्लेख भी भाष्य मे मिलता है।[२] वावडियो से सिंचाई का काम किया जाता होगा।[३] उदकोदवन.[४], वारित्रम्[५] और खण्डिकादिगण मे पठित युग-वरत्रा से पता चलता है कि भाष्य-काल मे वैलो के सहारे रहट से पानी निकालकर सीचने की प्रथा थी। युग-वरत्रा जुए मे वँधी हुई रस्सी या वरत को कहते हैं। उदकोदवन वालटी का दूसरा नाम है। गोचर्म, उष्ट्राजिन आदि का उपयोग पानी सीचने के लिए होना सम्भाविन है। 'रस्सी कुएँ से ऊपर खीचता है'[६] आदि कथन केवल रस्सी से पानी खीचने का वोघ कराते हैं। दक्षिणापथ मे तालावो की अधिकता थी। वहाँ वड़े तालावो को सरसी कहते थे।[७] ये सरसियाँ आज के समान तव भी सिंचाई का साधन थी।

कभी-कभी वर्षा के वादल साथ नही देते थे।[८] कुएँ, वावड़ी, तडाग सव सूखने लगते थे। पर्जन्य[९] महोघा होते हुए भी करुणा-जल की वर्षा नही करते थे। भाष्य मे एक स्थान पर केवल त्रिगर्त्त छोडकर शेष चारो ओर वर्षा होने की चर्चा है।[१०] ऐसी स्थिति मे लोग वर्षा के लिए पूजा-पाठ करते थे। भाष्य मे जप के वाद[११] या साकल्य की सहिता[१२] के पाठ के वाद वर्षा का होना वतलाया गया है।

इस प्रकार सीचने से उपज कई गुनी वढ जाती है। भाष्य मे कहा है कि धान का एक भी वीज फल-फूलकर अच्छी तरह पक गया, तो कृषक को सम्पन्न बना देता है[१३]।

---

१. शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते, ताभ्यश्च पानीयं पीयते, उपस्पृश्यते शालयश्च भाव्यन्ते।—१-३-१२ पृ० ५४ तथा १-१-२३, पृ० २१२; कूपं खनन् यद्यपि मृदा पांसुभिश्चावकीर्णो भवति सोऽप्सु सञ्जातासु तत एव तं गुणं समासादयति येन स दोषो निर्हण्यते भूयसा चाभ्युदये योगो भवति।—आ० १, पृ० २४।

२. आ० १, पृ० ३१।

३. आ० १, पृ० १९।

४. ३-३-१२३, पृ० ३१८।

५. ५-१-२, पृ० २९४।

६. १-३-२८, पृ० ६५।

७. १-१-१९, पृ० १९०।

८. ४-३-२५, पृ० २३१।

९. ५-४-१३१, पृ० ५११।

१०. ८-१-५, पृ० ३७०।

११. जपमनु प्रावर्षत्।—२-३-८ का० तथा शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत्।—१-४-८४, पृ० २००।

१२. वही।

१३. एको व्रीहिः सम्पन्नः सुभिक्षं करोति।—१-२-५८, पृ० ५५८।

खेतों की रक्षा—खेतो की रखवाली कृषि का महत्त्वपूर्ण अग है। भाष्य मे कई स्थानो पर पशुओ द्वारा खेतो के खाये जाने की चर्चा है। शालि-क्षेत्रो मे पशु अधिक नही जाते थे, किन्तु जौ, उरद और गेहूँ के लहलहे खेत उनके लिए विशेष आकर्षक होते है। बैलगाडी या हल मे जुते हुए बैल भी पास के खेत मे मुँह मार देते हैं।[१] फसल को चार स्थानो से हानि का डर रहता था—चोर, पालतू पशु, वन्य पशु और पक्षी। पक्षियो से खेत को बचाने के लिए खेतो मे चचा (घास का आदमी) खडे किये जाते थे, जिनके डर से पक्षी, सियार, मृग आदि नही आते थे।[२] जन-साधारण मे यह विश्वास था कि वृक्षो मे जीव होता है और हरी वनस्पति को हानि पहुँचाना जीव-हिंसा है। यह धारणा भी पालतू पशुओ से खेतो की रक्षा मे सहायक थी। राज्य की ओर से भी कडाई बरती जाती थी और खेतो मे पशु छोडनेवालों को कडा दण्ड दिया जाता था। पशुपालक उरद के खेतो से गाय-बैलो को दूर रखता था, क्योंकि वह जानता था कि यदि गायें खेत मे गईं, तो धान्य का नाश होगा। इसमे अधर्म भी है और राजदण्ड का भय भी।[३] फिर भी, मृग, नील गाय आदि आरण्यक प्राणी तो खेत खा ही जाते थे। चचा का भय धीरे-धीरे कम हो जाता था, किन्तु कोई-कोई उनके डर से धान्य बोना बन्द नही करता था।[४] उनकी रक्षा के लिए रखवाले नियुक्त कर दिये जाते थे। भाष्य मे यवपाल का नाम आया है।[५]

दैवी आपत्तियो से रक्षा के क्या साधन थे, यह तो मालूम नही है, किन्तु अनुभव के आधार पर कृषक भावी विपत्तियो का पूर्वानुमान अवश्य कर लेते थे और समय रहते उनके लिए तैयारी कर लेते थे। उदाहरणार्थ, वे जानते थे कि बादल उनये और कपिलवर्णा बिजली कौंधी, तो तेज वायु चलेगी। यदि लाल कौंध हुई, तो तेज धूप निकलेगी। पीली कौंध फसल के लिए हितकर होती है। किन्तु, यदि कौंधती बिजली का रग सफेद हुआ, तो दुर्भिक्ष पडता है।[६]

काटना—पकी फसल की कटनी को लवन, लाव या अभिलाव कहते थे और काटनेवाले को लावक। जब फसल बहुत पक जाती थी, तब उसे 'अवश्यलाव्य' कहते थे।[७] काटने के लिए एक खेत मे बहुत-से लोग जुटा दिये जाते थे, जिससे सारा खेत एक ही दिन मे कट जाय।[८] काटने-वाले कुछ तो भाग या अश भृति के रूप मे लेकर काटते थे और कुछ बदले मे कटवाने के लिए

---

१. वहलिहो गौः।—१-१-४७, पृ० २९१।

२. १-१-५२, पृ० ५५५।

३ माषेभ्यो गा वारयति। पश्यत्यय यदीमा गावस्तत्र गच्छति ध्रुव सस्यविनाशः। सस्यविनाशेऽधर्म. राजभय च।—१-४-२७, पृ० १६४ तथा १-४-५२, पृ० १८३।

४. न च मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्ते।—१-१-३९, पृ० २५३।

५. ६-२-७८।

६. वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी।
पीता भवति सस्याय दुर्भिक्षाय सिता भवेत्॥—२-३-१३, पृ० ४१७।

७. १-१-३, पृ० ११७ तथा आ० २, वा० ७ तथा १-१-५०, पृ० ३०५।

८ १-३-३६, पृ० ६०।

काटते थे।[1] भाष्य मे इन दोनो प्रकारो का कथन है। कुछ धान्य काटे जाते थे और कुछ जड़ से उखाड़े जाते थे।[2] जौ काटे जाते थे।[3] कभी बालें काटकर काण्ड बाद मे भी काट लिये जाते थे।[4] उड़द-मूँग जड से उखाड़े जाते थे।[5] काटने का काम हँसिये से किया जाता था, जिसे प्राच्य प्रदेश मे दाति और उत्तरप्रदेश मे दात्र कहते थे।[6] अन्न के समान शरकाण्ड[7] आदि भी काटे जाते थे, जो छप्पर बनाने के काम आते थे। खेत काटने से जो बालें या दाने भूमि पर गिर जाते थे, उन्हे सिल या कण कहते थे।[8] इन कणो को बीनने का नाम उञ्छ था।[9] प्रदेशो के अपने लवन का ढग भी भिन्न था। कोई सीधे काटता और लून धान्य को एक पक्ति मे रखता था। कही एक-एक क्यारी को काटने की प्रथा थी। भद्र जनपद के लोग लून धान्य को अव्यवस्थित फेंकते जाते थे।[10] ईख, अरहर या अन्य कड़ी फसल को 'स्तम्बलून' से काटते थे।[11] यह गडास या उसके जैसा औजार होता था। कभी-कभी लोहे की छड़ें मारकर भी ये खेत गिरा दिये जाते थे। हो सकता है, यह कुल्हाड़ी-जैसा कोई औजार हो। इसे स्तम्बघ्ना, स्तम्बहेति या स्तम्बहनी कहते थे। काटा हुआ धान्य पूलो मे बाँधकर एकत्र किया जाता था।[12] कटी हुई फसल बड़े-बड़े ढ़ेरो मे एकत्र कर दी जाती थी। एकत्र किये हुए धान्य की गो आदि की आकृतियाँ बना दी जाती थी, जिन्हे धान्यगव कहते थे। इसी प्रकार, तृणादि भी काटकर पहचानने के लिए सिंहादि की आकृति मे एकत्र कर दिये जाते थे, जो तृण-सिंह कहलाते थे।[13]

खल्य—कटने के बाद सारी फसल एक स्थान मे एकत्र की जाती थी। कटी फसल को खल और उसके स्थान को खल्य कहते थे।[14] खल्य स्थान का अपभ्रश रूप खलिहान आज भी प्रचलित है। खल्य का अर्थ खल के लिए उपयोगी होता है। खलो के समूह को खल्या या खलिनी कहते थे।[15] गाँव के सब या अधिकाश किसान अपनी सारी फसल एक ही खल्य मे रखते थे। खल्य

---

१. १-३-३६, पृ० ६०।
२. २-३-७०, पृ० ४५७।
३. वही ।
४. ३-२-१, पृ० २०४।
५. ४-४-८८ का०।
६. आ० १, पृ० २१।
७. ३-२-१, पृ० २०४।
८. ४-४-३२, काशिका।
९. १-४-३, पृ० १३१।
१०. उपस्कारं मद्रका लुनन्ति।—६-१-१४०, पृ० १९०।
११. ३-३-८३, पृ० ३१०।
१२. २-४-३०, पृ० ४७६।
१३. ६-२-७२ काशिका।
१४. ५-१-७।
१५. ४-२-५०, पृ० १८४।

स्थान प्रत्येक गाँव का निश्चित रहता था। सारी फसल एकत्र रखने मे सुरक्षा की सुविधा रहती थी। कुछ धान्यो का अवहनन होता था। अवहनन के लिए उलूखल रहते थे।[1] शेष को बैलो द्वारा गाहन किया जाता था। उत्तर भारत मे आज भी इस क्रिया को गाहना ही कहते हैं। गाहते समय धान्य को बार-बार पलटना होता है, जिससे नीचे दबा हुआ धान्य ऊपर आकर कट सके और छोटा-छोटा भुस बन सके। पलटने की यह क्रिया लकडी से बने एक विशेष साधन से की जाती है, जिसमे अगुली की आकृति की तीन या पाँच लकडियाँ लगी रहती हैं। इसे द्व्यगुल (यदि दो लकडियाँ हो), अगुल या पचागुल दारु कहते थे।[2]

निष्पाव—गाही हुई फसल सैलायी जाती थी। सैलाने की क्रिया निष्पाव कहलाती थी। निष्पाव वायु अथवा बडे शूपो के सहारे होता था।[3] राशि छोटी हुई, तो शूपो से काम चल जाता था, अन्यथा वायु मे भूसा उडाना पडता था। धान फटकने का काम भी शूर्प-निष्पाव ही कहलाता था। फटकने के बाद धानो एव अन्य धान्यो की राशि लगा दी जाती थी।[4] कभी-कभी धान्य-राशियो का परिणाम सौ-सौ हजार खारी तक होता था।[5] तिल और तण्डुलो के ढेर का भाष्य मे उल्लेख है।[6] तण्डुल तो उलूखल मे अवहनन द्वारा ही तैयार किये जाते होंगे। निष्पाव भी भृति पर आदमी नियुक्त करके अथवा बदले मे करवा देने के आश्वासन पर कराया जाता था। देवदत्त का धान्य लोग सैला रहे हैं,[7] परस्पर एक दूसरे का निष्पाव कर रहे हैं[8]—ये कथन भाष्य मे आये हैं। इसी प्रकार खल मे पडे हुए जौ, भुस कटे हुए जौ, भुस नष्ट हुए तथा नष्ट होते हुए जौ और भुस के लिए निपातन द्वारा निष्पन्न शब्द भाष्य मे आये हैं।[9] सहृतयव, सह्वियमाण यव, सहृतबुस और सह्वियमाण बुस का भी भाष्यमे उल्लेख है।[10] ये समस्त शब्द खल की क्रमिक प्रक्रियाओ के सूचक हैं, जो यह स्पष्ट करते हैं कि अन्न की राशि एकत्र कर लेने के बाद भूसा एकत्र किया जाता था। 'खले बुसम्' उस स्थिति की ओर इगित करता है, जिसमे भूसा खलिहान मे ही पडा रह गया है।

कभी-कभी साधनहीन निर्धन के लिए यह कठिन हो जाता था कि वह सारी फसल के कटकर गाहे जाने और सैलाने तक प्रतीक्षा करे। घर मे अन्न की कमी उसे बीच-बीच मे खेत से थोडा-थोडा धान्य काट लेने को बाध्य करती थी। वह थोडा-बहुत अनाज काटकर घर ले आता और

---

१. २-१-३६, पृ० २८८।
२. ५-४-११४, काशिका।
३. ३-३-२०, पृ० २९९।
४. ३-३-२०, पृ० २९८, ९९।
५. ५-१-५८ पृ० ३२७।
६. ३-३-२०, पृ० ३८९।
७. देवदत्तस्य धान्यं व्यतिपुवते।—१-३-१४, पृ० ५७।
८. १-३-१६, पृ० ६०।
९. २-१-१७, पृ० २७५।
१०. वही।

वहाँ पीट-पाटकर अनाज निकाल लेता और काण्ड, पुआल आदि अलग डाल देता था।[1] गेहूँ, जौ आदि के काण्डो के क्षुण्ण अश वुस कहलाते थे। शालि और पलाश के भुस को तुष कहते थे और इसके पुआल को पलाल।

इस प्रकार समस्त प्रक्रियाएँ ठीक-ठीक हो गईं, तो खेत मे मारी हुई एक कुदाली भी सैकडो खारी अन्न दे जाती थी।[2]

उपज—भाष्यकार ने दो प्रकार की फसलो की चर्चा की है—कृष्टपच्य और अकृष्ट-पच्य। उन्होने कहा है कि जुते खेत मे स्वय ही अन्न पकता है, अर्थात् विना वोये ही कुछ धान्य उग आते है, वे कृष्टपच्य कहलाते हैं। विना जुती भूमि पर अपने-आप उगने और पकनेवाले अन्न अकृष्टपच्य कहलाते है। जैसे नीवार, कुकनी, सावाँ आदि। जिस अन्न के पैदा होने की सम्भावना जुती भूमि मे हो, अर्थात् जो वोकर उगाया जा सकता हो, उसे कृष्टपाक्य कहते हैं।[3] इनमे खाद्यान्न, दालें, तन्तुवृक्ष (इक्षुभौ), तैलवृक्ष, मसाले और सुगन्धवृक्ष (चन्दन भी), फल, सिल्य और लाक्षा—ये उपजें प्रमुख थीं।

व्रीहि—यह यहीं की भूमि का अन्न था। डी कैण्डोले का विचार है कि व्रीहि चीन में २००० वी० सी० मे पैदा किया जाता था। लिआल (Lyall) के मत से अत्यन्त प्राचीन काल से भारत मे व्रीहि की खेती होती रही है। अन्य देशो मे इसके नाम भारतीय नाम के आधार पर रखे गये थे। उदाहरणार्थ, फारसी मे विरिञ्जी, अरवी मे अरुज़, ग्रीक मे ओर्याज। खेतों की उपज में व्रीहि का स्थान प्रमुख था। व्रीहि छोटा धान है, जो वरसात का अन्त होते-होते तक पक जाता था। इसके लिए वाहरी पानी की विशेष आवश्यकता नही होती थी। वर्षा का ही पानी व्रीहि के लिए पर्याप्त होता है। व्रीहि की उपज भी प्रति वीघे पर्याप्त होती थी। इसीलिए, भाष्यकार ने कहा है कि यदि व्रीहि ठीक प्रकार पक गये, तो सुभिक्ष कर देता है। इसीलिए, व्रीहि जनसाधारण का अन्न था। घर मे व्रीहि का होना सम्पन्नता का परिचायक था। व्रीहिमान् और बहुव्रीहि सम्पन्नता का तथा अव्रीहि निर्धनता का चिह्न था। व्रीहि के ही चावल धार्मिक कार्यो मे व्यवहृत होते थे। व्रीहि के दो भेद हैं। एक मे तुप या भूसी को अलग कर देने के वाद लाल चावल निकलता है और दूसरे मे सफेद। आज भी ये भेद उत्तर भारत मे पाये जाते है। व्रीहि का ही एक भेद षष्ठिक होता है। यह साठ दिन मे पक जाता है।[4] इस प्रकार यह नाम सार्थक है। यो मूँग भी साठ दिन मे पक जाती है, पर उसे षष्ठिक नही कहते।[5] वास्तव मे षष्ठिक शालि पहले विशेषण

---

१. अवश्यं कश्चिदन्नार्थी शालिकलापं सतृणं सपलालमाहरति नान्तरीयकत्वात्। स यावदादेयं तावदादाय तुषपलालान्युत्सृजति।—४-१-९२, पृ० ११५।

२. एकेन कुद्दालकेन खारीसहस्रम्।—२-१-६९, पृ० ३२५।

३. कृष्टे पच्यन्ते स्वयमेवकृष्टपच्याश्च मे अकृष्टपच्याश्च मे। यो हि कृष्टे वक्तव्यः कृष्टपाक्यः स भवति।—३-१-११४, पृ० १८९।

४. षष्ठिकाः षष्ठिरात्रेण पच्यन्ते।—५-१-९०।

५. वही, तथा षष्ठिके संज्ञाग्रहणं कर्त्तव्यम्। मुद्गा अपि हि षष्ठिरात्रेण पच्यन्ते तत्र मा-भूत्।—५-१-९०, पृ० ३४०।

के रूप मे प्रयुक्त होता था। बाद मे वह सज्ञा बन गया। मुद्ग का परिचय षष्ठिक के बाद होने के कारण धान के लिए यह शब्द पहले ही रूढ हो गया। भाष्य मे व्रीहि को स्तम्बकरि कहा है, क्योंकि उनमे बडी-बडी बालो के गुच्छे (मजरी) लटकते है।[१] व्रीहि की ही एक जाति महाव्रीहि होती थी।[२] काशिकाकार ने नीवार और हायन को व्रीहि का ही भेद माना है।[३] जल को छोडकर बढने के कारण व्रीहि को हायन कहते थे।[४] ग्रीष्म मे बोये जाने के कारण व्रीहि ग्रैष्म अन्न कहलाता था।[५] व्रीहि पहले भारत के आग्नेय भाग मे ही होता था, इसीलिए ऋग्वेद मे इसका उल्लेख नही है। तैत्तिरीय सहिता मे अवश्य सफेद और काले चावल की तुलना की है।

शालि—शालि बडी जाति का धान होता है। इसे रोपा जाता है। श्रावण मे इसकी पौध लगाई जाती है और अगहन मे यह काटा जाता है। इसलिए इन्हे शारद कहते थे।[६] पर्याप्त वर्षा न होने पर शालि को सीचने की आवश्यकता होती थी। इसीलिए, शालि नीची भूमि पर, तालाब या नदी के निचले किनारे पर, जहाँ पानी भरा रहता हो, बोये जाते थे। इन्ही के लिए भाष्यकार ने कुल्या बनाने की बात कही है। शालि की जडे मिट्टी मे गहरी जाती थी। पतजलि ने इसीलिए इन्हे न्यग्रोध-मूल, अर्थात् नीचे की ओर जडें फैलानेवाले कहा है।[७] शालि मे लाल छिलकेवालो की एक विशिष्ट जाति होती थी। किसी-किसी गाँव मे लाल शालि की ही उपज विशेष होती थी।[८] शालि की और भी बहुत-सी किस्मे थी। मगध मे विशेष प्रकार के शालि उत्पन्न होते थे। एक स्थान पर भाष्य मे कहा है, 'हम वे ही शालि खा रहे हैं, जो मगध मे खाते थे।'[९] शालि का भात मास के साथ भी खाया जाता था।[१०] केवल व्रत-काल मे शालि-मास-भोजन अवश्य वर्जित था। मूँग के साथ खाने की प्रथा तो सामान्य थी।[११] सम्भव है, लाल चावल को ही पाटलि कहते हो। डॉ० वा० श० अग्रवाल के अनुसार 'पाटलानि मूलानि का' पाटल इसी पाटलि से बना हुआ विशेषण है। पाटल-मूल गाजर के लिए प्रयुक्त हो सकता है। खूब भरी हुई बालों के शालि या धान्य को सस्यक कहते थे।[१२]

---

१. स्तम्बकरि व्रीहिः।—३-२-२४, पृ० २१४।
२. ६-२-३८।
३. हायना नाम व्रीहयः जहत्युदकमिति कृत्वा।—३-१-१४८ काशिका।
४ ४-३-४३ काशिका।
५. ३-३-४८ काशिका।
६. ४-३-४३ का०।
७. ४-३-४३।
८. ७-३-१, पृ० १७२।
९. २-१-६९, पृ० ३२३।
१०. आ० २, पृ० ४४।
११. आ० १, पृ० १९।
१२. ४-३-१५५, पृ० २६५।

शालि को कूटकर तण्डुल तैयार किये जाते थे। कूटने की यह क्रिया अवहनन कहलाती थी। भाष्यकार ने कहा है कि शालि कोठो मे भरे हो, तो भी उनके खाने के लिए पहले अवहनन की आवश्यकता होती है।[1] इससे यह भी पता चलता है कि सम्पन्न सस्य को भरने के लिए कृषक कोठियाँ और खत्तियाँ बनाते थे। कूटकर इकट्ठा किया हुआ चावल तण्डुल-निचाय कहलाता था।[2] निचाय बनाने के पहले शूर्प-निष्पाव द्वारा तुष अलग कर दिये जाते थे।[3] ये तुष आग जलाने के काम आते थे। तुष की अग्नि बहुत तेज होती है और टिकती भी है। जाडे के दिनो मे अलाव लगाने मे इसका उत्तम उपयोग होता है। तुष की अग्नि को मुर्मुर कहते थे।[4]

तण्डुल की राशि को वर्धितक कहते थे। भाष्य मे कहा है कि 'एक चावल भूख मिटाने मे असमर्थ होता है' किन्तु उनका समुदाय वर्धितक समर्थ होता है।[5] बडी धान्य-राशि का सालकार वर्णन करते हुए एक स्थान पर उसकी तुलना विन्ध्य से की है। इसमे विन्ध्य की कम ऊँचाई और वर्धितक के महत्त्व, दोनो की ओर लक्ष्य है।[6]

यव—यव अन्नो मे शालि के बाद ही आता है। महत्त्व एव व्याप की दृष्टि से भी उसका स्थान द्वितीय है। भाष्य ने सम्भवत महत्त्व और उपज के क्षेत्र की व्यापकता के अनुसार ही व्रीहि, यव, माष, मुद्ग, तिल ये पाँच धान्य गिनाये है। इनमे पूर्व-पूर्व अन्न उत्तर की अपेक्षा अधिक महत्त्व के है। शालि व्रीहि मे ही समाविष्ट है। इनमे यव रबी की और व्रीहि खरीफ की फसल है। यव यज्ञादि मे आहुति के काम आते थे। व्रत मे यवागू खाने की प्रथा थी। यवागू जौ से तैयार की जाती थी। जौ के सत्तू बनते थे, जो भोजन के महत्त्वपूर्ण घटक थे। सम्भव है, चावल के भी सत्तू बनाये जाते हो।[7] इसीलिए बहुयवमत्क देश सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।[8] अयवक दरिद्रता का द्योतक था।[9] मद्र और उशीनर जनपदो मे यव की उपज खूब होती थी।[10] भाष्यकार ने कहा है कि मद्र के समान जौ है, अर्थात् है तो दोनो जगह है और नही है तो दोनो जगह नही है। इससे केवल तात्कालिक उपज के विषय मे कोई निश्चित बात नही मालूम होती। हाँ, यव दोनो स्थानो मे खूब बोये जाते थे, यह सकेत अवश्य मिलता है।

---

१. अवश्यं खल्वपि कोष्ठगतेष्वपि शालिष्ववहननादीनि प्रतीक्ष्याणि।—३-३-१३३, पृ० ३२५।

२. ३-३-२०, पृ० २९९।

३. ३-३-२० पृ० २९९।

४. ८-२-७२, पृ० ३८०।

५. १-२-४५, पृ० ५३५।

६. विन्ध्यो वर्धितकम्।—१-४-२४, पृ० १६२।

७. सक्तव्या धाना।—५-१-२, पृ० २९५।

८. ४-१-१, पृ० १३।

९. ४-१-२५, पृ० ४७।

१०. उशीनरवन्मद्रेषु यवाः। सन्ति न सन्तीति।—४-१-९०, पृ० ११०।

खराव जौ को यवानी कहते थे।[1] वैल और मृग जौ का खेत खूब खाते थे।[2] वैलो को ही यह फसल ढोनी भी होती थी। यवक जौ का एक भेद था। सम्भवत, यह आकार मे छोटा होता था।[3] इसी को आज जई कहते है। जौ का भुस तैयार होता था, जिसके खलिहान मे पडे रहने की चर्चा पीछे हो चुकी है।[4] जौ रवी की अन्य सव फसल वो जाने के वाद अन्त मे, हेमन्त मे वोये जाते थे।[5] रवी का वोना शरत्पूर्णिमा से प्रारम्भ हो जाता था। यव का वाप अन्त मे होता था। ग्रीष्म मे जौ पकते थे।[6] डॉ० वा० श० अग्रवाल के मत से जौ श्रावणी पूर्णिमा को वोये जाते थे।[7] आजकल और शिशिर मे वोये तथा वसन्त के आरम्भ मे काटे जाते हैं। इस दृष्टि से उक्त समय मे लगभग दो मास का अन्तर पडता है।

भाष्य मे अयव और सुयव शब्द आये हैं, जो सम्भवत उस प्रदेशो के लिए है, जिनमे यव नही होता था या खूब होता था।[8] यव के लिए एक विशेप प्रकार की मिट्टी की आवश्यकता होती है, इस वात से भाष्यकार परिचित थे। नप्ट हुए यव के लिए 'पूनयव' शब्द का व्यवहार होता था।[9]

जौ को पुरानी फारसी मे यओ (Yao) कहते थे। यव विश्व की प्राचीनतम उपजो मे से है। ऋग्वेद मे भी इसका उल्लेख मिलता है। कुछ विद्वान् यव को सामान्य अन्न मानते हैं। जौ गेहूँ आदि का भी वाचक था।

गोधूम—गोधूम का उल्लेख भाष्य मे प्रत्यक्षत नही हुआ है। केवल गणपाठ मे यह शब्द मिलता है। श्रीनारायणचन्द्र वन्द्योपाध्याय (एकानामिक लाइफ ऐण्ड प्रोग्रेस इन ऐनशियेण्ट इण्डिया, पृ०५१) गेहूँ का इतिहास वैदिक काल तक पुराना मानते है। डे कैण्डोले (De Candolle) प्रागैतिहासिक काल के विश्व के सभी सभ्यता-केन्द्रो मे गेहूँ की उपज स्वीकार करते हैं। हियर (Heer) को स्विट्जरलैण्ड के झील-वासियो के खण्डहरो मे गेहूँ मिले थे। ३४०० ई० पूर्व के मिस्री पिरामिडो मे भी गेहूँ मिले थे। भाषावैज्ञानिक खोज के आधार पर भी विश्व के सभी प्राचीन राप्ट्रो मे गेहूँ का अस्तित्व सिद्ध होता है। भारत मे गेहूँ का प्रचार, सम्भवत, आर्यों के आगमन के साथ हुआ था। फिर, यह आश्चर्य की वात है कि प्राचीन सम्कृत-ग्रन्थो मे गेहूँ का उल्लेख वहुत कम मिलता है। मैत्रायणी (१-२-८) तथा वाजसनेयी (१८-१२, १९-२२) सहिताओ मे गोधूम शब्द प्राय॰ वहुवचन मे आया है और वहाँ इसे शालि और यव से पृथक् माना है। शतपथ (५-२-१-६) ब्राह्मण मे एक वचन मे भी गोधूम का प्रयोग हुआ है।

---

१. ४-१-४९, पृ० ६३ ।
२. १-१-३९, पृ० २५३ ।
३. ५-२-३ ।
४. ४-३-४८, पृ० २३५ ।
५. ४-३-४४ काशिका ।
६. ४-३-४३ काशिका ।
७. इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि, पृ० २०७ ।
८. ५-४-५०, पृ० ४९५ तथा ६-२-१०८, पृ० २७८ ।
९. ८-४-४४, पृ० ३६२

अणु—अणु का उल्लेख पाणिनि ने (५-२-४) किया है, जिसमे ज्वार और बाजरा दोनों सम्मिलित है ? इसके लिए व्रीहि की अपेक्षा कम पानी की आवश्यकता होती थी। भाष्यकार ने अलग से अणु की चर्चा नही की है, यद्यपि उसकी कृषि आदिम काल से होती आई है। अणु के अनेक भेद हैं, जिनमें कुछ के विषय मे यह निश्चित नही है कि उनका मूल स्थान भारत ही है।[1]

माष—प्राचीन काल से ही अनेक प्रकार की दाले भारत मे उत्पन्न की जा रही है, यद्यपि यह बलपूर्वक नही कहा जा सकता कि इनका मूल स्थान भारत ही था। इतना तो निर्विवाद है कि ऋग्वेद को छोडकर शेष सहिताओ के समय इनकी पैदावार होती थी। ऋगितर सहिताओं मे मुद्‌ग, माष मसूर और कुलत्थ का उल्लेख मिलता है।

जौ के बाद माष का स्थान था।[2] माष शारदी पूर्णिमा या उसके आस-पास बोये जाते थे।[3] उन्हे तिलो के साथ मिलाकर भी बोते थे।[4] पशुओ से उनकी रखवाली करनी पडती थी, जिसका उल्लेख पीछे हो चुका है। राजमाष भी माष का एक भेद था। इसके लिए विशेष उर्वर खेत की आवश्यकता होती थी।[5] वे हर खेत मे नही पनपते थे। माषो का लाव नही, उन्मूलन होता था। माष को विद्वान् 'शर्घजह' भी कहते थे, क्योकि वे शरीर मे वायु उत्पन्न करते है।[6]

मूँग—मुद्‌ग मूँग का नाम था। मुद्‌क भी माष के समान सूप के काम आते थे। इनके बोने और काटने का समय माष से कुछ पहले होता है, इसीलिए मुद्‌ग को शारदक कहा है।[7] ये दोनो धान्य आजकल खरीफ की फसल के साथ श्रावण के प्रारम्भ मे बो दिये जाते है और कार्त्तिक मे काट लिये जाते हैं। मुद्‌ग, जैसा पहले कहा जा चुका है, साठ दिन मे पक जाते थे। शालि के मुद्‌ग के साथ खाये जाने का उल्लेख भी पीछे हो चुका है। मुद्‌ग भी मूल्य धान्य है; क्योंकि यह भी जड से उखाडा जाता था, काटा नही जाता था।[8]

तिल—भारत की अपनी उपज है। अति प्राचीन काल से इसकी खेती की जाती रही है। अथर्ववेद (२-८-३, १८-३-६९) मे बार-बार तिल का उल्लेख है। अन्य सहिताओ मे भी तिल की चर्चा है। ऐतिहासिक काल के प्रारम्भ से इसका निर्यात होता रहा है।

तिल का स्थान उपर्युक्त खाद्यान्नो के बाद सर्वाधिक महत्त्व का था। तिल के दो भेद थे—कृष्ण और श्वेत।[9] कुछ खेत काले तिलों के लिए ही विशेष उपयुक्त होते है।[10] किसी-किसी

---

१. वाट: एकानामिक प्रोडक्ट्स ऑफ् इण्डिया, पृ० १०३२।
२. ४-१-४८, पृ० ६०।
३. ४-३-४५ काशिका।
४. २-३-१९३, पृ० ४२१।
५. ५-१-२०, पृ० ३१२।
६. ३-२-२८, पृ० २१५।
७. ४-३-२७।
८. ४-४-८८ काशिका।
९. २-१-५७, पृ० ३१३।
१०. ५-१-२०, पृ० ३१२।

तिल के पेड मे फली नही लगती और लगी भी, तो उसमे दाने नही पडते। दानो के स्थान पर काला मल रहता है। ऐसे तिलो को तिलपिंज या तिलपेज कहते थे। वैदिक भाषा मे ऐसे तिलो के लिए तिल्पिज शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] ये शब्द ऐसे तिलो के लिए भी प्रयुक्त होते थे, जिनमे तेल नही निकलता, क्योकि वे भीतर से सूखे होते है। उच्छ्रिति और सृति परिमाणविशेष के द्योतक थे। भाष्य मे एक तिलोच्छ्रिति तथा दो सृतियो का उल्लेख मिलता है।[2] उच्छ्रिति शब्द सामान्यतया राशि के लिए प्रयुक्त हुआ है। तिल से तेल निकाला जाता था।[3] तेल पेरनेवाले कोल्हू को तिलपीडनी कहते थे।[4] तेल निकालने के बाद बची हुई खली या ढेप को तिलकूट कहते थे।[5] तेल पेरनेवाले तेली की सज्ञा तिलन्तुद थी।[6] प्रारम्भ मे तिल के ही विकार को तेल कहते थे। बाद मे उपचारात् सर्षप, इगुदी आदि के विकार को भी तेल कहने लगे।[7] धीरे-धीरे तैल प्रत्यय मान लिया गया और तिल-तैल प्रयोग भी प्रचलित हो गया। भाष्यकार ने एक स्थान पर तिलो को काकगुह कहा है।[8] कौओ से सँभालकर न रखा, तो खेत मे वे ही उसे समाप्त कर दें। वास्तव मे अन्य तेलो के लिए तैल शब्द का प्रयोग औपचारिक ही है।[9] भाष्यकार ने कहा है कि तैल शब्द प्रत्यय है, विकार अर्थ मे प्रसिद्ध तैल शब्द उससे बिलकुल भिन्न है। इसलिए, 'तिल-तैल' प्रयोग भी ठीक है।

सर्षप—सर्षप की खेती सहिता-काल के अन्त मे होने लगी थी। इसका सर्वप्रथम उल्लेख छान्दोग्य० (३-१४-३), षड्विंश ब्राह्मण (५-२) तथा शाखायन श्रौतसू० (४-१५-८) मे मिलता है। सर्षप सरसो का नाम है। इसके बग, लहटा, राई आदि भेद आज भी प्रचलित है। भाष्यकार छोटी और बडी दो प्रकार की सरसो से प्रचलित थे।[10] पीत या गौर सर्षप का भी उन्हे ज्ञान था।

मधूक—इसके भैषज्य गुणो की चर्चा सुश्रुत, चरक तथा अन्य ग्रन्थो मे मिलती है। इससे तैयार की हुई सुरा को मधु कहते थे।

गर्मुत—गर्मुत मटर का एक भेद था। जो बिना बोये ही उत्पन्न हो जाता था। तैत्तिरीय (२-४-४) तथा मैत्रायणीय (२-२-४) सहिताओ मे गर्मुत और गार्मुत का उल्लेख मिलता है। काठक-सहिता मे भी गर्मुत से बनाई हुई वस्तु को गार्मुत कहा है। भाष्यकार ने सारघ मधु

---

१. ४-२-३६, पृ० १७७।

२. ३-३-१, पृ० २९८।

३. १-३-११, पृ० ४६।

४. ३-३-१२६।

५. ५-२-२९।

६. ३-२-२८।

७. ५-२-२९, पृ० ३७६।

८. ३-२-५, पृ० २१०।

९. तैलशब्दश्च प्रत्ययो वक्तव्यः। प्रकृत्यन्तरं तैलशब्दो विकारे वर्त्तते। एवं च कृत्वा तिलतैलमित्यपि सिद्ध भवति।—५-२-२९, पृ० ३७६।

१०. ५-३-५५, पृ० ४४५।

के साथ गार्मुत और पौत्तिक का उल्लेख किया है[1], जिससे प्रतीत होता है कि ये तीनो मघु भी थे।

उमा—उमा या अलसी की गणना भी तैल-बीजो के अन्तर्गत है। उमा के तेल का व्यवहार पतजलि के समय मे कितना और किस प्रकार होता था, कहा नही जा सकता। भाष्य मे उमा का उल्लेख है, किन्तु उमा-तैल का नही। फिर भी, उमा का तेल निकाला जाता था, यह अनुमान सरलता से किया जा सकता है; क्योकि उमा-कट (अलसी की खली) शब्द भाष्य मे व्यवहृत हुआ है।[2]

अन्य उपजें—इनके अतिरिक्त अलावू[3] (लौकी), कर्कन्धू[4] (जगली वेर) उपयोग मे आते थे। एक स्थान पर अलावूकट शब्द भी आया है। भाष्य मे अलावू[5], तिल, उमा और भगा के सार निकले हुए भाग के लिए इन शब्दो के आगे कटच् प्रत्यय का विधान मिलता है, जिससे इन चारों के सार निकाले जाने और उससे बची हुई ढेप के उपयोग और व्यवहार का ज्ञान होता है। इन चारो की ढेप का स्वतत्र महत्त्व रहा है। साथ ही भगा का स्वतन्त्र वार्त्तिक मे उल्लेख भी इस बात का द्योतक है कि भगाकट शब्द का प्रचलन बाद मे ही प्रारम्भ हुआ था।

सूत्र ४-३-१३६ के भाष्य मे विल्वादिगण के अन्तर्गत गवेधुका शब्द के पाठ पर भी विचार किया गया है।[6] गवेधुका चने या मटर (Coix barbata) को कहते थे। इसी विल्वादिगण मे उपर्युक्त धान्यो के अतिरिक्त मसूर और गोधूम का उल्लेख है।

भङ्गा—अन्नों के अतिरिक्त कृषि की उपजों मे सन का महत्त्व बहुत अधिक था। सन को भाष्य मे भगा कहा है और उसे धान्यो मे परिगणित किया है।[7] भाष्य मे इस बात पर विचार किया गया है कि उमा और भगा को धान्य माना जाय या नही। तैत्तिरीयसहिता (चमक ४-७-४) के 'व्रीहयश्च मे' आदि प्रकरण मे जो १२ धान्य गिनाये गये है, उनमे उमा और भगा सम्मिलित नही है। पतजलि ने इस विषय पर अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि भले ही अन्यत्र इनकी गणना धान्यो मे न की गई हो, फिर भी ये धान्य है। धान्य शब्द धिवि धातु से बना है, जिसका अर्थ है प्रसन्न करना। और धान्यो के समान उमा और भगा भी कृषको को आनन्दित करते है, इसलिए इन्हे भी धान्य मानना चाहिए अथवा सन को सम्मिलित कर सत्रह धान्य होते हैं। इन सत्रह धान्यो मे पाँच मुख्य, छह उपस्कारक या सहायक, तीन तृणधान्य और तीन अर्थकर हैं। वास्तव मे खाद्य और अर्थकर इन दोनो प्रकार के धान्यो मे इन सब का समावेश हो जाता है। उमा और

---

१. ४-३-११६, पृ० २५०।

२. ५-२-२९, पृ० ३७५।

३. ४-१-६६, पृ० ७६ तथा ६-३-६१, पृ० ३३९।

४. वही।

५. ५-२-२९, पृ० ३७५।

६. ४३-१३६, पृ० २६१।

७. धिनोतेर्धान्यम्। एते चापि धिनुतः। अथवा शणसप्त दशानि धान्यानि।—५-२-४, पृ० ३६९।

भगा अर्थकर धान्य हैं। भाष्यकार ने उमाकट के साथ ही भगाकट की भी चर्चा की है। उन्होंने सन की फली का भी नामोल्लेख किया है। सन रस्सी (रज्जु) और कपडा दोनो के काम आता था।

कार्पास—यह भारत की अपनी मिट्टी का उपज है और यहीं से शेष विश्व मे फैली है। इसका सबसे बडा प्रमाण यह है कि विश्व के सभी पुरातन राष्ट्रो ने कपास का नाम भारत से ही उधार लिया है। सस्कृत कार्पास से ही हिब्रू का कपास (Kapas) बना। बुक ऑफ् ईस्थर (esther) मे इस शब्द का प्रयोग हरित खूंटी के लिए हुआ है। ग्रीक और लैटिन मे इस शब्द का रूप कार्पासोस (carpasos) या कार्बासोस (carbasos) हो गया। ग्रीक मे सबसे पहले कपास का उल्लेख तेसियस (Ktesias) ने तथा बाद मे थियोफ्रेस्टस (Theophrastus) और हेरोडोटस (Herodotus) ने किया है। उन्होने इसे वृक्षोर्णा (Wool of tree) कहा है, जिससे उनकी एतद्विषयक अनभिज्ञता प्रकट होती है। विश्व मे अन्यत्र कही इसकी खेती का प्रमाण नही मिलता। चीन मे सर्वप्रथम १३वी ईसवी शताब्दी मे कपास बोई गई थी। मिस्र मे भी कपास की खेती नही होती थी। लैसेन ने (Lassen) एक बार ममी (Mummy) वस्त्रो के कार्पासीय होने की कल्पना की थी। किन्तु, इस विषय के विशेषज्ञ श्रीथामसन (Thomposan) ने उनका खण्डन कर दिया।[1]

भारत मे कार्पास का सर्वप्रथम उल्लेख आश्वलायन श्रौतसूत्र (६-४-१७) मे मिलता है। वैदिक साहित्य मे इस शब्द का अनुल्लेख इस बात का द्योतक है कि उस समय तक आर्य लोग दक्षिण या पूर्व कार्पासोत्पादक क्षेत्र तक नही पहुँच पाये थे।

भाष्यकार ने अनेक बार कार्पास का उल्लेख किया है। उन्होंने कार्पास की मृदुता की भी चर्चा की है।[2]

कपास की उपज पर्याप्त मात्रा मे होती थी। भाष्य मे न केवल कार्पास का, अपितु वस्त्र बनाने तक की सारी प्रक्रियाओ का उल्लेख है। कपास पीजनी या ओटनी चाहिए, यह वे जानते थे।[3] कपास की मृदुता को उन्होने उपमान भी बनाया है।[4] 'हल्की होने के कारण वह तुला पर बहुत चढती है। लोहे के बाट की तुलना मे तुला पर उसकी ऊँचाई और विस्तार कही अधिक होते हैं, यह बात भाष्यकार ने बतलाई है।[5]

इक्षु—इक्षु की उपज भी काफी होती थी। इक्षु की प्रचुरता के स्थान,[6] इक्षु ढोने की

---

१. जर्नल ऑफ् रॉयल ऐशियाटिक सोसायटी।—१८९८, पृ० २५० से।

२. ४-१-५५, पृ० ७०।

३. वही तथा २-४-२ काशिका।

४. ७-२-४४, पृ० १३१।

५. इह समाने वर्ष्मणि परिणाहे चान्यत्तुलाग्रं भवति लोहस्यान्यत्कार्पासानाम्।—५-१-११९, पृ० ३५४।

६. ४-२-७५, पृ० १९४।

गाडी[1] और इक्षु-शाकी[2] (इक्षु का खेत) का उल्लेख भाष्य में मिलता है। इनके अतिरिक्त गुड़ की चर्चा बार-बार आई है।[3] गुडधाना जो इसका बहुत प्रिय और प्रचलित भोजन जान पड़ता है, बिना गुड के बन ही नही सकता था। गुड खाने की स्वतन्त्र चर्चा भी है। शर्करा का भी प्रचार था, जो ईख की खेती व्यापक परिणाम मे किये जाने का प्रमाण है।[4]

मूलक—मूली,[5] गाजर[6] आदि पदार्थ भी खाद्य के घटक मे थे। इनकी उपज का भी पता भाष्य से चलता है।

कुस्तुम्बुरु—कुस्तुम्बुरु धनिये को कहते थे।[7] इन सबकी गणना शाक के अन्तर्गत है। भाष्य मे शाकिन् और पलालिन् का उल्लेख हुआ है।[8] ये बड़े शाक या बडे पलाल के बोधक थे।

हरिद्रा—हरिद्रा की खेती भारत मे बहुत प्राचीन काल से होती आई है।[9] और यही से वह अन्य देशो मे फैली है। सस्कृत से फारसी मे जाकर यह अलहर्द बन गई।

द्राक्षा—द्राक्षा ईसा-पूर्व सातवी शती मे भी उत्पन्न की जाती थी। कपिशा की द्राक्षा अत्यन्त प्रसिद्ध थी। वाट (Walt) के अनुसार भारत के पाँच मधुर पौधो मे इक्षु और द्राक्षा मुख्य थे। इक्षु का उल्लेख अथर्ववेद (१-३४-५) तक मे मिलता है। इक्षु से शर्करा बनाने की प्रथा बहुत पुरानी है। अरबी का शकर, लेटिन का सक्करम् (Succharum) फ्रैंच का सुक्रे (Sucre) और इगलिश का सुगर (Sugar) शर्करा से ही बना है।

शण—शण का उपयोग रस्सी बनाने के लिए होता था। यह भी भारत की अपनी उपज थी। अथर्ववेद (२-४-५) मे इसे आरण्य कहा है। शतपथ-ब्राह्मण (३-२-१-२) तथा अन्य सूत्र-ग्रन्थो मे शण का उल्लेख है। शण और उमा (क्षौम) वैदिक काल से ही कृषि की उपज मे सम्मिलित थे।[10] वाट (Walt) ने पृ० ७२०-२१ पर इसका उल्लेख किया है। सुश्रुतसहिता मे भी उमा या अलसी के तेल की भैषज्य उपयोगिता का प्रतिपादन है।

पिप्पली—भाष्य मे पिप्पली और अर्धपिप्पली शब्द आये हैं।[11] लैसेन ने ग्रीक पेपेरी (peperi) और लैटिन पिपेर (piper) को सस्कृत पिप्पली का ही अपभ्रश रूप माना है।

---

१. ८-४-८, पृ० ४७९।
२. ५-२-२९, पृ० ३७६।
३. १-४-५०, पृ० १७४।
४. ५-२-१०५, पृ० ४१६।
५. ४-१-४८, पृ० ६१।
६. ४-३-१६६, पृ० २७२।
७. ६-१-१४३।
८. ४-२-२, पृ० १६६।
९. ५-२-१०२, पृ० ४१४।
१०. ५-२-४, पृ० ३६९
११. १-२-४४, पृ० ५२४ तथा सुपिप्पला ओषधीस्कृधि।—६-१-८६, पृ० १३३।

वहुत प्राचीन काल से दक्षिण भारत के पश्चिमी किनारे पर इसकी खेती की जाती रही है।[1] मिस्रियो तथा हिब्रू लोगो को पिपली का ज्ञान नही था। पाश्चात्य लोगो को द्रविड व्यापारियो द्वारा इसका पता चला। यह भारत से निर्यात होनेवाली महत्त्वपूर्ण वस्तु थी, जिससे भारत को वडा आर्थिक लाभ होता था। प्लिनी के अनुसार एक पौण्ड पीपल के लिए १५ दीनार मिलते थे।[2] अलेरिक (Alaric) ने रोम के घेरे को दृढ करने के लिए सोने और चाँदी के साथ ३००० पौण्ड पीपल माँगी थी।[3]

शृंगवेर—शृगवेर या अदरक भारत की मूल उपज थी। यही से इसका प्रचार अन्य देशो मे हुआ। अरबी जजवुल (Janjabul) तथा ग्रीक ज़िञ्जिवेर (Zingiber) को कुछ लोग शृगवेर शब्द का मूल द्रविड रूप मानते हैं और कुछ लोग इसे सस्कृत शृग तथा द्रविड बेर की खिचडी से वना हुआ ठहराते हैं। भाष्यकार ने शृगवेर का स्वाद गुड का ठीक विरोधी और कटु वतलाया है।

केसर—पाणिनि के किसरादि गण मे केसर, नलद, नरद आदि शब्द आये हैं। केसर का मूल स्थान कुछ लोग दक्षिण-पश्चिम यूरोप मानते है। भारत मे इसका उत्पादन कश्मीर तक सीमित रहा है। सुश्रुतसहिता तथा अन्य वैदिक ग्रन्थो मे कुकुम का उल्लेख मिलता है।

नलद—नलद या जटामासी वारहो महीने रहनेवाला पर्वतीय तृण था। वहाँ से वह देश के अन्य भागो मे फैला। वैदिक साहित्य तक मे इसका उल्लेख मिलता है। चिकित्सा-शास्त्र के ग्रन्थो मे वार-वार इसका उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद मे आश्रृगि, अराटकी और तीक्ष्णश्रृगि (सुगधित द्रव्य) के साथ नलद या नलदि नाम आया है। नरद भी नलद के समान ही सुगन्वित एव खस की जाति का तृण था, जो भारत से रोम के वाजारो को भेजा जाता था और वहाँ प्रति पौण्ड ४० से ७५ दीनार (Denarie) तक के भाव विकता था। नरद का प्रतिदिन के अवलेखो मे प्रमुख स्थान था।

रामायण और चरकसहिता तक मे उल्लिखित लवंग शब्द भाष्य मे नही मिलता और न एला की ही चर्चा भाष्य मे हुई है।

तृण—सामान्य तृणो मे खर, मूँज और काण्ड खेत की मेड पर या परती भूमि मे उत्पन्न कर लिये जाते थे।[4] शरकाण्ड के दो भाग होते है—शर और काण्ड। शर (खर) घर छाने के काम मे आते थे और काण्ड (डण्टी) का प्रयोग छप्पर मे लकडी के स्थान पर किया जाता रहा है। शरकाण्ड की अपरिपक्व अवस्था मे उससे मूंज निकाली जाती थी। इसी मूँज की मेखला वनती थी, जिसे मौज-मेखला कहते थे। यज्ञोपवीत-सस्कार के समय ब्रह्मचारी को मूँज की मेखला पहनाई जाती थी। कार्पास-सूत्र के यज्ञोपवीत के प्रचलन से पूर्व मौंज धारण की ही प्रथा थी। महाराष्ट्र मे आज भी उपनयन को मूँज ही कहते है। कढी हुई, अर्थात् काण्ड निकाली हुई मूँज

१. स्काफे: पेरिप्लस, पृ० २१३ से।
२. प्लिनी, १२-१४।
३. गिबन डिक्लाइन एण्ड फॉल, अध्याय ३१।
४. ८-४-८, पृ० ४७९।

को विपूय कहते थे।[1] काण्डो के लाव मे परिश्रम और समय दोनो अधिक लगते थे। पतंजलि ने काण्डलाव का पृथक् उल्लेख भी किया है।[2] काण्ड और शर के बड़े-बड़े पूल बाँधे जाते थे। इनकी ढुलाई का उल्लेख ऊपर हुआ ही है।

शर और भुस आग सुलगाने के काम आते थे।[3] ये आग को शीघ्र पकड़ते हैं।

खाद—कृषि के लिए खाद अत्यावश्यक है। यह कृषि का खाद्य है। चिरकाल से गोबर का उपयोग खाद के लिए होता आया है। भाष्य में गोमय[4] शब्द कई बार आया है। आरण्य गोमय आर्द्रगोमय और शुष्कगोमय का उल्लेख भाष्यकार ने किया है। उन्हें ज्ञात था कि गोलोम[5] और अविलोम मिट्टी में मिलाने से उससे दूर्वा उत्पन्न होती है[6] और गोबर (विशेषत. भैंस के गोबर) से बिच्छू पैदा होते हैं।

---

१. ३-१-१७।

२. ३.२-१।

३. २-१-३३, पृ० २८५।

४. ३-२-२४, पृ० २१४।

५. गोमयाद्वृश्चिको जायते।—१-४-३०, पृ० १६६।

६. गोलोमाविलोमयोर्दूर्वा जायन्ते। अपक्रामन्ति तास्तेभ्यः।—वही।

अध्याय २

वन-सम्पत्ति

वन का अर्थ—भाष्य मे विशिष्ट और सामान्य दोनो रूपो मे वन का उल्लेख हुआ है। सामान्य वन के विषय मे यत्र-तत्र जो चर्चा है, उसमे वनजीवन-सम्बन्धी बहुत-सी सामग्री प्राप्त होती है। यथा—आरण्यक मार्ग, आरण्यक विहार (मठ या आमोद-प्रमोद), आरण्यक मनुष्य, आरण्यक[1] हस्ती, आरण्यक गोमय (गोबर) और आरण्यक पुष्प।[2] इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि अरण्य पूर्णत निर्जन नही थे। उनमे मनुष्य रहते थे। वन सर्वथा अगम्य भी नही थे। लोग उनमे होकर आते-जाते थे। विहार, मनोविनोद, आखेट आदि के लिए वनो का भ्रमण साधारण बात थी। वनो से पकडकर हाथी नगरो मे लाये जाते थे और वहाँ प्रशिक्षित किये जाते थे। बडे अरण्य को अरण्यानी कहते थे।[3] अरण्यानी अगोष्पद कही जाती थी, क्योकि उसमे गो के सचार की सम्भावना तक नही होती थी।[4] वैदिक इण्डेक्स (१-३३) के अनुसार ऋग्वेद मे अरण्य शब्द ग्राम और कृष्य भूमि के विरोध मे आया है, जिसमे चोर छिपते थे और मुनि निवास करते थे। उसमे अरण्यानी का प्रयोग वन-देवता के लिए हुआ है। पुष्प भी दो प्रकार के होते हैं—ग्राम्य और आरण्य। भाष्यकार यह जानते थे। वन्य पुष्प अपेक्षाकृत छोटे आकार के एव कम गन्धवाले होते होगे। पक्षी वन मे ही आनन्दित रहते हैं। सघन हरीतिमा का उन्मुक्त मादक वातावरण उनके प्राणो मे उल्लास और कण्ठ मे मधुरिमा उडेल देता है। पक्षी किसी कारण से वन छोडकर बस्ती मे आ भी गया, तो भी उसका मन वन की ओर उडता रहता है। भाष्य मे कहा है कि *'कोकिल वन-गुल्म का स्मरण करता है या वन-गुल्म स्वय कोकिल का स्मरण करता है।'*[5] एक स्थान पर वनराजि को लक्ष्य कर उसे कोस भर तक रमणीय कहा है।[6] कोई प्रिय अतिथि जब वापस लौटता था या कोई आत्मीय जन परदेश जाता था, तब लोग वन की सीमा प्रारम्भ होने तक उसे भेजने जाते थे या उदक-स्थान तक भेजकर लौट आते थे। अधिक-से-अधिक द्वितीय या तृतीय वन-श्रेणी तक साथ जाने की प्रथा थी।[7] वन वृक्ष-समूह को कहते थे। वनगुल्म

---

१. ४-२-१२९, पृ० ११६।

२. ४-२-१०४, पृ० २०४।

३. ४-१-४९, पृ० ६३।

४. अगोष्पदान्यरण्यानि।—६-१-१४५, पृ० १९१।

५. १-३-६७, पृ० ८७।

६. २-३-५, पृ० ४०९।

७. लोके आवनान्तादोदकान्तात् प्रियं पान्थमनुव्रजेत्। द्वितीयं तृतीयं च वनान्तमुदकान्तं वाऽनुव्रजति।—१-४-५६, पृ० १८७।

अर्थ मे भी केवल वन शब्द का प्रयोग होता था, यह आवश्यक नही था कि वन कोस-दो कोस तक फैला ही हो। बाग और बगीचे तक वन कहलाते थे। इसलिए बस्ती से बाहर की झाडियाँ और एकत्र वृक्ष-समूह सामान्यतया वन वाच्य था। वन का पर्यायवाची अरण्य शब्द, जो अरणि-(पारस्परिक रगड से आग उत्पन्न करनेवाली लकडी) से बना है, इस बात का द्योतक है कि प्राचीन काल मे वन एक वृक्ष के लिए भी प्रयुक्त होता था। 'वन-गुल्म' शब्द भी, जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है, इसी कथन की पुष्टि करता है। ऋग्वेद मे भी वन शब्द का प्रयोग वृक्ष-अर्थ मे मिलता है। आगे चलकर जब वन वृक्ष-समूह का बोधक बन गया, तब धीरे-धीरे उसमे समूह अर्थ का प्राधान्य होता गया और वृक्ष अर्थ गौण पड गया। तब तृण, लता, वीरुध तरु सभी का समूह वन कहलाने लगा। इसीलिए 'कमलवन' प्रयोग भी ग्राह्य हो गया। बस्ती से दूर होने के कारण लाक्षणिक रूप मे वन का अर्थ परदेश या दूर प्रदेश भी था।[1] गुल्म अर्थ मे क्षुपाग्र शब्द का भी प्रयोग हुआ है।[2]

अनेक वनो के समुदाय को कुण्ड कहते थे। भाष्य मे कहा है—'कुण्डादि के उदात्त करने मे उनके समुदाय का ग्रहण करना चाहिए। यदि कुण्ड शब्द वन-समुदाय का बोधक हो, तभी उदात्तत्व होगा।' यहाँ वनो से तात्पर्य है गुल्म।

वृक्ष—पतजलि ने वन शब्द का प्रयोग दो अर्थो मे किया है—(१) प्राकृतिक रूप से विकसित तृण, लता-तृण आदि के समूह, यथा खलतिक वन, शिरीष-वन। इनकी वृद्धि और विस्तार मे मानव-प्रयत्न अपेक्षित नही था। (२) मनुष्य द्वारा रोपे और सरक्षित किये गये उपवन; यथा आम्रवन, कदलीवन। इन्हे रोपकर, नियमित सीचकर सरक्षित करना पडता था। भाष्य मे चारो ओर से काटो का घेरा बनाकर वृक्षो की रक्षा का उल्लेख किया गया है।[3] विस्तार की दृष्टि से गुल्म, वन, अरण्य और अरण्यानी उत्तरोत्तर बडे थे।

वृक्षादि सम्पत्ति भी कई भागो मे विभाजित थी। वृक्षो मे पुष्प और फल दोनो होते है। वनस्पति शब्द उन बडे-बडे तरुओ के लिए प्रयुक्त होता था, जिनमे फल आते थे। ओषधि शब्द का प्रयोग छोटे पौधो और जडी-बूटियो के लिए होता था, जिनमे फल नही होते। फैलने या पौडने-वाली छोटी-छोटी वनस्पति लता, वल्लरी, व्रतति या वीरुध कहलाती थी। इसके फैलाव या झुरमुट को अवतान कहते थे।[4] दूर्वा, खर, शर, तिमिर आदि फल-फूल एव बिछी घास-जैसी तृणराशि इसमे थी।[5] 'विभाषौषधिवनस्पतिभ्य '(८-४-६)मे पाणिनि ने भी औषधि और वनस्पति मे भेद किया है। काशिकाकार ने औषधि का उदाहरण दूर्वावणम्, मूर्वावणम् तथा वनस्पति का शिरीष-वणम्, बदरीवणम् दिया है। इस सूत्र मे उन्होने देवदारु-वन, भद्रदारु-वन, इरिका-वन तथा मिरिका-

---

१. ऋग्० ७-१-१९।

२. १-१-५०, पृ० ३०१।

३. परिवारयन्ति कण्टकैर्वृक्षम्।—३-१-८७, पृ० १५५।

४. ३-१-१४० पृ० १९९

५. फली वनस्पतिर्ज्ञेयो वृक्षाः पुष्पफलोपगाः।
ओषध्यः फलपाकान्ता लतागुल्माश्च वीरुधः॥—८-४-६ काशिका।

वन का भी नाम-ग्रहण प्रत्युदाहरण के रूप मे किया है। पाणिनि ने भी 'पाककर्णपर्णपुष्पमूलफल वालोत्तरपदाच्च' (४-१-६४) सूत्र वृक्ष के प्राय सभी अगो का परिगणन कर दिया है। वृक्षो की सूखी लकडी को सुषिर[1] कहते थे।

वृक्षो के नाम वैज्ञानिक आधार पर रखे गये थे। वृक्षो के नाम उनके मूल, तनो, पत्तो, शाखाओ, फूल एव फल के आधार पर निश्चित किये गये थे। वे सब सार्थक होते थे। पुष्पो और फलो के नाम वृक्षो के आधार पर होते थे। जो नाम वृक्ष का होता था, वही उसके फल और फूल का। उदाहरणार्थ, वृक्ष भी कदली और फल भी कदली कहलाता था। फल नपुसकलिंग होता था, वृक्ष भले ही पुल्लिग हो। लिग-भेद द्वारा ही सामान्यतया फल और वृक्ष मे भेद किया जाता था। यथा आम्र (वृक्ष) पुल्लिग है, किन्तु आम्र (फल) नपुसकलिंग। इसके अपवाद भी यदा-कदा मिलते थे, यथा कदली। भाष्यकार ने फलार्थ मे होनेवाले प्रत्यय के लुक् की व्यर्थता प्रतिपादित करते हुए कहा है कि वृक्ष का परिणाम फल मे होता है। वृक्ष की ही चरम परिणति फल मे है। वृक्ष और उसके अवयवो का भाष्यकार ने उल्लेख किया है। उन्होंने कहा है कि चलनेवाला वृक्ष अपने अवयवो के साथ ही चलता है। वृक्ष कहने पर एक शब्द सुनाई देता है।[2] वृक्ष अकारान्त है और सकार प्रत्यय है। उससे एक अर्थ का भी बोध होता है और वह यह कि वह एक है और उसमे जड, तने, फल और पत्ते है। भाष्यकार ने वृक्षो के दो मुख्य भेद किये हैं—क्षीरी और कण्टकी।[3]

वृक्षो मे निम्नलिखित के नाम महाभाष्य मे आये हैं—

न्यग्रोध (Ficus indica)—यह वट का दूसरा नाम है। न्यग्रोध क्षीरीवृक्षो के अन्तर्गत है। इसकी जडे नीचे की ओर फैलती हैं और जटाएँ भी निम्नगा होती हैं। जटाएँ नीचे की ओर फैलकर वृक्ष का रूप लेती जाती हैं, इसीलिए इसका नाम न्यग्रोध है, अर्थात् नीचे की ओर फैलनेवाला।[4] इसके पत्ते बडे और मोटे होते हैं। इसे अवरोहवान्, क्षीरी और पृथुपर्ण कहा है।[5]

प्लक्ष (Ficus infectoria)—प्लक्ष भी न्यग्रोध के समान क्षीरीवृक्ष है। इसकी भी प्रवृत्ति न्यग्रोध के समान नीचे की ओर फैलने की है। भाष्यकार ने प्लक्ष की व्युत्पत्ति पर शका करते हुए कहा है कि यदि क्षरण (दुग्ध-स्राव) के कारण इसका नाम प्लक्ष माना जाय, तो न्यग्रोध को भी प्लक्ष कहना चाहिए; क्योंकि दूध तो न्यग्रोध से भी निकलता है और यदि नीचे की ओर फैलने के कारण वट का नाम न्यग्रोध हो, तो प्लक्ष का भी नाम न्यग्रोध होना चाहिए, क्योंकि प्लक्ष

---

१. ५-२-१०७।

२. वृक्ष इत्युक्ते कश्चिच्छब्द. श्रूयते वृक्षशब्दो अकारान्तः सकारश्च प्रत्यय. अर्थोऽपि कश्चिद् गम्यते मूलस्कन्धफलपलाशवानेकत्वं च।—१-२-४५, पृ० ५३३।

३. ५-२-९४, पृ० ४०९।

४. २-२-२९, पृ० ३८३।

५. ये क्षीरिणोऽवरोहवन्त. पृथुपर्णास्ते न्यग्रोधाः।—१-१-५६, पृ० ३४२।

भी नीचे की ओर फैलता है।[१] इसलिए, ये शब्द वृक्ष-विशेष के लिए रूढ मानने चाहिए। भाष्य मे प्राय प्लक्ष और न्यग्रोघ का उल्लेख साथ-साथ ही हुआ है।[२] एक स्थान पर कहा है कि प्लक्ष भी द्व्यर्थक है और न्यग्रोघ भी। अर्थात्, इनका एक अर्थ रूढ है और एक व्युत्पत्ति-जन्य। प्लक्ष का फल भी न्यग्रोघ के समान छोटा-सा होता है। इसे पाकर कहते हैं।

खदिर (Acocia catechu)—यह कत्थे का वृक्ष है। इसकी चर्चा भी प्राय प्लक्ष और न्यग्रोघ के साथ ही मिलती है।[३] इसके तनों की लकडी सफेद रग की होती है और पत्ते छोटे-छोटे होते हैं। खदिर मे काँटे होते है।[४] इसकी लकडी वहुत कडी होती है। जलाने पर इसके कोयले खूव दहकते है।[५] इसीलिए, भाष्यकार ने इनकी उपमा तुरन्त वने हुए सुवर्ण-कुडलो से दी है। खदिर से ही खैर या कत्था तैयार होता है, जिसका उपयोग पान के साथ तथा औषव के रूप मे होता है। इसे खदिरसार कहते है।[६] खदिर की लकडी यज्ञ-स्तम्भ या यज्ञयूप के ऊपर अँगूठी के आकार का चषाल वनाने के काम आती थी।[७]

पलाश (Butea frondosa)—पलाश या टेसू प्राचीन काल से अति प्रसिद्ध तथा उपयोगी वृक्ष रहा है। उसके पत्ते तथा लकडी दोनो का उपयोग धार्मिक कृत्यो मे होता है। यज्ञ मे पलाश की समिधाएँ काम आती है।[८] प्लक्ष-न्यग्रोघ के साथ पलाश का उल्लेख भाष्य मे अनेक वार हुआ है।[९] दण्ड माणव (विद्यार्थी) पलाश का ही दण्ड साथ रखते थे। यो पलाश शब्द का व्यवहार पर्ण अर्थ मे भी होता था। भेड-वकरी पालनेवाले पलाश-चयन करते थे।[१०] पत्त काटने के लिए एक औजार होता था, जिसे पलाशशातन कहते थे।[११] यह हँसिया या इसके समान होता होगा। पलाश मे पत्ते अधिक होते है और वे ही विशेष काम मे आते है। इसलिए लाक्षणिक रूप से पलाश शब्द वाद मे पलाश-पत्र के अतिरिक्त सामान्य पर्ण अर्थ मे व्यवहृत होने लगा।[१२] पलाश मे फूल वहुत लाल होते हे। मानों उन्होने, स्रष्टा ने, अपने हाथ से रँगा हो।[१३]

---

१. २-२-२९, पृ० ३८३।
२. ५-३-७२, पृ० ४७०।
३. २-१-१, पृ० २५७।
४. खदिरवर्बुरौ गौरकाण्डौ सूक्ष्मपर्णौ। ततः पश्चादाह कण्टकवान खदिर इति :—१-१-४६, पृ० २८३
५. आ० १, पृ० १६
६. ३-३-१७, पृ० २९५
७. ५-१-२, पृ० २९६।
८. ४-३-१५५, पृ० २६६।
९. २-१-१, पृ० २५७।
१०. ३-३-१२६, पृ० ३१९।
११. २-२-८, पृ० ३४२।
१२. २-२-२४, पृ० ३५७।
१३. देवरयताः किंशुकाः।—३-१-७९, पृ० १३९।

भाष्यकार ने अकल्प पढ़ने का फल पलाश का शुद्ध उच्चारण कर सकना भी माना है।[1]

बर्बुर—पत्ते की बनावट एवं पत्तों की छोटाई में बर्बुर खदिर के समान ही होता है। अन्तर इतना है कि खदिर के कांटे होते हैं, किन्तु बर्बुर के नहीं।[2] बर्बुर ओषधि-वर्ग के वृक्षों में है।

शमी (Prosopios Spicigera Mimosa Suma)—शमी की लकड़ी बहुत कड़ी होती है। प्राचीन लोगों का विचार था कि शमी में अग्नि रहती है। शमी यज्ञाग्नि प्रज्वलित करने के काम आती थी। शमी का छोटा वृक्ष शमीर कहलाता था।[3] शमी में उत्पन्न हुई वस्तु शमील कही जाती थी[4], जिसे शामील या शामीली (स्त्री०) भी कहते थे।[5]

वंश—काश और कुश के साथ भाष्यकार ने वंश का उल्लेख किया है।[6] बांस के लम्बे लट्ठे को वंशस्तम्ब कहते थे। बड़ी-सी वस्तु में छोटा-सा काम लेने के अर्थ में एक पूरी कहावत ही चल पड़ी थी—वंशस्तम्ब से लट्वा खींचना।[7] वंश वृक्ष है और वेणु उसका काष्ठ।

शिरीष (Anacia Sirissa)—यह शीशम का एक भेद है, यद्यपि यह उससे बहुत बड़ा होता है। शिरीष के वृक्ष बड़ी संख्या में गांवों के पास पाये जाते थे। आज भी गांवों के किनारे खेतों और बागों की मेड़ों पर शिरीष रोपने की प्रथा है।[8] प्राचीन लोग वृक्षों में भी जीव मानते थे और उनमें सामान्य प्राणि-क्रियाओं का दर्शन करते थे। उन्होंने शिरीष को सोते हुए देखा था।[9]

शाल (Vatica Robusta)—साल अपनी लकड़ी के लिए प्रसिद्ध है। यह बहुत मजबूत और टिकाऊ होती है। साल के वृक्ष झुण्ड-के-झुण्ड एक साथ वन के रूप में उगते हैं।[10] भाष्यकार ने शालसार (Asa Foetida) का भी उल्लेख किया है।[11] शाल के आधार पर व्यक्तियों के शालगुप्त आदि नाम रखे जाने का पता भाष्य से चलता है।[12]

शिंशपा (Delbergia Sissoo)—शीशम का नाम है।[13] यह ऊंचा वृक्ष अपनी लकड़ी

---

१. आ० १ पृ० ३२।

२. खदिरबर्बुरयोः. खदिरबर्बुरौ गौरकाण्डौ सूक्ष्मपर्णौ। ततः पश्चादाह। कण्टकवान् खदिर इति।—१-१-४६. पृ० २८३।

३. ५-३-८८. पृ० ४७६।

४. ६-२-८२ पृ० २७४।

५. ४-३-१४२।

६ १-१-१३ पृ० १८२।

७. सोऽयं महतो वंशस्तम्बाल्लट्वानुकृष्यते।—आ० २. पृ० ५२।

८. १-२-५१, पृ० ५५०।

९. ३-१-७ पृ० ३०।

१०. १-१-१, पृ० ९२।

११. ३-३-१७ पृ० २९५।

१२. १-१-१, पृ० ९२।

१३. २-२-५७, पृ० ३१८।

की मजबूती के लिए प्रसिद्ध है। कभी-कभी शिंशपा इतना ऊँचा बढ़ जाता है कि आकाश चूमने लगता है।[१] वृक्ष से भिन्न अन्य किसी वस्तु का नाम शिंशपा नही होता।[२]

पीलु (Cereya Arborea or Salvadora Persica)—एक विशेष वृक्ष का नाम है। कुछ लोग खजूर को ही पीलु मानते है। पीलु का फल भी पीलु कहा जाता था।[३] यद्यपि वृक्ष पुँल्लिग, किन्तु फल नपुंसकलिंग होता है। जिस मौसम मे पीलु पकते थे। उसे पीलुकुण कहते थे।[४] पीलु के मूल के पास दी हुई वस्तु या किया हुआ काम पैलुमूल होता है।

सप्तपर्ण (Alstmonia Scholaris)—इसमे सात-सात पत्तो के गुच्छे होते हैं।[५] यह भी क्षीरीवृक्ष है। इसका दुग्ध बहुत सुगन्धित होता है।

कारस्कर—यह एक जहरीला पौधा होता है, जो ओषधि के रूप मे काम आता है।[६]

देवदारु (Pinus Devadru)—देवदारु को सरल भी कहते है; क्योकि यह सीधा ऊपर की ओर बढता है।[७] देवदारु की लकडी यज्ञ-समिधाओ के काम आती थी। देवदारु चीड (Pinus Longifolia) का एक भेद है। यह बहुत लम्बा होता है। इसकी लकडी काटकर बहुत-से अन्य कामो मे भी लाई जाती है। भाष्य मे देवदारु-वन का उल्लेख है।[८] देवदारु देव-वृक्ष माना जाता था। मन्दार, पारिजात, सन्तान, कल्प-वृक्ष और हरिचन्दन ये पाँच देववृक्ष गिने जाते थे। इसी प्रकार अश्वत्थ आदि सात ब्रह्मवृक्ष कहे जाते थे।[९] देवदारु की लकड़ी देवदारव कही जाती थी।[१०]

विभीतक—इसके सकवच फलों का उपभोग होता था। इसकी लकड़ी का यज्ञयूप भी बनता है, जिसे वैभीतक कहते थे।[११]

चन्दन—चन्दन अपनी गन्ध के लिए प्रसिद्ध है।[१२] पर यह गन्ध तीव्र नही होती।[१३]

ऋषभ—यह एक विशिष्ट ओषधीय वनस्पति है। यह नदी के किनारे अधिक होती है

---

१. ५-१-२, पृ० २९७।
२. ५-१-२, पृ० २९७।
३. ७-१-७४, पृ० ७२।
४. ५-१-९७, पृ० ३४४।
५. पर्वणि पर्वणि सप्तपर्णान्यस्य सप्तपर्णः।—८-१-१, पृ० २६०।
६. ६-१-१५७, पृ० १९४।
७. ३-१-९७, पृ० १८०।
८. ८-४-६, पृ० ४७८।
९. सप्तकाः देववृक्षाः।—५-१-५८, पृ० ३२६।
१०. ४-३-१३६।
११. ५-१-२, पृ० २९६।
१२. २-२-८, पृ० ३४३।
१३. २-२-८, पृ० ३४३।

और कगार के ढाहने मे सहायक का काम करती है।[१] सम्भवत इसकी जडें कूल मे दरार पैदा कर देती है। भाष्य मे प्रचुर ऋषभवाले वन का उल्लेख मिलता है।[२]

कंक—आम का एक भेद है।

कुरर (Capparis Aphylta)—वृक्षविशेष। भाष्य मे कहा है कि वृक्ष से पत्ता गिरता है।[३] पत्ता नही, कक या कुरर का पत्ता गिरता है। कक और कुरर पक्षी भी होते है। उनके पख को लेकर भी सन्देह होता है।

रुरु—एक फलवान् वृक्ष है, जिसकी लकडी की शम्या (एक यज्ञपात्र) वनाई जाती थी। इससे खूंटी या वैल के जुये मे किनारे पर डाली हुई लकडी, जो वैल को जुये से वाहर निकल जाने से रोकती है, वनती थी।[४]

आम्र—यह फलवृक्ष है। आम्र के फल को भी आम्र कहते है। सेवा-सिंचन द्वारा आम्र के पेड वडे हो पाते है। फलो के लिए आम्र सेवा चाहते थे। भाष्य मे 'एक पन्थ दो काज' के अर्थ मे एक कहावत दी है[५] : 'आम भी सिंच गये और पितर भी प्रसन्न हो गये।' इसे द्विगत हेतु कहते है। इससे अनुमान होता है कि लोग दैनिक तर्पण आम्र के आलवाल मे कर लेते थे। आम्र के वगीचे गाँवो के चारों ओर लगाने की प्रथा थी और आज भी है।[६] एक स्थान पर कहा है कि आम के पेड गाँव के पूर्व की ओर है। 'पूछे खेत की कहे खलिहान की' इस अर्थ[७] मे आम्र को लेकर एक कहावत चल पडी थी–'पूछी आम की कही कोविदार की'। आम्रफल से वनी हुई खाद्य-पेय वस्तुओ को आम्रमय कहते थे। व्यक्तियो के नाम तक आम्र के आधार पर रखे जाते थे। यथा आम्रगुप्त, शालगुप्त। इनकी सन्तान 'आम्रगुप्तायनि' कहलाती थी।[८]

कदली(Musa Sapientum)—कदली का फल तो उपयोगी है ही, उसका स्तम्भ पुण्य कार्यो मे काम आता था। कदलीस्तम्भ काटना दूषित नही माना जाता था।[१०]

वदरी—वदरी का फल वदर कहलाता था।[११] वेर खाने का प्रचार प्राचीन भारत मे अधिक मालूम होता है। द्रोण-भर वदर एकत्र कर रखे जाने की चर्चा एक स्थान पर उदाहरण रूप मे आई है।[१२] इतना ही नही, लोग वेरो को सुखाकर पेटियो और पिटारियों मे रखते थे।

---

१. ऋषभं कूलमुद्रुजम्, ऋषभं कूलमुद्वहम्।—१-४-८०, पृ० १९९।
२. १-४-६०, पृ० १९१।
३. १-४-२३, पृ० १५५।
४. २-१-१, पृ० २५८।
५. आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणिता.।—८-२-३, पृ० ३१६।
६. १-१-५६, पृ० ३४२।
७. आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचक्षते।—१-२-४५, पृ० ५३२।
८. ४-३-१५६, पृ० २६९।
९. १-१-१, पृ० ९२।
१०. आ० २, पृ० ४८।
११. २-२-५, पृ० ३३६।
१२. वही।

ाष्यकार ने तद्गुणता का उदाहरण देते हुए कहा है कि वेरो की पिटारी में कोई ताँवे की कटोरी ा पात्र रख दिया जाय, तो वह भी वेरो से भरा हुआ दिखने लगेगा।[1]

वदर का वृक्ष वदरी कहलाता था। इसमे नन्हे-नन्हे काँटे होते है। यह मधुर फलवाला ृक्ष है। भाष्यकार ने वदरी की परिभाषा उक्त प्रकार से दी है।[2] वदरी से वनी वस्तु वादर ोती है।[3]

विल्व—विल्व की गणना फल और औषध दोनो प्रकार के वृक्षो मे है। विल्व का फल भी विल्व (नपुं०) कहलाता है। विल्व से वनी वस्तु या उसके अवयव को वैल्व या विल्वमय कहते है। जिस भूमि मे विल्व के पेड लगाये जाते थे, उसे विल्वकीय कहते थे।[4] विल्वकीय से ावार्थ मे विल्वक शब्द वनता है। वैल्वक विल्व-भूमि मे उत्पन्न किसी भी वृक्षलता आदि को कह सकते है। विल्व-वृक्षो का समूह विल्व-वन होता है और उसमे रहनेवाले वैल्ववन।[5]

कपित्थ—यह ओषधि-वर्ग का वृक्ष है। कपित्थ का रस ओषधि के काम आता था।[6]

पिप्पल (Ficus religiosa)—यह प्लक्ष न्यग्रोव-वर्ग का क्षीरीवृक्ष है।[7]

कटुवदरी—एक पौधे का नाम है। भाष्य मे एक ग्राम का उल्लेख है, जिसका नाम कटुवदरी के समीप होने के कारण कटुवदरी हो गया था।[8]

हरीतकी—यह ओषधि-वर्ग की वनस्पति है। इसके फल भी हरीतकी कहलाते है।[9]

दाडिम—फलवृक्ष है। इसके फल भी दाडिम (नपुं०) कहलाते थे।[10]

आमलकी—आमलकी का फल आमलक होता है।[11] आमलकी आदि के (Embbia Myrabalan) के फल पकने पर लाल और पीले पड जाते है।[12] फिर भी, वे आमलक और वदर ही रहते है। आमलकी से उत्पन्न फल या अन्य वस्तुओ के लिए आमलकीज शब्द आया है।[13] वदर और आमलक का उल्लेख कई वार साथ-साथ हुआ है।[14]

---

१. वदरपिटके रिक्तको लोहकंसस्तद्गुण उपलभ्यते।—१-२-३०, पृ० ५०३।
२. वदरी सूक्ष्मकण्टका मधुरा वृक्ष इति।—१-२-५२, पृ० ४४५।
३. ६-४-१५३, पृ० ४९१ तथा ४-३-१३६, पृ० २६१ तथा ४-३-१४३, पृ० २६३।
४. ६-४-१५३, पृ० ४९१।
५. ४-२-५२, पृ० १९४।
६. ४-३-१५५, पृ० २६६।
७. आ० २, पृ० ६६।
८. १-२-५१, पृ० ५५०।
९. १-२-५२ पृ० ५५५।
१०. १-१-१, पृ० ९४।
११. १-१-५८ तथा आमलकादीनां फलानां रक्तादयः पीतादयश्च गुणाः प्रादुर्भवन्त्यामलकं वदरमित्येव भवति।—५-१-११९, पृ० ३५५।
१२. वही।
१३. ६-२-८२, पृ० २७४।
१४. २-४-१२, पृ० ४६६।

जम्बू—जामुन को कहते थे। इसका फल भी जम्बू कहा जाता था।[1]

पिप्पली (Peper Langum)—पीपल के वृक्ष और फली दोनों को पिप्पली कहते थे।[2] पिप्पली का आधा भाग अर्धपिप्पली कहलाता था।[3]

उदुम्बर—उदुम्बर या गूलर का फल लाल होता है।[4] भाष्य में कहा है कि उदुम्बर में लाल फल पकता है। इसीलिए, ताँबे के लोटे को भी उदुम्बरवर्ण कहा है।[5] यह साम्य उदुम्बर फल के रंग से ही है।[6]

शृंगवेर—अदरक का पुराना नाम शृंगवेर था। यही शब्द सोंठ के लिए भी प्रयुक्त होता था। इसका स्वाद तीखा कड़ुआ होता है।[7]

कोशातकी (Trichosanthes diocca or Luffa ocutangulla or Luffa Pentendra)—धतूरे का दूसरा नाम है। इसके फल को भी कोशातकी या कोशातकिका कहते हैं।[8]

गुग्गुलू—ओषधि-वृक्ष है।[9] इसका गोंद ओषधि-रूप में व्यवहृत होता है।

मधू—महुए का वृक्ष है। इसे मधूक भी कहते हैं।[10] इसके फल उपयोगी होते हैं।

नीली—यह भी ओषधि वनस्पति है।[11] इसकी खेती की प्रथा रही है।

कोविदार (Bohinia veriegata)—एक स्वर्गिक वृक्ष।[12]

ताल—संस्कृत-साहित्य में ताल वृक्ष (ताड़) काकतालीय न्याय के कारण अमर हो गया है। काक आकर बैठा कि ताल अचानक गिर गया[13] और कारण न होते हुए भी उनमें कारण-कार्य-भाव दिखने लगा। वास्तव में दोनों क्रियाओं में कोई सम्बन्ध नहीं है।

पनस—कटहल को पनस कहते हैं, जो शाक के काम आता है। भाष्यकार ने पनस को पकाने की बात कही है।[14] पनस का फल भी पनस (नपु०) होता है।

---

१. ४-१-११९, पृ० १३८।
२. १-२-४४ पृ० ५२४।
३. १-२-७२, पृ० ६०६।
४. तस्मादुदुम्बरः सलोहितं फलं पच्यते।—३-१-८७, पृ० १५४।
५. आ० १, पृ० ५।
६. न हि गुड इत्युक्त मधुरत्वं गम्यते शृङ्गवेरमिति वा कटुकत्वम्।—२-१-१, पृ० २५३।
७. ५-३-७२, पृ० ४६९।
८. ४-१-७१, पृ० ७७।
९. ४-१-७१, पृ० ७७।
१०. ४-१-४२, पृ० ५५।
११. १-२-४५, पृ० ५३२।
१२. ५-३-१०६, पृ० ४८०।
१३. १-१-७ पृ० १५४।
१४. ५-१-२, पृ० २९६।

तुम्वुरु—(Cariander or Dioshyros Embryoptens) धनियाँ को कहते है।[1] इसका फल भी तुम्वुरु कहलाता है।

त्रपुस—फलविशेष। दही और त्रपुस एक साथ खाने से ज्वर अवश्य बढ जाता है। भाष्य-कार ने दधि और त्रपुस को प्रत्यक्ष ज्वर कहा है।[2]

कुवली—एक विशेष प्रकार की स्वादिष्ठ वेरी या मकोय होती है। कुवली से वनी वस्तु को कौवल कहते है।[3]

अलावू—लौकी और कद्दू का पुराना नाम है। इसका फल अलावू कहा जाता था।[4]

कर्कन्धु—जगली वेरी (झरवेरी) के झाड को कहते थे। इसका फल भी कर्कन्वु (नपु०) कहा जाता था।[5] काठक स० (१२-१०) मैत्रा० स० (३-११-२) के अनुसार कुवल और वदर भी इसी श्रेणी के है।

दृन्भु—यह भी एक फलवृक्ष की संज्ञा थी।[6]

पीलु—फलवान् वृक्ष है। महाभारत के अनुसार शारकोट तथा पजाव मे पीलु-वृक्षो का आधिक्य था।

उपर्युक्त सूची के अन्तर्गत विना फलवाले एव फलवान् वृक्ष, कुछ लताएँ, जो ओषधि के काम आती हैं, एव कुछ वनस्पति भी आ गये हैं। इनमे दो प्रकार के वृक्ष आये है। एक वे, जो दारु द्वारा देश की आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं और अर्थ-व्यवस्था के स्थायी अग हैं। इनकी लकडी भवन आदि के निर्माण का मुख्य सावन है। दूसरे प्रकार के वृक्ष वे हैं, जो फलो के द्वारा वहुत कुछ खाद्य पदार्थो की पूर्त्ति करते है और इस प्रकार देश की उपज मे वृद्धि करते हैं। वे भी प्रत्यक्षरूपेण राष्ट्र की अर्थ-सम्पत्ति के अग हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य लताएँ है, जो या तो वृक्षो के सहारे वढती है या कभी-कभी स्वतन्त्र रूप से फैलती है। इनमे कुछ फलवती हैं और कुछ केवल पुष्पमयी। कुछ उभयविहीन हो सकती है। नीचे भाष्य मे वर्णित लताओ, मूलो एव पुष्पो की सूची प्रस्तुत की जाती है।

द्राक्षा—यह लता-वर्ग के अन्तर्गत है। द्राक्षा मवुरफला होती है। भाष्यकार ने द्राक्षा को गुडकल्पा कहा है।[7]

विम्व—इसका फल लाल होता है। ओष्ठ की लाली का सुप्रसिद्ध उपमान विम्व है।[8]

---

१. १-१-४७, पृ० २९०।
२. दधित्रपुत्रसं प्रत्यक्षो ज्वरः।—१-१-५९, पृ० ३८५।
३. ४-३-१५६, पृ० २६९।
४. ६-३-३१, पृ० ३३९।
५. वही
६. वही।
७. ५-३-६७, पृ० ४६१।
८. ६-१-९४, पृ० १५१।

सुवर्चला—सूर्यमुखी को कहते हैं। इसका पुष्प पूर्वाभिमुख ही रहता है। भाष्यकार ने कहा है कि सुवर्चला सदा सूर्य के पीछे-पीछे घूमती है।[१]

उत्पल—कमल का एक नाम है। इसके पुष्प माला के रूप में भी धारण किये जाते थे।[२] आज भी ग्राम-कन्याएँ पुष्करणियो से उत्पल तोड़कर उनकी मालाएँ बनाकर पहनती हैं। कमल के नाल को बिस कहते हैं।[३] बिस पानी मे पड़ा-पड़ा अपने-आप बढ़ता रहता है।[४] बिस बहुत कोमल होता है और जलने पर उसके विकार नही दिखाई देते।[५] मृणाल और बिस के मूल को मृणाल और बिस ही आख्या थी।[६]

मल्लिका—मल्लिका जूही का प्राचीन नाम है। यह सुगन्धित पुष्पोवाली लता है। भाष्य ने अवखिली मल्लिका की कलियो की चर्चा की है।[७] मल्लिका के पुष्प को भी मल्लिका ही कहते थे।[८]

चम्पक—चम्पक के पुष्प की गन्ध मल्लिका से भी तीव्र होती है। चम्पा लता है और चम्पक पुष्प। विना खिली चम्पा की कली को चम्पक-पुट कहते हैं।[९]

सत्पुष्पा, प्राक्पुष्पा, काण्डपुष्पा, प्रान्तपुष्पा, शतपुष्पा (सौंफ), एकपुष्पा ये पुष्पवती लताओ के विशिष्ट नाम हैं या उनके वर्ग।[१०] इनमे प्रत्येक नाम सार्थक हैं। सत्पुष्पा सुन्दर पुष्पोंवाली लता है। प्राक्पुष्पा मे पुष्पो की सामान्य ऋतु मे अन्य लताओं से पहले फल आते हैं। काण्ड-पुष्पा की डालो पर ही फूल लगते हैं—पनस के फलो के समान। वृन्त पर फूल नही लगते। कुछ लताओ मे ऊपरी किनारे पर भी पुष्प आते हैं। किसी की एक साथ शत-शत पुष्पो से गोद भर जाती है और किसी मे केवल एक ही फूल खिलता है।

करवीर—करवीर पुष्पवान् होता है। इसके पुष्प को भी करवीर कहते थे।[११]

संफला—सफला, भस्त्राफला, अजिनफला, पिण्डफला, शणफला और त्रिफला मे अंतिम को छोड़कर शेष विशिष्ट लताओ के नाम हैं। सफला श्रेष्ठ फलवाली, भस्त्राफला बड़े धौंकनी जैसे फलवाली, अजिनफला चिपटे छिलके के फलवाली, पिण्डफला सम्भवतः पिण्डखजूर, शणफला सन और त्रिफला आँवले, हरड और बहेड़े का नाम है।[१२]

---

१. सुवर्चला आदित्यमनुपर्येति।—३-१-७, पृ० ३०।
२. १-१-७२, पृ० ४५५।
३. १-१-५०, पृ० ३०७।
४. आसीनं वर्धते बिसम्।—३-२-१२६, पृ० ३६५।
५. ३-२-१२३, पृ० २५७।
६. ४-३-१६६, पृ० २७२।
७. २-१-१, पृ० २४०।
८. ४-३-१६६, पृ० २७२।
९. २-१-१, पृ० २४०।।
१०. ४-१-६४, पृ० ७४।
११. ४-३-१६६, पृ० २७२।
१२. ४-१-६४, पृ० ७४।

पलाण्डु—प्याज का सस्कृत नाम है। पलाण्डु का प्रचार उच्च वर्णो मे नही था। तामस भोजन मे इसकी गणना थी, यद्यपि यह खाद्य माना जाता था।[1]

मूलक—मूली के लिए प्रयुक्त हुआ है। मूली काटकर खाई जाती थी। उसके साथ अन्य भोज्य पदार्थो का योग रहता था।[2] पाटल-मूल, सम्भव है, गाजर को कहते हो।[3]

पाटलि—पाटलि के मूल का प्रयोग होता था। इसके मूल को पाटल कहते थे। पाटलि शब्द विल्वादिगण (४-३-१३६) मे परिगणित है। पाटल-मूल लाल धान को भी कहते थे। भाष्य मे पाटल-मूलो का उल्लेख है।

फैलनेवाली लताओ का वृक्ष से स्वतन्त्र अस्तित्व है। वृक्ष को काट दिया जाय, तो भी लता का कुछ विगड़ता नही।[4] हेमन्त मे जब लताओ और वृक्षो के पत्ते झड जाते हैं, तब उन्हे प्रपलाश कहते थे।[5]

तृणो मे निम्नलिखित का उल्लेख भाष्य मे मिलता है—

पूतीक—तृणो मे पूतीक का प्रयोग सोम के अभाव मे यज्ञादि कर्मकाण्डो मे होता था।[6] इसे विछाकर लोग सोते भी थे।[7]

नड्वल—नड्वल के रस से पाँवो मे महावर का काम लिया जाता था।[8]

इषीक—इषीक एक तृण जाति है, जिससे सीके निकालकर झाड वनती है।[9] शतपथ मे इषीक से वने शूर्प का उल्लेख है।

मुंजेषीक—यह इषीक से वडी जाति की होती है।[10] इससे छप्पर छाये जाते है। वडी जाति की इषीक का प्रयोग पतली लकडी (शरकाण्ड) के रूप मे होता है। कढी हुई मूंज को विपूय कहते थे।[11] इसी से मूंज निकालकर रस्सी वनाई जाती है। शरादिगण (४-३-१४४) में शर, दर्भ, सोम, वल्वज का परिगणन किया है।[12] दर्भ और दर्भकाण्ड का उल्लेख कई वार मिलता है। दर्भ के वन पर्याप्त मात्रा मे थे। इन वनो के समुदाय को कुण्ड कहते थे। भाष्य मे दर्भकुण्ड का

---

१. २-२-३६, पृ० ३९२।
२. ४-१-४८, पृ० ६१।
३. ४-३-१६६, पृ० २७२।
४. १-२-६४, पृ० ५९७।
५. १-४-१, पृ० १०७।
६. १-१-५६, पृ० ३४१।
७. ३-२-११०, पृ० २४५।
८. १-१-५९, पृ० ३८५।
९. १-१-७२, पृ० ४५५।
१०. वही।
११. ३-१-११७।
१२. ४-३-१४४।

उल्लेख आया है।[1] फूल जाने पर इषीको से रुई-जैसा धुआँ निकलता है। मूंज निकालने पर शिक्य (सींकें) शेष रह जाती हैं।[2]

बल्वज—तृण जाति है, जिससे रस्सी बनती है। भाष्यकार ने कहा है कि एक बल्वज बांधने में असमर्थ होता है, किन्तु उनके समूह से बनी हुई रस्सी बाँध सकती है।[3]

वीरण—यह तृण है, जिससे चटाई बनाई जाती थी।[4]

तृणोलपम्—पानी की घास होती है।[5] उलप जल को कहते हैं।[6]

दूर्वा—मंगल-पूजन आदि के काम आती है। दूर्वा पड़ी-पड़ी बढ़ती रहती है।[7]

इनके अतिरिक्त कुश, काश, शर वर्ध्र, शीर्य आदि का भी उल्लेख मिलता है, जिनसे सब परिचित हैं। वार्ध्री रज्जु वर्ध्र की बनी होती थी।[8]

---

१. ६-२-१३५, पृ० २८१ तथा ६-२-१३६, पृ० २८१ ।
२. ४-३-१५१ का० ।
३. १-२-४५, पृ० ५३५ ।
४. १-४-८७, पृ० १९८ ।
५. १-२-७५, पृ० ६०८ ।
६. वही ।
७. ३-२-१२६, पृ० ३६५ ।
८. ४-३-१५१ काशिका।

अध्याय ३

पशु-पक्षी

वर्गीकरण—महाभाष्य मे उल्लिखित प्राणियो को, वर्णन की सुविवा के लिए पाँच भागो में विभक्त किया जा सकता है—ग्राम्य, आरण्य, जलीय, शकुनि और क्षुद्र जन्तु। सूत्रकार और भाष्यकार दोनो ने भिन्न-भिन्न अवसरो पर सुविवानुसार भिन्न दृष्टिकोणो से उनका वर्गीकरण किया है। एक स्थान पर उन्होने पचनख प्राणियो की एक श्रेणी मानी है।[1] अन्यत्र सहज विरोव-वाले जीवो के एक पृथक् वर्ग की ओर सकेत किया है।[2] एक स्थान पर गवाश्व, गवाविक, गवैडक प्रभृति पशु एक साथ परिगणित किये गये हैं।[3] मृग, शकुन्त और क्षुद्र जन्तु ये वर्ग भी देखने को मिलते है।[4] इनके अतिरिक्त पशु, शकुनि मृग जैसी श्रेणियाँ भी मिलती है।[5] किन्तु, भाष्यकार या सूत्रकार के ये वर्ग किसी विशेष वैज्ञानिक आधार पर नहीं, प्रत्युत प्रयोग-सिद्धि की सुविधा पर आश्रित है।

ग्राम्य पशु—ग्राम्य पशुओ मे गौ, अश्व, अज, अवि, उष्ट्र, कुक्कुट, खर, महिप, श्वा और शूकर पालतू थे। ग्रामो के कृषि-प्रधान होने के कारण इन पशुओ की उपयोगिता सर्वाधिक थी। इनमे कुछ तो कृपि के अविभाज्य अग थे और शेप उसके सहायक। ग्राम्य पशुओ मे भी गो का महत्त्व सर्वाधिक था।

गो—गो शब्द का व्यवहार गाय और बैल दोनो के लिए होता था। गो सम्पत्ति और समृद्धि की सूचक थी। भाष्य मे कहा है कि देवदत्त धनी है, क्योकि उसके पास गो, अश्व और हिरण्य है।[6] परिवारो मे, विशेषत ब्राह्मण-परिवारों में न केवल गाय, अपितु बैल भी पालने की प्रथा थी।[7] उपाध्यायो एव गुरुओं को श्रद्धा की प्रतीक गाय भेट मे दी जाती थी।[8] गाय पालनेवाले सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे।[9] गोमान् परिवार या व्यक्ति से प्रेम करने के लिए स्वतन्त्र क्रिया का प्रयोग

---

१. आ० १, पृ० ११।
२. २-४-९, पृ० ४६४।
३. २-४-११, पृ० ४६६।
४. २-४-१२, पृ० ४६६।
५. आ० १, पृ० १।
६. देवदत्तस्य गावोऽश्वा हिरण्यं च। आढ्यो वैधवेयः।—१-३-९, पृ० २८।
७. ७-१-७२, पृ० ६२, ६४।
८. १-४-३२, पृ० १६७।
९. ७-२-९८, पृ० १५१।

मिलता है।[1] किसी-किसी परिवार के पास सैकड़ों, सहस्रों गायें होती थीं।[2] भाष्यकार ने उदा-हरण के रूप में बार-बार और अनेक उदाहरणों के बीच सर्वप्रथम गाय का उल्लेख किया है।[3]

गो के अंगों एवं वर्णों के विषय में प्रश्न करते हुए भाष्य में कहा गया है कि 'क्या सास्ना, लांगूल, ककुद और विषाण गो शब्द का अर्थ है अथवा शुक्ल, नील, पीला, काला, कपिला या कपोती रंग गो शब्द का अर्थ है?'[4] चित्र या शबल रंग की गायों और बैलों का उल्लेख भी अनेक बार हुआ है।[5] गायों के स्तन-भाग को ऊधन् कहते थे। ये ऊधन् खूब भरे-भरे, घट के समान होते थे।[6] एक स्थान पर कहा है कि जो व्यक्ति गाय को नहीं पहचानता, उसे गाय की सक्थि या कान पकड़कर कोई बतलाता है कि यह गाय है।[7] भाष्य में बड़े-बड़े और सामान्य चित्ते (पृषत्) वाली गौ का उल्लेख है[8]। स्थान-भेद से पतंजलि के समय में गाय को गावी, गोणी, गोपोतलिका आदि अनेक नामों से पुकारा जाता था।[9]

गाय के विभिन्न नाम—आयु-भेद से गाय के अनेक भेद थे। बछिया को वत्सतरी, गर्भवती होने योग्य गाय को उपसर्या,[10] प्रथम-गर्भा को उपसर[11], पहली बार ब्याई हुई को गृष्टि[12] स्रुत-गर्भा को वेहत्[13], आजकल में ब्यानेवाली को अद्यश्वीना[14], दूध देती हुई को धेनु[15], छह मास पहले ब्याई हुई को षष्ठ्यगी[16] तथा ऊँची जाति की गृष्टि को महागृष्टि कहते थे।[17] गिरवी रखी गई गाय धेनुष्या कही जाती थी।[18]

---

१. ७-१-३०. पृ० ६०।

२. २-१-५१, पृ० ३०५ तथा ५-२-११८, पृ० ४१९।

३. आ० १, पृ० १।

४. किं तर्हि सास्नालाङ्गूलककुदविषाण्यर्थरूपं स शब्दः? नेत्याह। यत्तर्हि तच्छुक्लो नीलः कृष्णः कपिलः कपोत इति स शब्दः।—आ० १, पृ० १।

५. १-१-५६, पृ० ३५०।

६. ६-१-२८. पृ० ५६ तथा ४-१-२५, पृ० ४७।

७. १-१-१, पृ० १०१।

८. आ० १, पृ० ३।

९. आ० १. पृ ५।

१०. ३-१-१०४।

११. ३-३-७१।

१२. २-१-६५।

१३. ५-२-१३।

१४. २-१-६५।

१५. वही।

१६. वही।

१७. ६-२-३८, पृ० २५८।

१८. ४-२-८९. पृ० २५८।

कुछ गायें प्रतिवर्ष जननेवाली होती हैं और कुछ तीसरे वर्ष। प्रतिवर्ष जननेवाली गाय तीसरे वर्ष जननेवाली से अच्छी मानी जाती थी। प्रसूति मे वछड़े की अपेक्षा वछिया का महत्त्व अधिक था। ऐसा मालूम होता है कि जितनी भूमि कृषि के उपयोग मे आती थी, उसके लिए वैलों की सख्या पर्याप्त थी। वे मँहगे दामो पर नही विकते थे। उसकी तुलना मे गायो की सख्या कम रही होगी। यज्ञादि कर्मकाण्डो एव दैनन्दिन की आवश्यकताओ की पूर्त्ति के लिए घी और दूध की आवश्यकता अधिक थी। विशेषत उन परिवारो मे जो कृषिजीवी नही थे। वैल की अपेक्षा गाय का मूल्य अधिक था, इसीलिए भाष्यकार ने वछड़ा जननेवाली गाय की अपेक्षा वछिया जननेवाली गाय को श्रेष्ठ माना है।[1]

गव्य—गायो से प्राप्त होनेवाली वस्तुएँ गव्य कहलाती थी। दूव को पिलाने के वाद वछडो को वाँध दिया जाता था। शेष दूध पालक अपने उपयोग के लिए निकाल लेता था। कालिदास ने 'पीतप्रतिवद्धवत्सा' तथा 'वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषम्' द्वारा इसे सूचित किया है।[2] इन गायो के ऐन कूँड़े और घडे के समान होते थे। दूव दुहने के लिए उपयोग मे आनेवाला पात्र 'गोदोहन' कहलाता था।[3] दूव को गोदोह कहते थे। दूध दुहने की क्रिया भी गोदोह कहलाती थी।

जिस समय दूव दुहा जाता था, वह काल 'तिष्ठद्गु' कहलाता था,[4] क्योकि इस समय दूध दुहाने के लिए गायें स्थिर खड़ी रहती हैं। तैत्तिरीयसहिता (७-५-३-१) के अनुसार प्रात., सगव और साय ये तीन दोहन-काल है। तैत्तिरीयसहिता (१-४-९-२) के अनुसार वे तीन वार चरने जाती थी। कुछ लोगो के मत से मध्य मे वे सगविनी मे ठहरती थी। यह भ्रान्ति सगव का अर्थ न समझने के कारण हुई है। दूव के लिए गाय ही पाली जाती थी। दुग्ध का अर्थ ही गोदुग्ध होता था। माहिष पय. का उल्लेख भाष्य मे कही भी नही मिलता, यद्यपि गोकुल[5], गोक्षीर और गोपाल की चर्चा पुन-पुन आई है। गायो मे कृष्णा अविक दुवार होती है, इस वात से भाष्यकार परिचित थे।[6]

दुग्ध से दधि एव दधि से तक्र और मक्खन तैयार होता है। दधि का प्रयोग दैनन्दिन भोजन मे वहुत होता था। भाष्य मे दधि के साथ भात खाने की चर्चा वार वार आई है।[7] तक्र के लिए भाष्यकार ने मथित और उदश्वित् शव्दो का प्रयोग अधिकतर किया है। मठ्ठा वेचकर

---

१. गौरियं या समासमा विजायते। गोतरेयं या समासमा विजायते स्त्री वत्सा च।—५-३-५५, पृ० ४४५।

२. रघुवंश, सर्ग २।

३. ३-२-१२३, पृ० ३१८।

४. २-१-१७, पृ० २७४।

५. १-२-४८ पृ० ५४५।

६. गोषु कृष्णा वहुक्षीरा। कृष्णा गवां सम्पन्नक्षीरतमा।—४-३-४२, पृ० ४२३।

७. १-१-४७, पृ० २८७।

कुछ लोग जीविका चलाते थे। इन लोगो को माथितिक कहते थे[१]। मक्खन के लिए हैयगवीन शब्द का व्यवहार होता था।[२] उसी से घृत तैयार किया जाता था। घृत आयुर्वर्धक माना जाता है। इसीलिए घी आयु है,[३] इस प्रकार का वाक्य प्रयुक्त होता था। इससे स्पष्ट है कि गाय भारतीय परिवार का विशिष्ट अग बन गई थी। इसी कारण गृहस्थ-भोजन मे अग्रबलि गाय के लिए निकालते थे।[४]

गोचारक—धेनुओ का समूह धैनुक कहलाता था।[५] ग्वाले धैनुक को चराने के लिए नियुक्त थे। ये गाँव-भर की गायो को एक साथ चराने ले जाते थे और सन्ध्या के समय गिनकर उन्हे वापस कर जाते थे।[६] इसके लिए उन्हे प्रत्येक घर से मासिक या षाण्मासिक वृत्ति मिलती थी। बछडे घर पर रह जाते थे और सध्या के समय बाहर चरकर जाने के बाद बछडे तथा गाय इकट्ठे बाँध दिये जाते थे।[७] गाय चरानेवाला ग्वाला गोपालक या आगवीन कहा जाता था।[८] जो गायो या बैलो को चराने आदि के लिए उनके पीछे रहता या चलता था, उस गोपालक को अनुगवीन कहते थे। आगवीन गायो के लिए उत्तरदायी होता था। उसे सावधान रहना पडता था, क्योकि लोग अर्जन, क्रय, भिक्षण या अपहरण द्वारा, जैसे भी हो, गायें प्राप्त करने का यत्न किया करते थे।[९] गाय सपत्ति का अग थी, इसलिए जिस गाँव या प्रदेश मे अधिक गायें होती थी, वह भाग्यवान् माना जाता था।[१०] जिस प्रदेश मे गायें चरती-घूमती रहती थीं, उसे गोष्पद कहते थे। जहाँ गाये नही जाती या पहुँचती थी, उसे अगोष्पद कहते थे। अगोष्पद शब्द घने अरण्यो के लिए व्यवहृत होता था। प्रमाण अर्थ मे भी गोष्पद शब्द का प्रयोग होता था, जैसे गोष्पद क्षेत्र या गोष्पद भर वर्षा। यहाँ गोष्पद शब्द छोटाई या अल्पता का बोधक था।

गोष्ठ—गायो के बाँधने के स्थान को व्रज कहते थे। ये बाडे थे। यो ४-३-३५ सूत्र मे इसके लिए गोस्थान और गोशाल[११] शब्द भी आये है। गोशाल के समान अश्वशाला भी पृथक् होती थी। बछडो को बाँधने का स्थान अलग रहता था, जिसे वत्सशाला कहते थे।[१२] जिस स्थान

---

१. ५-३-८३, पृ० ४७४।

२. ह्योगोदोहस्य विकारः हैयंगवीनं घृतम्।—५-२-२३, पृ० ३७३।

३. १-१-५९, पृ० ३८५।

४. ४-१-८५, पृ० ९५।

५. ४-२-५५, पृ० १८२।

६. १-३-६७, पृ० ८७।

७. गावो दिवसं चरितवत्या यो यस्याः प्रसवो भवति तेन सह शेरते।—१-१-५०, पृ० ३०९

८. आ तस्य गोः प्रतिदानात् कर्मकारी आगवीनः कर्मकरः।—५-२-१४, पृ० ३७१।

९. २-१-५१, पृ० २९८।

१०. ५-१-११९, पृ० ३५५।

११. ४-३-३५।

१२. ४-३-३६।

पर पहले गाये बँधती रही हो, किन्तु बाद मे अन्य उपयोग मे आने लगा हो, उसे गोष्ठीन कहते थे।[1] चरकर लौटने के बाद गाय जहाँ बाँधी जाती है, उस स्थान को गोष्ठ कहते थे।[2] धीरे-धीरे यह स्थान साधारण पशु-शाला का बोधक बन गया और गोशाला को गोष्ठ एव भेड बाँधने के स्थान को अविगोष्ठ कहने लगे। धीरे-धीरे कुछ स्वतन्त्र शब्द जब प्रत्यय बन गये, तब स्थान-बोधन के लिए कटच्, पटच् और गोयुग प्रत्यय प्रयुक्त होने लगे। और इस प्रकार, अविकट, उष्ट्रकट, अविपट, उष्ट्रगोयुग, खरगोयुग तत्तत्सम्बन्धी स्थानो के बोधक शब्द बन गये।[3]

भाष्यकार को ज्ञात था कि बछिया रूप, रग, आकृति, दुधारपन आदि अन्य गुणो मे अपनी माता के समान होती है।[4] प्राय. देखा जाता है कि जो गाये प्रतिवर्ष जननेवाली होती है, उनकी सन्तान भी प्रतिवर्ष जनती है। वे जानते थे कि पुरोवात (पूर्वी हवा) गायो के गर्भ-धारण की प्रेरक होती है। इस काल मे ये प्राय. गर्भिणी हो जाती है।[5] प्रतिवर्ष जननेवाली गाय को समासमीना कहते थे।[6] मैथुनेच्छा के कारण जब गाय बैल के लिए रँभाती थी, तब उसके लिए एक विशिष्ट क्रियापद का प्रयोग होता था 'वृषस्यति'। वही गाय यदि बिना मैथुनेच्छा के बैल की सगति चाहती, तो उसके लिए 'वृषीयति' क्रियापद का प्रयोग होता,था।[7]

अक या लक्षण—गाये जब चरने के लिए छोड़ी जाती है, तब बछड़े भी उनके साथ जाने के लिए आकुल हो उठते है।[8] चरते समय खो जाने के डर से एव अन्यदा चोरी आदि से बचाने के लिए पालक गायो के शरीर पर विशिष्ट चिह्न बना देते थे। गाय-बैल स्व या सम्पत्ति के अग थे। हर व्यक्ति अधिक-से-अधिक परिमाण मे उनके समाहार का इच्छुक रहता था और यह समाहार या स्व चार प्रकार से ही प्राप्त किया जा सकता था—क्रय, अपहरण, भिक्षण और विनिमय से। प्रथम और चतुर्थ के लिए नकद धन या अन्य वस्तु चाहिए थी, और तृतीय के लिए योग्यता या अर्हता। द्वितीय ही सरल हो सकता था।[9] एतदर्थ वे उनके सीगो को रँग देते या छील देते थे। कभी किसी विशिष्ट स्थान को जलाकर दाग देते थे। कभी पूँछ के बाल काट देते थे। कभी गले मे विशेष रग की रस्सी या घटी बाँध देते थे। इस प्रकार दगी हुई गाय अन्यो के बीच मे सरलता से पहचानी जा सकती थी। इस प्रकार दागी गई गाये अकित कहलाती थी।[10] अकित शब्द

---

१. ५-२-१८।

२. ५-२-२९, पृ० ३७५।

३. वही।

४. मातृकं गाऽवोनुहरन्ते।—१-३-२१, पृ० ६२।

५. ६-१-५५. का०।

६. ५-२-१२, पृ० ३७१।

७. ७-१-५१, पृ० ४९।

८. ६-४-१६, पृ० ३८१।

९. समाहरण समाहारः। कः पुनर्गवां समाहारः? यत्तर्जनं क्रयणं भिक्षणमपहरणं वा०।—२-१-५१, पृ० २९८।

१०. अङ्किता गाव इत्युच्यन्तेऽन्याभ्यो गोभ्यः प्रकाश्यन्ते। अचतेरेकोऽकश्च प्रकाशनम्।—८-२-४८, पृ० ३६७।

अच् धातु से बना है, जिसका अर्थ है प्रकाशन। प्रकाशन के लिए कान या जघा मे विशेष चिह्न बनाने की प्रथा अधिक थी। एक स्थान पर भाष्यकार ने कहा है कि गाय की जघा या कान पर बनाया हुआ चिह्न उस गाय का ही विशेषक होता है, सम्पूर्ण गोमण्डल का नही।[१] अक या लक्षण का उल्लेख ऋग्वेद (६-२८-३) तथा मैत्रायणीय सहिता (४-२-९) मे भी मिलता है।

बैलो का क्रय-विक्रय भी चलता ही था। विक्रय के लिए उपस्थित बैल को 'पण्यगव' कहते थे।[२] बैलो के अच्छे-बुरे लक्षणो की पहचान करने मे निपुण लोग, जिन्हे 'गौलक्षणिक' कहते थे, बैलों की परीक्षा कर उनका मूल्य निर्धारित करते थे।[३] साल्व और शकु जनपद के बैल प्रसिद्ध थे। बैलो को तथा अश्वो को नियमित रूप से नमक दिया जाता था, जिसका परिमाण निश्चित था। इस आधार पर गोलवण और अश्वलवण शब्द ही निश्चित परिमाण-बोध के लिए रूढ (सज्ञा) बन गये।[४]

बैल—गाय के बछडे वत्स कहलाते थे। थोडे वत्स को वत्सतर कहते थे। युवा बैल को उक्ष और उससे बडे अधेड उम्र के बैल को उक्षतर कहते थे। सशक्त बैल को ऋषभ कहते थे, किन्तु जब वह दुर्बल हो जाता था, तब उसे ऋषभतर कहते थे।[५] जो बछडा आगे चलकर श्रेष्ठ बैल बननेवाला होता था, उसे आर्षभ्य कहते थे।[६] वत्स पहले दम्य और फिर बलीवर्द बनता है।[७] दम्य अवस्था को प्राप्त होने पर वत्स जुए मे जोता जाता था। धीरे-धीरे उसे गाडी और हल खीचने मे प्रशिक्षित किया जाता था। साधारण बैल केवल गाडी के काम आते थे। अच्छे बैल वे माने जाते थे, जो गाडी और हल दोनो मे काम आयें।[८] बैल रथ भी खीचते थे।[९] प्रदेशो मे होने-वाली विशेष नस्लो के आधार पर बैलो की योग्यता और मूल्य निर्धारित किये जाते थे। कच्छ, रकु और साल्व के बैल विशेष प्रसिद्ध जान पडते है। काशिकाकार ने उनका पृथक् उल्लेख किया है।[१०] इन प्रदेशो के बैल प्राय क्रमश काच्छ, राकव या राकवायण और साल्वक कहे जाते थे। बडी जाति के बैल की सज्ञा महोक्ष थी और वृद्ध की वृद्धोक्ष।[११] वृषभ और अनड्वान् युवा वत्स के अन्य नाम थे। जो दो बैल एक साथ गाडी मे या हल मे जोते जाते है, उन्हे सम्बद्ध कहते

---

१. गोः सक्थनि कर्णे वा कृतं लिङ्ग गोरेव विशेषक भवति न तु गोमण्डलस्य।—१-३-६२ पृ० ८१।

२. ६-२-४२, पृ० २५९।

३. ४-२-६०, पृ० १८७।

४. ६-२-४, का०।

५. ५-३-९१, पृ० ४७६ तथा ५-३-९१ का०।

६. ५-१-१३, पृ० ३०५ तथा ५-१-१४।

७. १-१-१ पृ०, १०५।

८. गौरय शकट वहति। गोतरोऽयं यः शकटं वहति सीरं च।—५-३-५५, पृ० ४४५

९. २-२-२४, पृ० ३३६।

१०. ४-२-१०० तथा ४-२-१३४ तथा ४-२-१३६।

११. ५-४-७८, पृ० ५०४।

थे।[१] सम्वद्ध वैलो को 'सघुष्टक' भी कहते थे। सघुष्टको मे परस्पर वडा प्रेम होता है। वे एक दूसरो को देखकर रँभाते है और स्नेह-प्रदर्शनार्थ शब्द करते हैं, इस वात की ओर भी भाष्यकार की दृष्टि गई थी।[२] गोयुक्त जुते वैलो की जोडी, अर्थात् युग्म को कहते थे।

वडे होने पर वैल वाँधकर रखे जाते थे। मारक या चचल वैलो को प्राय वधिया कर दिया जाता था।[३] वधिया वैल वध्रिका कहे जाते थे,[४] शेष वलीवर्द।[५] यह वात ग्राम्य वैलो पर ही लागू होती थी। आरण्य वैलो को पकडना सम्भव नही था। साँड भी नही पकडे जा सकते थे। उनका वधिया वनाना कैसे होता? फिर सवारी या विक्री की तो वात ही नही उठती।[६] उद्दण्ड वैल तीन-तीन रस्सियो से वाँधे जाते थे और जोर से दहाडते थे।[७] एक रस्सी उनके गले मे और दो दाई वाई ओर नाथ मे वाँधी जाती थी। नये-नये उक्षा यौवन मद मे उच्छृखल हो जाते है और रस्सी तुडाकर इधर-उधर भागते फिरते है। जोतने पर गाडी इधर-उधर ले जाते है। ऐसे वैलो के गले मे एक लम्वी भारी लकडी वाँधी जाती थी, जो दौडते समय उनकी टाँगो मे लगती थी। यह लकडी प्रासग कहलाती थी और इसे सयुक्त वैल प्रासग्य।[८]

वैलो के वडे-वडे सीगो को विश्टकट भी कहते थे और ऐसे सीगोवाले वैल की भी विशाल या विश्टकट सज्ञा थी।[९] आनन्द मे मग्न वैल की दहाड को अपस्किरण कहते थे।[१०] जाड़े के दिनो मे ठण्ड से वचाने के लिए उनपर झूले या मोटे प्रवारक डाले जाते थे। जिन वैलो पर झूले नही पडती थी, वे मारे ठण्ड के ठिठुरकर दुवले हो जाते थे।[११] भाष्यकार का यह कथन विशेष ठण्डे प्रदेश यथा पश्चिमी उत्तरप्रदेश या पजाव के विषय मे अधिक लागू होता है।

गोपालक—वैल भी गायो के समान एक साथ चरने जाते थे। गाँव का ग्वाला एक साथ सारे वैलो को चराने ले जाता था। वैल एक साथ ही एक डण्डे से हाँके जाते थे। भाष्यकार ने अधिकारसूत्र की उपमा एक-दण्ड-प्रघट्टित गोयूथ से दी है।[१२] अरण्य मे ग्वाले एक जगह वैठे

---

१. सम्वद्धाविमौ दम्यावित्युच्येते यान्यन्योन्यं न जिहीतः।—२-१-१, पृ० २४३।

२. यान्येतानि गोयुक्तकानि संघुष्टकानि भवन्ति तान्यन्योन्यं पश्यन्ति शब्दं कुर्वन्ति।—१-१-५०, पृ० ३०९।

३. १-२-७२, पृ० ६०९।

४. १-२-५२, पृ० ५५५।

५. १-२-७२, पृ० ६०९।

६. १-२-७३, पृ० ६०९।

७. आ० १, पृ० ६।

८. ६-१-१६१, पृ० २०४।

९. ५-२-२८, पृ० ३७४।

१०. ६-१-१४२, पृ० १९०।

११. गौरिवाकृतनीशारः प्रायेण शिशिरे कृशः।—३-३-२१, पृ० ३०२।

१२. गोर्यूथवदधिकाराः। तद्यथा गोयूथमेकदण्डप्रघट्टित सर्वं समं घोषं गच्छति।—४-२-७०, पृ० १९४।

गपशप किया करते थे और पशु स्वतन्त्र चरा करते थे। गाय, बैल और बकरियाँ एक साथ चरा करती थी।[1] सहसा किसी ग्वाले का ध्यान पशुओ की ओर जाता, तो साथियो से पूछ बैठता, कोई बैलो की भी रखवाली कर रहा है या नही।[2] खोई गायो को ढूँढनेवाली क्रिया अनुपदी कहलाती थी।[3] गाय-बैल स्वतन्त्र वातावरण मे पूँछें उठाकर खेलते या भागते थे।[4] कुछ लोग जलाने के लिए और कुछ खाद के लिए जगल से गोबर बीन लाते थे। जगल मे गोबर (गोमय) पटा पडा रहता होगा।[5] गोबर जलाये जाने की चर्चा भाष्य मे है।[6] आर्द्र और शुष्क गोमय की पृथक्-पृथक् चर्चा होने से गोबर के उपले बनाये जाने का भी सकेत मिलता है।[7]

बैलो के विशेषण—बैल रथ खीचने, जुए मे जुतने आदि के काम आते थे, इसका उल्लेख ऊपर हुआ है। कभी-कभी दो रथ एक दूसरे मे जोड दिये जाते होंगे और बैलो की एक ही जोडी उसे खीच लेती होगी। भाष्यकार ने ऐसे बैल को, जो दो रथ ढो रहा हो, द्विरथ्य कहा है ? जो बैल दो रथो को एक साथ खीचने की शक्ति रखता था या खीचा करता था, उसे द्विरथ कहते थे।[8] भाष्यकार रथ, युग (जुआ) और प्रासग का वहन करनेवाले बैल के लिए क्रमश रथ्य, युग्य और प्रासग्य शब्दो की निष्पत्ति करने के बाद कहा है कि ढोने या खीचने के अर्थ मे रथ, शकट, हल और सीर से प्रत्यय करने के लिए अलग सूत्रोल्लेख की आवश्यकता नही, क्योंकि 'तस्येदम्' से ही काम चल जायगा। फिर इसका उत्तर देते हुए कहा है कि शब्दो मे अन्तर है, इसलिए पृथक् प्रत्यय-विधान की आवश्यकता हुई, क्योकि 'रथ खीचता है' और 'रथ को खीचनेवाला' दोनो एक ही बात नही है। जो दो रथ खीचता है, उसे द्विरथ्य कहते हैं और जो दो रथ खीचने के योग्य होता है, वह द्विरथ कहलाता है। शक्ति और कार्य के अनुसार बैलो के लिए पृथक्-पृथक् विशेषणो का व्यवहार होता था। जैसे धुर्य[9], धौरेय, सर्वधुरीण, एकधुरीण या एकधुर, शाकट, हालिक, सैरिक, रथ्य, युग्य, द्विरथ्य, द्विरथ आदि। ये नाम जोडी के साथ या अकेले जुतनेवाले, गाडी, हल, रथ आदि मे चलनेवाले, युग (जुए) मे जोते जानेवाले दो रथो के खीचनेवाले आदि बैलो के लिए प्रयुक्त होते थे।

लाल बैल को लोहित, काले को कृष्ण और सफेद बैल को श्वेत कहते थे। बिना बैल शब्द का प्रयोग किये केवल 'लोहितो धावति, कृष्णो धावति' का अर्थ भी क्रमश 'लाल बैल दौडता है,

---

१ १-२-७२, पृ० ६७८।

२. १-२-५८, पृ० ५५९

३. ५-२-९०।

४. १-३-६७ पृ० ८६।

५. ८-४-३८, पृ० ४९४।

६. ४-३-१५५, पृ० २६६।

७ ४-२-१२९, पृ० २१६

८. अन्यो हि शब्दो रथ वहत्यन्यो रथस्य वोढेति। द्वौ रथौ वहति स द्विरथ्यः। यो द्वयो रथयोर्वोढा स द्विरथ.।—४-४-६, पृ० २८४।

९. ४-४-७७ से ८१ तक तथा वही काशिका।

काला वैल दौडता है, यही होता था। भाष्यकार ने कहा है कि शब्द सर्वत्र नियत-विषय देखे जाते है। बैल लाल हो और घोडा भी, तो बैल को लोहित कहते है और घोडे को शोण। इसी प्रकार काले और सफेद बैल को क्रमश कृष्ण और श्वेत कहते है, किन्तु घोडे को हेम और कर्क।[1] कृष्ण वृषभ का उल्लेख भी भाष्य मे मिलता है।[2]

रथ और हल मे चलते बैल मार्ग के पास खडी फसल मे मुँह मार देते ही है।[3] यह बात भी भाष्यकार की दृष्टि से छुपी न थी। बैलो को हाँकनेवाले या उन्हे बैठाने, उठाने, अर्थात् उनकी परिचर्या करनेवालो को क्रमश. गोसारथि और गोसाद या गोसादि कहते थे।[4]

अश्व—गो और वृप के वाद सर्वाधिक उपयोगी पशु अश्व था। वह सवारी के काम तो आता ही था, रथ भी खीचता था। अश्व और वृप दोनो रथ मे जोते जाते थे। रथ मे कई घोडे एक साथ जुतते थे, इसलिए साधारण घोडे की अपेक्षा उसकी गति तीव्र होती थी। साधारण अश्व दिन मे चार योजन चलता[5] था और अच्छी नस्ल का अश्व आठ योजन। पदाति की अपेक्षा आश्विक कम समय मे मार्ग तय कर लेता था[6] और आश्विक की अपेक्षा रथिक। जितना मार्ग सामान्य अश्व एक दिन मे चल लेता था, उसे आश्वीन अध्वा कहते थे।[7] सामान्य अश्व चार योजन और अच्छा घोडा आठ योजन प्रतिदिन चलता था। घोड़े के सवार को अश्ववार या अश्वपाल कहते थे।[8] अश्वो से युक्त (जुता हुआ) रथ अश्व-रथ कहलाता था।[9] अश्व युद्ध मे भी काम आते थे।[10] शिक्षित अश्व हाथी को पराजित कर सकते थे। अश्वरथ तो सग्राम का अनिवार्य अंग था। बैलो द्वारा चलाया जानेवाला रथ गो-रथ कहलाता था। इसी प्रकार उष्ट्ररथ और गर्दभरथ भी होते थे।[11] अश्व का सवार अश्वारोह[12] और साईस अश्ववार[13] या अश्ववाल कहलाता था और रथ के सवार को रथिक कहते थे[14]। अश्वशाला को 'मन्दुरा' कहते थे।[15]

१. २-२-२९, पृ० ३८४।
२. १-१-४, पृ० १३७।
३. ६-१-४७, पृ० २९१।
४. १.२-४१ काशिका।
५. अश्वोऽय यश्चत्वारि योजनानि गच्छति। अश्वतरोऽयं योऽष्टौ योजनानि गच्छति।—५-३-५-५५, पृ० ४४६।
६. १-१-७०, पृ० ४४५।
७. ५-२-१९।
८. ८-२-१८, पृ० ३४२।
९. २-१-३४, पृ० २८७।
१०. १-१-७२, पृ० ४४७।
११. ४-३-१२०, पृ० २५१।
१२. १-३-२५, पृ० ६४।
१३. ८२-१८, पृ० ३४२।
१४. १-३-२५, पृ० ६४।
१५. १-१-३, पृ० १०९।

घोडी को 'वडवा' कहते थे।[१] उसके लिए हयी शब्द भी प्रचलित था।[२] घोडे बैल या गाय के ठीक विपरीत पिता के रूपगुणानुसारी होते है।[३] वे चचल होते ही हैं। सरलता से उन पर बैठी सवारी गिर सकती है; क्योकि वे छोटी-छोटी बात से चौक उठते है।[४] बँधी घोडियाँ रस्सी तुडाकर भाग खडी होती हैं।[५] वडवा नीले रग की भी पाई जाती थी।[६] वडवा जिससे गाभिन होती थी, वह (वडवा का पुसहचर) वाडवेय कहा जाता था।[७] वृष शब्द प्राय सभी पशुओ के 'नर' के लिए रूढ हो गया था। लाल अश्व को शोण, काले अश्व को हेम और सफेद घोडे को कर्क कहते थे। भाषा मे अश्व पर आश्रित एक प्रयोग ही चल पडता था—'नष्टाश्वदग्धरथवत्', अर्थात् मेरे घोडे खो गये और तुम्हारा रथ टूट गया। मेरा रथ और तुम्हारे अश्व मिलाकर काम चल सकता है।[८] गर्भ धारण की इच्छा से जब घोडी घोडे के लिए हीसती थी, तब 'अश्वस्यति वडवा' प्रयोग होता था। कामेच्छा के अतिरिक्त यों ही साहचर्य के लिए इच्छा करने पर 'अश्वीयति' प्रयोग होता था।[९]

सिन्धु-प्रदेश के घोडे प्रसिद्ध थे। इसलिए घोडे का सामान्य नाम ही सैन्धव हो गया था।[१०] शरारती घोडो के अण्डकोष कुटवाकर उन्हे भी बैलो के समान बधिया कर दिया जाता था। ऐसे घोडे वध्री अश्व कहलाते थे।[११] अश्व को किशोर भी कहते थे।[१२]

अश्वतर—घोडी (वडवा) और गर्दभ के सयोग से अश्वतर या अश्वतरी की उत्पत्ति होती है। अश्वतर भार ढोने के काम आते है।[१३] अश्वतर का उल्लेख अथर्व मे और उसके बाद खूब है। वे शकट खीचते थे।[१४]

गज—राजा तथा अन्य धनी-मानी लोग गज पालते थे। गज तो द्विप भी कहलाते थे,[१५] क्योकि वह मुख तथा सूँड दो-दो स्थानो से पी सकता है। गज के अन्य नामो मे 'स्तम्बेरम' भी[१६]

---

१. २-४-१२, पृ० ४६८।
२. ४-१-६३, पृ० ७४।
३. पैतृकमश्वा अनुहरन्ते।—१-३-२१, पृ० ६२।
४. १-४-२४, पृ० १६१।
५. ४-१-२७, पृ० ४७।
६. ४-१-४२, पृ० ५५।
७. ४-१-१२०, पृ० १४२।
८. १-१-५०, पृ० ३१३।
९. ७१-५१, पृ० ४९।
१०. १-१-४ २७४।
११. ६-२-९१, पृ० २७५।
१२. ५-३-९१, पृ० ४७६।
१३. १-२-६५, पृ० ५९८।
१४. वैदिक इण्डेक्स, १-४३।
१५. ३-२-४, पृ० २०९।
१६. ३-२-१३, पृ० २११।

एक था; क्योकि हाथी स्तम्ब (वृक्ष-गुल्म) मे रमण का प्रेमी होता है। स्तम्ब खूंटे या खम्भों को भी कहते थे, जिसमे हाथी का पाँव जजीर से बाँधा जाता था। हाथी का एक नाम मिलगम[1] था; क्योंकि उसकी चाल बड़ी नियमित और मन्थर होती है। गजो का समूह गजता[2] और हस्तियो का समूह हास्तिक कहलाता था।[3] हाथी पालतू होते थे और जगली भी। जगली हाथी को आरण्य गज कहते थे।[4] हिमालय की तलहटी हाथियो के लिए प्रसिद्ध थी। इसी उपत्यका से पालने के लिए हाथी पकडकर लाये जाते थे।[5] हस्तिपक उन्हे प्रशिक्षण देकर चलना सिखलाते थे।[6] सवारी के लिए हाथी बैठ जाता और आरोहक उसपर चढ लेते थे। युद्ध का तो वह अनिवार्य अग था ही। एक स्थान पर भाष्यकार ने कहा है कि हाथी और मशक का सन्निकर्ष समान है, यद्यपि हाथी मे प्राणित्व की मात्रा विशेष है।[7] हाथी-दाँत सदा से ही लोगों के आकर्षण के विषय रहे है। दाँतो के लिए लोग हाथी का वध करते थे।[8]

हाथी को जो कुछ उडद आदि अन्न खाने को दिया जाता था, उसे हस्तिविधा कहते थे।[9] ऊँचाई या गहराई नापने (उन्मान) के लिए हस्ती प्रतिमान था। हाथी-बराबर गहराई की वस्तु हस्तिद्वयस या हस्तिमात्र कही जाती थी।[10] हाथी जब कभी स्तम्ब से खुल जाता, तब नगर मे हाहाकार मचा देता था। लोगो को खूंदता-कुचलता सडको पर घूमता था, जैसा कि मालती-माधव मे वर्णित हुआ है।[11]

उष्ट्र—उष्ट्र माल ढोने और सवारी के काम आता था। वह गाडी मे भी जोता जाता था।[5] रथ खीचता था। ऊँट बाँधने का स्थान उष्ट्रगोष्ठ कहा जाता था।[12] पतजलि ने कहा है कि उपमान या सादृश्य के कारण कभी-कभी वस्तुओ का कोई नाम प्रचलित हो जाता है। मूलत गो बाँधने के स्थान को गोष्ठ कहते थे। बाद मे किसी भी पशु के रहने का स्थान गोष्ठ कहलाने लगा। इसी प्रकार, दो बैलो की जोडी को गोयुग कहते थे। बाद मे उपचारात् ऊँटो की जोडी भी उष्ट्र-गोयुग कही जाने लगी। ऊँटो का समूह उष्ट्रकट कहा जाता था।[13]

---

१. ३-२-३८, पृ० २१६।
२. ४-२-२३।
३. ४-१-१, पृ० १०।
४. ४-२-१२९, पृ० २१६।
५. ५-२-९४, पृ० ४०८।
६. १-३-६७, पृ० १५।
७. हस्तिमशकयोस्तुल्यः सन्निकर्षः प्राणिभूयस्त्व तु।—१-४-१०९, पृ० २१८।
८. २-३-३६, पृ० ४३१।
९. २-१-३६ पृ० २८९।
१०. ४-१-१, पृ० १०।
११. नगरघातो हस्ती।—३-२-५३, पृ० २१९।
१२. ४-३-१२०, पृ० २५१।
१३. ५-२-२९, पृ० ३७५।

बैलो के समान ऊँटो को भी नमक दिया जाता था। नमक की इच्छा होने पर बैलो के समान ऊँट भी मिट्टी चाटने लगता है। ऊँट की इस कामना के लिए सस्कृत मे एक विशिष्ट क्रियापद 'लवणस्यति' का प्रयोग होता है।[१] उष्ट्र-सर, उष्ट्र-गर्दभ, उष्ट्र-करभ और 'नाश्वो न गर्दभ' आदि प्रयोगो मे उष्ट्र और गर्दभ का बार-बार साथ-साथ उल्लेख होने से अनुमान होता है कि इन दोनो पशुओ का उपयोग-साम्य या साहचर्य था। ऊँट के चालक को उष्ट्रप्रणाय कहते थे।[२] ऊँट के अग उपमानो का काम देते रहे हैं। ऊँट के समान लम्बी गरदनवाले उष्ट्रग्रीव और उष्ट्र जैसे मुखवाले उष्ट्रमुख कहे जाते थे।[३] इसी प्रकार, खरमुख भी होते थे।[४] ऊँटो का बैठना भी आसन का एक प्रकार था।[५] बैठने की यह मुद्रा उष्ट्रासिका कहलाती थी।[६] सम्भवत, सादृश्य के कारण ही ऊँची गरदनवाली घटी (माप) उष्ट्रिका कही जाती थी।[७] व्याघ्र के समान ऊँट की खाल भी उपयोग मे आती थी।[८] कहा नही जा सकता कि किस प्रकार इसका उपयोग होता था। ऊँट को करभ भी कहते थे। उसे शृखला मे बाँधकर रखा जाता था।[९] वास्तव मे यह शृखलावती रस्सी ही होती थी, जो नकेल के रूप मे उसे पहनाई जाती है। ऊँट के सवार या सईस को उष्ट्रसादि कहते थे।[१०] उष्ट्र या तो मरु-प्रदेश मे मिलते थे या बहुत पहले ही बाहर से भारत मे लाये गये थे। वैदिक काल तक मे हम उन्हे बोझ ढोते और शकट खीचते पाते है।[११]

गर्दभ—उष्ट्र के समान खर भी भार-वहन एव शकट-वहन के लिए पाला जाता था। उसका उल्लेख प्राय उष्ट्र के साथ हुआ है। ४-३-१२० सूत्र के भाष्य मे गदर्भ द्वारा खीचे जानेवाले शकट को गदर्भ नाम दिया है। रथ को भी गार्दभ कहा है। इससे अनुमान होता है कि खच्चर या गर्दभ रथ मे भी जोते जाते थे। ऊँचे स्वर से चिल्लाने के कारण इसे (ख=छिद्र+र=वाला) खर कहने लगे थे। गर्दभ मुख्य रूप से भार ढोने के काम आते थे।[१२] खर पालने की प्रथा के आधिक्य का पता गोस्थान, गोशाल और अश्वस्थान के समान (४-३-३५) सूत्र मे खरशाल के उल्लेख से चलता है। गाँवो मे प्रत्येक प्रकार के पशुओ के बाँधने के लिए शालाएँ रहती थी, जिसका अपभ्रश रूप 'सार' आज भी प्रचलित है। घुडसार का 'सार' भी इसी शाला का अपभ्रश है। गधे पर सवारी

---

१. ७-१५१, पृ० ४९ ।
२. ३-२-१, पृ० २०१ ।
३. १-१६३, पृ० ४०७।
४. १-१-७०, पृ० ४४२।
५. ३-१-६७, ,० १२६ ।
६. वही।
७. ४-१-३, पृ० २२ ।
८. ४-३-६०, पृ० २३८।
९. ५-२-७९, पृ० २९९।
१०. ६-२-४०।
११. अथर्व० २०, १२७-१३२ ।
१२. ८-३-३३, पृ० ३५४ ।

भी की जाती थी।[१] गधो की जोडी को खरगोयुग कहते थे।[२] एक स्थान पर भाष्य मे गर्दभ के कापाय रग के कानो का उल्लेख मिलता है।[३] भूरे रग के गधों की स्वतन्त्र नस्ल की चर्चा एक स्थान पर है। खर आरण्यक भी होते थे।[४] यह तो निर्विवाद है कि खर आज के समान अस्पृश्य नही था। गर्दभ के दो पाँवो के कापाय (गेरुआ) रग का उल्लेख भी मिलता है।

महिष—महिष और महिषी पतजलि-युग मे विशेप लोकप्रिय नही थे। सारे देश मे उन्हे पालने की प्रथा नही जान पडती। वे प्राय अरण्यो मे रहते थे। आज भी भारत के किसी भाग मे उनका उपयोग होता है और किसी मे नही। तरुण भैसो को, जिनके सीग निकल रहे हो, कटाह कहते थे।[५]

अजा और अवि—अजा को कृषक लोग धन मानते थे।[६] भाष्यकार ने कहा है कि देवदत्त के पास अजा और अवि-धन है। यह नही कह सकते कि किसके पास अजा-धन है और किसके पास अवि-धन। इन दोनो को धन मे गिनने का कारण भी था। प्रारम्भ मे अधिकाश भारतीय किसान भेड-वकरियाँ पालते थे। वैदिक काल मे ये सम्पत्ति मानी जाती थी, इसलिए इनके पालन पर भी विशेष ध्यान दिया जाता था। गान्धार और परुष्णी की ऊनवाली भेडो का उल्लेख ऋग्वेद मे वार-वार मिलता है। वाद मे हिमालय-प्रदेश ऊर्णा का प्रमुख स्रोत बन गया। भेड़ो और वकरियो का प्रमुख उपयोग ऊन और मास प्राप्त करना ही था।

गो के वाद सर्वसाधारण के सर्वाधिक उपयोग का प्राणी अजा थी। हाथी, अश्व आदि को सव लोग नही पाल पाते थे। अजा दूध देती थी। वर्ष मे वहुत सारे वच्चे देती थी। वकरे का मास खाया जाता था। उसके चमडे मशक आदि के काम आते थे। इसीलिए, अज और अवि को धन कहा है। अवि का ऊन और मास दोनो काम मे आते थे। जिस खेत मे वे रात-भर बैठ जाती, वह खाद पाने के कारण अधिक उपजाऊ हो जाता था। यज्ञो मे भी वकरे की वलि दी जाती थी।[७] गो और अज दोनो यज्ञ मे वलि किये जाते थे।[८] अज को वर्कर भी कहते थे।[९] अज अनेक शफवाला प्राणी है।[१०] इस प्रकार, भाष्यकार ने प्राणियो के द्विशफ और, अनेकशफ ये वर्ग भी वतलाये है। अज छोटा पशु है। उसे आते-जाते लोग अपने साथ एक गाँव

---

१. ६-२-५० ।

२. ५-२-२९, पृ० ३७६।

३. काषायौ गर्दभस्य कर्णौ ।—४-२-२, पृ० १६६ ।

४. २-१-६९ पृ० ३२३।

५. १-१-२२, पृ० २०६ तथा ४-२-८७, पृ० १९६ ।

६. अजाविधनौ देवदत्तयज्ञदत्तौ न ज्ञायते कस्याजाधनं कस्याविधनं इति —१-१-४६, पृ० २८० ।

७. गौरनुवध्योऽजोग्निषोमीयः।—४-१-९२, पृ० ११५ ।

८. वही।

९. १-२-६५, पृ० ५९८।

१०. १-२-७३, पृ० ६०९।

से दूसरे गाँव ले जाया करते थे।[१] अज-वलि की चर्चा तो अनेक स्थानो पर है। एक स्थल पर इन्द्र और अग्नि को छाग की हवि देने का उल्लेख है।[२] अज और मेढे का साथ उल्लेख भी मिलता है।[३] महात्र वडे वकरे का वाचक था और उरभ्र मेढे का। भाष्यकार ने अलोमिका एडका का उल्लेख किया है।[४] ऊन काट लेने के वाद भेड अलोमिका हो जाती है। ऊन काटनेवाले व्यक्ति को अविलवन कहते थे।[५] ऋग्वेद मे अवि का वार-वार उल्लेख है। वाद मे उसका उल्लेख अज के साथ समस्त पद मे प्राय मिलता है। वृक इनका सवसे वडा शत्रु था। सोमरस छानने की चालनी भेड की ऊन की वनी थी। गान्धार की भेड ऊन के लिए प्रसिद्ध थी। डॉ० पिशल के मत से परुष्णी (रावी या इरावती) नाम ही परुष् से वनी होने के कारण पडा था[६]।

अवि का मास भी वकरे के समान खाया जाता था। अवि के मास को आविक कहते थे। आविक शव्द की व्युत्पत्ति आविक शव्द से मानी है।[७] अज ऊँची-नीची किसी भी जगह पर जा सकता है। इसलिए, मानव-दुर्गम सँकरे मार्ग को अजपथ कहते थे[८]। कुछ लोग भेड-वकरी खरीदने-वेचने का व्यवसाय करते थे और उसी से गुजारा करते थे।[९] तौल्वलि इसी प्रकार के व्यवसायी, थे इसलिए उनका नाम ही अजा-तौल्वलि पड गया था।

भाष्यकार ने 'अजाकृपाणीय' शव्द का उल्लेख किया है[१०], जो अजा और कृपाण-सम्वन्धी किसी कहानी की ओर सकेत करता है। वकरे के चर्म का उपयोग अनेक प्रकार से होता था।[११] भेड का दूध भी व्यवहार मे आता था। भेड के दूध को अविसोढ, अविदूस या अविमरीस कहते थे।[१२] भेडे जव एक दूसरी से सटी हुई सहस्रो की सख्या मे खेत मे वैठ जाती थी तव ऐसा लगता था, जैसे खेत मे श्वेत वस्त्र विछा हुआ हो। इसीलिए भेडो के इस प्रकार वैठने को अविपट और भेडो के समूह को अविकट कहते थे।[१३] भेडो के वैठने या

---

१. १-४-५१, पृ० १७९।

२. इन्द्राग्निभ्यां छागं हविर्वपां भेदः प्रस्थित प्रेष्य।—२-३-६१, पृ० ४४८।

३. २-४-१२, पृ० ४६७।

४. २-३-५०, पृ० ४४२।

५. ३-३-१२६।

६. वैं० इण्डे० १-४१।

७. अवेर्मांसमिति विगृह्याविकशव्दाद्युत्पत्तिर्भविष्यत्याविकमिति।—४-१-८८, पृ० १०२।

८. ३-१-१४, पृ० ५४।

९. २-१-६९, पृ० ३३०।

१०. २-१-३, पृ० २६७।

११. १-१-१ पृ० ९४।

१२. ४-२-३६, पृ० १७७।

१३. यथा नानाद्रव्याणां संघातः कट एवमवयः संहता अविकट.। यथा पटः प्रस्तीर्ण एवमवयः प्रस्तीर्णा अविपटः।—५-२-२९, पृ० ३७६।

रहने का स्थान अविगोष्ठ कहलाता था।[1] अजा के लिए हितकर वस्तु को अजथ्या कहते थे।[2]

रोमन्थ—ये सब पशु रोमन्थकारी है। एक साथ भोजन निगलकर बाद मे धीरे-धीरे उसे चवाने की क्रिया रोमन्थ कहलाती है। भाष्यकार ने ३-१-१५ सूत्र के भाष्य मे रोमन्थ की व्याख्या की है। उद्गीर्ण या अवगीर्ण का मन्थ करना रोमन्थ कहलाता है; किन्तु उसमे हनु भी चलना चाहिए। पशु के लिए 'रोमन्थायते' ऐसा प्रयोग होता है, किन्तु कीट के लिए नही। कीट के लिए 'रोमन्थ वर्त्तयति' ऐसा ही प्रयोग इष्ट है। यदि अवगीर्ण (अपानमार्ग से बाहर निकला हुआ पदार्थ) का मन्थ भी रोमन्थ माना जाता है, तो कीट की अवगीर्ण-मन्थक्रिया भी रोमन्थ मानी जायगी और उसके लिए भी 'रोमन्थायते' प्रयोग होने लगेगा। 'हनु चलने' कह देने पर कीट की मन्थ-क्रिया रोमन्थ मे नही आती, क्योकि उसमे हनु चलन नही होता।[3] काशिका मे पश्वग के लिए अष्टम शब्द का प्रयोग किया गया है। 'मानपश्वर्जयो कन्लुकौ च' (५-३-५१) की व्याख्या मे 'अष्टमः पश्वङ्गसमो भाग' कहा है।

श्वा—कुत्ता मानव का बडा पुराना मित्र है। कुट्-कुट् करने के कारण इसे कुर्कुर भी कहते थे।[4] ऊँची नस्ल के कुत्ते को कौलेयक कहते थे।[5] वह खेतो मे फसल की रक्षा करता था। इक्षु के खेतो को शृगाल के खाने से बचाता था; क्योकि कुत्ते और शृगाल का शाश्वतिक विरोध है।[6] भाष्यकार कुत्ते की प्रकृति से परिचित थे। उन्होने कहा है कि जब कुत्ता आश्रय-स्थान की तलाश मे होता है, तब वह कूँ-कूँ करता है।[7] वे इस बात से भी अवगत थे कि श्वा और वराह की शत्रुता जन्मजात होती है। इस शत्रुता को श्वावराहिका कहते थे।[8] कुत्तो के रहने के लिए भी कुछ घरो मे पृथक् दरवे बना दिये जाते थे, यह सकेत गोष्ठश्व से प्राप्त होता है।[9] ये श्वगोष्ठ वे लोग बनवाते थे, जो व्यवसाय के रूप मे कुत्ते पालने का काम करते थे। ये लोग श्वागणिक कहलाते थे।[10] श्वागणिक लोग निश्चित धन लेकर उपयोग के लिए कुत्ते देते थे। मृगया के लिए आखेटक लोग श्वागणिको को साथ ले जाते थे। राजाओं के अपने निजी श्वागणिक होते थे। पागल या अवाञ्छित कुत्ते मरवा दिये जाते थे।[11] कुत्ता तडप-तडपकर बडी बेचैनी से मरता है, इसलिए श्वघात या 'कुत्ते

---

१. ५-२-२९, पृ० ३७५।
२. ६-३-३५, पृ० ३२२।।
३. उद्गीर्णस्य वावगीर्णस्य मन्थो, रोमन्थः। यद्येवं हनुचलन इति वक्तव्यमिहमाभूत् कीटो रोमन्थं वर्त्तयति।—३-१-१५, पृ० ५५।
४. ८-२-१ पृ० ३१२ तथा ८-२-७८, पृ० ३८०।
५. ४-२-९६, पृ० २०२।
६. २-४-१२, पृ० ४६७।
७. १-३-२१, पृ० ६२ तथा ६-१-४२, पृ० १९०।
८. ४-२-१०४. पृ० २१०।
९. ४-२-७७, पृ० ५०४।
१०. ७-३-८, पृ० १७७।
११. ३-१-१०८, पृ० १८५।

की मौत' एक मुहावरा भी वन गया था। मरने के वाद कुत्ते सडक पर घसीटते हुए लाये जाते थे। यह उपेक्षा और अपमान की भावना भी 'कुत्ते की मौत' मे सन्निविष्ट है। भाष्यकार ने वृषल को श्वघात्य कहा है।[१] कुत्ते अपराधियो के वध करने के काम मे भी लाये जाते थे। कभी-कभी नगर या गाँव की किसी गली मे बहुत-से कुत्ते एकत्र होकर भूँकते[२] थे, जिससे वहाँ से निकलना कठिन हो जाता था। कुछ लोग कुत्ते का मास भी खाते थे।[३] ये लोग निम्नतम श्रेणी के थे। कुत्ते को लोग प्यार से रखते थे, पुचकारते थे। एक स्थान पर 'कुत्ते को चाटनेवाला थूक रहा है'[४] ऐसा उल्लेख है। कुत्ते जव मरने को होते है, तव एकान्त मे जाकर पड जाते हैं। उनकी आँखें सूजी और ऊपर चढी हो जाती हैं।[५] श्वा को लेकर व्याकरण मे एक न्याय भी चल पडा था कि जैसे पूँछ काट लेने पर भी कुत्ता अश्व या गधा नही वन जाता, अपितु कुत्ता ही रहता है, वैसे ही एक भाग के नष्ट हो जाने पर भी पदार्थ वही रहता है, दूसरा नही वन जाता।[६] कुत्तो को मारने या घायल करनेवाली सेही को श्वावित् कहते थे और उसके मास आदि को शौवाविध।[७] भाष्यकार ने श्व-भस्त्रिका का उल्लेख किया है। सम्भवत, यह लुहार की धौकनी रही होगी, जो चमडे की बनती थी।[८]

मार्जार—मार्जार ग्राम्य प्राणी है। जो पाला भी जाता था और अपालित भी बस्ती मे रहता था। भाष्यकार ने इसका मुख्यकार्य चूहे मारना बतलाया है।[९] मोटा विडाल स्थूलौतु कहलाता था।[१०] विडाल काले और धव्वेदार भी होते है। इन्हे क्रमश कालक और पुष्पक कहते थे।[११]

कुक्कुट—कुक्कुट पालने की प्रथा भी बडी प्राचीन है। पाणिनि मे स्वरो मे ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत की पहचान के लिए कुक्कुट के स्वर का ही आश्रय लिया गया है।[१२] मुर्गे का मास भी खाया जाता था, यद्यपि ग्राम्य कुक्कुट अभक्ष्य था।[१३] कुक्कुट के अण्डो का वार-वार उल्लेख होने से अनुमान होता है कि कुक्कुट के अण्डे खाये जाते होंगे।[१४] मुर्गा भूख लगने पर कुट्-कुट् करता है,

---

१. ३-१-१०७, पृ० १८४।
२. ४-१-१३, पृ० ३४।
३. ३-१-१३४, पृ० १९७।
४. ६-१-६४, पृ० ८८।
५. श्वानः खल्वपि मुमूर्षव एकान्तशीलाः शूनाक्षाश्च भवन्ति।—३-१-७ पृ०२९।
६. श्वा कर्णे वा पुच्छे वा छिन्ने श्वैव भवति नाश्वो न गर्दभः।—१-१-५६, पृ० ३३९।
७. ४-३-१५६, पृ० २७०।
८. ७-३-८, वा० ३।
९. ३-२-८४, पृ० २३४।
१०. ६-१-९४, पृ० १५१।
११. ६-१-१५८, पृ० १९५।
१२. १-२-२७।
१३. आ० १, पृ० ११।
१४. ६-३-४२, पृ० ३२७।

इस ओर भी भाष्यकार की दृष्टि गई थी।[१] न जाने कितने सहस्र वर्षो से कुक्कुट प्रातर्जागरण मे लोगो की सहायता करता रहा है। भाष्यकार ने एक चरण उद्धृत किया है—'सुन्दरि, मुर्गे बोलने लगे। सवेरा हो चला।'[२] कुक्कुट के पाँव हारिद्र (पीले) रग के होते है।[३]

शूकर—शूकर पालित भी होते थे और आरण्यक भी। पालित शूकर मास तथा बालों के लिए उपयोग मे आते थे। शूकर के मास मे चर्बी विशेष होती है। ग्राम्य शूकर का मास अभक्ष्य माना जाता था।[४] बाल निकालने के लिए शूकर को बाँध लेते थे, फिर उसका एक-एक बाल खीचकर उखाडते थे।[५]

आरण्य पशु

मृग—आरण्यक पशुओं को हम दो भागो मे बाँट सकते है—तृणान्नभोजी तथा मासभक्षी। अमासभक्षियो मे मृग मुख्य है। भाष्यकार ने उसे वातमज[६], अर्थात् वायु के समान शीघ्रगामी कहा है। मृगो की अनेक जातियाँ थी। ऋष्य भी एक भेद था, जिसकी मादा को रोहित कहते थे।[७] चमड़ी पर दागवाले पशु, जिन मे हिरन भी सम्मिलित है, चर्मतिल कहलाते थे।[८] चर्मतिल मृग की पीठ पर चकत्ते रहते है। काले मृग को कृष्ण सारग कहते थे।[९] और, मृग भी मृग की एक जाति थी।[१०] इसकी पीठ पर सफेद चकत्ते रहते थे। चमरी उस मृग को कहते थे, जिसकी पूँछ का चमर बनाया जाता था। चमर के लिए चमरी का शिकार किया जाता था।[११] इसी प्रकार पुष्कलक गन्धमृग था।[१२] इसकी नाभि मे कस्तूरी मानी जाती थी। कस्तूरी एव अण्डकोप के लिए पुष्कलक का वध किया जाता था। द्वीपी भी मृग का भेद था, जिसका चर्म अति सुन्दर होता था। द्वीपी का आखेट चर्म के लिए किया जाता था।[१३] मृग का मास खाया जाता था। मृगया का विषय होने के कारण ही इसका नाम मृग पडा। रुरु और पृषत् जाति के मृगों का उल्लेख भी भाष्यकार ने किया है।[१४]

---

१. अपस्किरते कुक्कुटो भक्षार्थी।—६-१-१४२, पृ० १९०।
२. वरतनु, सम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः।—१-३-४८, पृ० ६७।
३. हारिद्रौ कुक्कुटस्य पादौ।—४-२-२, पृ० १६६।
४. आ० १, पृ० ११।
५. सिता पाशेन शूकरी।—८-२-४४, पृ० ३६२।
६. ३-२-२८, पृ० २१५।
७. ६-३-३४, पृ० ३१८।
८. ८-२-८, पृ० ३३४।
९. २-१-६९, पृ० ३२०।
१०. २-१-६९, पृ० ३२५।
११. केशेषु चमरीं हन्ति।—२-३-३६, पृ० ४३१।
१२. सीम्नि पुष्कलको हतः।—वही।
१३. चर्मणि द्वीपिनं हन्ति।—२-३-३६, पृ० ४३१।
१४. २-४-१२, पृ० ४६६।

पृषत् धब्बेदार मृग थे। हरित और हरिण जाति की स्त्री हरिणी, रोहित की रोहिणी कही जाती थी।[1] मृगी के दूध से भाष्यकार परिचित जान पडते हैं।[2] मृगी का क्षीर 'मृगक्षीर' कहलाता था। मृगी की जाति का पुमान् मार्गार कहा गया है।[3] मृगतृष्णा शब्द के निर्माण मे मृग ही कारण रहा है। प्यासे मृग बालू मे भागते हुए सूर्य की तेज किरणो को पानी की धारा मान लेते है, यद्यपि वह वहाँ नही होती।[4] भाष्य मे हरिण की एक जाति न्यकु भी बतलाई गई है।[5]

मृग जौ के खेत चर जाते थे। इसलिए, खेतो की रक्षा के लिए कृषको को सदा सजग रहना पडता था। फिर भी, यह नही होता था कि मृगो के डर से जौ ही न बोये जायँ।[6]

गवय—अन्य अमासभोजी वन्य पशुओ मे गवय का उल्लेख भाष्य मे हुआ है। गवय गाय के समान होता है और गाय को देखकर गवय को सरलता से पहचाना जा सकता है।[7]

नीली गाय—नीली गौ गाय के समान ही होती है। यह आरण्य होती है और हिरन के समान भागती है।[8] नीले रग की सामान्य गाय 'नीला गौ' कहलाती थी।

सिंह—मासाहारी वन्य जीवो मे सिंह, शृगाल, वृक, शल्यक आदि प्रमुख हैं। सिंह हिंस् धातु से वर्ण-विपर्यय होकर बना है।[9] व्याघ्र, सिंह आदि से परिपूर्ण वन का उल्लेख भाष्य मे है।[10] सिंह का चर्म अनेक कामो मे आता था। घर की शोभा तो वह था ही, वस्त्ररूप मे भी धारण किया जाता था। व्याघ्र-जैसे पैर होने के कारण ऋग्वेद के एक ऋषि भी व्याघ्रपाद हुए हैं, जिनकी कृति 'वैयाघ्रपद्य' कही जाती है।[11] व्याघ्री का उल्लेख भी एक स्थान पर मिलता है।[12]

शृगाल—शृगाल को क्रोष्टु भी कहते थे। इसका स्त्रीलिंग रूप क्रोष्टी होता है। भाष्य[13] मे शृगाल के 'हुआ-हुआ' करने का उल्लेख है।[14] शृगाल का कुत्ते से सहज बैर होता है।[15] शृगाल

---

१. १-२-६४, पृ० ५७३।

२. ६-३-४२, पृ० ३२७।

३. ४-१-१२०, पृ० १४२।

४. मृगतृष्णावत्। यथा हि मृगास्तृषिता अतः धाराः पश्यन्ति न च ताः सन्ति।—४-१-३, पृ० १७।

५. १-२-७, पृ० ६८।

६. न च मृगाः सन्तीति यथा नोप्यन्ते।—१-१-३९, पृ० २५३।

७. गौरिव गवयः। यस्य गवयो निर्ज्ञातः स्याद्गौरनिर्ज्ञातः तेन कर्त्तव्य स्यात् गवय इह गौरिति।—२-१-५५, पृ० ३०८।

८. ४-१-४२, पृ० ५५।

९. ३-१-१२३, पृ० १९१।

१०. ५-२-११५, पृ० ४१८।

११. १-१-५७, पृ० ३५२।

१२. ४-१-४८, पृ० ६०।

१३. ७-१-९६, पृ० ९२।

१४. १-३-२१, पृ० ६२।

१५. २-४-१२, पृ० ४६७।

को भरुज भी कहते थे।[1] 'शृगालो का कल्याण वन मे ही है।[2] बस्ती मे लोग उन्हे मार डालते है, किन्तु यदि वन मे उचित आहार न मिला, तो वे कृश हो जाते है।

वृक—पतजलि ने वृक का उल्लेख बार-बार किया है।[3] वृक से लोग बहुत डरा करते थे।[4] वृक गाँवो की झाडियो मे रहते थे और भेड-बकरियाँ उठा ले जाते थे। वे प्राय आदमी पर भी चोट करते थे। यह भाष्य मे बिखरे अनेक उदाहरणो से स्पष्ट है। 'तुम्हे पापशील वृक न पकड सकें'[5] यह आशीर्वचन भी इस ओर सकेत करता है। वृक का भय वन मे होकर यात्रा करनेवालो को विशेष रहता था। जो चतुर होते थे, वे पहले ही सोच लेते थे कि यदि वृक ने मुझे देख लिया, तो मृत्यु निश्चित है, अत वे उस ओर जाते ही नही थे।[6] वृक का स्त्रीलिंग वृकी होता है।[7] श्रेष्ठ जाति की वृकी को वृकति कहते थे।[8] वृक बहुत चालाक प्राणी होता है। वह छिपकर तिरछा देखता है और चुपके-चुपके पीछे से आकर आक्रमण करता है। इसी कारण 'वृक के समान देखनेवाला' 'वृक के समान वचक' ये विशेषण भी व्यवहार मे थे।[9]

शल्यक—शल्यक आरण्यक पशु है, जिसके शरीर पर रोमो के स्थान पर काँटे रहते है। पच पचनखो मे भी इसकी गणना है। शल्यक के काँटे इतने तीक्ष्ण होते है कि कुत्ता उसका कुछ नही बिगाड सकता, उलटे वही कुत्ते को वेध डालती है। कुत्ते को घायल करनेवाली होने के कारण ही उसे श्वावित् कहते हैं।[10] श्वावित् का मास शौवाविध कहलाता है।

शश—आरण्यक वराह, महिष और कुक्कुट का उल्लेख ऊपर हो चुका है। लोम और नख-वाले ये शल्यक, शृगाल, सिंह, कुत्ता आदि पशु अपवित्र माने जाते थे और इनका स्पर्श कर शुद्ध होने का विधान था।[11] आखेट-पशुओ मे शश महत्त्वपूर्ण था।[12] उसका उल्लेख भी एक स्थान पर हुआ है।

ऋक्ष—ऋक्ष हिंस्रक पशु है। इसे ऋक्षक भी कहते हैं।[13] भाष्यकार ने ऋच्छक शब्द का भी व्यवहार किया है, जिसका अर्थ स्पष्ट है।[14]

---

१. १-१-४७, पृ० २८८।
२. ७-१-९६, पृ० ९२।
३. १-४-२ पृ० १२७।
४. वही।
५. मा त्वा वृका अघायवो विदन्।—३-१-८, पृ० ३४।
६. य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति यदिमां वृकाः पश्यन्ति ध्रुवं में मृत्यु-रिति। संवुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्त्तते।—१-४-२७, पृ० १६२।
७. ६-३-३५, पृ० ३२२।
८. वही।
९. वृकवञ्ची, वृकप्रेक्षी।—६-२-८०, पृ० २७३।
१०. आ० १, पृ० ४० तथा ४-३-१५६, पृ० २७०।
११. लोमनखं स्पृष्ट्वा शौचं कर्त्तव्यम्।—आ० २, पृ० ६२।
१२. आ० १, पृ० ३२।
१३. ७-३-४५, पृ० १८९।
१४. १-४-६०, पृ० १९१।

जल-जीव—नक्र[१] और ग्राह[२] जल के भयकर मासाहारी जीव है।

गोधा—जलीय जीवो मे मकर आर नक्र के वाद गोधा का स्थान है। गोधा के पुमान् को गौधेर कहते थे।[३] एक स्थान पर कहा है कि गोधा सर्प जाति की नही होती। केवल सरक-सरककर चलने के कारण ही उसे अहि नही कह सकते।[४]

कच्छप—कच्छ (दलदल) से पीने के कारण इसे कच्छप कहते है।[५] कच्छप के स्त्रीलिंग को कच्छपी या डुली कहते थे।[६]

मण्डूक—मण्डूक उछल-उछलकर चलते हैं। व्याकरण मे 'अधिकार' भी इसी प्रकार चलते है।[७] वीच मे सूत्रो को छोडकर वे मण्डूक की तरह अगले सूत्र मे अनुवृत्त होते हैं।

मत्स्य—मत्स्य भोजन के काम आते थे और आते है। तालाव से जो कोई मछली पकड कर लाता था, वह काँटो-सहित पूरा-पूरा ले आता था और घर मे लाकर उनके काँटे साफ करता था और उन्हे टुकडे-टुकडे करता था।[८] मत्स्य का एक भेद 'विसार' भी होता है। तिमिंगिल भी मत्स्य को कहते है, जो तिमि (वडे आकार की मछली) को निगल लेती है। तिमिंगिलगिल तिमिंगिल को भी निगल लेती है।[९] मछली जलजीव है। जव वह चलती है, तव पानी और वह दोनो साथ-साथ चलते दिखते है।[१०] मत्स्य का स्त्रीलिंग रूप मत्सी होता है। मत्स्य का शिकार करनेवाला मात्स्यिक कहलाता था। इसी प्रकार मत्स्य के विशेष प्रकार, शफर और शकुल का शिकार करनेवाले को शाफरिक और शाकुलिक कहते हैं। मीन का शिकारी मैनिक कहा जाता था।[११]

पक्षी—पक्षी को शकुनि भी कहते है और शकुन्त भी। भाष्यकार ने कहा है कि पक्षी तेज चलने के कारण आगे से उडते ही दूर पीछे दिखाई देते है।[१२]

काक—पक्षियो मे काक सवसे धूर्त्त होता है। काक की सन्तान भी काक कही जाती है।[१३]

---

१. ६-३-७५।
२. ७-४-४१, पृ० २३५।
३. ४-१-१२०, पृ० १४२।
४. नहि गोधा सर्पन्ती सर्पणादेवाहिर्भवति।—१-१-२३, पृ० २१२।
५. ३-२-४, पृ० २०९।
६. ६-३-३४, पृ० ३१७।
७. मण्डूकप्लुतयोऽधिकाराः। यथा मण्डूका उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छन्ति तद्वदधिकाराः।—१-१-३, पृ० ११२।
८. १-१-३९, पृ० ५१६।
९. ६-३-७०, पृ० ३४७।
१०. ८-३-७२, पृ० ४५३।
११. ४-१-६३, पृ० ७४ तथा १-१-६८, पृ० ४३५।
१२. शकुनय आशुगामित्वात् पुरस्तादुत्पतिताः पश्चाद्दृश्यन्ते।—आ० २, पृ० ४२।
१३. १-१-४५, पृ० २७८।

काक का स्त्रीलिंग रूप काकी होता है।[१] काक का काष्र्ण्य प्रसिद्ध है।[२] काक और उलूक का सहज वैर है।[३] इसको आधार मानकर पचतन्त्र के 'काकोलूकीय' तन्त्र की रचना हुई है। भाष्य ने काकोलूकम् को शाश्वतिक विरोध के उदाहरण के रूप मे ग्रहण किया है। कौए की बोली को वाश कहते थे। एक स्थान पर भाष्यकार ने विरोधी पर कटाक्ष करते हुए कहा है कि 'कौआ बोल गया, इसलिए अधिकार की निवृत्ति नही हो जाया करती।' काक कभी-कभी बाज के समान दुबककर चोट करता है। इसलिए, 'कौआ श्येन के समान आचरण करता है,[४] यह उदाहरण भाष्यकार ने किया है। काकतालीयन्याय (काकस्यागमन तालस्य च पतनम्) काक को आधार मानकर ही सस्कृत मे चल पडा था।[५]

श्येन—श्येन का उल्लेख भाष्यकार ने प्राय काक के साथ ही किया है। श्येन की सन्तान भी श्येन ही कही जाती थी।[६] श्येन के समान पैरवाले को श्येनपाद् कहते थे।[७] श्येन छोटी-छोटी चिडियो का शिकार करता है। वह वटेर को मार डालता है।[८]

कपोत—कपोत शरद् को प्यार करता है और उत्सुकतापूर्वक उसकी प्रतीक्षा[९] करता है। यह मासाहारियो के भोजन का अग रहा होगा या औषध-रूप मे उसका शोरवा दिया जाता होगा, जो 'कापोत रस' इस कथन से स्पष्ट है।[१०] कपोतो के समूह को कापोत कहते थे।[११] कपोत की सन्तान कापोति कहलाती थी।[१२]

मयूर—मयूर को भाष्यकार ने व्यसक(धूर्त्त) कहा है।[१३] मयूर का नृत्त तो सुविदित ही है।[१४] मयूर और मयूरी साथ-साथ नृत्य करते है।[१५] मयूर अपनी प्रिया को प्रसन्न करने के लिए नाचता है। मयूरी को कृकवाकु भी कहते थे।[१६] जिस ऋतु मे मयूर विशेष नाचते है, उसे कलापी काल कहते थे।[१७] मयूरी की पूंछ कबर होती है।[१८]

कोकिल—वनगुल्म के भीतर विहार करनेवाली कोयल यदि वन से बिछुड जाय, तो उसका स्मरण करेगी ही।[१९] वसन्त ऋतु को अवकोकिल कहते थे, क्योकि उसमे कोयल विशेष रूप

---

१. ६-३-४२, पृ० ३२८।
२. २-२-८ पृ० ३४३।
३. २-४-१२, पृ० ४६७।
४. ३-१-८, पृ० ३९।
५. २-१-३, पृ० २६७।
६. १-१-४५, पृ० २७८।
७. १-१-५७, पृ० ३५३।
८. ६-१-४८, पृ० ७९।
९. कपोत. शरद पश्पशाते।—७-३-८७, पृ० २१२।
१०. ४-३-१५५, पृ० २६७।
११. ४-२-३९, पृ० १७८।
१२. ४-१-९०, पृ० १०९।
१३. २-१-७२, पृ० ३३०।
१४. २-३-६७,
१५. प्रियां मयूरः प्रतिनर्त्तंतीति—पृ० ५३४, ७-३-८७, पृ० २१२।
१६. ४-१-६६, पृ० ७६।
१७. ४-३-४८, पृ० २३५।
१८. ४-१-५५, पृ० ६९।
१९. १-३-६७, पृ० ८७।

से बोलती थी।[१] कोकिल की बोली को अवक्रोश कहा है। उसे व्याहृत भी कहते थे।[२] स्त्री-कोकिल को पिकी कहते थे।[३]

हंस—हस सस्कृत के साहित्यकारो एव तार्किको का प्रिय और आदर्श रहा है। भाष्य मे स्त्री-हस को वरटा कहा हे।[४] हस शब्द हन् धातु से वना है, जिसका अर्थ है मार्ग का हनन (गमन) करनेवाला।[५] भाष्यकार ने जल के समीपवासी होने की दृष्टि से हस-चक्रवाक को एक साथ द्वन्द्वैकत्व के उदाहरण के रूप मे रखा है।[६]

शशघ्नी—भाष्य मे शशघ्नी नामक शकुनि का भी उल्लेख मिलता है।[७]

उलूक—उलूक का उल्लेख केवल काक के शाश्वतिक विरोधी के रूप मे हुआ है।[८] उल्लू की बोली भयकर होती हे।[९] शाला की आकृति उलूक के पख के समान और सेना की व्यूह-रचना उलूक की पूंछ के समान की जाती थी।[१०]

वक—वक-समूह को वलाका कहते थे। वलाका जव आकाश मे उडती है, तव उसकी शुक्लता दर्शनीय होती है।[११] वलाका सूर्य को उद्देश्य कर उडती है।[१२]

चक्रवाक—यह जलीय पक्षी नदी के किनारे रहता है।[१३] चक्रवाकी को कोकी भी कहते है।[१४]

दार्वाघाट—लक्कड-फोड को दार्वाघाट कहते थे। यह लकडी मे छेद करता है।[१५]

शुक—शुकी का उल्लेख केवल एक स्थान पर हुआ है।[१६] शुक की चर्चा खण्डिक और उलूक के साथ आई है।[१७]

---

१. अवक्रुष्टः कोकिलयाऽवकोकिलो वसन्तः ।—२-२-१८, पृ० ३५० ।
२. २-३-६७, पृ० ४५३ ।
३. ४-१-६३, पृ० ७४।
४. हंसस्य वरटा योषित् ।—६-३-३४, पृ० ३१८ ।
५. हन्तेर्हंसः हन्त्यध्वानमिति ।—६-१-१३, पृ० ४३ ।
६. २-४-१२, पृ० ४६६।
७. ३-२-५३, पृ० २१९ ।
८. २-४-१२, पृ० ४६७ ।
९. ४-२-४५, पृ० १८१ ।
१०. ४-१-५५, पृ० ६९। ।
११. २-२-८, पृ० ३४३ ।
१२. १-१-५८, पृ० ३७६ ।
१३. २-४-१२, पृ० ४६६ ।
१४. ४-१-६३, पृ० ७४ ।
१५. ३-२-४९, पृ० २१८ ।
१६. ४-१-६३, पृ० ७४ ।
१७. ४-२-४५, पृ० १८१ ।

चटका—छोटी चिडिया गौरैया को कहते हैं।[1] चटक के अपत्य को चाटकेर कहते थे।[2]

सुपर्ण—गरुड का दूसरा नाम सुपर्ण है, जो पखो की सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध है।[3]

क्रौंच—क्रौच का उल्लेख कोकिल के साथ हुआ है।[4] यह रामायण का प्रेरक पक्षी हंस-जातीय है।

अंगारक—अगारक विशेष पक्षी का नाम है।[5] सम्भवत. यह नाम उनके लाल या काले वर्ण के कारण पडा है। इनकी स्त्रियो को कालिक कहते थे।

कृकवाकु—मुर्गा का दूसरा नाम है।[6]

कपिंजल—चकोर को कपिंजल भी कहते थे।[7] चकोर का अपत्य कपिजलि कहलाता था।

कुररी—बाज की जाति का मत्स्यभोजी पक्षी है।[8]

किकिदीवी—यह नीलकण्ठ है, जिसे चाष भी कहते थे।[9] किकि नारिकेल वृक्ष का नाम है। उसपर विशेष रहने या क्रीडा करने के कारण किकिदीवी नाम पडा जान पडता है।

गृध—गृध्र मासाहारी पक्षी है। गृध्र-सम्बन्धी वस्तु को गार्ध्र कहते है।[10]

कंक—सारस पक्षी का नाम था।[11] इसके पख वाण के अग्रभाग मे लगाये जाते थे।

वर्त्तिका—छोटा-सा पक्षी वटेर, जिसे श्येन झपट लेता है।[12]

विष्किर और विकिर पक्षी का सामान्य नाम है।[13] पखो के कारण ही पक्षी संज्ञा बनी है। पखो के मूल को पक्षति कहते थे।[14]

क्षुद्र जन्तु—इनके अतिरिक्त अनेक क्षुद्र जन्तुओ के नाम यत्र-तत्र भाष्य मे आये हैं। उनके मत से जो प्राणी, कुचल देने पर भी न मरें, वे क्षुद्र माने जाने चाहिए। किन्तु, क्षुद्र जन्तु की यह परिभाषा मान लेने पर मच्छर, जूँ आदि क्षुद्र जन्तुओ की परिधि मे न जा सकेंगे। इसलिए, उन्होने अस्थिविहीन जन्तुओ को क्षुद्र माना। जिनमे अपना रक्त नही होता एव सहस्रो की सख्या

---

१. ४-१-१२८, पृ० १४२।
२. ४-१-६३, पृ० ७४।
३. ४-१-१४, पृ० ३८।
४. ४-१-१२०, पृ० १४२।
५. अङ्गारका नाम शकुनयः। तेषां कालिकाः स्त्रियः।—६३-३४, पृ० ३१८।
६. ४-१-६६ पृ० ७६।
७. ४-१-९०, पृ० १०९।
८. ४-१-९३, पृ० १२५।
९. ४-२-४५, पृ० १८१।
१०. ४-३-१५६, पृ० २६९।
११. १-४-२३, पृ० १५५।
१२. ६-१-४८, पृ० ७९।
१३. विष्किरः शकुनी विकिरो वेति वक्तव्यम्।—६-१-१५०, पृ० १९२।
१४. ५-२-२५, पृ० ३७३

मे मारने पर भी मनुष्य पाप का भागी न वने, वे क्षुद्र जन्तु माने जाने चाहिए। सवसे सीधी परिभाषा यह है कि नकुल (नेवले) के आकार तक के प्राणी क्षुद्र जन्तु होते है।[१] भाष्य मे निम्नलिखित क्षुद्र जन्तुओ के नाम आये हैं—

नकुल——नकुल का उल्लेख सर्प के शाश्वतिक विरोधी के रूप मे हुआ है।[२] नकुल गरम स्थान पर एक क्षण भी नही टिकता। काक-उलूक, श्वा-वराह और सर्प-नकुल जन्मजात शत्रु होते है। इसी बात को लेकर अस्थिर व्यक्ति के व्यवहार के लिए 'अवतप्ते नकुलस्थितम्' कहावत चल पडी थी।[३]

सर्प—सर्प चिरकाल से मनुष्यो का घातक रहा है। प्रतिवर्ष हजारो मृत्युएँ सर्प के काटने से होती थी। 'सर्प द्वारा मारा हुआ' कहकर भाष्यकार ने इस ओर सकेत किया है।[४] सर्प वल्मीक मे रहता है।[५] काले साँप को कृष्णसर्प कहते थे। काले रग का हर साँप कृष्णसर्प नही कहलाता था। जहाँ जाति न वतलानी हो, केवल काले रग का कोई भी साँप हो, वहाँ समास न होकर 'कृष्ण. सर्प' ऐसा प्रयोग होता था। इसीलिए, काले साँप (जाति) वाला वल्मीक इस अर्थ मे 'कृष्णसर्प-वान् वल्मीक' प्रयोग होता था और साधारण सर्प अर्थ मे 'कृष्णसर्पो वल्मीक' प्रयोग होगा।[६]

साँप सरकता चलता है, इसीलिए उसका नाम 'सर्प' पडा है। उसकी चाल को सृप्त कहते थे।[७] गाँव के पास या बीच मे सर्पण के चिह्न देखकर लोग साँप निकलने का अनुमान करते थे। साँप जब क्रोध मे होता है, तव फन उठाकर फुफकारता है। इस अवस्था मे सर्प को 'ओजायमान' कहते थे।[८] साँप को मारना बुरा नही माना जाता था। साँप के फन को दर्वि कहते थे।[९]

वृश्चिक—वृश्चिक को साड भी कहते थे। साड का अर्थ है अड (डक)-सहित।[१०] वृश्चिक को मणिपुच्छी और विषपुच्छी भी कहते थे।[११]

---

१. क्षोत्तव्या जन्तवः (क्षुद्रजन्तवः)। यद्येवं यूकालिक्षम् कीटपिपीलिकमिति न सिध्यति। एवं तर्ह्यनस्थिकाः क्षुद्रजन्तवः अथवा येषां स्वं शोणितं नास्ति ते क्षुद्रजन्तवः अथवा येषामासहस्रादञ्जलिर्न पूर्यते ते क्षुद्रजन्तवः। अथवा नकुलपर्यन्ताः क्षुद्रजन्तवः।—२-४-८, पृ० ४६४।

२. ४-२-१०४, पृ० २१०।

३. अवतप्ते नकुलस्थित त एतत्।—१-४-१३ पृ० १४३।

४. २-१-३२, पृ० २८५।

५. २-१-६९, पृ० ३२३।

६. जात्यात्राभिसम्बन्धः क्रियते। कृष्णसर्पो नाम सर्पजातिः साऽस्मिन् वल्मीकेऽस्ति। यदा ह्यन्तरेण जातितद्वतऽभिसम्बन्धः क्रियते कृष्णसर्पो वल्मीक इत्येव तदा भविष्यति।—२-१-६९, पृ० ३२६।

७. २-३-६७, पृ० ४५४।

८. ३-१-११, पृ० ४५।

९. ७-३-१०९, पृ० २१७।

१०. ८-३-५६, पृ० ४३९।

११. ४-१-५५, पृ० ६९।

मूषिक—नकुल सर्प का और सर्प मूषिक का शत्रु है। मूषिक को आखु और मार्जार को आखुहा कहते थे। मूषिका का पुमान् मौषिकार कहलाता था।[1]

शलभ—शलभ को पतग कहते थे।[2] चीटियाँ इन्हे खीचकर विल मे ले जाती और भक्ष्य वनाती है।

मकड़ी—इसे तन्तुवाय भी कहते थे; क्योकि यह तन्तुओ से जाले वनाती है।[3]

पिपीलिका—चीटी पतग का मुख खा जाती है, ऐसा एक स्थान पर उल्लेख है।[4]

मक्षिका—मक्षिका से भाष्यकार का तात्पर्य मधुमक्खी से है।[5] माक्षिक मधु की सज्ञा है। इसे गार्मुत भी कहते थे।

यूका—जूँ वहुत छोटा कीडा है। केशो से निकली यूका का उल्लेख भाष्य मे है।[6]

लिक्षा—यह यूका के अण्डे के सदृश होती है। इसकी चर्चा क्षुद्रजन्तु के विवेचन मे आ ही गई है। भाष्य मे उल्लिखित जन्तुओ मे यह क्षुद्रतम है।

ऊपर वर्णित जीवो मे पालतू प्राणी तो निश्चित ही भारत के आर्थिक जीवन के अग थे। आरण्यक पशुओं ने कुछ फसल को चरकर, कुछ आहार का अग वनकर और कुछ पालतू पशुओ के भक्षक के रूप मे आर्थिक जीवन को प्रभावित करते थे। पक्षियो मे कुछ मास द्वारा आहार के अश थे या जन-जीवन मे सहचर या मित्र का काम देते थे। जलीय जन्तुओ मे मत्स्य भोजन का अग था। इनमे अनेक जन्तुओं का चर्म उपयोग मे आता था। क्षुद्र जन्तुओ मे भी उन्ही का उल्लेख हुआ है जो या तो मारक या पीडक थे या दैनन्दिन सम्पर्क मे आते थे।

पञ्चनख—पाँच नखवाले पशुओं मे पाँच को शास्त्र ने भक्ष्य माना था।[7] ये थे—शशक, शल्यक, खड्गी, कूर्म और गोध। ग्रामशूकर और ग्रामकुक्कुट अभक्ष्य थे। आरण्य शूकर और कुक्कुट भक्ष्य माने जाते थे।

---

१. ४-१-१२०, पृ० १४२ ।
२. ३-२-४, पृ० २०९ ।
३. ६-२-७७ का० ।
४. व्याददते पिपीलिकाः पतङ्गमुखम् ।—१-३-२०, पृ० ६१ ।
५. ४-३-११६, पृ० २४९ ।
६. निष्केशी यूका ।—४-१-५४, पृ० ६९ ।
७. पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः। अभक्ष्यो ग्रामकुक्कुटः, अभक्ष्यो ग्रामशूकरः ।— आ० १, पृ० ११ ।

अध्याय ४

शिल्प

क्षेत्र और उद्देश्य—भाष्यकार ने पाणिनि के समान कला और कौशल दोनो के लिए शिल्प शब्द का प्रयोग किया है। उनके शिल्पी की श्रेणी मे एक ओर गायक, गाथक आदि आते हैं[१], तो दूसरी ओर वाद्यो मे निपुण ताल देनेवाले वादक।[२] मार्दगिक, पैठरिक, माड्डुकिक, झार्झरिक और दार्दुरिक भी शिल्पी हैं[३] और पाणिघ, ताडघ भी। खनक, रजक,[४] कुम्भकार, तन्तुवाय,[५] और नापित[६] भी शिल्पी है। जिनका शिल्प मृदग है, उनके लिए प्रयुक्त होनेवाले मार्दंगिक शब्द की निष्पत्ति पर शका करते हुए उन्होने कहा है कि शिल्प के कारण वादक को मार्दंगिक कहा जाय, तो कुम्हार को पहले मार्दंगिक कहना चाहिए, क्योकि मृदग का मुख्य शिल्पी वही है। इस शका के समाधान के लिए उन्होने शिल्प का अर्थ 'शिल्प के समान शिल्प' माना है, जिससे कुम्हार के समान ही मृदग का जो अन्य शिल्पी (वादक) है, उसके लिए भी मार्दंगिक शब्द का व्यवहार हो सकता है।[७] जो वात मार्दंगिक के विपय मे है, वही वात पैंठरिक, वैणिक, पाणविक, झार्झरिक आदि के विषय मे कही जा सकती है। इसी प्रकार, एक जुलाहे की अपेक्षा अधिक अच्छे मसाले से धोकर अधिक शुक्ल वस्त्र उत्पन्न करनेवाले जुलाहे के शिल्प की प्रशसा की गई है।[८] एक वार दाढी-मूंछ वनवाकर और वाल कटवाकर कभी-कभी लोग फिर से क्षौर कराने वैठ जाते थे। इसका कारण उनके आर्थिक सामर्थ्य की विशेषता या शिल्पी (नाई) की अधिक योग्यता ही थी।[९] इस प्रकार, पतजलि के शिल्प का क्षेत्र हाथ से काम करने मे चतुर नाई से लेकर वादक, नर्त्तक और गायक तक है। शिल्पियो की अपने कार्य मे प्रवृत्ति शिल्प की उपासना के लिए नही थी। वे अपनी उन्नति के लिए

---

१. ३-१-१४५, १४६, १४७ तथा ४-४-४५, ४६।

२. ३-२-५५ ।

३. ४-४-४५ ।

४. ३-१-१४५ ।

५. ६-२-७६ ।

६. ६-२-६२ ।

७. किं यस्य मृदङ्गः शिल्पं स मार्दङ्गिकः ? किं चातः ? कुम्भकारे प्राप्नोति। एवं तर्ह्युत्तरपद लोपो द्रष्टव्यः। शिल्पमिव शिल्पम्। मृदङ्गवादन शिल्पमस्य मार्दङ्गिकः, पैठरिकः,।—४-४-५५, पृ० २८०।

८. ५-३-५५, पृ० ४४६ ।

९. ६-१-१२७, पृ० १८० ।

कार्य करते थे। अच्छी कृति से उनका उद्देश्य होता था पारिश्रमिक और नये प्रशसक ग्राहक पाना।[1]

गायक, वादक, पाणिघ और ताडघ के अतिरिक्त भाष्य मे निम्नलिखित शिल्पियो का उल्लेख है—

कुलाल—भारतीय ग्रामो मे मिट्टी के पात्रो का चलन बहुत अधिक रहा है। घट तो अधिकाश मिट्टी के होते थे। घट बनाने के कारण कुलाल को कुम्भकार कहते थे। कुलाल के लिए कुम्भकार नाम का ही प्रचलन अधिक था।[2] जिसे घट की आवश्यकता होती, वह कुम्हार के घर जाकर घट बनाने का आदेश देता।[3] कुम्हार गीली मिट्टी का पिण्ड लेता। पिण्ड को तोड-मोडकर छोटे-बडे घट बनाना चाहता, तो गीली मिट्टी से छोटी बड़ी कुडियाँ या नादे तैयार करता था।[4] बडे-बडे मटके चतुर कुलाल ही बना सकता था, जिसे महाकुम्भकार कहते थे।[5] वह मिट्टी के खिलौने बनाता था,[6] वाद्यो के साँचे और वाद्यो का मिट्टी से बना भाग तैयार करता था।[7] खाने के लिए कटोरियाँ (शराव),[8] जो यज्ञ के भी काम आती थी[9], कुम्हार बनाता था। यज्ञार्थ छोटी घटियाँ उसी से प्राप्त होती थी।[10] घट और घटी मिट्टी के दो पृथक् पिण्डो से बनाई जाती थी, जो कपाल कहलाती थी।[11] कुलाल के बनाये पात्रो को कौलालक कहते थे।[12]

तक्षा—तक्षा ग्राम-जीवन का अति महत्त्वपूर्ण अग था। वह हल की मूठे, तथा अन्य काष्ठ-भाग बनाता था।[13] लकडी छीलता और उससे कपाट तथा छत मे डालने की कडी तैयार करता था।[14] कृषि की उपज ढोनेवाली तथा सवारी के काम आनेवाली गाडियो का निर्माण तक्षा के भरोसे था।[15] यज्ञ के लिए आवश्यक यूप भी वही छीलता था।[16] छीलने, तराशने का काम करने के

---

१. ३-१-२६, पृ० ७७।

२. १-३-३, पृ० २३।

३. आ० १, पृ० १७।

४. मृत् कयाचिदाकृत्या युक्ता पिण्डो भवति। पिण्डाकृतिमुपमृद्य घटिकाः क्रियन्ते। घटिकाकृतिमुपमृद्य कुण्डिकाः क्रियन्ते।—आ० १, पृ० १६।

५. ३-१-९२, पृ० १६७।

६. ४-४-३४।

७. ४-४-५५, पृ० २८०।

८. १-१-७२, पृ० ४४७।

९. ६-४-१००, पृ० ४५४।

१०. १-१-४४, पृ० २५९।

११. आ० १, पृ० १९।

१२. ४-३-११६, पृ० २५०।

१३. ८-२-६, पृ० ३२७।

१४. ७-१-७२, पृ० ६४।

१५. २-३-५, पृ० ४०८।

१६. ७-१-३९, पृ० ४४।

कारण ही उसे तक्षा कहते थे।[१] तक्षा के साधनो मे भाष्यकार ने वाशी (वसूला) का उल्लेख किया है।[२] काशिकाकार ने भिदादिगण मे शस्त्री के रूप मे आरा का उल्लेख किया है। शस्त्री से भिन्न अर्थ मे आरा के स्थान पर अर्त्ति शब्द प्रचलित था। यह आरा वढई का प्रचलित आरा था।[३] तक्षा यूप और शकटादि के लिए अलग-अलग काष्ठ-खण्ड तैयार कर लेता था।[४] शकट के अनेक अग होते है– चक्र,[५] नेमि,[६] आर,[७] नाभि,[८] धू, अक्ष। तक्षा सबको अलग-अलग बनाकर उनका सयोजन करता था।[९]

रथकार—रथकार का काम और कठिन था। रथकार तक्षा से अलग होते थे, जो मुख्यत रथ बनाने का ही काम करते थे। रथ दोनो प्रकार के बनते थे–चलते समय शब्द करनेवाले और नि शब्द चलनेवाले।[१०] शब्द करनेवालो (रथो) मे श्रोत्राभिराम ध्वनि की व्यवस्था की जाती थी। बैठनेवालो के आराम के लिए कपडे, चमडे या सफेद कम्बल रथो पर मढ दिये जाते थे।[११] रथकारता स्वतन्त्र व्यवसाय था। रथकार साधारण तक्षा से ऊँची कोटि का होता था। उसे कुल्हाडी हाथ मे लेकर ऐसे बडे वृक्ष की लकडी काटनी होती थी[१२], जो रथ के योग्य हो, क्योकि रथ के पहिये बहुत मजबूत होते थे।[१३] शिशपा का वृक्ष इसके लिए विशेष उपयुक्त माना जाता था।[१४] चतुर रथकार को नागरक रथकार कहते थे।[१५] नागरक शब्द प्रावीण्य का बोधक था।

तक्षा चाहे साधारण हो या रथकार, दो प्रकार के होते थे– ग्रामतक्ष और कौटतक्ष।[१६] ग्रामतक्ष गाँव के सभी निवासियो का काम करता था। वह उनके घर पर जाकर भी टूट-फूट ठीक करता था। इसके लिए उसे वर्ष मे एक या दो बार फसल तैयार होने पर एक निश्चित अन्न-

---

१. ३-१-७६ तथा २-१-३६, पृ० २९२।

२. ४-१-३, पृ० १८।

३. ३-३-१०४, का०।

४. २-१-३६ पृ० २९२।

५. ३-२-१७१, पृ० २७८।

६. वही।

७. यदेव हि तन्मण्डलचक्राणां मण्डलचक्र तन्नभ्यमित्युच्यते—नाभिरिवनभ्यमिति।— ५-१-२, पृ० २९६।

८. ५-४-७४, पृ० ५०२।

९. १-२-४५, पृ० ५३५।

१०. ८-१-३०, पृ० २८७।

११. ४-२-१०।

१२. ४-१-३, पृ० १८।

१३. ५-४-७४, पृ० ५०२।

१४. ५-१-२, पृ० २९७।

१५. ४-२-१२८, काशिका।

१६. ५-४-९५।

राशि मिलती थी। कौटतक्ष स्वतन्त्र व्यवसाय करता था। वह अपने घर बैठकर काम करता था और किये काम के लिए उचित मूल्य लेता था। राजतक्ष अपना स्वतन्त्र व्यवसाय नही कर पाता था। राजकर्म मे प्रवृत्त होने पर उसे न अपने व्यवसाय के लिए अवकाश था और न अधिकार।[1] राजतक्ष होना गौरव की बात मानी जाती थी। प्रत्येक गाँव में तक्षा का एक घर होता ही था। किसी-किसी ग्राम मे दस-पाँच घर भी होते थे।[2]

लकडी छीलते समय बढई जिस काष्ठ पर रखकर अन्य काष्ठ छीलता है, उसे उद्धन कहते थे।[3] तक्षा की सन्तान को ताक्षण या ताक्षण्य कहते थे।[4] ताक्षण प्रयोग उत्तर मे ही प्रचलित था।

धनुष्कार—धनुर्युद्ध का प्रचलन होने के कारण धनुर्विद्या शिक्षा का महत्वपूर्ण अग थी। गाँवो मे लोग बाण चलाने का अभ्यास करते थे।[5] एतदर्थ कुछ लोग धनुष बनाने का ही काम करते थे, जो धनुष्कार कहलाते थे।[6]

अयस्कार—भाष्य मे तक्षा के साथ ही अयस्कार का उल्लेख मिलता है।[7] वास्तव मे एक दूसरे के पूरक होने के कारण आज भी लोहार-बढ़ई साथ-साथ याद किये जाते है। राजस्थान से निकली हुई यायावर जाति 'लुहार-बढई' आज भी दोनो साथ काम करती हे। अयस्कार को अयस्कृत् भी कहा है।[8] कुटिलिका (सँडसी) से पकडकर लोहे को पीटने के कारण उसे कौटिलिक भी कहते थे।[9]

तक्षा के समान अयस्कार भी कृषि के लिए आवश्यक औजार बनाता, हल के फाल पीटकर नुकीले करता एव कील-काँटे बनाता था। 'रज्जु या अयस् (लोहे) के तार से बँधा हुआ काष्ठ खीचा जाता है'[10] ऐसा उल्लेख भाष्य मे हुआ है। 'लोहे के तार या शृखला से कील मे जुडा हुआ, अर्थात् शृखला से खूँटे मे बँधा हुआ, पशु उससे सम्बद्ध माना जायगा'[11], यह कथन भी एक स्थान पर मिलता है। इससे स्पष्ट है कि लोहे के तारो, शृखलाओ (लम्बी जजीरों) और कीलो तथा पशुओ के बाँधने के काम आनेवाले खूँटो का प्रचलन गाँवो मे था, यद्यपि रज्जु और शकु का भी प्रयोग होता

---

१. पुरुषोऽयं परकर्मणि प्रवर्त्तमानः स्वयं कर्म जहाति। तद्यथा तक्षा राजकर्मणि प्रवर्त्तमानः स्वय कर्म जहाति।—२-१-१, पृ० २३९।

२. २-४-३०, पृ० ४७६।

३. ३-३-८०।

४. ४-१-१५३, पृ० १४९।

५. १-३-३१, पृ० ६२।

६. ३-२-२१।

७. २-४-१०।

८. ६-३-९१, पृ० ३५५।

९. ४-४-१८।

१०. ८-३-३७, पृ० ४२२।

११. २-१-१, पृ० २४३।

था।[1] परशु लकडी काटने के काम आता था।[2] यह प्रतिदिन के व्यवहार की वस्तु थी। शंकुला (सरौता)[3], कुल्हाडी (इध्म-प्रव्रश्चन),[4] हँसिया (पलाश-शातन), दरात[5] तथा अन्य इसी प्रकार की साधारण व्यवहार की वस्तुएँ अयस्कृत् बनाता था। कीलो की चर्चा तो अनेक स्थानो पर मिलती है।[6]

लुहार का मुख्य साधन था भस्त्रा (धौंकनी), जो चर्म की रहती थी।[7] इसी से हवा करके वह अग्नि प्रज्वलित रखता था। लोहे को तपाकर वह अयोघन[8] से पीटता था।[9] दुर्घन और कुटिलिका[10] उसके दूसरे सहायक औजार थे।

कर्मार—कर्मार शब्द का व्यवहार लुहार और ठठेरा दोनो के लिए होता था।[11] इसका काम गृहोपयोगी धातु-पात्र बनाना था। छोटी-वडी सब नाप की स्थालियाँ (बटलोइयाँ), भगोने, कटोरियाँ, लोटे और घडे कर्मार बनाता था।[12] घडे लोहे के भी बनते थे।[13] घटी तांबे की भी बनती थी।[14] पूजा-पात्र प्राय ताँबे के बनते थे। लौह शब्द का प्रयोग ताँबे के लिए होता था। लौह कसको का व्यवहार खूब था।[15] लौहपात्र काँसे के पात्रो से श्रेष्ठ माने जाते थे।

कर्मार की सन्तान कार्मार्यायणि कहलाती थी।[16]

मूर्त्तिकार—मूर्त्तिकार की गणना भी कर्मारो मे होनी चाहिए। मूर्त्तिकार धातु को पिघलाकर साँचो द्वारा मूर्त्तियाँ ढालते थे। ये मूर्त्तियाँ भीतर से पोली रहती थी और अग्नि द्वारा भीतर से गरमकर साफ की जा सकती थी।[17] मूर्त्तियाँ प्राय पशुओ की होती थी। अश्व की प्रतिकृति

---

१. ५-१-२ पृ० २९४।
२. १-४-२३, पृ० १५६।
३. २-१-१, पृ० २२७।
४. २-२-८, पृ० ३२४।
५. २-१-३२, पृ० २८५।
६. २-२-६, पृ० ३३९।।
७. ७-३-४७, पृ० १९१।
८. ३-३-८२।
९. ४-४-१८।
१०. ३-३-८२।
११. ४-१-१५५, पृ० १५०।
१२. १-४-२३, पृ० १५६।
१३. ४-१-१, पृ० ११।
१४. आ० १, पृ० ५।
१५. १-३-१, पृ० १४।
१६. ४-१-१५५, पृ० १५०।
१७. शोभनां मूर्त्ति सुषिरामग्निरन्तः प्रविश्य दहति।—आ० १, पृ० १०।

मूर्त्ति को अश्वक कहते थे।[1] देव-पूजा के लिए भी मूर्त्तियाँ ढाली जाती थी। इन्हे वेचने की प्रथा नही थी। ये पुजारियो की जीविका का साधन थी। वाद मे मौर्य लोगो ने मूर्त्तियाँ वनाकर उनका पण्य (विक्रय) प्रारम्भ किया। पण्यार्थ वनाई जानेवाली मूर्त्तियाँ जिस देवता की होती थी, उसके आगे 'क' प्रत्यय का प्रयोग होता था। जैसे शिवक, स्कन्दक। विना विक्रय की मूर्त्तियाँ सम्वद्ध देवताओ के नाम से ही पुकारी जाती थी।[2] हो सकता है, मौर्यो द्वारा निर्मित मूर्त्तियाँ पत्थर की हो। इस विषय मे निर्विवाद रूप से कुछ कहना कठिन है। फिर भी, इतना स्पष्ट है कि मूर्त्तियाँ और खिलौने धातु, प्रस्तर एव मिट्टी तीनो के वनते थे। धातु की मूर्त्तियाँ कर्मारो का ही एक वर्ग ढालता था। मिट्टी की मूर्तियाँ और खिलौने गौण रूप से कुम्भकार वनाते रहे होगे। प्रस्तर की मूर्त्तियो के निर्माताओ का पृथक् शिल्पिवर्ग था।

सुवर्णकार—महाभाष्य मे सुवर्ण और सुवर्णालंकारो का वार-वार उल्लेख हुआ है। इससे पता चलता है कि सिक्को तथा आभूषणो के रूप मे सुवर्ण का खूव प्रयोग होता था। सुवर्ण के आभूषणादि सुवर्णकार वनाता था। सुनार की छोटी-सी भट्ठी होती थी। वह कुटिलिका (सँड़सी) से पकड़कर भट्ठी मे सोने को तपाता और पीटता था। आवश्यकतानुसार वह सुवर्ण को एक या अधिक वार तपाता था। एक वार तपाने की क्रिया के लिए कहा जाता था 'निष्टपति सुवर्णं सुवर्णकार:,' किन्तु वार-वार तपाने के लिए 'निस्तपति' प्रयोग होता था।[3] अधिक तपाने के लिए 'उत्तपति' क्रिया का व्यवहार होता था।[4] भाष्य मे अगद, किरीट, कुण्डल, रुचक, स्वस्तिक आदि अनेक आभरणों के नाम आये है।[5] एक स्थान पर कहा है कि पिण्ड-रूप मे सुवर्ण की एक आकृति होती है। पिण्ड-रूप को मिटाकर उसके रुचक वनाये जाते है। रुचको को गलाकर उनसे कटक वना लिये जाते हैं। कटको को वदलकर उनके स्वस्तिक वनाये जाते है। फिर, उसी सुवर्ण-पिण्ड को दूसरी आकृति मे वदल दें, तो उसके खदिर के दहकते कोयलो के समान कुण्डल वन जाते है।[6]

खनक—पाणिनि के शिल्पिनि ष्वुन् (३-१-१४५) सूत्र पर शाकटायन का वार्त्तिक है—'नृतिखनिरञ्जिभ्यइति वक्तव्यम्'। इस वार्त्तिक के अनुसार निष्पन्न होनेवाला 'खनक' शब्द शिल्पी का वोधक था। यह वात इससे और भी स्पष्ट है कि काशिकाकार ने 'ठगायस्थानेभ्य.' (४-३-७५) सूत्र के उदाहरणे मे 'आकरिकम्' को भी सगृहीत किया है और आकर को आय-स्थान, अर्थात् राज्य को कर देनेवाला स्थान माना है। अवक्रय' (४-४-५०) की व्याख्या मे यह वात और स्पष्ट हुई है। अवक्रय उस कर को कहते थे, जिसे चुकाने के वाद वस्तु वाजार मे ले जाकर

---

१. ८-३-१०२।
२. वही।
३. ८-३-१०२।
४. १-३-२७, पृ० ६४।
५. अंगदी, कुण्डली, किरीटी—विचित्राभरण ईदृशो देवदत्त इति।—१-३-२, पृ० १८।
६. सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति। पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते। रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते। कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते। पुनरावृत्तः सुवर्ण-पिण्डः पुनरपरयाऽऽकृत्या युक्तः खदिराङ्गारसवर्णे कुण्डले भवतः।—आ० १, पृ० १६।

वेचने की छूट प्राप्त हो सके। यहाँ भी आकरिक का उल्लेख है। इससे यह निर्विवाद है कि खदानो से धातु और रत्न खोद निकालने का काम पर्याप्त मात्रा मे होता था और आकर राज्य की आय के अच्छे स्रोत थे।

आकर से खोदकर निकाली हुई धातुओ मे हिरण्य का उल्लेख अनेक वार मिलता है।[1] विना साफ किये हुए जातरूप हाटक का भी वार-वार उल्लेख हुआ है।[2] रजत, सीसा, लोहा और अयस् भी सावारण व्यवहार मे आते थे।[3] त्रपु (टीन) को तो भाष्यकार ने जतु के साथ वार-वार स्मरण किया है।[4] कांसे का उल्लेख कर्मार के प्रसग मे हो चुका है।[5] इन कच्ची धातुओ का शोधन कर अयस्कार, कर्मार और सुवर्णकार उपयोग करते थे।

खनक धातुओ के अतिरिक्त रत्न भी निकालते थे। भाष्य मे मणियो का उल्लेख कई प्रसगो पर हुआ है।[6] लोहितक लाल को कहते थे।[7] मणि अर्थ मे लोहित (रक्त) शब्द से कन् प्रत्यय होकर यह शब्द निष्पन्न हुआ है। पन्ना या मरकत मणि के लिए सस्यक शब्द का व्यवहार होता था।[8] भाष्यकार ने मणि को शतधार कहा है।[9] यह नाम सैकडो किरणो से प्रकाशित होने के कारण पडा होगा। गौवादप्ट्र भी एक विशिष्ट मणि का नाम था।[10] वैदूर्य नाम तो सस्कृत साहित्य मे सुपरिचित है। यह विदूर पर्वत से प्राप्त होती थी। विदूर का दूसरा नाम वालवाय था। वैयाकरण लोग वालवाय को विदूर कहते थे। कुछ लोगो के मत से वाल्वाय और विदूर दो अलग स्थानो के नाम थे। वैदूर्य मणि वालवाय मे उत्पन्न होती थी और विदूर मे साफ की जाती थी।[11] मणियाँ प्रस्तर से निकलती हैं, इसलिए उन्हे आश्म भी कहा जाता था।[12]

रजक—ऊपर कहा जा चुका है कि शिल्पिनि ष्वुन् (३-१-१४५) सूत्र के वार्त्तिक 'नृतिखनिरञ्जिभ्य इति वक्तव्यम्' मे रजक की गणना भी शिल्पियो मे की गई है। अन्यत्र भी भाष्यकार ने कपडे रँगने का स्पष्ट उल्लेख किया है।[13] एक अन्य स्थान पर रजक, रजन और रज शब्दो की निष्पत्ति उन्होने वतलाई है।[14] इससे यह तो साफ ही मालूम होता है कि भाष्यकार के समय मे

१. ५-२-६५, पृ० ३९६ ।
२. ४-४-१५३ ।
३. ४-३-१०४ ।
४. १-१-४७, पृ० २९० ।
५. ८-२-३, पृ० ३१७ ।
६. १-१-२७, पृ० २२८ ।
७. ५-४-३० ।
८. ५-२-६८ ।
९. ६-१-११५, पृ० १७४ ।
१०. ७-३-८, पृ० १७७ ।
११. वालवायात् प्रभवति विदूरे सस्क्रियते ।—४-३-८४, पृ० २४२ ।
१२. ६-४-११४, पृ० ४८३ ।
१३. ६-४-२४, पृ० ४०७ ।
१४. ६-४-२४, पृ० ४०८ ।

कपडे रँगनेवालो का एक स्वतन्त्र शिल्प था और कुछ लोगो की जीविका इसी पर निर्भर थी।

वस्त्र जिस रग से रँगा जाता था, उसी के नाम से पुकारा जाता था।[१] उदाहरणार्थ— कषाय से रँगे वस्त्र को काषाय कहते थे। लाख, रोचना,[२] शकल, कर्दम,[३] नीली,[४] पीत,[५] हरिद्रा और महारजन[६] से वस्त्रो के रँगे जाने का वर्णन भाष्यकार ने किया है। इन रगो से रँगे गये वस्त्र क्रमश लाक्षिक रौचनिक, शाकलिक, कार्दमिक, नीलक, पीतक, हारिद्र और महारजन कहे जाते थे। लाक्षा को जतु भी कहते थे। जतु से रँगे वस्त्र की सज्ञा थी जातुप।[७] रोचना हरताल का दूसरा नाम था। शकल टूटे हुए मिट्टी के पात्रो के टुकडे होते थे। कर्दम (तालाब के नीचे की मिट्टी) से वस्त्र रँगने की प्रथा आज भी उत्तरप्रदेश मे उत्तर-पश्चिमी ग्रामो मे पाई जाती है। इसका रग नीला-काला मिश्रित-सा आता है। डॉ० वा० श० अग्रवाल का यह अनुमान है कि कर्दम मोटे कपडे की पहली धुलाई के उपयोग मे आती रही होगी।[८] लाल रग का भी प्रचार काफी था। ऋत्विक् लोग लाल रग की पगडी बाँधते थे।[९] महाराष्ट्र और निमाड मे आज भी लाल पगडी बाँधने की प्रथा है। लाल रग से रँगे वस्त्र को लोहितक[१०] और काले रँगे वस्त्र को कालक कहते थे।[११] जतु का व्यवहार वस्त्र रँगने के अतिरिक्त वार्निश मे भी होता था। कोई-कोई रग सरलता से ही वस्त्र पर चटकीला उतरता है। ऐसे ही वस्त्र को लक्ष्य कर एक स्थान पर कहा गया है कि वस्त्र अपने-आप ही रँग गया।[१२] कभी-कभी एक वस्त्र के भिन्न-भिन्न-भागो को अलग-अलग रगो से रँगते थे। ये वस्त्र चित्रवासस् कहलाते थे।[१३]

तन्तुवाय—तन्तुवाय का उल्लेख भाष्य मे रजक के साथ मिलता है।[१४] तन्तुवाय वस्त्र बनाते थे। घर-घर मे सूत कातने की प्रथा थी। कता हुआ सूत तन्तुवाय को दे दिया जाता था। तन्तुवाय स्वय भी सूत तैयार करते होगे, किन्तु भाष्य मे तन्तुवाय के घर जाकर उसे सूत देकर

---

१. ४-२-१।
२. ४-२-२।
३. वही, पृ० १६६।
४. वही।
५. वही।
६. वही, पृ० १६६।
७. ३-१-१, पृ० ५।
८. इण्डिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० २३१।
९. लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति।—१-१-२७, पृ० २२०।
१०. ५-४-३२।
११. ५-४-३३।
१२. ३-१-९०, पृ० १५७।
१३. १-१-२७, पृ० २२०।
१४. २-४-१०, पृ० ४६५।

वस्त्र बुनवाने की चर्चा है। कोई तन्तुवाय को सूत देकर कहता है कि इसकी धोती बुन दो। तन्तु-वाय सोचना है कि यदि धोती है, तो बुनने की क्या आवश्यकता ? और यदि बुनना है, तो धोती नही हो सकती। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मुझे सूत्र को इस प्रकार बुनना है कि बुनने पर इसका नाम शाटक हो जाय। इसकी शाटक सज्ञा अभी होनेवाली है, है नहीं।[1]

बुनाई के साधन—तन्तुवाय के तुरी-वेमा को, जिसपर यह वस्त्र बुनता था, आवाय कहते थे।[2] उसका वेमा तन्त्र कहलाता था।[3] जिससे वह बुने हुए सूत को संघन करता जाता था, उस (Sh-utlla) की सज्ञा थी प्रवाणि, अर्थात् जिससे बुना जाय।[4] यह तन्तुवाय की शलाका थी, ऐसा काशिका मे कहा है। तन्तुवाय पहले सूत को उतना लम्बा-चौडा फैला लेता था, जितना लम्बा-चौडा वस्त्र उसे बुनना हो। इसे तन्त्र को आस्तीर्ण करना कहते थे।[5] बाद मे वह चौडाई मे सूत पिरोता जाता था।[6] प्रवाणि से बुनकर तुरन्त हटाया गया वस्त्र निष्प्रवाणि कहलाता था।[7] कम्बल की बुनाई का प्रकार भी यही था। इसलिए, कम्बल को निष्प्रवाणि कहा जा सकता था। तन्त्र पर से हटाया हुआ, अर्थात् तुरन्त बुनकर उतारा हुआ वस्त्र तन्त्रक कहा जाता था।[8] तन्त्रक और निष्प्रवाणि दोनो वस्त्रो का अर्थ होता था, तुरन्त बुने हुए वस्त्र।

धुलाई के मसाले—बुनने के बाद तन्तुवाय वस्त्रो को मसाले से धोते थे, जिससे मटमैले सूत के वस्त्र भी शुक्ल हो जाते थे।[9] शुक्लता मे भी अन्तर होता था। भाष्यकार ने वस्त्र के शुक्ल और शुक्लतर ये भेद किये हैं। शुक्लता और सूत के अन्तर से वस्त्रो के अर्घ्य मे भी अन्तर रहता था।[10] बराबर लम्बाई और चौडाई होने पर भी काशी मे बने वस्त्र का मूल्य मथुरा मे बने वस्त्र से भिन्न रहता था। इसका कारण वस्त्रो का गुण-भेद था। बनानेवाले जुलाहे धौत को दूसरे मसाले से धोते थे, शैंफालिक को दूसरे से और माध्यमिक को तीसरे से। इस प्रकार वे किसी वस्त्र शैंफालिक को दूसरें से और माध्यमिक को तीसरे से। इस प्रकार वे, किसी वस्त्र को शुद्ध धौत बना देते थे, किसी को शैंफालिक और किसी को माध्यमिक। वस्त्रो के मूल्य-भेद का यही कारण न था। उनकी सूक्ष्मता की तरतमवत्ता भी मूल्य के

---

१ १-१४५, पृ० २८०।

२. ३-३-१२२।

३. ५-२-७०।

४. ५-४-१६०।

५. आस्तीर्णं तन्त्रम्, प्रीतितन्त्रम्।—१-४-५४, पृ० १८४।

६. वही।

७. ५-४-१६०, काशिका।

८. तन्त्रादचिरापहृतः तन्त्रकः पटः तन्त्रकः प्रावारः। प्रत्यग्रो नव उच्यते।—५-२-७०, काशिका।

९. १-१-११, पृ० १७६।

१०. ५-३-५५, पृ० ४५२।

अपकर्पोत्कर्ष का कारण होती थी। सूक्ष्मता का दायित्व सूत्र या तन्तु कातनेवाले पर निर्भर रहता था।[1]

रेशम के वस्त्र---कार्पास-वस्त्र के अतिरिक्त तन्तुवाय रेशम के भी वस्त्र बनाते थे। भाष्यकार ने इन्हे क्षौम वस्त्र कहा है।[2] ये क्षुमा से बनते थे। वस्त्र कौशेय भी होते थे। भाष्यकार ने बतलाया है कि कोश से उत्पन्न होने के कारण इन्हे कौशेय कहते है। यो ये कोश मे नही उत्पन्न होते, अपितु कोश के विकार होते है। यो तो धूल भी कौशेय से होती है। कोश को जला दो, तो उसकी धूल भी कोश का ही विकार मानी जायगी। कोश मे उत्पन्न माने, तो रेशम का कीडा भी तो कोश मे ही रहता है, फिर भी कीडे या धूल या भस्म के लिए लोक मे कौशेय का प्रयोग न होकर वस्त्र के लिए ही होता है।[3]

भारत मे क्षौम के प्रारम्भ का पता लगाना कठिन है। चीन मे रेशम के कीडे २७वी बी० सी० शती मे पाले जाते थे। कुछ इतिहासविदो के अनुसार खोटन के राजकुमार के साथ एक चीनी राजकुमारी का विवाह हुआ था और वह चीन से चोरी-चोरी रेशम के कीडे तथा शहतूत का पौधा ले आई थी। कुछ विद्वानो के मत से भारत मे रेशम का आगमन छठी बी० सी० मे भारत-चीन सम्बन्धो के परिणामस्वरूप हुआ, यद्यपि यह इस बात का प्रमाण है कि भारत के पूर्वीय भाग मे रेशम के कीडो के अनेक भेद पहले से ही विद्यमान थे।

भारत मे ७वी बी० सी० से रेशम का पर्याप्त प्रचार था। अर्थशास्त्र मे भारतीय रेशम के साथ चीनपट्ट और चीनभूमिज रेशम का भी उल्लेख है।

और्ण वस्त्र---कम्बल या ऊर्णा के वस्त्र बनानेवालो को भी तन्तुवाय ही कहना चाहिए, यद्यपि कम्बल या ऊनी वस्त्र बनानेवालो का एक स्वतन्त्र वर्ग था। सूती वस्त्र सूत्र से बनते थे। कते हुए ऊन के तागे के लिए तन्तु का व्यवहार होता था। इस प्रकार, शुद्ध अभिधार्थ की दृष्टि से तन्तुवाय इन्ही को कहना चाहिए। भाष्यकार ने कहा भी है--'एक तन्तु त्वचा की रक्षा नही कर सकता, किन्तु उनका समुदाय रूप कम्बल कर सकता है।'[4]

कम्बल---कम्बल सफेद रग के बनते थे।[5] काले या पाटल भी बनते होगे। शुक्ल कम्बल का उल्लेख भाष्यकार ने कई बार किया है। यो तो कम्बल भिन्न-भिन्न आयाम और विस्तार के बनते थे तथा उनकी मोटाई और वजन मे अन्तर रहता था, किन्तु एक विशेष प्रकार के कम्बलो का प्रचलन अधिक था, जिनकी लम्बाई-चौड़ाई और वजन निश्चित था।[1] ये निश्चित परिमाण के कम्बल बाजार मे अधिक मिलते थे। सामान्य कम्बल कहने से इन्ही का बोध होता था। यद्यपि

---

१. इहास्यापि सूक्ष्माणि वस्त्राण्यस्यापि लक्ष्माणि वस्त्राणीति परत्वादातिशायिकः प्राप्नोति---सूक्ष्म वस्त्रतरादर्थः---५-३-५५, पृ० ४५२।

२. ८-३-३७, पृ० ४२२।

३. कौशस्य विकारः कौशेयम्। न ह्यदः कोशे सम्भवति। किं तर्हि कोशस्यादो विकारः---भस्मापिकोशस्य विकारः।---४-३-४२, पृ० २३४।

४. १-२-४५, पृ० ५३५।

५. १-२-६९, पृ० ६०३।

सामान्य परिमाण के तथा दूसरे विक्रय-योग्य कम्वलो को पण्यकम्वल ही कहते थे, फिर भी दोनो अर्थो मे प्रयुक्त इस शब्द के उच्चारण मे अन्तर था। सामान्य कम्वल, जिसका औसत वजन १०० पल या ५ सेर रहता था, उच्चारण मे पूर्वपद प्रकृति-स्वर रहता था, किन्तु अन्य पण्यकम्वलो के उच्चारण मे समासान्तोदात्त वोला जाता था।[1] पूर्व-पद प्रकृति-स्वरवाला 'पण्यकम्वल' शब्द सज्ञा वन गया था। निश्चित परिमाण के इस कम्वल मे लगनेवाली ऊन का वजन भी सज्ञा वन गया था। इसे कम्वल्य ऊर्णा कहते थे। कम्वल्य शब्द १०० पल ऊन का पर्यायवाची वन गया था। उससे भिन्न परिणाम के कम्वल मे काम आनेवाली ऊर्णा को कम्वलीय कहा जाता था।[2] कम्वल्य शब्द परिमाण की संज्ञा वन गया था। कम्वल्य से क्रय-विक्रय का काम चलता था। यथा, दो कम्वल्यो से खरीदी वस्तु द्विकम्वल्य कही जाती थी।

पाण्डुकम्वल--कभी-कभी देशविशेष मे वनने एव प्रसिद्धि पा जाने के कारण वहाँ के कम्वलो का नाम उस प्रदेश के नाम पर चल पड़ता था। उदाहरणार्थ रंकु-प्रदेश मे वने कम्वल राकव कहलाते थे[3]। इसी प्रकार, पाण्डुकम्वल[4] भी विशिष्ट कम्वलो का नाम पड गया था, जो पाण्डु रग के तो होते ही थे, किन्तु पाण्डु रग के साधारण कम्वल न थे। डॉ० वा० श० अग्रवाल के अनुसार ये उड्डीयान या स्वात घाटी मे वनाये जाते थे और वहाँ से देश-भर मे निर्यात होते थे। ये वहुमूल्य थे और काशिका के अनुसार राजास्तरण के काम आते थे। रथो के आसनास्तरणो के रूप मे इनका प्रयोग होता था। रथो का अन्तर्भाग सामान्यतया तीन वस्तुओ से मढा जाता था--वस्त्र, चर्म और कम्वल।[5] सामान्य कम्वल से मढा हुआ रथ 'काम्वल रथ' कहलाता था, किन्तु पाण्डु कम्वल से मढे हुए रथ का वैशिष्ट्य-सूचन के लिए उसे पाण्डुकम्वली कहते थे।[6] सामान्य कम्वल के ऊपर इसका महत्त्व प्रतिपादन करने के लिए ही इसे राजास्तरण कहा जाता था।[7] इसकी किनारी रगीन होती थी।

डॉ० अग्रवाल ने कम्वल की प्रावार और वर्णका नामक दो जातियाँ और मानी हैं, पर वास्तव मे ये कम्वल के भेद नही थे।[8] प्रावार या प्रवर ऊनी, सूती या रेशमी किसी भी प्रकार की चादर को कहते थे, जो उसके निष्पादक सूत्र 'वृणोतेराच्छादने' (३-३-५४) से स्पष्ट है। यदि यह शब्द सज्ञा होता, तो इसी अर्थ मे द्वितीय शब्द प्रवर न वनता, क्योकि सज्ञा शब्द रूढ होते है। 'तन्त्रादचिरापहृते' (५-२-७०) सूत्र के काशिकोदाहरण 'तान्त्रक पट, तान्त्रक प्रावार'

---

१. पण्यकम्वलः संज्ञायामिति वक्तव्यं यो हि पणितव्यः कम्वलः पण्यकम्वल. एवासौ भवति। ६-२-४२, पृ० २५९।

२. ५-१-३, पृ० २९७।

३. ४-२-१०० काशिका।

४. ४-२-११, पृ० १७१।

५. ४-२-१०, पृ० १७०।

६. ४-२-११, पृ० १७१।

७. पाण्डुकम्वले शब्दो राजास्तरणस्य वर्णकम्वलस्य वाचकः--४-२-११ का०।

८. इण्डिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० २३२।

में पट से पृथक् प्रावार का उल्लेख उसके तान्तव होने मे प्रमाण नही माना जा सकता। वर्णका किसी भी ऊनी कपडे को कह सकते है। उसका कम्वल होना आवश्यक नही है, विशिष्ट जाति का कम्वल होना तो दूर की वात है। केवल तान्तव (तन्तु से वना हुआ) अर्थ में वर्णका शब्द प्रयुक्त होता था।[1] ऊर्णा से वने वस्त्र को सावारणतया औणं या औणंक कहते थे।[2]

इस प्रकार, तन्तुवाय भारतीय आर्थिक जीवन का अनिवार्य और प्रमुख अग था। वह अपने तन्त्रो का स्वामी होता था और आर्थिक दृष्टि से उन्नत था। तन्तुवाय के शिल्प मे प्रतियोगिता के कारण पतजलि-काल में पर्याप्त प्रगति हुई जान पडती है। यहाँतक कि काशी, मथुरा, मध्यमिका (चित्तौड) के वस्त्र अपने शिल्प-वैशिष्ट्य के कारण अलग-अलग पहचाने जा सकते थे। इस प्रतियोगिता के कारण ही वस्त्रो के रूप, रग और सूक्ष्मतादि गुणो मे पर्याप्त उन्नति परिलक्षित होती है।

तन्तुवाय की सन्तान तान्तुवाय्य कहलाती थी। उत्तर मे तान्तुवायि शब्द का प्रचलन था।[3] इसी प्रकार, अयस्कार के अपत्य को आयस्करि, लोहकार के पुत्र को लौहकारि और नापित की सन्तान को नापितायनि कहकर पुकारा जाता था।[4]

चर्मकार—चर्मकार मरे पशुओ का चर्म उधेड़ता, उसे कमाकर मुलायम वनाता और उससे आवश्यक वस्तुएँ तैयार करता था। आर्द्र चर्म तथा रक्तमिश्रित चर्म को वह व्यवहार मे लाता था।[5] शिकार मे मारे हुए पशुओ का ताजा चमडा प्रचुरता से प्राप्त हो जाता था; क्योकि शिकार की प्रथा पतजलि काल तक खूब थी। चर्मकार, वार्ध्रा (वद्धी), नध्री (नद्धी), वरत्रा (वरत), कोश (तलवार आदि के म्यान) सनगु (चर्म-वस्तु), छदि (आवरण) और उपानत् (जूते) वनाता था। इनके लिए प्रयुक्त होनेवाले चर्म की सज्ञा भाष्यकार ने वार्ध्र (वार्ध्रा)[6] वारत्र[7] (वरत्रा), सनगव्य[8] (सनगु) छदिषेय (छदि)[9] और औपानह्य[10] (उपानह्)वतलाई है। चमडे के तलवार के म्यान या रथ को चार्मकोश कहते थे।[11] रथकार के बैठने का भाग चमड़े से मढ़ा जाता था। ऐसे रथ को चार्मण कहते थे।[12] उपानह् चमडे और लकड़ी दोनो के

---

१. ७-३-४५, पृ० १९०।
२. ४-३-१५८।
३. ४-१-१५२, पृ० १५३।
४. ४-१-१५८, पृ० १५३।
५. ७-१-३९, पृ० ४४।
६. ५-१-१५।
७. वही।
८. ५-१-२, पृ० २९४, २९५।
९. वही।
१०. वही।
११. ६-४-१५४, पृ० ४८३।
१२. ४-२-१० का०।

बनते थे ।[1] चर्मकार पैर की नाप लेकर जूता तैयार करता था, जिसे अनुपदीन कहते थे।[2] कुछ चर्मकार जूते की तली मे गत्ता, लकडी या अन्य ऐसी वस्तु भर देते थे। कुछ जूते केवल चर्म के बनते थे, जो सर्वचर्मीण कहे जाते थे।[3] सर्वचर्म का अर्थ यहाँ पूरा या समूचा चमडा नही है। इसलिए, सर्वचर्मीण का अर्थ बिना काटे हुए समूचे चमडे से बनी हुई वस्तु नही है। यह काशिकाकार ने स्पष्ट किया है। सर्वचर्मीण के स्थान पर सार्वचर्मीण पद का भी व्यवहार हो सकता था।

नगरकार—भाष्य मे एकाधिक बार नगरकार शब्द का प्रयोग हुआ है, जो सम्भवत· यन्त्री के अर्थ मे आया है।[4] जिस प्रकार भाष्य मे वास्तु-कला के अगो की चर्चा है, उससे यह तो सकेत मिलता ही है कि वास्तु-विद्या के विशारदो की सख्या देश मे पर्याप्त रही होगी। उन्होने वास्तुकर्म के अगो को वास्तव्य[5] कहा है और वास्तु का स्वतन्त्र उल्लेख भी किया है। एक स्थान पर सूत्रग्रह की भी चर्चा है, जो राज या मिस्त्री का बोधक है।[6] यदा-कदा सूत्र पकडनेवाले के लिए सूत्रग्राह शब्द का प्रयोग होता था। सूत्रग्रह सज्ञा शब्द है। नगरकार का उल्लेख हर बार कुम्भकार के साथ होने से यह अनुमान होता है[7] कि नगरकार शब्द का प्रयोग मिस्त्री या राज (masion) के लिए ही हुआ है।

कटकार—कट और कटकार शब्दो का प्रयोग महाभाष्य मे जिस प्रचुरता से हुआ है, उससे स्पष्ट मालूम होता है कि कटकारो की एक स्वतन्त्र श्रेणी चटाइयाँ बुनने का ही व्यवसाय करती थी। लोग काश, तृण या पुलाल के पूल इन्हे देते थे और कट बुनवा लेते थे।[8] वीरण की चटाइयाँ अच्छी बनती थी।[9] इसके साधन थे रज्जु, कील और पूल।[10] इनसे काटकर मोटी, पतली, छोटी, बडी, वजनी, हल्की, साधारण और चित्रमय दर्शनीय चटाइयाँ बनाते थे।[11] इससे प्रतीत होता है कि कट का व्यवसाय शिल्प का स्वरूप ग्रहण कर चुका था। भाष्यकार ने एक स्थान पर कट को वेणी-सा सुन्दर कहा है[12], जिसका तात्पर्य मुलायम, चिकने और सरलता से मुडकर तह बन जानेवाले कट से है। यह नाम सनम् (पहले) गु (गो) = गोचर्म से बने होने के कारण पडा था।

---

१. ५-१-१४।

२. ५-२-९ काशिका।

३. ५-२-५ काशिका।

४. १-१-३९, पृ० २४७।

५. ३-१-९६, पृ० १८०।

६. सूत्रे च धार्ये र्थे ग्रहेरुपसंख्यानम् सूत्रग्रहः। धार्येऽर्थे इति किमर्थम्? यो हि सूत्रं गृह्णाति सूत्रग्राहः स भवति।—३-२-९, पृ० २११।

७. १-३-३, पृ० २३ तथा १-१-३९, पृ० २४७।

८. ३-१-९२, पृ० ६८।

९. सुकण्टकराणि वीरणानि।—१-४-८०, पृ० १९८।

१०. सन्नद्धं रज्जुकीलकपूल-पाणिं दृष्ट्वा त इच्छा गम्यते।—३-१-७, पृ० २९।

११. २-३-१, पृ० ३९८।

१२. ३-२-१०२, पृ० २३९।

एक स्थान पर कहा है कि जो कट बनाना चाहता है, वह कहता नही फिरता कि मै कट बनाने जा रहा हूँ। उसे रस्सी, कीलें, और पूल लिये कुछ करने को उद्यत देखकर उसकी इच्छा का पता चल जाता है।[1] छोटी चटाई को कटी कहते थे। साधारण चटाई के लिए तृणो के दो पूलों की आवश्यकता होती थी।[2]

रज्जुकार—रज्जु बनाना भी शिल्प था। मूँज को मोटा-पतला बटना, शण आदि को मोटा या सूक्ष्म कातना, ऐठना और दोहरा, तेहरा या चौलड मिलाना कौशल की अपेक्षा करता था।[3] भाष्य मे इसके सकेत यत्र-तत्र मिलते हैं।

आर्कषिक—आर्कषिक लोग भी स्वतन्त्र व्यवसायी जान पडते है। आकर्षक लोग सुवर्ण-परीक्षा मे निपुण होते थे।[4] गाँव मे बन्धक रखे जानेवाले, आभूषणार्थ काम मे आनेवाले तथा क्रय-विक्रय मे व्यवहृत होनेवाले सुवर्ण की परीक्षा के लिए आर्कषिक को बुलाया जाता था, जो कुछ पारिश्रमिक लेकर सुवर्ण की परीक्षा करता था।[5] आकर्षक और आर्कषिक के भेद को स्पष्ट जानना आवश्यक है। डॉ० वा० श० अग्रवाल ने दोनो को एक मान लिया है।[6] आकर्षक साधारण सुवर्णकार है, जो अपने व्यवसाय के अग के रूप मे सुवर्ण परीक्षा मे भी निपुण होता था, किन्तु आकर्षिक की जीविका का सहारा यही था। वह लोगो के घर जाकर काम करता था।

राजशिल्पी—आजकल राजवैद्यो के समान पतजलि-काल मे भी कुशलता व्यक्त करने के लिए शिल्पी लोग अपने नाम के पूर्व राज शब्द का व्यवहार करते थे। जैसे राजनापित, राज-कुलाल।[7] यह कर्मधारय समास-युक्त पद था। इसका अर्थ राजा का नापित नही समझना चाहिए। राज शब्द श्रेष्ठ वाची है। इसका ठीक विरोधी शब्द ग्राम-नापित या ग्राम-कुलाल था।[8]

जीविका के अन्य साधन—जीविका के कुछ अन्य भी महत्त्वपूर्ण साधन थे, यद्यपि वे शिल्प की कोटि मे नही आते। आसुतीवल भभके से शराब खीचता और बेचता था।[9] यही उसकी जीविका का साधन था। कुछ लोग शिकार खेलकर और बेचकर जीविकार्जन करते थे। इनमे मैनिक[10] मुख्य थे। ये लोग जाल रखते थे और उससे मछलियाँ पकडते थे। पक्षी फाँसने के लिए भी जाल का प्रयोग होता था। जाल को आनाय भी कहते थे।[11] पक्षी पकड़कर उन्हे बेचनेवाले व्याध

---

१. ३-१-७, पृ० २९।
२. ३-१-९२, पृ० १६८ तथा ६-१-८४, पृ० ११५।
३. १-१-४४, पृ० २७५।
४. ५-२-६४।
५. ४-२-९।
६. इण्डिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० २३५।
७. ६-२-६३।
८. ६-२-६२।
९. ५-२-११२।
१०. १-१-६८, पृ० ४३५।
११. ३-३-१२४, पृ० ३१९।

होते थे। मीनों की विशेष जातियो के नाम पर भी इनके नाम रख दिये जाते थे; जैसे शाफरिक, शाकुलिक। सामान्यतया ये मात्स्यिक मैनिक, पाक्षिक या मार्गिक आदि कहलाते थे।[१] अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित करने के कारण ही इनका यहाँ उल्लेख किया गया है, यद्यपि ये शिल्पी की कोटि मे नही आते।

शिल्पियों की सख्या देश मे अधिक थी। ऐसा शायद ही कोई गाँव होगा, जिसमे अयस्कार, वर्धकि (बढई), कुलाल, नापित और रजक न रहते हो।[२] नागेश ने इनका परिगणन किया है।

सामान्य शिल्पी को कारु कहते थे।[३] उसके लिए 'कारि' शब्द का भी प्रयोग मिलता है।[४]

---

१. ४-४-३५।

२. ब्राह्मण ग्राम आनीयतामित्युच्यते तत्र चावरतः पञ्चकारुकी भवति।––१-१-४८, पृ० २९५।

३. ४-१-१५२।

४. वही।

अध्याय ५

व्यापार और वाणिज्य

व्यवहार और वाणिज्य—महाभाष्य मे व्यापार, वाणिज्य तथा लेन-देन के लिए व्यवहार शब्द का प्रयोग हुआ है। सौ या हजार रुपये का लेन-देन करने के अर्थ मे 'शतस्य व्यवहरति' या 'सहस्रस्य व्यवहरति' का प्रयोग होता था। यो पण् धातु भी इसी अर्थ मे प्रयुक्त होती थी, किन्तु उसका अर्थ अपेक्षाकृत सकुचित था और 'शतस्य पणते' से यही समझा जाता था कि व्यक्ति सौ रुपये की वस्तु खरीदता या बेचता है।[1] खरीदने के अर्थ मे क्रय, बेचने के अर्थ मे विक्रय और दोनो के सयुक्त अर्थ मे क्रय-विक्रय शब्द प्रचलित था और व्यापारी क्रय-विक्रयिक कहलाते थे।[2] व्यवहार का जो व्यापक अर्थ था, उसके लिए वाणिज्य शब्द था और वाणिज्य करनेवाले के लिए वाणिज।[3] इससे कुछ सकुचित अर्थ मे वणिक् शब्द प्रचलित था, जिसका साधारण अर्थ था व्यापारी। वणिक् और तुला का सबध अविच्छेद्य-सा माना जाता था। इसीलिए, एक स्थान पर वणिज् शब्द से तत्सम्बन्धी तुला-सूत्र का ग्रहण किया गया है। जिस रस्सी को पकड़कर तराजू उठाई जाती है, उसे तुला-प्रग्राह कहते थे। तुला-प्रग्राह को लेकर घूमनेवाले या उससे जीविका कमानेवाले सामान्यतया वणिक् और यदा-कदा कोई दूसरे भी होते थे। इससे यह भी पता चलता है कि व्यापार या वाणिज्य अनिवार्य रूप से वणिक् (जाति) के ही हाथ मे नही था।[4] हाँ, ब्राह्मण लोग वणिग्व्यवसाय मे कम प्रवृत्त होते थे। एक स्थान पर भाष्यकार ने कहा है कि उरद के समान काले आदमी को दूकान मे बैठा देखकर कोई नही समझेगा कि यह ब्राह्मण है।[5]

वाणिजो की श्रेणियाँ—वाणिजो के नाम या श्रेणियाँ दो आधारो पर थी—एक उनके वाणिज्य के स्थान के नाम पर और दूसरे वाणिज्य की वस्तु के नाम पर। अन्तरप्रान्तीय (और तत्कालीन भाषा का प्रयोग करे, तो अन्तरराष्ट्रीय) वाणिज्य के प्रमाण भाष्य मे मिलते है, यद्यपि भारत से बाहर माल के आने-जाने का पता हमे नही चलता। पश्चिमी तट पर वाणिज्य की सीमा

---

१. २-३-५७ काशिका।

२. ४-४-१३ काशिका।

३. ६-२-१३।

४. .... वणिजाम् वणिक्सम्बन्धेन च तुलासूत्रं लक्ष्यते न तु वणिजस्तन्त्रम्। तुला प्रगृह्यते येन सूत्रेण स शब्दार्थः। तुलाप्रग्राहेण चरति तुलाप्रग्राहेण चरति वणिगन्यो वा।—३-३-५२ काशिका।

५. नह्यं कालं माषराशिवर्णमापणे आसीनं दृष्ट्वाऽध्यवस्यत्यं ब्राह्मण इति।—२-२-६, पृ० ३४१।

भृगुकच्छ जान पडती है। भद्र, कश्मीर, गान्धार आदि मे जाकर व्यापार करने का उल्लेख काशिका मे स्पष्ट है। सम्बद्ध पाणिनि-सूत्र भी अन्य प्रदेश मे जाकर वाणिज्य करने की बात कहता है और इस आधार पर वाणिज्यो की श्रेणियाँ निश्चित करता है। *यथा*—मद्रवाणिज, काश्मीरवाणिज।[1] वस्तुओ के आधार पर अश्ववाणिज, गोवाणिज आदि नाम उनका वाणिज्य करनेवालो के पड जाते थे। वशकठिन (वन-सम्पत्ति या बाँस) का व्यवहार (व्यापार) करनेवाले को वशकठिनिक, वर्ध्र या तृण-विशेष का व्यवहार करनेवाले को वर्ध्रकठिनिक और खनिज द्रव्यो के व्यापारी को प्रास्तरिक कहते थे।[2] पाणिनि ने सस्थान शब्द का भी प्रयोग किया है: सस्थान, व्यापार-सघो को कहते थे। उनके सदस्य के रूप मे व्यापार करनेवाले की सज्ञा सास्थानिक थी।[3]

सार्थ—भाष्य मे सार्थिक का भी उल्लेख है। काशिकाकार 'तदगच्छति पथि दूतयो' (४-३-८५) के प्रत्युदाहरण के रूप मे स्रुघ्न जानेवाले सार्थ का उल्लेख किया है। सार्थ बनाकर चलनेवाले सार्थिक होते थे। यात्रा मे विशेषत व्यापार-सम्बन्धी यात्रा मे सार्थवहन का बहुत महत्त्व था। यदि कोई अकेला भी चल पडा, तो कान्तार आने पर रुक जाता था और किसी सार्थ मे सम्मिलित हो जाता था। कान्तार निकल जाने पर वह फिर सार्थ छोडकर स्वतन्त्र चलने लगता था।[4] चोर और बटमार मार्गो के किनारे छिपकर बैठ जाते थे और अकेले-दुकेले निकलनेवाले वणिको को लूट लेते थे। इसीलिए, चोर को पारिपन्थिक कहते थे।[5] इससे, कान्तारो मे लूट-पाट का भय बना रहता था, यह बात स्पष्ट है। सार्थ का उद्देश्य ही लूट-पाट से बचना था। कभी कोई सार्थ से बिछुड जाता था।[6] क्योकि, सार्थवाह रात्रि के विश्राम-काल को छोडकर अन्यदा चलते रहते थे। उन्हे लम्बी यात्रा तय करनी रहती थी। इस प्रकार सतत और साथ चलनेवाले वणिकों को 'अपरस्पर' सार्थ कहते थे।[7] केवल सार्थ बनाकर चलनेवाले सातत्य-विरहित सार्थ के लिए 'अपरपर' विशेषण का प्रयोग होता था। कभी-कभी कई सार्थ एक स्थान पर ही आकर ठहर जाते और रात बिताते थे। कभी-कभी किसी विशेष सकट-स्थल मे अनायास ही अनेक अपरिचित व्यापारियो का सार्थ बन जाता था। सार्थो के पड़ाव के स्थान प्राय निश्चित रहते थे। भाष्यकार ने कहा है कि एक प्रतिश्रय मे टिकनेवाले अनेक सार्थ सवेरे उठकर अपने-अपने गन्तव्य स्थान को चल पडते हैं और उनमे कोई सम्बन्ध नही होता।[8]

---

१. ६-२-१३ का०।

२. ४-४-७२ का०।

३. ४-४-२।

४. कश्चितकान्तारे समुपस्थिते सार्थमुपादत्ते। स यदा निष्कान्तारीभूतो भवति तदा सार्थं जहाति।—१-१-७४, पृ० ४६३।

५. ४-४-३६।

६. १-१-२४, पृ० १६१।

७. ६-१-१४४।

८. सार्थिकानामेकप्रतिश्रय उषितानां प्रातरुत्थाय प्रतिष्ठमानानां न कश्चित् परस्परं सम्बन्धो भवति।—२-२-२४, पृ० ३७०।

पण्य—ऊपर कहा जा चुका है कि व्यापार के लिए व्यवहृत (वि+अव+हृ) तथा पण् दोनो धातुओ का प्रयोग होता था। यद्यपि पण् का क्षेत्र सकुचित था। पण् का प्रयोग साधारण दूकानदारी के लिए होता था। बेची जाने योग्य वस्तु पण्य कहलाती थी।[1] जो व्यक्ति पण्य का काम करता था, उसके नाम अनेक बार पण्य वस्तुओ के आधार पर निश्चित किये जाते थे। यथा, अपूप बेचनेवाले को आपूपिक, शष्कुली बेचनेवाले को शाष्कुलिक और मोदक बेचनेवाले को मौदकिक कहकर पुकारते थे।[2] जिन लोगो का पण्य अश्व था, वे अश्ववाणिज और जिनका पण्य गो था, वे गोवाणिज कहे जाते थे।[3] जिस स्थान पर खरीद-बिक्री की जाती थी, उसका नाम आपण होता था।[4] जो वस्तु दूकान पर प्रदर्शनार्थ रखी जाती थी, उसे क्रय्य कहते थे।[5] विक्रयार्थ रखी हुई वस्तु को ही क्रय्य कहते थे। अन्य (क्रेतव्य) अर्थ मे क्रेय शब्द का व्यवहार होता था।[6] दूकान पर बैठा हुआ वणिक् एक वस्तु को तोलकर उसका हिसाब कर लेता था, तब प्रथम ग्राहक से निवृत्त हो जाने के बाद दूसरे के लिए कोई वस्तु तोलता था।[7] खरीदी हुई वस्तु क्रीत होती थी और मूल्य के आधार पर उसके विशेष प्रयुक्त होते थे। यथा—दो सौ से खरीदी हुई द्विशता,[8] निष्क से खरीदी हुई नैष्किक, दो शूर्प अन्न से खरीदी हुई द्विशूर्प और उससे खरीदी हुई वस्तु द्विशौर्पिक,[9] अर्ध, कार्षापण, अध्यर्घ सुवर्ण और द्विशतमान से क्रय की हुई वस्तुएँ क्रमश. आर्धिक,[10] कार्षापणिक,[11] अध्यर्ध सौवर्णिक[12] और द्विशातमान[13] कही जाती थी।

सत्याकरण—मूल्यवान् वस्तुएँ यथा पशु आदि खरीदने के लिए पहले बयाना या साई देने की प्रथा थी। ग्राहक आपणिक को क्रयेच्छा का प्रमाण देने के लिए दो-एक रुपये पहले देता था, तब मोल-भाव करता था। वह निश्चित मूल्य पर सौदा तय करके अपने वचन की विश्वास्यता के प्रतीक-रूप थोडी-सी राशि, जो प्राय दो एक कार्षापण होती थी, देता था। शेष धन बाद मे दिया जाता था। साई ले लेने के बाद आपणिक या वणिक् उस वस्तु को अन्य किसी के हाथ नही बेच सकता था, भले ही बाद मे उसे वस्तु का मूल्य अधिक मिलता हो। इस क्रिया को 'सत्यापयति' कहते

---

१. ३-१-१०१।
२. ४-४-५१ का०।
३. ६-२-१३ का०।
४. ३-३-११९, वही।
५. ६-१-८२, पृ० ११२।
६. वही।
७. ३-१-११ काशिका।
८. ५-१-१९, पृ० ३०७।
९. ५-१-२०, पृ० ३१२।
१०. ५-१-२५, पृ० ३१६।
११. वही।
१२. ५-१-२९, पृ० ३१९।
१३. वही।

थे, जिसका अर्थ था बात पक्की करना।[1] साई लेने की क्रिया को 'सत्याकरोति' कहते थे।[2] काशिकाकार ने भाण्ड के सत्याकरण का उल्लेख किया है।[3] सत्यकार[4] की यह प्रथा क्रय-विक्रय के अतिरिक्त श्रमिकादि को नियुक्त करने में भी प्रचलित थी और आज भी प्रचलित है। जो श्रमिक एक मालिक के लिए साई ले लेता है, वह उसके लिए पक्का हो जाता है।

पण्य वस्तुएँ—पण्य वस्तुओं की संख्या बहुत अधिक है, फिर भी जिनका उल्लेख भाष्य मे प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त होता है, वे ये हैं—

खाद्यान्न—गुड़,[5] मूंग, जौ, सब प्रकार के अन्न[6], दालें, हैयंगवीन[7] (घी), दही, उदश्वित्, कुल्माष, अपूप, शष्कुली, मोदक, फाण्ट[8], सर्षप,[9] लवण[10], मांस[11]।

शाक—शाक[12] तथा दाडिम[13], द्राक्षा[14], बिल्व (४-३-१३६), बदर आदि फल।

पेय—मथित[15], मद्य[16], सुरा, मैरेय[17], गुड या महुए से बनाई हुई एक प्रकार की शराब। सुरा[18] जौ से भी तैयार की जाती थी। आसुत[19] (भभके से खींची या चुआई हुई शराब), कापिशायन[20] (अंगूर से बनी शराब, जो उत्तरी अफगानिस्तान के कापिशी प्रदेश से आती थी)।

---

१. ३-१-२५, पृ० ६५।
२. ५-४-६६।
३. ५-४-६६ का०।
४. ६-३-७०, पृ० ३४६।
५. ४-४-१०३
६. ३-२-९३, पृ० २३६।
७. ५-२-२३, पृ० ३७३।
८. ४-४-५१ का०।
९. आ० २, पृ० ६२।
१०. ४-४-५२।
११. ६-२-१२८।
१२. वही।
१३. १-२-४५, पृ० ५२७।
१४. ४-२-९८, पृ० २०३।
१५. ५-३-८३, पृ० ४७४।
१६. ३-१-१०।
१७. २-२-२९, पृ० ३७९ तथा ६-२-७० का०।
१८. ४-२-२५।
१९. ५-२-११२।
२०. ४-२-९८, पृ० २०३।

वस्त्र—कौशेय[1], औम या औमक[2] (Linen), और्ण या और्णक[3], मगार (पटसन) से बने वस्त्र कार्पासिक[4] (सूती), इनके विशेष प्रकार यथा उपसव्यान[5], आच्छादन[6], बृहतिका[7], प्रावार, शाटी[8], शाटक[9], कम्बल[10], पाण्डुकम्बल[11], पण्यकम्बल[12] तथा कौशेय, उमा, ऊर्णा, मगा, कार्पास[13], तूल[14] आदि।

सुगन्ध—किशर[15], नरद, नलद, सुमगल, तगर, गुग्गुलु, उशीर, हरिद्रा, शलालु[16], चन्दन[17], इन वस्तुओ को वेचनेवाला आपणिक भी सुगन्ध कहलाता था।[18]

अलंकार—सोने-चाँदी के आभूषण तथा कर्णिका, ललाटिका[19], रुचक, कुण्डल, स्वस्तिक, कटक[20], अगद[21], किरीट आदि तथा लोहितिक[22], सस्यक[23], वैदूर्य[24] आदि मणियाँ।

संगीत-सामग्री—वाद्य यथा मड्डुक,[25] झर्झर (क्रमशः मृदंग तथा मँजीरा), वीणा[26], मुरज, पणव[27], पिठर (खंजडी), भेरी[28] आदि।

मूर्त्तियाँ—प्रतिकृतियाँ मिट्टी अथवा धातु की वनी, यथा अश्वकादि[29] तथा शिवक, स्कन्दक, विशाखक आदि मूर्त्तियाँ।[30]

माल्य—मालाएँ तथा पुष्प उत्पलादि।[31]

राग—सव प्रकार के रग, यथा नीली[32], लाक्षा, रोचना, पीता, हरिद्रा, महारजन[33], काषाय आदि।

चर्म—सव प्रकार के अजिन[34] तथा द्वीपी (चीता) व्याघ्र[35] (वाघ) उष्ट्र[36], सिंह आदि

---

१. ४-३-४२, पृ० २३४।
२. ४-३-१५८।
३. वही।
४. ७-४-४४, पृ० १३१।
५. १-१-३६ का०।
६. ४-३-१४३।
७. ५-४-६।
८. १-१-३६, पृ० २३८।
९. वही।
१०. ४-२-११ तथा ४-१-२२ का०।
११. वही।
१२. ६-२-४२, पृ० २५९।
१३. ४-३-१३६।
१४. ३-१-२५।
१५. ४-४-५३।
१६. ४-४-५४।
१७. २-२-८, पृ० ३४३।
१८. ५-४-१३५, पृ० ५११।
१९. ४-३-६५।
२०. आ० १, पृ० १६।
२१. १-३-२, पृ० १८।
२२. ५-४-३०, पृ० ४९०।
२३. ५-२-६८।
२४. ४-३-८४, पृ० २४२।
२५. ४-४-५६।
२६. ३-३-६५।
२७. ४-४-५५, पृ० २८०।
२८. १-१-७०, पृ० ४४५।
२९. ५-३-९६।
३०. ५-३-९९, पृ० ४७९।
३१. ६-३-६५।
३२. ४-१-४२, पृ० ५५।
३३. ४-२-२, पृ० १६६, १६७।
३४. ६-२-११४।
३५. ४-२-१२।
३६. ४-३-६०, पृ० २३८।

के चर्म, जो रथादि पर मढने के काम भी आते थे, चमड़े की बनी कुप्पियाँ या कुतुप[1], चमडे से बने जूते[2], नध्री[3], वाध्री[4], वरत्रा, सनगु, छदि आदि वस्तुएँ तथा तलवार के म्यान आदि[5]।

पात्र—मिट्टी तथा धातु के पात्र-अमत्र[6], घट, घटी[7], शराव[8], कपाल[9] तथा कास्यपात्र-पात्रियाँ[10], स्थाली[11], पिठर आदि तथा अन्न, तेल आदि वस्तुएं भरने के पात्र—बोरे, आवपन तथा गोणी[12], कुतुप, उष्ट्रिका आदि।

पशु—बैल (गो[13]), अश्व, हाथी, साल्व[14], के प्रसिद्ध बैल, काबुल के घोडे[15], भेड बकरियाँ[16], ऊँट[17] आदि।

औजार—दात्र[18], कुशी[19], युग[20], अक्ष[21], खनित्र[22], अरित्र[23], तन्त्र[24], प्रवाणि[25], हल[26] अभ्री।[27].

धातु और धातु-निर्मित वस्तुएँ—लोहे की शृंखला[28], जो पशु बाँधने के काम आती थी, अयःशूल[29] (कील-कांटे), लोहे के तार[30], शकुला[31], छोटी काँटियाँ[32], इध्म-प्रव्रश्चन[33] (कुल्हाडी), पलाशशातन आदि लोहे की चीजें तथा सोना-चाँदी, लोहा[34], ताँबा[35], राँगा, सीसा, टीन आदि धातुएं, चुम्बक[36] तथा अन्य पदार्थ, यथा जतु (लाख), जिसका व्यापार काफी विस्तृत था। लाक्षा का प्रचार भारत में बहुत था। लाक्षा का उल्लेख सर्वप्रथम अथर्ववेद मे मिलता है। सूत्र-साहित्य मे तो लाक्षा की बार-बार चर्चा है। धातुओ से बने अस्त्र—शक्ति[37], यष्टि और उसकी मूंठ,

---

१. ५-३-८९।
२. ५-१-१४।
३. ३-२-१८२।
४. ५-१-२, पृ० २९४।
५. ६-४-१४४, पृ० ४८३।
६. ४-२-१४।
७. ३-२-९, पृ० २११।
८. १-१-७२, पृ० ४४७।
९. ४-१-८८, पृ० १०१।
१०. ४-२-३, पृ० ३१७।
११. १-४-१०१, पृ० २०८।
१२. ४-१-८२।
१३. ६-२-१३ का०।
१४. ४-२-१३६।
१५. ६-२-४२, पृ० २५८।
१६. २-१-६९, पृ० ३३०।
१७. ४-२-६०, पृ० २३८।
१८. ३-२-१८२।
१९. ४-१-४२ का०।
२०. ४-४-७६।
२१. ६-३-१०४।
२२. ३-२-१८४।
२३. वही।
२४. ५-२-७०।
२५. ६-४-१६०।
२६. ३-१-२६, पृ० ३।
२७. ४-४-२।
२८. ५-२.७९, पृ० ३९९।
२९. ५-२-७६, पृ० ३९९।
३०. १-१-४९, पृ० २९८।
३१. २-१-१, पृ० २२७।
३२. २-२-६, पृ० ३३९
३३. २-२-८, पृ० ३४२
३४. ३-१-७, पृ० ३०
३५. ४-३-१३८।
३६. ३-१-७, पृ० ३०।
३७. ४-४-९५, पृ० २८१।

लागल (हल का फाल), अकुश, तोमर, धनुष-वाण (लोहे की फाल वाले[1]) असि[2], परशु[3], आदि, लोहे के घड़े[4] तथा अन्य पात्र।

तुला—तराजू, तौलने के वाट, परिमाण आदि, जिनका उल्लेख सम्वद्ध प्रकरण मे किया गया है।[5]

वाहन—शकट[6], शकटी[7], रथ[8], नौका[9]। तेल वेचना वुरा माना जाता था।[10] मांस वेचना भी वर्जित[11] था, किन्तु तेल के वीज, सरसो, तिल तथा मांस के सावनभूत पशु वेचने पर प्रतिवन्ध न था। सोम का विक्रय भी शास्त्र-वर्जित मानता था।[12] धान्य-विक्रय पर प्रतिवन्ध न था। मथित वेचना कुछ लोगो का नियमित व्यवसाय था।[13] ये लोग माथितिक कहे जाते थे।

इनके अतिरिक्त दैनन्दिन आवश्यकता की और वहुत-सी वस्तुएँ थी, जैसे दृषद्[14] (चक्की) सूची[15] (सूई)। इस प्रकार की वस्तुएँ उदाहरण-रूप मे भाष्य मे यत्र-तत्र विखरी है।

क्रय-विक्रय—पण्य-व्यवहार दो प्रकार से होता था—वस्तुओ का मूल्य सिक्को के रूप मे देकर या वदले मे दूसरी वस्तु देकर। प्रथम विधि को क्रय और द्वितीय को अपमित्य कहते थे।[16] अपमित्य द्वारा ली हुई वस्तु आपमित्यक कहलाती थी। भाष्यकार ने माष (ताम्रमुद्रा), कार्षापण (राजतमुद्रा) और निष्क एव सुवर्ण से खरीदी हुई वस्तुओ के अनेक उदाहरण दिये हैं। छोटी-छोटी चीजें, जैसे सक्तु, मथित आदि माष से खरीदी जाती थी। भाष्यकार ने एक स्थान पर आपणीय सक्तुओ के आढक का उल्लेख किया है।[17] उन्होने द्विद्रोणार्थ द्रव्य से धान्य; पंच पश्वर्थ हिरण्य से पशु और सहस्र हिरण्यो से अश्वो के क्रय का उल्लेख किया है। धान्य पशुओ और अश्वो का क्रय सुवर्ण-मुद्रा से भी होता था।[18] निष्क से क्रीत वस्तु को नैष्किक कहते थे।[19] सौ निष्क या कार्षापण द्वारा खरीदे हुए अश्व को शतिक या शत्य कहते थे।[20] सौ कार्षापण की सौ धोतियाँ विकती थी। इस भाव से खरीदी हुई धोतियो को शत्य कहते थे[21]। पाँच (कार्षापण से खरीदी वस्तु की पंचक सज्ञा होती थी।[22] वीस और तीस (कार्षापण) से ली हुई वस्तु विंशक

---

१. ३-२-९, पृ० २१०।

२. १-४-१, पृ० १०९।

३. १-४-२३, पृ० १५६।

४. ४-१-१, पृ० ११।

५. ४-४-११।

६. १-१-१, पृ० १०२।

७. ८-१-३०, पृ० २८८।

८. वही।

९. १-१-१, पृ० १०२।

१०. तैलं न विक्रेतव्यम्, मांसं न विक्रेतव्यम् इति व्यपवृक्तं च न विक्रीयतेऽव्यपवृक्तं च गावश्च सर्षपाश्च विक्रीयन्ते।—आ० २, पृ० ६२।

११. वही।

१२. ३-२-९३, पृ० २३६।

१३. ६-३-३५, पृ० ३२४।

१४. २-३-३०, पृ० २५४।

१५. २-१-२, पृ० २६४।

१६. ४-४-२१।

१७. २-१-१, पृ० २३०।

१८. २-३-१८, पृ० ४२०।

१९. ५-१-२०, पृ० ३११।

२०. ५-१-२१, पृ० ३१३।

२१. वही।

२२. ५-१-२२।

और त्रिशक कही जाती थी, किन्तु यदि वह सज्ञावाची हुई, तो उसे विंशतिक, त्रिशत्क कहते थे।[१] इसी प्रकार अर्ध (कार्षापण), कार्षापण, शतमान, विंशतिक, सहस्र, सुवर्ण, काकिणी, शाण, पण, पाद, माष आदि मुद्राओ से नकद क्रय-विक्रय के उदाहरण भाष्यकार ने प्रचुर सख्या मे दिये हैं।[२]

विनिमय—विनिमय मे अन्न का प्रयोग ही मुख्यत होता था। दो सूप, तीन सूप या अधिक अन्न देकर वस्तुएँ खरीदने की प्रथा साधारण थी।[३] मुद्ग और माष देकर वस्तुएँ खरीदी जाती थी[४]। कस (कटोरा) भर अनाज से क्रीत वस्तु कसिक कही जाती थी।[५] इसी प्रकार, बदले मे खट्वा[६], बैल, अश्व,[७] क्रोष्ट्री[८], वस्त्र[९] आदि देकर एक शिल्पी या कृषक दूसरे शिल्पी या कृषक से वस्तुएँ बदल लेता था। पाँच-दस खट्वा देकर खरीदी वस्तु, पाँच क्रोष्ट्रियो को देकर क्रीत रथ एक मूल्य देकर एक बैल, अन्य (अधिक या दूसरा) देकर दो बैल और अन्य देकर तीन बैल खरीदने की चर्चा भाष्य मे मिलती हैं।[१०] पाँच गाय या बैल देकर बदले मे खरीदी हुई वस्तु (बडा बैल, भूमि, बाग) आदि को पचगु कहते थे।[११]

परमगोपुच्छ—भाष्यकार ने परमगोपुच्छ देकर खरीदी हुई वस्तु को पारमगोपुच्छिक कहा है।[१२] गोपुच्छ के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है। डॉ० भण्डारकर ने इसे गोपुच्छ का ही और डॉ० वा० श० अग्रवाल ने गो का बोधक माना है। मुझे डॉ० भण्डारकर का मत उचित जान पडता है। तैत्तिरीय सहिता (७-५-९) मे भूमिदुन्दुभि का वर्णन है, जो आग्नीध्र-मण्डप मे एक गड्ढे पर आर्द्रचर्म फैलाकर गोपुच्छ से बजाई जाती थी।[१३] ये बजानेवाले गोपुच्छ जिस व्यक्ति से खरीदे जाते थे, उसे बदले मे जो वस्तु दी जाती थी, वह गोपुच्छिक कहलाती थी और परम-गोपुच्छ देकर खरीदी हुई वस्तु को पारमगोपुच्छिक कहते थे। भाष्यकार के समय मे जबकि यज्ञो का प्रचार बढ गया था, इस प्रकार के लेन-देन की सभावना की जा सकती है। गोघ्न अतिथि भी होते थे, जिनके मधुपर्क के लिए गाय या बछिया मारी जाती थी। इन गोपुच्छो का क्रयार्थ

---

१. ५-१-२६ पृ०, ३१५।
२. ५-१-२९, पृ० ३१९ तथा ५-१-३२ तथा वही। पृ० ३२० तथा ५-१-३४, ३५।
३. ५-१-३७, पृ० ३२१।
४. वही।
५. ५-१-२५।
६. ४-१-३, पृ० २६।
७. ४-१-५०, पृ० ६४।
८. १-९६, पृ० ८६।
९. आतश्चाभिज्ञा अन्येन हि वस्नेनैकाङ्गां क्रीणन्त्यन्येन द्वावन्येन त्रीन्।—१-१-३६, पृ० २४२।
१०. वही।
११. १-२-४४, पृ० ५२५।
१२. ५-१-२०, पृ० ३११।
१३. इस सूचना के लिए मैं संगीताचार्य प० ओकारनाथ ठाकुर का कृतज्ञ हूँ।—ले०

व्यवहार सभव है। ५-१-२७ सूत्र मे पाणिनि ने वसन से भी वस्तु खरीदने का उल्लेख किया है। वसन से खरीदी वस्तु को वासन कहते थे। आजकल हिन्दीभाजी ग्रामों मे, जहाँ पुराने कपडो से वरतन खरीदने की प्रथा है, वासन शब्द का व्यवहार वरतनो के लिए होता है। सम्भवतः, प्रारम्भ मे पुराने वस्त्र देकर खरीदे गये पात्रो के लिए ही वासन शब्द का प्रयोग होता था। धीरे-धीरे इसका प्रयोग सामान्य रूप से हर वरतन के लिए होने लगा।

जिस वस्तु का मूल्य सौ (कार्षापण) होता था, उसे शत्य या शतिक कहते थे। इसी प्रकार सहस्र (कार्षापण) मूल्यवाली वस्तु साहस्र कही जाती थी। जो वस्तु सौ की होती थी, सौ कार्षापण उसका वस्न कहा जाता था।[1] काशिकाकार ने तो १-२-४९ और १-२-५० सूत्रो मे सूची और शष्कुली देकर वस्तु खरीदने का उल्लेख किया है।

इनके अतिरिक्त अजलि, प्रस्थ, गोणि, खारी और आचित (धान्य-परिमाण) से वस्तुएँ खरीदने का उल्लेख भी भाष्य मे प्राप्त होता है। पचनौ और दशनौ पाँच तथा दस नावो से विनिमय की ओर सकेत करते है। पुरानी नावें (जो काम मे नही आती) को वेचकर बदले मे किसी वस्तु के खरीदने से आशय हो सकता है या इतनी ही नावो मे भरी हुई विक्रेय वस्तुओं के बदले दूसरा माल खरीदा जाता होगा। विदेशी माल का इस प्रकार विनिमय द्वारा खरीदा जाना अधिक सभावित है। यह भी हो सकता है कि तक्षा नावे बनाकर बेच देते हो और बदले मे कोई मूल्यवान् वस्तु ले लेते हो।

निमान—वस्तु-विनिमय का वहुत सुन्दर उदाहरण 'सख्याया गुणस्य निमाने मयट्' (५-२-४७) सूत्र के भाष्य मे मिलता है।[2] यदि कोई प्रथमान्त पद गुण (भाग, या वस्तु का अश) के निमान (मूल्य) के रूप मे वर्त्तमान हो और सख्यावाची भी हो, तो उससे 'इसका' इस षष्ठ्यर्थ में मयट् प्रत्यय होता है। उदाहरणार्थ, जौ के दो भाग जिस उदश्वित् के निमान या मूल्य होते, उस उदश्वित् (मठ्ठे) को द्विमय उदश्वित् कहते थे। इस प्रत्यय के लिए आवश्यक था कि जिस वस्तु का मूल्य वताना हो, उसका नाम एक हो और उसके मूल्य-स्वरूप जो वस्तु दी जाय, वह एक से अधिक भाग हो। इसलिए, यव के दो भाग यदि तीन भाग उदश्वित् का मूल्य हो, तो मयट् प्रत्यय नही होता और 'द्वौ भागौ यवाना त्रय उदश्विते.' ऐसा वाक्य ही रहता है। इस सूत्र मे दो वाते महत्त्वपूर्ण हैं—प्रथम तो निमान शब्द मूल्य का वाचक था और जिससे गुण (वस्तु) के भाग या अश का मूल्य आँका जाय, उसे निमान कहते थे। जिसको देने पर कोई वस्तु मिले, वह निमान और जो वस्तु मिले, वह निमेय। दूसरे विनिमय-योग्य वस्तुओ मे कौन किससे कितने गुने मूल्य की है, यह निर्धारण कर ड्योढे, दूने, तिगुने के हिसाब से वस्तु-रूप मूल्य लेकर वस्तुएँ वेचने की प्रथा थी। घर के काम की छोटी-मोटी वस्तुएँ इसी प्रकार तोलकर वेची जाती थी। यह प्रथा आज भी गाँवो मे चली आती हैं।

---

१. शतमर्हति शत्यः शतिकः साहस्रः। यः शतमर्हति शतं तस्य वस्नो भवति—५-१-१९, पृ० ३०९।

२. येनाधिगम्यते तन्निमानं यदधिगम्यते।—तन्निमेयम् आदि—५-२-४७, पृ० ३८५-८७।

मूल्य और लाभ—किसी वस्तु की वास्तविक लागत को मूल कहते थे, अर्थात् मूल वह व्यय था, जो किसी वस्तु को विक्रय के योग्य तैयार करने या तदर्थ प्राप्त करने पर आता था। व्यापारी उस पर लाभ मिलाकर जो (धन) प्राप्त करना चाहता था उसे मूल्य कहते थे। इस प्रकार मूल+लाभ का नाम मूल्य था और मूल्य—मूल का नाम लाभ था। अथवा मूल्य—लाभ= मूल (वस्तु की लागत) होता था। लागत के अतिरिक्त प्राप्त राशि को लाभ कहते थे।[1] जिस वस्तु से जितना लाभ प्राप्त होता, उसी नाम पर वस्तु को पुकारने की भी प्रथा थी। उदाहरणार्थ जिस वस्तु पर पाँच रुपया लाभ मिलता, उसे पंचक कहते थे। इसी प्रकार सप्तक अष्टक, नवक दशक आदि विशेषण बनते थे। भागिक, अर्धिक का उल्लेख भी भाष्य में मिलता है।[2] पंचक आदि विशेषण संभवत: प्रतिशत लाभ को दृष्टि में रखकर निश्चित किये जाते थे। सम्भव है, प्रतिवस्तु लाभ की ओर भाष्यकार की दृष्टि हो। अर्ध और भाग कार्षापण के लिए प्रयोग शब्द प्रयुक्त हुआ है। मूल से आनाम्य या अभिभवनीय को मूल्य कहते थे। पदादिकों की उत्पत्ति का कारण मूल होता है। मूल्य के द्वारा उसे अभिभूत किया जाता है। मूल्य मूल को सगुण बनाता है। इस प्रकार पटमूल के बराबर या मूल्य कहलाता था, जिसका अर्थ था उपादान के बराबर परिमाण-वाला।

वस्निक—लाभ के लिए क्रय-विक्रय करनेवाले और जीविका के लिए उनपर निर्भर रहनेवाले जिस प्रकार क्रयिक, विक्रयिक या क्रयविक्रयिक कहलाते थे, उसी प्रकार वस्न के सहारे जीविका उपार्जित करनेवालों को वस्निक[5] कहते थे। वस्न का अर्थ है बिक्री का मूल्य और वस्निक का अर्थ हुआ—बिक्री से प्राप्त होनेवाले लाभ से जीनेवाला। इस प्रकार, क्रय-विक्रयिक और वस्निक पर्यायवाची होने चाहिए थे, किन्तु उनमें अन्तर था। वस्निक बिक्री के लिए किसी को नियुक्त कर देता था अथवा रुपया लगाकर किसी को दूकान या व्यापार करा देता था। दूकान पर विक्रय करनेवाला एक निश्चित रकम पाता था। उसका खर्च निकालकर शेष लाभ वस्निक लेता था। इस प्रकार धन लगा देने के बाद क्रय-विक्रय स्वयं न करके केवल 'लाभ का उपभोग करनेवाले वस्निक कहलाते थे। कभी-कभी वस्निक व्यापार के लिए एक निश्चित धनराशि किसी को देकर लाभ में अपना भाग तय कर लेते थे। यह धन कभी साझेदारी के रूप में दस पाँच व्यापारियों के साझे के व्यापार में लगा दिया जाता था और कभी किसी एक ही व्यापारी को वैत्तिक (Financer) के रूप में दे दिया जाता था और उस पर होनेवाले लाभ में अपना अंश तय कर लिया जाता था। यह प्रथा वर्तमान कम्पनियों के शेयरों के समान थी, जो शेयर खरीदने

---

१. ४-४-९१।

२. ५-१-४७, ४८, ४९।

३. वही।

४. मूलेनानाम्यमभिभवनीयमपदादीनामुत्पत्तिकारणं मूलं तेन तदभिभवने दीयते। मूल्यं हि सगुणं मूलं करोति। मूलेन समो मूल्यः पटः। उपादानेन समानफल इत्यर्थः।—४-४-९१ काशिका।

५. ४-४-१३।

वालो को लाभ का अश वितरित कर देती है। उदाहरणार्थ—लाभ मे से पाँच वस्न या भाग पानेवाला वस्निकपचक कहलाता था।[1] ग्रामीण वसनी शब्द जो कपड़े की सिली हुई और लम्बी, कमर मे बाँधी जानेवाली रुपयो की थैली के लिए व्यवहार मे आता है, वस्न से सम्बद्ध है। व्यापारी माल की विक्री का घन उसमे रखते है और सुरक्षा की दृष्टि से कमर मे बाँध लेते है।

द्रव्यक—पाणिनि ने द्रव्यक का भी उल्लेख किया है।[2] द्रव्य को एक स्थान से देशान्तर को ले जानेवाला, उठाकर रखने या ढोनेवाला और उत्पन्न करनेवाला द्रव्यक कहलाता था। पाणिनि ने इन क्रियाओ के लिए क्रमश हरति, वहति आवहति का प्रयोग किया है और काशिकाकार ने इनका अर्थ स्पष्ट किया है।[3] काशिका के अनुसार परदेश को द्रव्य ले जानेवाले की द्रव्यक सज्ञा होती है। पाणिनि के 'तद्धरति वहत्यावहति भाराद् वशादिभ्य' सूत्र से यह भी पता चलता है कि द्रव्यक वश (बाँस), कुटज (Holarrhena antıdy senterica), वल्वज (Eleusine ındica) (बँवई), मूल, अक्ष (धुरी), स्थूणा (लट्ठे) अश्मन् (पत्थर), अश्व, इक्षु और खट्वादि ले जाते थे। इनमे कुछ द्रव्य अवश्य ही विक्री के लिए ले जाये जाते होगे। काशिकाकार ने हरति का अर्थ चुराना भी स्वीकार किया है। लाभाग लेकर दूसरे देश को जानेवाला, उसे चुरानेवाला, लेकर धारण करनेवाला और उत्पन्न करने या कमानेवाला वस्निक था। द्रव्य बेचकर लाभ कमानेवाला और उसे लेकर घर लौटनेवाला द्रव्यक भी वस्निक कहा जाता था। वस्निक और द्रव्यक का यह अन्तर स्पष्ट समझ लेना आवश्यक है। डॉ० अग्रवाल ने एक स्थान से रवाना होने की स्थिति को हरति, मध्य स्थिति को वहति और पहुँचने की स्थिति को आवहति मानते हुए व्यापारार्थ वशादि को परदेश ले जानेवाले को द्रव्यक और उन्ही स्थितियो से गुजरते हुए मूल्य (लाभ-सहित) लेकर लौटनेवाले उसी व्यक्ति को वस्निक माना है।[4] किन्तु, इस कल्पना का आधार उन्होने स्पष्ट नही किया है। हरति प्रतिक्रियाओ से तो यह ध्वनि नही निकलती।

व्यापार-मार्ग—मद्र, कश्मीर और गान्धारादि देशो मे जाकर व्यापार करने की चर्चा पीछे हो चुकी है। द्रव्यक लोग दूर-दूर देशो मे माल ले जाते थे और वास्निक के रूप मे थैली भरकर लौटते थे। यह तभी सम्भव था, जब यात्रा के सरल साधन उपलब्ध हो। महाभाष्य दूर-दूर प्रदेशो को जानेवाले लम्बे मार्गो का उल्लेख करता है। पाणिनि ने पथिक और पथक मे अन्तर किया है। पथिक साधारण यात्री को कहते थे,[5] किन्तु पथक कुशल यात्री की सज्ञा थी।[6] कुछ लोग बराबर यात्रा किया करते थे। उनका व्यवसाय यही रहता था। ये लोग पान्थ होते थे।[7] पान्थ

---

१. ५-१-६।

२. ५-१-५१।

३. हरति देशान्तर प्रापयति चोरयति वा। वहत्युत्क्षिप्य धारयति। आवहति उत्पादयति।—५-१-५० काशिका।

४. इण्डिया एज नोन टू पाणिनि, पृ० २४१।

५. ५-१-७५।

६. ५-२-६३।

७. ५-१-७६।

नगरो मे होकर निकलता था। देश के सभी प्रसिद्ध नगर मार्गो द्वारा एक दूसरे से जुडे हुए थे।

पथ-भेद—सव मार्ग एक-से नही थे। कोई अधिक चौडे थे कोई कम। कोई सीधे थे और कोई चक्करदार। कोई मैदान से होकर जाते थे और कोई कान्तार से होकर। भाष्यकार ने इनके भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं। उदाहरणार्थ[1], वारिपथ (जलमार्ग), जिनमे नौका द्वारा व्यापार होता था, जगलपथ, स्थलपथ, कान्तारपथ और अजपथ। अजपथ इतने सँकरे तथा चढाव-उतार के होते थे कि उनपर अज ही चल सकते थे। वकरे-बकरियाँ दुर्गम-से-दुर्गम स्थलो पर जा सकते है। अजपथ नाम सँकरेपन तथा दुर्गमता की दृष्टि मे रखकर दिया गया था। इसमे एक साथ दो व्यक्ति नही चल सकते थे। शकुपथ ढलवे होते थे। इन मार्गो से जानेवाले व्यक्ति का तथा लाई गई वस्तु का नाम इन्ही के आधार पर होता था। यथा. वारिपथिक, जागलपथिक, स्थालपथिक, कान्तारपथिक, आजपथिक और शाकुपथिक। कान्तार-पथ सम्भवत साकेत से कौशाम्बी, उज्जैन, विदिशा, पण्डरपुर होते हुए भृगुकच्छ तक जानेवाले प्रसिद्ध व्यापार-मार्ग का नाम होगा। हो सकता है, वन मे होकर जानेवाले मार्ग की यह सामान्य सज्ञा हो। मिर्च और महुए स्थल-पथ से लाये जाते थे, इसलिए इन्हे स्थालपथ कहते थे।[2]

'देवपथादिभ्यश्च' (५-३-१००) सूत्र मे सूत्रकार ने देवपथ का भी उल्लेख किया है और आदि मे पूर्वोक्त पथो के अतिरिक्त रथपथ, करिपथ, राजपथ, सिहपथ और हसपथ को भी परिगणित किया है। रथपथ का ही दूसरा नाम रथ्या था।[3] करिपथ खुले मार्ग होते थे, जिनके ऊपर वृक्षो की डाले झुकी नही रहती थी। राजपथ शासन द्वारा निर्मित पक्के मार्ग थे। हसपथ शब्द आकाश के लिए व्यवहृत होता था। देवपथ का अर्थ ऊँचा आकाशीय मार्ग था। वाद मे लाक्षणिक रूप से उसका प्रयोग रक्षा-दुर्ग के सबसे ऊँचे भाग या प्राकार के ऊपर के मार्ग के लिए होने लगा।[4]

मार्ग-व्यवस्था मौर्यो के समय मे ही उन्नत हो चुकी थी। कौटिल्य (अनु० पृ० ५०) के अनुसार सडके वनवाना राजा के प्रमुख कर्तव्यो मे एक था। मैगास्थनीज के अनुसार हर दस विरामो (stages) के वाद सडको के किनारे दूरी-दर्शक तथा मार्ग-निर्देशक पत्थर लगे थे। प्लिनी के अनुसार इस मार्ग की दूरी तथा पडाव इस प्रकार थे—

१ वेटो (Bocto) और डियोग्नेटस (Diognetus) नामक सिकन्दर के सर्वे अधिकारियो द्वारा पुष्करावती (Peukeloatis) से व्यास (Hyphasis) तक नापी गई दूरी (क) पुष्करावती से तक्षशिला–६० मील, (ख) पुष्करावती से वितस्ता या झेलम तक–१२० मील, (ग) पुष्करावती से व्यास तक– ३२० मील थी।[5]

१. ५-१-७७, पृ० ३३८।
२. वही।
३. ५-१-६, पृ० २९८।
४. अर्थशास्त्र, अधि० २, अ० ३।
५. प्लिनी, १-६-२१।

२ व्यास से गंगा के मुहाने तक सेल्यूकस निकेटर (Seleukos Nikator) द्वारा मापी गई दूरी—(क) व्यास से हेसीड्रस (Hesydrus) तक १६८ मील, (ख) हेसीड्रस से यमुना तक १६० मील, (ग) यमुना से गगा तक ११२ मील, और (ख) गगा से रामगगा (Rhodaphe) तक ११९ मील थी।[1]

इस समय नौ-वाणिज्य खूब उन्नत था। 'नावो द्विगो' (५-४-९९) सूत्र अनेक नावो के समाहार(समूह)का सूचक है। उक्त सूक्त पर काशिकाकार ने द्विनावधन, पञ्चनावप्रिय, पञ्चभिर्नौभि क्रीत पञ्चनौ., दशनौ आदि जो उदाहरण दिये हैं, वे इस बात के प्रमाण है कि स्थल-व्यापार के समान वारिपथ से होनेवाला व्यापार भी दूर-दूर प्रदेशो तक बडी मात्रा मे चलता था। बडे व्यापारी पाँच-पाँच सौ तक नावे रखते थे, जिन्हे वे या तो वाहन-शुल्क लेकर माल ढोने के लिए देते थे या स्वय उनसे माल का यातायात करते थे। भाष्यकार ने जो पाँच सौ उडुपो और पाँच सौ फलको के तीर्ण होने का उल्लेख किया है, वह भी इस बात का पोषक है।[2]

शुल्क—राज्य व्यापार पर कर लेता था, जिसे शुल्क कहते थे।[3] एतदर्थ, राज्य की ओर से शुल्क-शालाएँ बनी थी, जो वर्त्तमान तटकर गृहो और चुगी-नाको के समान रही होगी।[4] इनका अधिकारी शौल्कशालिक होता था, जो निश्चित वस्तुओ पर नियत परिमाण मे शुल्क वसूल करता था। कर देने के बाद ही कोई वस्तु विक्रय के लिए अर्हता-प्राप्त मानी जाती थी। अर्हता प्राप्त करने की इस क्रिया को अवक्रय कहते थे।[5] अवक्रय राज्य की आय का साधन था। इसीलिए, शुल्क-शालाएँ आय-स्थानो मे गिनी जाती थी।[6] वे नगर मे बिक्री के लिए जानेवाली वस्तुओ पर कर वसूल करती थी। इसके अतिरिक्त आपण-कर, आकर-कर तथा गुल्म-कर लेने की भी व्यवस्था थी।[7] ये कर धर्म्य माने जाते थे। शुल्क जबतक व्यापारी पर भार न बन जाय, तबतक धर्म्य माना जाता था। केवल दो शर्ते थी। एक यह कि वह लोकपीडक न हो और दूसरे शास्त्र द्वारा निश्चित सीमा का अतिक्रमण न करे।[8] वस्तुओ के विशेषण कई बार उन पर लगनेवाले कर के अनुसार भी प्रयुक्त होते थे।[9]

लोक मे शुल्क को कार भी कहते थे।[10] कार और देय मे अन्तर था।[11] देय ऐच्छिक कर्त्तव्य

---

१. एच० जी० रालिन्सन: इण्टरकोर्स बिटवीन इण्डिया एण्ड दि वेस्टर्न वर्ल्ड, पृ० ६४।

२. ५-१-५९, पृ० ३३३।

३. ५-१-४७, पृ० ३२३।

४. ४-३-७५ काशिका।

५. अवक्रीणीतेऽनेनेत्यवक्रयः पिण्डक उच्यते। शुल्कशालायाः अवक्रयः शौल्कशालिकः, नन्वक्रयोऽपि धर्म्यमेव ? नैतदस्ति लोकपीडया धर्मातिक्रमेणाप्यवक्रयोभवति—४-४-५० काशिका।

६ ४-३-७५ काशिका।

७. ४-४-५० काशिका।

८. वही।

९. ५-१-४७, पृ० ३२३।

१०. ६-३-१०, पृ० ३०३।

११. ६-३-१० काशिका।

था और कार अनिवार्य। भारत के पूर्वीय प्रदेश मे लगनेवाले कुछ विशिष्ट करो का सकेत 'कार-नाम्नि च प्राचा हलादौ' (६-३-१०) सूत्र से मिलता है। भाष्यकार ने इस प्रकार के करो मे एक व्यापारिक कर 'अविकटोरण' का उल्लेख किया है।[1] भेड़ो के समूह पर एक उरण या मेढा कर-स्वरूप देना पडता था। इसके अतिरिक्त अव्यापारिक प्राच्यकरो मे 'सूपे शाण' (प्रत्येक चूल्हे पर एक शाण) 'दृषदि माषक' (प्रति चक्की एक माष), 'हले द्विपदिका' (प्रति हल दो पाद कार्षापण) 'नदी दोहनी' (प्रतिनाव एक कुण्डी दूध नाव्य कर), 'मुकुटे कार्षापण' (प्रति व्यक्ति या प्रति सिर एक कार्षापण) का उल्लेख काशिकाकार ने किया है। यूथ-पशु अप्राच्य कर था, जिसमे प्रति पशुयूथ एक पशु कर-स्वरूप लिया जाता था।[2] ये कर नियमित नही थे। मुकुटे कार्षापण, दृषदि माषक एव हले द्विपदिका या हले त्रिपदिका आकस्मिक आवश्यकताओ के अवसर पर लगाये जाते थे। आजतक गाँव मे आवश्यक अवसरो पर इसी प्रकार सामाजिक या स्थानीय शासकीय कर लगाये जाने की प्रथा रही है।

स्पष्ट है कि चुंगी या उत्पादन-शुल्क प्राय. वस्तु या पदार्थ के रूप मे लिया जाता था, मुद्रा के रूप मे नही। हाँ, बड़े उत्पादनों पर या तो प्रतिशत निश्चित था या मुद्राएँ नियत थी।

---

१. ६-३-१०, पृ० ३०३।
२. वही, काशिका।

अध्याय ६

तौल, माप और नाप

परिमाण और सख्या—तौल, माप और नाप की परिभाषा करते हुए भाष्यकार ने किन्हीं प्रचलित श्लोको की पक्तियाँ उद्धृत की है —

ऊर्ध्वमान किलोन्मानं परिमाण तु सर्वत. ।
आयामस्तु प्रमाण स्यात् सख्या बाह्या तु सर्वत. ॥१॥
भेदभात्र ब्रवीत्येषा नैषा मान कुतश्चन ।—५-१-१९, पृ० ३०८

और इसपर टीका करते हुए बतलाया है कि ऊर्ध्व या ऊपर उठाकर जिससे इयत्ता मालूम की जाती है, उसे उन्मान कहते हैं।[१] चारो ओर से जिससे भार मालूम किया जाय, उसे परिमाण कहते है, क्योकि परिमाण मे परि का अर्थ है 'सब ओर से'।[२] लम्बाई, विस्तार या फैलाव मालूम करने का नाम प्रमाण है।[३] सख्या इन तीनो से भिन्न है। वह केवल दो वस्तुओ का अन्तर बतलाती है, मान नही। यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि सीक जैसी छोटी-से-छोटी वस्तु से लेकर अपरिमाण पदार्थ तक के भेद-भाव का ज्ञान सख्या से होता है। उदाहरण के लिए दो जगह सेर-सेर भर अन्न रखिए। उसका अन्तर न तो उन्मान से मालूम होगा, न परिमाण से; क्योंकि प्रस्थ के पात्र मे भरने से उनकी ऊँचाई, लम्बाई और चौडाई बराबर हो जायेगी। प्रमाण भी उनका अन्तर नही बता सकता। केवल सख्या से उनका अन्तर मालूम होगा, क्योंकि दोनो प्रस्थो के दानो की सख्या मे अन्तर होगा।[४] भाष्य की इस परिभाषा के अनुसार तुला से तोलना उन्मान, सब ओर से अर्थात् किसी पात्रादि मे भर कर भार मालूम करना परिमाण और गहराई लम्बाई आदि की नाप का नाम प्रमाण था।

शब्दो के अर्थ दो प्रकार के होते थे—रूढ और लोक-प्रचलित।[५] शास्त्रज्ञ लोग प्रकरणानुसार शब्दो का प्रयोग रूढ अर्थ मे करते थे। सामान्य लोगो मे उनका प्रयोग व्यापक अर्थ मे होता था। परिमाण शब्द की भी यही स्थिति थी, इसीलिए पाणिनि-सूत्रो मे उसका प्रयोग दोनो प्रकार से देखा जा सकता है। कही तो परिमाण के अर्थ मे सख्या अन्तर्भूत है[६] और कालवाचक भी और कहीं

---

१. ऊर्ध्वं यन्मीयते तदुन्मानम्।—५-१-१९, पृ० ३०८।

२. वही।

३. आयामविवक्षायां प्रमाणमित्येतद् भवति।—वही।

४. वही।

५. ३-३-२०।

६. ४-३-१५६, पृ० २३८।

दोनो उसकी सीमा से बाहर हैं। उदाहरणार्थ, सब धातुओ से घञ् प्रत्यय करनेवाले 'परिमाणाख्याया सर्वेभ्य.' (३-३-२०), तथा विकारादि अर्थो मे ठक् प्रत्यय करनेवाले 'क्रीतवत् परिमाणात्' (४-३-१५६) आदि सूत्रो में परिमाण से सख्या का भी ग्रहण होता है; किन्तु 'तदर्हति' अर्थ मे ठक् प्रत्यय का विधान करनेवाले 'आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक्' (५-१-१९) सूत्र मे परिमाण से सख्या का बोध नही होता। इसीलिए, इस सूत्र मे सख्या का पृथक् उल्लेख किया गया है। इस सूत्र का भाष्य करते हुए पतजलि ने कहा है–'सख्या का उल्लेख पृथक् क्यो किया है? सख्या भी तो परिमाण है। परिमाण का निराकरण करने से सख्या का निराकरण स्वत हो जायगा। यदि यह बात है, तो सख्या का पृथक् उल्लेख इस बात को ज्ञापित करता है कि सख्या अन्य वस्तु है तथा परिमाण अन्य वस्तु। इसका फल 'अपरिमाणविस्ताचितकम्बलेभ्यो न तद्धितलुकि' (५-१-१९) सूत्र मे स्पष्ट दिखाई पडता है। इसमे अपरिमाण कहने से अन्य परिमाणबोधक शब्दो का तो बहिष्कार होता है, किन्तु सख्या का नही। फलत., दो सौ से क्रीत (स्त्री०) वस्तु द्विशता या त्रिशता ही कहलाती है। नही तो इनमे भी ङीप् प्रत्यय का निषेध न होता और द्व्याढकी आदि के समान द्विशती, त्रिशती रूप होने लगते।'[1] यह सिद्धान्त स्थिर करने के बाद भाष्यकार ने उन सब कठिनाइयो का समाधान किया है, जो सख्या को परिमाण से भिन्न मानने के कारण उत्पन्न होती है।[2] 'ज्ञापक न हो, तो भी यह बात न्यायसिद्ध है कि सख्या केवल दो वस्तुओ मे अन्तर बतलाती है।'[3]

परिमाण शब्द तथा संख्या शब्द पदार्थ की निश्चित इयत्ता का बोध कराते हैं। उदाहरणार्थ, जब हम पाँच या सात कहते है, तब उनसे पाँच या सात सख्यावाले पदार्थ या पदार्थो का बोध होता है, न उससे कुछ कम और न कुछ अधिक का। इसी प्रकार द्रोण, खारी या आढक न अपने से कम और न अधिक के बोधक होते है। कुछ शब्द ऐसे होते हैं, जिनसे यथेच्छ वस्तु का बोध किया जा सकता है। जाति शब्द तथा गुण शब्द इसी प्रकार के हैं। तैल, घृत कहने से खारी भर तैल या घृत का ग्रहण हो सकता है और द्रोण-भर का भी। इसी प्रकार शुक्ल, नील, पीत, हिमालय जैसे महान् पदार्थ के लिए भी व्यवहृत हो सकता है और वटबीज के लिए भी।[4] परिमाण और सख्या निश्चित इयत्ता के ज्ञापन के लिए हैं।

इयत्ता मापन के दो प्रकार थे। एक तराजू पर तोलकर और दूसरे किसी खाली पात्र मे भरकर। लम्बाई की माप दण्ड आदि लम्बी वस्तुओ से की जाती थी। जिनसे इयत्ता मापी जाती थी, उन्हे मान कहते थे। मान का काम अनिर्ज्ञात वस्तु का निर्ज्ञान कराना था।[5]

---

१. ५-१-१९, पृ० ३०७।

२. वही।

३. न्यायसिद्धमेवैतत्। भेदमात्रं संख्याऽऽह।—५-१-१९, पृ० ३०८।

४. इह केचिच्छब्दा उक्तपरिमाणानामर्थानां वाचका भवन्ति च एते सख्याशब्दाः परिमाणशब्दाश्च। पञ्च सप्तेत्येकानामप्यपायेन न भवन्ति। द्रोण. खार्याढकमिति नैवाधिके भवन्ति न न्यूने। केचिद् यावदेव तद् भवति तावदेवाहुर्य एते जातिशब्दा गुणशब्दाश्च।—१-१-७२, पृ० ४५१

५. मानं हि नामानिर्ज्ञातार्थमुपादीयते निर्ज्ञातमर्थं ज्ञास्यामीति।—२-१-५५, पृ० ३०८।

उन्मान—तुला या तराजू पर तोलने को उन्मान कहते थे; क्योंकि इसमें वस्तु को ऊर्ध्व उठाकर उसका भार मालूम किया जाता था। तुला से ममित वस्तु तुल्य कही जाती थी।[1] जिस रस्सी को पकड़कर तुला ऊपर उठाई जाती थी, उसे प्रग्रह या प्रग्राह कहते थे।[2] कुछ लोग तोलने-मापने का व्यवसाय करते थे, जिन्हें माता कहते थे।[3] तुला मान का अनिवार्य साधन थी, क्योंकि अन्न तो निश्चित मान के पात्रों में भरकर मापा जा सकता था। कपास और लोहे का मापना सम्भव नहीं था। समान वजन के होने पर भी दोनों पदार्थों की आकृति या आकार में बड़ा अन्तर होता है। समान आकृति के इन पदार्थों के भार में अन्तर होता है।[4] काशिका के उल्लेख से पता चलता है कि नन्द राजाओं में से किसी ने सारे देश में समान मानों का प्रचलन किया था।[5] इसके पूर्व भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न मान प्रचलित रहे होंगे।

पतञ्जलि ने मान को द्रौवय, अर्थात् काष्ठ का बना कहा है। यह कथन आयाम नापने-वाले दण्डादि तथा अन्न की माप करनेवाले प्रस्थ, द्रोण आदि के विषय में सत्य है। तोलने के बाट काष्ठ के नहीं होते थे, क्योंकि वे पानी में भीगकर अधिक भारी हो सकते थे, फट सकते थे या सरलता से खण्डित हो सकते थे। अर्थशास्त्र ने इसीलिए अयोमय (लोहे के) तथा मागध-मेकलादि पर्वतों के पत्थरों (कच्चे पत्थर के नहीं) से बने प्रतिमानों (बाटों) का निर्देश किया है। लोहे और पत्थर के मान न तो पानी में फूलकर भारी हो सकते हैं और न सूखकर हल्के। इस प्रकार के न फूलने और न सूखनेवाले मान और भी किसी पदार्थ के बनाये जा सकते थे।[6] सूत्रकार ने द्रु (काष्ठ) से बननेवाले दो शब्दों द्रव्य और द्रुवय का अन्तर स्पष्ट किया है। प्रथम द्रु के सामान्य अवयव या विकार के लिए प्रयुक्त होता है और द्वितीय विकार-विशेष में मान के लिए।[7] उन्मानों में निम्नलिखित का उल्लेख भाष्य में मिलता है—

माष—यह तोल का छोटा बाट था। कृष्णल इससे भी छोटा होता था, जिसका वजन एक ग्रेन से कुछ अधिक था। माष का वजन कार्षापण का $\frac{1}{16}$ भाग होता था। उरद की साधारण फली में १६ दाने होते थे और १६ माष का कार्षापण होता था। इसलिए, उरद को भी माष कहने लगे।[8] कार्षापण के भार में स्थान-भेद से अन्तर अवश्य होता था, किन्तु माष का वजन सर्वत्र

---

१. १-१-९, पृ० १५८।

२. ३-३-५२ का०।

३. १-२-६४, पृ० ३७२।

४. ५-१-११९, पृ० ३५४।

५. ५-२-१४ तथा २-४-२१ काशिका।

६. प्रतिमानान्ययोमयानि मागधमेकलशैलमयानि यानिवानोदकप्रदेहाभ्यां वृद्धिम् गच्छेयुरुष्णेन वा ह्रासम्।—अर्थशास्त्र, अधि० २, अ० १८।

७. ३-४-१६१ तथा ६२।

८. पुराकल्प एतदासीत्, षोडशमाषाः कार्षापणं षोडशफलाश्च माषशंवट्य'। १-२-६४, पृ० ५९८।

समान था। माष 'मीङ् माने' धातु से बना है, जिसका अर्थ है वजन मालूम करना।[1] माष सोना तोलने के काम आता था और पाँच कृष्णल के बराबर होता था। चाँदी का माष २ रत्ती के बराबर था।

शाण—शाण का भार महाभारत मे ½ शतमान या १२½ रत्ती बतलाया है। पतंजलि-काल मे शाण ४ माशे का मान था। माष के समान यह सिक्का भी था। इतने ही वजन का ढला हुआ सुवर्ण सिक्के के रूप मे व्यवहृत होता था। भाष्यकार के समय मे सिक्को मे अन्य धातुओ का मिश्रण नही होता था और प्रत्येक सिक्का शुद्ध धातु रहता था। इसलिए, तोल, मान और सिक्के बराबर रहते थे। शाण का अर्धभाग भी सिक्के के रूप मे व्यवहृत था, जिसे शाणार्ध कहते थे। भाष्य के अध्यर्धशाण से निष्पन्न रूप इस कथन की पुष्टि करते है।[2]

विस्त—सुवर्ण तोलने का मान था, जो अस्सी रत्ती के बराबर था। ऐसा लगता है कि कार्षापण और निष्क के समान विस्त भी कही-कही सामान्य से बडा व्यवहृत होता था। भाष्य मे विस्त के साथ परमविस्त का उल्लेख इस बात का प्रमाण है।[3] विस्त को विद्वानो ने सुवर्ण, कर्ष और अक्ष का पर्याय माना है। इसलिए, इसका वजन भी उन्ही के बराबर रहा होगा। निम्नलिखित मान उन्मान और परिमाण दोनो थे। ये तराजू से तोलने के बाट भी थे और मापने के पात्र भी। मापने के पात्र लकडी के भी बनाये जाते थे और समचतुर्भाग शिख होते थे, अर्थात् इनकी ऊँचाई सब ओर से समान होती थी[4] और इनकी गहराई इतनी होती थी कि निश्चित उन्मान भर अन्न समा सके। महाराष्ट्र तथा बम्बई मे अभी तक पाव, सेर, पायली (५ सेर) पात्र-रूप मे भी प्रचलित है। ये लोहे के होते है।

कुडव—कुडव[5] अन्नादि तोलने और मापने का बाट तथा पात्र था। यह प्रस्थ का चतुर्थांश होता था। पात्र कुडव चार अंगुल चौडा और इतना ही गहरा होता था। इसमे १२ तोला या मुट्ठी-भर-अन्न समाता था। कही-कही इसे १३।। घन अगुल गहरा और कही ६४ घन अगुल गहरा बतलाया है। कही-कही इसकी गहराई १।। अगुल और लम्बाई-चौडाई तीन-तीन अगुल मिलती है, जिसमे ३२ तोलक या २ प्रसृति भर अन्न समाता था। सामान्यतया कुडव अजलि के बराबर होता था और उसका पर्यायवाची थी।

मुष्टि—मुष्टि भी परिमाण-बोधक थी। शार्ङ्गधरसंहिता के अनुसार इसका वजन एक पल था। अर्थशास्त्र ने पल का परिमाण १० धरण माना है।[6] भाष्यकार ने मुष्टि का उल्लेख परिमाण के रूप मे किया है। उन्होने 'समि मुष्टौ' (३-३-३६) सूत्र के भाष्य मे कहा है, यह सूत्र व्यर्थ है; क्योकि मुष्टि के परिमाणवाचक होने के कारण 'परिमाणाख्यायां सर्वेभ्य.' (३-३-२०)

१. १-२-६४, पृ० ५९७।
२. ५-१-३६, पृ० ३२०।
३. १-१-७२, पृ० ४५२।
४. शुष्कसारदारुमयं सम चतुर्भागशिखं मानं कारयेत्।—अर्थ०, अधि० २, अ० १९।
५. ५-२-३७, पृ० ३७९।
६. दशधारणिकं पलम्—अर्थ०, अधि०-२, अ० १९।

सूत्र मे ही घञ् प्रत्यय हो सकता है।"[1] मुष्टि नाम मुट्ठी मे समाने भर अन्न-परिमाण के आधार पर दिया गया जान पड़ता है। अंजलि, शूर्प आदि परिमाणो के विषय मे भी यही बात कही जा सकती है। मुष्टि नाम का कोई स्वतन्त्र मान या पात्र था, इसमे सन्देह है।

प्रस्थ—यह निश्चय ही मान भी था और परिमाण-पात्र भी। यह चार कुडव या अजलि (लगभग ५ छटाँक) के बराबर होता था। भाष्यकार ने प्रस्थ की परिभाषा देते हुए कहा है कि इसमे धान्य समाते हैं।[2] इससे इसके मापक मात्र होने की पुष्टि होती है। अन्यत्र भी उन्होंने कहा है कि प्रस्थ समानाकृति होता है। प्रस्थ-भर अन्न यदि दो जगह रख दिया जाय, तो समानाकार होने के कारण उन्मान, परिमाण या प्रमाण इनमे किसी भी प्रकार से अन्तर नही मालूम होगा।[3]

द्रोण—चार प्रस्थ का एक आढक होता था। भाष्यकार ने अन्न-परिमाण के रूप मे आढक का उल्लेख किया है[4]। इसे पायली (५ सेर) कहते हैं।

द्रोण—चार आढक या पसेरी का एक द्रोण होता था। इस प्रकार, इसका वजन वर्तमान बीस सेर के बराबर था। कौटिल्य ने दशवरण का एक पल और १८७॥ पल (अन्नमाप) का एक द्रोण माना है।[5] सामान्यतया १०२४ मुष्टि=२०० पल=१६ पुष्कल=४ आढक=१ द्रोण प्रचलित परिमाण थे। सम्भवतः, द्रोण पात्र या द्रोण मान के कम ऊँचेपन को लेकर ही नाटी स्त्री के लिए द्रोणी शब्द विशेषण के रूप मे चल पडा। भाष्यकार ने इसी अर्थ मे द्रोणीभार्य (नाटी पत्नीवाला) शब्द का प्रयोग किया है।[6] अन्न के अतिरिक्त अन्य भी कई वस्तुओ का मान इन पात्रो से मालूम किया जाता था। बेरों की तोल भी परिमाण-पात्रो से की जाती थी।[7] आज भी दक्षिण भारत मे बेरों की बिक्री इन्ही मापक पात्रो में भरकर होती है।

खारी—खारी का परिमाण ३ द्रोण या १॥ शूर्प से १८ द्रोण तक मिलता है। यह भेद स्थान-कृत है। जैसे, १२० तोले के ४० सेर से ८० तोले के सेर के १४ सेर तक के मन आज भी देश मे प्रचलित हैं। कहीं-कहीं खारी ४६ गोणी की बतलाई गई है। अर्थशास्त्र मे खारी का परिमाण[8] १६ द्रोण और चरकसहिता मे ४ द्रोण बतलाया है। अन्न की बडी-बडी राशियाँ खारी से मापी जाती थीं। भाष्यकार ने शत और सहस्र खारी की अन्नराशियो की चर्चा

---

१. ३-३-३६, पृ० ३०३।

२. प्रतिष्ठन्ते अस्मिन्निति धान्यानि प्रस्थः—३-३-५८, पृ० ३०८।

३. प्रस्थस्य च समानाकृतेर्न कुतश्चिद् विशेषो गम्यते न चोन्मानतो न परिमाणतो न प्रमाणतः—५-१-१९, पृ० ३०८।

४. १-१-७२, पृ० ४५१।

५. विंशतितौलिको भारः, दशधारणिकं पलम्, सप्ताशीतिपल शतमर्धपल च व्यावहारिकम् (द्रोणः), षोडशं द्रोणा. खारी, विंशति द्रोणिकः कुम्भः, कुम्भैर्दशभिर्वहः—अर्थ०, अधि० २, अ० १९।

६. ६-१, पृ० ३१२।

७. २-२-५, पृ० ३३६।

८. अर्थ०, शा०, अधि० २, अ० १९।

की है।[1] खारी से क्रीत वस्तु खारीक कहलाती थी। इसी प्रकार, अध्यर्ध खारीक, द्विखारीक आदि उन वस्तुओ को कहते थे, जो डेढ या दो खारी परिमाण से क्रीत की गई हो।[2] प्राच्य प्रदेशो के लोग दो खारियो को द्विखार और अर्धखारी को अर्धखार भी बोलते थे।[3] इससे पता चलता है कि प्राच्य लोगो मे खारी को खार बोलने की प्रथा थी।

अन्नराशि प्राय खारी से तौली जाती थी। भाष्यकार ने कहा है कि एक कुद्दालक से सैकड़ो खारी अन्न उपजाया जाता है।[4] यह कथन भूमि की उर्वरता की ओर भी सकेत करता है। खारी को अष्टिका भी कहते थे।[5]

भाष्य मे द्रोण, आढक और खारी का उल्लेख अनेक वार साथ-साथ हुआ है। खारी, परिमाणविशेप था, मानपात्र, सम्भवत , नही था। द्रोण, खारी आढक तीनो को भाष्यकार ने अक्त परिमाण कहा है। इससे इतना स्पष्ट है कि ये तोनो निश्चित परिमाण थे।[6] ऐसा नही कि थोडा-वहुत कम-अधिक होने पर भी उनके विशिष्ट परिमाण होने मे वाधा न आये। एक स्थान पर द्रोण और आढक का साथ उल्लेख करते हुए भाष्य मे कहा है कि अर्ध है तृतीय जिसमे (दो मे), ऐसे २॥ द्रोणो को 'अर्धतृतीय द्रोण' कह सकते है; क्योकि जिस शब्द का प्रयोग समुदाय के लिए हो सकता है, उसका उस समुदाय के अवयव के लिए भी हो सकता है। इसीलिए, $\frac{1}{2}$ द्रोण को भी द्रोण कहना उचित है। किन्तु, यह वात उसी अवयव के लिए है, जो उस समुदाय का अवश्य घटक हो। दो द्रोण और आधे आढक को 'अर्धतृतीय द्रोण' नही कहते, क्योकि आढक द्रोण का आवश्यक घटक नही है, उलटे आढक द्रोण का घटक है।[7] द्रोण खारी का एक अवयव था, इसीलिए खारी मे एक द्रोण अधिक है या खारी मे द्रोण अध्यारूढ है, इस प्रकार के कथन सगत माने जाते थे।[8]

परिमाण के आधार पर पात्रों के नाम—इन परिमाणो के आधार पर भोजन पकाने के पात्रो तथा खेतो के दाम पड जाते थे। उदाहरणार्थ—जिस पात्र मे एक द्रोण चावल पक सकते थे, उस स्थाली को द्रोणी या द्रोणिकी[9] कहते थे। इसी प्रकार, आढक से आढकीना, द्व्याढकीना, आचितीना (आचित=परिमाणविशेप), पात्रीणा (पात्र=परिमाणविशेप) या द्व्याढकिकी, आढकिकी, आचितकी, पात्रिकी, अथवा द्वयाढकी, द्वयाचिता, द्विपात्री, द्विपात्रीणा, द्वयाचितीना[10] आदि। दो कुलिज (परिमाणविशेप) भर चावल या कोई अन्न जिसमे पक सके, उसे द्विकुलिजिकी,

---

१. ५-१-५८, पृ० ३२७।
२. ५-१-३३, पृ० ३२०।
३. ५-४-१०१।
४. एकेन कुदालकेन खारीसहस्रम्—२-१-६९, पृ० ३२५।
५. ७-३-४५, पृ० १९०।
६. १-१-७२, पृ० ४५१।
७. २-२-२४, पृ० ३७१।
८. ५-१-५२, पृ० ३२५।
९. ५-१-५३।
१०. ५-१-५५, पृ० ३२५।

द्विकुलिजीना, द्विकुलिजा, द्वैकुलिजिकी कहते थे।[1] प्रस्थ, कुडव, खारी-भर अन्न जिनमे पक सके, उन्हे क्रमश प्रास्थिक, कौडविक एव खारीक[2] कहते थे। ये ही शब्द उन पात्रो के लिए भी प्रयुक्त होते थे, जिनमे उक्त परिमाणो का अन्न या अन्य चीजे समा सके। जिन खेतो मे प्रस्थ, द्रोण, खारी या पात्र भर बीज बोया जाता था, उन्हे क्रमश प्रास्थिक, द्रौणिक खारीक और पात्रिक कहते थे।[3]

कंस—घरेलू व्यवहार का पात्र था। लोटे और कटोरी काँसे के बनते थे और कास्य-पात्र कहलाते थे। कस व्यवहार का पात्र जान पडता है, जिसका आकार निश्चित होगा, किन्तु चरक मे कंस का जो परिमाण दिया है, उससे यह साधारण पात्र नही, परिमाणविशेष मालूम होता है। ८ प्रस्थ या २ आढक का एक कस होता था। कस से क्रीत वस्तु को कासिक[4] कहते थे।

मन्थ—मन्थ का उल्लेख पाणिनि ने 'कसमन्थशूर्पपाय्यकाण्डद्विगौ' (६-२-१२२) सूत्र मे किया है। यह परिमाणवाचक है, किन्तु इसका निश्चित परिमाण बतलाना कठिन है। कस और शूर्प के बीच उल्लेख होने से सम्भव है, इन दोनो के बीच का हो। मन्थ मटके के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है, जिसका आकार मठ्ठा बिलोने के मटके के बराबर हो।

शूर्प—शूर्प दो द्रोण के बराबर होता था। दो शूर्प अन्न से क्रीत वस्तु द्विशूर्प और तीन से क्रीत त्रिशूर्प कही जाती थी।[5] भाष्य के उदाहरणो से प्रतीत होता है कि शूर्प का प्रचलन लेन-देन मे बहुत अधिक था। अर्धशूर्प का भी निश्चित परिमाण था और वह भी क्रय-विक्रय मे प्रयुक्त होता था। डेढ शूर्प से क्रीत वस्तु अध्यर्ध[6] शूर्प और साढे चार शूर्प से क्रीत वस्तु अर्धपचम शूर्प कही जाती थी। द्विशूर्प (दो शूर्पो से क्रीत) वस्तु से खरीदी हुई वस्तु को द्विशौर्पिक, इसी प्रकार त्रिशौर्पिक[7] कहते थे।

कुम्भ—कुम्भ और उष्ट्रिका[8] परिमाण थे और प्रतिकाण्ड या प्रतिदण्ड वापबीज निश्चित करने मे सहायक थे। भाष्यकार ने माष-कुम्भ-वाप[9] और व्रीहि-कुम्भ-वाप क्षेत्रो का उल्लेख किया है। इन खेतो मे कुम्भ पर माष या व्रीहि का बीज पडता था। उष्ट्रिका नाम ऊँट के समान ऊँची या लम्बी गरदन होने के कारण रखा गया था। दस कुम्भो को वह भी कहते थे।[10] कुम्भ २० द्रोण के बराबर होता था। कुम्भी इससे बहुत छोटी, सम्भवत घडे के बराबर होती थी[11]

---

१. ५-१-५२ तथा ५४।
२. ५-१-४५ तथा ४६।
३. ३-१-३, पृ० १८।
४. अध्यारूढो द्रोणः खार्याम् अधिको द्रोणः खार्याम्—५-२-७३, पृ० ३९८।
५. ५-१-२०, पृ० ३१२।
६. १-२-२३, पृ० २१३।
७. ५-१-२०, पृ० ३१२।
८. ४-१-३, पृ० २२।
९. ८-४-१३, पृ० ४८१।
१०. अर्थशा०, अधि० २, अ० १९।
११. १-३-७, पृ० २७।

श्रोत्रिय की निर्धनता प्रकट करने के लिए भाष्यकार ने उसे कुम्भीवान्य कहा है। पाँच उप्ट्रकाओं का एक घट होता था।[1] घट, कुम्भ, कलश पर्यायवाची थे। कुम्भ और कुम्भी लोहे के बनते थे।[2]

गोणी—चरण के अनुसार गोणी और खारी पर्यायवाची है। गोणी छोटी बोरी को कहते हैं। मामूली टट्टू पर दो गोणी भार लादकर बनिये अनाज बेचने निकलते है। गोणी अन्न-परिमाण होता है। इनकी माप आज भी बरावर होती है। सम्भवत. एक टट्टू पर लदी दो गोणियो के बोझ की गोणी भर अन्न को गोणी कहते हो। गोणी भर अन्न को गौणी कहते थे।[3] इसी प्रकार पाँच या दस गोणी भर अन्न पचगोणी या दशगोणि कहा जाता था।[4]

भार—एक वार मे स्वस्थ मनुष्य जितना बोझ ले जा सकता था, उसे भार कहते थे। भार ८००० कर्ष या २॥ मन का होता था। अर्थशास्त्र मे २० तुला=१ भार बतलाया गया है।[5] तुला १०० पल की होती थी। यह परिमाण तराजू से एक बार मे तोले गये वजन (५ सेर) के लिए था। इस प्रकार की भार २॥ मन का ही सिद्ध होता है। भार एक व्यक्ति द्वारा ले जाये जाने योग्य (काँवर द्वारा) वजन को कहते थे। यह बात भाष्य मे उल्लिखित भारवाह[6] तथा भारहार शब्दो से भी पुष्ट होती है। भारवाह को व्यावसायिक लोग वशभार या वाल्वजभार ले जानेवाले वाशभारिक या वाल्वजभारिक कहते थे।[7] ये कर्मकर श्रेणी के होते थे, जिनका काम भार को एक ग्राम से दूसरे ग्राम पहुँचाना होता था। महाभार भार से बहुत बड़ा था, यद्यपि इसका वजन निश्चित रूप से नही बतलाया जा सकता। पाणिनि-सूत्र ६-२-३८ मे महाभार का उल्लेख है।

आचित—आचित एक गाड़ी भार को कहते थे, जो १० भार या २५ मन के बराबर होता था। सम्भवतः, इसी का नाम महाभार था। आचित भार भी सामान्य और विशेष भेद से दो प्रकार का होता था। विशेष भार को परमाचित कहते थे।[8] यह अन्तर छोटी-बड़ी गाडी के भेद के कारण था। जो आचितो से क्रीत वस्तु को द्व्याचित, द्व्याचिता (स्त्री०) कहते थे। इसी प्रकार द्विपरमाचिता भी प्रयोग होता था। जिसमे आचित भर वस्तु समा जाये, उसे आचितीन कहते थे।[9]

पात्र, कुलिज, पाय्य, पष्ठक, कम्बल्य, पंचलोहित और पचकपाल भी परिमाण थे। पात्र भर बीज बोने योग्य खेत या पात्र भर अन्न समाने या पका सकने योग्य स्थाली या पात्र को क्रमशः

---

१. पञ्चानामुष्ट्रिकाणां पूरणो घटः—५-२-४८. पृ० ३८७।
२. ४-१-१, पृ० १०।
३. १-२-५०, पृ० ५४९।
४. वही।
५. अर्थ०, शा०, अधि० २, अ० १९।
६. ३-२-१, पृ० २०१।
७. ५-१-५०।
८. १-१-७२, पृ० ४५२।
९. ५-१-५३।

पात्रिक[1] एव पात्रीणा[2] कहते थे। इसी प्रकार, दो कुलिज अन्न रखने या पकाने योग्य पात्र द्विकुलिजिकी[3], त्रिकुलिजिकी, द्विकुलिजिकीना या द्विकुलिजा कहलाता था।[3] चरक ने पात्र को आटक का पर्याय माना है।[4] पाय्य वर्तमान पायली (बम्बई), पाई (पजाब), प्या (पश्चिमोत्तर-प्रदेश) का प्राचीन नाम जान पडता है। षष्ठक[5] अन्न के षष्ठाश राज-कर मापने का पात्र जान पडता है, जो द्रोणादि मे से कोई हो सकता है। कम्बल्य सर्वाधिक प्रचलित परिमाण के कम्बल मे लगनेवाली ऊन का परिमाण (पाँच सेर) था। पचलोहित से क्रीत वस्तु पाचलोहितिक और पचकपाल से क्रीत वस्तु पाचकापालिक कही जाती थी।[7] इनका वास्तविक परिमाण क्या था, निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता।

प्रमाण—भाष्यकार के अनुसार आयाम, अर्थात् लम्बाई की माप को प्रमाण कहते हैं। यद्यपि, अष्टाध्यायी मे एकाध स्थानो पर इसके अपवाद मिलते हैं[8], जिनमे प्रमाण मे वजन या सख्या को भी सम्मिलित कर लिया गया है, फिर भी सामान्यत प्रमाण का प्रयोग उपर्युक्त अर्थ मे ही हुआ है।

लम्बाई की माप लकडी से बने मापको से की जाती थी, जिन्हे द्रुवय कहते थे[9], किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य साधनो द्वारा भी लम्बाई मापी जाती थी। भाष्य मे आयाम के निम्नलिखित प्रमाणो का उल्लेख मिलता है।

अंगुलि—यह निम्नतम प्रमाण-बोधक थी। अगुलि से भी छोटा मापक यव था, तो भी उसका प्रयोग व्यवहार मे कम होता था। पाणिनि ने प्रमाण-रूप मे अगुलि का उल्लेख किया है।[10] अगुलि ¾ इच के बराबर थी। प्राचीन ग्रन्थकार ८ यव=एक अगुलि मानते थे। इस प्रकार, यव सबसे छोटा प्रमाण था और अगुलि उसके बाद।

दिष्टि—अँगूठे और तर्जनी को फैलाकर नापने से उनके मध्य की जो लम्बाई होती है, उसे दिष्टि कहते थे।[11] इसे मराठी मे टीच कहते है, जो परिमाण का ही बोधक है। दिष्टि को प्रादेश भी कहते थे। भाष्यकार ने कहा है कि सत्रह सामिधेनी ऋचाएँ पढकर समिधाएँ रखी जाती है किन्तु एक ही बार सत्रह प्रादेश भर लम्बी समिधाएँ नही रख दी जाती।[12]

---

१. ५-१-५२ तथा ५४।
२. ५-१-४५ तथा ४६।
३. ५-१-५५, पृ० ३२५।
४. ३-१-१२९, पृ० १९४।
५. ५-३-५१।
६. ५-३-३, पृ० ९२७।
७. ५-१-२८, पृ० ३१८।
८. ६-२-४० तथा ६-२-१२।
९. ४-२-१६२।
१०. ५-४-८६।
११. ६-२-१, पृ० २५०।
१२. सप्तदश प्रादेशमात्रो राश्वत्यीः समिधोऽभ्यादधीतेति न सप्तदश प्रादेशमात्र काष्ठमभ्याधीयते—आ० २, पृ० ६२।

पात्रिक[1] एव पात्रीणा[2] कहते थे। इसी प्रकार, दो कुलिज अन्न रखने या पकाने योग्य पात्र द्विकुलिजिकी[3], त्रिकुलिजिकी, द्विकुलिजिकीना या द्विकुलिजा कहलाता था।[3] चरक ने पात्र को आढक का पर्याय माना है।[4] पाय्य वर्त्तमान पायली (बम्बई), पाई (पजाव), प्या (पश्चिमोत्तर-प्रदेश) का प्राचीन नाम जान पडता है। षष्ठक[5] अन्न के षष्ठाश राज-कर मापने का पात्र जान पडता है, जो द्रोणादि मे से कोई हो सकता है। कम्बल्य सर्वाधिक प्रचलित परिमाण के कम्बल मे लगनेवाली ऊन का परिमाण (पाँच सेर) था। पचलोहित से क्रीत वस्तु पाचलोहितिक और पचकपाल से क्रीत वस्तु पाचकापालिक कही जाती थी।[7] इनका वास्तविक परिमाण क्या था, निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता।

प्रमाण—भाष्यकार के अनुसार आयाम, अर्थात् लम्बाई की माप को प्रमाण कहते हैं। यद्यपि, अष्टाध्यायी मे एकाध स्थानो पर इसके अपवाद मिलते हैं[8], जिनमे प्रमाण मे वजन या सख्या को भी सम्मिलित कर लिया गया है, फिर भी सामान्यत प्रमाण का प्रयोग उपर्युक्त अर्थ मे ही हुआ है।

लम्बाई की माप लकडी से बने मापको से की जाती थी, जिन्हे द्रुवय कहते थे[9], किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य साधनो द्वारा भी लम्बाई मापी जाती थी। भाष्य मे आयाम के निम्नलिखित प्रमाणो का उल्लेख मिलता है।

अंगुलि—यह निम्नतम प्रमाण-बोधक थी। अगुलि से भी छोटा मापक यव था, तो भी उसका प्रयोग व्यवहार मे कम होता था। पाणिनि ने प्रमाण-रूप मे अगुलि का उल्लेख किया है।[10] अगुलि ¾ इच के बराबर थी। प्राचीन ग्रन्थकार ८ यव = एक अगुलि मानते थे। इस प्रकार, यव सबसे छोटा प्रमाण था और अगुलि उसके बाद।

दिष्टि—अँगूठे और तर्जनी को फैलाकर नापने से उनके मध्य की जो लम्बाई होती है, उसे दिष्टि कहते थे।[11] इसे मराठी मे टीच कहते है, जो परिमाण का ही बोधक है। दिष्टि को प्रादेश भी कहते थे। भाष्यकार ने कहा है कि सत्रह सामिधेनी ऋचाएँ पढकर समिधाएँ रखी जाती हैं किन्तु एक ही बार सत्रह प्रादेश भर लम्बी समिधाएँ नही रख दी जाती।[12]

१. ५-१-५२ तथा ५४।
२. ५-१-४५ तथा ४६।
३. ५-१-५५, पृ० ३२५।
४. ३-१-१२९, पृ० १९४।
५. ५-३-५१।
६. ५-३-३, पृ० ९२७।
७. ५-१-२८, पृ० ३१८।
८. ६-२-४० तथा ६-२-१२।
९. ४-२-१६२।
१०. ५-४-८६।
११. ६-२-१, पृ० २५०।
१२. सप्तदश प्रादेशमात्रो राश्वत्थीः समिधोऽभ्यादधीतेति न सप्तदश प्रादेशमात्र काष्ठमभ्याधीयते—आ० २, पृ० ६२।

वितस्ति—वितस्ति[1] का प्रमाण बारह अगुल था। इसी से बीत या बीता बना है। अगुष्ठ और द्विगुनी को फैलाने से मध्य की लम्बाई वितस्ति या बालिश्त होती है। एक श्लोक-वार्त्तिक मे तथा अन्य सूत्रो के भाष्य मे उदाहरण रूप से दिष्टि[2] और वितस्ति[3] का उल्लेख हुआ है। दो या तीन वितस्ति लम्बी वस्तु को द्विवितस्ति या त्रिवितस्ति कहते थे।[4] इसी प्रकार आयाम के प्रमाण के लिए ही भाष्य मे त्रिदिष्टि, द्विदिष्टि[5] और दिष्टि-मात्र शब्दो का उल्लेख मिलता है। स्वय सूत्रकार ने 'दिष्टिवितस्त्योश्च' (६-२-३१) मे इन प्रमाणबोधक शब्दो का ग्रहण किया है। दष्टि और वितस्ति के लगभग प्रमाणवाली वस्तु को दिष्टि-मात्र और वितस्ति-मात्र कहते थे।[6]

अरत्नि—कुछ लोगो के मत से मुट्ठी बन्द हस्त को अरत्नि कहते थे। यह २४ अगुल की होती थी। भाष्य मे पचारत्नि, दशारत्नि[7] का उल्लेख है। एक स्थान पर कहा है कि सत्रह मत्र पढकर सत्रह समिधाएँ यज्ञकुण्ड मे रखी जाती है। पर, सत्रह अरत्नि लम्बी एक ही समिधा सबके बदले नही रख दी जाती। इससे यह स्पष्ट है समिधा की लम्बाई एक अरत्नि होती थी।[8] अरत्नि का मूल अर्थ कोहनी था। ऋग्वेद (८-८०-८) तथा ऐतरेय ब्राह्मण (८-५) मे भी इसका उल्लेख है। कोहनी से अगुल्यग्रभाग तक का प्रमाण अरत्नि था।

शम या हस्त—दो वितस्ति को शम या हस्त कहते थे।[9] दो और तीन शम लम्बी वस्तु द्विशम और त्रिशम कही जाती थी। लगभग एक शम लम्बी वस्तु को शम-मात्र कहते थे।[10]

दण्ड—चार शम या हस्त का एक दण्ड होता था।

काण्ड—एक दण्ड लम्बा और एक दण्ड चौडा, अर्थात् १६ हाथ क्षेत्रफल की भूमि काण्ड कहलाती थी। यदि क्षेत्र न हो, तो १६ हाथ लम्बी रज्जु या अन्य वस्तु काण्ड-प्रमाण मानी जाती थी। यदि दो-तीन काण्ड की क्षेत्र-मर्यादा होती, तो उसे द्विकाण्डा या त्रिकाण्डा क्षेत्रभक्ति कहते थे, किन्तु यदि इसी प्रमाण की रस्सी होती, तो उसे द्विकाण्डी रज्जु कहते थे। क्षेत्रभक्ति शब्द खेत की लम्बाई-चौडाई=क्षेत्रफलवती भूमि के लिए प्रयुक्त होता था।[11] इस प्रकार, यदि लम्बाई की दृष्टि से देखे तो दण्ड और काण्ड दोनो बराबर (४ हाथ) थे। इसीलिए, बालमनोरमा ने उन्हे पर्यायवाची मान लिया है, यद्यपि दोनो मे अन्तर है। इस पर्यायवाचिता के ही कारण

---

१. ६-२-१, पृ० २५०।
२. वही।
३. ५-२-३७, पृ० ३७८, ७९।
४. वही।
५. वही।
६. वही
७. २-१-५, पृ० ३०१।
८. आ० २, पृ० ६२।
९. ५-२-३७, पृ० ३७८।
१०. वही।
११. ४-१-२३ काशिका।

कुछ विद्वानो ने शम को सोलह हाथ माना है। वास्तव मे, दण्ड केवल आयाम का बोधक है और काण्ड आयाम × विस्तार का।

रज्जु—खेतो को नापने के लिए रज्जु प्रमाण का व्यवहार होता था। रज्जु की लम्बाई दस दण्ड के बराबर मानी जाती थी।[१] दण्ड रज्जु का अवयव था।

किष्कु—'पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्' (६-१-१५७) सूत्र के भाष्य मे किष्कु का भी उल्लेख है। काशिका ने इसे प्रमाण कहा है। किष्कु २४ अगुष्ठो की चौडाई-भर का प्रमाण था। अर्थशास्त्र के अनुसार इसका साधारण प्रमाण ३२ अगुल था। किष्कु कर या हस्त के लिए भी व्यवहृत होता था।

नल्व—४००किष्कु का एक नल्व होता था, जिसका प्रमाण लगभग एक फर्लांग था। महाभाष्य मे नल्व का उल्लेख नही है।

क्रोश—क्रोश की चर्चा भाष्य मे कई बार आई है। लम्बी दूरी की माप क्रोशो से की जाती थी। क्रोश बहुत प्रचलित प्रमाण था। भाष्यकार ने 'क्रोस भर सोता है, वनराजि क्रोश भर रमणीय है, नदी क्रोश भर टेढी है',[२] ऐसे दूर या दैर्घ्य-दर्शक प्रसगो मे क्रोश शब्द का ही उपयोग किया है। यात्री लोग क्रोशो के द्वारा ही यात्रा की लम्बाई का अनुमान करते थे। सौ क्रोश चलने-वाला क्रोशशतिक कहलाता था। जिस व्यक्ति का अभिनन्दन सौ क्रोश से पहले से करना चाहिए, ऐसे भिक्षु या महात्मा को क्रौशशतिक कहते थे।[३] सैनिक एक क्रोश की दूरी से बाण का निशाना मारने का अभ्यास करते थे।[४]

गव्यूति—दो क्रोश की लम्बाई को गव्यूति कहते थे।[५] परिमाण अर्थ मे ही गव्यूति शब्द का प्रयोग होता था, अन्यथा गोयूति शब्द का व्यवहार होता था। रॉथ के अनुसार ऋग्वेद मे गव्यूति (१-२५-१६, ३-६२-१६) पशु को चराने के लिए छोड़ी हुई घास की भूमि का नाम है। वहीं से इसका व्यवहार दूरी नापने के लिए प्रारम्भ हुआ। पचविंशब्राह्मण (१६-१३-१२) मे यह शब्द दूरी की नाप के लिए प्रयुक्त है।

योजन—दो गव्यूति या चार क्रोश को योजन कहते थे। योजन ४ गोरुत का होता था।[६] इस प्रकार क्रोश और गोरुत का परिमाण बराबर था। अर्थशास्त्र ने ४ अरत्नि=१ दण्ड या धनु (बढई की माप), जो १०८ अगुल का होता था, माना है और १००० धनु का एक गोरुत बतलाया है तथा चार गोरुत का एक योजन।[७] भाष्य मे योजनशत की यात्रा करनेवाले को

---

१. वही।

२. १-४-५१, पृ० १८० तथा २-३-५, पृ० ४०८।

३. ५-१-७४, पृ० ३३७।

४. २-३-७, पृ० ४१०।

५. ६-१-७९, पृ० ११२।

६. चतस्रोऽरत्नयो दण्डो धनुः गार्हपत्यमष्टशताङ्गुलं धनुःसहस्रं गोरुतम् चतुर्गोरुतं।—अर्थ० शा०।

७. वही।

योजनशतिक कहा है। जिसका अभिनन्दन सहस्र योजन पहले से होना चाहिए, ऐसे गुरु आदि के भी योजनसहस्रिक विशेषण प्रयुक्त होता था।[१] साधारण घोडा एक बार जुतकर ४ योजन चला जाता है, किन्तु अच्छा घोडा आठ योजन।[२] यह कथन भी भाष्य मे मिलता है। एक शहर से दूसरे शहर की दूरी भी योजनों मे नापी जाती थी। जैसे, गवीधुमान् से साकाश्य चार योजन था।[३]

ये वस्तु की लम्बाई और चौडाई मापने के प्रमाण थे। गहराई या खात-प्रमाण के लिए व्यवहृत होनेवाले कुछ शब्द भी भाष्य मे मिलते है। भाष्यकार ने प्रमाण और ऊर्ध्वमान मे भेद किया है और 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच.' (५-२-३७) सूत्र से प्रमाण अर्थ मे होनेवाले द्वयसच्, दघ्नच् और मात्रच् मे प्रथम दो का ही प्रयोग ऊर्ध्वमान मे माना है। इस सूत्र के श्लोक-वार्त्तिक[४] मे तथा 'यत्तदेतेभ्य परिमाणे वतुप्'[५] (५-२-३९) के भाष्य मे जहाँ उन्होने प्रमाण, परिमाण और सख्या के पृथक्त्व एव भेद को दुहराया है, वहाँ प्रमाण और ऊर्ध्वमान का भेद भी दिखलाने की चेष्टा की है। उन्होने कहा है कि इन प्रमाणबोधक प्रत्ययो मे से मैं दो को ही ऊर्ध्वमान मे स्वीकार करता हूँ।[६] ऊर्ध्वमान के तीन माप-दण्ड भाष्य मे मिलते हैं—

उरु—गहराई मापने के लिए उरु सबसे छोटा प्रमाण था। उरु बराबर गहरी परिखा या जल आदि को ऊरुद्वयस,[७] उरुदघ्न या उरुमात्र कहते थे।

पुरुष—पुरुष, प्रमाण[८] साधारण मनुष्य की हाथ ऊपर उठाने पर जो ऊँचाई होती है, उसका बोधक था। पुरुष भर गहरी परिखा को द्विपुरुषी या द्विपुरुषा कहते थे।[९] एक पुरुष गहराई का जल पौरुष, पुरुषद्वयस, पुरुषदघ्न या पुरुषमात्र कहा जा सकता था।[१०]

हस्ती—ऊर्ध्वमान का सबसे बडा प्रमाण हस्ती था। हस्ती-भर गहराई (ऊँचाई के आधार पर) के जल आदि को हास्तिन, हस्तिद्वयस, हस्तिदघ्न या हस्तिमात्र कहते थे। दो हस्तियो के लिये द्विहस्ति, इसी प्रकार त्रिहस्ति, द्विहस्तिनी, त्रिहस्तिनी आदि शब्दो का व्यवहार होता था।[११]

---

१. ५-१-७४, पृ० ३३७।
२. ५-३-५५, पृ० ४४६।
३. २-३-२८, पृ० ४२५।
४. ५-२-३७, पृ० ३७९।
५. ५-२-३९, पृ० ३७९।
६. प्रथमश्च द्वितीयश्च ऊर्ध्वमाने मतौ मम।—५-२-३७, पृ० ३७८।
७. वही,
८. ४-१-२४।
९. वही
१०. ५-२-३८ काशिका।
११. वही।

अध्याय ७

पण और मुद्रा

सुवर्णादि-परिमाण—भाष्यकार ने यत्र-तत्र प्रसंगवश उन अनेक मुद्राओं या सिक्कों का उल्लेख किया है, जो देश में प्रचलित थीं। किसी विशेष प्रदेश या राजा से इनका सम्बन्ध न था और न उनमें अधिकांश आहत ही थीं। इसलिए वास्तविक अर्थ में इन्हें मुद्रा कह सकना कठिन है। ये सोने, चाँदी और ताँबे के परिमाणविशेष थे और क्रय-विक्रय के साधन थे, जिनका मूल्य उनके वजन के अनुसार रहता था। तीनों धातुओं के सिक्कों के लिए उनके वजन की मात्रा निश्चित रहती थी, यद्यपि प्रदेश-भेद के अनुसार वे भी कम और अधिक वजन के होते थे। सामान्यतः स्वीकृत भार के बड़े सिक्कों की महत्ता व्यक्त करने के लिए कभी-कभी उनके पूर्व 'परम' विशेषण का प्रयोग किया जाता था। सुवर्ण के सिक्के प्रायः ढले हुए होते थे। सिक्कों के अभाव में उतने परिमाण में सुवर्ण भी दिया जा सकता था। कोई-कोई राजा अपने विशेष अंकों या लक्षणों से युक्त सिक्के ढलवाते थे, किन्तु भार-साम्य के कारण उनके मूल्य में अन्तर नहीं आता था।

निष्क—सुवर्ण की मुद्राओं में निष्क और सुवर्ण का नाम भाष्य में कई बार आया है।[1] यों ऋग्वेद, ऐतरेय ब्राह्मण, श्रौतसूत्रों एवं महाभारत में भी निष्क का वर्णन मिलता है। निष्क का व्यवहार कण्ठाभूषण के रूप में बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा था। काशिकाकार ने भी 'हिरण्यपरिमाणधने' (६-२-५५) में 'धने किम्?' के प्रत्युदाहरण-स्वरूप 'निष्कमाला' का उल्लेख किया है। निष्क यद्यपि हिरण्य-परिमाण था, किन्तु माला के रूप में उसके परिमाण का कोई मूल्य नहीं रह जाता था।

निष्क पारिवारिक समृद्धता का मापदण्ड था और क्रय-विक्रय का माध्यम भी। एक निष्कवाला सौ निष्कों के स्वामी से स्पर्धा का साहस नहीं करता था।[2] उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा निष्कों के अनुपात में ही शतनिष्कधन से कम थी। निष्क आढ्यंकरण माना जाता था।[3] जिस व्यक्ति या परिवार के पास सौ निष्क होते थे उसे नैष्कशतिक और जिसके पास हजार निष्क होते थे उसे नैष्कसहस्रिक कहते थे। वर्तमान लक्षाधीश आदि के समान ये आढ्यतासूचक उपाधियाँ थीं। 'शतसहस्रान्ताच्च निष्कात्' (५-२-११९) इस पृथक् सूत्र का मत्वर्थ प्रत्यय के लिए प्रणयन इस बात का प्रमाण है। यदि नैष्कशतिक और नैष्कसहस्रिक संज्ञा शब्द न होते, तो बहुव्रीहि-

---

१. ५-३-५५, पृ० ४४७।

२. नहि निष्कधनः शतनिष्कधनेन स्पर्धते।—५-३-५५, पृ० ४४७।

३. ३-२-५६।

समासान्तपद शतनिष्क, सहस्रनिष्क या मत्वन्त शतनिष्कवान्, सहस्रनिष्कवान् आदि प्रयोग सामान्य बन ही जाते।

निष्क से क्रीत वस्तु की सज्ञा नैष्किक थी।[1] दो और तीन निष्को से क्रीत वस्तु के लिए द्विनिष्क या द्विनैष्किक और त्रिनिष्क या त्रिनैष्किक शब्दो का व्यवहार होता था।[2] बहुत निष्कों से क्रीत वस्तु बहुनिष्क या बहुनैष्किक कही जाती थी।[3]

निष्क के परिमाण मे समय-समय पर अन्तर होता रहा है। कभी उसका भार १६ बड़ी या ३२ छोटी राशियो के दीनार के बराबर था और वह १६ माष के एक कर्ष या सुवर्ण के बराबर होता था। कभी उसका परिमाण ४ या ५ पल सोने के बराबर मिलता है। बडे पल या दीनार का मान कभी-कभी १०५ से १०८ सुवर्ण के बराबर मिलता है। कही उसका वजन ४ माष और कही १६ द्रम्म पाया जाता है। प्रदेश-भेद से भी मान-भेद सभव था। इनमे अधिकतम भार के निष्क को परमनिष्क कहते थे और उससे क्रीत पदार्थ को परमनैष्किक।[4] मनुस्मृति (८-१३७) के अनुसार निष्क ४ सुवर्ण या ३२० रत्ती के बराबर होता था।

पतजलि के समय तक आते-आते निष्क का प्रचलन बहुत बढ गया था, यहाँतक कि उसके चतुर्थ भाग का भी उपयोग होने लगा था। पन्निष्क एक स्वतन्त्र सिक्का था, जिसे पादनिष्क भी कहते थे।[5] पन्निष्क इस स्वतन्त्र शब्द का, पादनिष्क के रहते हुए प्रयोग इस बात का सूचक है। यदि यह कथन उचित माना जाय, तो अर्धनिष्क के भी स्वतन्त्र सिक्के के रूप मे प्रचलित होने की सभावना की जा सकती है।

सुवर्ण—सुवर्ण जैसा कि नाम से स्पष्ट है सोने की मुद्रा थी, जिसका भार १ कर्ष या ८० गुंजा (लगभग १७५ ग्रेन) के बराबर होता था। सुवर्ण भी समृद्धता का मापक था। काशिका-कार ने द्विसुवर्ण धन (जिसकी सम्पत्ति दो सुवर्ण थे) का उल्लेख किया है[6], और सुवर्ण को धन तथा हिरण्य-परिमाण दोनो माना है। उपर्युक्त परिमाण के सोने के लिए भी पारिभाषिक रूप से सुवर्ण शब्द का प्रयोग होता था। भाष्यकार ने डेढ सुवर्ण-मुद्रा से खरीदी हुई वस्तु के लिए अध्यर्ध सुवर्ण और अध्यर्ध सौवर्णिक शब्दो का प्रयोग किया है।[7] यहाँ अध्यर्ध सुवर्ण शब्द डेढ परिमाण सोने के लिए ही प्रयुक्त जान पडता है; क्योकि अर्ध-सुवर्ण की मुद्रा का भाष्य मे और कोई उल्लेख नही मिलता। काशिका मे दो सुवर्णो से क्रीत वस्तु को द्विसौवर्णिक कहा है।[8]

इस समय सामान्य सोने के लिए हिरण्य शब्द व्यवहार मे आता था। यह बात उपर्युक्त

---

१. ५-१-२०, पृ० ३११।
२. वही तथा ५-१-३०, पृ० ३२०।
३. वही।
४. ५-१-२०, पृ० ३११।
५. ६-३-५६, पृ० ३८८।
६. ६-२-५५ काशिका।
७. ५-१-२९, पृ० ३१९।
८. ७-३-१७।

सूत्र 'हिरण्यपरिमाणधने' (५-२-५५) तथा भाष्य के 'अधिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ति, न च प्रत्येक दण्डयन्ति (१-१-१, वा० १२, पृ० १०३) से स्पष्ट होती है। यहाँ 'गर्गा शत दण्ड्यन्ताम्' (वही) के 'शत' मे मुद्रा तथा हिरण्य से सामान्य सोने का भाव स्पष्ट ही है। इसी प्रकार एक स्थान पर कहा है कि जितने हिरण्य से दो द्रोण धान्य मिल सकता है, उतने धान्य और जितने हिरण्य मे एक हजार घोडे मिलते हैं, उतने हिरण्य से घोडे खरीदता है।[1] यहाँ तो स्पष्ट ही हिरण्य शब्द का प्रयोग किसी निश्चित मुद्रा के लिए न होकर सामान्य सुवर्ण के लिए ही है। इसी अर्थ में भाष्य मे अष्टापद शब्द भी मिलता है।

राजत मुद्राएँ

शतमान—राजत मुद्राओं मे शतमान सबसे बड़ा था, जो १०० रत्ती के बराबर होता था। यह बात इसके नाम से ही सिद्ध है। वैदिक साहित्य मे 'मान' कृष्णल या रत्ती के अर्थ मे व्यवहृत हुआ है। वैदिक साहित्य से शतमान के सुवर्ण-मुद्रा होने का भी पता चलता है,[2] किन्तु शतपथ ब्राह्मण से ही उसका राजत तथा १०० कृष्णल भर होना भी मालूम होता है। कुछ विद्वान् तक्षशिला के भिड़ टीलो पर जार्ज मार्शल द्वारा पाये गये टेढ़े शलाका-खण्डो को राजत शतमान मानते हैं। मनु ने शतमान का वजन १० धरण या ३२० रत्ती माना है। पतजलि ने डेढ शतमान से क्रीत वस्तु को अध्यर्ध शतमान तथा अध्यर्ध शातमान कहा है। इसी प्रकार, दो शतमानो से क्रीत पदार्थ को द्विशतमान या द्विशातमान बतलाया है।[4]

शाण—शाण चाँदी का सिक्का था, जिसका वजन महाभारत के आरण्यक पर्व के अनुसार[5] शतमान होता था। इस प्रकार, शाण १२॥ रत्ती या २२॥ ग्रेन का प्रचलित जान पडता है। चरकसहिता मे शाण को सुवर्ण या कर्ष के बराबर बतलाया है।[6] इस प्रकार, इसका वजन २० रत्ती के बराबर ठहरता है। चरक के इस कथन से शाण सोने का सिक्का मालूम होता है। पाणिनि ने 'परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयो' (७-३-१७) सूत्र मे शाणको परिमाण मानते हुए उसके बहिर्भाग के लिए 'असज्ञा शाणयो' कहा है। काशिका ने इस सूत्र मे प्रत्युदाहरण के रूप मे 'द्वाभ्या शाणाभ्यां क्रीत द्वैशाणम्, त्रैशाणम्' कहा है। क्रयण सिक्को से ही सम्भव था। तब शाण सिक्का भी था और परिमाण भी ? और क्या एक ही वस्तु सिक्के और परिमाण दोनो का काम देती थी ? पाणिनि और काशिका वृत्ति दोनो को मिलाकर देखने से तो यही पता चलता है। बात यह है कि मुद्रा के रूप मे प्रचलित ये सारे सिक्के तोल के आधार पर बने थे। प्रत्येक सिक्के का एक निश्चित

---

१. द्विद्रोणेन हिरण्येन धान्यं क्रीणाति, साहस्रेण हिरण्येनाश्वान् क्रीणाति।—२-३-१८, पृ० ४२०।

२. तस्य त्रीणि शतमानानि हिरण्यानि दक्षिणा।—शत० ब्रा० ५-५-५-१६।

३. ५-१-२९, पृ० ३१९।

४. शत० ब्रा० १३-४-२-१०।

५. मनु० ८-१३७।

६. महाभारत, प्रा० पर्व १३४-१४।

वजन था। सिक्को के साथ-साथ लाक्षणिक रूप मे उनके निश्चित वजन की भी वही संज्ञा बन गई। शाण यदि १२॥ रत्ती का होता था, तो उसे तोलनेवाला १२॥ रत्ती का बाट (भार) भी मान का एक घटक बन गया और वह तथा उतने ही वजन का सोना या चाँदी भी शाण कहलाने लगा। कभी-कभी ये सिक्के स्वयं मानो के रूप मे व्यवहृत होते थे, जिस प्रकार आज रुपया और उसके अश मान का काम देते है। पाणिनि ने उसी अर्थ मे शाण को परिमाण कहा है, जिस अर्थ मे रुपये को एक तोला परिमाण कहते हैं। मुख्य रूप से शाण सिक्का ही था। भाष्यकार ने इसी रूप मे उसका उल्लेख किया है। सुवर्ण के विषय में यही बात कही जा सकती है।[1] यथा, डेढ़ शाण से क्रीत वस्तु अध्यर्धशाण या अध्यर्धशाण्य, पांच शाणो से क्रीत पंचशाण या पंचशाण्य, दो शाणो से क्रीत द्विशाण, द्वैशाण या द्वैशाण्य एव तीन शाणो से क्रीत वस्तु त्रिशाण, त्रैशाण या त्रैशाण्य[2]। प्राच्य प्रदेश मे हर चूल्हे पर शाण कर-स्वरूप लिया जाता था। जिसे सूपेशाण कहते थे। यदि किसी परिवार की भूमि या परिवार सयुक्त भी होता, किन्तु भीतरी बँटवारा हो गया होता और भोजन अलग-अलग बनता होता, तो प्रत्येक विभक्त परिवार को कर देना होता था।[3]

कार्षापण—पाणिनि-काल मे पण् धातु का अर्थ क्रय-विक्रय तथा व्यवहार करना था। लेन-देन की क्रिया पणन कहलाती थी और क्रय-विक्रय की वस्तु पण्य। जिस वस्तु से दूसरी वस्तु खरीदी जाती थी, उसे पण कहते थे। पण या लेन-देन, क्रय-विक्रय या व्यवहार का माध्यम। पहले वस्तुएँ, फिर सोना, चाँदी-ताँबा आदि धातुएँ और बाद मे इनसे ढले सिक्के, पण का काम देते थे। जो सिक्का सबसे अधिक प्रचलित था, वही धीरे-धीरे पण रह गया और शेष ने विशिष्ट नाम प्राप्त कर लिये। कार्षापण का पण मुद्रा के इसी विकास की ओर सकेत करता है।

कार्षापण विवेच्य काल की सर्वाधिक व्यवहृत मुद्रा थी। कार्षापण सुवर्ण का भी चलता रहा। बाद मे इसी परिमाण का सिक्का सुवर्ण कहलाने लगा। ताँबे का भी कार्षापण बनता था। यद्यपि प्रचलन राजत कार्षापण का ही विशेष था। कौटिल्य ने इसके लिए 'पण' शब्द का प्रयोग किया है। कार्षापण यदि चाँदी का होता, तो उसका वजन सोलह माष के बराबर होता था। यही बात सुवर्ण कार्षापण के सबध मे रही थी, किन्तु पतंजलि के समय में या तो सुवर्णमाष का चलन बन्द हो गया था या सुवर्ण कार्षापण का अथवा दोनो का। यह भी सभव है कि इनके आनुपातिक मूल्य मे अन्तर हो गया हो। भाष्यकार ने माष (उरद) नाम पड़ने के विषय मे एक आचार्य का कथन उद्धृत किया है कि 'पुराने समय मे सोलह माष का एक कार्षापण होता था और सोलह ही दाने उरद की फली में होते थे। इस सादृश्य से उरद का नाम माष पड़ गया।'[4] उक्त कथन मे 'प्राचीन काल' शब्द भाष्यकार के समय मे बदले हुए माष और कार्षापण के आनुपातिक मूल्य की ओर इंगित करता है। फिर भी, माष कार्षापण का घटक था। भाष्य मे माष और कार्षापण के

---

१. ६-२-५५।

२. ६-३-१० काशिका।

३. ५-१-३५, पृ० ३२०।

४. अपर आह—पुराकल्प एतदासीत् षोडशमाषाः कार्षापणम्। षोडश फलाश्च माषशंवट्यः। तत्र संख्या सामान्यात् सिद्धम्।—१-२-६४, पृ० ५९८।

अवयवायविसम्बन्ध का कथन वार-वार हुआ है, यद्यपि वे समानजातीय नही थे। इसलिए सौ से ग्यारह अधिक होने पर 'एकादशशत माषाणाम्' प्रयोग तो होता था, किन्तु यदि सौ कार्षापणो मे ग्यारह माष अधिक हुए, तो उनके लिए उक्त प्रयोग तो होता था, किन्तु यदि सौ कार्षापणो मे ग्यारह माष अधिक हुए, तो उनके लिए उक्त प्रयोग नही हो सकता था। 'वजन' के आगे 'ड' प्रत्यय होने के लिए दोनो का समानजातीय होना आवश्यक था।[1] एक स्थान पर भाष्यकार ने कहा है— 'इस कार्षापण से इन दोनो को एक-एक माष दो। देनेवाला एक-एक माष देकर पूछता है कि शेष का क्या करूँ ? यदि उससे फिर कहा जाय कि यह कार्षापण इन्हे माष-माष करके दो, तो वह माष-माष करके उन्हे देकर चुप बैठ जाता है।[2] इससे यह स्पष्ट है कि माष और कार्षापण का निकट सम्बन्ध वर्त्तमान आने और रुपये जैसा था। एक-एक माष करके या एक-एक कार्षापण करके देने का उल्लेख भाष्य मे अन्यत्र भी मिलता है।[3] जो कार्षापण के अन्य अवयवो की अपेक्षा माष से उसका अधिक निकट व्यहारिक सम्बन्ध सूचित करता है।

कर्षापण शब्द का प्रयोग पुल्लिग और नपुसकलिग दोनो मे होता था।[4] उसका व्यवहार व्यापक था। भाष्यकार ने प्रसगवश कहा है कि 'यह वही कार्षापण है, जो मथुरा मे लिया था।'[5] सभवत , यह बात पाटलिपुत्र मे कही गई है, जो इस मुद्रा के व्यापक प्रचार का द्योतक है। वास्तव मे, यही इस काल की सर्वाधिक प्रचलित मुद्रा थी। कार्षापण से क्रीत वस्तु कार्षापणिक या कार्षापिणि (स्त्री०) कही जाती थी।[6] प्रति का प्रयोग भी कार्षापण के अर्थ मे होता था और प्रति से क्रीत वस्तु की प्रतिक या प्रतिकी (स्त्री०) सज्ञा थी[7], किन्तु यदि एक से अधिक कार्षापण से वस्तु का क्रय किया जाता, तो उस वस्तु के दो विशेषण हो सकते थे। उदाहरणार्थ, डेढ कार्षापण से क्रीत वस्तु अध्यर्धकार्षापण या अध्यर्धकार्षापणिक कही जा सकती थी।

काशिकाकार ने कार्षापण को ही प्रति आदेश का विधान कर अध्यर्ध कार्षापणिक, द्विकार्षापणिक और त्रिकार्षापणिक के स्थान पर अध्यर्धप्रतिक, द्विप्रतिक और त्रिप्रतिक रूप मान लिये है। यह इस बात का द्योतक है कि काशिका काल तक आते-आते कार्षापण के अर्थ मे प्रति शब्द का प्रचलन बन्द हो गया था और विद्वान् इसे स्वतन्त्र शब्द न समझकर आदिष्ट शब्द मानने लग गये थे।

---

१. तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः; इह कस्मान्न भवति एकादश माषा अधिका अस्मिन् कार्षापणशते समानजाता अधिक इष्यते।—५-२-४५, पृ० ३८२।

२. अस्मात् कार्षापणादिह भवद्भ्यां माषं देहि। भवद्भ्यां माषं माषं देहि। माषं माषमसौ दत्त्वा शेषं पृच्छति किमनेने क्रियतामिति। यः पुनरुच्यते इदं कार्षापणमिहभवद्भ्या माषं माषं देहीति माषं माषमसौ दत्त्वा तूष्णीमास्ते।—८-१-१२, पृ० २७५।

३. ८-१-१, पृ० २५८।

४. २-४-३१, पृ० ४७७।

५. ५-१-२५, पृ० ३१६।

६. २-१-७ पृ० ४४७।

७. वही।

पाणिनि और पतजलि ने अनेकदा शतसहस्त्रादिसख्यक मुद्राओ का उल्लेख किया है, किन्तु मुद्रा का नाम नही दिया है। यथा 'शतमानविंशतिकसहस्त्रवसनादण्' (५-१-२७) मे सहस्र से क्रीत वस्तु साहस्र, 'विंशति त्रिशद्‌भ्या ड्वुन सज्ञायाम्' (५-१-२४) मे विंशति से क्रीत विंशत्क, त्रिंशत् से क्रीत त्रिंशत्क (भाष्य पृ० ३१५) के उदाहरण, 'शताच्च ठन् यवावशते' (५-१-२१) मे शत से क्रीत शत्य शाटकशत; (भा० पृ० ३१३) पञ्चभि क्रीत पञ्चकम् (भाष्य, ५-१-३७ पृ० ३२१) तथा 'विभाषाकार्षापणसहस्राभ्याम्' (५-१-२९) के अध्यर्ध साहस, द्विसाहस्र, त्रिसाहस्र आदि प्रयोगो मे मुद्रा के नामोल्लेख से विरहित सख्याएँ कार्षापण (राजत) की बोधक है। सस्कृत, साहित्य मे कार्षापण का उल्लेख किये विना 'देवदत्त के सौ उधार है'[1] आदि प्रयोग चल पड़े थे, जो इस बात के प्रमाण हैं कि इनका प्रयोग सर्वाधिक होता था। स्वय भाष्यकार ने विना मुद्रा का नामोल्लेख किये साधारण चर्चा-प्रसग मे प्राय सख्या-पात्र का उल्लेख कर दिया है। धन-प्रसग में उल्लिखित सख्या मे कार्षापण अन्तर्निहित-सा माना जाता था। चाँदी के कार्षापण मे सोलह पण होते थे, जिनके वदले १२८० कौड़ियाँ मिलती थी। ताँबे का कार्षापण ८० रत्ती या १७६ ग्रेन का होता था।

विंशतिक और त्रिंशत्क—षोडश माष के कार्षापण के अतिरिक्त दो प्रकार के अन्य कार्षापण भी प्रचलित थे, जिनका वजन क्रमश बीस और तीस माष के बरावर था। प्राचीन कार्षापण सोलह माष के ही होते थे, किन्तु वाद मे किसी-किसी प्रदेश मे, सम्भवत. मगध और पाचाल मे तत्कालीन राजाओ ने उनसे वडे परिमाण के कार्षापण प्रचलित किये। भाष्य का उपर्युक्त कथन कि 'किसी विद्वान् का कहना है कि प्राचीन काल मे सोलह माषक का कार्षापण होता था',[2] इस वात की पुष्टि करता है। 'विंशति विंशद्भ्यां ड्वुन् सज्ञायाम्' (५-१-२४) मे भाष्यकार ने त्रिंशत्क और विंशतिक को सज्ञा माना है और इनकी निष्पत्ति पर विचार किया है। पाणिनि ने भी 'शतमानविंशतिकसहस्त्रवसनादण्' (५-१-२७) मे विंशतिक का उल्लेख किया है। विंशतिक से क्रीत वस्तु वैंशतिक और अध्यर्ध, द्वि तथा त्रिविंशतिक से क्रय की हुई वस्तु अध्यर्ध विंशतिकीन, द्विविंशतिकीन तथा त्रिविंशतिकीन कही जाती थी। वाद मे इन मुद्राओ का प्रचलन वन्द हो गया।

अर्ध और भाग—ये दोनो कार्षापण के अर्ध भाग के बराबर सिक्के परस्पर पर्यायवाची थे। आज भी हिन्दी मे रुपये के अर्ध भाग को अधेली कहते है। अर्ध और भाग का उल्लेख क्रमश. 'पूरणार्धाट्ठन्' (५-१-५८) तथा 'भागाद्यच्च' (५-१-४९) सूत्रो मे हुआ है। जिसके लिए अर्ध और भाग मुद्राएँ शुल्क, वृद्धि, लाभ या उपदा मे दी जाती हो, उस धनराशि को आर्धिक तथा भाग्य या भागिक कहते थे। आर्धिक शब्द का प्रयोग स्वतन्त्र होता है। अर्ध के पूर्व और कोई शब्द नही जोडा जा सकता। जिस वस्तु का मूल्य अर्ध (कार्षापण) हो, उसे अर्धिक या अर्धिकी (स्त्री०) कहते थे।[3] काशिकाकार ने भी अर्ध को रूप्यकार्षापण

---

१. देवदत्ताय शतं धारयति।—१-४-३५।
२. १-२-६४, पृ० ५९८।
३. ५-१-२५, पृ० ३१६।

के अर्ध भाग के लिए रूढ बतलाया[1] है, जिसका अर्थ स्पष्टत. ही ½ कार्षापण सिक्का हुआ।

पाद—कार्षापण का १/४ भाग पाद भी स्वतन्त्र सिक्के के रूप मे प्रचलित था। कर्मकर लोगों को एक पाद प्रतिदिन वेतन मिलता था। वे इसी लालच से काम करते थे।[2] दो-दो पाद को 'द्विपदिकां ददाति' तथा दो पाद दण्डित होने या दान करने के लिए 'द्विपदिका दण्डित' या 'द्विपदिका ददाति' प्रयोग होता था।[3] दो पाद का चार बार प्रयोग यह सिद्ध करता है कि पाद का सिक्का स्वतन्त्र था। अध्यर्ध पाद या द्वि-त्रिपाद से क्रीत वस्तु को अध्यर्धपाद, द्विपाद और त्रिपाद कहते थे।[4]

कौटिल्य से भी उक्त कथन की भी पुष्टि होती है। अर्थशास्त्र के अनुसार पण, अर्धपण, पाद और अष्ट भाग के सिक्के ढाले जाते थे। नीचे की ओर उतरते हुए मापक, अर्धमापक, काकणी और अर्धकाकणी के सिक्के ताँबे के बनाये जाते थे, जिनमे उचित परिमाण मे अन्य धातुओं का भी मिश्रण रहता था। मिश्रण की विधि के सम्बन्ध मे भी अर्थशास्त्र मे स्पष्ट आदेश हैं—मुद्राध्यक्ष जिसे लक्षणाध्यक्ष कहा है, रजत सिक्को का निर्माण चार मापक ताँबा तथा एक-एक माप त्रपु, सीसादि धातु मिलाकर मुद्रा बनवाता था।[5]

अष्टभाग—अष्टभाग के स्वतन्त्र सिक्के का संकेत महाभाष्य या अष्टाध्यायी मे नही मिलता। 'पणपाद्माषशताद्यत्' (५-१-३४) केवल अध्यर्ध तथा सख्यावाची शब्द पूर्व रहने पर माष शब्द से आर्हीय अर्थ मे यत् प्रत्यय का विधान करता है। इस प्रकार, अध्यर्धमाष्यम्, द्विमाष्यम्, त्रिमाष्यम् आदि रूप बनते हैं। इससे द्विमापक सिक्के की कल्पना करना दुरुह है। हाँ, माष का सिक्के के रूप में प्रचलन इस सूत्र से अवश्य सिद्ध होता है।

माष—कार्षापण का सर्वाधिक प्रचलित भाग माष या मापक था। 'पणपाद्माषशताद्यत्' (५-१-३४) सूत्र मे क्रमश तीनो, अधिकतम प्रचलित सिक्को का उनके मूल्य के अनुसार उल्लेख किया गया है। माष, सुवर्ण, चाँदी और ताँबा तीनो का बनता रहा। सुवर्ण मापक का उल्लेख तो महाभाष्य मे पृथक् नही मिलता। हाँ वह सुवर्ण-कार्षापण का १।१६ भाग होता था, जो सुवर्ण का रहता था। सुवर्ण माष का वजन ५ कृष्णल या १८ ग्रेन सुवर्ण के बराबर था। चाँदी का मापक राजत कार्षापण का १६ भाग होता था। जो २ रत्ती या ३·६ ग्रेन के बराबर होता था। रूप्यमाष सिक्के प्रचुर परिमाण मे प्राप्त हो चुके हैं। ताम्रमापक ताम्रकार्षापण का १/१६

---

१. अर्धशब्दो रूप्यकार्धस्य रुढिः ५-१-४८ काशिका तथा भागशब्दोऽपि रूप्यकार्धस्य वाचकः।—५-१-४९. वही।

२. कर्मकरा. कुर्वन्ति पादिकमहर्लप्स्यामहे।—१-३-७२, पृ० ९०।

३. ५-४-२१, पृ० ४८२।

४. ५-१-३४ काशिका।

५. पणमर्धपणं पादमष्टभागमिति। पादाजीवं ताम्ररूप्यं मापकमर्धमापकं काकणी-मर्धकाकणीमिति। लवणाध्यक्ष. चतुर्भागताम्रं रूप्यरूपं तीक्ष्णत्रपुसीसाञ्जनानामन्यतमं माष-बीजयुक्तं कारयेत्।—अर्थशास्त्र, अधि० २, अ० १२।

भाग होता था, जिसका वजन ५ रत्ती रहता था। रूप्यमाषक का ही प्रचलन विशेष था। भाष्यकार ने कहा है कि 'एक माष से बढते-बढते सौ सहस्र कार्षापण हो जाते है।'[1] अर्थशास्त्र के तुलामान अधिकरण के अनुसार ये माप इस प्रकार थे—५ गुजा या १० माषबीज=१ सुवर्णमाषक। १६ सुवर्णमाषक=१ सुवर्ण या कर्ष। ४ कर्ष=१ पल। ८८ गौर सर्षप १ रूप्यमाषक। १६ रूप्यमाषक या २० शैव्य बीज=१ धरण। २० चावल=१ मणिधरण।[2] अर्धमाषक, माषक, दो माषक, चार माषक और आठ माषक की मुद्राएँ प्रचलित थी।

ताम्र सिक्के

अर्धमाष—ऊपर कहा जा चुका है कि ताम्र कार्षापण का $\frac{1}{16}$ माष ताम्रमाषक था, जिसका वजन ५ रत्ती होता था। पीछे यह भी कहा जा चुका है कि अर्थशास्त्र मे निचले सिक्को के माष, अर्धमाष, काकिणी और अर्धकाकिणी नाम मिलते हैं। उपर्युक्त सूत्र 'पणपादमाषशताद्यत्' (५-१-३४) मे अध्यर्धमाष से आर्हीय अर्थ मे यत् प्रत्यय का विधान है, जिससे अध्यर्धमाष्य शब्द निष्पन्न होता है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि अर्धमाष का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भी था।

काकिणी—भाष्यकार ने एक काकिणी से क्रीत वस्तु के लिए काकिणीक[3] तथा डेढ काकिणी से क्रीत वस्तु के लिए अध्यर्धकाकिणीक[4] शब्द का व्यवहार बतलाया है। इसी प्रकार दो काकिणियो से क्रीत वस्तु को द्विकाकिणीक कहते थे। काकिणी और अर्धकाकिणी का चलन पाणिनि-काल मे नही था। काकिणी $\frac{1}{4}$ माष या बीस कडी के बराबर होती थी।

रूप और रूपतर्क—कार्षापण के जो सिक्के राज्य की ओर से ढाले जाते थे, उनपर 'आहति' (Punch) द्वारा लक्षण (गो, अश्व आदि) अकित करने की प्रथा थी। राजाओ के अपने-अपने लक्षण निश्चित थे। राजप्रचारित मुद्राओ पर ये लक्षण या चिह्न बना दिये जाते थे। केवल आहत या लक्षणयुक्त मुद्राएँ ही प्रमाणित मानी जाती थी। 'रूपादाहतप्रशसयोर्यप्' (५-२-१२०) सूत्र आहत और प्रशसा अर्थ मे रूप शब्द के आगे यप् प्रत्यय का विधान करता है। इस प्रकार रूप्य पुरुष का अर्थ रूपवान् या सुन्दर पुरुष होता था और रूप्यकार्षापण का अर्थ आहत या ताडित, अर्थात् राजलक्षण युक्त कार्षापण। लाक्षणिक रूप से इसका दूसरा अर्थ प्रमाणित कार्षापण भी होने लगा। धीरे-धीरे कार्षापण गौण पड गया और रूप्य (छोटे सरल शब्द) का ही प्रयोग अवशिष्ट रह गया। कार्षापण ही आहत होता था, शेष सिक्के केवल ढाले जाते थे। वे आहत नही होते थे। यह कार्षापण चाँदी की मुद्रा थी। इसलिए जब रूप्यकार्षापण का उत्तर पद अप्रयुक्त रहने लगा और केवल

---

१. एकेन माषेण शतसहस्रम्।—२-१-६९, पृ० ३२५।

२. धान्यमाषाः दश सुवर्णमाषकाः पञ्च वा गुञ्जाः। ते षोडश सुवर्णः कर्षो वा। चतुः कर्ष पलम्। अष्टाशीतिर्गौर सर्षपा रूप्यमाषकः। ते षोडश धरणम्, शैव्यानि वा विंशतिः। विंशति तण्डुल वज्रधारणम्। अर्धमाषकः द्वौ, चत्वारः अष्टौ माषकाः। अर्थ० शा०, तुलामान-प्रकरणम्।

३. ५-१-३३, पृ० ३२०।

४. वही।

रुप्य बच गया, तो रुप्य का ही अर्थ कार्षापण हो गया और रजत भी। आगे चल कर सस्कृत-साहित्य मे रुप्य शब्द चाँदी का भी पर्याय बन गया। हमारे वर्त्तमान रुपये (रुप्य) का भी यही इतिहास है। कार्षापण के अवयव (अर्ध, पाद, द्विमाष, माष, अर्धमाष आदि) भी रुपये के वर्त्तमान भागो के रूप मे अभी तक वर्त्तमान हैं।

कार्षापण या पण (अर्थशास्त्र) मे आहति, भार, धातु आदि की सम्यक् परीक्षा के लिए राज्य की ओर से एक अधिकारी रहता था, जिसे 'अर्थशास्त्र ने रूपदर्शक कहा है। कौटिल्य ने कहा है कि रूपदर्शक कार्षापण के टकसाल से बाहर जाते समय तथा बाहर से कोश मे आते समय उसकी शुद्धता की परीक्षा करे। वह व्यवहार मे आनेवाले रुप (मुद्राओ) तथा कोश मे वापिस लौटने-वाली मुद्राओ का निरीक्षण करे।'[1] इसी बात को लक्ष्य मे रखकर भाष्यकार ने कहा है--'पश्यति रुपतर्क कार्षापणम्--दर्शयति रुपतर्क कार्षापणम्' अर्थात् रुपतर्क कार्षापण को देखता है। रुपतर्क को कार्षापण दिखलाता है।[2] रुपतर्क यही अधिकारी है, जिसे अर्थशास्त्र ने रुपदर्शक कहा है।

१. रुपदर्शकः पणयात्रां व्यावहारिकी कोशप्रवेश्यां च स्थापयेत्।--अर्थ० शा०, अधि० २, अध्याय १२।

२. १-४-५२, पृ० १८२।

अध्याय ८

धन और व्यवहार

धन—भाष्यकार ने सम्पत्ति या धन के अर्थ मे स्व, धन और अर्थ शब्द का व्यवहार किया है। स्व शब्द के अनेक अर्थ थे–ज्ञाति, आत्मा, आत्मीय और धन। धन अर्थ मे 'स्वे गाव.' और 'स्वा गाव' जैसे पदो का व्यवहार होता था।[1] रै शब्द भी इसी अर्थ मे आता था।[2] रै चाहने के लिए 'रैयति' क्रिया[3] प्रयुक्त होती थी। धनवान् व्यक्ति को साधारणतया आढ्य कहते थे।[4] किसी ग्राम या नगर मे कुछ परिवार आढ्य हुए, तो वह ग्राम या नगर भी आढ्य माना जाता था।[5] आढ्यता कई बातो से आँकी जाती थी। गो, अश्व और हिरण्य सामान्यतया आढ्यता के परिचायक थे।[6] धान्य भी धनवत्ता का ज्ञापक था।[7] गो का अधिक होना ही अकेला धनवत्ता का प्रमाण था; क्योकि धन की व्युत्पत्ति है—'धिनोतीति धनम्' प्रीणन (प्रसन्न) करनेवाली वस्तु धन कहलाती थी। इस अर्थ मे बैल, घोडे और धान्य भी न थे।[8] जिस देश मे पशु, धन और धान्य विशेष होता था, वह प्रदेश गुणवान् और धनवान् समझा जाता था।[9] यो स्वशब्द सब प्रकार की सम्पत्ति के लिए व्यवहृत होता था। किसी के लिए एक कम्बल भी 'स्व' हो सकता था।[10]

धनवत्ता—धनिकता रुपयो-पैसो से भी मापी जाती थी। एक सौ कार्षापण या निष्क बचाकर रखनेवाला ऐकशतिक कहलाता था।[11] कुछ लोग नैष्कशतिक या नैष्कसहस्रिक[12]

---

१. १-३-३५, पृ० २३७।

२. १-१-५०, पृ० ३०६।

३. वही।

४. १-२-२९, पृ० २३४।

५. १-२-४५, पृ० ५२७।

६. देवदत्तस्य गावोऽश्वा हिरण्यं च। आढ्यो वैधवैयः।—१-३-९, पृ० २८।

७. इह तावद् गावो धनमिति धिनोतेर्धनम्। एको गुणः स च प्राधान्येन विवक्षितः।—५-१-५९, पृ० ३३३।

८. २-१-३०, पृ० २८३।

९. ५-१-११९, पृ० ३३५ तथा अर्थवानयं देश इत्युच्यते यस्मिन् गावः सस्यानि च वर्त्तन्ते।—५-२-१३५, पृ० ४२३।

१०. ८-१-२६, पृ० २८६।

११. ५-२-११८, पृ० ४१९।

१२. ५-२-११९।

कहे जाते थे। इस प्रकार हर तरह की सम्पत्ति—विद्या, गाय, बैल, अश्व, चाँदी (कार्षापण) और सुवर्ण आदि धन माने जाते थे।[१] राजा लोग अधिकाधिक सोना बटोरने की चिन्ता मे रहते थे।[२] धनवत्ता या आढ्यता कितने पशुधन से मानी जाय, इसकी कोई निश्चित मर्यादा न थी। दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति से अधिक पशु-धन मनुष्य को आढ्यता की ओर ले जाता था। आवश्यकता की पूर्ति किसी परिवार की चार गायो से भी हो जाती थी। उनसे उसकी जोत के लिए पर्याप्त बैल, पीने के दूध और आगे के लिए बछड़े मिलते रहते थे और किसी परिवार का यह काम सौ गायो से भी पूरा नही पडता था।[३] 'स्व', की प्राप्ति चार प्रकार से हो सकती थी—खरीदकर, चुराकर, माँगकर या बदलकर। इन्ही उपायो से परधन अपना बन सकता था।[४]

सामाजिक सम्बन्ध और अर्थ—व्यक्तियो के सामाजिक सम्बन्ध भी चार बातो पर निर्भर थे, जिनमे भाष्यकार ने अर्थ को प्रथम स्थान दिया है। आर्थिक सम्बन्ध के अतिरिक्त यौन (पिता-पुत्रादि), मौख (गुरुशिष्यादि) तथा स्रौव (पुरोहितयजमानादि) सम्बन्ध माने जाते थे।[५] आर्थिक, अर्थात् लेन-देन, स्वामिसेवक, उत्तमर्ण-अधमर्ण के सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण थे। इसीलिए, लोग धन कमाने के लिए चिन्तित रहते थे। धन और हिरण्य की प्रबल इच्छा को धनक और हिरण्यक कहते थे।[६] साधारणतया धन चाहना और बात है और उसके लिए पागल रहना भिन्न बात। साधारण इच्छा के लिए 'धनीयति' क्रिया का प्रयोग होता था और गर्व या लालच के लिए 'धनायति' का।[७] धन के लिए कुप्य[८] शब्द का भी व्यवहार होता था। रक्षणीय होने के कारण गोप्य से भिन्न सज्ञा अर्थ मे इस शब्द की निष्पत्ति बताई गई है। स्वापतेय[९] शब्द भी इसी अर्थ मे आता था। धनिको मे परस्पर स्पर्धा चलती थी, किन्तु यह स्पर्धा तभी होती थी, जब उनका अन्तर 'अदूर' का हो। एक निष्कवाला सौ निष्कवाले से स्पर्धा नही करता था।[१०]

ऋण—पीछे कहा जा चुका है कि आर्थ सम्बन्ध का समाज मे महत्त्वपूर्ण स्थान था। आर्थ सम्बन्ध स्वामी और भृत्य का हो सकता था, क्रेता-विक्रेता का हो सकता था और उत्तमर्ण-अधमर्ण का भी होता था। आवश्यकता पडने पर सहायतार्थ लाभ की आशा से किसी को उधार देने

---

१. १-१-६८, पृ० ३३४।
२. ६-१-५, पृ० २१।
३. ५-२-९४, पृ० ४१०।
४. यदेतत् स्वं नाम चतुर्भिरेतत्प्रकारैर्भवति। क्रयणादपहरणाद्याञ्चाया विनिमयादिते. २-३-५०, पृ० ४४२।
५. लोक बहवोऽभिसम्बन्धाः आर्था यौना मौखाः स्रौवाश्च।—१-१-४९, पृ० ३००
६. ५-२-६५, पृ० ३९६।
७. ७-३-३४।
८. ३-१-११४, पृ० १८८।
९. ४-४-१०४।
१०. ५-३-५५, पृ० ४४६।

वाले को ये उत्तमर्ण[1] कहते थे और लेनेवाले को अधमर्ण।[2] ये शब्द सम्बद्ध व्यक्तियो की सामाजिक स्थिति के बोधक थे। उधार दी गई रकम ऋण कहलाती थी। ऋणवान् होना 'धारयति'[3] क्रिया द्वारा व्यक्त किया जाता था। किसी पर सौ रुपये ऋण होते, तो कहा जाता 'शत धारयति।' अधमर्ण होने की स्थिति 'आधमर्ण्य'[4] होती थी। 'उधार का वाचक ऋण' था,[5] जो देय भी कहा जाता था। ली हुई वस्तु को लौटाने की क्रिया का नाम प्रतिदान था।[6] कभी-कभी ऋण देनेवाले अपना रुपया डूब जाने का भय रखते थे। ऐसी स्थिति मे अधमर्ण के अतिरिक्त एक से अधिक व्यक्तियो को और बीच मे डाल लेता, जो उसकी जमानत देते थे और रुपये के लिए उत्तरदायी भी माने जाते थे। ये लोग प्रतिभू कहलाने थे।[7] ऋण देते समय कभी-कभी साक्षी[8] की भी आवश्यकता होती थी।

व्याज—ऋण कभी-कभी जितना लिया जाता था, उतना ही लौटा दिया जाता था। कभी-कभी उससे अधिक भी देना पड़ता था। आधिक्य की राशि 'वृद्धि' गिनी जाती थी। भाष्य मे पाँच, सात, आठ, नौ, दस रुपये (कार्षापण) वृद्धि-स्वरूप पाने की चर्चा है। जिस ऋण पर ये राशियाँ अधिक मिलती थी, उन्हे क्रमश. पचक, सप्तक, अष्टक नवक और दशक[9] कहते थे। ये सख्याएँ उपलक्षणमात्र है। इसी प्रकार अर्घ (कार्षा०) जिस राशि पर वृद्धि-रूप मिलता था, उसे अर्धिक[10] तथा भाग (आधा कार्षा०) जिस राशि पर मिलता था, उसे भाग्य या भागिक[11] कहते थे। यह अर्घ या भाग सौ कार्षापण का मासिक व्याज है या अन्य अवधि का, निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता; क्योकि काशिकाकार ने 'भागिकशतम्' के साथ ही 'भागिकाविंशति' भी उदाहरण मे दिया है। एक ही काल मे पाँचगुने अन्तर की कल्पना असम्भव नही, तो कठिन अवश्य है। वास्तव मे ये उदाहरण-मात्र है और चाहे, जितने समय मे हो शत और विंशति पर प्राप्त कुल व्याज को सूचित करते है। हो सकता है, आज शत उधार लेनेवाला कल १००½ लौटा जाय, ऐसी स्थिति मे इन उदाहरणो के आधार पर व्याज की किसी दर का अनुमान लगाना तर्क-सगत नही माना जा सकता। इसी प्रकार 'पचक' राशि पर प्राप्त पाँच (कार्षा०) व्याज के आधार पर श्रावण से आग्रहायण तक

---

१. १-४-३५।
२. ३-३-१७०।
३. १-४-३५।
४. ३-३-१७०।
५. ४-३-४७।
६. १-४-९२।
७. ३-२-१७९।
८. २-३-३९।
९. पञ्चवृद्धिर्वाऽऽयोवालाभो वा शुल्को वोपदा वा दीयतेऽस्मै पञ्चकः सप्तकः अष्टकः नवकः दशकः।—५-१-४७, पृ० २३३।
१०. ५-१-४८।
११. ५-१-४९।

की अवधि तथा दस पर प्रतिमास एक व्याज की डॉ०वा०श०अग्रवाल द्वारा की गई कल्पना भी ठीक नही जान पडती, क्योकि प्रथम तो श्रावण मे ऋण लेने का औचित्य नहीं सिद्ध किया जा सकता। ग्रामीण जीवन से परिचित प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि नये वर्ष के लिए बैल ज्येष्ठ दशहरे से पूर्व खरीद लिये जाते हैं। आषाढ के प्रारम्भ से तो जुताई होने लगती है। इसके लिये जिसे ऋण लेना होता है, वह आधे ज्येष्ठ तक ले लेता है। श्रावण मे केवल धान रोपा जाता है, जिसके लिए ऋण की आवश्यकता नही होती। यह रोप मँहगी नही बिकती और कृषक इसे स्वयं बो भी लेते हैं। खरीफ की शेष फसले आषाढ मे ही बोई जातीहैं और उनमे बीज बहुत ही कम पड़ता है। अत, पचक 'दशैकादश' पद्धति से श्रावण से आग्रहायणी पौर्णमासी तक का व्याज है, यह धारणा भी युक्ति-संगत नही मानी जा सकती। और, यदि उसे ठीक मान भी लिया जाय, तो भी सप्तक से दशक तक के महाभाष्य के उदाहरणो का क्या होगा, जो काशिका से बहुत पुराने हैं। फिर, ये उदाहरण केवल व्याज (वृद्धि) के नही हैं—आय, शुल्क, लाभ और उपदा के भी हैं।

दशैकादश—कुछ लोग आवश्यकता पड़ने पर परिचित व्यक्ति को ऋण दे देते थे और साधारण व्याज भी ले लेते थे। उनका यह काम आकस्मिक था, किन्तु कुछ लोगो का व्यवसाय ही रुपया उधार देना और उसपर व्याज लेना था। ये लोग कुसीदक, और स्त्री हुई, तो कुसीदकी कहलाती थी।[1] दस रुपये देकर ग्यारह लेने की भी प्रथा थी।[2] जो लोग इस प्रकार ऋण देते थे, वे दशैकादशिक (ग्यारह लेने के लिए १० देनेवाले) और दशैकादशिकी (स्त्री) कहे जाते थे। वृद्धि के लिए धन देनेवाले को वार्धुषिक कहते[3] थे। वार्धुषिक कभी-कभी दुगना और तिगुना[4] तक ले लेते थे। समाज इस प्रकार के व्याज-व्यवसाय को गर्ह्य मानता था।[5] यदि देर तक ऋण न चुका सकने के कारण वह बढता-बढ़ता दूना हो जाता, तो उस दूनी राशि को लेनेवाला निन्द्य नही होता था।[6] देर तक प्रतिदान न कर सकने के कारण कभी-कभी मूल ऋण बढ़कर दुगुना हो जाता था। ऐसे ऋण को प्रवृद्ध कहते थे। जब यह प्रवृद्धि (चक्रव्याज) अपनी सीमा पार कर मूल के दुगुने से भी अधिक हो जाती थी, तो उस ऋण को महा-प्रवृद्धि[7] कहते थे, किन्तु इसमें गर्हा का भाव न था। निन्द्य वह होता था, जो इस उद्देश्य से थोड़ा उधार देकर बहुत ले। इसलिए, त्रैगुणिक (तीनगुना लेनेवाला), द्वैगुणिक (दुगुना लेनेवाला) आदि शब्द निन्दा के द्योतक थे। कुसीदक की निन्द्यता का प्रभाव परिवार पर नही पड़ता था। इसलिए, कुसीद लेनेवाली स्त्री कुसीदकी, किन्तु कुसीद लेनेवाले (कुसिद) की पत्नी कुसिदायी कही[8] जाती थी। प्रथम मे निन्दा या गर्हा गम्यमान

---

१. ४-४-३१।

२. एकादशार्थादश दर्शकादश शब्देनोच्यन्ते।—वही, काशिका।

३. ४-४-३०, पृ० २७७, ७८।

४. द्विगुणं मे स्यादिति प्रयच्छति द्वैगुणिकः।—वही।

५. यदसावल्पं दत्वा बहु गृह्णाति तद् गार्ह्यम्।—वही।

६. ४-४-३० काशिका।

७. ६-२-३८, पृ० २५८।

८. ४-१-३७।

रहती थी, द्वितीय मे नही। यह भेद दोनों मे अन्तर वतलाने के लिए किया गया था और फिर कुसिदायी कुसीदक की पत्नी होती थी, किन्तु स्वय सूदखोर नही।

'दशैकादश' मे व्याज की दर प्रतिशत पर निर्भर न रहकर निश्चित अवधि के लिए निश्चित व्याज के सिद्धान्त पर अवलम्बित थी। दशैकादशिक अपना धन एक साथ नही लेता था। उसका प्रतिदान देने के तुरन्त वाद ही मासिक रूप मे प्रारम्भ हो जाता था और प्रतिमास मूल कम होता जाता था। इसलिए, 'दशैकादशिक' मे एक ओर तो व्याज की दर कम रहती थी और दूसरी ओर देनेवाले पर भार भी नही पड़ता था।

'दशैकादश' मे एक की वृद्धि मासिक नही थी। लगभग यही प्रथा आज उत्तर भारत मे 'दशद्वादश' के रूप में वर्त्तमान है। दस रुपये लेकर प्रतिमास एक रुपया देता हुआ पूरे वर्ष मे वारह रुपये देकर अधमर्ण ऋण-मुक्त हो जाता है। पचक आदि शब्दो का अर्थ भी इस भूमिका मे स्पष्ट हो जाता है। दस रुपये ऋण का एक घटक होता है। यदि किसी ने इस प्रकार पचास रुपये उधार लिये, तो वह पाँच ऋणघटको का दायी होगा और वर्ष मे दस रुपये व्याज मे देगा। जव दशैकादश की प्रथा रही होगी, तव पचास रुपये पर वर्ष मे पाँच रुपये वृद्धि होती होगी। सत्तर पर सात, अस्सी पर आठ आदि। इस प्रकार पचाशत को पचक, सप्तति को सप्तक, अशीति को अष्टक, नवति को नवक और शतक को दशक कहते थे। दशक तक उदाहरण देने का आशय ऋण को शत पर समाप्त करना था। यह प्रथा ठीक इसी रूप मे आज भी चली आती है। हाँ, अव व्याज की दर अवश्य दूनी हो गई है। उत्तर भारत मे जहाँ सौर मास का प्रचलन है, मासिक किश्त अमावस को चुकाई जाती है। अन्तर इतना ही है कि पतजलि-काल मे कार्त्तिक की अमावस को दिया गया इस प्रकार का ऋण क्वार की अमावस को चुकता हो जाता था। अव वह कार्तिक की उसी अमावस को चुकता होता है और जितने ऋण-घटक अधमर्ण पर देय होते है, उतने ही रुपये प्रतिमास वह चुकाता जाता है।

ऋणो के नाम—ऋण चुकाने की अवधि के अनुसार ऋणो के नाम रख दिये जाते थे। मासभर मे चुकाया जानेवाला ऋण 'मासिक'[1] कहा जाता था और सवत्सर मे अदा किया जाने वाला 'सावत्सरिक'।[2] कुछ ऋण छै मास मे चुकायेजाते थे। ये फसल वोने के समय लिये जाते रहे होगे। आज भी कार्त्तिक मे ऋण लेकर वैशाख मे लौटाने की प्रथा है। यह ऋण रुपयो के रूप मे भी हो सकता है और अन्न के रूप मे भी। पाणिनि ने इस ऋण को ग्रैष्मक[3] कहा है। ग्रैष्मक ग्रीष्म के अन्त मे सवाये या ड्योढे परिमाण मे लौटाया जाता था। यह प्रथा अब भी विद्यमान है। कृषक कार्त्तिक मे वोनी के अवसर पर अन्न लेकर वैशाख मे लौटाते है। तरवूज, खरवूज आदि की फसलें पैदा करने मे भी ग्रैष्मक ऋण की प्रथा वहुत व्यापक है। ज्येष्ठान्त मे लेकर आग्रहायणी पौर्णमासी को प्रतिदिन खरीफ का ऋण आग्रहायणिक[4] कहलाता था।

---

१. ४-४-४७।
२. ४-३-५०।
३. ४-३-४९।
४. ४-३-५०।

ग्रैष्मक[1] और आग्रहायणिक दोनो ऋण षाण्मासिक थे। इस वर्ष लेकर अगले वर्ष लौटाया जानेवाला ऋण आवरसमिक कहलाता था।[2]

ऋण लेने के कारण—कुछ ऋणो को कलापी-काल, अश्वत्थ-काल और यववुस-काल मे चुकाये जाने का उल्लेख मिलता है।[3] कलापी-काल उस काल को कहते थे, जब मोर कलाप धारण करते है या मग्न होकर नाचते हैं, अर्थात् वर्षाकाल। अश्वत्थ काल उस-काल को कहते हैं, जब उसमे फलियाँ आती हैं और यववुस-काल जौ का वुस तैयार होने का समय माना जाता है। ये कृषको के अपने शब्द थे। इन कालो मे जिन ऋणो का प्रतिदान होता था, उन्हे क्रमश कलापक, अश्वत्थक और यववुसक कहते थे।

सूत्र ६-१-८९ के वा० ७ के उदाहरणो मे भाष्यकार ने वत्सतरार्ण, कम्वलार्ण और वसनार्ण तथा वा० ८ मे ऋणार्ण तथा दशार्ण का उल्लेख किया है। ये शब्द इस वात पर प्रकाश डालते हैं कि सामान्य ग्रामीण किन-किन वातो के लिए प्राय ऋण लेता था। खेती के लिए वैल खरीदना सवसे आवश्यक वात थी। इसके वाद अपना शरीर ढकने की वात उठती थी। शीत मे एक कम्वल चाहिए। घर मे वसन चाहिए। स्वय के लिए वसन आवश्यक है। यदि किसी साल उपज न हुई, तो वस्तुएँ भी ऋण लेकर खरीदनी पडती थीं। पुराना ऋण चुकता न हो सका तो दूसरे साहूकार से उधार लेकर पहले का ऋण चुकाने का प्रवन्ध किया जाता था, अन्यथा अवधि पूरी होने पर व्याज के मूलधन मे जुड जाने से चक्रवृद्धि भी देनी पडती और साख भी मारी जाती। दशार्ण का सम्वन्ध दशैकादश ऋण से मालूम होता है। दशैकादश की किस्त अदा न कर सकने की स्थिति मे उसे चुकाने के लिए किसी अन्य से उधार लिया हुआ दूसरा दशार्ण हो सकता है। प्रार्ण वडे ऋण को कहते थे, जो विवाहादि वडे अवसरो पर लिया जाता था। प्रार्ण को छोड़कर ये शेष ऋण ग्रैष्मक या आग्रहायणिक ही होते थे।

आपमित्यक—डॉ० वा० श० अग्रवाल ने अन्न-ऋण को आपमित्यक प्रथा कहा है, जिसका प्रचलन अर्थशास्त्र-काल मे भी मालूम होता है। कौटिल्य ने प्रामित्यक का भी उल्लेख किया है। 'आमित्यक' ऋण मे प्राप्त अन्न को उसी परिमाण मे लौटाये जाने को कहते थे। सम्भव है, पाणिनि-काल मे यह प्रथा रही हो, किन्तु पाणिनीय सूत्रो से इस वात का समर्थन नही होता। 'अपमित्य-याचिताभ्या कक्कनौ' (४-४-२१) और 'उदीचामाडो व्यतीहारे' (३-४-१९) ये दोनो सूत्र, जिनके सहारे उक्त मत का प्रतिपादन किया गया है, केवल इतना वतलाते हैं कि उत्तर के विद्वानों के मत से 'माँगकर वदलता है' के वदले 'वदलकर माँगता है' प्रयोग भी ठीक है। व्यतीहार वस्तु या क्रिया की दो व्यक्तियो मे अदला-वदली को कहते है। मेङ् धातु का प्रयोग भी विनिमय अर्थ मे होता है। विनिमय तात्कालिक अदला-वदली की ओर सकेत करता है। प्रतिदान की ध्वनि इसमे से नही निकलती।

---

१. ४-३-४९।

२. वही।

३. कालादिति वर्त्तते, न च कलापी नापकालोऽस्ति। नैव दोषः साहचर्यान्ताच्छब्द्यं भविष्यति। कलापि सहचरितः कालः कलापीकाल इति।—४-३-४८, पृ० २३५।

परिक्रयण—जब कोई अधमर्ण धन के बदले मे धन का प्रतिदान नही कर सकता था, तब वह एक निश्चित समय के लिए अपना या अपने परिवार का श्रम उत्तमर्ण को सौंप देता था। यह पद्धति परिक्रयण[1] या बन्ध कहलाती थी, जैसे सौ से बाँधा हुआ। अधमर्ण उत्तमर्ण के पास कर्मकर बनकर रहता था और ऋण के भर-पाई हो जाने पर मुक्त हो जाता था।

किसी-किसी ऋण के बदले मे किसान अपनी दूध देती गाय का दूध उत्तमर्ण को दे देता था। गाय को खिलाता-पिलाता स्वय था, किन्तु दूध दुहाने के लिए उसे उत्तमर्ण के पास भेज देता था। ऐसी गाय 'धेनुष्या'[2] कहलाती थी।

---

१. परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतमस्याम्।—१-४-४४ तथा अकर्त्तर्यृणे पञ्चमी। २-३-२४; शताद्बद्धः।

२. संज्ञायां धेनुष्या या धेनुरुत्तमर्णाय ऋणप्रदानाद्दोहनार्थं दीयते सा धेनुष्या।—४-४-८९।

अध्याय ९

श्रम और श्रमिक

श्रमिक—भाष्य के अनुसार शारीरिक श्रम से जीविका चलानेवालो को दो भागो मे बाँटा जा सकता है—शिल्पी और श्रमिक। शिल्पी-वर्ग पर पीछे चर्चा हो चुकी है। श्रमिक वे कहे जाते थे, जिनमे किसी व्यवसाय या कौशल की योग्यता नही होती थी। इसलिए, वे निर्वाहार्थ किसी धनी, व्यवसायी, कृषक या शिल्पी आदि को अपना शारीरिक श्रम बेचकर उसके बदले मे द्रव्य, अन्न, वस्त्र या इसी प्रकार के उदर-पूर्ति के साधन प्राप्त करते थे। श्रम को खरीदनेवाले स्वामी को अर्य कहते थे।[1] निश्चित धन-राशि देकर निश्चित अवधि के लिए व्यक्ति का श्रम खरीद लेनेवाला व्यक्ति 'अवक्रेता' कहलाता था और क्रय की इस प्रकार की क्रिया 'परिक्रयण' कही जाती थी। सौ, पाँच सौ या हजार कार्षापण पर साल, दो, साल या अधिक के लिए श्रमिक नियुक्त कर लिये जाते थे।[2] यह एक प्रकार से ठीके की पद्धति थी, क्रय नही।

श्रमिको के भेद—सेवा और पारिश्रमिक की दृष्टि से श्रमिको के भेद किये जा सकते हैं। भाष्य मे उनके अनेक नाम मिलते है। उदाहरणार्थ—कर्मकर, भृतक, परिक्रीत, भृत्य, प्रसाधक, दास और भाक्तिक। श्रमिक को नियुक्त करना भी 'उपनयनकर्म' कहलाता था, जिसका अर्थ था 'वेतन देकर पास लाना'।[3] वेतन का दूसरा नाम 'भृति' भी था।

वेतन की दर—कर्मकर निश्चित[4] वेतन पाते थे। दूसरो के घर काम करने जानेवाले शिल्पी का दैनिक पारिश्रमिक भी वेतन कहलाता था। वेतन पर नियुक्त कर्मकर 'वैतनिक' कहे जाते थे। वेतन के रूप मे ¼ कार्षापण देने की प्रथा थी।[5] इस प्रकार सामान्यतया कर्मकर को ७½ कार्षापण मासिक वेतन मिलता था। भृतक और भृत्य प्राय समानार्थी थे। भृतको के भी पादिक (¼ कार्षापण[6]) का उल्लेख भाष्य मे कई बार मिलता है। स्वामी का कर्त्तव्य माना जाता था कि वह कर्मकर के भरण-पोषण की व्यवस्था करे। इसलिए, भृत्य को भरणीय भी कहते थे।[7]

---

१. ३-१-१०३, पृ० १८२।

२. परिक्रयणं नियतकाल वेतनादिना स्वीकरणं नात्यन्तिकः क्रय एव।—१-४-४४ काशिका।

३. १-३-३६ काशिका।

४. ४-४-१२।

५. कर्मकराः कुर्वन्ति पादिकमहर्लप्स्यामह इति।—१-३-७२, पृ० ९०।

६. याजका अन्तरेणापि यजिं गालभन्ते भृतकाश्च पादिकम्।—वही।

७. ३-२-१, पृ० २५४।

परिक्रयण के द्वारा नियुक्त कर्मकर को परिक्रीत कहते थे। पारिवारिक आवश्यकता होने पर निर्धन परिवार धनी से जो ऋण लेते थे, उसके बदले वे स्वय या परिवार के किसी सदस्य को धनी का कर्मकर बनाकर ऋण चुकाते थे। ऋण राशि की भरपाई हो जाने पर कर्मकर स्वतन्त्र हो जाता था। भारत के अनेक भागो मे यह प्रथा अभी तक प्रचलित रही है और 'कर्मकर' शब्द ने 'कमकर' रूप ग्रहण कर लिया है।

वेतन की साधारण दैनिक दर 'पादिक' थी, किन्तु कार्य के अनुसार उसमे अन्तर भी रहता था। मासिक दर दैनिक की दृष्टि से कुछ भिन्न रहती थी। कभी-कभी मासिक वेतन पाँच कार्षापण दिया जाता था, कभी छह और कभी दस तक। कर्मकरो के नाम भी उनके मासिक वेतन के अनुसार चल पड़ते थे। जैसे, पाँच कार्षापण मासिक पानेवाले कर्मकर पचक कहे जाते थे, इसी प्रकार सप्तक या अष्टक नाम होते थे।[1] दास रात-दिन स्वामी की सेवा मे उपस्थित माने जाते थे। उनके दैनिक वेतन निश्चित नही किये जाते थे। इनपर स्वामी का पूरा अधिकार रहता था और यह पद प्राय कुत्सा का बोधक बन गया था। इसीलिए, 'दास्या पुत्र' शब्द व्यक्ति की निम्नता प्रकट करने के लिए ही प्रयुक्त होता था। स्त्रियाँ भी दासी होती थी और उनकी सन्तानें 'दासेर' कहलाती थी।[2] दासेर शब्द भी निन्दा का बोधक था, क्योकि रात-दिन परिवार मे रहने के कारण वे कभी-कभी स्वामी की कामुकता की पात्र बन बैठती थी। भाष्य मे दो स्थानो पर दासी के प्रति कामुकता का उल्लेख है, यद्यपि इसे अशिष्ट व्यवहार माना है। दास-दासियो को भोजन-वस्त्र मिलते थे और यदा-कदा डाँट-फटकार। ये ही तीन बातें उनके कार्य की प्रेरक थीं। उनकी स्वभूति की परिभाषा मे भक्त, चेल और डाँट से बचाव ही सम्मिलित थे।[3] दास और कर्मकर की स्थिति एक दूसरे से बहुत भिन्न थी।[4] यह बात इससे स्पष्ट है। भाक्तिक लोग केवल नियमित भोजन पाते थे।[5] सम्भवत ये निम्न श्रेणी के कर्मचारी थे, जो हल जोतते थे और दिन में कुछ घण्टे काम करते थे। भाक्तिक हल जोतनेवालो का उल्लेख सूत्र ३-१-२६ के भाष्य मे मिलता है, जिसमे कहा गया है कि चुपचाप बैठे हुए व्यक्ति के लिए भी कहा जाता है कि वह पाँच हल की खेती करता है; क्योंकि खेती करने का अर्थ हल चलाना ही नही है, जो भक्त, बीज और बैलो की व्यवस्था करता है, वह भी कृषक माना जाता है। इससे हल जोतने के लिए भाक्तिक श्रमिको को नियुक्त करने की प्रथा का पता चलता है।[6] आज भी इस प्रकार के कर्मचारी गाँवो मे पाये जाते है। ये लोग प्राय: पारिवारिक (घर के भीतरी) काम करते है।

भाष्य मे श्रमिको के कुछ कामो की ओर भी सकेत है। प्रसाधक स्वामी की सेवा-टहल

---

१. ५-१-५६।

२. १-३-५५, पृ० ६९ तथा २-३-६९, पृ० ४५६ तथा ४-१-१४४, पृ० १३८।

३. यदेतद्दासकर्मकर नामैतेऽपि स्वभूत्यर्थमेव प्रवर्त्तन्ते भक्तं चेलं च लप्स्यामहे परिभाषाश्च न नो भविष्यन्ति।—३-१-२६, पृ० ७७।

४. ४-१-१६८, पृ० १६२।

५. ४-४-६८ तथा भक्तबीजबलीवर्दैः प्रतिविधानं करोति।—३-१-२६, पृ० ७३।

६. वही।

करते थे? तेल मालिश करना, नहलाना, हाथ-पाँव दबाना जैसे कार्य इनके थे। स्वामी के शारीरिक[1] सुख के लिए इनकी नियुक्ति होती थी और ये धनी परिवारों की शोभा थे। 'छत्रधार' राजाओं या धनियों का छत्र लेकर चलते थे।[2] 'उदहार या 'उदकहार'[3] पानी भरने के लिए नियुक्त होते थे। काँवर से वस्तु को ढोनेवाला 'वीवधिक'[4] भारतीय प्रान्तों के लिए बहुत पुराना है। काँवर के सहारे अधिक दूना बोझ ले जा सकता है। कन्या के घर से दहेज की सामग्री भेजने में आज भी वीवधिक से ही काम लिया जाता है। 'भक्तकर'[5] भोजन पकाने का काम करते थे। 'आगवीन'[6] गाँव के पशुओं को प्रातःकाल चराने ले जाते थे और सायंकाल को लौटा लाते थे। 'वांशभारिक'[7] बोझ ढोने का काम करते थे। वंशभार शब्द भारी बोझ के लिए, जिसका वजन लगभग निश्चित था, व्यवहृत होता था। 'प्रेष्य' एक गाँव से दूसरे गाँव सन्देश ले जाते, निमन्त्रण या आमन्त्रण पहुँचाते और एक ही गाँव के भीतर वस्तुएँ, सन्देश ले जाने-ले आने और आकस्मिक काम करने के लिए होते थे। एक प्रेष्य कई स्वामियों का काम करता था। आज भी नाई माली, धीवर आदि इस प्रकार के कामों के लिए नियुक्त किये जाते हैं। कई स्वामियों के बीच नियुक्त एक प्रेष्य पारी-पारी से उनका काम करता था। कभी-कभी दो स्वामी एक साथ दो भिन्न दिशाओं में कार्य के लिए जाने की आज्ञा देते थे। ऐसी स्थिति में यदि वह एक से विरोध मोल नहीं लेना चाहता था तो वह दोनों के काम को टाल देता था। ऐसा न करने से उन दोनों स्वामियों के आपस में झगड़ जाने का भय होता था या किसी एक के कोप-भाजन बनने की आशंका रहती थी।[8]

श्रमिकों के नाम—ऊपर कहा जा चुका है कि श्रमिकों का उनके वेतन के आधार पर वर्गीकरण किया जाता था। पाँच, छह या दस कार्षापण पानेवाले पंचक, षट्क दशक अथवा पंचक मासिक, षट्क मासिक या दशक मासिक[9] कहे जाते थे, किन्तु इनके अतिरिक्त वे जितने समय के लिए नियुक्त किये जाते थे, उनके आधार पर भी उनके नाम पड़ जाते थे। उदाहरणार्थ- जिस अध्यापक को घण्टे-दो घण्टे प्रतिदिन पढ़ाने के लिए नियुक्त किया जाता था, उसे मासिक अध्यापक कहते थे। इसी प्रकार जिस कर्मकर को प्रतिदिन कुछ घण्टे काम करने के लिए नियुक्त किया जाता था उसे मासिक कर्मकर कहते[10] थे। कर्मकरों की नियुक्ति मासिक आधार पर होती थी। फुटकर

1. सुखं वेदयते प्रसाधको देवदत्तस्य।—३-१-१८, पृ० २५४।
2. ६-२-३५।
3. ६-३-६०।
4. ४-४-१७, पृ० २७५।
5. १-३-३२, पृ० ९०।
6. ५-२-१४, पृ० ३७१।
7. ५-१-५०।
8. ६-१-८५, पृ० १२१।
9. ५-४-११६, पृ० ५०१।
10. तत्सर्वाह्णोऽभूतो भूतो भावी नह्यसौ मासमधीते। किं तर्हि? मुहूर्तमनावधीप्टो-ऽसौ तन्त्रं करोति। मासायाँ मुहूर्तो मासः।—५-१-८०, पृ० ३२१।

कर्मकर दैनिक पारिश्रमिक पर खुला काम भी करते थे। कर्मकर का मास पचाग मास से भिन्न भी हो सकता था। जिस तिथि से उसे नियुक्त किया जाता था, उससे लेकर अगले मास की उसी तिथि तक का मास उसके वेतन के लिए गिना जाता था, जो सवत्सर मास से भिन्न होता था। यह मास भृतकमास कहलाता था।[१] मास के अतिरिक्त दो, तीन या अधिक दिनो के लिए, वर्ष-भर या दो, तीन या अधिक वर्षों के लिए या सवत्सर (भृतक वर्ष से भिन्न) या अधिक संवत्सरो के लिए करार द्वारा नौकर रखे जाते थे।[२] कृषि के कर्मकरो पर यह बात विशेष रूप से लागू होती थी। किसान का वर्ष वर्षा से प्रारम्भ होता है, इसलिए वार्षिक कर्मकर आषाढ से ज्येष्ठान्त तक काम करता था। सावत्सरिक चैत्र से फाल्गुन तक के लिए नियुक्त किया जाता था। समीन वर्ष के किसी महीने से नियुक्त किया जाता था और नियुक्ति के मास तथा तिथि के बाद वर्ष-भर काम करता था। जितने समय के लिए ये लोग नियुक्त किये जाते थे, उसी के आधार पर इनके भेद किये जाते थे। उदाहरणार्थ—समीन, द्विसमीन या द्वैसमिक। द्विरात्रीण या द्वैरात्रिक, द्व्यहीन या द्वैयह्निक, द्विसवत्सरीण या द्विसवत्सरिक, द्विवर्षीण, द्विवर्ष या द्विवार्षिक आदि। इस प्रकार, वेतन और नियुक्ति की अवधि के आधार पर कर्मकरो का वर्गीकरण भाष्य मे पाया जाता है।

भृति पर काम करनेवालो के अतिरिक्त कुछ और लोग थे, जो अपने पारिभाषिक अर्थ मे न तो शिल्पियो मे परिगृहीत होते है और न श्रमिको की श्रेणी मे आते है। इनमें दन्त-लेखक (दाँतो को रँगनेवाले), नख-लेखक (नाखून रँगनेवाले), अवस्कर-शोधक, आदि का सकेत अष्टाध्यायी मे और नामोल्लेख काशिका मे मिलता है।[३] इस प्रकार के अन्य जीविकार्थी भी रहे होंगे, यह सुनिश्चित है। खेतिहर मजदूरो का उल्लेख कृषि के प्रकरण मे हो चुका है।

शीतक-उष्णक—कर्मकर यद्यपि काम के लिए ही भृति[४] या वेतन पाते थे, तथापि वे सदा ईमानदारी से काम करते हो, ऐसी बात नही थी। कुछ कर्मकर कर्म मे ध्यान नही देते थे और देखते रहते थे कि कही स्वामी तो नही आ रहा है। उनका ध्यान दूर से स्वामी के ललाट की ओर रहता था और उसे देखते ही वे दिखावे के लिए काम मे व्यस्त होने का अभिनय करने लगते थे। इस प्रकार, के कर्मकरो को 'लालाटिक'[५] कहते थे। उसी प्रकार कुछ लोग बहुत धीरे-धीरे काम करते थे और एक दिन का काम दो दिन मे समाप्त कर पाते थे। ऐसे श्रमिको को 'शीतक'[६] संज्ञा दी गई थी। साधारण से अधिक फुरती से काम करनेवाले चतुर श्रमिकों को उष्णक'[७] कहते थे, जो शीघ्र करने योग्य कामो को शीघ्र ही कर डालते थे।

---

१. सवत्सरपर्वणीति वक्तव्यं स्यात्, भृतकमासे माभूत्।—४-४-२१, पृ० १७३।

२. ५-१-८५, ८६, ८७, ८८।

३. ६-३-७३।

४. ३-२-२२।

५. ४-४-६६ काशिका।

६. य आशु कर्त्तव्यानर्थांश्चिरेण करोति स उच्यते शीतक इति। यः पुनराशु कर्त्तव्यानर्थानाश्वेव करोति स उच्यते उष्णक इति।—५-२-७२, पृ० ३९७।

७. वही।

राजकर्मी मनुष्यों का भाष्यकार ने एकाधिक बार स्वतन्त्र उल्लेख किया है। इन नौकरों में परस्पर ईर्ष्या रहती थी और वे केवल दिखावे के लिए काम करते थे। एक काम कर लिया, तो दूसरा करने में आनाकानी करते थे। यदि उनसे किसी ने कहा कि लो यह कट तो बनाओ, तो तुरन्त उत्तर मिलेगा—'अब मैं कट नहीं बनाऊँगा। मैंने अभी घड़ा ला दिया है।' उन्हें तो काम का बहाना चाहिए।[1] एक स्थान पर राजकर्म करनेवाले तक्षा के विषय में कहा है कि राजा का काम करके फिर वह अपना काम नहीं कर सकता। उसे सारा समय वहीं लगाना पड़ता है।[2] राजपुरुष कहने का आशय ही यह है कि वह पुरुष राजा को छोड़कर और किसी का नहीं है। अन्य स्वामियों की निवृत्ति उसके नाम से ही हो जाती है।[3]

श्रमिक नियमित परिश्रम द्वारा जीविकार्जन करते थे, किन्तु ऐसे लोगों की संख्या कम न थी, जिन्हें परिश्रम स्वीकार्य न था। ये लोग या तो माँगकर खा लेते थे या चुरा लेते थे। माँगनेवालों की संख्या अधिक जान पड़ती है। भोजन तैयार हुआ कि वे आ गये। फिर भी, भोजन तो चढ़ाना ही पड़ता है। भिक्षुकों के कारण बटलोई चढ़ाना तो बन्द नहीं किया जा सकता।[4] यह बात तत्कालीन याचकाधिक्य की ओर संकेत करती है। फिर, पेट भर जाने पर भी इन भिक्षुकों को संतोष नहीं होता। दूसरे घर पर्याप्त मिल गया, तो भी वे पहला घर नहीं छोड़ सकते। संचय[5] में लग जाते हैं।

जो लोग बिना परिश्रम किये सेंध लगाकर मालमत्ता निकाल ले जाते थे, वे थे व्रात। ये लोग झुण्ड-के-झुण्ड साथ रहते थे। इनके रहने का न तो निश्चित स्थान था और न जीविका के लिए निश्चित वृत्ति। अवसर पाकर ये लोग चोरी करते थे। व्रातों की अनेक जातियाँ थीं—जैसे कपोतपाक[6] या कपोतपाक्य, कौञ्जायन आदि। इनके अपने संघ थे। ये लोग प्रारम्भ में आयुधजीवी थे और धीरे-धीरे इस रूप को प्राप्त हो गये। सम्भवतः, इनकी स्थिति वही रही होगी, जो कुछ समय पूर्व तक कंजड़ों, बनजारों, पासियों आदि की रही है। व्रात-कर्म से जीनेवाले को व्रातीन कहते थे।[7]

---

१. १-४-५०, पृ० १७४।

२. पुरुषोऽयं परकर्मणि प्रवर्त्तमानः स्वं कर्म जहाति। तद्यथा तक्षा राजकर्मणि प्रवर्त्तमानः स्वं कर्म जहाति।—२-१-१, पृ० २३९।

३. २-२-१, पृ० २४०।

४. १-१-३९, पृ० २५३।

५. २-१-१, पृ० २४१।

६. ५-३-११३।

७. व्रातेन जीवति, व्रातेन जीवतीत्युच्यते किमिदं व्रातं नाम? नानाजातीया अनियतवृत्तयः उत्सेधजीविनः सङ्घाः व्राताः। तेषां कर्म व्रातम्। व्रातकर्मणा जीवतीति व्रातीनः।—५-२-२१, पृ० ३७२।

खण्ड ५

राजनीतिक स्थिति

अध्याय १

राजतन्त्र शासन

राजाओ की श्रेणियाँ—ऐतरेय ब्राह्मण (८-१४) मे राज्य, वैराज्य, स्वाराज्य, भौज्य और साम्राज्य ये राज्य के क्रमश उत्तरोत्तर उत्कृष्ट स्वरूप वतलाये है। इनके शासको की उपाधियाँ राजा, विराट्, स्वराट्, भोज और सम्राट् थी। राजा सामान्य नाम था और विशिष्ट ऐश्वर्य की ओर सकेत न करना होता, तो राजा शब्द इन सबके लिए सामान्य रूप से प्रयुक्त हो सकता था। चाहे इस कारण से हो या इसलिए कि पतजलि के समय मे शेष सब का अस्तित्व समाप्त हो चुका था, भाष्य मे केवल राज्य के अधीश्वर का ही उल्लेख किया गया है। सम्राट् और साम्राज्यादि शब्द भाष्य मे नही आये है। भोज, भोजपुत्री, भोजदुहिता शब्द, जहाँतक अनुमान है, जनपद-विशेष के शासक के सम्बन्ध मे ही व्यवहृत हुए है। ये शासक अन्धक-वृष्णि थे, भौज्य के अधीश्वर नही।[1]

राजा के गुण—राजा नृपति कहा गया है। यह शब्द ही राजा के मुख्य कर्त्तव्य और महत्त्व का परिचायक है। भाष्यकार ने उससे सम्बद्ध ऋग्वेद का जो वाक्य उद्धृत किया है, वह भी यह स्पष्ट करता है कि राजा शुचि तथा नृपालक होने से ही उक्त पद का अधिकारी माना जाता था।[2] यही उसका नार्पत्य था, जिसका उल्लेख भाष्यकार ने अनेक वार किया है।[3] नृप शब्द भाष्य में केवल एक वार आया है।[4] पृथ्वी का ईश्वर होने के कारण वह पार्थिव कहलाता था। पाणिनि के सार्वभौम के दर्शन भाष्य मे नही होते।[5] इन और ईश्वर शब्दो को भी भाष्यकार ने राजा का पर्यायवाची माना है।[6] इनमे ईश्वर शब्द सामान्यतया स्वामी के अर्थ मे व्यवहृत होता था। ऐश्वर्य, ईश्वरत्व या ईश्वरभाव ईश्वर का गुण है। उसका यह ईश्वरत्व उसी 'स्व' या सम्पत्ति पर लागू होता था, जो उसके अधीन थी। पाणिनि द्वारा स्वामी, ईश्वर और अधिपति का एक साथ उल्लेख, जिन्हे भाष्यकार ने पर्याय माना है, इस कथन का पोषक है। इसी अर्थ मे पतजलि ने

---

१. ६-३-७०, पृ० ३४।

२. त्वं नृणां नृपते जायते शुचिः।—ऋग्० २-१-१—६-१-१७७, पृ० २२०।

३. ८-३-१५, पृ० ४०८।

४. ५-१-४५, पृ० ४५२।

५. ५-१-४१, ४२।

६. सभाराजामनुष्यपूर्वा पर्यायवचनस्यैव ग्रहणं भवति। किं प्रयोजनम्? राजाद्यर्थकम् इनसभम्, ईश्वरसभम्। तस्यैव न भवति—राजसभा। तद्विशेषणानां च न भवति—पुष्यमित्र-सभा। चन्द्रगुप्तसभा।—१-१-६८, पृ० ४३४।

ब्रह्मदत्त को पचाल का ईश्वर या अधि (पति) कहा है और पचाल को देवदत्त मे आधृत (अधि)[१]। अर्थशब्द भी इसी कोटि का है और इन सबका प्रयोग यदि राजा अर्थ मे मिलता है, तो औपचारिक रीति से। पाणिनि-सूत्र १-४-४७ तथा २-३-९ तथा उनसे सम्बद्ध भाष्य मे ईश्वर राजा का पर्याय नही है। ईश्वर शब्द भाष्य मे वेद के लिए भी आया है।[२] वह भी औपचारिक अर्थ मे ही है।

राजन्वान देश—राजाओं को उनके गुणो के अनुसार पूजित या क्षेप का विषय माना जाता था। सुराजा और किंराज शब्द क्रमश उक्त अर्थो मे प्रयुक्त होते थे।[३] अतिराजा शब्द भी राजा की महत्ता का द्योतक था। जिस देश मे शान्ति एव सुव्यवस्था होती थी तथा राजा अच्छा होता था, उस देश को राजन्वान कहते थे।[४]

राजन्य—राजा सामान्यतया क्षत्रिय होते थे, इसीलिए राजा के अपत्य के लिए प्रयुक्त होनेवाला राजन्य शब्द कात्यायन-काल के आते-आते क्षत्रियवाचक बन गया था। पतजलि ने राजन्य को जातिवाचक माना है, यद्यपि पाणिनि-काल मे वह केवल राजपुत्र का बोधक था।[५] क्षत्रियभिन्न राजपुत्र को राजन कहते थे। भाष्यकार ने राजन्य शब्द का प्रयोग सर्वत्र क्षत्रिय अर्थ मे किया है।[६] वास्तव मे क्षत्रिय अर्थ मे प्रयुक्त होने पर भी पहले यह शब्द मूर्धाभिषिक्त क्षत्रियो के वश्यो के लिए ही प्रयुक्त होता था, सामान्य क्षत्रिय के लिए नही।[७] पचाल आदि जनपदो के प्रतिष्ठापक और शासक सब क्षत्रिय थे। इसीलिए, जनपदो और उनके निवासी क्षत्रियो तथा उनके राजा के लिए एक ही शब्द काम मे आता था। पचाल जनपद के निवासी क्षत्रिय और उनका राजा दोनो पाचाल कहलाते थे।[८]

राज-परिवार—महाभाष्य मे राजा के पारिवारिक सदस्यो तथा उनकी पद-प्रतिष्ठा के विषय मे भी सकेत है। राजाओ का समूह राजक, राजन्यों का राजन्यक तथा राजपुत्रो का राजपुत्र कहलाता था।[९] पाच, दस तथा अनेक राजाओ के समूह को व्यक्त करने के लिए 'पचराजम्,

---

१. यस्य चैश्वर्यमीश्वरतेश्वरभावस्तस्मात् कर्मप्रवचनीययुक्तात्, अधिब्रह्मदत्ते पञ्चालाः आधृतास्ते तस्मिन् भवन्ति अधिब्रह्मदत्तः पञ्चालेषु। आधृतः सतेषु भवति—२-३-९, पृ० ४-१-२।

२. १-१-४७, पृ० २८७।

३. २-१-१, पृ० २५६।

४. ८-२-१४।

५. राज्ञां पत्ये जातिग्रहणं कर्त्तव्यम् राजन्यो नाम जातिः। क्व माभूत् राजन इति।—४-१-१३७, पृ० १४४।

६. ८-२-८३, पृ० ३८८।

७. ६-२-३४, काशि०।

८. ४-१-१६८, पृ० १६३।

९. ४-२-३९, पृ० १७८।

दशराजम्' आदि शब्द भाष्य मे आये हैं।[1] पाटलिपुत्र, मगध, मद्र, कश्मीर आदि के राजाओ का पतंजलि ने विशेषत उल्लेख किया है।[2] राजमहिषी अपनी शान तथा सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध होती थी। इसीलिए, भाष्यकार ने कहा है कि दूर पर अव्यक्त मनुष्याकार सौन्दर्य देखकर लोग अनुमान करते हैं कि यह महिषी का या ब्राह्मणी का रूप है।[3] राजा की महिषी से भिन्न पत्नियाँ राजदारा कहलाती थी। इन्हे राजप्रासाद से बाहर जाने का अवकाश प्राप्त नही होता था, इसलिए ये असूर्यम्पश्या होती थी।[4] राजदारा के लिए राजस्त्री शब्द भी प्रयुक्त हुआ है।[5] राजन या राजन्य के अतिरिक्त राजपुत्री का भी विशेष स्थान था।[6] उत्तरकालीन संस्कृत-साहित्य में राजपुत्रियो के पालन-पोषण एव शिक्षण-संस्कार के विषय मे अनेक उल्लेख मिलते है। कथा-सरित्सागर एवं राजतरगिणी में राजकन्यका के महत्त्वपूर्ण स्थान का वर्णन है। राजा का उत्तराधिकारी उसका पुत्र राजकुमार होता था। इसकी वयस्कता-कवच-धारण काल से मानी जाती थी। वयस्क राजकुमार कवचहर कहलाता था।[7] राजकुमारी और राजकुमार राजा की विवाहिता पत्नी की ही सन्तान होते थे।[8] इनमे राजा का प्रथम उत्तराधिकारी 'राजप्रत्येना' कहलाता था।

राज-परिचर—पारिवारिक सदस्यो के अतिरिक्त राजा के प्रासाद मे तथा बाहर कर्मचारियो की बडी सख्या रहती थी। ये राजपुरुष कहलाते थे और इन्हे राजा की ओर से विशेष सम्मान प्राप्त रहता था। यहाँतक कि राजपुरुष-पुत्र तक इस सम्मान के भागी होते थे। भाष्य मे तो राजपुरुष-पुत्रो के भी कर्मचारियो का सादर उल्लेख मिलता है। राजा मानवो मे श्रेष्ठ या मौलिस्थ था। इसलिए, किसी वर्ग या वस्तु की श्रेष्ठता व्यक्त करने के लिए उसके पूर्व राज शब्द का प्रयोग विशेषण रूप मे किया जाता था। राजाश्व ऊँची जाति के राजा के अश्वो के लिए प्रयुक्त होता था। यहाँतक कि राजमाष, राजदन्त (अगला बडा दाँत) आदि शब्दो मे राज शब्द केवल श्रेष्ठता के द्योतन के लिए जोडा जाता था।

राजपुरुषो मे द्वारपाल, छत्रधार और चामरग्राह प्रमुख थे।[9] धावन् या सदेशहर का स्थान भी अवश्य ही महत्त्वपूर्ण रहा होगा। अध्वगो मे वह शीघ्र जानेवाला होता था।[10] ये कर्मचारी 'नियुक्त' श्रेणी के थे। चमर चमरी जाति की मृगी के बालों से बनाया जाता था। भाष्य मे केशो के लिए चमरी के मारे जाने का उल्लेख है। राजा के व्यक्तिगत सेवको मे परिचारक,

---

१. २-२-११, पृ० १४६ तथा २-१-२, पृ० २६३।
२. ४-१-१, पृ० ११।
३. १-२-६, पृ० ६०४।
४. असूर्यम्पश्यानि मुखानि।—३-२-८०, पृ० २२९।
५. १-१-७२, पृ० ४५७।
६. ६-३७०, पृ० ३४७।
७. ३-२-१०।
८. ४-१-१, पृ० १२।
९. ३-२-१, पृ० २०१।
१०. धावन्नध्वगानां शीघ्रतमः।—२-२-१० काशि०।

परिपेचक, स्नापक, उत्सादक और उद्वर्त्तक ये नाम याजकादिगण मे मिलते हैं।[१] इसी प्रकार महिष्यादिगण मे प्रलेपिका, विलेपिका, अनुलेपिका, मणिपाली, अनुचारक और भृत्यो का परिगणन है।[२] अन्त पुर मे स्त्रियाँ ही परिचारिकाएँ रहती थी। रैवत्यादिगण (४-१-१४६) मे अश्वपाली, मणिपाली, द्वारपाली और दण्डग्राह नाम आये हैं। राजा के अन्य सामान्य कर्मचारी राजकर्मी कहलाते थे, जिनमे तक्षा से लेकर कुलाल और कटकार तक सम्मिलित थे। इन लोगो को सम्मान-विशेष के प्रदर्शन के लिए राजतक्षा और राजनापित आदि कहा जाता था।[३] विलेपिका के कार्य और उसे प्राप्त होनेवाले वेतन को वैलेपिक कहते थे। राजा की स्नान-सामग्री तथा स्नान-व्यवस्था की देखरेख के लिए भी एक निरीक्षक अधिकारी होता था जो, सौस्नातिक कहलाता था। इसी प्रकार शय्यागृह का निरीक्षक अधिकारी सौखशायिक होता था। रात्रि मे राजा की सुरक्षा के लिए उत्तरदायी अधिकारी को सौखरात्रिक कहते थे।[४] राजा के पशुओ की रक्षा करने के लिए गोवल्लव, अश्ववल्लव आदि अधिकारी रहते थे। उनकी सख्यादि की लिखा-पढी और गणना के लिए नियुक्त कर्मचारी गोसख्य, अश्वसख्य और पशुसख्य आदि कहलाते थे।[५]

राज्याभिषेक—राजा अभिषेकपूर्वक सिंहासनारूढ किया जाता था। इस अवसर पर उसे राजसूय यज्ञ करना पडता था। इस यज्ञ के पश्चात् ही राजा के रूप मे उसका प्रादुर्भाव होता था, इसीलिए इस यज्ञ का नाम राजसूय था।[६] शतपथ ब्राह्मण (५-१-१-१२) मे भी इसका उल्लेख है। राजसूय सामान्य राजा का यज्ञ था। सम्राट् को राज्याभिषेक के समय वाजपेय यज्ञ करना पडता था। भाष्य मे राजसूय, वाजपेय और अश्वमेध का नाम आया है, यद्यपि पुनर-भिषेक और ऐन्द्र महाभिषेक की चर्चा उसमे नही है।

रत्निगण—राजा के रत्नियो मे सेनानी का स्थान प्रथम था।[७] न केवल सेनानी अपितु, सेनानिकुल प्रतिष्ठा का पात्र था।[८] सेनानिपुत्र,[९] सेनानीकुमारी, सेनानीकुमारी-पुत्र[१०] सब विशेष सम्मान के अधिकारी माने जाते थे। इससे यह भी अनुमान होता है कि राजा के समान सेनानी का पद भी यथासम्भव पैतृक होता था। पुरोहित के विषय मे विशेष जानकारी भाष्य मे नही मिलती।[११]

---

१. केशेषु चमरीं हन्ति।—२-३-३६, पृ० ४३१।
२. ४-४-४८।
३. १-४-४९, पृ० १७४ तथा २-१-१, पृ० २३९।
४. ४-४-१, पृ० २७३।
५. ६-२-५२, पृ० २७०।
६. राजा सोतव्यः राजा वा इह सूयते इति राजसूयः क्रतुः।—३-१-४४ काशिका।
७. १-१-६०, पृ० ३९२।
८. १-१-३९६।
९. ६-१-७७।
१०. १-२-४८, पृ० ५४४, ४५।
११. ५-१-१२८।

सूत, सूतपुत्री, सूतदुहिता,[1] सूतपुत्र, ग्रामणी, ग्रामणिपुत्र, ग्रामणिकुल[2] आदि का उल्लेख भाष्य मे अनेक वार हुआ है। ग्रामणी सामान्यतया वैश्य होता था।[3] यद्यपि मुख्य ग्रामरक्षक के रूप में उसका सैनिक होना भी सम्भावित है। वह गाँव के मुखिया के रूप मे ग्राम तथा राजा के वीच की कडी था। भाष्य मे सेनानी और ग्रामणी तथा सूत और ग्रामणी का बार-बार साथ उल्लेख आने से सहज अनुमान होता है कि ये तीन पद राज्य मे बहुत अधिक महत्त्व के तथा परस्पर निकट रूप से सम्बद्ध थे।[4] रत्नी लोग राजकृत्वा कहलाते थे; क्योकि अभिषेक-काल मे इन सबकी स्वीकृति से ही राजा सिंहासन पर बैठता था।[5]

मन्त्रिपरिषद्—राजा की सलाहकार-परिषद् मे अमात्य रहते थे। महामात्र परिषद् का प्रमुख होता था। वह प्रधान मत्री के नाते सब मन्त्रियो के ऊपर था। महाभारत मे सुमन्त्र और सजय महामात्र कहे गये हैं, यद्यपि वे सूत थे।[6] राजा अमात्यो से परामर्श अवश्य करता था, किन्तु निर्णय करने मे स्वतन्त्र था। विशेष परिस्थितियो मे राजा परिषद् के स्थान पर केवल महामात्र से परामर्श करता था। ऐसे परामर्श अत्यन्त गुप्त होते थे और अषडक्षीण[7] कहलाते थे। अमात्य राजा के अधीन काम करते थे। वे राजा की उपस्थिति मे परतन्त्र होते थे, किन्तु किसी विषय मे राजा द्वारा निर्णय ले लिये जाने पर उसे कार्यान्वित करने मे स्वतन्त्र रहते थे। इसीलिए, भाष्यकार ने अमात्यो को राजा के समवाय मे परतन्त्र और व्यवसाय मे स्वतन्त्र कहा है।[8] प्रजा के बीच अमात्यो की स्थिति राजा के बाद सबसे ऊँची थी। यह केवल राजा की ही अपेक्षा अधिकार मे न्यून थी।[9] अमात्य का अर्थ है समीपस्थ। यह शब्द यथार्थ था।[10] प्रधान मत्री या महामात्र प्राय ब्राह्मण होता था। भाष्यकार का राजब्राह्मण सभवत प्रधान मत्री ही है। राजब्राह्मण के साथ भाष्यकार ने राजब्राह्मणी का भी उल्लेख किया है। राजब्राह्मण के कारण इसे भी विशेष सम्मान होता था। आर्यब्राह्मण और राजब्राह्मण पर्याय जान पड़ते है।[11] सम्भवत., जिस समय पुरोहित और मंत्री के पद सयुक्त थे, उस युग मे राजब्राह्मण और आर्यब्राह्मण दोनो शब्द एक ही व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होते थे। वाद मे जब दोनो पद अलग-अलग हो गये, तब राजब्राह्मण शब्द केवल पुरोहित

---

१. ७-१-५६, पृ० ४४ तथा ६-१-७१, पृ० १०३।
२. वही।
३. वै० इण्डेक्स १-२४७ तथा २-३३४, शत० ब्रा० ५-३-१-६।
४. ७-१-५६, पृ० ५४।
५. महाभारत, १५-१६-४।
६. ३-२-९५।
७. ५-४-७।
८. अमात्यादीनां राज्ञा सह समवाये पारतन्त्र्यं व्यवसाये स्वातन्त्र्यम्।—१-४-२३, पृ० १५८।
९. परस्मिन्न्यूनतामेति यथामात्यः स्थिते नृपे।—५-३-५५, पृ० ४५३।
१०. ४-२-१०४, पृ० २०४।
११. ४-१-१, पृ० १२।

के लिए रूढ हो गया और राजब्राह्मणी का स्थान अन्त पुर मे पुरोहित के समान सम्मान्य बना रहा। राजकुमार और राजकुमारी के साथ ही राजब्राह्मण और राजब्राह्मणी का उल्लेख इस बात का द्योतक है कि राजब्राह्मण का पद मत्री के समकक्ष था। राजसख भी मत्री के समकक्ष था। यह राजा का नर्मसचिव तथा व्यक्तिगत सलाहकार होता था। परवर्ती सस्कृत नाटको का विदूषक राजसख ही है।[१]

मन्त्रियो का समूह विचार-विमर्श-काल मे परिषद्[२] कहलाता था। परिषद्-युक्त राजा को परिपद्वल[३] कहते थे। परिपद् मे किये गये निर्णय परिपत्तीर्ण कहलाते थे।[४] भाष्य मे विदित होता है कि राजकीय परिपद् के अतिरिक्त धार्मिक परिषदे भी होती थी, जिनमे स्वीकृत मत या सिद्धान्त मान्य समझे जाते थे। कुछ सिद्धान्त किसी विशेष परिषद् द्वारा स्वीकृत होते थे और उसके विशेष क्षेत्र मे ही प्रमाण माने जाते थे। कुछ सिद्धान्त सर्वमान्य होते थे, जिन्हे सब परिषद् स्वीकार करती थी। उदाहरणार्थ-पाणिनीय व्याकरण सर्ववेद-पारिपद् शास्त्र था। सामाजिक परिपदें भी इस युग मे थी। सम्भव है, इनका स्वरूप जातिविशेप की पचायतो-जैसा हो। परिषद्-सम्बन्धी विषयो या बातो को पारिषद् कहते थे। परिषदो मे भाग लेनेवाले पारिषद्य कहलाते थे।[५]

सभा—प्रत्येक राज्य मे एक सामान्य सभा होती थी, जो राजसभा कहलाती थी।[६] चन्द्रगुप्त मौर्य और पुष्यमित्र की भी अपनी राजसभा थी। इसे इनसभ और ईश्वरसभ भी कहते थे।[७] सभा शब्द दो अर्थो मे प्रचलित था—व्यक्तियो का सघात या समूह और गृह या शाला।[८] ग्रामसभा जो ग्राम या नगर की सामान्य सम्पत्ति होती थी, द्यूत खेलने तथा अन्य मनोरजनो के काम आती थी। इसी मे ग्रामणी के नेतृत्व मे सामान्य हित की बातो पर विचार-विमर्श होता था।[९] राजसभा मे राज्य-भर के प्रतिष्ठित जन भाग लेते थे। ये लोग सभासद कहलाते थे। सभासद का पद सम्मान का माना जाता था। सभासद लोग सामान्य प्रजा से उपहार भी प्राप्त करते थे।[१०] इन सभाओ मे स्त्रियाँ नही भाग लेती थी।[११] सभा मे भाग लेने का अधिकारी या उनमे श्रेष्ठ वक्ता सभ्य कहलाते थे।[१२] सभा का सचालन या नेतृत्व सभासन्नयन कहलाता था। सभासन्नयन से

---

१. २-१-२४, पृ० २८०।
२. ३-३-१०८, पृ० ३१७।
३. ५-२-११२।
४. १-१-७२, पृ० ४५८।
५. ४-४-४४।
६. १-१-६८, पृ० ४३५।
७. ४-२-२३, २४।
८. १-१-६८, पृ० ४३५।
९. गामस्य तदह: सभायां दीव्येयुः।—२-३-६०, पृ० ४४८।
१०. गां घ्नन्ति, दीव्यन्ति, सभासद्भ्यः उपहरन्ति।—२-३-६०, पृ० ४४८।
११. कथं नाम स्त्री सभायां साधुः स्यात्।—४-१-१५, पृ० १४०।
१२. ४-१-११५।

सम्बद्ध व्यक्ति को साभासन्नयन कहते थे।[1] वेद मे सभ्य के लिए सभेय शब्द व्यवहृत हुआ है और सतान के वीर होने के साथ-साथ .उसके सभेय होने की भी कामना की गई है।[2]

दुर्ग—राजा का एक दुर्ग होता था, जिसके लिए राज्य के केन्द्रीय स्थान मे भूमि का चयन किया जाता था और उसमे दृढ दुर्ग का निर्माण होता था।[3] दुर्ग शब्द ही उसकी अप्रवेश्यता का सूचक है। भाष्य मे दुर्ग के विषय मे अधिक विवरण तो उपलब्ध नही है, किन्तु उसके प्राकार और परिखा आदि का बार-बार उल्लेख हुआ है।[4] काशिकाकार के अनुसार परिखा दो या तीन पुरुष गहरी होती थी।[5] दुर्ग बनाने के लिए ऐसी भूमि ढूंढी जाती थी, जिसमे परिखा बन सके। इस भूमि को पारिखेयी कहते थे।[6]

कोष—कोष की वृद्धि के अनेक साधन थे। कुछ धन उपदा और उपहार से प्राप्त होता था।[7] कुछ दण्ड से आता था और कुछ कर से। पतजलि ने राजाओ को हिरण्यार्थी कहा है, जो येन केन प्रकारेण दण्ड की राशि वसूल करना चाहते थे।[8] कर को शुल्क कहते थे। राजा उन नगरो और ग्रामो से बहुत प्रसन्न रहता था, जिनमे सब प्रकार शान्ति रहती थी और अच्छी पैदावार होती थी। इनके लोग कुछ बचाकर भी रख लेते थे। इन्ही पुरो से राज्यकोष को भी उचित आय की आशा रहती थी।[9] भाष्यकार ने आयस्थानो का उल्लेख किया है। जिन स्थानो से राजा को कर द्वारा धन की प्राप्ति होती थी, वे आय-स्थान कहलाते थे। नगर मे बिकने के लिए आनेवाले माल पर शुल्क लिया जाता था। आपण, गुल्म, (वनसम्पत्ति), खनि तथा नदीतर आय के साधन थे। नदी-शुल्क को तरपण्य कहते थे।[10] भाष्यकार ने शुल्क के अनुसार उसे वसूल करनेवाले अधिकारियो के नाम दिये हैं। ये अधिकारी शुल्क के आधार पर पचक, सप्तक, अष्टक, नवक, दशक आदि कहे जाते थे।

राजा के कर्त्तव्य—राजा का मुख्य कार्य था—आक्रमण एव अन्य सकटो से प्रजा की रक्षा।[11] अपनी भूमि की रक्षा तो अपने अस्तित्व के लिए ही आवश्यक थी। इसी कार्य के कारण राजा को महीपाल,[12] नृपति और नृप कहते थे। इसके लिए उसे दुर्ग, कोष और सेना की आवश्यकता होती थी।

---

१. १-१-७३, पृ० ४६०।
२. वीरो सभेयो यजमानस्य पुत्रो जायताम्।—४-४-१०६।
३. ३-२-४८, पृ० २१७।
४. ३-२-१०१, पृ० २३६।
५. ४-१-२४, काशिका०।
६. ५-१-१७।
७. ५-१-४७, पृ० ३२३।
८. १-१-१, पृ० १०३।
९. क्षेत्रे सुभिक्षे कृतसञ्चयानि पुराणि राज्ञांविनयन्ति कोषम्।—५-४-६८, पृ० ४९९।
१०. १-१-२२, पृ० २०५।
११. प्रजामेको रक्षत्यूर्जमेका।—१-१-२४, पृ० २१६।
१२. ७-२-२३, पृ० ११७।

मन्त्रिपरिषद्, सभा तथा दुर्ग और कोषादि से सम्बद्ध राजा के ऐश्वर्य को राजवर्चस् कहते थे।[1] प्रतिरक्षा के लिए राजा सेना रखता था। सेना मे स्थायी और अस्थायी दोनो प्रकार के योद्धा होते थे। भाष्य मे राजा को दृढसेन कहा है।[2] राजा की बड़ी सख्या मे गज और अश्व पालते थे।[3] सेना की उत्तमता और विशालता उनपर निर्भर करती थी।[4] भाष्यकार ने कहा है कि केवल बातें करने या 'न न' कह देने से विपत्ति नही टल जाती, अन्यथा राजा लोग हाथी-घोड़े न पालते, केवल 'न न' ही कह देते।[5]

अधिकारी—पाणिनि ने आयुक्त, युक्त, नियुक्त अधिकारियो, विभागाध्यक्षो एव भाण्डागारिक आदि विशिष्ट उच्चाधिकारियो का उल्लेख किया है।[6] भाष्यकार ने सम्पूर्ण राज्याधिकारियो के दो विभाग किये है—ग्रामीण और नागरिक। ये कर्मचारी अधिकृत कहलाते थे और इनकी नियुक्ति राजा के निर्देश से होती थी और वे उसी से निर्दिश्यमान कार्य करते थे।[7]

राज्य के उच्चाधिकारियो मे राष्ट्रिय का पद बहुत महत्त्वपूर्ण था यदि राज्य बड़ा होता, तो राजा अपने युवराज या किसी अन्यपुत्र अथवा विश्वस्त जन को राज्य के एक भाग का राष्ट्रिय नियुक्त कर उसके हाथ मे वहाँ का सारा आन्तरिक प्रवन्ध सौंप देता था। मौर्य राजाओ, रुद्रदामा एव पुष्यमित्र सभी ने अपने राज्य मे राष्ट्रिय नियुक्त किये थे। अशोक स्वय विदिशा मे राष्ट्रिय रहा था। इसी प्रदेश मे पुष्यमित्र ने भी विदिशा मे अपने पुत्र अग्निमित्र को राष्ट्रिय पद पर नियुक्त किया था। गिरनारस्थ रुद्रदामा के शिलालेख मे भी चन्द्रगुप्त मौर्य के राष्ट्रिय वैश्य पुष्यगुप्त का उल्लेख है। पाणिनि और पतजलि दोनो राष्ट्रिय पद से परिचित थे।[8]

दूत राजा का अत्यन्त विश्वासपात्र अधिकारी था। वह अन्य राज्यो से साथ सम्बन्ध का माध्यम था। दूतो के नाम उस देश के आधार पर रखे जाते थे, जिनके लिए उनकी नियुक्ति की जाती थी। उदाहरणार्थ—स्रुघ्न को भेजे गये दूत को स्रौघ्न कहते थे।[9] दूत का कार्य दूत्य कहलाता था। दूत के द्वारा भेजा जानेवाला सन्देश 'वाचिक' कहलाता था। उस सन्देश के अनुसार किया

---

१. ५-४-७८, पृ० ५०४।

२. २-४-१९, पृ० ४७१।

३. २-२-६, पृ० ३३९।

४. वही।

५. यदेतन्नभोमाहात्म्यं स्यान्न जातु चिद्राजानो हस्त्यश्वं बिभृयुर्नेत्येव राजानो ब्रूयः।—२-२-६, पृ० ३३९।

६. २-३-४०, ४-४-७०, ६-२-६६, ६-२-६७।

७. लोकेऽधिकृतोऽसौ ग्रामेऽधिकृतोसौ नगर इत्युच्यते यो यत्र व्यापार गच्छति। निर्दिश्यमानमधिकृतं गम्यते।—१-३-११, पृ० ४२।

८. ४-२-९३, पृ० २०२।

९. १-३-१०, पृ० ४०।

गया काम 'कार्मण' कहा जाता था।[1] राजा लोग नगर एव राज्य के समाचार लाने के लिए गुप्तचर रखते थे। ये लोग कर्णेजप या सूचक कहलाते थे।[2]

राज्य के कार्य अनेक दृष्टियों से किये जाते थे। राजा के हित की दृष्टि से किये जानेवाले कार्य राजभोगीन श्रेणी के होते थे। सेनानिभोगीन और ग्रामीणभोगीन कार्य सेनानी और ग्रामणी हित की दृष्टि से होते थे। वडे-वड़े आदमियो के अनुकूल कार्य माहाजनिक कहलाते थे। ग्राम-सभा या पचायत के हित के कार्यो को पचजनीन कहते थे। सार्वजनिक हित की वाते, सार्वजनिक, सर्वजनीन, विश्वजनीन, सर्वीण या सार्व होती थी।[3]

---

१. वाचो व्याहृतार्थायाम् तद्युक्तात् कर्मणोण् तदित्यनेन किं प्रतिनिर्दिश्यते ? वागेव वाचा व्याह्रियते तत्कर्मणा क्रियते।—५-४-३५, ३६, पृ० ४९२।

२. ३-२-१३, पृ० २११।

३. ५-१-१०, पृ० ३०२।

अध्याय २

संघ-शासन

गणतन्त्र

संघों के प्रकार—दूसरे प्रकार के जनपद गणतन्त्र थे। ये संघ कहलाते थे। भाष्यकार ने संघ शब्द का प्रयोग समुदाय या समूह के अर्थ में किया है।[1] पाणिनि ने पशुओं के समूह को संघ कहा है।[2] मानव-संघ या समूह तीन प्रकार के होते थे—छात्रों के संघ, जो बौद्धों के श्रमण-संघों या, भिक्षु-संघों के समान थे। पता नहीं, इनका अपना कोई विधान था या नहीं। भाष्य ने केवल औदमेध्य, वामरथ आदि छात्रसंघों के लिए रूढ़ शब्दों के नाम दिये हैं, जिनसे इतना ही पता चलता है कि उनके समय में एक गुरु की समस्त शिष्य-प्रशिष्य-मण्डली संघ के रूप में संगठित होती थी।[3] दूसरे प्रकार के संघ सामाजिक थे, जो किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए संगठित होते थे। व्रातीनों के संघ इसी प्रकार के थे।[4] तीसरे प्रकार के संघ राजनीतिक थे, जो शासन-पद्धति की दृष्टि से एकराज-पद्धति के ठीक उल्टे थे।[5] इस प्रकार के संघों में शासन की डोर एक राजा के हाथ में न रहकर जनपद के मूल निवासी क्षत्रिय जाति के अनेक प्रभावशाली लोगों के हाथ में रहती थी। ये प्रभावशाली जन क्षत्रियवंशीय होते थे और राजन्य कहलाते थे। डॉ० जायसवाल (हिं० पा०, पृ० २८) के मत से धार्मिक संघ राजनीतिक संघों का अनुकरण-मात्र थे। उनकी धारणा है कि पाणिनि ने संघ शब्द का प्रयोग सदा राजनीतिक संघ के अर्थ में ही किया है। इस बात की पुष्टि जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पाणिनि-सूत्रों से नहीं होती।

अभिषिक्त वंश्य क्षत्रिय—संघ-शासन में शक्ति एक राजा के हाथ में केन्द्रित न होकर समग्र क्षत्रिय जाति में विभक्त रहती थी। क्षत्रिय राजा के क्षत्रिय अपत्यों को राजन्य कहते थे। राजन्य शब्द भाष्यकार के अनुसार जातिवाचक था। ये राजन्य लोग ही संघ के वास्तविक शासक होते थे।[6] प्रत्येक परिवार का कुलवृद्ध संघ-सभा का सदस्य होता था। लौकिक गोत्र के स्थविरतर,

---

१. मानुषाणां सङ्घः ४-१-१२१, पृ० १२३; स्त्रैणानां सङ्घः—४-१-८३, पृ० ९७।

२. ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री।—१-२-७३।

३. औदमेध्यानां सङ्घ औदमेघः ४-१-७८, पृ० ८१; वामरथानां सङ्घः ४-१-१५१, पृ० १४८।

४. उत्सेधजीविनः सङ्घा व्राताः।—५-२-२१, पृ० ३७२।

५. क्षत्रियादेकराजादिति वक्तव्यं सङ्घप्रतिषेधार्थम् ४-१-१६८।—पृ० १६२; संख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु।—५-१-५८

६. राज्ञोऽपत्ये जातिग्रहणं कर्त्तव्यम्। राजन्यो नामजातिः क्व माभूत्? राजन इति।—४-१-१३७, पृ० १४४।

ज्यायान्, युवा ये वर्ग इस बात की ओर सकेत करते है कि महत्त्वपूर्ण विषयों मे परिवार का स्थविरतर सदस्य ही परिवार का प्रतिनिधित्व करता था।[1] इस प्रकार सघ के अनेक शासक होते थे और वे सब राजा कहलाते थे। इसीलिए, भाष्यकार ने जनपद के राजा के लिए एकवचन का और सघ के राजाओ के लिए बहुवचन का प्रयोग किया है।[2] सम्भवत, इसीलिए पाणिनि ने अन्धक-वृष्णि-कुलो के राजन्यो के बहुवचन द्वन्द्व का ही उल्लेख किया है।[3] इस सूत्र की काशिकाकृत व्याख्या से यह भी पता चलता है कि एक क्षत्रिय जाति मे सारे परिवार या उप-जातियाँ राजन्य नही होते थे। राजन्य केवल अभिषिक्त वंश्य कहलाते थे। उदाहरणार्थ, अन्धको और वृष्णियो में श्वाफल्क, चैत्रक, रोधक, शिनि और वासुदेव राजन्य थे, किन्तु द्वैप्य और हैमायन राजन्य नही थे। इस प्रकार अन्धक-वृष्णियो मे राजन्यता कुछ विशिष्ट कुलो तक ही सीमित थी।[4] अन्धक और वृष्णि पुराणो मे सात्वत कहे गये है। ऐतरेय (८-१४) मे सात्वतो मे इन्हें भोज कहा है। महाभारत (सभा० पर्व ३७-५) के अनुसार दशार्ण (वृष्णि) राजहीन थे। कौटिल्य (१-६-३) ने इन्हे सघ माना है। द्वैपायन को अप्रसन्न करने के कारण ये अवसाद को प्राप्त हुए। इनके ईसा-पूर्व प्रथम शती के गण के नाम के सिक्के मिले हैं। इनपर राजा का नाम नही है। कनिंघम के मत से बिना राजा के नामवाले सिक्के गण के नाम पर है। यथा—'आर्जुनायनानाजय, (कनिंघम क्वाइंन्स आफ ऐन० इण्डिया, पृ० ७०,७७,७९ प्लेट-सख्या ४,६,८)। यौधयो के सिक्के मन्त्रधरो और गण दोनो के नाम पर है। वृष्णियो के सिक्के सबसे भिन्न है, जो गण और राजन्य दोनो के नाम पर हैं। अमरकोश (अ० १०) के अनुसार राजाओ की सामान्य सभा (काउसिल) को राजक और गण (सिनेट) को राजन्य कहते थे। प्राच्य देश मे लिच्छिवि-सघ मे राजन्यो की सख्या बहुत अधिक थी। वहाँ लिच्छिवियो का प्रत्येक कुल-वृद्ध राजन्य माना जाता था और सघ का सदस्य था।

आयुधजीविसंघ—सघ-शासित जनपदो के शासन-विधान एक-से नही थे। इनमे कुछ विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे थे और कुछ सुसगठित। भाष्यकार के विभिन्न उद्धरणो से अनुमान होता है कि अन्धक, वृष्णि, क्षुद्रक, मालव, यौधेय, पचाल और विदेह (?) समुन्नत सघ थे।[5] अविकसित सघ आयुधजीवी थे। पाणिनि ने श्वागणिको, वेतनजीवियो, वस्नको और क्रयविक्रयिको के साथ आयुधीयो या आयुधिको का उल्लेख किया है। इन आयुधीय या आयुधिक लोगो की जीविका के साधन उनके आयुध थे।[6] पतजलि ने आयुध शब्द की जो व्याख्या की है, उसके अनुसार ये आयुधिक लोग योद्धा क्षत्रिय जातियो के थे और सैनिक का कार्य करते थे। कौटिल्य ने आयुधजीवियो को शस्त्रोपजीवी कहा है, जो राजशब्दोपजीवी के ठीक विपरीत है। डॉ० जायसवाल

---

१. ४-१-१६३, १६५ पृ० १५५ से १६१।

२. ४-१-१६८, पृ० १६२।

३. ६-२-३४।

४. द्वैप्य हैमायनाः राजन्य ग्रहणमिहाभिषिक्तवंश्यानां क्षत्रियाणां ग्रहणार्थम्। एते च नाभिषिक्तवश्याः।—वही, काशि०।

५. ४-४-११ से १४ तक।

६. आयुध्यन्ते तेनायुधम्।—३-३-५८, पृ० ३०८।

के मत से जिनके शासन-विधान मे युद्धकला का सर्वोपरि महत्त्व था, वे शस्त्रोपजीवी तथा जिनके विधान मे 'राजा' उपाधि धारण करने का अधिकार साधारण जनो को था, वे जनपद राजशब्दोपजीवी कहे जाते थे। बौद्ध साहित्य मे वर्णित प्रजातन्त्र मे निर्वाचित सभापति को राजा का पद मिलता था। यो नागरिक भी साधारण तौर पर राजा कहे गये है, क्योकि वे ही सर्वोच्च सत्ता का निर्माण करते थे और उनमे प्रत्येक राजा चुना जाने का अधिकारी भी था (हिन्दू पालिटी,पृ० ६४)। रीज डेविड्स (बुद्ध इण्डिया, पृ० १४) के अनुसार गणराज्यो मे एक सभापति चुना जाता था। वह सभा का सत्र न रहने पर राज्य का सभापति होता था। उसे राजा की उपाधि प्राप्त रहती थी। पाणिनि के अनुसार आयुधिको के सघ आयुधजीविसघ कहलाते थे। इनमे ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अन्य लोग भी थे। क्षत्रियो मे भी राजन्य तथा सामान्य क्षत्रिय ये दो भेद थे। इससे स्पष्ट होता है कि ये सघ राजनीतिक थे और इनका अपना शासन-विधान था। सत्ता राजन्यो के हाथ मे थी। इन सघो मे रहनेवाले ब्राह्मण भी आयुधजीवी थे या नही, यह पूर्णतया स्पष्ट नही है, किन्तु अधिक सकेत इस बात के है कि ये भी आयुधजीवी थे। वैसे आयुधजीविसघ से इतना ही स्पष्ट होता है कि इन सघो की शासन-सत्ता आयुधजीवियो के हाथ मे थी। ये सघ वाहीक प्रदेश मे थे और उसके बाहर भी। वाहीक मे इनका बाहुल्य था।[1] भाष्यकार कौण्डीवृस, क्षुद्रक और मालव इन आयुधजीवी सघो से परिचित थे। गोपालव ब्राह्मण और शालकायन राजन्य वाहीकस्थ आयुधजीवी सघ थे। मल्ल और वतण्ड सघ वाहीक के अन्तर्गत थे, किन्तु आयुधजीवी नही। काशिकाकार ने शवर और पुलिन्द ये वाहीक-वाह्य आयुधजीवी सघ बतलाये हैं। काशिकाकार ने कौण्डीवृस, क्षुद्रक और मालवो को वाहीकस्थ कहा है।[2] भाष्य मे कौण्डीवृस और वतण्डों का उल्लेख सम्मान के साथ हुआ है। कौण्डीवृसी वृन्दारिका, कौण्डीवृस्य वृन्दारिका, वतण्डी वृन्दारिका और वातण्ड्य वृन्दारिका शब्द इन गोत्रो की स्त्रियो के प्रति आदर के परिचायक हैं।[3] केवल एक स्थान पर वतण्ड स्त्री की निन्दा की गई है और उसके कारण उसकी सन्तान को भी निन्दित कहा है, किन्तु उसमे वतण्ड का महत्त्व नही है।[4] वह 'ण' प्रत्यय के णित्व की सार्थकता के प्रमाण के लिए उदाहरण बनाया गया है। फिर भी, कौण्डीवृसो और वतण्डो का उल्लेख उनकी स्त्रियो के सन्दर्भ मे ही सर्वत्र हुआ है, यह बात ध्यान देने योग्य है। क्या आजकल की बल्लोची स्त्रियो के समान ये स्त्रियाँ भी दूर-दूर तक आती-जाती थी और इसीलिए दूर प्रान्तो के लोग भी उनसे परिचित थे? ऐसा हो, तो गोत्र स्त्री के कुत्सित होने के कारण उसकी सन्तान का 'वातण्ड जाल्म' कहा जाना और अधिक सार्थक हो जाता है। जो हो, वतण्डो से लोग सुपरिचित थे। वतण्ड आंगिरस थे और उनसे भिन्न भी। आंगिरसो के अपत्य वातण्ड्य कहलाते थे और अन्य लोग वातण्ड।[5] भाष्यकार ने उनके आंगिरस गोत्र का जोर देकर उल्लेख किया है।

---

१. आयुधजीवी सङ्घाञ्ञ्यड वाहीकेष्वब्राह्मणराजन्यात्।—५-३-११४।

२. वही, काशिका।

३. ६-३-३४, पृ० ३१५।

४. गोत्रस्त्रियाः कुत्सेन णच वातण्डो जाल्मः।—४-१-१४७, पृ० १४५।

५. ४-१-१०८, पृ० १३४।

वृक, दामन्यादि (दामनी, औलपि, आकिदन्ती, काकरन्ति, काकदन्ति, शत्रुन्तपि, सार्व-सेनि, बिन्दु, मौञ्जायन, उलभ और सावित्रीपुत्र), त्रिगर्त्तषष्ठ (कौण्डोपरथ, दाण्डकि, क्रौष्टकि, जालमानि, ब्रह्मगुप्तीय, जानकि या जालकि), पर्श्वादि (पशु, असुर, रक्षस्, वाल्हीक, वयस्, मरुत्, दशार्ह, पिशाच, विशाल, अशनि, कार्षापण, सत्वत् और वसु), तथा यौधेयादि (यौधेय, कौशेय, क्रौशेय, शौक्रेय, शौभ्रेय, वार्त्तेय, वार्त्तेय, जाबालेय, त्रिगर्त्त, भरत और उशीनर) ये वाहीक-प्रदेश से बाहर के आयुधजीवी सघ थे।[1] यह भी मनोरजक बात है कि वाहीक-सघो के समान पर्श्वादि और यौधेयादि सघो की स्त्रियो के भी सघमूलक नामो के लिए पृथक् नियम थे। उदाहरणार्थ—क्षत्रिय जनो तथा उनके जनपदो मे स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध की चरमोत्कृष्टता बतलाने के लिए उनका रूप एक ही होता था। अङ्गा या पर्शव यह बहुवचनान्त प्रयोग अंग या पर्शु क्षत्रियों और जनपदो के लिए समान होता था, किन्तु स्त्रियाँ आङ्गय या पार्शव्य कहलाती थी।[2] पूग, व्रात तथा समस्त आयुधजीवि-सघों मे स्त्री-पुरुषों के बीच यह अन्तर किया जाता था। इससे इस बात का सकेत मिलता है कि जनपदो का स्वतन्त्र अस्तित्व उनके योद्धा पुरुषो के कारण माना जाता था, स्त्रियो के कारण नही। पर्शु, रक्षस् और असुर जनपदो की पर्शू, रक्षा और असुरी स्त्रियो का उल्लेख भाष्यकार ने किया है एव यौधेयादि सघो की स्त्रियो का सामान्यत नाम-ग्रहण किया है।[3]

वृक या वार्केण्य[4] तथा यौधेयादि गणो मे त्रिगर्त्तषष्ठ,[5] भरत[6] और उशीनर से भाष्यकार[7] भली भाँति परिचित थे। उत्कृष्ट और उन्नत यौधेय सघ के विषय मे कोई जानकारी भाष्य से नही प्राप्त होती। पाणिनि ने पर्वताभिजनीय आयुधजीवियो के लिए विशेष प्रत्यय का विधान किया है। काशिकाकार ने हृद्गोल, अन्धकवर्त्त और रोहितगिरि पर्वत को आयुधजीवियो का अभिजन बतलाया है। उन्होने साकाश्य को इनका निवास कहा है। इससे पता चलता है कि आयुधजीवी क्षत्रिय पहले इन पर्वतो के ही निवासी थे। वहाँ से वे धीरे-धीरे उत्तर और मध्य देश मे फैल गये।[8] डॉ० वा० श० अग्रवाल के मत से (पा० पृ० ४३५) आयुधजीवियों का प्रदेश कश्मीर से अफगानिस्तान (रोहितगिरि) तक फैला हुआ था। हिंगोल जलालाबाद जिले का वर्त्तमान हिद्द और अन्धकवर्त्त अफगानिस्तान का उत्तर पूर्वी जिला अन्दखुई है। आयुधजीवी-सघ उत्तर भारत मे सिन्धु के पश्चिम हिन्दुकुश के दोनो ओर, सीमान्त-क्षेत्र एव अफगानिस्तान के एक भू-भाग मे थे। इनमे दर्दिस्तान की जातियाँ भी शामिल थी। भाष्यकार दारद सघो

---

१. ५-३-११५ से ११७।
२. ५-३-११९ तथा २-४-६२।
३. ४-१-१७७ पृ० १६५।
४. ४-१-१६१, पृ० १५४।
५. ८-१-५, पृ० २७०।
६. २-४-६६, पृ० ५०४।
७. २-४-१९, पृ० ४७०।
८. ४-३-९१ काशिका।

से सुपरिचित थे। उन्होंने इनका उल्लेख तो किया ही है। दारदिका, दरद वृन्दारिका या दारद वृन्दारिका की भी चर्चा की है।[1]

व्रातीन—इनके अतिरिक्त भाष्यकार ने व्रातसघो का वर्णन किया है। ये सघ, समवत, राजनीतिक न होकर जीविकामूलक थे, जिनमे अनेक जातियो के लोग सम्मिलित रहते थे। इनकी कोई निश्चित जीविका न थी। ये लोग उत्सेध द्वारा निर्वाह करते थे। इनके कारण इनके जीविका-कर्म का नाम भी व्रात पड गया था और जो लोग व्रात-कर्म द्वारा जीविकार्जन करते थे, वे व्रातीन कहे जाते थे। पाणिनि ने भी व्रात-कर्म को जीविका का साधन बतलाया है।[2] काशिकाकार ने उत्सेध शब्द का अर्थ शरीर माना है और उत्सेधजीवी का अर्थ शरीरायास से जीनेवाला। उन्होने व्रात-सघ के सदस्यो की ही व्रातीन सज्ञा मानी है। सघ से बाहर के उत्सेधजीवी व्रातीन नही कहलाते थे।[3] काशिकाकार ने ऐसे सघो मे कपोतपाक, व्रीहिमत्, कौजायन और व्राभ्नायन का नामोल्लेख भी किया है।[4] व्रात्य वैदिककालीन सघ है। शतपथ ब्रा० (४-१-५) मे गाँव-गाँव घूमनेवाले शर्यात मानव का वर्णन है। सम्भवत, वर्त्तमान कजड तथा अन्य घुमक्कड जातियाँ, जो आज भी शारीरिक श्रम और उत्सेध दोनो से निर्वाह करती है, व्रातीनो के ही अवशेष रूप है। इनके नाम प्राय काशिका मे उल्लिखित नामो से मिलते-जुलते है। इन जातियो मे प्राय जरायनपेशा हैं। डॉ० वा० श० अग्रवाल व्रातो को राजनीतिक सघ मानते हैं। उनके मत से वे एक नायक के नीचे, जिसकी स्थिति ग्रामणी के समान ही थी और जो नायक के चिह्न के रूप मे राजतनिष्क (आभूषण) पहनता था, सगठित थी। ये लोग राजनीतिक विकास की पहली सीढी पर थे।[5] पचाशद् ब्राह्मण (५-१८) भी व्रात्यो से परिचित है। तैत्तिरीय सहिता (२-३-१०३) तथा मैत्रायणीय स० (२-२-१) के अनुसार ग्राम आत्मावलम्बी कार्पोरेशन था और ग्रामणी, सम्भवत, उसका निर्वाचित अधिकारी होता था। वह ग्रामवादी भी था।

पूग—पाणिनि ने पूगो का उल्लेख किया है। काशिका के अनुसार ये भिन्न-भिन्न जातियो के सघ थे। ये लोग भी व्रातो के समान अनियतवृत्ति लोग थे और द्रव्य-प्राप्ति के लिए सगठित थे। अर्थकाम-प्रधान होने से अनुमान होता है कि ये लोग उत्सेध का आश्रय न लेकर व्यापारादि को जीविका का साधन बनाते थे। ये व्रातो की अपेक्षा अधिक सभ्य एव सस्कृत थे। ग्रामणी इनका नेता होता था, जो सामान्यतया वैश्य होता था। काशिका ने पूगो को गण कहा है और उन गणो के नाम गिनाये है। उनके ये सगठन राजनीतिक मालूम होते हैं। सम्भवत, पूग राजनीतिक एव व्यापारिक दोनो प्रकार के सगठन थे। राजनीतिको का ग्रामणी योद्धा और व्यापारियो का

---

१. ४-१-१२०, पृ० १४१ तथा ६-३-३४, पृ० ३२०।

२. व्रातेन जीवतीत्युच्यते किं व्रातं नाम। नानाजातीया अनियतवृत्तय उत्सेधजीविनः सङ्घा व्राताः। तेषां कर्म व्रातं। व्रातकर्मणा जीवतीति व्रातीनः।—५-२-२१, पृ० ३७२।

३. तेषामेव व्रातानामन्यतम उच्यते। यस्त्वन्यस्तदीयेन जीवति तत्र नेष्यते।—वही, काशिका

४. ५-३-११३।

५. इण्डिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० ४४०।

वैश्य होता था। पूगो मे कुमारो के अपने अलग सगठन थे। राजतन्त्र के कुमारप्रत्येना: के समान पूगो की कुमार-सस्थाओ का अपने गणो के भीतर स्वतन्त्र अस्तित्व एव महत्त्व था। काशिका मे कुमारचातक, कुमारलोहध्वज, कुमारवलाहक और कुमारजीमूत नामक कुमारपूगों का उल्लेख मिलता है।[1] कुछ सघो के नाम ग्रामणी के नाम पर होते थे और कुछ के स्वतन्त्र। ग्रामणी यदि देवदत्त या यज्ञदत्त हुआ, तो सघ का नाम देवदत्तक या यज्ञदत्तक (बहुवचनान्त) होता था। अन्य संघो के लोहध्वज, वलाहक, जीमूत, शिवि, चातक आदि रूढ नाम थे।[2]

श्रेणि—श्रेणि सबसे छोटा जनतन्त्रात्मक सगठन था। ये श्रेणियाँ भिन्न-भिन्न जीविका या व्यापारवालों के छोटे-छोटे सगठन थे। भाष्यकार ने असंगठित जनों को सगठित कर उनके श्रेणीकरण का वर्णन किया है। पाणिनि के श्रेण्यादि गण मे पूग का भी उल्लेख है। पूगकृत शब्द का अर्थ है—अपूग जनो का पूग बनाना। पूग कई श्रणियो को मिलाकर बनाये जाते थे। भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है कि विद्यमान श्रेणियो के विषय मे कुछ करने को श्रेणीकरण नही कहते। अविद्यमान श्रेणियों का श्रेणिरूप मे संगठन ही श्रेणीकरण कहलाता है। श्रेणि व्यापारिक सगठन था, राजनीतिक संस्था नहीं। सम्भव है, इनका विधान राजनीतिक विधानों के समान रहा हो। पाणिनि ने गण और सघ के साथ पूगो का स्मरण किया है।[3]

श्रणि, पूग, गण और सघ क्रमश उत्तरोत्तर विशाल संगठन थे, जिनकी रचना जनतन्त्रात्मक आधार पर थी, भले ही जनतन्त्रात्मकता का वर्तमान रूप उनमे न मिले, किन्तु यदि उनके विकास मे बाधा उपस्थित न हुई होती, तो बहुत सम्भव था कि आज उनका स्वरूप इसी प्रकार होता। अपनी तत्कालीन सीमा मे ये गण और सघ अभिजात क्षत्रियो के कुल पर आधृत प्रतिनिधित्व से आगे नही बढ पाये। श्रेणि और पूग की रचना के सिद्धान्तो की विस्तृत जानकारी उपलब्ध न होने से उनके विषय मे कोई निश्चित मत प्रकट करना न्याय्य न होगा।

संघों के घटक—भाष्यकार ने संघ की परिभाषा करते हुए उसे समूह और समुदाय का पर्यायवाची माना है[4] तथा ५, १० और २० के सघो का उल्लेख किया है।[5] ये सघ गणो के समूह थे। अनेक जनपद अवयवों मे विभक्त थे। इनमे प्रत्येक अवयव का पृथक् शासक होता था। भले ही वह अन्य अवयवो के साथ एक ही पूर्वज की सन्तान रहा हो। इस प्रकार के अवान्तर विभाग साल्व, त्रिगर्त्त, यौधेय, शालङ्कायन आदि सघो मे विद्यमान थे। आयुधजीवी सघ तो अनेक गोत्रो के समवाय से ही बने थे। इन छोटे-छोटे गणो के सघो की ओर ही पतंजलि ने पचक सघ आदि से सकेत किया है। डॉ० अग्रवाल के मत से पतजलि के पचक, दशक और विंशक शब्द-सघो की कार्यकारिणी के सदस्यो के बोधक है।[6] यह इसी अर्थ मे सम्भावित हो सकता है कि महत्त्व-

---

१. ६-२-२८ काशिका

२. ५-३-११२ काशिका।

३. ५-२-५८

४. सङ्घः समूहः समुदाय इत्यनर्थान्तरम्।—५-१-५९, पृ० ३३१।

५. ५-१-५८, पृ० ३२६ तथा ५-१-५९, पृ० ३३०।

६. पाणिनि, पृ० ४३१।

पूर्ण विषयों के सम्बन्ध में निर्णय करते समय संघ अपने घटकों से परामर्श करते हों और परामर्श-काल में प्रत्येक घटक गण कार्यकारिणी के एक सदस्य के समान माना जाता हो।[1] इस प्रकार ये संघ पाँच, दस या बीस गणों के समूह थे। वर्तमान प्रजातन्त्र देशों में से कुछ के संविधान में जिनमें दो व्यवस्थापिका सभाएँ होती हैं, प्रत्येक राज्य को एक इकाई मानकर राज्यसभा में उन्हें समान प्रतिनिधित्व दिया जाता है। विंशक संघ भी बीस इकाइयों का एक राजनीतिक संगठन रहा होगा, भले ही वे इकाइयाँ छोटी-छोटी रही हों। भिन्न-भिन्न क्षत्रिय जातियों के अपने गण एक संघ के अन्तर्गत संगठित थे। गण संघ राजनीतिक संस्था थी। गणों की सदस्यता को प्राप्त जन गण्य कहलाते थे। गण्य, सम्भवतः, संघों की सामान्य सभा के सदस्य होते थे।[2] गण्य होना गौरव की बात थी। आज भी यह शब्द सम्मान का द्योतक माना जाता है।

वर्ग और गृह्य—संघों के घटक या इकाइयाँ कभी-कभी वर्गों में विभक्त हो जाते थे। किसी इकाई का प्रधान यदि अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली हुआ, तो वह स्वयं नेता बन कुछ घटकों को अपना अनुयायी बना लेता था। संघ में यदि उसका कोई प्रतिस्पर्धी निकल आया, तो सारा संघ दो या अधिक, पर अधिकतर दो वर्गों या पक्षों में बँट जाता था। ये वर्ग किसी स्थायी सैद्धान्तिक आधार पर नहीं बनते थे, अपितु वैयक्तिक प्रभाव पर आश्रित थे। पाणिनि ने पंचत् और दशत् वर्गों का उल्लेख किया है।[3] संघों और वर्गों की संख्याएँ उपलक्षण-मात्र नहीं हैं। भाष्यकार और पाणिनि की दृष्टि में ऐसे संघ थे, जिनके पाँच, दस और बीस घटक थे। इसी प्रकार पाँच और दस के वर्ग भी उस समय प्रसिद्ध रहे होंगे। भाष्यकार ने एक ही संघ के अन्तर्गत अक्रूर और वासुदेव के दो वर्गों की चर्चा की है। इन वर्गों के सदस्य क्रमशः अक्रूरवर्ग्य या अक्रूरवर्गीण और वासुदेव-वर्ग्य या वासुदेववर्गीण कहलाते थे।[4] काशिकाकार ने भी (३-१-११९) वासुदेव और अर्जुन के गृह्यों (पक्ष्यों) का उल्लेख किया है। इन वर्गों को आधुनिक अर्थ में पार्टी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इनके पीछे न तो कोई सैद्धान्तिक आधार था और न हर संघ में सदा इनका अस्तित्व ही रहता था।

पूरणी संख्या—पतंजलि ने पूग, गण और संघ की पूरणी संख्या पर विचार किया है, जिससे स्पष्ट है कि इन तीनों संस्थाओं की अपनी सभाएँ या परिषदें थीं। यह भी अनुमान होता है कि ये संगठन क्रमशः बृहत्तर थे। इनकी सभाओं में कम-से-कम जितने सदस्यों की उपस्थिति कार्य-संचालन के लिए आवश्यक थी, वही उनकी पूरणी संख्या मानी जाती थी। ऐसी पूरणी संख्या को क्रमशः पूगतिथ, गणतिथ और संघतिथ कहते थे। दिशादिगण में भी वर्ग, पूग और गण का एक साथ ग्रहण है। इससे भी इनकी उत्तरोत्तर विशालता के अनुमान की पुष्टि होती है।[5]

---

१. अश्रेणयः श्रेणयः कृताः श्रेणीकृताः। यदा हि श्रेणय एवं किञ्चित् क्रियन्ते तदा मा भूदिति।—२-१-५९, पृ० ३१६।

२. ४-४-८४।

३. ५-१-६०।

४. ४-२-१०४, पृ० २०८।

५. ४-३-५४।

अक और लक्षण—भाष्यकार ने अक और लक्षण का उल्लेख किया है। लक्षण लक्षित व्यक्ति का अपना निजी चिह्न होता है, जो उसे अन्यो से पृथक् करता है।[1] यह लक्षित व्यक्ति या वस्तु मे ही रहता है। उदाहरणार्थ, किसी मे विद्या की उत्कृष्टता उसकी परम्परागत विशेपता होती है। यह उसका लक्षण माना जायगा। अक बाहर से आरोपित चिह्न होता है। गायो, बैलो आदि पर पहचान के लिए बनाये गये चिह्न अक कहलाते हैं।[2] शासन मे प्रत्येक राज्य अपने लक्षण रखता था, जिनका उपयोग अन्य राज्यो के साथ व्यवहार मे होता था। मुद्राओ पर भी ये लक्षण अकित रहते थे। इसीलिए, कौटिल्य ने मुद्रा बनानेवाले अधिकारी को लक्षणाध्यक्ष कहा है। डॉ० जायसवाल के मत से अक विशिष्ट निर्वाचित अधिकारी की निजी मुहर था।

न्याय-व्यवस्था

धर्म और न्याय—भाष्यकार के समय तक धर्मसूत्रो की रचना हो चुकी थी और उनके आदेश आप्तवाक्यवत् मान्य थे। ईश्वर के बाद धर्मशास्त्रो के ही नियमो का स्थान था।[3] धर्म-सूत्रकारो ने दो प्रकार के धर्मनियमो का निबन्धन किया था। एक वे थे, जिनका सम्बन्ध व्यक्ति के सर्वथा निजी आचार-व्यवहार से था[4] और दूसरे वे थे, जो प्रत्यक्ष रूप से समाज से सम्बद्ध थे।[5] परम्परा से चली आती हुई प्रथाएँ भी धर्म के अन्तर्गत मानी जाती थी।[6] स्थूल रूप मे समाज द्वारा स्वीकृत उचित कर्म धर्म्य थे। उनके अनुकूल आचरण करनेवाला धार्मिक और उसके विरुद्ध व्यवहार करनेवाला अधार्मिक माना जाता था।[7] धर्म के अनुकूल कार्य धर्म्य था। न्याय्य और धर्म्य प्राय समानार्थी थे।[8] न्याय्य कृत्य वह हो सकता था, जो हर काल और देश मे उचित ठहराया जा सकता है।[9] यदि कभी किसी बात की न्याय्यता के विषय मे सन्देह उठ खड़ा होता, तो उसका निर्णय किसी विशेप दक्ष पुरुष द्वारा करा लिया जाता था। इस निर्णेता को स्थेय कहते थे।[10] स्थेय का निर्वाचन विवाद से सम्बद्ध पक्ष करते थे।

विवादो की श्रेणियाँ—कुछ विवाद राजकीय स्तर पर भी होते हैं। ये दो प्रकार के

---

१. ४-३-१२७, पृ० २५४।

२. लक्षण लक्ष्यभूतस्यैव चिह्नभूतं स्वं यथा विद्याविदानाम्। अङ्कस्तु गवादिस्योपि गवादीनां स्व न भवति।—वही, काशि०।

३. नैवेश्वर आज्ञापयति नापि धर्मसूत्रकाराः पठन्ति।—५-१-११९, पृ० ३५२।

४. ४-२-४६।

५. ४-४-४७।

६. ६-२-६५।

७. धर्मंचरति अधर्माच्चेति वक्तव्यम्।—४-४-४१, पृ० २७८।

८. ४-४-९२।

९. ३-३-३७।

१०. विवादपदनिर्णेता लोके स्थेय इत्युच्यते।—१-३-२३ काशि०।

होते हैं—साम्पत्तिक और आपराधिक। सम्पत्ति-सम्बन्धी मामले व्यवहार कहलाते थे।[1] इनके पक्षों को परिवादी[2] या परिवादक[3] कहते थे और निर्णेता को धर्मपति।[4] निर्णयों पर पहुँचने मे कभी-कभी शपथ का भी आश्रय लिया जाता था[5], पर सामान्यतया साक्ष्य के आधार पर निर्णय किये जाते थे। साक्षी पारिभाषिक शब्द था और वह साक्षाद् द्रष्टा ही हो सकता था। यो साक्षाद् द्रष्टा धनिक या उत्तमर्ण और अधमर्ण भी होते हैं, किन्तु भाष्यकार के अनुसार इन दोनो से भिन्न तीसरा उपद्रष्टा ही साक्षी माना जा सकता था।[6] जमानतदार को प्रतिभू कहते थे।[7] सम्पत्ति मे भागीदार दायाद अंशक या अंशहारी और उनकी सम्पत्ति दायाद कहलाती थी।[8] पाणिनि ने सम्पत्ति के उत्तरोत्तर प्रकृष्ट अधिकारियो को स्वामी, ईश्वर और अधिपति नाम दिये हैं[9] और साक्षी, दायाद तथा प्रतिभू का भी उनके साथ ही उल्लेख किया है।[10]

व्यवहार-न्यायालय मे ऐसे मामले जाते थे, जिनमे एक पक्ष अपह्नव से काम लेता था। पाणिनि ने धन लेकर या बिना धन दिये न लेने या देने के अपलाप के विषय में प्रयोगो के नियमन के लिए सूत्र बनाया है। काशिकाकार ने शत और सहस्र रुपयो के अपलाप के उदाहरण दिये हैं।[11] ऐसे विषयो मे धर्म्य और न्याय्य की जाँच के लिए शपथ का भी आश्रय लिया जाता था।[12] परीक्षा के बाद जिस अभियोग मे सचाई प्राप्त नही होती थी, उसे असार कहते थे। झूठे मुकदमे के विषय मे प्रयुक्त सार शब्द पारिभाषिक था और वह नपुसकलिंग मे ही प्रयुक्त होता था। सामान्य सार शब्द, जो कि उत्कर्ष-बोधक है, पुलिंग था।[13]

आरण्यक न्याय—न्याय के समक्ष धनी, निर्धन या सशक्त और शक्तिहीन का भेद नही था।

---

१. २-३-५७।

२. ३-४-१४२।

३. ३-२-१४८।

४. अश्वपत्यादि गण।—४-१-८४।

५. सत्यादशपथे सत्येन शापयेद् विप्रम् (मनु०)। इति तस्यायं निषेधः।—५-४-६६ का०।

६. साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम् संज्ञायामिति किमर्थम्? त्रिभि साक्षाद्दृष्टे भवति। यश्च ददाति यस्मै च दीयते यश्चोपद्रष्टा। तत्र सर्वत्र प्रत्ययः प्राप्नोति। संज्ञाग्रहणसामर्थ्याद् धनिकान्तेवासिनोर्न भवति।—५-२-९१, पृ० ४०२।

७. २-३-३९।

८. १-४-५०, पृ० १७५ तथा २-१-१, पृ० २२८।

९. २-३-३९।

१०. वही।

११. ऐकागारिकटचोरे इदं तर्हि प्रयोजनं चोर इति वक्ष्यामि।—५-१-११३, पृ० ३४।

१२. ३-१-२५, पृ० ६५।

१३. सारशब्द उत्कर्षे पुल्लिङ्गो न्यायादनपेते नपुंसकं तत्सारमिति।—२-४-३१ काशि०।

इसके विपरीत स्थिति अरण्यो की थी, जहाँ बलवान् कमजोर को निगल जाता है। इस स्थिति को भाष्यकार ने 'आरण्यक न्याय'[1] कहा है, जिसके निराकरण के लिए न्याय-विभाग की स्थापना की गई थी।

स्तैन्यापराध—आपराधिक मामलो मे, जिनके लिए राजदण्ड दिया जाता था, स्तैन्य, दस्युकार्य और हत्या प्रमुख माने जाते थे। स्तैन्य के अनेक प्रकार थे। अकेले घर मे किसी को न देखकर घुस जाना[2] और द्वार बन्द हुए, तो किवाड तोडकर मालमत्ता उड़ा ले जाना इस युग मे सामान्य बात थी।[3] वृक, चोर और दस्यु इन तीन के भयों का भाष्य मे पुन-पुन उल्लेख इस बात का प्रमाण है।[4] चोरो के नाम उनके चौर्य-प्रकार पर रखे गये थे। यथा, ऐकागारिकक, पाटघ्न आदि। सामान्य चोर के लिए तस्कर,[5] प्रणाय्य[6] आदि तथा डकैत के लिए दस्यु शब्द का प्रयोग भाष्य मे मिलता है। दस्यु-कर्म साहसिक्य या साहस-कर्म भी कहलाता था। भाष्यकार ने कहा है कि अच्छा चोर आँखो से काजल तक चुरा सकता है और अच्छा डकैत भागते हुए का भी रक्त पी सकता है। उन्होने इन्हे चोररूप और दस्यु-रूप की सञ्ज्ञा दी है।[7] इन दोनो के बीच की श्रेणी लुण्ठाको की थी।[8] ये लोग रास्ते के किनारे छिपे रहते थे और राहगीरो पर अचानक छापा मारकर उन्हे लूट लेते थे। ये लोग पारिपन्थिक कहलाते थे।[9] कभी-कभी वे यात्रियो को मार डालते थे या बाँधकर डाल देते थे। एक गाँव से दूसरे गाँव को जाने मे चोरो और लुटेरो का भय अधिक रहता था।[10] राज्य चोरो और दस्युओ से लोगो की रक्षा करने मे समर्थ नही थे, यह स्पष्ट है। इसीलिए, भाष्यकार ने प्रेक्षापूर्वकारी पुरुष को चारो ओर से दस्युओ से बच-बचकर रहने का परामर्श दिया है।[11]

हत्यापराध—इनके अतिरिक्त हत्याओ का प्रचार पतजलि के समय मे बहुत अधिक था।।

---

१. ४-२-१२९, पृ० २१६।

२. १-३-४४ काशि०।

३. ३-२-४४।

४. १-४-५०, पृ० १७५ तथा २-१-१, पृ० २२८।

५. तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च—तस्करः।—६-१-१५७, पृ० १९४।

६. ३-१-१२८।

७. चोररूपोयम्। अप्ययमक्ष्णो रञ्जनं हरेत्। दस्युरूपोयम्। अप्ययं धावतो लोहितं पिबेत्।—५-३-६६, पृ० ४६०।

८. ३-२-१५५।

९. ४-४-३६।

१०. चोरेभ्यस्त्रायते, दस्युभ्यस्त्रायते इति।—२-३-३५, पृ० ४३०।

११. य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति यदीमं चोराः पश्यन्ति ध्रुवमस्य वधबन्धन परिक्लेशा इति स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्त्तयति।—१-४-२५, पृ० १६२, तथा २-३-३५, पृ० ४३०।

मातृहा, पितृहा, भ्रातृहा,[१] भ्रूणहा,[२] कुमारघाती, राजघ[३] और सिर फोड डालनेवाले शीर्षघाती[४] लोगो का इस युग मे बाहुल्य था। पुरुष की हत्या के लिए भाष्य मे 'पौरुषेयवध' शब्द का भी प्रयोग हुआ है।[५] आत्महत्या अपराध मानी जाती थी या नही, यह भाष्य मे स्पष्ट नही है, किन्तु कष्टो से ऊबकर लोग आत्मघात अवश्य करते थे।[६] आत्मघात का सरल उपाय था विष-भक्षण। ब्राह्मणो मे पत्नियो को और वृषलो मे पति को मार डालना सामान्य बात थी। ब्राह्मणो और वृषलो का यह एक लक्षण ही बन गया था।[७] ब्रह्महत्या यद्यपि बहुत बड़ा अपराध माना जाता था, फिर भी ब्रह्महत्याएँ होती थी।[८] यही बात भ्रूणहत्या के विषय मे कही जा सकती है। भाष्य मे भ्रूण हत्या का बार-बार उल्लेख मिलता है।[९]

दण्ड—यह तो स्पष्ट नही है कि किस अपराध के लिए राज्य की ओर से कौन-सा दण्ड दिया जाता था, फिर भी दण्ड के प्रकारो के विषय मे भाष्य से कई सूचनाएं उपलब्ध होती हैं। आर्थिक दण्ड वैयक्तिक भी होते थे और सामूहिक भी। सामूहिक दण्ड कुटुम्ब-विशेष के लिए दिये जाते थे। राज्य इस बात की चिन्ता नही करता था कि दण्डित कुल के किस सदस्य ने दण्ड का रुपया चुकाया और किसने नही। जुरमाने की पूरी रकम का वसूल हो जाना उसके लिए पर्याप्त था। राजा लोग धन के लोभी थे।[१०] भाष्य मे द्विपाद और द्विशत कार्षापण के दण्ड का उल्लेख है।[११]

शारीरिक दण्ड भी कई प्रकार के थे। यथा—सामान्य मारपीट, कोडे लगाना, मूसल से मारना[१२], अगविशेष काट लेना, सिर काट लेना, कुत्तो से चिथवाकर मार डालना, विष देकर मार डालना[१३] तथा शूली-फाँसी द्वारा, जिसे वध की सामान्य सज्ञा दी गई थी, मार देना।

---

१. ३-२-८७, पृ० २३५।
२. वही।
३. ३-२-५५, पृ० २१९।
४. ३-२-८४, पृ० २३३।
५. ५-१-१०, पृ० ३२०।
६. १-४-५०, पृ० १७५।
७. ३-२-५२, पृ० २१८।
८. ३-२-८५, पृ० २३५।
९. ३-१-१०८, पृ० १८५।
१०. गर्गाः शतं दण्ड्यन्ताम्। अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ति न च प्रत्येकं दण्डयन्ति।—१-१-१, पृ० १०३।
११. ५-४-२, पृ० ४८२।
१२. ५-१-६४, ६५, ६६, तथा दण्डादि गण में दण्ड मूसल, कशा, वध।
१३. ४-४-९१।

जिसका अपराध सिर काट लेने योग्य माना जाता था, उसे शीर्षच्छेद्य या शैर्षच्छेदिक कहते थे।[1] इसी प्रकार, दण्ड्य, मूसल्य, कश्य, वध्य आदि विशेषण अपराधानुसार निश्चित किये गये थे। अगच्छेद के योग्य अपराधी छेद्य कहलाता था।[2] अपराधी वृषल को कुत्तो की मौत मार डाला जाता था।[3] यही हाल दस्युओ का किया जाता था।[4]

१. शीर्षच्छेदाद्यच्च ५-१-६५।
२. ५-१-७६, पृ० ३३५।
३. श्वघात्यो वृषलः ३-१-१०७, पृ० १८५।
४. आघ्नते दस्युहत्यायदस्युहत्या श्वहत्या वर्त्तते।—३-१-१०८, पृ० १८५।

अध्याय ३

सेना

युद्ध-कला—भाष्य मे व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनो प्रकार के युद्धो का उल्लेख मिलता है। व्यक्तिगत शक्ति एव युद्ध-कला-नैपुण्य शोभा की वस्तु थे। मल्लविद्या, मुष्टिक-विद्या तथा नानाप्रकार की प्रहरण-क्रीडाएँ[1], जिनमे लाठी तथा आत्मरक्षा के अन्य साधनो का अभ्यास किया जाता था, इस समय खूब प्रचलित थी। मल्ल और मुष्टिक की पकड़ के लिए एक विशिष्ट शब्द 'सग्राह'[2] प्रचलित था। पुरुष व्याघ्रवत् शूर बनने मे गौरव का अनुभव करते थे।[3] जिन गाँवो मे वीर पुरुष रहते थे, उनका विशेष सम्मान होता था।[4] वीरो की इन कलाओ मे प्रतियोगिताएँ भी होती थी। स्पर्धा मे प्रतिपक्षी को ललकारने मे 'आह्वयते' आदि 'ह्वे' धातु के आत्मनेपदीय रूप व्यवहृत होते थे।[5]

दूसरे प्रकार के युद्ध सामान्यतया राजाओ के बीच होते थे।[6] शत्रुओ से अपनी रक्षा करने के लिए तथा प्रतिपक्षी पर प्रहार करने के लिए राजा लोग दृढ सेनाओ का सगठन करते थे।[7] ये युद्ध सेना के बल पर लड़े जाते थे। परिमाण तथा गुण के आधार पर सामान्य, परम और उत्तम सेनाएँ थी।[8] जय-पराजय इन्ही के सुसगठन पर निर्भर थी।[9]

सेना के अंग—सेना के चार अग थे—हाथी, घोड़े, रथ और पैदल। भाष्यकार ने इन्ही के द्वारा सग्राम का प्रतिविधान बतलाया है।[10] सग्राम शब्द से अनुमान होता है कि प्रारम्भ मे ग्राम-रक्षा के लिए एकत्र जन-समूह और बाद मे युद्धार्थ एकत्र समूह सग्राम का अग रहा। भाष्य से यह स्पष्ट नही होता कि सेना मे किस वर्ण के लोग रहते थे और जो लोग रहते थे, वे स्थायी होते थे

---

१. ४-२-५७।

२. मल्लस्य संग्राहः मुष्टिकस्य संग्राहः।—३-३-३६, पृ० ३०३।

३. पुरुषोऽयं व्याघ्र इव शूरः पुरुषोऽयं व्याघ्र इव बलवान्।—२-१-५६, पृ० ३१२।

४. २-१-६९, पृ० ३२३।

५. १-३-३१।

६. सम्प्रहरन्ते राजानः।—१-३-३५, पृ० ६०।

७. दृढ़ सेनो राजा—२-४-१९, पृ० ४७०।

८. वही।

९. पराजयति सेना।—१-३-१९, पृ० ६०।

१०. देवदत्तस्य समाशं शरावैरोदनेन ज यज्ञदत्तः प्रतिविधत्ते तथा संग्रामं हस्त्यश्वरथ-पदातिभिः।—१-१-७२, पृ० ४४७।

था केवल युद्ध-प्रसगों पर भरती कर लिये जाते थे। डॉ० जायसवाल के अनुसार ईसा-पूर्व छठी शताब्दी तक राजाओ के पास स्थायी सेना नही रहती थी।[1] इस समय तक सगठित सेना के पत्ति और रथी ये दो ही अग थे। चतुरगवल महाभारत मे ही सर्वप्रथम उपलब्ध होता है। भाष्यकार के समय मे सेनागो के स्पष्ट विभाग हो चुके थे एव हस्ती और अश्व उसके महत्त्वपूर्ण अग थे।[2] वैदिक काल मे भी सेना के दो ही अग मिलते है—पत्ति और रथी। महाभारत (शान्ति पर्व, १०३-३८) मे सेना के चतुरगो का वर्णन है। मुख्य चतुरगो के अतिरिक्त भारवाहक, शिप्स, गुप्तचर और स्थानीय निर्देष्टा इन्हे मिलाकर सेना के कुल आठ अग हो जाते हैं।[3]

सेना-संगठन—सेना का सगठन सामान्यतया क्षत्रियो से होता था, किन्तु ब्राह्मण भी सेना मे काम करते थे। काशिकाकार ने इस ओर स्पष्ट सकेत किया है।[4] सेनापति पुष्यमित्र शुग स्वय ब्राह्मण थे, किन्तु ये अपवाद-मात्र थे, इसीलिए युद्धविद्या और धनुर्विद्या क्षत्रविद्या मानी जाती थी। भाष्य मे भी इसे क्षत्र-विद्या ही कहा है।[5] वैदिक काल मे अवश्य विश् युद्ध मे बराबर भाग लेते थे।[6] ग्रामणी, जिसपर ग्राम-रक्षा का भार रहता था, वैश्य ही होता था।[7] फिर भी, श्री पी० सी० चक्रवर्ती के मत से यह धारणा, सैनिक का कार्य केवल क्षत्रियो का एकाधिकार था, भ्रान्त है।[8] ह्वीलर (हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, भाग १, पृ० ७७) का कथन है कि कुछ अतिप्राकृत कहानियों को छोडकर अन्यत्र कही ब्राह्मण सैनिक के रूप मे चित्रित नही हुए हैं, ठीक नही जान पड़ता।

सेनापति—सेनापति सेना का सर्वोच्च अधिकारी होता था। भाष्यकार ने इसे सर्वत्र सेनानी कहा है।[9] सेनानी और सूत शतपथ (५-३-१)-काल मे ही राजा के रत्नियो मे गिने जाते थे। सेनानी के साथ बार-बार उल्लिखित ग्रामणी भी ग्राम मे सैनिक-मुख्य का काम करता था। भाष्यकार के समय मे ग्रामणी और सेनानी दोनो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सैनिक-पद थे।[10] इनके कारण इनके परिवार या कुल भी सम्मानित माने जाते थे। सेनानिर्पुत्र और सेनानिकुमारीपुत्र का राजकुमारी और राजकुमारीपुत्र के साथ उल्लेख उनकी राजनीतिक प्रतिष्ठा का परिचायक है।[11]

---

१. हिन्दू पालिटी, पृ० १८८, ९०।

२. २-४-२, पृ० ४६२ तथा २-४-१२, पृ० ४६६।

३. शान्तिपर्व, १-३-३८ तथा बी० के० मजूमदार: मिलिटरी सिस्टम इन एन० इण्डिया।

४. ब्राह्मणसेनम्।—२-४-२५।

५. ४-२-६०, पृ० १८७।

६. ऋग्० १-६९-३ तथा १-१२६-५।

७. वै० इण्डेक्स १-२०४।

८. दि आर्ट ऑफ् वार इन० इण्डिया।

९ १-१-६० पृ० ३६२

१०. ६-३-१, पृ० २९७।

११. १-२-४८, पृ० ५४५ तथा ६-१-७१।

ग्रामणिभोगीन और सेनानिभोगीन शब्द उन्हे दी जानेवाली शारीरिक सुख-सुविधाओ के सूचक हैं। इनके साथ राजभोगीन और आचार्यभोगीन शब्द भी आये हैं जो इन पदो को आचार्य और राजा के लगभग समान सूचित करते हैं।[१] अधिक अधिकार-सम्पन्न ग्रामणी और सेनानी ग्रामणीतर तथा सेनानीतर कहे जाते थे।[२] इनके अतिरिक्त अश्वपति, शतपति,[३] अनुशतिक,[४] रथगणक, पत्तिगणक[५], पृतनाषाह्,[६] सेनाचर[७] आदि कुछ सेनाधिकारियो के नाम गणपाठो मे मिलते हैं।

सैन्य—सेना के सामान्य सिपाही को सैन्य कहते थे। यह सेना में समवेत, अर्थात् बाहर से आकर उसमे मिलकर एक बन गया व्यक्ति माना जाता था।[८] सैन्यो मे हस्तिपक[९] तथा हस्त्यारोही के अतिरिक्त रथिक, आश्विक और पदाति का भाष्य मे उल्लेख है। रथिक अन्तिम तीनों में शीघ्रगामी और आश्विक शीघ्रतरगामी था।[१०] अश्ववार या अश्वपाल का स्थान रथी के बाद था।[११] सेनानीतर के समान रथीतर भी विशिष्ट रथी का वाचक था।[१२] उष्ट्रसादि[१३] भी सेना के अग रहे होगे, यद्यपि उष्ट्र सेना का अग बतलाया नही गया है। पदाति, पदाजि और पदिक[१४] एव पत्काषी[१५] या पत्ति (याजकादि) ये पैदल-सेना के नाम थे। पाणिनि ने साल्व-प्रदेश के पदाति-वर्ग का विशेषत. उल्लेख किया है। सम्भवत, यहाँ की पदाति-सेना विशेषत प्रशिक्षित होती थी।[१६] सेना के ये चारों प्रकार के सैनिक राजयुध्वा कहलाते थे।[१७]

प्राचीन सैन्य-मूर्त्तियाँ—इस काल के सिक्कों तथा प्रस्तर-मूर्त्तियो से प्राप्त विवरणों से भी पतजलि के एतद्विषयक उल्लेखो का समर्थन होता है। इस समय के ग्रीक, सीथियन और पार्थियन मूर्त्ति-चित्रों में यवन आक्रमणकारी राजाओ को कवचधारी दिखाया गया है। उनके सिर पर

---

१. ५-१-९, पृ० १००।
२. ६-३-४३।
३. ४-१-८४।
४. ७-३-२०।
५. ५-१-१२९।
६. ८-३-१०९।
७. ३-२-१७।
८. ४-४-४५।
९. १-३-६७, पृ० ८५।
१०. रथिक आशुगच्छत्याश्विकश्चिरेण पदातिश्चिरतरेण।—१-१-७०, पृ० ४४५।
११. ८-२-१८, पृ० ३४८।
१२. ८-२-१७, पृ० ३४१।
१३. ६-२-४०।
१४. ६-३-५२, ५३, पृ० ३३८।
१५. वही।
१६. ४-२-१३५।
१७. ३-२-९५।

टोप तथा हाथो मे असि और शक्ति (भाले) है। कुछ शासक हाथी या घोड़े पर सवार है। इनमे कुन्त, यष्टि आदि आयुधो के भी दर्शन होते है।[1] भारत की ईसा-पूर्व दूसरी और पहली शती की मूर्त्तिकला से भी इस बात की पुष्टि होती है। भरहुत के स्तूप पर अश्वो से खीचे जाते हुए रथ, नावें, बैलगाडियाँ, नाव, पुरानी शैली की तलवारे तथा पदातियो का जुलूस अकित है।[2] साँची के स्तूप, स० १ मे भी जहाँ बुद्ध के अस्थि-अवशेषो के लिए कुशीनारा के मल्लों पर अन्य क्षत्रिय-वशो का आक्रमण और घेरा दिखलाया गया है, वहाँ भी रथ और गज खुदे हुए हैं। विजेतागण रथो पर सवार है और गजमस्तक पर अवशेष रखे हुए हैं। इसी स्तूप मे प्राकार खुदे है। दक्षिण और पश्चिम के पिछले तोरणो पर यह सघर्ष विशद रूप से अकित है।[3] पत्ति सेना का विस्तृत रूप साँची और भरहुत दोनो स्थानो मे उपलब्ध है। इन प्राकारो के अकन के विषय मे रीज डेविड्स ने लिखा है कि सम्भवत पुराणतर काल से प्राकार एक ही प्रकार के बनाये जाते है।[4] इस प्रकार महाभारत और पतजलि के चतुरग बल का कलात्मक अकन भरहुत और साँची की कला मे उपलब्ध है।

सेना की रचना—परिमाण की दृष्टि से पत्ति, सेनामुख, गुल्म, गण, वाहिनी, पृतना, चमू, अनीकिनी और अक्षौहिणी क्रमश उत्तरोत्तर विशाल सगठन थे। इनमे पत्ति और सेना का उल्लेख ऊपर हो चुका है। पृतना और अनीक वैदिक शब्द है। भाष्यकार ने इनका उल्लेख किया है।[5] गुल्म के नायक को गौल्मिक कहते थे।[6] अक्षौहिणी का उल्लेख पाणिनि ने नही, वार्त्तिककार एवं भाष्यकार ने किया है।[7] महाभारत के आदिपर्व (२-१९) के अनुसार इन घटको की सैनिक सख्या इस प्रकार होती थी—

घटक	रथ	हस्ती	अश्व	पदाति
पत्ति	१	१	३	५
सेनामुख	३	३	९	१५
गुल्म	९	९	२७	४५
गण	२७	२७	८१	१३५
वाहिनी	८१	८१	२४३	४०५
पृतना	२४३	२४३	७२९	१२१५
चमू	७२९	७२९	२१८७	३६४५
अनीकिनी	२१८७	२१८७	६५६१	१०९३५
अक्षौहिणी	२१८७०	२१८७०	६५६१०	१०९३५०

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, जिल्द १, भाग ७, पृ० ३८९।
२. कनिंघम: दि स्तूप ऑफ् भरहुत, प्लेट-सं० ३२।
३. मार्शल: ए गाइड टु साँची, प्लेट-स० ४, ५ तथा २६, २७।
४. बुद्धिस्ट इण्डिया, भारतीय सं०, पृ० ४७।
५. ६-१-६३, पृ० ८६ तथा ५-४-३०, पृ० ४९१।
६. ४-२-१०४, पृ० २०८।
७. ६-१-८९, पृ० १३८।

शान्ति-पर्व (१००-३१) मे वर्णित घटको का निर्माण १०-२०-३०-४० के ढग पर है। व्यूह की दृष्टि से अनेक प्रकार की सेनाओ मे उलूक-पुच्छी रचना से भी भाष्यकार परिचित थे।[1] काशिकाकार ने 'दन्तावल' भी सेना का प्रकार वतलाया गया है।[2] सेना का अग्रभाग सेनामुख और पश्चभाग सेना-जघन कहलाता था। दिगादिगण (४-३-५४) मे इसी अर्थ मे मुख और जघन शब्द परिगणित हैं।[3]

क्षौद्रक मालवी सेना—भाष्यकार के समय मे सर्वाधिक प्रख्यात सेना, जिसका उन्होने विशेषत उल्लेख किया है, क्षौद्रकमालवी थी। यह शब्द सेना के लिए रूढ था। क्षुद्रक-मालवो से सम्वद्ध अन्य वातो के लिए 'क्षौद्रकमालवक' शब्द व्यवहृत होता था। यह वात इस सेना की प्रसिद्धि की द्योतक है। सिकन्दर के आक्रमण के लगभग डेढ सौ वर्षों के वाद भी इस सेना का यश स्थिर वना रहा। ग्रीक इतिहासकारो के अनुसार मेसिडोनियन आक्रमण के समय इस सेना मे १३० हाथी, १००० रथ, ५००० घोडे और १७०००० (८०००० क्षुद्रक, ९०००० मालव) पदाति सैनिक थे।[4] अकेले क्षुद्रको ने भी ग्रीक आक्रमणकारियो को परास्त किया था। भाष्यकार ने वार-वार असहाय (अकेले) क्षुद्रको की विजय का उल्लेख किया है।[5] स्वय पुष्यमित्र की सेना भी इस समय अत्यन्त सवल थी, जिसके वल पर पुष्यमित्र ने युथिडेमस के पुत्र, वैक्ट्रिया के राजा डेमोट्रियस के आक्रमण को विफल कर दिया था।[6] यद्यपि भाष्य मे पुष्यमित्र की सेनाशक्ति का विशेष विवरण नही प्राप्त होता, फिर भी यवनो द्वारा साकेत और मध्यमिका (चित्तौड की नागरी) पर घेरा डालने के विषय मे महाभाष्यीय उल्लेख[7] तथा कालिदास के मालविकाग्निमित्र मे वर्णित वसुमित्र द्वारा सिन्धु (मालवा की कालीसिन्ध) के तट पर यवनराज की पराजय से उसके वल का अनुमान किया जा सकता है। ग्रीक आक्रमणो की शृखला मे डेमोट्रियस का आक्रमण अन्तिम था। पुष्यमित्र ने राज्य की प्रतिरक्षा के लिए अन्तपालो को नियुक्त कर उन पर सीमा की सुरक्षा का दायित्व सौप दिया था।[8] कालिदास के अनुसार नर्मदा-तट पर वीरसेन उसका अन्त पाल था।

संग्राम—सग्राम को आहव भी कहते थे[9]। पाणिनि ने संग्रामो के नामकरण के दो आधार वतलाये है—प्रयोजन और योद्धा। यदि सग्राम का प्रयोजन सुभद्रा की प्राप्ति हुई, तो उस सग्राम

---

१. ४-१-५५, पृ० ६९।

२. ५-१-११३, काशि०।

३. ४-३-५४ काशि०।

४. मैक्रिण्डिल: इण्डिया एण्ड इट्स इनवेजन वाई अलैग्जेण्डर, पृ० २७८।

५. ५-३-५२, पृ० ४४३।

६. स्मिथ: अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, पृ० २११ तथा रायचौधरी पालि० हिस्ट्री ऑफ् ऐन इण्डिया, पृ० २६७ तथा गंगानाथ झा: रिसर्च इन्स्टी० जर्नल, जिल्द ४, भाग १, नव० १९४०।

७. भण्डारकर: डेट ऑफ् पतंजलि, इडियन ऐण्टिक्वेरी, १८७२, पृ० ३००।

८. मालविकाग्निमित्र, प्रथम अंक।

९. ३-३-७३।

को सौभद्र कहते थे। इसी प्रकार, यदि किसी युद्ध मे लडनेवाले लोग भरत हुए, तो उस युद्ध का नाम भारत पड़ जाता था। इसी आधार पर कौरव-पाण्डव-युद्ध का नाम भारत-युद्ध पड़ गया था, जो आगे चलकर महाभारत बन गया।[१] महाभारत का उल्लेख पाणिनि ने भी किया है।[२]

सेना-संचालन—शत्रु के प्रति सेना-सचालन के लिए 'अभिषेणयति' और कवच-धारण की क्रिया को 'सवर्मयति' ये विशिष्ट प्रयोग व्यक्त करते थे।[३] सभी सैनिक कवच धारण करते थे। इस क्रिया के लिए पतजलि ने 'युद्धाय सन्नह्यते' इस विशेष वाक्य का प्रयोग किया है।[४] सनद्ध शब्द का मूल अर्थ युद्ध के लिए तैयार होना था, जो बाद मे 'किसी भी काम की तैयारी' हो गया। सैनिक-जीवन मे प्रवेश की आयु निश्चित थी। उस आयु को प्राप्त योद्धा कवचहर कहलाता था।[५] कवच-हर अवस्था तारुण्य का प्रवेश-काल था। कवच धारण करनेवाले कवची और उनका समूह कावचिक कहा जाता था।[६] युद्ध-जय के पश्चात् लूट या भेट मे धन की प्रचुर प्राप्ति होती थी। भाष्य मे प्रत्येक युद्ध मे धन जीतकर लाने का उल्लेख है।[७]

सैनिकों के वर्ग—सैनिक का परिचय उसके द्वारा प्रयुक्त किये जानेवाले अस्त्र या शस्त्र से दिया जाता था। असि चलानेवाला आसिक और परश्वध चलानेवाला पारश्वधिक कहलाता था।[८] इसी प्रकार शाक्तीक और याष्टीक सैनिक इन अस्त्रो के प्रयोग मे निपुण होते थे।[९] भाष्य मे शाक्तीकी और याष्टीकी स्त्री-सैनिको का उल्लेख मिलता है। सम्भवत, ये राजप्रासादो की रक्षा करनेवाली अन्त पुर मे नियुक्त सैनिकाएँ थी।[१०] रथ से युद्ध करनेवाला रथी होता था और श्रेष्ठ रथी रथीतर कहलाता था।[११]

युद्ध के नियम—युद्ध के कुछ नियम थे। योद्धा अपनी श्रेणी के ही सैनिक से युद्ध करते थे। रथी रथियो से और आश्विक आश्विको से भिडते थे।[१२] इसी प्रकार, दो सैनिक एक ही अस्त्र लेकर परस्पर प्रहार करते थे। असिधारी के साथ दूसरा सैनिक असि से ही लड़ता था।[१३] एक दूसरे के

---

१. ४-२-५६।
२. ६-२-३८।
३. ३-१-२५।
४. १-४-३२, पृ० १६८।
५. ३-२-१०।
६. ४-२-४१।
७. धनञ्जयो रणे रणे।—३-३-५८, पृ० ३०८।
८. ४-४-४७, ४८, ५९, पृ० २८१।
९. ४-४-५९, पृ० २८१।
१०. ४-१-१५, पृ० ४१।
११. ८-२-१७, पृ० ३४१।
१२. रथी रथिनमपलापयते।—६-१-४८, पृ० ७९।
१३. अश्वैर्युद्धम्, असिभिर्युद्धम्।—५-१-५९, पृ० ३३३।

केश पकड़-पकड़कर या परस्पर लाठी मार-मारकर किये जानेवाले युद्ध केशाकेशि और दण्डा दण्डि आदि कहलाते थे।[1]

प्रहरण—युद्ध मे प्रयुक्त होनेवाले प्रहरणो को आयुध कहते थे।[2] ये दो प्रकार के थे—सरक्षात्मक और प्रहरणात्मक। संरक्षात्मक आयुधो मे वर्म या कवच का उल्लेख ऊपर हो चुका है। आवरण चर्म या ढाल को कहते थे, जो गैंड़े के चमड़े का होता था। इसी चर्म के लिए द्वीपी को मारने का उल्लेख भाष्यकार ने किया है।[3] शिरस्त्राण शिरोरक्षा के लिए पहने जाते थे, क्योकि शीर्षघात युद्ध के नैतिक नियमो के अनुकूल था। भाष्यकार ने एकाधिक वार सिर पर प्रहार करने की चर्चा की है।[4]

प्रहरणात्मक आयुधो मे असि, धनुष, बाण, कुन्त, शक्ति, यष्टि, परशु, आरागस्त्री, मूसल, लांगल, अंकुश, दण्ड आदि के नाम भाष्य मे मिलते हैं। धनुष ताल के भी बनते थे।[5] इन्हे कार्मुक भी कहते थे। क्रमुक नामक वृक्ष की लकडी से बनाये जाने के कारण यह नाम पडा था।[6] बाद मे अन्य वृक्षो की लकड़ी का भी व्यवहार होने लगा और कार्मुक का मूल अर्थ विस्मृत कर दिया गया। क्रमुक का उल्लेख काठक (१९-१०), शतपथ (६-६-२-११) और कौषीतकी (२८) ब्राह्मण मे मिलता है। बाद मे कार्मुक की व्याख्या करते हुए क्रिया मे समर्थ होने के कारण वैयाकरणो ने उसका यह नाम माना है।[7] बाण धारण करने के कारण कार्मुक को इष्वास नाम दिया गया था। बड़े आकार के धनुष महेष्वास कहे जाते थे।[8] भाष्य मे गाण्डीव, अजगव और शार्ङ्ग ये विशिष्ट प्रसिद्ध धनुषो के नाम आये हैं। धनुष मे दृढता का ध्यान सर्वाधिक रखा जाता था। इष्वास एक कोस की दूरी से भी लक्ष्य वेध कर सकता था।[9] युद्ध का अधिकाश धनुष से लड़ा जाता था। धनुष को भाष्य मे नखमुच, अर्थात् नखो को छील देनेवाला कहा है।[10] धनुष के बाद असि का प्रयोग सर्वाधिक होता था। असिवध्य,[11] अस्युद्यत,[12] असि के सहारे[13] युद्ध, अश्वो के सहारे युद्ध जैसे कथनो की पौन:पुनिक आवृत्ति इसका प्रमाण है। साधारणतया लोग असि या दण्ड हाथ में लेकर चलते थे।[14]

---

१. २-२-२७, पृ० ३७७।
२. आयुध्यन्ते तेनायुधम्।—३-३-५८, पृ० ३०८।
३. चर्मणि द्वीपिनं हन्ति।—२-३-३६, पृ० ३९२।
४. इदं ते शिरो भिनते।—६-१-६०, पृ० ८४ तथा शीर्षघाती।—३-२-८४, पृ० २३२।
५. ४-३-१५२।
६. वाज० सं० ११-७० महीधर भाष्य
७. ५-१-१०३।
८. ६-२-३८।
९. इहस्थोयमिष्वासः क्रोशाल्लक्ष्यं विध्यति।—२-३-७, पृ० ४१०।
१०. ३-२-५, पृ० २१०।
११. ३-१-९७, पृ० १८२।
१२. २-२-३६, पृ० ३९२।
१३. ५-१-५९, पृ० ३३३।
१४. असिपाणिः दण्डपाणिः।—२-२-३६, पृ० ३९२।

असि कुक्षि मे लटकाई जाती थी, इसीलिए इसे कौक्षेयक भी कहते थे।[1] इसका म्यान चमडे का वनाया जाता था।[2] रक्त वरसाने के कारण इसका एक विशेषण सेकिम भी प्रचलित था।[3] कृपाण शब्द भी भाष्य मे आया है।[4] धनुष के प्रहार को वेघ और असि के प्रहार को छेद कहते थे।[5] कुन्त या भाला फेककर मारा जाता था। यष्टि भी फेककर मारते थे। यष्टि और दण्ड मे अन्तर था। दण्ड वडा मोटा लट्ठ होता था।[6] कुन्त भी हाथ मे लेकर चलने की प्रथा थी। शक्ति या सागा भाले का ही एक प्रकार था। यह फेककर मारी जाती थी। लागल केवल ध्वज-चिह्न ही नही था, अस्त्र के रूप मे भी व्यवहृत होता था। अकुश और तोमर (एक प्रकार की वरछी) भी युद्ध मे प्रयुक्त होते थे। भाष्यकार ने शक्ति-ग्रह, लागल-ग्रह, अकुश-ग्रह, यष्टि-ग्रह, तोमर-ग्रह और धनुर्ग्रह का एक साथ उल्लेख किया है।[7] मूसल शस्त्र था। उसे चलाने का नियमित अभ्यास किया जाता था।[8] प्राणदण्ड पाये हुए अपराधी भी असि और मूसल से मारे जाते थे।[9] शस्त्री या छुरी लोहे की वनती थी। उसका रग श्याम वतलाया गया है।[10] यह तीक्ष्ण, पतली और लम्बी होती थी।[11] आरा भी शस्त्री का एक भेद था।[12] परशु फरसा प्रसिद्ध ही है। दूसरो या शत्रुओ के काटने का काम करने के कारण यह परशु कहलाता था।[13] शक्ति की ही श्रेणी का एक आयुध किटक भी था।[14] भाष्य ने प्रहरणो के आयुध और आविध ये भेद किये है। शक्ति, किटक, कुन्त आदि प्रक्षेपास्त्र आविध कहलाते थे।[15]

अवहार—दो पक्षो मे सम्पन्न होनेवाले युद्धोत्तर समझौते या सधि को अवहार कहते थे।[16] अवहार के पश्चात् दोनो पक्ष अपने-अपने अस्त्र समेटकर मैत्री-भाव प्राप्त कर लेते थे।

---

१. ४-२-९६, पृ० २०२।
२. चार्मः कोशः।—६-४-१४४, पृ० ४८३।
३. ४-४-२०, पृ० २७६।
४. ८-२-२८, पृ० ३४२।
५. १-४-१, पृ० १०९।
६. ४-१-४८, पृ० ५९।
७. ३-२-९। पृ० २१०, ११।
८. २-२-३६, पृ० ३९२।
९. ३-१-९७, पृ० १८२।
१०. शस्त्रीश्यामा।—१-४-१, पृ० १०६।
११. वहवः शस्त्रयां गुणास्तीक्ष्णा सूक्ष्मा मृद्वुरिति।—२-१-५५, पृ० ३०९।
१२. ३-३-१०४, पृ० ११४।
१३. परान् शृणातीति परशुः।—१-१-६१, पृ० ३९४।
१४. १-४-१०१, पृ० २०८।
१५. आविध्यन्त्यनेनाविधम् आयुध्यन्ते तेनायुधम्।—३-३-५८, पृ० ३०८।
१६. अवह्रियन्तेस्मिन् (शस्त्राणि) इत्यवहारः।—३-३-१२१, पृ० ३१८।

अध्याय ४

जनपद और जनपदी

विश् और जन—महाभाष्य मे जनपदो की चर्चा वार-वार मिलती है। जन या विशिष्ट लोगो के निवास की भूमि होने के कारण विशेष भू-भाग जनपद कहलाते थे। ऋग्वेद मे जन शब्द तत्कालीन सर्वप्रमुख राजनीतिक सगठन के रूप मे मिलता है। यह कई विश् का समूह था। विश् मे कई ग्राम सम्मिलित रहते थे। विश् और जन तथा ग्राम और विश् का पारस्परिक सम्वन्ध ऋग्वेद मे स्पष्ट नहीं है। ब्राह्मण-काल तक आते-आते विश् का अस्तित्व समाप्तप्राय हो गया और जन एव गोत्र सर्वाधिक विभाजक तत्त्व वन गये। सामान्य जन-सख्या वैश्य (विश्) कहलाने लगी।

जनपद—पतजलि के समय मे जनपद विषय या देश को कहते थे। डॉ० जायसवाल के मत से जनपद मे किसी राज्य की राजधानी को छोडकर शेष सारा क्षेत्र सम्मिलित माना जाता था। राजधानी, जिसे पुर, नगर या दुर्ग कहते थे, उसमे नहीं गिनी जाती थी।[1] जनपद का मूल अर्थ जन या विशेष क्षत्रिय-वर्ग की निवासभूमि, अभी तक विस्मृत नहीं हो पाया था। जनपदो के नाम उनके मूलजनो के नाम पर ही प्रचलित थे। उनके राजा या शासक भी उसी मूलजन के वशज थे।[2] उनके निवासियो मे भी उसी जन के वशजो का वाहुल्य था और यदि वाहुल्य न हुआ, तो भी प्रभुत्व अवश्य था, यद्यपि जनपदो मे उनके मूलजनो से भिन्न लोग भी रहते थे। क्षत्रिय जनपदो मे ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र भी वडी सख्या मे वसते थे।[3] इस समय मूलजन और जनपद दोनो की स्वतन्त्र और पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकृत हो चुकी थी। इसीलिए, किसी जनपद के निवासी को उस जनपद के नाम से ही पुकारे जाने पर भी यह आवश्यक नहीं रह गया था कि वह उस जनपद के मूलजन से भी सम्वद्ध हो। उदाहरणार्थ, पचाल जन के कारण विशेष भू-भाग (वर्त्तमान वरेली और उसके पास-पडोस का उत्तरप्रदेश का क्षेत्र) का नाम पचाल पडा। धीरे-धीरे पचाल जन का महत्त्व कम होता गया और पचाल शब्द प्रदेश के अर्थ मे विशेप प्रसिद्ध हो गया। प्रारम्भ मे पचाल-प्रदेश मे रहनेवाली क्षत्रिय जाति के लोग ही पचाल कहे जाते थे। वाद में पचाल-प्रदेश मे रहनेवाला हर व्यक्ति पचाल कहलाने लगा। इस प्रदेश पर शासन पचाल जन का ही वना रहा। इसलिए,

---

१. हिन्दू पॉलिटी, पृ० २३०, ३१।

२. क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदात्तस्य राजन्यपत्यवत्प्रत्यया भवन्तीतिवाच्यम्।—४-१-१६९, पृ० १६३।

३. जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्— अथ क्षत्रियग्रहणं किमर्थम्? इहमाभूत् विदेहो नाम ब्राह्मणास्यापत्यं वैदेहिः।—वही, पृ० १६२।

पचाल का राजा पाचाल पुकारा जाता था और उसके अपत्य भी।[1] कुछ जनपदो के मूल निवासी क्षत्रियो मे अहकार की मात्रा विशेष थी और वे अपना जातीय अस्तित्व पृथक् बनाये रखना चाहते थे। क्षौद्रक और मालव इसी प्रकार के जनपद थे। ये सघ-शासित प्रदेश थे। क्षौद्रको और मालवो की सन्तान क्षौद्रक्य तथा मालव्य कहलाती थी, किन्तु इनके दास या कर्मकर क्षौद्रक्य और मालव्य नही कहला सकते थे, भले ही वे क्षौद्रक-मालव जनपदो के निवासी हो। ये शब्द इन जातियो के अपने लोगो के लिए ही रूढ थे।[2]

कुछ जनपद ऐसे भी थे, जिनके नाम उनकी शासक क्षत्रिय-जाति के आधार पर नही रखे गये थे। काशिकाकार ने पौरवो और द्रौह्यवो के अधीन जनपदो को इसी कोटि का वतलाया है।[3] ये लोग पुरु और द्रुह्यु के वशज थे, किन्तु भाष्य मे पुरु को जनपद भी कहा है और उसके शासक को पौरव सज्ञा दी है।[4]

मूलजन तथा उसके निवास का नाम-साम्य पाणिनि-काल मे ही सुविदित हो चुका था। इसीलिए, उन्होंने इन क्षत्रिय जनो के आगे होनेवाले चातुरर्थिको मे प्रत्ययो का जनपद अर्थ गम्यमान होने पर लोप-विधान किया था। इस प्रकार, पचाल या विदेह क्षत्रियो के निवास-जनपद भी पचाल कहलाते थे।[5] प्राचीन आचार्यों ने इस विषय मे नियम भी वनाये थे कि निवासी क्षत्रियो के लिंग और वचन ही उनके निवास-जनपदो के लिंग और वचन होते हैं। ये नियम इन क्षत्रियो और जनपदो मे ऐकात्म्य स्थापित करने के लिए थे।[6] पाणिनि-काल तक आते-आते यह वात इतनी प्रसिद्ध हो गई कि इसके लिए व्याकरण मे पृथक् नियम वनाने की आवश्यकता नही समझी जाने लगी। रात्रि, दिन, अहोरात्र तथा शब्द मे प्रत्यय की प्रधानता आदि के समान यह वात भी इतनी प्रसिद्ध और प्रचलित हो गई थी कि इसके लिए किसी को समझाने की आवश्यकता नहीं मालूम होती थी।[7] पचाल एक जनपद था, फिर भी उसके लिए वहुवचन का प्रयोग प्रचलित हो गया था, क्योंकि उसके मूलजन पञ्चाल अनेक थे। इस वात को भाष्यकार ने 'पञ्चाला जनपद इति सुभिक्ष-सम्पन्नपानीयो वहुमाल्यफल' तथा 'मथुरापञ्चाला' इन उदाहरणो से स्पष्ट किया है, जिनमे पचाल और जनपद के समानाधिकरण होने पर भी पचाल वहुवचनान्त है तथा जनपद एकवचनान्त तथा मथुरा और पचाल इन दो के द्वन्द्व मे भी वहुवचन का प्रयोग है।[8] भाष्यकार ने पाणिनि के

---

१. पञ्चालानामपत्य, विदेहानामपत्यम्। नह्यन्तरेण वहुषु लुक पञ्चाला इत्येतद्भवति।—४-१-१६९, पृ० १६३ तथा पञ्चालानां राजा पाञ्चालः।—वही।

२ इदं तर्हि क्षौद्रकाणामपत्यं मालवानामपत्यमिति। अत्रापि क्षौद्रक्यः मालव्य इति नैतत्तेषा दासे वा भवति कर्मकरे वा। किं तर्हि? तेषामेव कस्मिंश्चित् वा।—वही, पृ० १६२।

३. ४-१-१६८।

४. वही, पृ० १६५।

५. ४-२-८१।

६. १-२-५१, ५२।

७. १-२-५६, ५७, ५८।

८. १-२-५२, पृ० ५५४ तथा १-२-५१, पृ० ५५३।

'सज्ञाप्रमाणत्व' (१-२-५६) की व्याख्या करते हुए कहा है कि विना ही वैयाकरणो की सहायता के जन-सामान्य को इस वात का सज्ञान या वोध हो जाता है।[1] पाणिनि ने इस विषय मे एक तर्क यह भी दिया था कि यदि इन जनपदो को यौगिक शब्द माने, तो एक कठिनाई यह भी उपस्थित होगी कि जिस जनपद मे आज उसके मूलजन नही रहते, उसका वह नाम असगत हो जायगा।[2]

इससे दो वाते स्पष्ट हैं। प्रथम यह कि भाष्यकार के काल में मूल क्षत्रियो से पृथक् जनपदो का स्वतन्त्र अस्तित्व था और दूसरे कुछ जनपद ऐसे भी थे, जिनमे उनके मूलनिवासी क्षत्रिय शेष नही रह गये थे।

जन और शासक—इतना होने पर भी इन जनपदो मे उनके शासक प्राय मूल क्षत्रिय जन ही थे। शासन दो प्रकार का था—एकराज-शासन और सघशासन। पाणिनि और पतजलि द्वारा उल्लिखित एकराज-शासन के जनपदो, उनके राजाओ तथा उनके मूल क्षत्रिय-जनो की सन्तान की सज्ञाएँ निम्नलिखित थीं—

मूल क्षत्रिय जन	जनपद	राजा	क्षत्रियापत्य
	१ पाणिनि द्वारा उल्लिखित[3]		
साल्वेय	साल्वेय	साल्वेय	साल्वेय
गान्धारि	गान्धारि	गान्धार	गान्धार
मगध	मगध	मागध	मागध, मागधी (स्त्री)
कलिंग	कलिंग	कालिंग	कालिंग
सूरमस	सूरमस	सौरमस	सौरमस
कोसल	कोसल	कौसल्य	कौसल्य
अजाद	अजाद	आजाद्य	आजाद्य
कुरु	कुरु	कौरव्य	कौरव्य, कुरू (स्त्री)
प्रत्यग्रथ	प्रत्यग्रथ	प्रात्यग्रथि	प्रात्यग्रथि
कलकूट	कलकूट	कालकूटि	कालकूटि
अश्मक	अश्मक	आश्मकि	आश्मकि
कम्बोज	कम्बोज	कम्बोज	कम्बोज
अवन्ति	अवन्ति	आवन्त्य	आवन्त्य, अवन्ती (स्त्री)
कुन्ति	कुन्ति	कौन्त्य	कौन्त्य, कुन्ती (स्त्री)

१. किं या एताः कृत्रिमाष्टिघुभादि संज्ञास्तत्प्रामाण्यादशिष्यम्? नेत्याह। संज्ञानं संज्ञा।—१-२-५३, पृ० ५५६।

२. योगप्रमाणं च तदभावेऽदर्शनं स्यात्।—१-२-५५।

३. ४-१-१६८ से ४-१-१७८ तक।

२ पाणिनि-सूत्रो मे उल्लिखित और काशिका द्वारा व्याख्यात[1]

अग	अग	आग	आग
वग	वग	वाग	वाग
पुण्ड्र	पुण्ड्र	पौण्ड्र	पौण्ड्र
सुह्म	सुह्म	सौह्म	सौह्म
आम्बष्ठ	आम्बष्ठ	आम्बष्ठ्य	आम्बष्ठ्य, आम्बष्ठ्या (स्त्री)
सौवीर	सौवीर	सौवीर्य	सौवीर्य, सौवीर्या (स्त्री)
निषध	निषध	नैषध्य	नैषध्य
निषथ	निषथ	नैषथ्य	नैषथ्य
उदुम्बर	उदुम्बर	औदुम्बरि	औदुम्बरि
तिलखल	तिलखल	तैलखलि	तैलखलि
मद्रकार	मद्रकार	माद्रकारि	माद्रकारि
युगन्धर	युगन्धर	यौगन्धरि	यौगन्धरि
भुलिग	भुलिग	भौलिगि	भौलिगि
शरदण्ड	शरदण्ड	शारदण्डि	शारदण्डि

३. पतजलि द्वारा उल्लिखित[2]

पचाल	पचाल	पाचाल	पाचाल
विदेह	विदेह	वैदेह	वैदेह, वैदेही (स्त्री)
पुरु	पुरु	पौरव	पौरव
पाण्डु	पाण्डु	पाण्ड्य	पाण्ड्य
अग	अग	आग	आग, आगी (स्त्री)
वग	वग	वाग	वाग, वागी (स्त्री)
आम्बष्ठ	आम्बष्ठ	आम्बष्ठ्य	आम्बष्ठ्य, आम्बष्ठ्या (स्त्री)
सौवीर्य	सौवीर्य	सौवीर्य	सौवीर्य, सौवीर्या (स्त्री)
दार्व	दार्व	दार्व्य	दार्व्य
निचक	निचक	नैचक्य	नैचक्य
नीप	नीप	नैप्य	नैप्य
अवन्ति	अवन्ति	आवन्त्य	आवन्त्य, अवन्ती (स्त्री)

---

१. ४-१-१६८ से १७८ तक।

२. वही।

कुन्ति	कुन्ति	कौन्त्य	कौन्त्य, कुन्ती (स्त्री)
नैश	नैश	नैश्य	नैश्य
अजमीढ	अजमीढ	आजमीढि	आजमीढि
अजक्रन्द	अजक्रन्द	आजक्रन्दि	आजक्रन्दि
बुध	बुध	बौधि	बौधि
कम्बोज	कम्बोज	कम्बोज	कम्बोज
चोल	चोल	चोल	चोल
कडेर	कडेर	कडेर	कडेर
केरल	केरल	केरल	केरल

इनमें पंचाल, विदेह, अंग, वंग और मगध प्राच्य कहे गये हैं। भर्ग, करुष, केकय, कश्मीर, साल्व, सुस्थाल, उरस् और कौरव्य ये भर्गादि तथा यौधेय, शौभ्रेय, शौक्रेय, ग्रावाणेय, वार्त्तेय, वार्त्तेय, त्रिगर्त्त, भरत और उशीनर ये यौधेयादि थे। पाणिनि ने इन सब प्रदेशों, अवन्ति, कुन्ति, कुरु तथा शूरसेन, मद्र आदि अकारांत जनपदों के स्त्री-क्षत्रियानत्यों के लिए पृथक् नियम दिये हैं। भाष्यकार ने पर्शु, रक्षस् और असुर जनपदों की स्त्री-क्षत्रियानत्यों को पर्शू, रक्षा और असुरी कहा है।[1] ऊपर कहा जा चुका है कि ये जनपद शासन-व्यवस्था की दृष्टि से दो भागों में विभक्त थे—एकराज या राजतन्त्र और संघराज्य। भाष्यकार ने पंचाल, विदेह, क्षुद्रक और मालव जनपदों को संघ कहा है, यद्यपि अन्यत्र उन्होंने पंचाल के एक राजा का भी उल्लेख किया है।[2]

जनपदावयव—कुछ जनपद अनेक अवयवों या प्रान्तों में विभक्त थे। साल्व के अवयवों की चर्चा तो पाणिनि ने भी की है।[3] इसकी व्याख्या के लिए काशिकाकार ने कहीं से एक प्रसिद्ध कारिका उद्धृत की है, जिससे पता चलता है कि साल्व जनपद छह अवयवों में विभक्त था। भाष्यकार ने पंचाल और मगध के पूर्व और अपर दो-दो भाग बतलाये हैं। उन्होंने अर्ध पंचाल, अर्ध मगध और सर्व पंचाल तथा सर्व मगध का उल्लेख किया है।[4] यही स्थिति त्रिगर्त्त की थी। वह स्वयं जनपद था और उसके छह भाग भी स्वतन्त्र जनपद माने जाते थे। सम्भवत, मूलजनों के कई भाग हो जाने पर जनपद भी कई भागों में बँट गये थे। उनका केन्द्रीय स्थान एक रहता था, किन्तु आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्र प्रान्त विभक्त-सम्पत्तिक भाइयों के समान एकवंशीय शासकों के अधीन स्वतन्त्र होते थे। 'जनपदावधि जनपद' शब्द भी इस बात का प्रमाण है कि जनपदों का अस्तित्व इस काल में था। गत्तान्ति जनपद अनेक थे और वे सब एक ही विशाल

---

१. ४-१-१७६ से १७८, पृ० १६५।
२. ४-१-१६८, पृ० १६३।
३. ४-१-१७३।
४. उदुम्बरास्तिलखला मद्रकारा युगन्धराः।
   भुलिङ्गाः शरदण्डाश्च साल्वावयवसंज्ञिता ॥
   —काशि०, १-१-७२, पृ० ४५४।

जनपद के अन्तर्गत थे।[1] जनपदो का 'स्व', अर्थात् वस्तु उनके नाम के अनुसार ही माना जाता था। उदाहरणार्थ, अग या वग के ग्राम या अन्य वस्तुएँ जो उसकी अपनी होती, आगक या वागक कही जाती थी।[2] अवयवो को छोडकर अन्य जनपद स्वतन्त्र इकाई थे। जनपद कहने से एक ही जनपद का बोध होता था, जनपद-समुदाय का नही। काशी और कोसल दो स्वतन्त्र जनपद थे। यद्यपि वे पडोसी थे और परस्पर सम्बद्ध भी, फिर भी जनपदो के प्रसग मे उनका अलग-अलग उल्लेख किया जाता था, इकठ्ठा नही।[3]

विषय—भाष्यकार ने विषय और जनपद का अन्तर स्पष्ट किया है। जनपद क्षत्रिय-जातियो के निवास थे। बहुत-से जनपदो के शासक वे ही क्षत्रिय थे, जिनका उनमे निवास था और जिनके कारण उन जनपदो का नाम पडा था। किन्तु, कुछ जनपद ऐसे भी थे, जिनमे निवास अन्य क्षत्रियो का था और शासन दूसरो का। इसी प्रकार कुछ क्षत्रिय जन ऐसे थे, जिनका शासन अपने निवास से भिन्न प्रदेश पर भी था। वे वहाँ के शासक तो थे, किन्तु निवासी नही। ऐसी स्थिति मे वह उनका देश या विषय-मात्र माना जाता था, जनपद नही। जब किसी क्षत्रिय जन द्वारा केवल अधिकृत प्रदेश बतलाना होता, तो उसे उनका विषय या देश कहते थे और उस देश का प्रयोग एकवचन मे होता था। उदाहरणार्थ, शिवियो का देश या शासित विषय शैव और उष्ट्रो का औष्ट्र कहलाता था, किन्तु शिवियो के जनपद को शिवय (बहु०) और उष्ट्रो का उष्ट्रा (बहु०) ही कहा जाता था। इस आधार पर भाष्य मे निम्नलिखित विषयो और जनपदो का अन्तर स्पष्ट मिलता है:[4]

क्षत्रिय	देश या विषय	जनपद	
अग	आग	अग	(बहुवचन)
वग	वाग	वग	" "
सुह्म	सौह्म	सुह्म	" "
पुण्ड्र	पौण्ड्र	पुण्ड्र	" "
गान्धारि	गान्धार, गान्धारि	गान्धारि	" "
वसाति	वासात, वसाति	वसाति	" "
शिवि	शैव, शिवि	शिवि	" "
राजन्य	राजन्यक, राजन्य	राजन्य	" "
दैवयातव	दैवयातवक, दैवयातव	दैवयातव	" "
वैल्ववन	वैल्ववनक	वैल्ववन	" "
अम्बरीपपुत्र	आम्बरीपपुत्रक	अम्बरीपपुत्र	" "
आत्मकार्मेय	आत्मकार्मेयक	आत्मकार्मेय	" "

१. ४-२-१२४, पृ० २१५, १६।
२. ४-३-१२०, पृ० २५१।
३. ४-२-४५, पृ० १८१।
४. ४-२-५२, पृ० १८४, १८५।

राजन्यादिक विषयो मे शालङ्कायन, जालन्धरायण, शैलूष, उदुम्बर, वैल्वल, आर्जुनायन, साम्प्रय, दाक्षि, ऊर्णनाभ तथा अजित से भाष्यकार परिचित थे, यद्यपि उन्होने इनमे से केवल दो का ही उल्लेख किया है। राजन्यादि आकृति-गण है, जिससे पता चलता है कि विषयो (देशो) पर क्षत्रियो का अधिकार बदलता रहता था और जो विषय कल एक क्षत्रिय-जाति के अधीन था, वह आज दूसरी क्षत्रिय-जाति के हाथ मे चला जा सकता था।[1] इस दृष्टि से भाष्यकार का निवास और अभिजन का अन्तर भी महत्त्वपूर्ण है। कुछ क्षत्रिय-जातियाँ प्रारम्भ मे किसी एक प्रदेश मे रहती थी, किन्तु बाद मे वे अन्यत्र चली गई। पूर्व प्रदेश उनका अभिजन और नवीन प्रदेश निवास कहा जाता था। उदाहरणार्थ, जब मालवो ने अवन्ति और उसके समीपवर्ती प्रदेश को अपना निवास बना लिया, तब उनका पुराना जनपद केवल अभिजन रह गया, जनपद नही। जनपद और अभिजन का यह अन्तर ध्यान देने योग्य है।[2]

जनपदी और जानपद—जनपदो के राजा जनपदी तथा अन्य जन जानपद कहलाते थे। पुर या राजधानी के लोगो का समूह या संघ पौर कहा जाता था।[3] यदि जनपद मे संघ-शासन हुआ, तो जनपदियो की संख्या अधिक रहती थी। एक ही जनपद मे रहनेवाले परस्पर सजनपद कहलाते थे। यह बात इस तथ्य की द्योतक है कि तत्कालीन जनता मे नागरिकता के भाव विद्यमान थे और वह अपने जनपद के प्रति आत्मीयता का अनुभव करती थी। जनपद के प्रति भक्ति की अपेक्षा नागरिक से की जाती थी। जनपद और जनपदी दोनो के प्रति भक्ति के लिए एक ही शब्द प्रयुक्त होता था।[4] मद्र जनपद और माद्र राजा दोनो के प्रति भक्ति रखनेवाले को मद्रक और इसी प्रकार वृजि-जनपद और वार्ज्य जनपदी के प्रति भक्ति (सेव्य भाव) रखनेवाले को वृजिक[5] कहते थे। जनपद और जनपदी दोनो मे से किसी के प्रति भी विश्वासघात दूसरे के प्रति भी विश्वासघात माना जाता था। जनपदी जनपद का संरक्षक था, इसलिए नागरिक को जनपद के साथ ही जनपदी के प्रति भी भक्त (लॉयल) होना आवश्यक था। यह बात उन्ही जनपदियो के विषय मे थी, जो उस जनपद के मूल क्षत्रियजन तथा शासक दोनो थे।

---

१. ४-२-५२, पृ० १८४।

२. निवासाभिजनयोः को विशेषः? निवासो नाम यत्र सम्प्रत्युष्यते। अभिजनो नाम यत्र पूर्वैरुषितम्।—४-३-९०, पृ० २४४।

३. जायसवाल: हिन्दू पॉलिटी, पृ० २३६।

४. जनपदिनां जनपदवत्सर्वं जनपदेन समानशब्दानां बहुवचने।—४-३-१००, पृ० २४६।

५. ६-३-८५।

खण्ड ६

साहित्य और कला

अध्याय १

शिक्षा

शिक्षा की पृष्ठभूमि—महाभाष्य का काल ब्राह्मणों के चरम उत्कर्ष का काल था और पतजलि तत्कालीन ब्राह्मण-समाज के वास्तविक प्रतिनिधि थे। इस समय देश का बौद्धिक और आध्यात्मिक ही नही, राजनीतिक नेतृत्व भी ब्राह्मणो के हाथ मे था। इस सत्ता और शक्ति के भीतर बौद्धधर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया भी निहित थी। फलत , चातुर्वर्ण्य, चातुराश्रम्य, चक्रवर्त्तित्व और यज्ञादि कर्मकाण्डो की पुन प्रतिष्ठा के साथ कुछ शताब्दियो से अभिभूत वैदिक सस्कृति और साहित्य का पुन प्रचार और प्रसार प्रारम्भ हो गया था। यह युग सस्कृत-साहित्य के भी उत्थान का था। व्याकरण की उपेक्षा का परिणाम प्रादेशिक प्राकृतो के विकास और सस्कृत के प्रति जन-सामान्य की विरक्ति के रूप मे सामने आ चुका था। सस्कृत शिष्ट लोगो तक सीमित रह गई थी। वैदिक सस्कृति और सस्कृत के अविच्छेद्य सबध को विद्वान् लोग जानते थे। बौद्धधर्म ने सबसे कडा विरोध वेदो की आप्तता और यज्ञादि कर्मकाण्ड का किया था। इसलिए, शुगकाल मे विकसित वैदिक पुनरुत्थान की धारा, प्रधानत याज्ञिक सस्कृति के रूप मे ही सामने आई। पतजलि आर्त्विजीन थे और वैदिक सस्कृति के अनन्य उपासक। वे जानते थे कि प्राकृतो की बढती आँधी को रोकने के दो ही उपाय है—प्राकृतो के प्रति घृणा-भावना की उत्पत्ति और सस्कृत का व्यापक प्रचार। प्राकृत बहुजन-समाज की भाषा बन चुकी थी। सहसा इतने बडे समाज को बदलना उनके वश का न था। निम्न वर्ग से उनका सम्पर्क भी न था। वे स्वय पुष्यमित्र के याजक थे। अश्वमेध-याजक पुष्यमित्र के प्रोत्साहन ने देश मे सहस्रो ब्राह्मणो को याजक-वृत्ति की ओर प्रोत्साहित किया था। पतजलि-जैसे विद्वान् के लिए यह सोचना कठिन न था कि यदि इन याज्ञिको को व्याकरण की ओर उन्मुख कर दिया जाय, तो सस्कृत की उन्नति मे बडी सहायता मिल सकती है। वे स्वय अध्यापक थे। उन्होने प्रत्यक्ष शिक्षण तथा उपदेश द्वारा उन्हे व्याकरण की ओर प्रवृत्त करने का प्रयत्न किया। इस कारण महाभाष्य मे प्राप्त होनेवाले शिक्षा-सिद्धान्त तथा शिक्षा-विषयक उल्लेख ब्राह्मणो की शिक्षा तथा समाज से ही सम्बद्ध है। वेदो, वेदागो और वैदिक शिक्षा-पद्धति के विषय मे ही उनसे जानकारी प्राप्त की जा सकती है। आगे जो कुछ कहा जा रहा है, उसे इसी सन्दर्भ मे ग्रहण करना चाहिए।

शिक्षा के उद्देश्य—पतजलि ने कहा है कि ब्राह्मण को निष्कारण या निष्काम भाव से षडग-सहित वेद का अध्ययन करना चाहिए और उनका अर्थतत्त्व समझना चाहिए, क्योकि वेद-वेदाग साक्षात् धर्म है। यह उनकी दृष्टि मे ब्राह्मण का सहज कर्त्तव्य था। वे व्याकरण को षडगो मे मुख्य मानते थे, इसलिए उनकी दृष्टि मे व्याकरण का अध्ययन परमावश्यक था। वेदों की रक्षा बिना व्याकरण के असम्भव है। जो व्याकरण नहीं जानता, वह वेद नही समझ सकता, इसलिए व्याकरण

का ज्ञान वेदाध्ययन के पहले आवश्यक है, यह उनका मत था।[1] प्राचीन काल मे ऐसा होता भी था। उपनयन-सस्कार के बाद ब्राह्मण व्याकरण पढते थे। जब वे उच्चारण-सम्बन्धी आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्नो तथा उच्चारण के कारणो का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेते थे, तब उन्हे वैदिक शब्दो का उपदेश किया जाता था। पतजलि के समय मे स्थिति उलट गई थी।[2] विद्यार्थी सीधे वेद प्रारम्भ कर देते थे और कहने लगे कि वैदिक शब्दो का वेद से और लौकिक शब्दो का ज्ञान लोक से ही हो जायगा, तब व्याकरण की क्या आवश्यकता? इस स्थिति के प्रतीकार के लिए पतजलि ने व्याकरण के अध्ययन पर जोर दिया और कहा कि वेद की रक्षा के बिना व्याकरण के सम्भव नहीं है। जो लोप, आगम और वर्णविकार नही समझता है, वह भली भाँति वेदो का पालन नही कर सकता।[3] यज्ञ करने-करानेवालो को तो व्याकरण जानने की और भी आवश्यकता है। वेदो के जिन मन्त्रो का यज्ञ मे उपयोग होता है, उनमे लिंग, विभक्ति-सम्बन्धी कुछ परिवर्तन आवश्यकतानुसार यत्र तत्र करने पड़ते हैं। यह काम भी व्याकरण-ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है।[4] यह बात तो सब जानते हैं कि ब्राह्मण को शब्दों (शुद्ध शब्दो) का ज्ञान होना चाहिए। वह भी बिना व्याकरण के नहीं हो सकता।[5] याज्ञिको के शास्त्र मे बहुत-से ऐसे प्रसग आते हैं, जिनका अर्थ बिना व्याकरण-ज्ञान के स्पष्ट नही हो सकता। उदाहरणार्थ, अग्नि-वरुण के निमित्त स्थूलपृषती अनड्वाही के आलम्भन का विधान है। स्थूलपृषती के दो अर्थ हो सकते हैं—बड़े-बड़े पृषतो (बब्बों) वाली तथा स्थूल और पृषतवाली। ऐसे स्थलो पर व्याकरण जाननेवाला व्यक्ति ठीक अर्थ को समझ सकता है। यदि पूर्वपद प्रकृति स्वर हो, तो बहुव्रीहि और यदि अन्तोदात्त हो, तो तत्पुरुष पद होगा।[6]

---

१. ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च प्रधानं च षडङ्गेषु व्याकरणम्। —आ० १, पृ० ३।

२. पुराकल्प एतदासी संस्कारोत्तरं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते। तेभ्यस्तत्र स्थानकरणानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते। तदद्यत्वे न तथा। वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति—वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः। अनर्थकं व्याकरणम्।—आ० १, पृ० १०।

३. रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्, लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग्वेदान् परि-पालयिष्यति।—आ० १, पृ० २।

४. न च सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिः। विभक्तिभिर्वेदे अर्था निगदिताः। ते चावश्य यज्ञगतेन यथायथं विपरिणमयितव्याः। तान्नावैयाकरणः शक्नोति यथायथ विपरिणमयितुम्।—वही।

५. ब्राह्मणेनावश्यं शब्दा ज्ञेया इति। न चान्तरेण व्याकरण लघुनोपायेन शब्दा. शक्या ज्ञातुम्।—आ० १, पृ० ३।

६. असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्, याज्ञिकाः पठन्ति स्थूलपृषतीमनड्वाहो मालभेत। तस्यां सन्देहः—स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषती, स्थूलानि पृषन्ति यस्या. या स्थूलपृषतीति। तान्नावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति।—वही।

इनके अतिरिक्त व्याकरण पढ़ने से और भी अनेक लाभ है। व्याकरण से असमर्थित प्राकृत-जन-व्यवहृत शब्दो को म्लेच्छ कहते हैं। ब्राह्मण को अपशब्द बोलकर म्लेच्छ नही बनना चाहिए।[1] स्वर या वर्ण की दृष्टि से अशुद्ध बोला गया शब्द वांछित अर्थ का बोधक नही होता। यज्ञ मे बोला गया दुष्ट या अशुद्ध शब्द वज्र बनकर यजमान का नाश कर डालता है।[2] वृत्रासुर का नाश इसी प्रकार हुआ था। इसके ठीक विरुद्ध जो व्यक्ति व्यवहार-काल मे शब्दो का यथार्थ उच्चारण करता है, वह इस लोक तथा परलोक मे उत्कर्ष और प्रतिष्ठा का भागी बनता है और जो ऐसा नहीं कर सकता, वह अपशब्दो का उच्चारण कर भ्रष्ट बनता है।[3] एक-एक शुद्ध शब्द के अनेक अपभ्रंश-रूप समाज मे व्यवहृत होते है। उनके उच्चारण जन्य दोष से कोई यह कहकर छुटकारा नहीं पा सकता[4] कि मैंने अज्ञानवश अशुद्ध उच्चारण किया है, क्योकि ब्रह्महत्या और सुरा-पान के समान अनजाने भी अशुद्ध शब्द का व्यवहार-दोष उत्पन्न करता है। व्याकरण न जानने से ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत का भी ज्ञान नही होता। ऐसे व्यक्ति प्लुतत्व-नियम न जानने के कारण अभिवादन का ठीक उत्तर नही दे सकते।[5] उनकी स्थिति स्त्रियो जैसी हो जाती है। याज्ञिको को सविभक्तिक प्रयाज करने पडते है। उसके लिए भी व्याकरण जानना आवश्यक है।[6] ब्राह्मणो को आर्त्विजीन होना चाहिए और आर्त्विजीन वह हो सकता है, जो प्रतिपद, प्रतिस्वर और प्रत्यक्षर साफ-साफ उच्चारण कर सके। यह बिना व्याकरण जाने नही हो सकता[7]। शब्द महान् देव के रूप मे प्राणियो मे निवास करता है। हमे भी महान् देव से अपना साम्य करने के लिए व्याकरण जानना चाहिए।[8] मनीषी ब्राह्मण नामाख्यातोपसर्गनिपात इन चार अगोवाली वाणी को ठीक जानते है।[9] वाणी

---

१. ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै। म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः।—आ० १, पृ० ४।

२. दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह—सवाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रः शत्रुः स्वरतोऽपराधात्।—वही।

३. यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥—वही।

४. एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः—नात्यन्तायाज्ञानं शरणं भवितुमर्हति। यो ह्यजानन् वै ब्राह्मणं हन्यात् सुरां वा पिबेत् मन्ये सोऽपि पतितः स्यात्।—वही।

५. अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो येन प्लुतिं विदुः।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्वायमहं वदेत्॥—आ० १, पृ० ६।

६. प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्याः। न चान्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम्।—वही।

७. यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरशो वाच विदधाति स आर्त्विजीनः। आर्त्विजीनाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम्।—वही।

८. महादेवो मर्त्यां आविवेश महता देवेन नः साम्यं स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्।—आ० १, पृ० ७।

९. चत्वारि वाक्परिमितानि पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।—वही।

व्याकरणज्ञ के सामने अपने सम्पूर्ण अप्रच्छन्न सौन्दर्य-रहस्य के साथ इस प्रकार उपस्थित रहती है, जिस प्रकार सुवासा अलकृत पत्नी अपने पति के सम्मुख।[1] जो लोग छने हुए सत्तू के समान विकार-रहित वाणी बोलते है, उनकी जिह्वा पर मगलमयी लक्ष्मी निवास करती है।[2] अपशब्द बोलने के बाद प्रायश्चित्त-स्वरूप सारस्वती इष्टि करनी चाहिए, ऐसा याज्ञिक लोग कहते है।[3] जन्म से दस दिन बाद पुत्र का नामकरण करना चाहिए। नामकरण के सम्बन्ध मे धर्मशास्त्रकारो ने जो नियम स्थिर किये है,उनका पालन बिना व्याकरण जाने नहीं हो सकता।[4] सप्त विभक्तियो के ठीक उच्चारण[5] से जिसका तालु सदा अनुक्षरित होता रहता है, वह वरुण के समान सत्यदेव बनता है। व्याकरण-ज्ञान से ही शुद्ध विभक्तियो का प्रयोग किया जा सकता है।

इस प्रकार, भाष्यकार की दृष्टि मे अध्ययन का मुख्य उद्देश्य वेदरक्षा था, क्योंकि वे वेद को साक्षात् धर्म मानते थे। व्याकरण वेद-रक्षा मे सर्वाधिक सहायक था। इसलिए, वे उसके अध्ययन को आवश्यक समझते थे। वेद-रक्षा का सर्वाधिक उत्तरदायित्व ब्राह्मणो पर था, अत उन्होने ब्राह्मणो, शिक्षा-सस्थाओ और शिक्षा-पद्धति का ही विशेषत उल्लेख किया है।

शिक्षा का दूसरा लक्ष्य था बालक को शिष्ट बनाना। भाष्यकार की दृष्टि मे शिष्टो का बडा ऊँचा स्थान था। वास्तव मे शिष्ट ही समाज की धुरी थे। शिष्ट दो प्रकार के बनते थे—शिक्षा से और चरित्र से। शिक्षा का मूल व्याकरण-ज्ञान था, इसलिए वैयाकरण शिष्ट माने जाते थे। शिष्टि शास्त्र द्वारा ही होती है और वैयाकरण शास्त्रज्ञ होते हैं,।[6] इसलिए, उन्हे शिष्ट कहना चाहिए, यह पतजलि का विचार था। शिक्षा के अतिरिक्त निवास और आचार भी शिष्टत्व के चिह्न थे। आर्यावर्त्त के निवासी ब्राह्मणो मे जो असग्रही, अलोलुप, जितेन्द्रिय और किसी विशेष शास्त्र मे पारगत होते थे, वे शिष्ट माने जाते थे। इनकी कही हुई बात प्रमाणित मानी जाती थी। भाष्यकार ने अष्टाध्यायी का प्रयोजन शिष्ट-ज्ञान माना है। अष्टाध्यायी के अध्ययन से व्यक्ति मे यह योग्यता आती है कि वह शिष्टो और अशिष्टो की पहचान कर सके।

---

१. उतोत्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः।—आ० १, पृ० ८।

२. सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत—अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषा लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि।—वही।

३. आहिताग्निरपशब्दं, प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत।—आ० १, पृ० ९।

४. दशम्युत्तरकालं पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्यात् घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थमवृद्ध त्र्यक्षर चतुरक्षरं वाकृत नाम कुर्यान्न तद्धितम्।—वही।

५. सुदेवोऽसिवरुण यस्य ते सप्तसिन्धवः अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव, सत्यदेवा स्यामेत्यध्येय व्याकरणम्।—आ० १, पृ० १०।

६. के पुनः शिष्टाः? वैयाकरणाः। कुत एतत्? शास्त्रपूर्विका हि शिष्टिः शिष्टिपूर्वकं च शास्त्रम्।—एवं तर्हि निवासत आचारतश्च। एतस्मिन् आर्यनिवासे ये ब्राह्मणा. कुम्भीधान्याः अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः। किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारगास्तत्र भवन्त. शिष्टा शिष्टज्ञानार्था।—अष्टाध्यायी, ६-३-१०९, पृ० ३५९।

भाष्यकार के इन समस्त वक्तव्यो को यदि हम एक साथ मिलाकर देखें, तो स्पष्ट होगा कि वे शिक्षा के दो फल मानते थे—बौद्धिक विकास और नैतिक उन्नति और इन दोनो का उद्देश्य था प्राचीन सस्कृति एव साहित्य की सुरक्षा। प्रथम आह्निक मे उनके द्वारा गिनाये गये व्याकरण पढ़ने के सारे उपयोगो का भी समावेश इनमे हो जाता है। नैतिक विकास पर इतना जोर देने के कारण ही उन्होने इस बात को बार-बार दुहराया है कि तप (सुकृत के लिए कष्ट-सहन तथा सयम), अध्ययन और ब्राह्मण माता-पिता से उत्पत्ति, ये तीन बातें मिलकर किसी को ब्राह्मण बनाती है। जिनमे प्रथम दो बातें नहीं होती, वह केवल जाति-ब्राह्मण होता है। जाति के कारण वह गौर, पिंगलाक्ष होता है और तप के कारण शुच्याचार।[1] विद्या और आचार-शुचिता इन दोनो पर पतजलि ने समान बल दिया है और विद्या, कर्म और योनि तीनो की दृष्टि से अवदात व्यक्ति को ही ब्राह्मण माना है।[2]

उपनयन—योनि-शुद्धि के लिए धर्मशास्त्रो ने अनेक नियमो की सृष्टि की थी, जिनका उल्लेख अन्यत्र हुआ है। विद्या और कर्म की प्रगति और शुचिता का दायित्व शिक्षको तथा शिक्षा-सस्थाओ पर था। सामान्य विश्वास था कि बालक जन्मत शूद्र उत्पन्न होता है और सस्कार से द्विज बनता है। सस्कार का सामान्य अर्थ उपनयन था।[3] उपनयन का अर्थ है आचार्य के पास ले जाना। पाणिनि ने इस क्रिया को आचार्यकरण सज्ञा दी है,[4] जिसकी व्याख्या करते हुए काशिकाकार ने कहा है कि उपनयन करनेवाला माणवक को इस ढग से अपने पास ले आता है, जिससे वह (उप-नेता) स्वय आचार्य हो जाता है।[5] उपनयन के बाद बालक गुरु के साथ ही रहता था, इसलिए उसे अन्तेवासी कहते थे।[6] अन्तेवासी त्रैवर्णिक होते थे और वर्णी कहलाते थे।[7] वर्णी शूद्र नहीं हो सकते थे, यह बात इस शब्द से ही स्पष्ट है। गुरु का स्थान, जहाँ रहकर बालक विद्या ग्रहण करता था, गुरुकुल[8] या तीर्थ[9] कहलाता था। एक ही तीर्थ मे रहकर विद्याभ्यास करनेवालों को सतीर्थ्य कहते थे[10]। ये सब भाई-भाई की तरह हिल-मिलकर रहते थे। पाणिनि ने सोदर और सोदर्य के साथ ही सतीर्थ्य का भी स्मरण किया है।[11]

---

१. तपः श्रुतं च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मणकारकम्।
तपः श्रुताभ्यां हीनो यो जातिब्राह्मण एव सः॥
गौरः शुच्याचारः कपिलकेश इत्येतानप्यभ्यन्तरान् ब्राह्मण्ये गुणान् कुर्वन्ति।—२-२-६, पृ० ३४०।

२. त्रीणि यस्यावदातानि विद्या योनिश्चकर्मंच।
एतच्छिवे विजानीहि ब्राह्मणाग्र्यस्य लक्षणम्॥—४-१-४८, वा० १, पृ० ६२।

३. संस्कारोत्तरं ब्राह्मणाः व्याकरणं स्माधीयते।—आ० १, पृ० १०।

४. १-३-३६।

५. माणवकमीदृशेन विधिनाऽऽत्मसमीपं प्रापयति यथा स उपनेता स्वयमाचार्यः सम्पद्यते।—वही (काशि०)।

६. ४-२-१०४, वा० १९, पृ० २०९। ७. ५-२-१३४।

८. २-१-१, पृ० २३१।

९. ६-३-८७, पृ० ३५४। १०. ४-४-१०७। ११. ४-४-१०८।

माणव—भाष्य मे माणव, दण्डमाणव, वर्णी, ब्रह्मचारी और छात्र शब्द विद्यार्थी के अर्थ मे प्रयुक्त हुए है। माणव छोटे बालक को कहते थे। जब ये प्रारम्भिक अध्ययन के लिए शाला मे प्रविष्ट होते थे, तब इनका मुण्डन करा दिया जाता था।[1] उपनयन के समय मुण्डन की प्रथा थी। दण्ड, कमण्डलु और मृगचर्म साथ लेकर ये गुरु के आश्रम मे प्रवेश करते थे। वहाँ भैक्षचर्या करते थे और नियमपूर्वक अध्ययन करते थे। नियमपूर्वक अध्ययन करनेवाले माणवको को 'उपयुक्त' कहते थे। ये ग्रन्थ और अर्थ दोनो का अभ्यास करते थे। भाष्य मे नियमित और 'यदा-कदा' पढने वालो मे अन्तर किया है। 'उपाध्याय से पढता है', इस वाक्य में 'पचमी' का प्रयोग नियमित अध्ययन के प्रसग मे ही होता था। नट या ग्रन्थिक के पास जाकर यदा-कदा उनकी बातें सुनने के प्रसग मे 'नट की सुनता है', ऐसा षष्ठी-विभक्ति-युक्त वाक्य प्रचलित था, 'नट से सुनता है' नहीं।[2]

माणवक नीची कक्षाओ के छात्र होते थे और ब्रह्मचारी विशिष्ट अध्ययन के व्रती छात्र। आश्रमो या गुरुकुलो मे रहनेवाले माणव दण्ड साथ लेकर चलते थे। इसीलिए, वे दण्ड-माणव कहलाते थे। दण्ड-माणवो का परिचय उनके गुरु के नाम से दिया जाता था, यथा दाक्ष दण्ड-माणव, या काण्व (कण्व के शिष्य) दण्ड-माणव।[3] काशिकाकार ने गौकक्ष और माहक दण्ड-माणवो का भी उल्लेख किया है।[4] ये दण्ड-माणव 'अनूच' होते थे। वेद का सार्थ अध्ययन इस अवस्था के बाद प्रारम्भ होता था।[5] पाणिनि ने दण्ड-माणव और अन्तेवासी मे अन्तर किया है, जिससे अनुमान होता है कि सब दण्ड-माणव अन्तेवासी नहीं होते थे।[6] कुछ छात्र दिन मे अध्ययन कर सन्ध्या समय घर चले जाते थे। ये गुरुकुल के पास-पडोस गाँवो के रहनेवाले छात्र होते थे। माणवो के दण्ड को आषाढ भी कहते थे।[7]

अन्तेवासी छात्र—अन्तेवासी आश्रम मे गुरु के साथ उसके परिवार के अग बनकर रहते थे। इनमे श्रेष्ठ या उच्च कक्षा के अन्तेवासी को 'प्रान्तेवासी' कहते थे।[8] 'गुरुकुल' शब्द मे

---

१. ३-१-८, पृ० ३९।

२. आख्यातोपयोगे उपयोग इति किमर्थम्? नटस्य शृणोति, ग्रन्थिकस्य शृणोति, एव तर्ह्युपयोग इत्युच्यते सर्वश्चोपयोगस्तत्र प्रकर्षगतिर्विज्ञास्यते। साधीयोऽयं उपयोग इति। कश्च साधीयः? यः ग्रन्थार्थयोः। अथवोपयोगः को भवितुमर्हति? यो नियमपूर्वकः। तद्यथा, उपयुक्ता माणवका इत्युच्यन्ते य एते नियमपूर्वकमधीतवन्तो भवन्ति।—१-४-२९, पृ० १६५।

३. ४-२-१०४, वा २३, पृ० २१०।

४. गोकक्षा दण्डमाणवा अन्तेवासिनो वा दाक्षा माहकाः।—४-३-१३०।

५. अनूचो माणवे बह्वृचश्चरणाख्यायामिति विशेषस्तद् वक्तव्यम्।—५-४-१५४, पृ० ५१४।

६. न दण्डमाणवान्तेवासिषु।—वही।

७. विशाखाषाढमन्थदण्डयोः।—५-१-११०।

८. २-२-१८, पृ० १६५।

पारिवारिकता का भाव छिपा हुआ है। छात्र उसे अपना गुरुकुल मानते थे और कष्ट उठाकर भी वहाँ रहना पसन्द करते थे।[1]

शिष्य और छात्र शब्द सामान्यतया प्रत्येक विद्यार्थी के वाचक थे। गुरु अपने कुल मे रहनेवाले छात्र को छत्र के समान वर्षा, आतप जैसे कष्टो से बचाता था। इस प्रकार, वह शिष्य पर छत्र के समान छाया रखता था। शिष्य भी छत्र के समान गुरु का परिपालन करता था। इसी दृष्टि से शिष्य छात्र और गुरु छत्र कहलाता था।[2] गुरु-शिष्य का यह सम्बन्ध अत्यन्त मधुर था। यदि हम इसी प्रसग की काशिकावृत्ति पर दृष्टिपात करें, तो स्पष्ट हो जायगा कि परवर्त्ती कुछ शताब्दियो मे गुरुकुल-सस्था का नैतिक स्तर काफी नीचे उतर आया था। इस समय गुरु की सेवा-टहल मे जागरूकता और उसके दोषो को छिपाकर रखना, छात्र की परिभाषा मानी जाने लगी थी; क्योकि छादन या आवरण के कारण छत्र कहे जानेवाले छत्र के समान व्यवहार छात्र का होना चाहिए था।[3] निश्चित ही यह परिभाषा उन गुरुओ के द्वारा निश्चित की गई होगी, जो छात्रो को अपनी सेवा का साधनमात्र समझते होगे और समाज तक अपनी दुर्बलताओ के पहुँचने से भयभीत रहते होगे।

ब्रह्मचारी—ब्रह्मचारी वेदाध्यायी को कहते थे। काशिकाकार ने कहा है कि ब्रह्म वेद को कहते है और उससे सहचरित अध्ययन को भी। उसके लिए लिया हुआ व्रत ब्रह्मचर्य कहलाता है और ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करनेवाला ब्रह्मचारी[4]। तीन वर्ण ही वेद पढते थे। इसलिए, ब्रह्मचारी भी त्रैवर्णिक होते थे। काशिका मे उसे विद्याग्रहणार्थ उपनीत तथा नियम का आसेवन करनेवाला कहा गया है।[5] जिस प्रकार एक गुरु के पास अध्ययन करनेवाले सतीर्थ्य होते थे, उसी प्रकार समान ब्रह्मचर्य का आचरण करनेवाले या एक ही वेद का अध्ययन करनेवाले ब्रह्मचारी कहलाते थे।[6]

ब्राह्मण के लिए उपनयन के पश्चात् अडतालीस वर्ष तक अध्ययन की मर्यादा थी। ये ब्रह्मचारी अष्टाचत्वारिंशक या अष्टाचत्वारिंशी होते थे। प्रत्येक वेद के अध्ययन मे बारह वर्ष लगते थे। किन्तु, लोग सुविधानुसार कम समय तक के लिए भी ब्रह्मचर्य व्रत लेते थे। ये लोग 'अवान्तरदीक्षी' होते थे। लोग आवश्यकतानुसार किसी विशिष्ट वेदाग के अध्ययन के लिए भी

---

१. देवदत्तस्य गुरुकुलम् — २-१-१, पृ० २३१ तथा पश्य देवदत्त कष्टश्रितो विष्णुमित्रो गुरुकुलम्।—वही, पृ० २२७।

२. गुरुश्छत्रम्। गुरुणा शिष्यश्छत्रवच्छात्रः। शिष्येण च गुरुश्छत्रवत् परिपाल्यः।—४-४-६२, पृ० २८२।

३. छत्रादिभ्यो णः—छत्र शीलं यस्य छात्रः। छादनादावरणाच्छत्रम्। गुरुकार्येष्वव-हितस्तच्छिद्रावरणप्रवृत्तश्छत्रशीलः शिष्यश्छात्र.।—४-४-६२ काशि०।

४. ब्रह्म वेदस्तदध्ययनार्थं व्रतमपि ब्रह्म तच्चरतीति ब्रह्मचारी।—६-३-८६ काशिका।

५. ब्रह्मचारी त्रैवर्णिकोऽभिप्रेतः। स हि विद्याग्रहणार्थमुपनीतो ब्रह्म चरति। नियममासेवत इत्यर्थः। ब्राह्मणादयस्त्रयो वर्णा वर्णिन इत्युच्यन्ते।—५-२-१३४।

६. समाने ब्रह्मणि व्रतं चरतीति स ब्रह्मचारी।—६-३-८६, पृ० ३८४।

गुरुकुल मे प्रवेश पा सकते थे। उदाहरणार्थ, महानाम्नी ऋचाओ के लिए ब्रह्मचर्य का आचरण करनेवाले माहानाम्निक और आदित्यव्रत (कृत्यविशेष) का अध्ययन करनेवाले आदित्यव्रतिक कहलाते थे। भाष्यकार ने तिलव्रती, चातुर्मासक या चातुर्मासी ब्रह्मचारी का उल्लेख किया है। चातुर्मासी लोग चातुर्मास्य यज्ञ के व्रती होते थे।[१]

स्नातक—धर्मसूत्रो मे वसन्त मे उपनयन-सस्कार का विधान है। इससे अनुमान होता है कि इस समय मकर-सक्रान्ति के वाद नवीन सत्र का प्रारम्भ होता था। अध्ययन की समाप्ति गोदान-सस्कार के वाद होती थी। भाष्य मे सस्कार के रूप मे तो गोदान का उल्लेख नही है, किन्तु उपाध्याय को गौ देने का निर्देश अवश्य है।[२] अध्ययन की समाप्ति के वाद गुरु की अनुज्ञा लेकर विशिष्ट स्नान के वाद विद्यार्थी गुरुकुल छोडता था।[३] तव उसे स्नातक कहते थे। यात्रादिगण मे स्नान शब्द का परिगणन वेद-समाप्ति के अर्थ मे मिलता है और उससे स्वार्थ मे क प्रत्यय होकर स्नातक शब्द निष्पन्न हुआ है (५-४-२९)। स्रग्वी शब्द भी स्नातक का वाचक था। उत्तरोत्तर श्रेष्ठता की दृष्टि से भाष्यकार ने स्रग्वितर और स्रग्वितम तथा स्रजीयान् और स्रजिष्ठ शब्दो का प्रयोग किया है।[४] स्रग्विन् मे विन् प्रत्यय के निर्देशक पाणिनि-सूत्र मे स्वय इस वात की ध्वनि है कि स्रग्वी शब्द सामान्य माल्यधारी के लिए व्यवहृत नहीं होता था।[५]

छात्र के उपलक्षण—छात्रो की अपनी वेशभूषा थी, जिससे वे सरलता से पहचाने जा सकते थे। आश्चर्य की ही वात है कि सम्पूर्ण महाभाष्य मे यज्ञोपवीत का कही उल्लेख नहीं मिलता। दण्ड, विशेषत पालाशदण्ड, मृगचर्म[६] और कमण्डलु विद्यार्थी के ये सामान्य उपलक्षण थे। भाष्यकार ने छात्र को अनेक वार कमण्डलुपाणि कहा है।[७] उनके मत से एक वार छात्र को देखकर कोई भी सरलता से समझ सकता था कि कमण्डलु छात्र का लक्षण (पहचान) है।[८] दण्ड सम्भवत, वडी आयु के छात्रो के लिए आवश्यक नही था।

---

१. तदस्य ब्रह्मचर्यम्, महानाम्नीश्चरति माहानाम्निकः, आदित्यव्रतिकः, महानाम्नीसहचरितं व्रतं महानाम्न्यो व्रतमिति। अवान्तरदीक्षादिभ्यो डिनिर्वक्तव्यः अवान्तरदीक्षी तिलव्रती। अष्टाचत्वारिंशतो ड्वुश्चडिनिश्च वक्तव्यः—अष्टाचत्वारिंशक अष्टाचत्वारिंशी चातुर्मास्यानां यलोपश्च ड्वुश्च डिनिश्च वक्तव्यः, चातुर्मासिकः चातुर्मासी महानाम्नीनां ब्रह्मचर्यं माहानाम्निकम् आदित्यव्रतिकम्।—५-१-९४, वा० १ से ६, पृ० ३४१-४२।

२. उपाध्यायाय गोर्दीयते।—२-३-१४, वा० १, पृ० ४१६।

३. अधीत्य स्नात्वा गुरुभिरनुज्ञातेन खट्वाऽऽरोढव्या।—२-१-२६, पृ० २८१।

४. ६-४-१६३, वा० २, पृ० ५००।

५. ५-२-२१।

६. ३-१-२५।

७. कमण्डलुपाणिश्छात्रः।—१-४-८४, पृ० २०१ तथा २-३-२१, पृ० ४२३।

८. अपि भवान् कमण्डलुपाणिं छात्रमद्राक्षीत्। सकृदसौ कमण्डलुपाणिश्छात्रो दृष्टस्तस्य तदेव लक्षणं भवति।—१-४-८४, वा० २, पृ० २०१।

आचरणविषयक नियम तथा नैतिक मर्यादा—छात्रों के लिए आचरण—सम्बन्धी नियम निश्चित थे। प्रत्येक छात्र गुरु का सादर अभिवादन करता था।[1] यह शिक्षा पुत्र को माता-पिता ही दे देते थे। यह बात भी भाष्य मे स्पष्ट है। छात्र भूमि पर सोते थे।[2] खट्वा पर शयन वर्जित था। स्नातक बनने के बाद ही खट्वा पर सोया जा सकता था। जो इस नियम का उल्लघन करता था, वह व्रतहीन माना जाता था। स्थण्डिल-शयन का व्रत उपनयन के साथ ही लिया जाता था। गुरुकुल मे खट्वारोहण सम्भव न था। इसलिए, खट्वारोहण का सामान्य अर्थ विद्या बिना पूर्ण किये घर वापस चला जाना या विवाह कर लेना माना जाता था।[3] खट्वारूढ शब्द क्षेप या निन्दा का द्योतक था। काशिका-काल तक आते-आते यह विमार्ग पर चलने का उपलक्षण बन गया और सभी अविनीत छात्रों को खट्वारूढ कहा जाने लगा।[4] ब्रह्मचारी स्थाण्डिल या स्थण्डिलशायी कहा जाता था।[5] गुरु-शुश्रूषा छात्र का आवश्यक धर्म था। छात्र इसमे मानसिक सुख का अनुभव करते थे। गुरु को स्नान कराना, उसके पाँव दबाना, उच्छिष्ट भोजन करना आदि बाते शुश्रूषा मे सम्मिलित थीं। उच्छिष्ट भोजन और पादोपसग्रहण को छोड़कर शेष परिचर्या गुरु-पुत्र की भी करनी होती थी और यदि गुरुपुत्र भी गुरु हुआ, तो उसका उच्छिष्ट भोजन और पाद-सवाहन भी उचित माना जाता था।[6] भाष्यकार ने गुरु का स्नापन गुरु के सुख का कारण बतलाया है, शिष्य के सुख का जनक नहीं। इससे अनुमान होता है कि शिष्य गुरु-शुश्रूषा मे आत्मसन्तोष का अनुभव नहीं करते थे।[7] बहुत-से कार्य वे विवशता तथा लोभ से करते थे। वे जानते थे कि गुरु-शुश्रूषा से पारलौकिक सुख प्राप्त होता है और यदि गुरु प्रसन्न रहे, तो अध्यापन भी अच्छा करेंगे।[8] इस प्रकार आत्म-कल्याण की भावना ही शुश्रूषा के पीछे काम करती थी। काम मे भूल हुई कि डाट-फटकार। बहुत-से गुरु औचित्य की चिन्ता किये बिना छात्रों को काम मे लगाये रहते थे। इसलिए, चतुर छात्र कार्य और डाट से बचने के लिए उपाध्याय की दृष्टि से कतराकर रहते थे।[9]

---

१. १-४-५३, पृ० १८४ तथा १-४-५१, पृ० १७७।

२. ४-२-१५।

३. अधीत्य स्नात्वा गुरुभिरनुज्ञातेन खट्वाऽऽरोढव्या। य इदानीमतोऽन्यथा करोति स उच्यते खट्वारूढो जाल्मः। नातिव्रतवान्—२-१-२६, पृ० २८१।

४. खट्वारोहणं चेह विमार्गप्रस्थानस्योपलक्षणम्। सर्व एवाविनीतः खट्वारूढ इत्युच्यते।—(वही) काशि०।

५. ४-२-२५।

६. गुरुवदस्मिन् गुरुपुत्रेऽपि वर्त्तितव्यमन्यत्रोच्छिष्टभोजनात् पादोपसंग्रहणाच्च। यदि च गुरुपुत्रोऽपि, गुरुर्भवति तदपि कर्त्तव्यं भवति।—१-१-५६ वा० ८, पृ०,०३३८।

७. कर्मणि च येन सस्पर्शात् कर्त्तुः शरीरसुखम् सुखं मानसी प्रीतिः। कर्त्तुः किम्? गुरोः स्नापनं सुखम्—३-३-११६ काशिका।

८. ये तावदेते गुरुशुश्रुषवो नामैतेऽपि स्वभूत्यर्थमेव प्रवर्त्तन्ते पारलौकिकं च नो भविष्यति। इह च नः प्रीतो गुरुरध्यापयिष्यतीति।—३-१-२६, वा० १४, पृ० ७७।

९ उपाध्यायादन्तर्धत्ते। पश्यत्ययं यदि मामुपाध्यायः पश्यति ध्रुवं प्रेषणमुपालम्भो वा। स बुद्ध्वा सम्प्राप्य निवर्त्तते।—१-४-२८, पृ० १६४।

छात्रो को, विशेषत' छोटे छात्रो को भिक्षा माँगकर निर्वाह करना पडता था। यद्यपि भाष्य मे विद्यार्थियो द्वारा भिक्षा माँगे जाने का प्रत्यक्ष उल्लेख नही है, फिर भी अनेक सकेतो से इसका अनुमान होता है।[१]

गुरुकुल-वास निश्चय ही कष्टकर था।[२] एक तो यम-नियमो और व्रतो का पालन, उसपर अनिश्चित भोजन और तदुपरि यदा-कदा गुरुओ का दुर्व्यवहार। अध्ययन के लिए छात्रो को कडा परिश्रम करना पडता था और वहुत-से छात्र उससे डरकर ही अध्ययन छोड बैठते थे।[३] वहुत-से वालक गुरुओ की कठोरता के भय से गुरुकुलो मे जाने से ही डरते थे। अध्ययन से इस प्रकार डरनेवाले छात्र के लिए भाष्य मे 'पर्यध्ययन' शब्द का प्रयोग हुआ है।[४] फिर भी, शिष्य का कर्त्तव्य था कि वह 'आचार्यभोगीन' रहे। शिष्य और उसकी वे सारी क्रियाएँ, जिनसे आचार्य को शारीरिक सुख प्राप्त हो, आचार्यभोगीन कही गई है।[५] इसलिए, कष्ट सहकर भी आश्रम मे रहना छात्र का कर्त्तव्य था। बार-बार गुरुकुल-परिवर्त्तन करनेवाले या प्रविष्ट होकर शीघ्र ही गुरुकुल छोडकर चले जानेवाले छात्र 'तीर्थकाक' या 'तीर्थध्वाक्ष' कहे जाते थे।[६]

शिक्षक—भाष्य मे शिक्षा प्रदान करनेवालो के लिए शिक्षक, उपाध्याय, प्रवक्ता, श्रोत्रिय, अध्यापक, गुरु और आचार्य शब्द मिलते हैं। इनमे श्रोत्रिय शब्द वेदाध्यायी का पर्याय है। 'वेद का अध्ययन करता है', इस अर्थ मे श्रोत्रिय शब्द प्रयुक्त होता था।[७] इसका शिक्षण से सीधा सम्वन्ध नही था। कोई शिक्षक श्रोत्रिय भी हो, यह दूसरी वात है। छात्र भी श्रोत्रिय कहे जा सकते थे। इसी प्रकार, प्रवक्ता प्रवचनकार या व्याख्याता होता था। वह शिक्षक भी हो सकता था, यद्यपि उसका शिक्षक होना आवश्यक नही था।[८] आचार्य किसी विषय के उच्च कोटि के अधिकारी विद्वान् और मौलिक चिन्तक को कहते थे। ये लोग किसी सिद्धान्तविशेष के प्रवर्त्तक या मौलिक कृति के प्रणेता होते थे। विशिष्ट आचार्य को प्राचार्य कहते थे।[९] चरणो के प्रमुख प्राय प्राचार्य तथा उनसे सहयोगी आचार्य होते थे। पतजलि ने पाणिनि को आचार्य कहा है, कात्यायन को नही। आचार्यो के प्रति वडी सम्मान-भावना थी। उनकी शैली, उनका आचार, उपचार सभी

---

१. भिक्षा वासयति।—३-१-२६, वा० २, पृ० ७१।

२. २-१-१, पृ० २२७।

३. अध्ययनात् पराजयते। य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति दु:खमध्ययन दुर्धरं च गुरवश्च दुरुपचारा इति। स बुध्या सम्प्राप्य निवर्त्तते।—१-४-२६, पृ० १६३।

४. २-२-१८, पृ० ३५०।

५. ५-१-९, वा० ३, पृ० ३००।

६. यथा तीर्थे काका न चिरं स्थातारो भवन्त्येवं यो गुरुकुलानि गत्वा न चिरं तिष्ठति स उच्यते तीर्थकाक इति।—२-१-४२, वा० १, पृ० २९४।

७. ५-२-८४, पृ० ४०१।

८. २-१-६५।

९. २-२-१८, पृ० ३५०।

कुछ प्रामाणिक माना जाता था।[1] ये लोग अध्यापन भी करते थे, किन्तु यह आवश्यक नही था। पाणिनि ने भी आचार्य का उपर्युक्त अर्थ ही मानकर उनके प्रणीत ग्रन्थो का अध्ययन करनेवाले अन्तेवासियो का उल्लेख किया है, आचार्यो के अन्तेवासियो का नही।[2] और, पतजलि ने इस सूत्र का जो उदाहरण दिया है, वह भी उक्त कथन की पुष्टि करता है। 'आपिशलपाणिनीयव्याडीय गौतमीया' मे उपसर्जन चारो आचार्य ग्रन्थकार है, शिक्षक नही।[3] पतजलि ने आचार्य को प्रमाण-भूत कहा है। उसके भी अन्तेवासी हो सकते थे और प्राय होते भी थे, फिर भी सामान्यतया आचार्य से जिस अर्थ का बोध आज होता है, उस अर्थ मे गुरु शब्द का प्रचार था। अन्तेवासी के सन्दर्भ मे ही इस शब्द का व्यवहार होता था।[4] वह उपाध्याय से अधिक सम्मान का बोधक था। उपाध्याय सामान्यतया हर शिक्षक को कहते थे।[5] पतजलि-काल मे यही शब्द शिक्षक के अर्थ मे प्रचलित था। गुरुकुल से भिन्न शालाओ के शिक्षक भी, जिनमे विद्यार्थी पढने मात्र के लिए जाते थे और पढकर अपने घर चले जाते थे, उपाध्याय कहलाते थे। उपाध्याय और शिष्य सहचर शब्द थे।[6] आचार्य नि शुल्क पढाते थे और उपाध्याय शुल्क लेकर, यह पतजलि के किसी उल्लेख से स्पष्ट नही होता। पतजलि के अनुसार गुरु भी उपाध्याय होता था। विद्यार्थी जिसके पास जाकर पढे, उसे उपाध्याय कहते थे।[7] भाष्य से उसके शुल्क लेने का पता नही चलता। केवल उपाध्याय को गाय दी जाती है, यही उल्लेख वार-वार मिलता है।[8] गोदान विद्या-समाप्ति पर भी होता था। गुरु और उपाध्याय मे अधिक-से-अधिक इतना अन्तर कहा जा सकता है कि गुरु के पास सौ-सौ योजन की दूरी से छात्र विद्या प्राप्त करने आते थे[9] और उपाध्याय के निकट पास-पडोस के विद्यार्थी। इस प्रकार, गुरु उच्च विद्याओ का शिक्षक था और उपाध्याय उससे नीची कोटि का। यह कहना भी सर्वथा ठीक नही है कि उपाध्याय सामान्य लौकिक विषयो और प्रारम्भिक वर्गो के शिक्षक होते थे और गुरु तथा आचार्य वेद-वेदागो के। महाभाष्य मे अनेक वार उपाध्याय को वेद का शिक्षक कहा है।[10]

शिक्षक और उपाध्याय मे एक अन्तर अवश्य मालूम होता है। उपाध्याय वेद तथा अन्य बौद्धिक विषय ही पढाते थे[11] और शिक्षक प्रायोगिक विषय भी पढ़ाते थे। धनुर्विद्या सिखानेवाले

---

१. प्रमाणभूत आचार्यः।—१-१-१, वा० ७, पृ० ९७ एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते।—आ० २, पृ० ८१ तथा किमिदमाचारादिति आचार्याणामुपचारात्।—आ० २, पृ० ८१।

२. ६-२-३६।

३. वही, पृ० २५७।

४. २-१-१, पृ० २३१।

५. १-४-२९, वा० २, पृ० १६६।

६. १-१-५६, वा० १, पृ० ३३४।

७. उपेत्याधीयतेऽस्मादुपाध्यायः।—३-३-२०, वा० १, पृ० ३००।

८ १-४-३२, पृ० १६७ तथा २-३-१४, वा० १, पृ० ४१६।

९. योजनशतादभिगमनमर्हतीति योजनशतिको गुरुः।—५-१-७४, वा० २, पृ० ३३७।

१०. १-१-१, वा० १३, पृ० १०४।

११. धनुषि शिक्षते।—१-३-२१, वा० ३, पृ० ६२।

शिक्षक होते थे, उपाध्याय नही। अध्यापक सामान्य शिक्षक होते थे। ये भी तान्त्रिक या प्रायोगिक विषय नहीं पढाते थे। गुरु सभी प्रकार की बौद्धिक, शारीरिक और नैतिक या धार्मिक शिक्षा देते थे। शिक्षकवाची सभी शब्दो मे गुरु प्रतिष्ठततम पद था। भाष्य मे वेद-वेदागो के लिए अध्ययन और धनुर्विद्यादि के लिए शिक्षण शब्द का प्रयोग हुआ है। यह भी उपर्युक्त कथन का पोषक है। भाष्य की उद्योत टीका मे आचार्य को उपनयन करनेवाला तथा तत्पश्चात् सम्पूर्ण वेद पढानेवाला वतलाया है और उपाध्याय को वेद के अशविशेष का शिक्षक।[1]

पतजलि ने खण्डिकोपाध्याय[2] का उल्लेख किया है। खण्डिक प्रारम्भिक कक्षाओ के शिक्षक होते थे, जो छात्रो को वेदाश कण्ठस्थ करा देते थे तथा अन्य विषय भी पढाते थे। अध्यापको मे काष्ठाध्यापक[3] का अर्थ स्पष्ट नहीं है। काष्ठाध्यापक का सम्बन्ध काष्ठा (समय-विभाग) से नहीं था, इतना तो स्पष्ट है, क्योकि काष्ठादिगण मे काष्ठ शब्द परिगणित है, काष्ठा नहीं। काष्ठ भूमि की माप थी और मापक के लिए भी इसका प्रयोग होता था। सम्भव है दारुणाध्यापक (विना थके धुआँधार पढाये जानेवाला) के समान काष्ठाध्यापक शुष्क पाठक का बोधक रहा हो। भाष्य मे शोभन[4] और जटिलक[5] अध्यापक का भी उल्लेख है।

अध्यापक लोग वैतनिक भी होते थे और विशिष्ट जन अपने वालको को घर पर पढाने के लिए भी उन्हे नियुक्त कर लेते थे। भाष्यकार ने महीने-भर प्रतिदिन कुछ समय पढाने के लिए वेतन पर नियुक्त अध्यापक को मासिक अध्यापक कहा है।[6] इसी प्रकार षाण्मासिक, वार्षिक या सावत्सरिक अध्यापक होते थे।

अध्ययन की कष्टसाध्यता—शिष्य और गुरु का मिलन शिष्य के लिए ब्रह्मतेज की वृद्धि के निमित्त माना जाता था। भाष्यकार ने इसे ब्रह्मवर्चस्य कहा है।[7] काशिकाकार ने गुरु-शिष्य-सयोग को ब्रह्मवर्चस्य माना है। शिष्य को विश्वास रहता था कि यदि उपाध्याय आ गये, तो उसका नियमित अध्ययन निश्चित है और वह अध्ययन जल्दी-जल्दी भी चलेगा।[8] अध्ययन की साधना योग कहलाती थी। ब्रह्मचारी योगसाधक माना जाता था।[9] अनेक कष्टो के बीच वह विद्याध्ययन करता था। ठड मे वह उपले (कारीष) जलाकर पढता था। सम्भव है, रात्रि मे

---

१. उपनीय सर्ववेदाध्यापकरुपाचार्य ..तया वेदैकदेशाद्यध्यापक उपाध्यायः।—उद्योतटीका, १-१-५६।

२. १-१-१, वा० १३, पृ० १०४।

३. ८-१-६८, पृ० ३०१।

४. ८-१-६७, वा० १, २, पृ० ३००।

५. १-२-३२, वा० ४, पृ० ५११।

६. ५-१-८०, वा० १, २, पृ० ३३९।

७. ब्रह्मवर्चस्य निमित्तं संयोगो ब्रह्मवर्चस्यः।—५-१-३९, वा० १, पृ० ३२३ तथा का०।

८ उपाध्यायश्चेदागतः क्षिप्रमध्यैष्यामहे। उपाध्यायश्चेदागतः आशसे युक्तोऽधीयीय।—३-३-१३३ वा १, पृ० ३२४।

९. युज्यते ब्रह्मचारी योगम्।—३-१-८७, वा० १५, पृ० १५५।

जलती कारीष-अग्नि के प्रकाश मे वह पुस्तको मे भूले अश भी देखता जाता हो।[1] गुरुओ का प्रेषण और उपालम्भ भी कम कष्टदायी न था।[2] बहुत-से गुरु दुरुपाचार भी होते थे।[3] फिर भी, सौ-सौ योजन चलकर विद्यार्थी अध्ययन के लिए आते थे[4] और अध्ययन मे श्रम करते थे। भाष्य मे ऐसे दो छात्रो का उल्लेख है, जो पूरी रात और पूरे दिन पढते रहे थे।[5] शीत और रात्रि मे वे अग्नि के पास बैठकर पढते थे।[6] कभी ऊँचे स्वर से बोल-बोलकर पढते थे और कभी धीरे-धीरे।[7] वाक्यो को कण्ठस्थ कर लेना होता था। कण्ठस्थ वाक्य को सघुष्ट या सघुषित कहते थे।[8] शिक्षक भी उच्च स्वर मे बोलकर पढाते होगे। भाष्य मे एक ऐसे शिक्षक का उल्लेख है, जिसकी आवाज बैठ गई है।[9] किन्ही छात्रो मे बहुत शीघ्र पढ लेने की कामना होना स्वाभाविक है।[10] ऐसे छात्र को शीघ्रता न करने का भी निर्देश एक स्थान पर मिलता है। इच्छा के समान होने पर भी कुछ विद्यार्थियो का पढना सार्थक होता और कुछ निष्फल हो जाते थे।[11] यद्यपि प्रत्येक शिक्षक यह स्वीकार करता था कि प्रयत्न सफल हो, किन्तु यह सम्भव नही हो पाता था। कुछ विद्यार्थी प्रयत्न करने पर भी अप्रवीण रह जाते थे और कुछ बिना विशेष श्रम किये भी प्रवीण हो जाते थे।[12] फिर भी, शिक्षा का उद्देश्य था कि प्रयत्न फलहीन न हो। जो छात्र अध्ययन मे समर्थतर होता था, उसे आशुतरग्रन्थ कहते थे।[13] उसका सम्मान भी अधिक होता था। उदाहरणार्थ, देवदत्त और यज्ञदत्त दोनो आढ्य, अभिरूप, दर्शनीय और पक्षान्त हो, किन्तु देवदत्त यदि स्वाध्याय मे यज्ञदत्त से विशिष्ट हो, तो देवदत्त अधिक सम्मान का भागी होता था।[14] बुद्धि की कमी या अध्यापक की त्रुटि से पढाया हुआ पाठ समझ मे नही

---

१. कारीषोऽग्निरध्यापयति ।—३-१-२६, वा० २, पृ० ७१।

२. १-४-२८, पृ० १६४।

३. १-४-२६, पृ० १६३।

४. ५-१-७४, वा० २, पृ० ३३७।

५. इमकाभ्यां रात्रिरधीता अथो आभ्यामहरप्यधीतम् ।—२-४-३२, वा० ४, पृ० ४७८।

६. १-१-४३, पृ० २५४।

७. उच्चैरधीयान नीचैरधीयान ।—वही।

८. १-१-४४, वा० २२—४, पृ० २७५।

९. उपादास्तास्य स्वरः शिक्षकस्य ।—१-१-२०, वा० ६, पृ० १९६।

१०. १-३-२१, वा० २, पृ० ६२९९।

११. समानमीहमानानां केचिदर्थैर्युज्यन्तेऽपरे न ।—आ० २, पृ० ७९।

१२. फलवता च नाम प्रयत्नेन भवितव्यम्, न च प्रयत्नः फलाद्व्यतिरेच्यः। व्यतिरेकोऽपि वै लक्ष्यते। दृश्यन्ते हि कृतप्रयत्नाश्चाप्रवीणा अकृतप्रयत्नाश्च प्रवीणाः।—आ० १, वा० ८, पृ० २९।

१३. समर्थतरोऽयं माणवकोऽध्ययनायेत्युच्यते आशुतरग्रन्थ इति गम्यते।—२-१-१, वा० ७, पृ० २४५।

१४. देवदत्तयज्ञदत्तावाढ्यावभिरूपा दर्शनीयो पक्षवन्तो। देवदत्तस्तु यज्ञदत्तात्स्वाध्यायेन विशिष्टः।—२-१-६०, वा० २, पृ० ३१७।

आता। कभी-कभी पूरे मास पढने पर भी अनुवाक छात्र की समझ मे नही आता था।[1] रात्रि के समय छात्रो मे पढ़ने की होड़ लगती थी। औरो के पढ़ने पर अकेले एक का सोना कैसा ?[2] सामान्यतया प्रदोष और रात्रि मे अध्ययन नहीं होता था। वेदाध्ययन तो इन कालो मे वर्जित ही था। अत, निशा और प्रदोष मे पढनेवाले छात्र नैश या नैशिक और प्रदोष या प्रादोषिक कहे जाते थे।[3]

अनध्याय—चतुर्दशी और अमावास्या के दिन अनध्याय रहता था। इसके अतिरिक्त अनध्याय के दिनो के विषय मे भाष्य से कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। हां, काशिका से इतना अवश्य पता चलता है कि अनध्याय छात्रो को बहुत प्रिय था[4] और उसकी उत्सुकता से प्रतीक्षा किया करते थे। भाष्यकार के समय मे भी स्थिति इससे भिन्न नहीं रही होगी, यह हम अन्य अनेक उद्धरणो से अनुमान कर सकते हैं।[5]

अध्ययन के विषय—अध्ययन के विषयो मे वेद का स्थान प्रमुख था। पतजलि ने कहा है कि नियमपूर्वक पढे गये वेद-शब्द फलवान् होते हैं।[6] वेदाध्ययन की दो श्रेणियां थी—पारायण और अर्थग्रहण। ऋक् कहने से सपाठ-मात्र का ही बोध होता था, उसके अर्थ का नहीं। इसलिए, ऋगध्ययन का अर्थ ऋचा का पाठमात्र था, अर्थग्रहण नही।[7] पारायण या पाठ पर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता था। 'तदधीते तद्वेद' (४-२-५९) सूत्र की व्याख्या करते हुए पतजलि ने 'अध्येता' और 'विद्' का अन्तर स्पष्ट किया है। कोई केवल सपाठ पढता है, किन्तु उसका तत्त्व नहीं समझता और कोई समझता है, किन्तु सपाठ नही करता।[8] सपाठ या पारायण करनेवाले को पारायणिक कहते थे।[9] दो बार या तीन बार पारायण करनेवाले द्वैपारायणिक और त्रैपारायणिक कहलाते थे।[10] वेद का अध्ययन करनेवाले छात्र श्रोत्रिय होते थे, और उनका कर्म श्रौत।[11] भाष्य मे वैदिक छात्र के लिए वेदाध्याय शब्द का भी प्रयोग मिलता है।[12]

---

१. माससमधीतोऽनुवाको न चानेन गृहीतः।—२-३-६, पृ० ४०९।

२. ३-३-१०८, वा० १ पृ० ३०२।

३. निशा सहचरितमध्ययनं निशा तत्साहचर्यादस्यनैश. नैशिक., प्रादोष· प्रादोषिक।—४-३-५२ काशिका।

४. छात्रप्रियोऽनध्यायः।—६-२-१६ काशि०।

५. १-४-२६, पृ० १६३।

६. वेदशब्दा नियमपूर्वकमधीताः फलवन्तो भवन्ति।—आ० १, वा० ९, पृ० २३।

७. ऋगित्युक्ते सम्पाठमात्रं गम्यते। नास्या अर्थो गम्यते।—१-१-६९, वा० ३, पृ० ४३८।

८. भवति हि कश्चित् सम्पाठं पठति न च वेत्ति कश्चिच्च वेत्ति न च सम्पाठं पठति।—४-२-२९, पृ० २८६।

९. यः पारायणमधीते पारायणिकः स उच्यते।—५-१-७२, पृ० ३३६।

१०. ५-१-२०, वा० २, पृ० ३१२।

११. ५-१-१३०, पृ० ३२६।

१२. ३-१-१३३, वा० ३, पृ० १९७।

वेद का सपाठ त्रैस्वर्यपूर्वक होता था। स्वय भाष्यकार त्रैस्वर्य पाठ कराते थे।[1] त्रैस्वर्य का अर्थ है तीन प्रकार के स्वर। इनमे कुछ उदात्त गुणवाले, कुछ अनुदात्त गुणवाले और कुछ उभय-गुणविशिष्ट। इस तृतीय स्वर को भाष्यकार ने शुक्ल और कृष्ण को मिलाकर बननेवाले कल्माप या सारग वर्ण की उपमा दी है।[2] वेद का मूल पाठ अनुदात रहे और स्वर-सम्बन्धी किसी प्रकार व्यतिक्रम न होने पाये, इस वात की ओर प्रारम्भ से ही ध्यान रखा जाता था। जो बालक उदात्त के स्थान पर अनुदात्त उच्चारण करता, उसके गाल पर तमाचा पड़ता था।[3] सामपाठ माणवकों को कण्ठस्थ करा दिया जाता था और वे यथावसर उसका गान करते थे।[4] महाभाष्य-काल मे पारायण-अध्ययन का ही प्रचार अधिक था।[5]

वेदपाठ के कुछ नियम थे। साम पूर्वाह्ण मे गाया जाता था। अनुवाक का अध्ययन प्रात काल मे ही होता था।[6] भाष्यकार ने इसे ऋण-कृत्य कहा है। ऋण-कृत्य नियोगत कर्त्तव्य होते थे। कुछ स्थान अध्ययन के लिए वर्जित थे। श्मशान और चतुष्पथ मे पढ़ना शास्त्रत. निषिद्ध था। इसी प्रकार चतुर्दशी और अमावास्या को अध्ययन निषिद्ध था। यह वात यद्यपि प्रसंगवश 'अस्यवाम' सूक्त के सम्बन्ध मे कही गई है, किन्तु सभी वैदिक अध्ययन के विषय मे लागू होती थी।[7] स्वय पाणिनि ने कुछ देशो और कालो को अध्ययन के अयोग्य वतलाया है। काशिका-कार ने पाणिनि के अदेश-काल को शास्त्र द्वारा अध्ययन के निषिद्ध देश-काल मानकर उनके उपर्युक्त उदाहरण ही दिये है। जो इन नियमो का उल्लघन करता था, उसे अन्य छात्रो से अलग प्रदर्शित करने के लिए उनके क्रमश श्माशानिक चातुष्पथिक, चातुर्दशिक और आमावास्यिक विशेषण नियत किये गये थे।[8] इसलिए, भाष्यकार ने कहा है कि वेद, शब्दशास्त्र-विहित नियमो के पालन के साथ पढे जाने पर ही फल देते हैं।[9]

पारायण या सपाठ ही पर्याप्त न था। वेद का अर्थ जानना-समझना भी आवश्यक था। जिसका केवल अध्ययन कर लिया, किन्तु अर्थ न समझा, उसे वाणी से बोला ही जा सकता है।

---

१. त्रैस्वर्येणाधीमहे।—१-२-३१, पृ० ५०७।

२. त्रिभिः प्रकारैरज्भिरधीमहे, कैश्चिदुदात्तगुणैः कैश्चिदनुदात्तगुणैः केश्चिदुभयगुणैः।—१-२-३१, पृ० ५०७।

३. य उदात्ते कर्त्तव्येऽनुदात्तं करोति खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति।—१-१-१, वा० १३, पृ० १०४।

४. गेयानि माणवकेन सामानि।—३-४-६७, वा० ४, पृ० ३६७।

५. २-३-६९, वा० ५, पृ० ४५६।

६. पूर्वाह्णे गेय साम। प्रातरध्येयोऽनुवाक'—कृत्यैर्नियोगे यद्ग्रहणम्। यद्यस्य नियोगतः कर्त्तव्यं भवति तत्तस्य ऋणं भवति।—२-१-४३, पृ० २९५।

७. देशः खल्वप्याम्नाये नियतः। श्मशाने नाध्येयं चतुष्पथे नाध्येयम्। कालः खल्वप्याम्नाये नियतः नामावास्यायां न चतुर्दश्याम्।—५-२-५९, वा० ४, पृ० ३९५।

८. ४-४-७१ का०।

९. वेदशब्दा नियमपूर्वकमधीताः फलवन्तो भवन्ति।—आ० १, वा० ९, पृ० २३।

उससे बुद्धि प्रकाशित नही होती। वह तो सूखे ईंधन के समान होता है, जो विना अग्नि के नही जल सकता।[1] इसलिए, पारायण मे तो पदपाठ, क्रमपाठ, सहितापाठ आदि के कारण सहिताओ का अनेक वार अध्ययन करना ही पड़ता था, अर्थज्ञान के लिए भी कई वार ग्रन्थ पढना होता था। कभी-कभी पाँच-छह वार पढाये जाने पर वात समझ मे आ पाती थी। शिक्षाशास्त्रियो मे इन विविध प्रकार के अध्ययनो को व्यक्त करने के लिए विशिष्ट शब्दावली प्रचलित थी। उदाहरणार्थ, एक ही सहिता का सामान्य रूप से अध्ययन करके फिर उसी का पदो की दृष्टि से अध्ययन द्विगुण अध्ययन और फिर उसी का क्रम की दृष्टि से अध्ययन त्रिगुण अध्ययन कहा जाता था।[2] पाणिनि ने अनेक वार या अनेक रूपो मे अध्ययन का उल्लेख किया है। पाणिनि के अनुसार पाँच वार या पाँच रूपो मे किया गया अध्ययन पचक कहलाता था। इसी प्रकार सप्तक, अष्टक, नवक, दशक अध्ययन होते थे।[3] पाणिनि के इस सूत्र पर भाष्यकार ने विस्तृत प्रकाश डाला है।[4] इसी प्रकार जो जितनी वार मे ग्रन्थ पर अधिकार कर पाता था, छात्रो मे उसी के अनुसार उसका स्थान होता था। छह वार मे ग्रन्थ का रहस्य समझ पानेवाला षट्क कहलाता था।[5] द्वितीय रूप से ग्रन्थ का समझना या ग्रहण करना द्विक ग्रहण कहा जाता था। तीसरा या चौथा अध्ययन या इसी प्रकार त्रिक, चतुष्क कहा जाता था।[6] पतजलि के समय वेदो की विभिन्न शाखाओ के अनुयायी अपनी शाखा मे प्रचलित पाठो को कठस्थ कर गाते थे।[7] कठ, कौथुम, कालाप, मौद, पैप्पलाद आदि वेद-भागो के गान का प्रचार बहुत अधिक था। पदपाठ और क्रमपाठ के गायक पदक और क्रमक कहलाते थे। ये लोग अध्ययन की दृष्टि से अविप्रकृष्ट माने जाते थे, क्योकि इनके विषय परस्पर सम्बद्ध थे।[8]

---

१. यदधीतमविज्ञात निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्केन्धो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥
—आ० १, पृ० ४।

२. द्विगुणमध्ययनं द्विगुणमध्ययनमित्युच्यते। चर्चागुणाः क्रमगुणाश्चापेक्ष्य भवति न संहितागुणान्श्चर्चागुणांश्च।—५-१-११९, पृ० ३५५-५६।

३. पञ्चकोऽधीतः सप्तकोऽधीतः—तस्य संख्यापरिमाणं चावृतयः पञ्चवाराः पञ्चरूपाण्यस्याध्ययनस्य पञ्चकमध्ययनम्।—५-१-५८ का०।

४. पृ० ३३५ से ३३८।

५. तावतिथेन गृह्णातीत्युपसंख्यानं कर्त्तव्यम्—षष्ठेन गृह्णातीति षट्कः—५-२-७७ वा० १, २ पृ० ३९९; पञ्चमेन गृह्णाति पञ्चकः।—४-१-३६, वा० २, पृ० ५२ तथा षष्ठेन गृह्णाति षट्कः।—वही, ३—५३।

६. वही।

७. अनुवादे चरणानाम्, नन्दन्तु कठकालापाः वर्धन्तां कठकौथुमाः उदगान्मोद पैप्पलादम्।—२-४-३, पृ० २६२।

८. अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम्।—२-४-५ का०।

इसी प्रकार क्रमक और वार्त्तिक थे (वृत्ति=संहिता)। कभी-कभी विभिन्न विषयो के छात्रो और पंडितो मे परस्पर विवाद भी छिड जाता था। ज्योतिषी लोग प्राय विरोधी होते थे और एक दूसरे का खण्डन करते थे। कठ, कालाप आदि जो यजुष्, आदि वेदो की शाखामात्र थे, परस्पर बहुत कम मतभेद रखते थे। पाणिनि ने इन दोनो स्थितियो को 'अनुवाद' और 'विप्रलाप' संज्ञा दी है।[1] चारो वेदो और वेदागो का अध्ययन ब्राह्मण विद्यार्थी निष्काम भाव से करते थे। वेदागो मे व्याकरण का महत्त्व भाष्यकार के समय मे बहुत माना जाने लगा था। उन्होने व्याकरण को उत्तरा विद्या कहा है। मुण्डकोपनिषद् ने ब्रह्मविद्या को छोडकर शेष सब विषयों को अपर-विद्या कहा है।[2] पहले शिक्षा प्रातिशाख्य और छन्द.शास्त्र पढा दिया जाता था और तत्पश्चात् व्याकरण का प्रारम्भ होता था।[3] व्याकरणो मे पाणिनीय सर्वाधिक समादृत था। इसीलिए, पतंजलि ने पाणिनि का यश आकुमार विस्तृत बतलाया है।[4] पाणिनि ने व्याकरण पढ़ाने की जो पद्धति दी थी, उसने शिक्षक और छात्र का काम अत्यन्त सरल कर दिया था। पहले भाषा-ज्ञान के लिए एक-एक शब्द कण्ठस्थ कराया जाता था। यह पद्धति कोष कण्ठस्थ करने जैसी और सफल न हो सकी। पतंजलि ने कहा है कि बृहस्पति ने इन्द्र को प्रतिशब्द पारायण कराया, किन्तु शब्दो का अन्त न मिला। ऐसी जनश्रुति चली आती है। बृहस्पति जैसा वक्ता, इन्द्र जैसा अध्येता और दिव्य सहस्र वर्षो की आयु। तो भी शब्दो का अन्त नही मिला।[5] फिर, आज की तो बात ही क्या? जो बहुत जीता है, वह सौ वर्ष जी लेता है। ऐसी स्थिति मे व्याकरण-ज्ञान के सरल उपाय की तलाश थी और वह उपाय पाणिनि ने किया। उन्होने लक्ष्य और लक्षण का प्रवर्त्तन कर काम को सुकर बना दिया। इनके अतिरिक्त वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण और वैद्यक मुख्य पठनीय विषय थे।[6] धनुर्विद्या भी सिखाई जाती थी,[7] किन्तु सामान्य पाठ्यक्रम मे उसको स्थान नही रहा होगा। वायसविद्या, गोलक्षण, अश्वलक्षण[8] आदि लौकिक विद्याएँ, जिनका उल्लेख पतंजलि ने किया है, पाठ्य-क्रम मे थे या नही, निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। याज्ञिक शास्त्र तो

---

१. अनोरकर्मकात्।—१-३-४९; विभाषा विप्रलापे।—१-३-५० तथा का०।

२. तत्रापराविद्या ऋग्वेदो यजुर्वेद. सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।—मुण्डकोप०, १-१-५।

३. व्याकरण नामेयमुत्तराविद्या। सोऽसौ छन्द.शास्त्रेष्वभिविनीत. उपलब्ध्यावगन्तुमुत्सहेत।—१-१-३२, पृ० ५०८।

४. आकुमारं यशः पाणिनः।— १-४-८६, पृ० २०२।

५. एवं हि श्रूयते बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच नान्त जगाम। बृहस्पतिश्च प्रवक्तेन्द्रश्चाध्येता दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालः न चान्तं जगाम। किं पुनरद्यत्वे ? य. सर्वथाचिरं जीवति वर्षशतं जीवति।—आ० १, पृ० १२।

६. आ० १, वा० ५, पृ० २१।

७. १-३-२१, वा० ३, पृ० ६२।

८. ४-२-६०, पृ० १८७।

अवश्य ही पाठ्य-क्रम मे सम्मिलित था। अंगविद्या, क्षत्रविद्या, धर्मविद्या तथा त्रिविद्या पाठ्य-विषयो की श्रेणी मे जा चुकी थी।[1] सूत्र-ग्रन्थ तो वेदागो के ही अन्तर्गत थे।

दण्ड—अध्ययन में दण्ड का स्थान था। शिक्षा-जगत् मे यह विश्वास था कि लालन या प्यार से वालको मे बहुत-से दोष आ जाते हैं और ताडन से गुण की वृद्धि होती है। इसीलिए उपाध्याय लोग वेदपाठ के समय अशुद्ध स्वर बोलनेवालो के तमाचे लगा देते थे।[2] किन्तु गुरु जिन हाथो से मारते थे, वे 'सामृत' होते थे, 'विषोक्षित' नही।[3] गुरु दोषो के लिए वालकों की भर्त्सना करते थे। वे इस प्रकार की आकृति भी बना लेते थे, जैसी कुपितो की होती है, यद्यपि वास्तव मे वे कुपित नही होते थे।[4] ऐसे समय छात्र गुरुओ से दूर रहते थे और जब उनका क्रोध शान्त हो जाता था, तब उनके सामने आते थे।[5]

अध्ययन-साफल्य एवं परीक्षा—स्वाध्याय मे पाणिनि ने वृत्ति (अप्रतिबन्ध) सर्ग (उत्साह) और तायन (स्फीतता) यह क्रम स्वीकार किया है। 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रम' (१-३-३८) सूत्र की काशिका वृत्ति भी इस कथन की समर्थक है कि तीक्ष्ण वुद्धि और उत्साह दोनो मिलकर अध्ययन को विशदीकृत वनाते हैं। भाष्यकार ने ज्ञान को ज्योति कहा है। ज्योति का मुख्य गुण है सततत्व।[6] एक ज्योति से दूसरी ज्योति जल जाती है, किन्तु पहली कम नही होती। इसी प्रकार, अध्ययन शिक्षक से अपक्रान्त होता है, वाहर निकलता है, किन्तु सदा के लिए या पूर्णत नही। उसे ग्रहण करनेवाले छात्रो को उनकी योग्यता के अनुसार लाभ पहुँचाता है। इसीलिए, कुछ प्रयत्न करने पर भी सफल नही हो पाते और कुछ विना प्रयत्न ही सफल हो जाते है।[7] कुछ छात्र साध्वध्यायी होते है और कुछ विलम्विताध्यायी।[8] समान इच्छा और प्रयत्न होने पर भी कुछ छात्र अर्थ (साफल्य) से युक्त होते हैं और कुछ नही। इस प्रकार के पातजल वक्तव्यो से इस बात का पता चलता है कि अध्ययन के अन्त मे विद्यार्थी की सफलता-असफलता का अंकन किया जाता था। शिक्षक भी इस वात को लक्ष्य मे रखकर पढाता था कि उसका प्रयत्न फलवान् हो। फिर भी, वह कभी-कभी फल से व्यतिरिक्त हो ही जाता था। साफल्याकन के लिए आचार्य या गुरु

---

१. वही।

२. य उदात्ते कर्त्तव्येऽनुदात्तं करोति खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति।—१-१-१, वा० १३, पृ० १०४।

३. सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणोदोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः॥—८-१-८, पृ० २७१।

४. अकुपिता अपि दृश्यन्ते वारकान् भर्त्सयमानाः। अन्ततस्ते तां शरीराकृतिं कुर्वन्ति या कुपितस्य भवति।—वही।

५. दूराच्च कुपिताद् गुरोः।—२-३-३५, वा० २, पृ० ४३०।

६. यद्यपक्रामति किं नात्यन्तायापक्रान्ति। सन्ततत्वात्। अथवा ज्योतिर्वज्ज्ञानानि भवन्ति।—२-३-२१, पृ० ४२३।

७. आ० १, वा० ८, पृ० २३।

८. ६-२-८०, पृ० २७३।

छात्र की परीक्षा लेता था। अध्ययन-सम्बन्धी परीक्षा का स्पष्ट उल्लेख पाणिनि और पतंजलि दोनों मे मिलता है। परीक्षा-काल में उच्चारण-सम्बन्धी एक भूल करनेवाले को ऐकान्यिक कहते थे। इसी प्रकार द्वैयन्यिक, त्रैयन्यिक से लेकर द्वादशान्यिक, त्रयोदशान्यिक चतुर्दशान्यिक[1] आदि सज्ञाएँ छात्रों को उनकी भूलो के अनुसार दी जाती। कहा नही जा सकता कि यह परीक्षा प्रतिदिन होती थी या निश्चित अवधि के पश्चात् या अध्ययन की समाप्ति पर। अध्ययन (पढना) से भिन्न वेत्तृत्व की परीक्षा किस प्रकार होती थी, यह भी भाष्य मे स्पष्ट नही है। पढाई प्राय. मौखिक चलती थी, यह बात भाष्य मे स्पष्ट है, इसलिए परीक्षा भी मौखिक ही होती होगी। मौखिक पढाई का यहाँ तक प्रचार था कि सूत्रकार को 'वृत्तं पारायणम्' जैसे प्रयोगो के लिए पृथक् सूत्र का निर्माण करना पडा, जिसपर भाष्यकार ने भी विस्तृत विवेचन किया है।[2]

स्नातको की कोटियाँ—अध्ययन के पश्चात् गुरुकुल से निलकनेवाले विद्वान् वाग्मी होते थे। वे किसी विषय की अधिकारपूर्वक व्याख्या कर सकते थे। अनावश्यक बहुत बकवास करनेवाले वाचाल या वाचाट कहलाते थे।[3] विशिष्ट विषयो के छात्रो और विद्वानों को उनके विषयों के आधार पर सम्बोधित किया जाता था। यजुष् का अधीती याजुष्क कहलाता था।[4] इसी प्रकार याज्ञिक, वैयाकरण, कठ, बह्वृच, औक्थिक, मीमासक आदि नाम सम्बद्ध विषयो के छात्रो और अध्यापको के लिए प्रचलित थे।[5] भाष्य ने व्याकरण के विद्वान् को अधीती, याज्ञिक्य मे दक्ष को परिगणिती और छन्दस् मे निष्णात व्यक्ति को आम्नाती कहा है।[6] अपरिपक्व ज्ञान-वाले वे वैयाकरण खसूचि कहलाते थे, जो कठिन प्रसग उपस्थित होने पर आकाश की ओर देखने लगते थे। किन्तु, खसूचि विशेषण विषय की निन्दा का द्योतक नही था। वह व्यक्ति से सम्बद्ध था।[7] व्याकरण, याज्ञिक्य आदि के अनियमित अध्यायी को उपहास मे 'प्रायेण वैयाकरण' या 'प्रायेण याज्ञिक' कहते थे। यह व्यग्य उनकी विषय-सम्बन्धी अस्थिरता का व्यजक था।[8] व्याकरणादि मे निष्णात वैयाकरणरूप, याज्ञिकरूप आदि विशेषणो से विभूषित होते थे।[9] इसके उलटे अपने विषय मे दुर्बल वैयाकरण याज्ञिक, तार्किक आदि वैयाकरणपाश, याज्ञिकपाश, तार्किक-

---

१. कर्माध्ययने वृत्तम्।—४-४-६३; बह्वृचपूर्वपदाट्ठच्—४-४-६४ तथा द्वादशान्यिकः त्रयोदशान्यिकः।—६-१-८५, वा० ४, पृ० १२२।

२. गेरध्ययने वृत्तम्।—७-२-२६, पृ० ११७-१८।

३. आलजाचटौ बहुभाषिणि कुत्सित इति वक्तव्यम्, योहि सम्यग् बहु भाषते वाग्मीत्येव स भवति।—५-२-१२५, पृ० ४२२।

४. १-४-१, वा० ३, पृ० ९८।

५. २-२-२९, पृ० ३७८।

६. २-४-३६ वा० १, पृ० ४३१।

७. वैयाकरणखसूचिः। किंव्याकरण कुत्सितमाहोस्विद् वैयाकरणः। वैयाकरणः कुत्सितः तस्मिन् कुत्सिते तत्स्थमपि कुत्सितं भवति।—२-१-५३, पृ० ३०७।

८. २-३-१८, वा० १, पृ० ४२०।

९. ५-३-६६, पृ० ४५८ तथा का०।

पाश आदि कहे जाते थे। भाष्यकार ने कहा है कि व्याकरण मे शोभन और शरीर मे कृश वैयाकरण पाश नही होता, क्योंकि जिस अर्थ मे शब्दविशेष की प्रवृत्ति होती है, उसमे दुर्बलता उसकी निन्दा का कारण बनती है। इसलिए, व्याकरण मे दुर्बल विद्वान् वैयाकरणपाश कहलाता है।[1]

स्वाध्याय और व्यवहार-काल—गुरुकुल छोडने के बाद भी अध्ययन-क्रम जारी रहता था। विद्याभ्यास की चार कोटियाँ भाष्यकार ने मानी है—आगम-काल, स्वाध्याय-काल, प्रवचन-काल और व्यवहार-काल।[2] आगम-काल गुरुकुलो मे गुरुमुख से विद्या-ग्रहण द्वारा व्यतीत किया जाता था। स्वाध्याय स्वय अध्ययन करने, भली भाँति अध्ययन करने और सुन्दर अध्ययन करने को कहते थे।[3] स्वाध्याय जीवन-भर जारी रहता था। प्रवचन का—अध्यापन का अवसर ब्राह्मणो को ही प्राप्त होता होगा। वास्तव मे, सबसे बड़ी परीक्षा व्यवहार-काल मे होती थी। यहीं विद्या की सफलता का मापदण्ड था। जो शिक्षक व्यवहार-काल पर दृष्टि रखते थे, वे निश्चय कोरे किताबी न होकर लोकदृष्टिवादी रहे होगे। भाष्यकार का उपर्युक्त कथन इस बात का प्रमाण है कि तत्कालीन शिक्षा भावी जीवन के लिए तैयारी मात्र तथा व्यावहारिक होती थी।

पार्षद संस्थाएँ और अनुसन्धान—स्वाध्याय के सुखद परिणाम तत्कालीन चतुर्मुखी चिन्तनाभिमुख कृतियो के रूप मे सामने आये। विद्वानो की एक बडी सख्या नवीन अनुसन्धानो मे रत थी। इन लोगो ने वेद, व्याकरण, ज्योतिष तथा अन्यान्य लौकिक विषयो पर इस काल मे नवीन ग्रन्थ लिखे गये, जिनका उल्लेख अन्यत्र हुआ है। उच्चारण के विषय मे एक बडा काम छन्दोग आम्नाय की राणायनीय और सात्यमुग्रि शाखा ने किया था।[4] वे लोग अर्ध एकार और अर्ध ओकार भी पढते थे। 'सुजाते ए अश्व सूनृते। अध्वर्यो ओ अद्रिभि सुतम्। शुक्रं ते ए' 'अन्यद्यजत ते ए अन्यत्।' इन साम-मत्रो के गान मे वे अर्ध एकार और अर्ध ओकार का भी उच्चारण करते थे। यह इन लोगो की पार्षद कृति थी, अन्यथा लोक और वेद मे अर्ध एकार या, ओकार प्रचलित नही था। प्रातिशाख्यकारो का यह काम उनकी मौलिक कल्पना थी। भाष्यकार ने इसे पार्षद कृति कहा है। उससे स्पष्ट है कि विद्वानो की परिषदें आजीवन स्वाध्याय मे रत रहती थी।

---

१. वैयाकरणपाश. याज्ञिकपाशः। अथ वैयाकरणः शरीरेण कृशो व्याकरणेन च शोभनः कर्त्तव्यो व्याकरणपाश इति। न कर्त्तव्यः। कथम्? यस्य भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने तद्गुणवक्तव्ये प्रत्ययेन भवितव्य न कार्श्यस्य भावाद् द्रव्ये वैयाकरणशब्दः।—५-३-४७, बा० ३, पृ० ४४१।

२. चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति। आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति।—बा० १, पृ० १२।

३. स्वमध्ययनं स्वाध्यायः सुष्ठु वाध्ययनं स्वाध्यायः शोभन वाध्ययन स्वाध्याय।—७-३-४, पृ० १७६।

४. भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकार चाधीयते। सुजाते ए अश्वसूनृते—पार्षदकृतिरेषा तत्र भवतां नैवहि लोके नान्यस्मिन् वेदेऽर्ध एकार अर्ध ओकारो वास्ति।—आ० २, पृ० ५४।

मौख सम्बन्ध—आर्ष, यौन, मौख और स्रौव ये चार प्रकार के सम्बन्ध[1] भाष्यकार ने बतलाये है। इनमे मौख सम्बन्ध गुरु-शिष्य-सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध इतना ही दृढ था, जितना यौन, अर्थात् पिता-पुत्र का सम्बन्ध होता है। एक चरण, अर्थात् एक शाखा से सम्बन्ध रखनेवाले सारे छात्रों और विद्वानो की इसी प्रकार एक जाति मानी जाती थी, जिस प्रकार एक गोत्र मे उत्पन्न लोगो की।[2] कठ, बह्वृच आदि शब्द इसी प्रकार जातिवाचक थे, जिस प्रकार औपगव (उपगु के अपत्य) आदि। पाणिनि और पतजलि दोनो मे विद्या और योनि इन दो सम्बन्धो को समान रूप से दृढ स्वीकार किया है। कभी-कभी इनका व्यतिकर भी हो जाता था। एक ही व्यक्ति पिता भी होता था और गुरु भी।[3] भाष्यकार ने पिता के अन्तेवासी भी बतलाये है। पुत्र पिता के अन्तेवासी दो स्थितियो मे होते थे। एक तो गुरुकुल मे जाने के पूर्व प्रत्येक पिता अपने पुत्र को प्रारम्भिक शिक्षा देता था। साथ ही, यदि वह स्वय विद्वान् और शिक्षक हुआ, तो अन्य बालकों के समान उसके अपने पुत्र भी शिष्य के रूप मे उसके पास रहकर अध्ययन करते थे। ऐसे ही शिष्यो को भाष्यकार ने 'पिता के अन्तेवासी' कहा है। और, इसी दृष्टि से पुत्र को धर्म पढाने, उसे धर्म का अनुशासन देने की बात कही गई है।[4] इस प्रकार, अन्य विद्यार्थी तो परस्पर सतीर्थ्य सम्बन्ध मे आबद्ध होते ही थे, गुरु-पुत्र भी सतीर्थ्य बन जाता था। ब्रह्मचारी और सतीर्थ्य शब्द भी स्थायी होते थे। वे विद्या-सम्बन्ध की दृढता के ही सूचक है।[5] गुरु-पुत्र के सम्बन्ध मे शास्त्रो ने व्यवहार-सम्बन्धी नियम भी निश्चित किये थे। उसका सम्मान पिता के कारण अन्य छात्रो से अधिक था। कभी-कभी गुरु-पुत्र भी, यदि वह विद्वान् हुआ, तो अध्यापन-कार्य करता था और गुरु के समान ही अपने शिष्य की सम्मान-श्रद्धा का अधिकारी होता था, किन्तु यदि वह अध्यापन न भी करता, तो भी उच्छिष्ट-भोजन और चरण-स्पर्श को छोडकर अन्य सेवाएँ वह अपने पिता के शिष्यो से ले सकता था।[6] इससे यह भी स्पष्ट है कि शिक्षण का कार्य अपने परिवारो मे परम्परागत चलता था और पिता के सामने ही उसके पुत्र अध्यापन का अभ्यास करने लगते थे। अनेक छात्रो के पिता ही उनके गुरु होते थे और पिता के समान मातुल भी अध्यापक होते थे। जिसका मातुल उपाध्याय होता, वह अन्य गुरुओ की अपेक्षा उसके पास पढ़ना अधिक पसन्द करता होगा। भागिनेय शिष्य को गुरुकुल मे गुरुपुत्र के समान कोई विशेषाधिकार नही प्राप्त था।[7]

गुरु-शिष्य-सम्बन्ध जीवन-भर चलता था। शिष्य गुरु के नाम से पुकारे जाते थे। महाभाष्य

---

१. १-१-४९, वा० ४, पृ० ३००।

२. गोत्रं च चरणैः सह तया गोत्रं च चरणानि च।—४-१-६३, पृ० ७२, ७३।

३. होतुः पुत्रः पितुरन्तेवासी।—६-३-२३, पृ० ३०८।

४. पुत्र व्रते धर्मम्, पुत्रमनुशास्ति धर्मम्।—१-४-५१, पृ० १७७।

५. ६-३-८६, वा० ३००, ८७, पृ० ३५४।

६. गुरुवदस्मिन् गुरुपुत्रेऽपि वर्त्तितव्यमन्यत्रोच्छिष्टभोजनात् पादोपसंग्रहणाच्च। यदि च गुरुपुत्रोऽपि गुरुर्भवति तदपि कर्त्तव्यं भवति।—१-१-५६, वा० ८, पृ० ३३८।

७. उपाध्यायस्य शिष्यो मातुलस्य भागिनेयं गत्वाह—उपाध्यायं भवानभिवादयतामिति। स गत्वा मातुलमभिवादयते।—३-३-१८, पृ० २९७।

५५

में अनेक गुरुओं और उनके शिष्यों का उल्लेख है। उदाहरणार्थ, कुछ नामों का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा —

गुरु	शिष्य	गुरु	शिष्य
शाकल्य	शाकल[1]	गर्ग (गर्गगोत्रापत्य)	गार्गीय[1]
औदमेघ्या	औदमेघ[2]	वत्स (")	वात्सीय[2]
काण्टाहृत (काण्टाहृति का पुत्र)	काण्टाहृत[3]	नागवित्तिक (नागवित्ति का पुत्र)	नागवित्त[3]
तैकायनीय (तैकायनि का पुत्र)	तैकायनीय[4]	औपगवि (उपगु-औपगव-औपगवि)	औपगवीय[4]
श्वासुरि (श्वसुर श्वसुर्य श्वासुरि)	श्वासुर[5]	कौलीनि (कुलू-कलीन-कौलीनि)	कौलीन[5]
स्वास्त्रीयि (स्वसा-स्वस्त्रीय-स्वास्त्रीयी)	स्वास्त्रीय[6]	ग्लौचुकायन (ग्लुचु-कायनि-पुत्र)	ग्लौचुकायन[6]
कापिञ्जलादि (कापिञ्जलादि पुत्र)	कापिञ्जलाद[7]	काण्ठ्यायन	काण्ठ्यायनीय[7]
वामरथ्य	वामरथ[8]	शालंकि	शालंक[8]
पैल	पैलीय[9]	कण्व	काण्व[9]
दाक्षि	दाक्ष[9]	चारायण	चारायणीय[10]
पाणिनि	पाणिनीय[10]	रौढि	रौढीय[10]
काश्यप	काश्यपीय[10]	जिह्वाकात्य	जैह्वाकात[11]
हरितकात्य	हारितकात[11]	पिङ्गलकाण्व	पैङ्गलकाण्व[11]

---

१. ४-१-१८, वा० १, पृ० ४३।
२. ४-१-८९, वा० २, पृ० १०२।
३. ४-१-७८, वा० १, पृ० ८१।
४. ४-१-९०, वा० ३, ४, पृ० १०८।
५. ४-१-९०, वा० ४, पृ० १०९।
६. ४-१-१६५, वा० १, पृ० १५९।
७. ४-१-१५१, पृ० १४८।
८. ४-१-१६५, वा० २, पृ० १६०।
९. ४-२-१०४, वा० २३, पृ० २१०।
१०. १-१-७३, वा० ६, पृ० ४६१।
११. वही, वा० ८, पृ० ४६१-६२।

निर्दिष्ट सूची में कुछ गुरु-शिष्यों के सम्बन्धी है, कुछ आचार्य हैं और कुछ आचार्यगोत्रीय। कुछ ऐसे भी है, जिनके पूर्वजो के शिक्षक होने के विषय मे कोई जानकारी उपलब्ध नही है। शिष्य भी गोत्रापत्यो के समान ही गुरु नाम के भागी थे। उनकी प्रतिष्ठा उनके गुरुकुल की प्रतिष्ठा के कारण होती थी। वे गुरु, आचार्य या उपाध्याय की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होते थे।[1] इस प्रकार ये, गुरु संस्था के पर्याय बन गये थे।

चरण—चरण वेदो की शाखा को कहते थे। उसके अध्ययन करनेवाले पुरुष भी चरण कहलाते थे।[2] चरण या उच्च कोटि की वैदिक अनुसन्धानकर्मी सस्थाएँ देश के कोने-कोने मे फैली थी। भाष्यकार के समय मे तीन विख्यात चरण देश के पूर्वी भाग मे, तीन उत्तर मे और तीन मध्य भाग मे अवस्थित थे।[3] ये चरण सम्पूर्ण उत्कर्ष पर थे। उन्होंने चरण-सम्बन्धो या चरणाख्या का उल्लेख किया है।[4] बह्वृच, कठ, कालाप, मौद और पैप्पलाद चरण तो अत्यन्त लोकप्रिय थे। भाष्यकार ने कहा है कि गाँव-गाँव मे काठक और कालापक ग्रन्थ पढाये जाते है।[5] यह कथन एक ओर वैदिक अध्ययन की लोकप्रियता पर प्रकाश डालता है और दूसरी ओर शिक्षा की व्यापकता पर। प्रत्येक चरण की अपनी अध्ययन-पद्धति अपने नियम, सिद्धान्त और आम्नाय होते थे। उपर्युक्त चरणो के धर्म और आम्नाय क्रमश. बाह्वृच्य, काठक, कालापक, मौदक और पैप्पलादक कहलाते थे।[6] इसी प्रकार, छन्दोगों, औक्थिको, याज्ञिको, नटो आदि के अपने-अपने आम्नाय थे।[7]

पाणिनि मे चरक का उल्लेख है। चरको की हितकर वस्तु चारकीण कहलाती थी।[8] चरक वैदिक विद्यार्थी थे, जो लोक-शिक्षा तथा लोक-कल्याण के लिए, समाज मे विचरण करते थे। बृहदारण्यक मे इस शब्द का प्रयोग घूमनेवाले ब्रह्मचारी के लिए हुआ है। चरक पतजलि के समय मे आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। ये प्रवचन, प्रश्नोत्तर तथा शास्त्रार्थ द्वारा लोगो की ज्ञान-वृद्धि करते थे।

कुछ चरण इतने प्रसिद्ध थे कि उनमें दीक्षित होकर विद्यार्थी गर्व का अनुभव करते थे। कभी-कभी वे इस कारण औरो को तुच्छ समझने लगते थे। इस विषय मे 'गोत्रचरणाच्छ्लाघात्याकारतदवेतेषु' (५-१-१३४) विशेप ध्यान देने योग्य है। काशिकाकार ने गार्ग्य और कठ

---

१. ४-२-१०४, वा० १४, पृ० २०८।

२. चरणशब्दः शाखानिमित्तः पुरुषेषु श्रूयते।—२-४-३ का०।

३. चरणसम्बन्धेन निवासलक्षणोऽण् वक्तव्य.। त्रयः प्राच्यास्त्रय उदीच्यास्त्रयो मध्यमाः। सर्वे निवासलक्षणाः।—४-२-१३८, वा० २, पृ० २१८।

४. बह्वृचश्चरणाख्यायाम्।—५-४-१५४, पृ० ५१४।

५. ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते—४-३-१०१, वा० १, पृ० २४६।

६. चरणाद् धर्माम्नाययोः कठानां धर्म आम्नायो वा काठकं कालापकम् मौदकम्, पैप्पलादकमिति—४-३-१२०, वा० ११, पृ० २५२।

७. छन्दोगौक्थिक याज्ञिकबह्वृच् नटोञ्ञः।—४-३-१२९।

८. माणवचरकाभ्यां खञ्।—५-१-११।

चरणो मे अवेत (प्रविष्ट) होकर प्राप्त गार्गिका और काठिका (गार्ग्यत्व और कठत्व) के कारण गर्व अनुभव करने एव दूसरो को छोटा समझनेवालो का उल्लेख किया है, जो इस बात का द्योतक है कि गार्ग्य और कठ चरणो की प्रतिष्ठा विद्वद्वर्ग मे बहुत अधिक थी।

स्त्रियों की शिक्षा—पतजलि-काल मे स्त्रियो मे भी शिक्षा का प्रसार था। सामान्य जनता के विषय मे तो निर्विवाद रूप से कुछ नही कहा जा सकता, किन्तु ब्राह्मण-स्त्रियो मे अध्ययन की प्रथा अवश्य थी। पतजलि ने आचार्या और उपाध्यायी का उल्लेख किया है। उपाध्यायी या उपाध्याया वे स्त्री-अध्यापिकाएँ कहलाती थी, जिनके पास पढने के लिए बाहर से छात्र आते थे।[1] लोकायत-सम्प्रदाय की व्याख्यात्री वर्णिका या वर्त्तिका नामक आचार्या का भी भाष्य मे उल्लेख मिलता है।[2] आपिशल और काशकृत्स्न के बनाये हुए शास्त्रो का अध्ययन करनेवाली आपिशला और काशकृत्स्ना ब्राह्मणियो,[3] कठ और बह्वृच शाखा की अध्येत्री कठी और बह्वृची स्त्रियो[4] के दर्शन भाष्य मे होते हैं। उदमेघ गोत्र की अध्यापिका औदमेघ्या का उल्लेख, जिनके शिष्य औदमेघ कहलाते थे, ऊपर हुआ ही है। फिर भी, 'छात्र्यादय शालायाम्' (६-२-८६) सूत्र के आधार पर कुछ विद्वानो ने पाणिनि-काल मे जो स्त्रियो के छात्रा-आवासो का अनुमान किया है, वह समीचीन नही है, क्योकि छात्र्यादिगण मे पठित शब्द छात्रि हैं; छात्री नही। यदि यह शब्द ईकारान्त होता, तो भी स्त्री छात्र का बोध नही हो सकता था, क्योंकि छात्र का स्त्रीलिंग रूप छात्रा होता है, छात्री नही। तथापि कुमारी श्रमणाएँ, प्राव्रजिताएँ और तापसियाँ तथा कुमारी अध्यापिकाएँ और पण्डिताएँ समाज मे विद्यमान थी, इसमे सन्देह नही।[5]

शिक्षा-संस्थाएँ और नैतिक स्खलन—वैदिक अध्ययन के पुनरुत्थान के इस युग की शिक्षा-सस्थाओ मे प्राय वे दोष आ गये थे, जो शिक्षा को अर्थ के साथ सयुक्त कर देने से आ जाते है। यज्ञ ब्राह्मणो की आय के बड़े साधन हो गये थे। याज्य कुलो मे उपाध्याय के शिष्यो को अग्रासनादि प्राप्त होते थे।[6] शिक्षा-सस्थाओ से श्रद्धालु यजमानो से अच्छे दान प्राप्त होते थे। सम्भव है, स्थायी सम्पत्ति भी उनके पास आ गई हो। फलत, गुरुकुलो मे विद्यार्थियो को खाने-पीने की पर्याप्त सुविधा प्राप्त थी। पाणिनीय विद्यापीठों मे ओदन की बहुतायत थी। चारायणीय गुरुकुलो मे कम्बल खूब प्राप्त होते थे। रौढीय सयास्नों से घृत अधिक मिलता था। कुछ छात्र इसी लोभ से इन सस्थाओ मे प्रवेश लेते थे।[7] शिक्षा-सस्थाओ

---

१. उपेत्याधीयते तस्या उपाध्यायी उपाध्याया।—३-३-२१, वा० १, पृ० ३०२।

२. वर्णिका-भागुरी लोकायतस्य-वर्त्तिका०।—७-३-४५, वा० ७, ८, पृ० १९०।

३. आपिशलमधीते ब्राह्मणी आपिशला ब्राह्मणी, काशकृत्स्नमधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी।—४-१-१४, वा० ३, ४, पृ० ३६, ३७।

४. ६-३-३५, वा० १०, पृ० ३२३।

५. कुमार: श्रमणादिभि.।—२-१-७०।

६. उपाध्यायस्य शिष्यो याज्ञकुलानि गत्वाऽग्रासनादीनि लभते।—१-१-५६, वा० १, पृ० ३३४।

७. १-१-७३, वा० ६, पृ० ४६१।

मे इस प्रकार के दोष पाणिनि-काल मे ही प्रविष्ट होने लगे थे। 'गोत्रान्तेवासिमाणवब्राह्मणेपुक्षेपे' (६-२-६९) सूत्र की व्याख्या मे काशिकाकार ने क्षेप के कुछ नवीन कारण भी दिये है। काशिका-काल तक आते-आते सामाजिक स्थिति ऐसी हो गई थी कि विना व्याकरण पढे हुए विद्यार्थी का शीघ्र विवाह नही होता था। इसलिए, कुछ छात्रो को कुमारी-लोभ से दाक्षादि की कृतियो का अध्ययन करना पड़ता था। इन लोगो को निन्दा के लिए ओदनपाणिनीय, कम्बलचारायणीय घृतरौढीय, कुमारीदाक्ष आदि नाम दिये गये थे। जो लोग अधिक भिक्षा पाने के लिए माणव वन जाते थे, वे भिक्षामाणव कहलाते थे।[१] स्वाभाविक था कि ये विद्यार्थी अध्ययन को महत्त्व न देकर जिस गुरुकुल मे अधिक सुख-सुविधा प्राप्त होती, वहाँ चले जाते और इस प्रकार वार-वार गुरुकुल वदलते रहते थे। ऐसे छात्रो के लिए तीर्थकाक, तीर्थध्वाक्ष आदि निन्दासूचक शब्द गढे गये थे।[२] ये लोग आनन्द मे वाधा आती देखकर अध्ययन-व्रत तोड देते और विवाह कर लेते थे। इस वढती प्रवृत्ति को रोकने के लिए खट्वारूढ जैसे निन्दक शब्दो का उपयोग चल पडा था।[३] इस प्रकार के छात्र गुरुकुल मे रहकर भी चरित्रहीनता का परिचय देते थे। भाष्यकार का यह कथन कि गुरुतल्पगामी का विनाश हो जाता है[४] और धर्मशास्त्रो द्वारा गुर्वङ्गना-समागम को महापातको मे सम्मिलित किया जाना इस वात का साक्षी है कि शिक्षा-सस्थाओ मे इस प्रकार से घृणित कृत्य भी यदा-कदा पाये जाते थे। दण्ड और अजिन लेकर विद्यार्थी का ढोंग करनेवाले लोग इतने वढ गये कि दाण्डाजिनिक शब्द ही ढोगी का पर्याय वन गया था।[५]

विद्यार्थी-वर्ग की इन दुर्वलताओ का मूल शिक्षको-सम्वन्धी पातजल वक्तव्यो मे ढूँढा जा सकता है। छात्र गुरुओ के प्रेषण और उपालम्भ से तग आ जाते थे।[६] इसलिए, वे उनसे मुँह छिपाते घूमते थे। अध्ययन भी शुष्क और क्लिष्ट था तथा गुरु लोग दुर्व्यवहार करते थे।[७] दारुणाध्यापक का उल्लेख भी भाष्य मे मिलता है।[८] गुरु की सेवा के अतिरिक्त छात्रो को गुरु के अपत्यो की भी सेवा-टहल करनी पडती थी। गुरुपुत्र स्वय को गुरु से कुछ कम नही मानते थे।[९] इसलिए, वहुत-से छात्र अध्ययन से परिम्लान हो जाते थे।[१०] इसी कारण गुरुकुल का जीवन कष्टकर हो चला था।[११]

---

१. ६-२-६९ का०।

२. २-१-४२, वा० १, पृ० २९४।

३ २-१-२६, पृ० २८१।

४ ध्वंसते गुरुतल्पगः।—३-२-४८ वा० ४, पृ० २१७।

५. अय. शूलदण्डाजिनाभ्यां ठक्ठञौ, दम्भो दण्डाजिनं तेनान्विच्छति दाण्डाजिनिकः।—५-२-७६ काशिका।

६. १-४-२८, पृ० १६४।

७. १-४-२६, पृ० १६३।

८. ८-१-६७, वा० २, पृ० ३००।

९. १-१-५६, वा० ८, पृ० ३३८।

१०. २-२-१८, पृ० ३५०।

११. २-१-१, पृ० २७७।

अध्याय २

वेद-संहिता और उनकी शाखाएँ

वाङ्मय—भाष्यकार ने वाङ्मय के निम्नलिखित विभाग कहे हैं।[1] (१) चार वेद, जिनमे ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएँ, यजुर्वेद की एक सौ एक, सामवेद की एक सहस्र तथा अथर्ववेद की नौ शाखाएँ है; (२) वेदाग, जिनमें शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण और छन्दस् एव ज्योतिष सम्मिलित हैं; (३) वेद के रहस्य-प्रतिपादक ग्रन्थ; (४) वाकोवाक्य; (५) इतिहास; (६) पुराण; और (७) वैद्यक। उन्होने चारो वेद के प्रथम मन्त्रो को भाष्य के प्रारम्भ में ही उद्धृत किया है और जिनमे 'अग्निमीडे पुरोहितम्' ऋग्वेद की शाकल-सहिता का 'इषेत्वोर्जेत्वा', यजुर्वेद का, 'अग्न वा याहि वीतये' सामवेद का और 'शन्नो देवीरभीष्टये' अर्थवेद का मन्त्र है।

ऋग्वेद

बाह्वृच्य—वाजसनेयी सहिता-भाष्य में महीधर ने कहा है, वेद पहले अविभक्त था। बाद मे व्यास ने मनुष्यो को मन्दमति देखकर ब्रह्म-परम्परा से प्राप्त वेद को ऋक्, यजु, साम और अथर्व इन चार भागो मे विभक्त कर उन्हे क्रमश पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु को पढाया।[2] भाष्यकार ने ऋग्वेद को बाह्वृच कहा है। यह बाह्वृचो का आम्नाय था[3] ऋग्वेद को बह्वृच भी कहते थे। सर्वाधिक ऋचाओ का वेद होने के कारण ऋग्वेद का यह नाम पडा था। ऋग्वेदियो की एक शाखा भी बाह्वृच थी।[4] ऋक् सामान्यतया ऋग्वेद को और विशेषत छन्दोविशेष को

---

१. चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा विभिन्ना। एकशतमध्वर्युशाखा। सहस्रवर्त्मा सामवेद एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् नवधाथर्वणो वेदो वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावान् शब्दस्य प्रयोगविषयः।—आ० १, वा० ५, पृ० २१।

२. तत्रादौ ब्रह्मपरम्परया प्राप्तं वेदे वेदव्यासो मन्दमतीन् मनुष्यान् विचिन्त्य तत्कृपया चतुर्धाव्यस्य ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यांश्चतुरो वेदान् पैलवैशम्पायनजैमिनिसुमन्तुभ्यः क्रमादुपदिदेश। (वाज सं० शु० यजु०) पर महीधर-भाष्य के प्रारम्भ में।

३. ४-३-१२९।

४. ५-१-१५४, पृ० ५१४।

कहते थे।[1] ऋक् कहने से सपाठ-मात्र का वोध होता था, अर्थ का नही।[2] ऋक् का प्रयोग सम्भवत. सभी वेदो के लिए होता था। काठक, कालापक, मौदक और पैप्पलादक सव ऋक् कहलाते थे। भाष्य मे इन्हे छन्दस् भी कहा है।[3]

भाष्य मे वाहृवृच्य को इक्कीस प्रकार का वतलाया है। प्रपचहृदय भी इसका समर्थन करता है। उसके अनुसार किसी कारण से शतक्रतु ने वज्राघात से अनेक शाखाओ को नष्ट कर दिया और तव ऋक् और साम की केवल वारह वारह-शाखाएँ शेष रह गई।[4] आथर्वण-परिशिष्ट चरणव्यूह मे ऋग्वेद की सव शाखाओ का सात चरणो मे अन्तर्भाव कर दिया है।

ऋग्वेदीय शाखाओ मे से निम्नलिखित का नाम भाष्य मे मिलता है—१. पैल, २. औदुम्वरि, ३. शाकल्य, ४. मुद्‌गल, ५ गालव, ६. शालीय, ७. वात्सीय ८. शौनक, ९. पैंगी, १०. वौघ्य, ११. पराशर, १२. माठर, १३. माण्डूकेय, १४. आसुरीय, १५. वहृवृच, १६. आरुणी, १७. सौलभ, और १८. वासिष्ठ। इनमे प्रथम नौ शाकल्य चरण-व्यूह के अन्तर्गत हैं। यह चरण-व्यूह ही भाष्यकार के समय मे सर्वाधिक लोकप्रिय था।

पैल—पुराणो के अनुसार व्यास ने पैल को स्वय ऋग्वेद पढाया था। पैल पीला के पुत्र थे।[5] इन्हे पैलेय भी कहते थे। सभापर्व मे इन्हे वसुपुत्र तथा होता (ऋग्वेदीय) कहा है।[6] पैल के दो शिष्य हुए—वाष्कल और इन्द्रप्रमति। वाष्कलो का उल्लेख भाष्य मे नही मिलता। इन्द्रप्रमति की सहिता माण्डूकेय को मिली। भाष्य मे पैल के शिष्यो को पैलीय कहा है।[7] पैल के पुत्र भी पैल ही कहलाते थे।[8] पैलादिगण में भी इनका उल्लेख है।[9]

औदुम्वरि—आथर्वण परशिष्ट के औदुम्वरि चरण से भाष्यकार परिचित थे।[10] उन्होने पिता और पुत्र दोनो की आख्या औदुम्वरि ही वतलाई है।

---

१. अचछन्दसीत्युच्यते नैतच्छन्दः समीक्षितं काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादकं।—आ० ४-१-८६, वा १, पृ० ९६ तथा ऋचीति नेदं छन्दो विवक्षितं काठकम्—किं तर्हि ऋक् चेत् प्रत्ययार्थो भवतीति।—४-१-१, वा० ३, पृ० ८।

२. ऋगित्युक्ते सम्पाठमात्रं गम्यते। नास्या अर्थो गम्यते।—१-१-६९, वा० ३, पृ० ४३८।

३. अचछन्दसीत्युच्यते नैतच्छन्दः समीक्षितं काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादकं।—आ १-१-८६ वा० १, पृ० ९६ तथा ऋचीति नेदं छन्दो विवक्षितं काठकम्-किं तर्हि ऋक् चेत् प्रत्ययार्थो भवतीति।—४-१-१, वा० ३, पृ० ८।

४. वाहवृचः एकविंशतिधा। तत्र केनचित् कारणेन शतक्रतुना वज्रपातिना वेदशाखाः तयावशिष्टाः सामवाहृवृचयोर्द्वादश द्वादश—प्र० हृदय, वेद-प्रकरण।

५. पीलाया वा।—४-१-११८।

६. पैलो होता वसोः पुत्रो धौम्येन सहितोऽभवत्।—सभापर्व, अ० ३६, श्लो० ३५।

७. पैलस्य पैलीयाः।—४-१-१६५, वा० २, पृ० १६०।

८. यद्येतावत् प्रयोजनं पैलादिष्वेव पाठं कुर्वीत।—१-२-४१, वा० ४, पृ० ५१८।

९. २-४-५९।

१०. २-४-५८, पृ० ४९३।

शाकल्य—शाकल लोग शाकल्य के शिष्य थे।[1] शाकल्य के गोत्रापत्य शाकल्यायन और शाकल्यायनी (स्त्री०) कहलाते थे।[2] ये स्वय शकल के पुत्र थे। पाणिनि के कण्वादिगण में भी इनका नाम आया है।[3] शाकल्य का प्रगृह्यसज्ञा-विषयक नियम वैयाकरणो मे वहुत प्रसिद्ध था। उ+इति को अन्य आचार्य लोग 'विति' वोलते थे, किन्तु शाकल्य ऊँ इति तथा उ इति। इसी प्रकार के अनार्ष सम्वोधन के ओकार को भी वे प्रगृह्यसज्ञक मानते थे। भाष्यकार ने इन नियमो का शाकल नाम से वार-वार उल्लेख किया है।[4]

शाकल्य की सहिता उपलब्ध थी और उसका पाठ भी किया जाता था। भाष्य मे शाकल्य की सहिता को 'सुकृता' कहा है, जिसे सुनकर पर्जन्य वरस पडा था। यद्यपि यह घटना वार-वार होती नही देखी गई, तो भी इससे शाकल्य-सहिता के प्रति सामान्य जनो की श्रद्धा व्यक्त होती है।[5] कात्यायन की ऋक्-सर्वानुक्रमणी भी शाकल्य-सहिता पर ही है। यह वात अनुक्रमणीकार ने प्रारम्भ मे ही स्पष्ट कर दी है।

. वायु (अ० ६०), ब्रह्माण्ड (अ० ३५) और विष्णुपुराण (अ० ३, ४) के अनुसार शाकल्य के पाँच प्रमुख शिष्य हुए—मुद्गल, गालव शालीय, वात्स्य और शैशिरेय। ये सब शाखाकार थे।

मुद्गल—मुद्गल से वार्त्तिककार और पतजलि दोनो परिचित थे। इनकी पत्नी मुद्गलानी थी। भाष्य मे 'रथीरभून्मुद्गलानी गविष्ठो' मत्राश दो वार उद्धृत है।[6] मुद्गल भृम्यश्व के पुत्र थे। निरुक्त मे इन्हे भार्म्यश्व कहा है। भार्म्यश्व ऋग्वेद के दशम मण्डल के १२० वें सूक्त के ऋषि है। इस सूक्त मे चार वार मुद्गल शब्द आया है। मुद्गल के पुत्र वध्र्यश्व और उनके दिवोदास हुए। ऋग्वेद मे वध्र्यश्व के लिए दिवोदास को देने की वात कही गई है। इस ऋगश को भाष्यकार ने भी उद्धृत किया है।[7]

गालव—गालव के ह्रस्व-नियम का उल्लेख पाणिनि ने सादर किया है,[8] जिसपर भाष्यकार ने कहा है कि जो नियम जिस आचार्य के नाम से वतलाया जाता है उसका प्रचलन उस

---

१. ४-१-१८, वा० १, पृ० ४३।

२. लोहितादिषु शाकल्यस्योपसंख्यानं कर्त्तव्यम्।—४-१-१८, पृ० ४३।

३. ये कण्वादयस्ते शकलादयः ये कतपर्यन्तास्तेशकलपर्यन्ता.।—वही।

४. १-१-१८, वा० १, २, पृ० १८८, ८९।

५. शाकल्येन सुकृतां संहितामनुनिशम्य देवः प्रावर्षत्। लक्षण हि नाम स भवति येन पुनः पुनर्लक्ष्यते तच्चय. सकृदपि निमित्तत्वाय कल्पते। सकृच्चासौ शाकल्येन।—१-४-८४ तथा वा० १, २, पृ० २००, १।

६. ४-१-४९, वा० ५, पृ० ६३ तथा ५-१-४९ वा० २, पृ० ४१६ (४ का शेष) इद तर्हि प्रयोजन दीर्घशाकलप्रतिषेधार्थम्।—८-२-१०८, पृ० ४०१ तथा १-१-६३, आ० ६, पृ० ४०९ आदि।

७. दिवोदासाय गायत वध्र्यश्वाय दाशुषे।—६-२-९१, वा० १, पृ० २७५।

८. ६-२-६१।

आचार्य की ही शिष्य-परम्परा मे समझना चाहिए। इसलिए गालव-नियम के अनुसार होनेवाले ह्रस्व का प्रयोग उन्ही की शाखा मे समझना चाहिए।[1] गालव का दूसरा नाम वाभ्रव्य पाचाल भी वतलाया गया है।[2] पाणिनि ने वाभ्रव्य को वभ्रु का गोत्रापत्य तथा कौशिकगोत्रीय माना है।[3] वाभ्रव्य का उल्लेख भाष्यकार ने भी किया है, किन्तु गालव से उसका सम्बन्ध स्पष्ट नही है।[4] गालव का एक मत ऐतरेय आरण्यक मे ही मिलता है। उनके मत से महाव्रताध्ययन की समाप्ति एक ही दिन मे की जा सकती है।[5] जातूकर्ण्य का मत इससे भिन्न है। गालवो के सहिता ब्राह्मण या सूत्रग्रन्थ उपलब्ध नही है।

शालीय[6] गार्ग्य और **वात्सीय**[7] नाम भाष्य मे आये है, किन्तु इनके विषय मे कोई जानकारी भाष्य से प्राप्त नही होती। इन शाखाओ के भी ब्राह्मण या सूत्रग्रन्थ प्राप्त नही है।

ऋक्-प्रातिशाख्य की कर्त्री शैशिर शाखा, जिसपर सायण का अधिकाश भाष्य आवृत है, भाष्य मे उल्लिखित नही है।

शौनक—पाणिनि और पतजलि दोनो शौनकीयो से परिचित थे।[8] शैशिरिशिक्षा मे मुद्गल, गालव, गार्ग्य, शाकल्य और शैशिरि शौनक के शिष्य वतलाये गये है।[9] गार्गक शाखा का उल्लेख भाष्य मे सर्वत्र वात्स्यो के साथ हुआ है।

वाष्कल-संहिता—उपर्युक्त समस्त शाखाओ का मूल शाकल्य सहिता है। इसके अतिरिक्त वाष्कलो की भी अपनी सहिता थी और ब्राह्मण भी। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार वाष्कलो की अन्तिम ऋचा 'तच्छयोरावृणीमहे' इत्यादि है। यह सज्ञान सूक्त की पन्द्रहवी ऋचा है। शाकलो की अन्तिम ऋचा 'समानीन आकूतिः' आदि है। वाष्कल के चार प्रमुख शिष्य हुए—बौध्य, अग्नि-माठर, पराशर और जातूकर्ण्य। भाष्य मे वाष्कल और जातूकर्ण्य का उल्लेख नही है। बौध्य बोध के गोत्रापत्य और अगिरसगोत्रीय थे।[10] भाष्य मे अग्निमाठरो का नही, केवल माठरो का उल्लेख है,

---

१. आचार्यदेशशीलनं न यदुच्यते तस्य तद्विषयता प्राप्नोति। इको ह्रस्वोऽड्यो गालवस्य इति गालवा एव ह्रस्वान् प्रयुञ्जीरन्।—१-४-४४, वा० १७, पृ० २६४।

२. भगवद्दत्त: वैदिक वाङ्मय का इतिहास, पृ० १९०।

३. मधुबभ्रवोर्ब्राह्मणकौशिकयोः।—४-१-१०६।

४. १-४-१, वा० ३, पृ० ९८ तथा १-१-३, वा० ५, पृ० ११६।

५. नेदमेकस्मिन्नहनि समापयेत इति ह्स्माह जातूकर्ण्यः। समापयेदिति गालवः।—ऐत० वा० ५-३।

६. १-१-१, पृ० ९२ तथा ४-१-८६, वा० २, पृ० १०२।

७. ४-२-१०४, वा० २२, पृ० २१०।

८. ४-२-६६, वा० ३, पृ० १९० तथा ४-३-१०६।

९. राजकीय संग्रहालय, मद्रास ट्राइनियल कॅटेलॉग ऑव संस्कृत मॅनस्क्रिप्ट्स, जिल्द ४, भाग आई० सी०, १९२८, पृ० ४५९, ९७।

१०. कपिबोधादाङ्गिरसे।—४-१-१०७।

पर वे प्रतिष्ठित व्यक्ति या आचार्य नहीं हैं।[1] पराशर लोगों का अपना कल्प था। भाष्यकार ने इसके अध्येता को पराशरकल्पिक कहा है।[2] इससे अनुमान होता है कि पतंजलि-काल में इस शाखा का महत्त्व क्षीण हो चुका था।

माण्डूकेय—चरण-व्यूह द्वारा निर्दिष्ट आर्च शाखाओं का अन्तिम समूह माण्डूकेयों का था। पाणिनि ने माण्डूकों का स्मरण किया है। भाष्यकार ने इस सूत्र पर वार्त्तिक की टीका की है और वार्त्तिककार द्वारा निर्दिष्ट असुर शाखा के आसुरीय कल्प का उल्लेख किया है।[3]

बह्वृच—बह्वृच लोगों की एक स्वतन्त्र शाखा थी। भाष्यकार ने कठों के साथ बह्वृचों का स्मरण किया है।[4] उन्होंने उसे चरणाख्या[5] माना है। शाखा से भिन्नता व्यक्त करने के लिए ही बहुत ऋचाओंवाले सूत्र को बह्वृचक कहते थे।[6]

पैङ्गय—पैङ्गयों की भी एक शाखा थी। इनका अपना कल्प पैङ्गी कहलाता था।[7]

आरुणी—महाभारत, सभापर्व (३-१९) के आरुणि उद्दालक के शिष्यों को आरुणिन् कहते थे। भाष्य के अनुसार पिता की संज्ञा उद्दालक और पुत्र की औद्दालकि थी। उद्दालक से शाखा से भिन्न गोत्रापत्य औद्दालकायन कहलाते थे।[8] ये लोग प्राच्य थे।[8] इनकी शाखा आरुणिन् कहलाती थी।[9]

सुलभ—इस शाखा के ब्राह्मण भाष्यकाल में उपलब्ध थे। सौलभ ब्राह्मण-ग्रन्थों का उल्लेख भाष्य में है।[10] वासिष्ठी शाखा से भी भाष्यकार परिचित थे।[11] शौनकों का उल्लेख पाणिनि ने किया है और भाष्य ने भी उक्त कथन को उद्धृत किया है।[12]

ऐतरेय का उल्लेख भाष्य में नहीं है, न आश्वलायन और शाङ्खायन की ही कहीं चर्चा है, यद्यपि मनुस्मृति (२-६) के टीकाकार मेधातिथि ने इक्कीसों बाह्वृच्य शाखाओं में ऐतरेय और आश्वलायन को प्रमुख माना है।[13] आश्वलायनों का अपना कल्प था, जो शाकल, बाष्कल-संहिताओं

---

१. १-१-५६, वा० ३, पृ० ३३६ तथा आ० २, पृ० ७१।

२. ४-२-६०, पृ० १८७।

३. कौरव्यमाण्डूकाभ्यां च कौरव्यमाण्डूकयोरासुरेरुपसंख्यानं कर्तव्यम्, आसुरीयः कल्पः।—४-१-१९, वा० १, प० ४४।

४. २-२-२९, पृ० ३७८।

५. ५-४-१५४, पृ० ५१४।

६. वही।

७. ४-२-६६, वा० ५ पृ० १९१।

८. २-४-६७, पृ० ५०५।

९. ४-२-१०४, वा० १९, पृ० २०९।

१०. ४-२-६६, वा० ४, पृ० १९१।

११. ४-१-११४ वा० १, पृ० १३७।

१२. शौनकादिभ्यश्छन्दसि।—४-२-६६, पृ० १९०।

१३. एकविंशति बाह्वृच्या आश्वलायनैतरेयादिभेदेन।

तथा प्रमुख इक्कीस ऐतरेय ब्राह्मणो के आधार पर बनाया गया था।[1] आश्वलायन का भी आधार होने के कारण ऐतरेय शाखा उससे बहुत पुरानी रही होगी। वाष्कल-संहिता पतजलि के समय मे प्रतिष्ठित नही रह गई थी, किन्तु आश्वलायनो ने उसका आश्रय लिया था। यह बात आश्वलायन कल्पसूत्र का काल पतजलि से बहुत पूर्व सिद्ध करती है। शाखायनो तथा उसके अन्य तीनो भेदो—कौषीतकि, महाकौषीतकि और शाम्बव्य के विषय मे भी भाष्य मौन है।

ऋग्वेद की सम्प्रति उपलब्ध संहिता (१) अष्टक, अध्याय, वर्ग, मंत्र, (२) मण्डल, सूक्त, मन्त्र और (३) मण्डल, अनुवाक सूक्त और मन्त्र, इस क्रम से विभाजित है। भाष्यकार इन सब विभागो से परिचित थे।[2] दस मण्डलो मे विभक्त होने के कारण ऋक्-संहिता को दाशतय कहते थे।[3] वर्ण-समुदाय पद, पद-समुदाय ऋक् और ऋक्-समुदाय सूक्त कहलाते थे। एक वर्ण का पद, एक पद की ऋचा और एक ऋचा का भी सूक्त है।[4] द्विपदा ऋचाओ, तृच सूक्त[5] तथा अथर्वों का उल्लेख भाष्य मे मिलता है।[6] शयुवाक, सूक्तवाक,[7] अध्याय पद-पाठ, क्रम-पाठ[8] शब्द भी भाष्य मे आये हैं, जिनसे ऋक्संहिता के विषय मे विस्तृत जानकारी प्राप्त करने मे सहायता मिलती है। जिसमे अध्ययन किया जाय, उसे अध्याय कहते थे।[9]

यजुर्वेद

यजुर्वेद को भाष्यकार ने अध्वर्युवेद कहा है और इसकी एक सौ एक शाखाएँ बतलाई हैं। माध्यन्दिन शतपथ के अन्तिम वचन के अनुसार वाजसनेय या शवल्क्य शुक्ल यजुष् के संहिताकार हैं।[10] भाष्यकार ने याज्ञवल्क्य-प्रणीत ब्राह्मणो का उल्लेख किया है।[11] वाररुच श्लोको के प्रणेता वररुचि स्कन्दपुराण के अनुसार, इनके पुत्र थे।[12] किन्तु इनकी कोई स्वतन्त्र

१. शाकल्यस्य संहितैका वाष्कलस्य तथा परा।
द्वे संहिते समाश्रित्य ब्राह्मणान्येकविंशतिः॥
ऐतरेयकमाश्रित्य तदेवान्यैः प्रपूरयन्॥
—षड्गुरुशिष्यसर्वानुवृत्ति का उपोद्घात।

२. ५-२-६०, वा० १, पृ० ३९६।

३. ६-४-१५९, वा० ९, पृ० ४९०।

४. वर्णसमुदायः पद पदसमुदायः ऋग् ऋग्समुदायः सूक्तमित्युच्यते। भवति चैतदेकस्मिन्नप्येकवर्ण पदमेकपदमेकं च सूक्तमिति।—१-१-२१, वा० ५, पृ० १००।

५. ६-१-३७, वा० ५, पृ० ६८।

६. २-४-३१, पृ० ४७७।

७. ६-१-३०, वा० १, पृ० ४७६।

८. ५-१-११९, वा० ५, पृ० ३५६।

९. अधीयते तस्मिन्नध्यायः।—३-२-२०, वा० १, पृ० ३०००।

१०. आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते।

११. ४-२-६६, वा० ४, पृ० १९१।

१२. पुत्रो वररुचिर्यस्य बभूव गुणसागरः।—स्क० पु०, १३१—४९।

शाखा थी या नही, कहा नही जा सकता। स्कन्दपुराण मे ही इनके पुत्र कात्यायन को वेदसूत्रकर्ता कहा है।[1] इससे वररुचि और कात्यायन एक ही व्यक्ति का नाम जान पड़ता है।

वाजसेनेयी की पन्द्रह शाखाएं हुई, जिनमे से जावाल, वौवेय, काण्व, कात्यायन, वैजवाप और आवटिक नाम भाष्य मे मिलते हैं।

जावालि—उपनिषद्-वाङ्मय के सत्यकाम जावाल के पुत्र थे। पिता और पुत्र दोनो का उपनाम जावालि प्रचलित था।[2] जावालोपनिषद् के अतिरिक्त इनकी अन्य कोई कृति उपलब्ध नही है।

बौवेय—सम्भव है, बौविवंश की शाखा हो। भाष्य मे पिता और पुत्र दोनो का नाम बौवि ही बतलाया है।[3] एक चरण-व्यूह मे बौवेय के स्थान पर शाखा का नाम बौधायन दिया है। सम्भव है, बौवेय और बौधायन दोनो एक हो या एक गोत्र के हो।

काण्व—भाष्यकार ने काण्व दण्ड-माणवो तथा काण्व-ग्रन्थों की चर्चा की है। इनकी सहिता और ब्राह्मण दोनो उपलब्ध हैं। कण्व गोत्र अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। काण्ववशीय काण्यायन लोग आचार्य हुए हैं। इनके शिष्य काण्यायनीय कहे जाते थे। काण्व-सहिता मे ४० अध्याय, ३२८ अनुवाक और २०८६ मंत्र मिलते हैं।[4]

माध्यन्दिन—भाष्यकार ने माध्यन्दिन शब्द की उत्पत्ति मध्य से मानी है और किसी माध्यन्दिन द्वारा वेदगान का वर्णन किया है। माध्यन्दिन कौन थे, कहा नही जा सकता। वाजसनेयी सहिताओं मे आजकल इसी शाखा की सहिता का प्रचार सर्वाधिक है। इसके ४० अध्यायों मे ३०३ अनुवाक और १९७५ मन्त्र हैं। इनकी दो शिक्षाएँ भी प्रकाशित हैं, किन्तु सूत्रग्रन्थों का पता नही चला है।[5]

कात्यायन—कात्य और उनके गोत्रापत्य कात्यायन दोनो व्याकरण के आचार्य थे। सम्भव है, वे ही कात्यायन-शाखा के प्रवर्त्तक रहे हो। पतजलि ने कात्य का मत उद्धृत किया है[6] और कात्यायन का भी।[7]

वैजवापि—वैजवापियो का भी उल्लेख भाष्यकार ने किया है।[8] इनके सूत्र यत्र-तत्र

---

१. कात्यायनं सुतं प्राप वेदसूत्रस्य कारकम्।—स्क० पु०, नागरखण्ड, अ० १३।

२. २-४-५८, पृ० ४९३।

३. ४-२-१०४, वा० २३, पृ० ३१०।

४. ४-१-१६५, वा० १, पृ० १५९।

५. मध्य शब्दो मध्यं शब्दमापद्यते दिनण् चास्मात् प्रत्ययो वक्तव्यः; माध्यन्दिन उद्गायति।—४-३-५८, वा० ३, पृ० २३७।

६. प्रोवाच भगवान् कात्यस्ते नासिद्धिर्वर्णतस्तुते।—३-२-३, पृ० २०८।

७. स्मादिविधिः पुरातनो यद्यविशेषेण किं कृते भवति। नस्म पुराद्यतन इति ब्रुवता कात्यायनेनेह।—३-२-११८, पृ० २५१।

८. तां वैजवापयो विदाक्रमन्।—२-४-८१, वा० १, पृ० ५१०।

बिखरे मिलते है। गृह्यसूत्र प्रकाशित हो चुका है। पाणिनि के रैवतिकादिगण (४-३-१३१) मे इनका उल्लेख है।

आवटिक—अवट की गोत्र-परम्परा मे आवट्य और आवट्यायन थे। आवटिको का इनसे क्या सम्बन्ध था, यह स्पष्ट नही है। सम्भव है, आवट्य और आवटिक एक हों।[1]

चरक—काशिका के अनुसार वैशम्पायन का दूसरा नाम चरक था।[2] ये वैशम्पायन के द्वितीय शिष्य और कृष्ण यजुर्वेद के शाखाकार थे। इन्होने ८६ शाखाएँ प्रवर्तित की। इनके शिष्य भी चरक कहलाये।[3] पाणिनि ने भी चरक-प्रोक्त ग्रन्थो का उल्लेख किया है[4] और उनके हितकर को चरकीण नाम दिया है।[5] वाजसनेयिसंहिता मे एक खिल है, जिसमे चरक शब्द का प्रयोग निन्दा-प्रदर्शन के लिए हुआ है। शतपथ ने अपने अनुयायियो के प्रतिस्पर्धियो को चरकाध्वर्यु नाम दिया है। शतपथ इनका निन्दक है। वाजसनेयिसहिता (३०-१८) मे-तद्विपयक उल्लेख है,[6] भाष्यकार ने निवास की दृष्टि से जिन तीन प्राच्य, तीन उदीच्य और तीन मध्य चरणो का वर्णन किया है[7], वे सब चरक थे। पुराणो के अनुसार भी ८६ कृष्णयजुर्वेदीय शाखाओ के ये तीन ही मुख्य भेद थे।[8] काशिका के अनुसार प्राच्यो मे आलम्बि, पलग और कमल, उदीच्यो मे श्यामायनि, कठ और कलाप तथा मध्य देश्यो मे ऋचाभ, आरुणि और ताण्ड्य प्रमुख थे। यही भाष्यकार की आचार्यत्रयी का त्रिक था।[9] भाष्यकार ने इनमे से कठों और कालापों का ही मुख्य रूप से वर्णन किया है।

कठ-कालाप—कठो और कालापो से भाष्यकार का विशेप सम्बन्ध था। यजुर्वेद की यही शाखा उनके समय मे सर्वाधिक समादृत थी। काठको की प्रतिष्ठा पाणिनि के समय मे भी थी। उन्होने काठक यजु. सहिता के कुछ प्रयोगो की निष्पत्ति के नियम दिये है।[10] इनके आदि आचार्य कठ और कलापी थे। ये दोनो वैशम्पायन के प्रत्यक्ष शिष्य थे। कठ के प्रत्यक्ष शिष्य खाडायन हुए।[11] कलापी के प्रत्यक्ष शिष्यो का नाम भाष्यकार ने नही दिया है। कठ और कलापी

---

१. ४-१-७५, वा० २, पृ० ७८।

२. चरक इति वैशम्पायनस्याख्या।—४-३-१०४ का०।

३. तत्सम्बन्धेन सर्वे तदन्तेवासिनश्चरका इत्युच्यन्ते।—वही।

४. ४-३-१०७।

५. ५-१-१३।

६ मैक्समूलर : प्राचीन संस्कृत वाङ्मय, पृ० ३५०।

७ त्रय. प्राच्याः त्रय उदीच्याः त्रयो मध्यमाः। सर्वे निवासलक्षणाः।—४-२-१३८, वा० २, पृ० २१८।

८. वायु पु०, ६१-५ से १० तथा ब्रह्माण्ड पु०, पूर्वभाग ३४—८ से १३।

९. ४—३—१०४।

१०. देवसुम्नयोः यजुषि काठके।—७-४-३८।

११. वैशम्पायनान्तेवासी कठः। कठान्तेवासी खाडायनः। वैशम्पायनान्तेवासी कलापी।—४-३-१०४, पृ० २४८।

की संहिताएँ भाष्यकार के समय मे गाँव-गाँव मे पढाई जाती थी।[1] संहिताओ के प्रसंग मे भाष्यकार ने काठक कालापक, मौदक और पैप्पलादक का ही सर्वत्र उल्लेख किया है।[2] सामान्यत. 'छन्दस्', शब्द से इन संहिताओ का ही बोध होता था। चरण के उदाहरण मे भी इन्होने केवल इन्ही संहिताओ का स्मरण किया है।[3] ये संहिताएँ सम्बद्ध चरणो का आम्नाय थीं। कठो के गुरुकुल भी पतंजलि-काल मे बहुत थे। इस शाखा के सब विद्यार्थी सब्रह्मचारी होते थे। कठ का सब्रह्मचारी कठ ही होता था।[4] कठो, कलापो और कौथुमो की संहिता के गान तथा उनके प्रति मंगल-कामना के उल्लेख भी भाष्य मे मिलते हैं।[5] जिस प्रकार पतंजलि ने पाणिनि की कृति को महत् और सुविहित कहा है, उसी प्रकार कठो की संहिता को भी।[6] इस शाखा मे अध्ययन करनेवाली अनेक विदुषी स्त्रियाँ थी। कठी वृन्दारिका इन विदुषियो के प्रति सम्मान का द्योतक है।[7] इन स्त्रियो मे पाई जानेवाली शाखीय विशेषताओ को भाष्यकार ने कठीत्व और कठीता शब्दो से व्यक्त किया है।[8]

काशिका के अनुसार कलापी के चार शिष्य थे[9]—हरिद्रु, छगली, तुम्बुरि और उलप। कालापो का आम्नाय कालापक और उनके शाखाध्यायी कालाप कहलाते थे। कठ और कालाप चरण थे। इनकी भी शाखाएँ रही होगी।[10] कठो की संहिता कलापो की संहिता से मिलती-जुलती रही होगी। भाष्य में इनके साथ-साथ उल्लेख तथा कार्त्तकौजपादिगण मे साथ परिगणन से भी यह ध्वनि निकलती है। काठको की संहिता प्रकाशित है। इनका अपना ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् है। विष्णु-स्मृति भी कठशाखीय है। चरण-व्यूहो मे इनके ग्रन्थो की संख्या चालीस या चौआलीस बतलाई गई है। कठ वाङ्मय की व्यापकता के कारण ही कुछ चरण-व्यूहो ने कहा है कि जो काठक मे नहीं है, वह कही नही है। (नतान्ति यन्नास्ति काठके)। लगभग ४००० श्लोको की लौगाक्षि-स्मृति भी काठको से सम्बद्ध है।

---

१. ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते।—४-३-१०१, वा० १, पृ० २४६।

२. ४-१-८६, पृ० ९६ तथा ४-१-१, वा० ३, पृ० ८।

३. ४-२-१०४, वा० २२, पृ० २१०।

४. के सब्रह्मचारिणोऽस्येति कठा इत्युक्ते सम्बन्धादेतद्गम्यते नूनं सोऽपि कठ इत्येवम्। कठ इत्युक्ते सम्बन्धादेतदवगन्तव्यं स्यान्नूनं तेऽपि कठा इति।—२-२-२४, वा० २२, पृ० ३६८।

५. नन्दन्तु कठ कालापाः, वर्धन्तां कठकौथुमाः, उद्गात् कठकालापम्, प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम्।—२-४-३, वा० २, पृ० ४६२।

६. यथेह भवति पाणिनीयं महत् सुविहितमिति एवमिहापि स्यात्कठं महत् सुविहितम्—४-२-६६, वा० २, पृ० १९०।

७. ६-३-४८, वा० १, पृ० ३२७।

८. ६-३-३५, वा० १, पृ० ३२३।

९. ४-३-१०४ का०।

१०. ४-२-४६ काशिका।

कश्मीर के शैव काठक सिद्धान्ती हैं। भगवद्दत्त के अनुसार आजकल कठ लोग कश्मीर मे ही पाये जाते हैं।[1] सम्भव है, कठो की यह उदीच्य शाखा काश्मीरी रही हो।

कलापियो की सहिता और ब्राह्मण सम्प्रति उपलब्ध नही है। कुछ विद्वानो के मत से मैत्रायणी सहिता ही कलापियो की सहिता थी। कलापियो को कठो से अविप्रकृष्ट होना चाहिए। याज्ञवल्क्य-स्मृति से टीकाकार विश्वरूप (१-७) ने कहा है कि मैत्रायणी सहिता काठक से वहुत भिन्न नही है।[2] निरुक्त के टीकाकार आचार्य दुर्ग (१०-५) ने हारिद्रवो को मैत्रायणीयो का शाखाभेद कहा है।[3] हारिद्रव कलापी की शिष्य-परम्परा मे थे। इससे अनुमान होता है कि कठो से मिलती-जुलती मैत्रायणी शाखा कालाप रही होगी।

हरिद्रु, तुम्बुरु और छगली की शाखाओ का भाष्यकार को परिचय था। ये शाखाएँ हारिद्रव, तौम्बुरव और छागल कहलाती थी और इनके ग्रन्थो को पढनेवाले हारिद्रविण, तौम्बुरविण[4] और छागलेय या छागलेयिन्।[5]

कृष्णयजुर्वेद के अन्तर्गत कपिष्ठल, चारायण, वरतन्तु, वराह और तित्तिरि की शाखाओ का परिचय भी भाष्य मे मिलता है। कपिष्ठलों के गोत्रापत्य कापिष्ठलि और उनके वशज कापिष्ठल एव कापिष्ठलायन कहलाते थे।[6] इनका श्राष्टकियो से सम्वन्ध था।[7] इस शाखा की सहिता मे आजकल चार अष्टक ही उपलब्ध हैं। चारायण शाखा भाष्यकार के समय में उन्नत अवस्था मे थी। इनके गुरुकुलो मे छात्रो को कम्वलों की वहुत सुविधा थी। इसलिए, वहुत-से छात्र कम्वलो के लोभ से चारायणीय शाखा मे प्रविष्ट हो जाते थे।[8] चारायणीयो का अपना प्रतिशाख्य है। इनका एक मन्त्रार्षाध्याय और शिक्षा भी प्राप्त है।[9]

वरतन्तु की शाखा वारतन्तवी थी। वारतन्तव-छात्र वारतन्तवीय कहलाते थे।[10] वरतन्तु के शिष्य कौत्स का आख्यान कालिदास के रघुवश मे मिलता है। कौत्स पाणिनि के समकालीन थे। वे उनके पास मिलने भी गये थे।[11] उनके विद्यार्थी थे या नही, कहा नहीं जा सकता। इससे वरतन्तु का पाणिनि से पूर्वकालीन होना स्पष्ट है। वाराही शाखा के विषय मे भाष्य से विशेप

---

१. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृ० २८८।
२. नहि मैत्रायणी शाखा काठकस्यात्यन्तविलक्षणा।
३. हारिद्रवो नाम मैत्रायणीयानां शाखाभेदः।
४. ४-२-१०४, वा० १९, पृ० २०९।
५. ४-३-१०९।
६. ८-३-९१, पृ० ४६२
७. २-४-६९, पृ० ५०६
८. कम्वलचारायणीयाः।—१-१-७३, वा० ६, पृ० ४६१।
९. इण्डियन ऐण्टिक्विरी, जुलाई, १८७६।
१०. ४-२-६६, वा० ६, पृ० १९१।
११. उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्।—३-२-१०८, वा० २, पृ० २४१।

प्रकाश नहीं पडता। वाराही पुत्र[1] और वाराह्या शब्द भाष्य मे अवश्य आये हैं।[2] इनका श्रौतसूत्र उपलब्ध है।

तित्तिरि—तित्तिरि वैशम्पायन की शिष्य-परम्परा मे थे। पाणिनि और पतजलि दोनो ने उनका उल्लेख किया है।[3] इनकी शाखा तैत्तिरीय कहलाती थी। वायुपुराण के १२वे खण्ड के छठे अध्याय के ३७ वें श्लोक से आगे व्यास की शिष्य-परम्परा का विस्तृत वर्णन है। तित्तिरि पक्षी के रूप मे एक शिष्य ने (जब वैशम्पायन और याज्ञवल्क्य का झगडा हो जाने पर याज्ञवल्क्य ने उनकी सहिता लौटा दी) वैशम्पायन की सहिता को चुनकर ग्रहण कर लिया, तब से यह शाखा तैत्तिरीय कहलाई। प्राचीन अध्वर्यु लोगो का ग्रन्थ तैत्तिरीय सहिता ही है। तैत्तिरीय सहिता मे उपलब्ध मन्त्र ब्राह्मणमिश्र हैं। सहिता मे चार पाद, सात काण्ड और चौआलीस प्रश्न हैं।[4] इनके अतिरिक्त, भाष्यकार के अनुसार तित्तिरि-प्रोक्त श्लोक भी थे, जिनके लिए तैत्तिरीय शब्द व्यवहृत नही होता था। तित्तिरि-प्रोक्त वैदिक साहित्य की ही तैत्तिरीय सज्ञा थी।[5] पाणिनि ने उस और खण्डिक का स्मरण तित्तिरि और वरतन्तु के साथ किया है। उनकी शाखा औखीय और खाण्डिकीय कहलाती थी। ये ही चरण-व्यूह मे बतलाये हुए तैत्तिरीयको के औखेय और खाण्डिकेय नामक दो भेद हैं। भाष्य मे उल्लिखित शाट्यायनिन् लोग खाण्डिकीय शाखा की ही अवान्तर शाखा थे।[6]

पतजलि और पाणिनि के कौण्डिन्य कृष्ण यजुर्वेद की सौत्र शाखा के अन्तर्गत थे। पाणिनि ने कौण्डिन्य का उल्लेख अगस्त्य के साथ किया है।[7] भाष्य के कौण्डिन्य विशेष तिष्ठित नही जान पड़ते।[8] वे माठरो के समान सामान्य गोत्र के ही लोग थे। कौण्डिन्यो का मूल पुरुष् कुण्डिन् था और उसके अपत्य कौण्डिन् कहलाते थे।[9] आग्निवैश्य शाखा के लोग आग्निवेश थे। यह भी केवल सौत्री शाखा थी। भाष्यकार ने तीन बार इनका उल्लेख किया है। अग्निवेश के कल्प और कौण्डिन्य के श्रौतसूत्र का उल्लेख पुरुषोत्तम-कृत प्रवरमजरी तथा तन्त्रवार्त्तिक (१-३-११) मे भी मिलता है।[10]

---

१. ६-१-१३, वा० ३, पृ० ४२।

२. ४-१-७८, पृ० ८०।

३. तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छण्।—४-३-१०२, तथा भा० ४-२-६६, पृ० १९२।

४. यजुर्वेदे तैत्तिरीयशाखा मन्त्रब्राह्मणमिश्रा तत्र सहिता चतुष्पादा सप्तकाण्डा चतुश्चत्वारिंशत्प्रश्ना।—प्रपंचहृदय।

५. छन्दोग्रहणं च कर्त्तव्यम्। इतरथा ह्यतिप्रसङ्गः स्यात्। इहापि प्रसज्यतेतित्तिरिणा, प्रोक्ताः श्लोका इति।—४-३-१०४, पृ० २४८।

६. ४-२-१०४, वा० १९, पृ० २०९।

७. २-४-७०, वा० १-३, पृ० ५०६।

८. १-१-५६, वा० ३, पृ० ३३६।

९. १-१-४७, वा० १, पृ० २८७।

१०. १-१-२१, वा० ७, पृ० २०३; १-२-३९, वा० १ पृ० ५१५ तथा ६-१-२३३, वा० ३ पृ० २४४।

पथ के परिमाण के विषय मे कौण्डिन्य का मत सत्यापाढसूत्र की उज्ज्वला टीका मे मिलता है, जो कौटिल्य के समान ही है।[1] सम्भव है, लिपि-दोष से ही कौटिल्य का कौण्डिन्य हो गया हो।

सम्प्रति कृष्ण यजुर्वेद की काठक (व्होन श्रोडर द्वारा प्रकाशित), कपिष्ठलकठ-सहिता, मैत्रायणी सहिता, तैत्तिरीय सहिता (वेवर द्वारा प्रकाशित सायण भाष्य-सहित) उपलब्ध है। इन चारो का परस्पर निकट सम्बन्ध है। शुक्लयजु की वाजसनेयिसहिता की काण्व और माध्यन्दिन दो शाखाएँ हैं। इनमे बहुत कम अन्तर है।

कठो की चौआलीस उपशाखाएँ बतलाई जाती हैं। ४२ अन्य शाखाएँ थी। कृष्ण यजुर्वेद की इन ८६ शाखाओ तथा शुक्ल यजुर्वेद की पन्द्रह शाखाओ के योग को दृष्टि मे रखकर भाष्यकार ने 'एकशतमध्वर्युशाखा:' कहा है।

सामवेद

भाष्यकार ने सामवेद को 'सहस्रवर्त्मा' कहा है। इसमे निष्णात लोग छन्दोग कहलाते थे। पुराणो के अनुसार सामसहिताकार जैमिनि व्यास के तृतीय मुख्य शिष्य थे और उनके पौष्पिजी तथा हिरण्यनाभ नामक दो शिष्य हुए, जिनमे से प्रत्येक ने पाँच-पाँच सौ शाखाएँ प्रवर्तित की। यह एक सामान्य विश्वास-मात्र जान पडता है। वैसे किसी भी ग्रन्थ मे बारह से अधिक विश्वसनीय नाम प्राप्त नही होते। भाष्य मे निम्नलिखित सामशाखाकारो के नाम मिलते हैं।

कौथुम—कौथुम कुथुमि की शिष्य-परम्परा मे थे। भाष्यकार के काल मे यह शाखा उन्नत अवस्था मे थी। कठो और कलापो के साथ उन्होने इनकी शाखा और सहिता का उल्लेख अत्यन्त आदर के साथ किया है[2] और उनके उदय तथा प्रतिष्ठा की चर्चा की है। कालैण्ड के अनुसार कौथुम सहिता की मन्त्र-सख्या १८६९ है। जैमिनीय शाखा की सहिता तथा ब्राह्मण और श्रौतगृह्यसूत्र मिलते है। इनकी सहिता मे गानो की सख्या ३६८१है, जो कौथुमो की (२७२२) सख्या से ६५९ अधिक है। जैमिनि के शिष्य **तवल्कार** थे। इसलिए, जैमिनीय ब्राह्मण को बहुधा **तवल्कार** ब्राह्मण भी कह देते हैं। जैमिनि लागलिन् के शिष्य थे और मूल सहिताकार से भिन्न थे। लांगलिन् की शाखा के लोग लागल कहलाते थे।[3] लागली के दूसरे शाखाकार शिष्य भाल्लवी थे।[4] इनका उल्लेख भाष्य मे अन्तेवासी ब्राह्मणो के रूप मे मिलता है। भागवित्ति पौष्पिजि के शिष्य थे। इनके अपत्य भागवित्तिक और शिष्य भागवित्त[5] कहलाते थे। क्रुत हिरण्यनाभ के पुत्र थे।

---

१. अथ कौण्डिन्येन देशस्य पथ: प्रमाणमुक्तम्-पञ्चारत्नी रथपथश्चत्वारो हस्तिकपथः द्वौ क्षुद्रपशुमनुष्याणाम्।–२७-४-२४, सत्या० सू० उज्ज्वला टीका।

२. २-४-३, पृ० ४६३।

३. ६-४-१४४, वा० १, पृ० ४८३।

४. ४-२-१०४, वा० १९, पृ० २०९।

५. ४-१-९०, वा० ३, पृ० १०८।

पाणिनि ने इनके शिष्य कार्त्त का[1] और पतजलि ने कार्त्ति का उल्लेख किया है।[2] पुराणों के अनुसार साम-संहिताकार कृत के २४ शिष्य थे। रामायण और सात्यमुग्नि शाखाओं ने उच्चारण-सम्बन्धी कुछ नवीन प्रयोग किये थे। वे 'सुजाते अश्वसूनृते', 'अध्वर्यो, अद्रिभि- सुतम्' आदि मन्त्रों में अर्ध एकार और अर्ध ओकार का भी उच्चारण करते थे। यह उनकी अपनी पार्षद कृति थी। अन्यत्र लोक और वेद में कहीं अर्ध एकार या अर्ध-ओकार का उच्चारण प्रचलित नहीं था।[3] इनका कोई ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं है, किन्तु पतजलि-काल में ये शाखाएँ सक्रिय थीं। गौतम के धर्मसूत्र उपलब्ध हैं। इनके छात्रों गौतमीयों का स्मरण भाष्यकार ने पाणिनि और आपशलि के साथ किया है।[4] उनके समय तक गौतम शिष्य-परम्परा की पैंतीस पीढ़ियाँ बीत चुकी थीं।[5]

अथर्ववेद

पतजलि अथर्ववेद की नौ शाखाओं से, परिचित थे, जिनमें मौद और पैप्पलाद सर्वाधिक प्रसिद्ध थे। इनका उल्लेख उन्होंने सर्वत्र साथ-साथ किया है। मौद और पैप्पलाद-संहिताएँ साथ-साथ गाई और पढ़ाई जाती थीं;[6] अतः इनमें निकट सम्बन्ध और सादृश्य होना चाहिए। पैप्पलादों की संहिता तो अब प्राप्त है। इनका एक ब्राह्मण भी था। ऋग्वेद-भाष्य की अनुक्रमणी में वेंकटमाधव ने अपना ऐतरेय और आथर्वणों को पैप्पलाद ब्राह्मण बतलाया है।[7] इससे पता चलता है, अथर्वणों में पैप्पलाद शाखा ही प्रमुख थी। इसीलिए भाष्य के भी प्रारम्भ में अथर्ववेद से उद्धृत प्रथम मन्त्र पैप्पलाद-संहिता के अनुसार ही है।[8] गोपथ-ब्राह्मण (१-२९) से इस कथन की पुष्टि होती है। मौदों का कोई ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं है, केवल अन्य ग्रन्थ-कारों द्वारा इनका नाम ही उद्धृत मिलता है। इन लोगों के आम्नाय मोदक और पैप्पलादक कहलाते थे।[9] भाष्यकार को इन दोनों की संहिताओं का ज्ञान था। उन्होंने छन्द (वेद) की नित्यता का प्रतिपादन करते हुए मौद, पैप्पलाद आदि संहिताओं की वर्णानुपूर्वी को अनित्य माना है।[10]

---

१. ६-२-६७।

२. ६-४-१४४, वा० १, पृ० ४८३।

३. छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकार चाधीयते। सुजाते ए अश्वसूनृते अध्वर्यो ओ अद्रिभि. सुतम्। पार्षदकृतिरेषा तत्र भवताम्।—वा० २, पृ० ५४।

४. ६-२-३६, वा० १, पृ० २५७।

५. त्रिपञ्चाशद् गौतमम्।—२-४-८४, पृ० ५१५।

६. २-४-३, पृ० ४६३।

७. ऐतरेयकमस्माकं पैप्पलादमथर्वणाम्।—ऋग्० भाष्य ८-१।

८. शन्नोदेवी रभीष्टये।—आ० १, पृ० १।

९. ४-३-१२०, वा० ११, पृ० २५२।

१०. ४-३-१०१, वा० ३, पृ० २४७; ४-१-१, वा० ३, पृ० ८ तथा ४-१-८६, वा० १, पृ० ९६।

उन्होने मौद, पैप्पलाद के अलग-अलग गाये जाने की भी चर्चा की है।[1] इससे दोनो सहिताओ का पृथक् अस्तित्व स्पष्ट है।

शौनक ऋग्वेदीय थे और आथर्वण शाखाकार भी। नैमिषारण्य के सुप्रसिद्ध स्थविर शौनक ऋग्वेदीय थे। पाणिनि के शौनकादि गण मे, जिसे पतजलि ने उद्धृत किया है,[2] किस वेद के शाखाकार शौनक का उल्लेख है, कहा नही जा सकता। शौनक और पैप्पलाद की सहिताओ मे अन्तर है। पैप्पलाद मे बीस काण्ड हैं और शौनकीय मे अट्ठारह। शौनकीय सहिता-काण्ड, प्रपाठक अनुवाक-सूक्त, मन्त्र, पर्याय, गण और अवसानो मे विभक्त है। भाष्यकार ने पैप्पलाद-सहिता को ही प्रमाण कर आगिरस को बीस काण्डवाला वतलाया है।[3] ह्विटने के अनुसार इसके १८ काण्डो मे ४४३२ मे मत्र है जाजलि और जाजालो का नामोल्लेख-मात्र भाष्य मे मिलता है।[4]

अथर्ववेद (१०-७-७०) मे अथर्ववेद को अथर्वाङ्गिरस कहा है। आथर्वण याज्ञिक ग्रन्थो मे उसे भृग्वगिरस सज्ञा दी है। भृगु गोत्र आथर्वणो का था। भाष्यकार ने भृग्वगिरसिका शब्द से भृगुओ और अगिरसो के बीच वैवाहिक सम्बन्ध का उल्लेख किया है।[5] इस प्रकार, आथर्वण और आगिरस परस्पर-सम्बन्धी सिद्ध होते है। अथर्वणो के आम्नाय का नाम आथर्वण था और उसके अध्येता आथर्वणिक कहलाते थे।[6]

अन्य—कुछ ऐसी शाखाओ के नाम भी भाष्य मे आये है, जिनका सम्बन्ध किसी वेद-विशेष से स्पष्ट नही है। इनमे काश्यपी काश्यप-प्रोक्त ग्रन्थो का अध्ययन करनेवाले थे और कौशिकी कौशिक-प्रोक्त ग्रन्थो के अध्येता। भाष्यकार इनके कल्पग्रन्थो से परिचित थे।[7] कश्यप कल्प-सूत्र तो प्रसिद्ध ही है। इनके अतिरिक्त क्रौड, काकत,[8] भारद्वाज,[9] प्लाक्ष, प्लाक्षायण,[10] दाक्षायण, तैतिल, शैखण्ड, सौकरसद्म, शैलाल और सौपर्व शाखाओ के नाम भाष्य मे मिलते हे।[11] शैलाल शिलालि के वशज थे। शतपथब्राह्मण (१५-५-३-३) मे ये यज्ञ-विधि-

---

१. २-४-३, पृ० ४६३।

२. ४-२-६६, वा० ३, पृ० १९०।

३. विंशिनोऽङ्गिरसः।—५-२-३७, श्लो० वा० २, पृ० ३७९।

४. ६-४-१४४, वा० १, पृ० ४८३।

५. २-४-६२, वा० ८, पृ० ५००।

६. ४-३-१३१, वा० २, पृ० २५५।

७. काश्यपकौशिकग्रहणं च कल्पे नियमार्थं द्रष्टव्यम्। काश्यपकौशिकाभ्यामेवेनिः कल्पे चेत्तद्विषयो नान्येभ्य इति। कथं काश्यपिनः कौशिकिनः इति।—४-२-६६, वा० ६, पृ० १९१-९२।

८. वही

९. १-१-२, वा० १, पृ० १९२।

१०. १-१-९१, वा० ७, पृ० १४४।

११. ६-४-११६, वा० १, पृ० ४८३।

विषयक नियम के वक्ता बतलाये गये हैं। आपस्तम्ब सूत्र (५-२-७) मे भी इनका उल्लेख है। काशिकाकार ने आर्चायिन् शाखा का उल्लेख किया है, जिसे श्रीभगवद्दत्त ने आर्चामिन् माना है। यह कृष्णयजुष् की शाखा थी। निरुक्त (२-३) मे इसका उल्लेख है।

इनमे से प्रत्येक चरण की अपनी विशेषताएँ थी, जिन्हे लक्षण कहते थे। पाणिनि ने शाकल्य आदि चरणो के विशेष लक्षणो के लिए प्रत्यय का विधान किया है। काशिकाकार ने इस प्रसंग मे गो आदि के स्वभूत चिह्नो को अक और चरणो आदि के स्वभूत चिह्नो को लक्षण की सज्ञा देते हुए विद लोगो का लक्षण विद्या बतलाया है।[1]

---

१. सन्घाङ्कलक्षणेष्वध्ययिनामण् (?)। अङ्कलक्षणयोः को विशेष.? लक्ष्य लक्ष्यभूतस्यैव चिह्नभूतं स्वयं या विद्या विदानाम्। अङ्कस्तु गवादिस्योऽपि गवादीनां एवं न भवति।–४-३-१२७, काशि० शाकलाद्, वा० ४-३-१२८।

अध्याय ३

साहित्य और साहित्यकार

वर्गीकरण—भाष्य मे साहित्य का पाँच भागों मे वर्गीकरण मिलता है—दृष्ट, प्रोक्त, व्याख्यात, उपज्ञात और कृत। दृष्ट साहित्य मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों द्वारा प्रकाशित है। पतजलि दृष्ट साहित्य को नित्य मानते थे। उन्होने कहा है कि छन्दस् बनाये नही जाते। वे अकृत या अपौरुषेय है। ऋचाओं की वर्णानुपूर्वी मे अन्तर हो सकता है। शाखा-भेद से छन्दस् मे वर्ण-भेद होने पर भी मन्त्र, अर्थात् उनमें निहित अर्थ-तत्त्व नित्य है। काठक, कालापक, मौदक और पैप्पलादक आदि भेद वर्णानुपूर्वी-भेद से माने जाते है।[1]

दृष्ट साहित्य

चातुर्वेद्य—दृष्ट साहित्य मे चतुर्वेद या चातुर्वेद्य आते है।[2] कुछ लोग अथर्व को छोड़कर शेप वेदो को त्रिविद्या कहते थे। भाष्य ने त्रिविद्या को त्र्यवयवक विद्या कहा है और द्वितीय, तृतीया विद्या का पृथक उल्लेख किया है।[3] चातुर्वेद्य और त्रिविद्या के अधीती क्रमश चतुर्वेद और त्रैविद्य कहलाते थे। अथर्वसहिता पाणिनि को अविदित थी, किन्तु भाष्यकार के समय तक वह समादृत हो चुकी थी। भाष्यकार को दृष्ट साहित्य का सूक्ष्म परिचय था। भाष्य मे महानाम्नी,[4] सामिधेनी (ऋक्), सामिधेन्य[5] मन्त्र, चमक,[6] पञ्चदशस्तोम,[7] सप्तदशाक्षर छन्दस्य,[8] ऋक्साम, सामयजुप,

---

१. नहिच्छंदांसि क्रियन्ते। नित्यानिच्छन्दांसि। यद्यप्यर्थो नित्यो या त्वसौ वर्णानुपूर्वी सा नित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादकमिति।—४-३-१०१, वा० ३, पृ० २४७।

२. ५-१-१२४, वा० १, पृ० २६४।

३. तिस्रोविद्यास्त्रैविद्य इति। त्र्यवयवका विद्या त्रिविद्या।—४-१-८८, पृ० ९९, तथा ४-२-७, पृ० १७०।

४. ५-१-९४, वा० १, पृ० ३४१।

५. ४-३-१२०, वा० १०, पृ० २५२।

६. तैत्ति० सं० ४-७-४ के मंत्र। ५-२-४, वा० २, पृ० ३६७।

७. ५-२-३७, श्लो० वा० २, पृ० ३७८।

८. ५-४-३०, वा० २, पृ० ४९१।

ब्रह्मसाम,[1] देवच्छन्द,[2] अस्यवामीय, क्याशुभीय[3] (सूक्त), तृचसूक्त,[4] तृचसाम, गृहपतिमन्त्र,[5] अहोरयन्तर साम[6], स्तम्भीय, गर्दभाण्डीय, अनुकीय[7] (अनुवाकयुक्त) सूक्त, वसिष्ठ, विश्वामित्र (अनुवाक)[8] आदि शब्द आये हैं। इनमे ऋग्वेद के बृहत् तथा अहोरयन्तर छन्दो ने सामवेद मे रहस्यमयता उत्पन्न कर दी है। तृचसूक्त साम के उत्तरार्चिक मे तीन तीन ऋचाओ को मिलकर बनाये गये २८७ पद्य हैं। उत्तरार्चिक में ही ८६ पद्य दो-दो ऋचाओं को मिलाकर बनाये हुए हैं और १३ मे से प्रत्येक मे एक ऋचा का है। भाष्यकार ने एकर्च छन्द की भी चर्चा की है। अनुवाको और अध्यायो के नाम उनमे आये हुए शब्द विशेष के आधार पर भी प्रचलित थे। यथा वैयुक्त, गोपदक आदि।[9] किसी-किसी सूक्त या अनुवाक का नाम उसके द्रष्टा ऋषि के नाम पर प्रसिद्ध हो गया था। कालेय, आग्नेय, औशनस् या[10] औशन और वामदेव्य[11] सामो के नाम कलि, अग्नि, उशनस् और वामदेव द्वारा दृष्ट होने के कारण थे। यज्ञायज्ञीय साम के बाद गाये जानेवाले उक्थ सामो का भी उल्लेख भाष्य मे हुआ है। इन्हे गानेवाले औक्थिक कहलाते थे। औक्थिको का आम्नाय औक्थिक्य या उनके द्वारा गाये जानेवाले साम थे। इस प्रकार, साम का पर्यायवाची होने पर भी उक्थ शब्द सामविशेष (औक्थिक्य) मे ही रूढ था। इसीलिए, औक्थिक विशेष सामग की सज्ञा थी।[12]

आम्नाय—चरणो और शाखाओ के मूल ग्रन्थ आम्नाय कहलाते थे। कठ, कलापिन्, मौद और पैप्पलाद शाखाओ के आम्नाय और धर्म काठक, कालापक मौदक और पैप्पलादक थे।[13] इसी प्रकार, छन्दोगो, औक्थिको, याज्ञिको, बह्वृचो, नटो और अथर्वणो के अपने-अपने आम्नाय थे,

---

१. ५-४-७, पृ० ५०४।
२. ५-४-१०३, पृ० ५०७।
३. ५-२-५९, वा० १, पृ० ३९४।
४. ६-१-३९, वा० ५, पृ० ६८।
५. ४-४-९०, पृ० २८६।
६. ८-२-६८, पृ० ३७६।
७. ५-२-६०, वा० १, पृ० ३९६।।
८. ४-३-१३१, वा० १-२, पृ० २५५।
९. ५-२-६१, ६२।
१०. ४-२-७, पृ० १६९, १७०।
११. ४-२-९, पृ० १७०।
१२. उक्थानीत्युच्यते। कान्युक्थानि? सामानि। यद्येवं सामगमात्रे औक्थिक इति प्राप्नोति। नैष दोषः। तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यं भविष्यति। उक्थार्थमुक्थम्। इहोभयान्यधीत औक्थिक इति। य इदानीं औक्थिक्यं याज्ञिक्यं चाधीते कथं तत्र भवितव्यम्? औक्थिकः याज्ञिक इत्येव भवितव्यम्।—४-२-६०, पृ० १८६ तथा उक्थशब्दः केषुचिदेव सामसु रूढः। यज्ञा यज्ञीयात्परेण यानि गीयन्ते।—वही, का०।
१३. ४-३-१२०, वा० ११, पृ० ५२।

जो क्रमश छान्दोग्य, औक्थिक्य, याज्ञिक्य, वाह्वृच्य, नाट्य और आथर्वण कहे जाते थे।[1] भाष्यकार ने आम्नायो को अन्यभाव्य (भिन्न) कहा है, क्योकि उनकी वर्णानुरूपी, स्वर, देश तथा काल नियत रहता है। उदाहरणार्थ, अस्यवामीय सूक्त मे अस्यवाम शब्द का स्वर और वर्णानुपूर्वी निश्चित है। आम्नाय पढने का स्थान भी निश्चित है, क्योकि वह चौरास्ते पर या श्मशान मे नही पढा जाता। उसका समय भी नियत है। चतुर्दशी और अमावास्या को आम्नाय का पठन वर्जित है। आम्नाय शब्द का प्रयोग सामान्यतया वेद के लिए होता था।

ऋषि—वेदो को ऋषि भी कहते थे।[2] सम्भवत वेदो को यह नाम कर्त्ता (ऋषि) से तादात्म्य सूचित करने के लिए दिया गया था। भाष्य मे एक अश उद्धृत है, जिससे ऋषियो के प्राचीन और नवीन दो वर्गों का पता चलता है।[3] भाष्यकार ने इन्हे प्रत्यक्षधर्मा, परापरज्ञ, विदितवेदितव्य और अधिगतयाथातथ्य कहा है।[4] यह परिभाषा निरुक्त की प्रतिध्वनिमात्र है।[5] निरुक्त के अनुसार अनृषि और अतपस्वी को वेद का प्रत्यक्ष नही होता।[6] भाष्यकार ने तपस् द्वारा ही विश्वामित्र को ऋषित्व की प्राप्ति बतलाई है। तप के बल से वे स्वय ऋषि बने और तप की शक्ति से ही उन्होने अपने पिता गाधि और पितामह कुशिक को ऋषि बनाया था।[7] अट्ठासी सहस्र ऊर्ध्वरेतस् ऋषि हुए है, जिनमे अगस्त्यादि आठ ने सन्तानोत्पत्ति स्वीकार की थी।[8] भाष्य मे यर्वाण, तर्वाण,[9] प्रस्कण्व, हरिश्चन्द्र,[10] नारद, पर्वत,[11] ऐडविड, औशिज,[12] भृगु-अत्रि, कक्षीवान्[13] कण्व, जातसेन,[14] मरीचि, दक्ष, वसिष्ठ, बृहस्पति, कश्यप, च्यवन, नामदेव आदि नाम मिलते है। नारद का उल्लेख अथर्ववेद मे वशाधेनु के मास के खाद्याखाद्यत्व-विवेचन के प्रसग

---

१. ४-३-१२९ तथा ४-३-१३१, वा० १, पृ० २५४।

२. आचारे पुनर्ऋर्षिर्नियम वेदयते।—आ० १, वा० ७, पृ० २२।

३. अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिः ऋग्।—१-१-२।

४. आ० १, वा० ९, पृ० २४।

५. साक्षात् कृतधर्माणि ऋषयः।—निरुक्त, १-२०।

६. ब्रह्मेषु प्रत्यक्षमस्त्रमनृषेरतपसो वा।—निरुक्त १३-१२।

७ विश्वामित्रस्तपस्तेपेनानृषिः स्यामिति। तत्र भवानृषिः सम्पन्नः। सपुनस्तपस्तेपे नानृषेः पुत्रः स्यामिति। तत्र भवान् गाधिरप्यृषिःसम्पन्नः। सपुनस्तपस्तेपे नानृषेःपौत्रः स्यामिति। तत्रभवान् कुशिकोऽप्यृषिः सम्पन्नः।—४।१।१०४, पृ० १३३।

८. अष्टाशीतिः सहस्त्राण्यूर्ध्वरेतसमृषीणां बभूवस्तत्रागस्त्याष्टमैर्ऋर्षिभिः प्रजनोऽभ्युपगतः।—४-१-७९, वा० ३, पृ० ८८।

९. आ० १, वा० ९, पृ० २४।

१०. ६–१–१५३।

११. ८–१–१५, पृ० ३७८।

१२. ४–१–१२०, पृ० १४१।

१३. ६–१–३७ वा०, ७, पृ० ६८।

१४. ४–१–११४, पृ० १३७।

मे हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण मे नारद और पर्वत आवष्ठ्य और युवाउग्रैपि के पट्टाभिषेककर्त्ता और हरिश्चन्द्र को अश्वमेध याग के परामर्शदाता कहे गये हैं।

ऋषि सहिता और कल्प दोनो प्रकार के साहित्य के प्रणेता थे। पाणिनि ने भी ब्राह्मण और कल्प के प्रणेता काश्यप और कौशिक को ऋषि कहा है। पतजलि ने 'यवमतीभिरद्भिर्यूप प्रोक्षति' इस कल्प-वचन को ऋषि-कृत माना है।[1] पुराणो मे ऋषि-पुत्रो की सज्ञा ऋषिक है। भाष्य मे भी ऋषिको का उल्लेख है। इनकी कृति आर्षक कहलाती थी।[2] प्राचीन ग्रन्थो मे ऋषिक और ऋषाक दोनो शब्दो का व्यवहार मिलता है।[3] पुराणो के ऋषिको मे भरद्वाज, शरद्वत्, वाजश्रवस् और पराशर नाम भाष्य मे आये हैं।[4] पुराणो के अनुसार भृगुकुल मे उन्नीस ऋषि हुए हैं, जिनमे भृगु, दध्यङ, और्व, जमदग्नि, विद, वैन्य, दिवोदास, वाध्र्यश्व, और शौनक से भाष्यकार परिचित थे। इनमे भृगु, दध्यङ और शौनक ही आथर्वण हैं। आगरस्-कुल से ३३ ऋषियो मे भरद्वाज, गर्ग, अम्बरीष, अजमीढ, कपि, पृषदश्व, कण्व, मुद्गल, शरद्वान्, आयास्य, वामदेव, कक्षीवान्, छह काश्यपो मे कश्यप, नैध्रुव और रैभ्य, छह आत्रेयो मे अत्रि, गविष्ठा, पूर्वातिथि एव सात वासिष्ठो मे वसिष्ठ, पराशर, कुण्डिन् तथा तेरह कौशिको मे विश्वमित्र, कत और लोहित का उल्लेख भाष्य मे मिलता है।

प्रोक्त साहित्य

ब्राह्मण और कल्प—ऋषि-दृष्ट ग्रन्थो की विभिन्न शाखीय सहिताएँ तथा उनके अगभूत ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थ प्रोक्त साहित्य के अन्तर्गत हैं। यह प्रवचनकार आचार्यों की अपनी कृति नही, अपितु सहिताओ का प्रवचन-रूप साहित्य है।[5] भाष्यकार ने इस बात को स्पष्ट किया है कि किसी के द्वारा प्रोक्त साहित्य उसका कृत नही होता। उदाहरणार्थ, माथुरी वृत्ति माथुर द्वारा कृत नही, प्रोक्त है।[6] यह माथुरी वृत्ति कौन-सी थी, स्पष्ट नही है। प्रोक्त साहित्य मे तैत्तिरीय, वारतन्तवीय, खाण्डिकीय और औखीय सहिताएँ[7] काश्यप और कौशिक के कल्प,[8] कलापी, वैशम्पायन तथा उसके अन्तेवासियो (हरिद्रु, छगलि, तुम्बुरु, उलप, खाडायन और कठ)[9] के ग्रन्थ भाष्यकार को ज्ञात थे। इनके अतिरिक्त, याज्ञवल्क्य, सुलभ,[10] भाल्लव, शाट्यायन और ऐतरेय के ब्राह्मण,

---

१. ५–२–९४, वा० ३, पृ० ४१०।

२. ४–२–१०४, वा० २८, पृ० २४३।

३. ऋषिपुत्रानृषीकास्तु गर्भोत्पन्नान्निबो०।

४. ४–१–१०२ तथा ४–१–११७।

५. ४–२–६४, पृ० १८८।

६. ४–३–१०१, वा० ३, पृ० २४७।

७. ४–३–१०२।

८. ४–२–६६, वा० ६, पृ० १९१।

९. ४–३–१०४, वा०१–३, पृ० २४८ तथा का०।

१०. ४–३–१०५, वा० १, पृ० २४२।

पैङ्गी, अरुणपराजी,[1] आनुरीप, पाराशर[2] और कल्प, शौनकादिको (शौनक, वाजसनेय, शार्ङ्गरव सागरव, शाम्पेय, सास्पेय, स्कन्ध, स्कन्द, तवल्कार, रज्जुकण्ठ, रज्जुभार, कठशाख, कशाय, पुरुषांस, अश्वपेय)[3] के ब्राह्मण, कल्प और सहिताएँ, कठों और चरको की सहिताएँ,[4] कलापी और छगली के ग्रन्थ,[5] पाराशर्य और कर्मन्द के भिक्षुसूत्र एव शिलालिन् और कृशाश्व के नटसूत्र पतजलि के समय मे विद्यमान थे।[6] इनमे से पैङ्ग्य मत का उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण के दर्श-पौर्णमास इष्टि के विवेचन-प्रसग मे मिलता है।[7] ऐतरेय के सुप्रसिद्ध शुन.शेप, शुन पुच्छ और शुनोलागूल का उल्लेख भी इस बात का सूचक है कि भाष्यकार ऐतरेय ब्राह्मण से भली भाँति परिचित थे।[8] कौशिककल्प सम्भवत आथर्वण कौशिकसूत्र है। सूत्र १-२-६४ मे जिन शयुवाको का उल्लेख है, वे आश्वलायन श्रौतसूत्र (७-११) मे मिलते हैं।

क्रौड, काकत,[9] मौद और पैप्पलाद ब्राह्मण तथा तौम्बुरव, भाल्लव, कालापक, आरुण, शाट्यायन, गार्गक, वात्सक काण्व और ब्राह्मण-ग्रन्थो या कल्पसूत्रो का भी प्रचार पतजलि-काल मे रहा जान पडता है।[10] वेद, तन्त्र, वार्त्तिक, सग्रह और कल्प इन विभागो की चर्चा महाभाष्य मे है। इनके अध्येताओ के नाम के साथ सर्ववेद, सर्वतन्त्र, सवार्त्तिक, ससग्रहपञ्चकल्प, द्वितन्त्र आदि विशेषण लगाये जाते थे।[11] काशिकाकार ने उपर्युक्त ब्राह्मणो से भाल्लव, शाट्यायन और ऐतरेय को तथा कल्पो मे पैङ्गी और अरुणपराजी को अति प्राचीन माना है।[12]

इस समय शतपथब्राह्मण का प्रचार अत्यधिक जान पडता है।[13] षष्टिपथ, जिसका उल्लेख भाष्य मे शतपथ के साथ ही हुआ है, इसी का एक भाग है। शतपथ ब्राह्मण के पचदशपथ, पष्टिपथ, अशीतिपथ आदि खण्ड थे। शतपथ की गणना पथादिगण (५-३-१००) मे भी है। षष्ठिपथ इसका नवम काण्ड-पर्यन्त भाग है। अग्निचयन इसके अन्तर्गत है। इसमे यजुर्वेद के प्रथम अट्ठारह अध्यायो के सब मत्रो की व्याख्या आ गई है। 'अव्यय विभक्ति' (२-१-६) सूत्र की व्याख्या मे काशिकादि ग्रन्थों का 'अग्निग्रन्थपर्यन्तमधीते साग्नि' यह उदाहरण भी षष्टिपथ

---

१. वही, का०।
२. ४-१-१९, वा० २, पृ० ४४ तथा ४-२-६०, पृ० १८६।
३. ४-२-१०६।
४. ४-३-१०७।
५. ४-३-१०८, १०९।
६. ४-३-११०, १११।
७. ऐत० ब्रा०, ७-११।
८ ऐत० ७-१७, १८ तथा ६-३-२१, वा० ४, पृ० ३०७।
९. ४-२-६६, पृ० १९१, १९२।
१०. ४-२-१०४, वा० १९, पृ० २०९।
११. ४-२-६०, पृ० १८७।
१२. ४-३-१०५, वा० १, पृ० २४२।
१३. ४-२-६०, पृ० १८८।

के विशेष प्रचार का परिचायक है। सूत्र १-२-३७ के भाष्य मे जिस सुब्रह्मण्या निगद की चर्चा है, वह भी शतपथ मे उपलब्ध होता है। सुब्रह्मण्या का व्याख्यान षड्विंशब्राह्मण (१-१-८ से १-२ के अन्त तक) मे मिलता है। शतपथ ही याज्ञवल्क्य ब्राह्मण हैं और यही शौनकादिगण (४-३-१०६) का वाजसनेय ब्राह्मण है। सूत्र ५-१-६२ में त्रैश और चत्वारिंश ब्राह्मणो का उल्लेख है। इनमे चालीस अध्याय का ऐतरेय ही चत्वारिंश ब्राह्मण है और त्रैश, सम्भवत. इसके प्रथम तीस अध्याय। षड्गुरुशिष्य (पृ० २) ने ऐतरेय वृत्ति के प्रारम्भ मे ही उसे चत्वारिंश कहा है। युधिष्ठिर मीमासक के अनुसार पंचविंश के पच्चीस प्रपाठक, षड्विंश के पाँच, मत्र-ब्राह्मण के दो और छान्दोग्य उपनिषद् के आठ प्रपाठको को मिलाकर चालीस अध्याय का एक ही ब्राह्मण वर्त्तमान था।[1] त्रैश ब्राह्मण मे पचविंश और षड्विंश को मिलाकर तीस अध्याय सम्मिलित थे।

अनुब्राह्मण या ब्राह्मण-सदृश ग्रन्थ सम्भवत आरण्यकों के बोधक है।[2] ये ब्राह्मण-ग्रन्थानुसारी तथा कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड दोनो के मिश्रण है। सम्भव है, ये विशिष्ट ग्रन्थ हो। भाष्यकार ने आरण्यक अध्याय का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि उनके समय मे आरण्यक भाग पृथक् उपलब्ध था।[3] उपनिषद् पाणिनि-काल मे ही प्रचलित थे।[4] ऋगयनादि गण (४-३-७३) मे उसका उल्लेख है। ४-३-१२ सूत्र मे जिस छान्दोग्य आम्नाय की चर्चा है, उसी का छान्दोग्य उपनिषद् भी है। अनुब्राह्मणो के समान उक्थादि गण (४-२-६०) मे अनुकल्प शब्द भी आया है। सम्भव है, ये यज्ञपद्धति पर लिखे गये ग्रन्थ हों।

ब्राह्मणों मे कुछ प्राचीन और कुछ अर्वाचीन माने जाते थे।[5] पुराणो मे भाल्लव, शाट्यायन और ऐतरेय तथा अर्वाचीनों मे याज्ञवल्क्य (शतपथ) और सौलभ नाम भाष्यकार ने बतलाये है। काशिका ने ताण्डव को प्राचीन माना है और सौलभ को नवीन। सुलभा का उल्लेख महाभारत के शान्तिपर्व मे जनक के साथ ब्रह्मविद्या-विषयक सवाद के प्रसग मे हुआ है। आश्वलायनादि गृह्यसूत्रो के ऋषितर्पण मे भी सुलभा नाम आया है। काशिकाकार ने अरुणपराज, पैंग और आश्मरथ को भी अर्वाचीन बतलाया है। वार्त्तिककार ने याज्ञवल्क्य को भी प्राचीन माना है। सम्भवत पुराण-प्रोक्त (४-३-१०५) का अर्थ उन्होंने पाणिनि से पूर्ववर्त्ती समझा है। ये ग्रन्थकार सबके मत से प्राचीन नही थे। इसीलिए, वार्त्तिक को अपने कथन की पुष्टि मे (तुल्यकालत्वात्)' कहना पडा। पाणिनि की दृष्टि मे तो निश्चय ही ये प्राचीन नही थे। काशिकाकार ने भी इस सूत्र की व्याख्या मे कहा है कि आख्यानों मे यह वार्त्ता आती है कि याज्ञवल्क्यादि अचिरकालीन है। काशिका ने आश्मरथ की भी अर्वाचीनो मे गणना की है।

उक्थादिगण (४-३-६०) मे लोकायत, न्याय, न्यास, निमित्त, पुनरुक्त, निरुक्त,

---

१. संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास, पृ० १७५।

२. ४–२–६२, पृ० १८८।

३ ४–२–१२९, पृ० २१६।

४. १–४–७९।

५. व्याख्यायतेऽनेनेति व्याख्यानम्।—४–३–६६ काशि०।

यज्ञचर्चा, धर्म, क्रमेतर, श्लक्ष्ण, पद, क्रम, सघात, वृत्ति, सग्रह, गुणागुण, आयुर्वेद, द्विपदी, (ज्यौतिषविषयक) अनुपद, अनुकल्प, और अनुगुण इन विषयो का समावेश है। भाष्य के समय मे इनमे से किस विषय के कौन-कौन-से ग्रन्थ विद्यमान थे, यह पता नही है, यद्यपि इन विषयों मे अधिकाश का उल्लेख भाष्य मे हुआ है।

व्याख्यात साहित्य

व्याख्यान प्रोक्त ग्रन्थो की व्यवस्था के रूप मे थे। निरुक्त, व्याकरण आदि के व्याख्यापरक ग्रन्थ इसी श्रेणी के हैं। वे श्रेष्ठ ग्रन्थ या विषय, जिनके लिए व्याख्यान-ग्रन्थो की आवश्यकता होती थी, व्याख्यातव्य कहलाते थे।[1] सामान्य विषयो पर भी व्याख्यान-ग्रन्थ उपलब्ध थे। उदाहरणार्थ, पाटलिपुत्र के प्राकार, प्रासाद आदि का विस्तरश वर्णन सुकोसला नामक व्याख्यानी (पुस्तिका) मे दिया गया था। फिर भी उसे व्याख्यान-ग्रन्थ नही माना जाता था। अवयवश आख्यान को व्याख्यान मानते हुए भी भाष्यकार ने प्रसृततर गतिवाले व्याख्यान-ग्रन्थो को ही इस श्रेणी के अन्तर्गत स्वीकार किया हैं। उन्होने कहा है कि लोक-व्यवहार मे ऐसा तो सुना जाता है कि निरुक्त की व्याख्या की जा रही है या व्याकरण की व्याख्या की जा रही है। पाटलिपुत्र की व्याख्या की जा रही है, ऐसा कोई नही कहता। अत, शब्द-ग्रन्थो को ही 'व्याख्यान' कहना उचित है।[2] व्याकरण के विषय मे उन्होने उदाहरण, प्रत्युदाहरण और आवश्यकतानुसार वाक्यों को ऊपर से जोडना इन सबको सयुक्त रूप से व्याख्यान माना है।[3]

व्याख्यान-ग्रन्थो मे वहुत-सा याज्ञिक साहित्य भी विद्यमान था, जिसका अध्येता याज्ञिक कहलाता था। इस साहित्य को क्रतु-ग्रन्थ भी कहते थे।[4] इसमे, अग्निष्टोमिक, राजसूयिक, वाजपेयिक, नावयज्ञिक, पाकयज्ञिक, पाञ्चौदनिक, साप्तौदनिक व्याख्यान-कल्पो का उल्लेख भाष्यकार ने किया है।[5] पुरोडाश के सस्कार का निरूपण करनेवाले पुरोडाशिक ग्रन्थो तथा पुरोडाश-सम्बन्धी मन्त्रो की व्याख्या करनेवाले व्याख्यान-ग्रन्थ पौरोडाशिक कहलाते थे।[6] यह अन्तर पाणिनि के समय मे ही स्पष्ट था। इसी प्रकार छन्दस्, इष्टि, पशु, ब्राह्मण, ऋक्, अध्वर, पुरश्चरण, नाम

---

१. व्याख्यायतेऽनेनेति व्याख्यानम्।—४–३–६६ काशि०।

२. व्याख्यानार्थमपि व्याख्यातव्य नाम्नो ग्रहण क्रियते। इह माभूत्पाटलिपुत्रस्य व्याख्यानी सुकोसलेति। क्वचित् काचित् प्रसृततरागतिर्भवति। शब्दग्रन्थेषु च ह्येषा प्रसृततरा गतिर्भवति। नि वतं व्याख्यायते, व्याकरण व्याख्याय तेन कश्चिदाह पाटलिपुत्रं व्याख्यायते इति।—४–३–६६, वा० ४, पृ० २३९।

३. उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्यस्याध्याहार इत्येतत् समुदितं व्याख्यानं भवति।—आ० १, वा० १४, पृ० २८।

४. ४–२–६०, पृ० १८६।

५. ४–३–६६, वा० ६, पृ० २४०।

६. ४–`–७० तथा का०।

और आख्यात-सम्बन्धी व्याख्यान-ग्रन्थ पतंजलि से बहुत पहले बन चुके थे।[1] नामिक, आख्यातिक और नामाख्यातिक ग्रन्थों को सौप, तैड भी कहते थे। कृत-सम्बन्धी कार्त्तग्रन्थ भी स्वतन्त्र रूप से लिखे गये थे।[2] वासिष्ठिक अध्याय और वैश्वामित्रिक अध्याय मे इन ऋषियों के मत्रों के व्याख्यान थे।[3] ऋगयनादि गण में उल्लिखित विषयों का विस्तार बहुत अधिक है। इससे पता चलता है कि पतंजलि के समय मे ऋगयन, पदव्याख्यान, छन्दोनाम, छन्दोभाषा, छन्दोविचिति, न्याय, पुनरुक्त, व्याकरण, निगम, वस्तुविद्या, अगविद्या, क्षत्रविद्या, उत्पाद, उत्पात, संवत्सर, मुहूर्त्त, निमित्त, उपनिषद् और शिक्षा-सम्बन्धी साहित्य प्रचुर मात्रा मे विद्यमान था।[4] भाष्य मे ऐष्टिक, पाशुक, चातुर्होतृक, ब्राह्मणिक, आर्चिक, आर्गयन, वास्तुविद्य साहित्य की चर्चा है।

उपज्ञात साहित्य

लोक मे विद्यमान विषय को बिना किसी से पढ़े, सीखे या उपदेश प्राप्त किये स्वयं विश्लेषित कर वैज्ञानिक विधि से 'उपनिबद्ध' करना उपज्ञा का काम माना जाता था और इस प्रकार उपनिबद्ध किये गये ग्रन्थ उपज्ञात श्रेणी के माने जाते थे। इन ग्रन्थो मे सामान्य विषय तो लोकानुसारी होते थे, किन्तु कुछ अंग कर्त्ता की स्वोपज्ञा से प्रसूत होते थे। इनमे आपिशलिक व्याकरण दुष्करण, काशकृत्स्न का गुरुलाघव और पाणिनि का अकालकत्व उनकी उपज्ञा की देन था।[5] उपज्ञात ग्रन्थों के कर्त्ताओ मे काशिका ने व्याडि का भी नाम गिनाया है।[6]

कृत साहित्य

कृत मौलिक रचनाएँ थीं।[7] अवैदिक साहित्य, यथा वररुचि के श्लोक हैकुपाद और भैकुराट की रचनाएँ इनके अन्तर्गत हैं।[8] तित्तिरि के श्लोक मौलिक होने पर भी प्रोक्त साहित्य के अन्तर्गत थे, कृत नही।[9]

ग्रन्थो के नामकरण—ब्राह्मणों या संहिताओं के नाम उनके प्रवचनकारो के नाम पर प्रचलित नहीं थे। जिस प्रकार, पाणिनि से उपज्ञात व्याकरण पाणिनीय कहलाता था और वररुचि से कृत श्लोक वाररुच, उसी प्रकार काश्यप या कौशिक के बनाये ब्राह्मण काश्यपीय या कौशिकीय

---

१. ६–३–७१ तथा ४–३–७२, पृ० २४१।

२. ४–३–६७।

३. ४–३–६९।

४. ४–३–७३।

५. विनोपदेशं ज्ञातमुपज्ञातं—स्वयमभिनिबद्धम्।

६. ६–२–१४ काशिका।

७. उत्पादितं कृतम्, विद्यमानमेव ज्ञातमुपज्ञातमित्यनयोर्विशेष.।—४–३–११६ काशि०।

८. ४–३–१६६ का०।

९. ४–२–६६, वा० ६, पृ० १९१ तथा ४–३–१०४, वा० ३, पृ० २४८।

नही कहे जाते थे। इन ग्रन्थो के नाम उनके प्रवचनकारो के शिष्यो के सन्दर्भ में ही प्रचलित थे। काश्यपिन् या कौशिकिन् छात्र वे कहलाते थे, जो काश्यप या कौशिक से प्रोक्त ग्रन्थो का अध्ययन करते थे। इन छात्रो के नामो से ही काश्यप ब्राह्मणो या कौशिक ब्राह्मणो का अनुमान होता था। इससे स्पष्ट है कि प्रोक्त ग्रन्थ लिपिबद्ध नही थे। वे गुरुओ द्वारा मौखिक रूप से पढाये जाते थे और शिष्य-परम्परा द्वारा जीवित रखे जाते थे। इसीलिए, भाष्यकार ने कहा है कि 'पाणिनीय श्रेष्ठ और बडी रचना है, यह वाक्य ठीक है, किन्तु कठ श्रेष्ठ रचना है' यह प्रयोग ठीक नही है। अपेक्षाकृत नवीन ब्राह्मणो के लिए स्वतन्त्र शब्द थे। जैसे याज्ञवल्क्य ब्राह्मण या सौलभ ब्राह्मण। ये प्रारम्भ से ही लिपिबद्ध रहे होगे। प्राचीन ब्राह्मण बाद मे लिपिबद्ध किये गये जान पडते है।[1]

कृत ग्रन्थो के नाम उनके वर्ण्य विषय के अनुसार रखे जाते थे। आख्यायिकाओ के नाम उसके नायक या नायिका के अनुसार होते थे। भाष्यकार के समय मे वासवदत्ता, सुमनोत्तरा और भैमरथी की आख्यायिकाएँ विद्यमान थी।[2] शिशुक्रन्दीय, यमसभीय, श्येनकपोतीय, इन्द्र-जननीय, देवासुरी, रक्षोऽसुरी नामक कृतियाँ भी इस समय प्रचलित थी।[3] आख्यानो मे प्रयुक्त यवक्रीत प्रियगु और ययाति के नाम भाष्य मे मिलते है।

विभिन्न विषय—यदि हम विषय की दृष्टि से देखें, तो भी पतजलि-काल के साहित्य की दृष्टि से बहुत समृद्ध जान पडता है। वेदागो मे कल्प-साहित्य का परिमाण बहुत अधिक था। याज्ञिक्य ग्रन्थ तथा उनके व्याख्यानो की सख्या भी बहुत अधिक थी, यह बात ऊपर कही जा चुकी है। इनके अतिरिक्त व्याकरण तथा उससे सम्बद्ध विषयो तथा शिक्षा और निरुक्त पर पर्याप्त कार्य हो चुका था।

शिक्षा—पाणिनि के क्रमादिगण मे शिक्षा भी सम्मिलित है। शिक्षा वर्णो के स्थान-प्रयत्न-दर्शक ग्रन्थ है। पाणिनि ने आपशलि का बार-बार उल्लेख किया है। उनकी शिक्षा आज भी उपलब्ध है। पाणिनीय शिक्षा का प्रचार पतजलि के समय मे भी रहा ही होगा। काशिका ने शौनकीय शिक्षा का उल्लेख किया है।[4] भाष्यकार ने स्वर-दोष-निरूपण करते हुए सवृक्त कल, ध्मात, एणीकृत, अम्बूकृत, अर्धक, ग्रस्त, निरस्त, प्रगीत, उपगीत, क्ष्विण्ण, रोमश आदि दोषो का उल्लेख किया है। किसी आचार्य के मत से अवलम्बित, निर्हत, निकम्पित, सन्दष्ट, द्रुत और विकीर्ण भी स्वर-दोष है। इनके अतिरिक्त शेष स्वर-दोष दोनो आचार्यो के मत मे सामान्य है। इससे स्पष्ट है कि शिक्षा-शास्त्र की अपनी सर्वमान्य पारिभाषिक शब्दावली थी। भाष्य द्वारा उद्धृत दो कारिकाएँ शिक्षा-ग्रन्थो की स्थिति की सूचक है।[5] सात्यमुग्रि और राणायनीय शाखाओ की अर्ध एकार और अर्ध ओकारविषयक शोध भी इस दिशा मे प्रवर्त्तमान प्रयत्न-परम्परा की ओर सकेत करती हैं। भाष्यकार ने इसे पार्षद कृति कहा है। अन्यत्र लोक या वेद मे, कही भी अर्ध

---

१. ४–२–६६, वा० १–२, पृ० १८९, १९०।
२. ४–३–८७, पृ० २४३।
३. ४–३–८८, वा० १, पृ० २४४।
४. ४–३–१०६।
५. आ० १, वा० १८, पृ० १९–२०।

एकारौकार नहीं बोले जाते थे।[1] यवणि, तर्वाण ऋषियों के उच्चारण-दोष-जन्य उल्लेख की महाभाष्यीय उल्लेख भी शिक्षा-ग्रन्थों के व्यापक प्रभाव का परिचायक है। शिक्षा का सर्वप्रथम नाम-निर्देश तैत्तिरीय उपनिषद् में मिलता है। उसमें शिक्षा के छह अंग माने हैं—शब्द, शब्द पर आघात, पद-प्रमाण या शब्दावयव एवं उसपर आघात, उच्चारण, स्वर-माधुर्य और शब्दसन्धि।[2] शिक्षा का प्रारम्भ पद-पाठ से, जिसमें सन्धि और पदजात पर विचार किया गया था, मानना चाहिए। भाष्यकार ने पद-पाठ की तुलना में व्याकरण को अधिक प्रमाण माना और कहा है कि व्याकरण के सूत्र पदकारों के अनुसार नहीं हो सकते। पदकारों को व्याकरण के नियमों का अनुकरण करना चाहिए।[3] शिक्षा-क्षेत्र की खोजों के तीन शुभ परिणाम पतंजलि के समय तक स्पष्ट हो चुके थे। १. अक्षर-समाम्नाय की वैज्ञानिक पूर्णता, २. उदात्तादिस्वर, ३. स्थानकरणानुप्रदान के शास्त्रीय सिद्धान्त। भाष्यकार ने इन तीनों पर विचार भी किया है।[4]

निरुक्त—निरुक्त के व्याख्यान की चर्चा भाष्य में प्रत्यक्ष मिलती है। यास्क के निरुक्त को तो पतंजलि ने कई बार ज्यों-का-त्यों और कहीं-कहीं थोड़े-से शब्द-भेद से उद्धृत भी किया है।[5] यस्क गोत्र का, जिसके छात्र यास्क कहलाते थे, उल्लेख तो पाणिनि ने ही किया है।[6] भाष्य में नैगम और नैरुक्त सम्प्रदायों का भी वर्णन है।[7] निरुक्त अनेक थे। दुर्गाचार्य की निरुक्त-वृत्ति में निरुक्त को चौदह भेदवाला बतलाया है। स्वयं यास्क (१२-१२) ने प्राचीन नैरुक्तों का स्मरण किया है। इनमें गार्ग्य, गालव और शाकटायन का उल्लेख भाष्य में भी है। यास्क के अतिरिक्त अन्य किसी निरुक्त का नाम भाष्य में प्राप्त नहीं है।

व्याकरण—व्याकरण का प्रारम्भ प्रातिशाख्यों से हुआ था। भाष्यकार के सम्मुख ऋक्, अथर्व, वाजसनेय और तैत्तिरीय प्रातिशाख्य थे। इस दिशा में सर्वप्रथम कार्य शौनको ने किया। अथर्व प्रातिशाख्य भी इन्हीं का है। वाजसनेय के कर्त्ता कात्यायन का भी उल्लेख भाष्य में है। ये सब वैदिक चरणों के व्याकरण-ग्रन्थ हैं। ऋगयनादि गण परिगणित छन्दो-

---

१. आ० २, पृ० ५४।

२. तैत्ति० उप० १-२।

३. लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः। पदकारैर्नामलक्षणमनुवर्त्यम्। यथालक्षणं पद-कर्त्तव्यम्।—३-१-१०९, पृ० १८६।

४. ८-४-६८, पृ० ५००।

५. तुलना कीजिए—चत्वारि शृङ्गा (ऋग्० ४-५८-३); चत्वारि वाक्परिमिता पदानि (ऋग्० १-१६४-४५); उतत्वः पश्यन्नददर्श (ऋग्० १०-७१-४) तथा सक्तुमिव तितउना (१०-७-२); इन पस्पशाह्निक में व्याख्यात मन्त्रों की।—निरुक्त १३-७-१; १३-१-९, १-१९ तथा ४-९ में व्याख्या तथा इनपर सायण भाष्य। तथा शवतिर्गतिकर्मा।—पस्पशाह्निक की निरुक्त २-२ से तथा अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमा कृता भाष्यन्ते।—भाष्य ७-१-९६ की निरुक्त २-२ से।

६. २-४-६३।

७. ३-३-१, श्लो० वा० २, पृ० २८४।

भाषा का अर्थ प्रातिशाख्य ही है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (२४-५) के माहिषेय भाष्य में यह बात स्पष्ट की गई है।

लौकिक वैयाकरणो मे पाणिनि-पूर्व वैयाकरणो के अतिरिक्त पौष्करसादि का नाम एक वार्त्तिक मे आया है। पुष्करसत् शब्द गणपाठो मे कई बार मिलता है।[1] भाष्य मे काशकृत्स्न एव आपिशलि के ग्रन्थो का बार-बार उल्लेख है, उनका अध्ययन करनेवाली स्त्रियो के लिए काशकृत्स्नी और आपिशली के विशेषणो का प्रयोग है।[2] उन्हे काशकृत्स्न से प्रोक्त मीमांसा की जानकारी थी। किन्तु, काशिकाकार ने तीन अध्यायो के काशकृत्स्न-व्याकरण का अनेक बार नाम लिया है। शाकटायन का व्याकरण अति प्रसिद्ध था। प्रातिशाख्यो और निरुक्त मे वे वैयाकरणो के पिता कहे गये हैं। यास्क मे जिन पाणिनि-पूर्ववर्त्ती नवीन वैयाकरणो के नाम गिनाये है, उनमे शाकटायन, गार्ग्य और शाकल्य प्रमुख है। शाकटायन बडे एकाग्र चिन्तक थे। रथमार्ग पर बैठे हुए भी इतने ध्यानस्थ हो जाते थे कि उन्हे सामने से गुजरनेवाले रथ-समूह का पता नही चलता था।[3] निरुक्तकार और पतजलि दोनो ने शाकटायन का मत अत्यन्त आदरपूर्वक अपने ग्रन्थो मे उद्धृत किया है।[4] उनका यह मत कि सज्ञा शब्द धातुज है, आगे चलकर सिद्धान्त मान लिया गया। काशिकाकार के मत से सारे वैयाकरण शाकटायन के अनुवर्त्ती हैं। व्याघ्रपद के दशक व्याकरण से भी भाष्यकार परिचित थे या नहीं, निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। उनके मत की उन्होंने चर्चा नही की है। आपिशल पाणिनीय व्याडीय गौतमीय का साथ उल्लेख मिलने से यह अनुमान होता है कि व्याडि और गौतम भी वैयाकरण थे।[5] गौतम की तिरपनवी पीढी भाष्यकार के समय मे थी, किन्तु पीढी यह वैयाकरण गौतम की ही थी, और यदि थी, तो इन तिरपन मे व्याकरणकार कौन था, कहा नही जा सकता। फिर भी, गौतमीय व्याकरण उनके समय मे विद्यमान अवश्य था। स्वय महाभाष्य मे भी अनेक आचार्यो का उल्लेख मिलता है। ये आचार्य व्याकरण मे किसी-न-किसी विशिष्ट सिद्धान्त के प्रवर्त्तक थे। इनका उल्लेख प्रातिशाख्यो मे भी मिलता है। उदाहरणार्थ, आग्निवेश्य (तैत्ति० प्राति० ९-४, मैत्रा० प्राति० ९-४), इन्द्र (ऋक्तन्त्र १-४), औदव्रजि (ऋक्तन्त्र २-६-१०), कात्यायन (वाज० प्राति० ८-५३), काण्व (वाज० प्राति० १-१२३, १४९), काश्यप (वाज० प्रा० ४-५, ८-५०), कौण्डिन्य (तैत्ति० प्राति० ५-३८, १८-३), गार्ग्य (ऋक् प्राति० १-१५, ६-३६), गौतम (तैत्ति० प्रा० ५-३८, मैत्रा० प्रा० ५-४०), जातूकर्ण्य (वाज० प्रा० ४-१२५, १६०), पौष्करसादि (तैत्ति० प्रा० ५-३७, ३८, १३-१६), पाणिनि (लघु ऋक्तन्त्र), प्लाक्षि (तैत्ति० प्रा० ९-६, १४-११), प्लाक्षायण (तैत्ति० प्रा० ६-९, १४-११), बाभ्रव्य (ऋक्प्रा० ११-६५), बृहस्पति (ऋक्तन्त्र १-४), भारद्वाज (ऋक्तन्त्र १-४), भारद्वाज (तैत्ति० प्रा० १७-३), मीमांसक (तै० प्रा० ५-४२), यास्क (ऋ० प्रा० १-४२),

---

१. २-४-६३, ४-१-९६ तथा ७-३-२०।

२. ४-१-१४, वा० ३, पृ० ३६।

३. वैयाकरणानां शाकटायनो रथमार्ग आसीनः शकटसार्थं यान्तं नोपलेभे।—३-२-११५, पृ० २५०।

४. ३-३-१, श्लो० वा० २, पृ० २८४।

व्याडि (ऋक्प्रा० ३-२३, २८ तथा ६-४३), शाकटायन (ऋक् प्रा० १-१६ तथा १३-३९), शाकल्य (ऋक् प्रा० ३-१३, २२), शौनक (ऋक् प्रा० १-१)।[१] इस विषय पर प्रस्तावना मे विशेष विवेचन किया गया है।

सग्रह-सूत्र की चर्चा भाष्य मे आई है। यह सग्रह-सूत्र इस समय उपलब्ध नही है। पतजलि ने शब्द के नित्यानित्यत्व के विषय मे इसका मत प्रमाण-रूप मे उद्धृत किया है।[२] उद्योतकार के मत से सग्रह के प्रणेता व्याडि थे। भाष्य मे शब्द आकृति का वाचक है अथवा द्रव्य का, इस विषय के विवेचन मे वाजप्यायन और व्याडि दोनो के मत का उल्लेख किया है। वाजप्यायन शब्द को जाति या आकृति का अभिधायक मानते थे और व्याडि द्रव्य या व्यक्ति का।[३] प्रद्योतकार के मत से सग्रह मे एक लाख सूत्र या श्लोक थे।[४] महाभाष्यदीपिका मे भी सग्रह को व्याडि-रचित लक्ष-ग्रन्थपरिमाण निबन्ध तथा व्याकरण-शास्त्र का एक ग्रन्थ माना है।[५] भाष्यकार ने दाक्षायण को सग्रह का प्रणेता माना है और उनकी कृति (सग्रह) को शोभन बतलाया है। दाक्षायण दाक्षी-पुत्र पाणिनि के ममेरे भाई रहे होगे। काशिका (२-४-६०) मे दाक्षि को पिता और दाक्षायण को पुत्र कहा है। दाक्षी और दाक्षि बहन भाई ही हो सकते है। दाक्षायण, काशिकाकार के अनुसार प्रादेशीय थे। इनके गुरुकुल तथा ग्रन्थ की सार्वजनिक प्रतिष्ठा यहाँतक थी कि उससे स्नातक बने छात्रो का विवाह अच्छे कुल मे होता था। इसलिए, कुछ विद्यार्थी श्रेष्ठ कन्याएँ प्राप्त करने के लोभ से उसका अध्ययन प्रारम्भ करते थे।[६] सग्रह व्याकरण का सर्वोत्कृष्ट दार्शनिक ग्रन्थ था। चान्द्र व्याकरण (४-१-६३) मे इसे पचक कहा है। नागेश के प्रदीपोद्योत मे इसे सर्वाधिक प्रमाण माना है।[७] भाष्य के बहुत-से श्लोक-वार्त्तिक तथा पूर्वोक्तार्थ सग्रह श्लोक-सग्रह से लिये गये जान पडते है।[८] वाल्मीकीय रामायण के प्रणयन-काल मे भी सग्रह के पठन-पाठन का विशेष प्रचार था, किन्तु पतजलि से कुछ समय पूर्व ही उसका प्रचार कम हो गया था।[९]

सग्रह-सूत्र के साथ भाष्य मे वार्त्तिक-सूत्र का भी उल्लेख है। सम्भव है, यह वार्त्तिक-सूत्र कात्यायन का ही हो। इन्द्र के व्याकरण की भी चर्चा महाभाष्य मे आई है। ऐसा विश्वास था कि स्वय बृहस्पति ने इन्द्र को प्रतिपद शब्द-पारायण का उपदेश दिया था, किन्तु शब्दो का

---

१. ६-२-३६, वा० १, पृ० २५७।

२. आ० १, पृ० १३।

३. १-२-६४, वा० २५ तथा ४५, पृ० ५८६ एव ५९०।

४. संग्रहो व्याडिकृतो लक्षसंख्यो ग्रन्थः।—महा० दीपिका।

५. व्याड्युपरचितलक्षग्रन्थपरिमाण सग्रहाभिधान निबन्धमासीत्। सग्रहोऽयमस्यैव शास्त्रस्यैकदेशः, महा० दीपिका।—भर्त्तृहरि।

६. कुमारी दाक्षाः।—६-२-६९ काशि०।

७. एवं च संग्रहादिषु तदुदाहरणमसङ्गतं स्यात्।—४-३-३९ प्रदीपोद्योत।

८. ५-२-४८ कैयट।

९. प्रायेण सक्षेपरुचीनल्पविद्यापरिग्रहान्।
सम्प्राप्य वैयाकरणान् संग्रहेऽस्तामुपागते॥—वाक्यप्रदीप, द्वितीय काण्ड, ४८४।

अन्त न मिला।[1] बृहस्पति से शिक्षा पाकर इन्द्र ने व्याकरण की रचना की। ऐन्द्र व्याकरण लक्ष्य-लक्षण पर आश्रित न होकर प्रतिपदान्वाख्यानाश्रयी था।

भाष्यकार के समय मे व्याकरण-सम्बन्धी अनुसन्धान चरम प्रकर्ष पर था और शिक्षा, निरुक्त एव प्रातिशाख्य भी उसी मे समाविष्ट हो गये थे। यह सर्ववेदपारिषद शास्त्र माना जाता था, जिसमे भिन्न-भिन्न आचार्यो के विभिन्न मत समादृत थे। किसी एक मत के स्वीकार का आग्रह न था।[2] व्याकरण-शास्त्र उत्तरा विद्या मानी जाती थी और छन्द शास्त्र मे अभिविनीत होने के वाद उसका अध्ययन किया जाता था।[3]

छन्द—सायनादि गण मे छन्दोनाम, छन्दोभापा और छन्दोविचिति शव्द आये है। इनमे छन्दोविचिति शव्द छन्द शास्त्र के लिए सामान्यतया व्यवहृत था। भाप्यकार के सम्मुख ऋक्-प्रातिशाख्य, जिसके अन्तिम तीन पटलो मे छन्दो का वर्णन है—साम के निदानसूत्र, कात्यायन की अनुक्रमणी और शाखायन श्रौतसूत्र।[4] ये छन्द शास्त्र-विपयक ग्रन्थ वर्त्तमान थे। नागेश ने छन्द शास्त्र को प्रातिशाख्यशिक्षादि का पर्याय माना है। ऊपर व्याकरण के प्रसग मे व्याकरणाध्ययन से पूर्व छन्द शास्त्र के अध्ययन की जो चर्चा की गई है, उसमे भाप्यकार का भी अभिप्राय प्रातिशाख्य और शिक्षा से जान पडता है। भाष्य मे ऋक् (सात पदो का छन्द)[5] द्विपदा (दो पाद की ऋचा), त्रिपदा और चतुष्पदा ऋक् का उल्लेख है।[6] त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् और जगती को त्रैष्टुभ आनुष्टुभ और जागत भी कहते थे।[7] भाष्य मे ग्रैष्मी (ग्रीष्म शव्द-युक्त) त्रिष्टुप् का उल्लेख है।[8] इनके अतिरिक्त उत्सादि गण मे पक्ति, उष्णिक् और ककुप् का समावेश है। पाणिनि ने बृहती, विष्टारबृहती और विष्टारपक्ति छन्दो की ओर सकेत किया है।[9] प्रत्येक पक्ति मे आठ-आठ पद या पादवाला छन्द अष्टापद कहलाता था।[10] भाष्य मे आर्यादि छन्द उद्धृत है।[11] भाष्य मे वैदिक छन्द विष्टार तथा प्रगाथ का उल्लेख है। प्रगाथ छन्दो के विविध प्रकार के समूहो का नाम था। पतजलि ने छन्दोविचिति के किसी ग्रन्थ का नाम नही दिया है।

---

१. आ० १, पृ० १२।

२. सूर्यवेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्, तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुमुत्सह्यते।—६-३-१४, वा० २, पृ० ३०६।

३. व्याकरणं नामेयमुत्तरा विद्या। सोऽसौ छन्दःशास्त्रेष्वभिविनीत उपलब्ध्याऽवगन्तुमुत्सहते।—१-२-३२, पृ० ५०८।

४. शाखाश्रौतसूत्रं।—७-२७, द्वन्द्वप्रकरण।

५. ४-१-१, वा० ३, पृ० ८।

६. ४-१-९।

७. ४-२-५५, वा० १, पृ० १८५।

८. ४-१-८६, वा० १, पृ० ९६।

९. ५-४-६, तथा ८-३-९४।

१०. पङ्क्तौ पङ्क्तौ अष्टौ पदान्यस्येति।—८-१-१, वा० ६, पृ० २६०।

११. ८-२-५९, पृ० ३७३।

ज्योतिष—उक्थादिगण में ज्योतिष की [illegible] (पुस्तक) का परिगणन है।[1] ऋगयनादि गण में उत्पात संवत्सर, मुहूर्त निमित्तादि के ग्रन्थों की ओर संकेत है। नक्षत्रों का उल्लेख पाणिनि ने किया था। पतंजलि ने उन्हें और स्पष्ट किया है।[2] भाष्य में सकाष्ठ सकल और समुहूर्त ज्योतिष के अध्ययन की चर्चा है।[3] जिसका अर्थ काष्ठा (१८ निमेष), मुहूर्त (दो घड़ी) और कला (१-३ पल) का निरूपण करनेवाले ग्रन्थ-पर्यन्त अध्ययन है। इसी प्रकार आदित्य की गति के विद्यमान होने पर भी उसका दिखाई न देना आकाश में सूर्य-चन्द्र के प्रत्यक्ष दिखाई न देने पर भी प्रकाश देखकर उनका अनुमान करना आदि बातें भाष्य में जहाँ-तहाँ मिलती हैं।[4]

मीमांसा—भाष्यकार ने मीमांसा[5] और मीमांसक का उल्लेख किया है। क्रमादिगण में भी पद, क्रम, शिक्षा और मीमांसा का एक साथ परिगणन है। काशकृत्स्नी मीमांसाकार का नाम भाष्य में तीन बार आया है।[6] यह तीन अध्यायों में विभक्त थी।[7] इस समय तक मीमांसकों का स्वतन्त्र सम्प्रदाय बन चुका था।[8] द्रव्यपदार्थवादी व्याडि भी मीमांसक थे। भाष्य में याज्ञिक वैयाकरण, बहवृच और औक्थिक के साथ मीमांसक का स्मरण किया गया है।[9] भाष्य में एक नैवाविसमत युवा मीमांसक का मत भी काल के अनस्तित्व के विषय में उद्धृत है।[10]

धर्मशास्त्र—इस समय तक याज्ञिक्यादि के समान धर्मशास्त्र एक स्वतन्त्र विषय बन चुका था। इसके अन्तर्गत धर्मसूत्र थे। भाष्य में धर्मशास्त्रों के नाम से अनेक वचन उद्धृत हैं।[11]

अन्य विषय—अन्य विषयों में अंगविद्या, क्षेत्रविद्या, वायस-विद्या, गोलक्षण अश्वलक्षण, शकुन, निमित्त और उत्पात मुख्य थे।

अंगविद्या या आकृति-निदान पर परवर्ती काल के ग्रन्थ उपलब्ध हैं। क्षत्रविद्या में धनुर्विद्या और युद्धकला का समावेश था। ये ऋगयनादिगण में भी सम्मिलित हैं। धर्मविद्या धर्मशास्त्रों से सम्बद्ध थी। वायस विद्या के अन्तर्गत पक्षियों की विशेषतः वायस की बोली बोली जाती थी। गो-अश्व-विद्या आगे और विकसित हुई। इन विषय पर तथा गजविद्या पर आगे चलकर विशिष्ट ग्रन्थ लिखे गये। निमित्त के अन्तर्गत शकुन-विचार था और उत्पात में उल्कापात प्रभंजन और विद्युत्पातन सम्मिलित थे। भाष्य में संयोग और निमित्त दोनों का विवेचन किया

---

१. ४-२-६०।
२. ४-२-३, ४, ५, २१, २२ तथा ४-३-३४ से ३७—१-२-६० से ६३।
३. ६-३-७९, पृ० ३५१।
४. ४-१-३, श्लो० वा० ४, पृ० १८, १९।
५. ४-२-६१।
६. ४-२-६१, वा० ५, पृ० ३४ आदि।
७. ४-२-६५ काशि०।
८. १-२-६४, वा० २४, पृ० ५७९।
९. २-२-२९, पृ० ३७८।
१०. ३-२-१२३, वा० ५, पृ० २५६।
११. १-२-६४, वा० ३९, पृ० ५८७।

गया है। उसमे एक कारिका भी उद्धृत है, जो बतलाती है कि कपिला विद्युत् चमकने पर तेज वायु चलती है और अधिक लाल चमकने पर तेज धूप होती है। इसी प्रकार पीत का परिणाम अन्न की अधिक उपज और शुक्ल का परिणाम दुर्भिक्ष होता है।[1] अगविद्या की दृष्टि से काला तिल जामातृघ्न होता है और पाणि लेखापतिघ्नी होती है, जैसे कथन भाष्य मे मिलते हैं। इस सब से अनुमान होता है कि इन विषयो पर ग्रन्थ भी उपलब्ध रहे होगे। इसीलिए, भाष्य मे इन विषयो के व्यवस्थित अध्ययन की चर्चा है।

आख्यान-आख्यायिका—आख्यान का सर्वप्रथम उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण मे शुन शेप के आख्यान के रूप मे मिलता है,[2] जिसे राजसूय यज्ञ मे होता सुनाता है। ऐतरेय मे आख्यानविदो का भी उल्लेख है। ये लोग आख्यान सुनाने मे दक्ष होते थे।[3] ये लोग प्राय. सौपर्ण आख्यान सुनाते थे, जिसे शतपथब्राह्मण मे व्याख्यान कहा है।[4] आख्यायिका का प्रथम उल्लेख तैत्तिरीय आरण्यक मे प्राप्त होता है। इतिहास का उल्लेख पुराण के साथ ही उत्तर वैदिक साहित्य मे जाता है। सर्वप्रथम अथर्व, फिर शतपथ और गोपथब्राह्मण मे इनकी चर्चा है।[5] शतपथब्राह्मण मे एक अन्य स्थान पर इतिहास और पुराण वेद कहे गये है।[6] इनमे अन्वाख्यान और इतिहास मे अन्तर बतलाया गया है। शतपथब्राह्मण (११-१-६-९) मे यह अन्तर स्पष्ट है। गेल्डनर के मत से इतिहास-पुराण एक ही ग्रन्थ था, जिसमे सब तरह की कथाएँ सम्मिलित थी, पर यास्क ने ऐसे किसी ग्रन्थ का नाम नही दिया है। पतजलि आख्यान, आख्यायिका, इतिहास और पुराण इन चारो को पृथक् मानते हैं। यास्क के मत से इतिहास साहित्य का ही एक भाग है।[7] उनके मत से ऐतिहासिक वे लोग है, जो वेदो मे पुराण-कथाओ का ज्ञान रखते है। ओल्डनबर्ग के मत मे आख्यान गद्य-पद्य का मिश्रण है।[8] जातक-कथाएँ भी इस समय प्रचलित हो चुकी थी। भाष्य (१-३-६४) के दोनो श्लोक आदित्योपस्थान जातक के अनुकरण-मात्र हैं।

रामायण-महाभारत—भाष्यकार रामायण और महाभारत दोनो से परिचित है। यद्यपि रामायण के पात्रो का विशेष उल्लेख भाष्य मे नही है, तो भी रामायण का श्लोकाश भाष्य मे उद्धृत है।[9] महाभारत शब्द से तो पाणिनि भी परिचित थे। भाष्य मे महाभारत के पात्रो के नाम बार-बार आये हैं। अन्धको मे श्लाफल्क, श्वेत्रक, उग्रसेन; वृष्णियो मे वासुदेव, बलदेव, वासुदेव कृष्ण, विष्वक्सेन; कुरुओ मे भीमसेन, नकुल; सहदेव, पार्थ, युधिष्ठिर, अर्जुन, दु शासन,

---

१. २-३-१३, वा० ३, पृ० ४१७।
२. ऐत० ब्रा० १८-१०।
३. वही, ३-२५-१।
४. शत० ब्रा० ३-६-२-७।
५. अथर्व १५-१६-४ शत०; ब्रा० १३-४-३-१२; गोपथ ब्रा० १-१०।
६. शत० ब्रा० १३-४-१२-१३।
७. निरुक्त ।-४-६।
८. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० ७७।
९. एति जीवन्तमानन्द. ।-३-१-६७, पृ० १३२

दुर्योधन, दुर्दर्शन, दुर्धर्षण, कर्ण तथा अन्य सम्बद्ध व्यक्तियो मे व्यास, शुक (वैयासकि), सत्यभामा तथा पौराणिक नामो मे सौघातकि, बैम्बकि, शुक्र नाम भाष्य मे मिलते है।[1] इनमे व्यास और कर्ण कानीन (कन्यापुत्र) थे।[2] सत्यभामा को केवल भामा भी कहते थे।[3] पांचजन्य भी प्रसिद्ध हो चुका था।[4] उग्रसेन का उल्लेख शतपथ (१३-५-४-३) मे भी मिलता है। वहाँ उग्रसेन को राजा कहा गया है। यही पर भीमसेन और श्रुतसेन की चर्चा है। ये सब परीक्षित-पुत्र जनमेजय के भाई थे। सूतपुत्र, उग्रपुत्री, मेरुपुत्री और भोजदुहिता की चर्चा भी पतजलि ने की है। सूत और उग्रसेन तो महाभारत से सम्बद्ध ही हैं, किन्तु भोज और मेरु से उनका क्या तात्पर्य है, यह स्पष्ट नही है।[5] भाष्यकार ने इस वात को वलपूर्वक कहा है कि कुरु लोग धर्मपूर्वक युद्ध करते थे।[6] उन्होने महाभारत से सम्वद्ध वहुत-से श्लोकाश महाभारत या अन्यत्र से भी उद्धृत किये है, जो काव्य के प्रौढ उदाहरण कहे जा सकते है।[7]

पुराण—पुराण और इतिहास का साथ उल्लेख भाष्य मे है, यद्यपि किसी पुराण का उसमे नही है। पौराणिक तथा वैदिक आख्यान अवश्य यत्र-तत्र आये है। इनमे उर्वशी का उल्लेख पुरूरवा और उर्वशी के प्रसिद्ध आख्यान की ओर सकेत करता है,[8] जो ऋग्वेद (१७-९५), कृष्णयजुः के काठक, ब्राह्मण, महाभारत के खिलपर्व, हरिवश और विष्णु पुराण मे भी आया है। इसी प्रकार इन्द्रवृत्राख्यान,[9] देवासुर युद्ध[10] तथा इन्द्र द्वारा आत्मकुमारी को वर-प्रदान की कथा[11] एव अहिल्या-इन्द्र की कथा[12] भाष्य मे आई है। देवासुरी और राक्षोसुरी कृतियो की चर्चा भाष्य मे है। यह कथा तैत्तिरीय सहिता (२-४-१) पर आधृत है। इसमे देवो, पितरो और मानवो का एक पक्ष तथा दैत्यो, राक्षसो और पिशाचो का दूसरा पक्ष है तथा देवो द्वारा षडयन्त्रपूर्वक असुरो तथा राक्षसो मे भेद उत्पन्न कर दोनो को पराभूत करने का वर्णन है।

अन्य काव्य—पतजलि-काल तक रामायण और महाभारत के अतिरिक्त अन्य काव्य भी लिखे जा चुके थे। भाष्य के प्रारम्भ मे ही कात्यायन के बनाये भ्राज श्लोको की चर्चा आई है।

---

१. ४-१-१५४, वा० ७, पृ० १३९-४०; ४-१-१२० पृ० १४१; ८-१-१५, पृ० २७८; ३-३-१३०, पृ० ३२०; ४-१-१३६, आ० १, पृ० १४; २-२-११, पृ० ३४६ तथा ४-१-९७ वा० १, पृ० १२९।

२. ४-१-१३६।

३. आ० १, पृ० १४।

४. ४-३-६०, श्लो० वा० ३, पृ० २३८।

५. ६-३-७०, वा० ९, पृ० ३४७।

६. ३-२-१२२, वा० २, पृ० २५४।

७. २-२-२४, पृ० ३६९।

८. ५-२-९५, पृ० ४११।

९. वा० १, पृ० ४।

१०. ४-३-८८, वा० १, पृ० २४४।

११. ८-३, ृ० ३१७।

१२. २-३-६२, पृ० ४४९।

निश्चय ही ये श्लोक ग्रन्थ-रूप मे रहे होगे, जिसमे भाष्यकार ने उद्धृत किया होगा।[1] इस समय ऋतु-वर्णनविषयक काव्य-ग्रन्थ भी विद्यमान थे। सम्भवत, उन्ही की परम्परा पर आगे चलकर ऋतु-सहार-जैसे ग्रन्थो की रचना हुई। वसन्तादिगण मे सब ऋतुओ का समावेश है और भाष्यकार ने उसके अध्ययन को वसन्त अध्ययन (वसन्त सहचरित अध्ययन) नाम दिया है।[2] शिशुक्रन्दीय, यमसमीय आदि काव्य थे या नाटक, यह तो भाष्य मे स्पष्ट नही है, किन्तु उसमे उद्धृत पचासो श्लोक इस बात के साक्षी है कि काव्य मे आलकारिकता (शाब्दिक और आर्थिक दोनो) आ चुकी थी। वाररुच काव्य, जालूकश्लोक, भ्राजश्लोक, तित्तिरि-प्रोक्त श्लोक आदि उल्लेख इस बात के प्रमाण है कि कवियो के अतिरिक्त वैयाकरण, धर्मशास्त्री आदि लोग भी अपने विषय को सरस एव आशुस्मार्य बनाने के लिए पद्य-रचना करते थे। भ्राजश्लोक कात्यायन-प्रणीत माने जाते है। वररुचि, सम्भव है, महापद्म नन्द के मन्त्री रहे हो। आर्यमजुश्रीमूलकल्प में इन्हे अतिराग कहा गया है।[3] भाष्यकार किसी स्तोत्रश्लोकशती से भी परिचित थे।[4] पाणिनि ने श्लोको से उपस्तवन करने के लिए उपश्लोकयति ण्यन्त क्रिया का व्यवहार किया है।[5] कवि लोग कभी-कभी व्याकरण के नियमो की उपेक्षा कर वैदिक प्रयोगो का व्यवहार लौकिक काव्य मे भी कर देते थे, किन्तु ऐसे प्रयोग दूषित माने जाते थे।[6] यद्यपि वे छन्दोवत् स्वीकार भी कर लिये जाते थे। पतजलि-कालीन काव्य के दो एक उदाहरण दे देना यहाँ समीचीन होगा—

१. असिद्वितीयोऽनुचचार पाण्डवम् ॥[7]

२. सङ्कर्षणद्वितीयस्य बल कृष्णस्य वर्धताम्।[8]

३. अहरहर्नयमानो गामश्व पुरुष गजम्।
वैवस्वतो न तृप्यति सुराया इव दुर्मदी ॥

४. बहूनामप्यचित्तानामेको भवति[9] चित्तवान्।
पश्य वानरसैन्येऽस्मिन् यदर्कमुपतिष्ठते ॥
मव मस्था: सचित्तोऽयमेषोऽपि स्याद्यथा वयम्।
एतदप्यस्य कापेय यदर्कमुपतिष्ठति ॥[10]

---

१. वा० १, पृ० ५।
२. ४-२-६३, पृ० १८८।
३. वररुचिर्नामविख्यातः अतिरागो अभूत्तदा।
नित्यं च श्रावके बोधो तस्य राज्ञो भविष्यति ॥
तस्याप्यन्यतमः सख्यः पाणिनिर्नाम माणवः ॥—मंजुश्रीमूलकल्प, ४३३-३७।
४. १-४-६०, वा० ७, पृ० १९२।
५. ३-१-२५।
६. छन्दोवित् कवयः कुर्वन्ति। न ह्येवेष्टिः।—१-४-३, पृ० १३१।
७. २-२-२४, पृ० ३६९।
८. वही।
९. २-२-२९, वा० १, पृ० ३७९।
१०. १-३-२५, पृ० ६४।

अध्याय ४

स्वास्थ्य और शरीर-विज्ञान

भाष्य मे शरीर, शारीरिक सौन्दर्य, शरीर-विकृति, रोग, औषधि आदि के विषय मे जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भाष्यकार शरीर-शास्त्र एव आयुर्विज्ञान से पूर्णत परिचित थे।

देह या भोग—भाष्य के अनुसार शरीर, देह,[1] काय एव भोग पर्यायवाची हैं। भोग शब्द के अनेक अर्थो मे शरीर भी एक है। तैत्तिरीयसहिता (४-६-६) मे कहा है कि जिस प्रकार साँप अपने भोगो से प्राणियो को वेष्टित कर लेते है, उसी प्रकार धनुर्धारी मनुष्य चर्म से अपने हाथो का वेष्टन करते है। भाष्यकार ने सहिता के इस वाक्य को उद्धृत किया है और स्पष्ट कहा है कि भोग शब्द शरीरवाची भी देखा जाता है। आगे चलकर भोग शब्द 'सर्प के शरीर' का वाचक मान लिया गया।[2]

शरीरावयव—देह या भोग के अगो के लिए भाष्य मे शरीरावयव शब्द का व्यवहार हुआ है।[3] यह प्रयोग सामान्य था। वैज्ञानिक दृष्टि से पाणिनि और पतजलि दोनो ने इसे स्वाग कहा है। भाष्यकार ने स्वाग की छह विशेषताएँ वतलाई है—१. द्रव न हो, २. मूर्त्तिमान् हो, ३ प्राणिप्रस्थ हो, ४. अविकारज हो, ५. यदि प्राणी से सयुक्त न हो, तो पहले सयुक्त रहा हो ६. उसी प्रकार किसी मे सयुक्त हो, जैसे प्राणी मे सयुक्त होता है। इनमे प्रथम चार गुण अनिवार्य हैं और शेष दो विशेष परिस्थितियो मे स्वाग की पहचान के लिए है। इस परिभाषा के अनुसार लोहित या रक्त और कफ द्रव होने से, मन, वुद्धि और ज्ञान अमूर्त्त होने से, शाला, सेना आदि के अग के रूप मे प्रचलित मुख, जघन आदि शब्द प्राणिप्रस्थ न होने से और गुड, पिटक, शोफ आदि विकारज होने के कारण स्वांग नही माने जाते, किन्तु रथ्या मे पडे हुए उप्त केश-श्मश्रु तथा मूर्त्तियो के नासिकादि अवयव स्वाग की सीमा मे आ जाते है।[4]

---

१. ४-३-६०, पृ० २३७।

२. भोगशब्दः शरीरवाच्यपि दृश्यते। अहिरिव भोगैः पर्येति वाहुभि·।—५-१-९, पृ० ३०१।

३. ४-३-५५।

४. अद्रवं मूर्त्तिमत्स्वाङ्ग प्राणिस्यमविकारजम्। अतत्स्यं तत्र दृष्ट च तेन चेत्तथा-युतम्। अप्राणिनोऽपि स्वाङ्गम्। अद्रवमिति किमर्यम् वहुलोहिता वहुकफा। मूर्त्तिमदिति किमर्यम्? वहुवुद्धिः वहुमनाः प्राणिस्यमिति किमर्यम्? श्लक्ष्णमुखा शाला। अविकारजमिति किमर्यम्? वहुगडुः वहुपिटका। अप्राणिस्यं प्राणिनि दृष्टं च स्वाङ्गं भवति—दीर्घकेशी रथ्या। तेन चेत्तत्तथायुतम्, प्राणिनोऽपि स्वाङ्गं भवतीति दीर्घनासिक्यर्चा।—४-१-५४, पृ० ६५-६६।

स्वांगों के भेद—स्वाग दो प्रकार के होते है—ध्रुव[1] और अध्रुव। जिनके छिन्न हो जाने से प्राणी मर जाय, वे ध्रुव और जिनके काट देने पर भी प्राणी जीवित वना रहे, वे अध्रुव माने गये थे।[2] काशिका ने ध्रुवागो को एकरूप कहा है।[3] भाष्यकार के मत से मुख, उदर, स्फिक्, पृष्ठ, ललाट, पर्शू, शिर आदि ध्रुव है और नख, केश, दन्त, अक्षि, वाहु, भ्रू आदि अध्रुव। भाष्य मे निम्नलिखित स्वांगो का उल्लेख है—शिर,[4] ललाट,[5] भ्रू,[6] भ्रूकुटि,[7] अक्षि,[8] कर्ण,[9] कर्णमल,[10] मुख[11] या आस्य,[12] ककुद,[13] नासिका,[14] ओष्ठ,[15] जिह्वा,[16] जिह्वामूल,[17] दन्त,[18] मूर्धा,[19] तालु,[20] काकलक,[21] कण्ठ,[22] हनु[23] अस, हृदय[24] या स्कन्ध, ग्रीवा,[25] मन्या,[26] उरस्,[27] स्तन,[28] हस्त,[29] वाहु,[30] पाणि,[31] अगुलि,[32] कराल, नख,[33] उदर,[34] नाभि,[35] वलि,[36] कटि,[37] स्फिग्, गुदा,[38] भग,[39] सक्थि,[40] जानु,[41] उरु,[42] पर्शू,[43] अप्ठीवत्,[44] जघा,[45] वस्ति,[46] पाद,[47] प्रपाद,[48] पृष्ठ,[49] कुक्षि,[50] पार्श्व,[51] नीवी,[52] नितम्व,[53] यकृत्।[54]

---

१. ६-२-१७७, पृ०२९१।
२. ३-४-५४ का०।
३. ६-२-१७७, पृ० २९१।
४. १-३-६६, पृ० ८४।
५. ४-३-६५।
६. ३-३-५४ का०।
७. ६-३-६१, पृ० ३४०।
८. ३-४-५४ काशिका।
९. ४-३-६५।
१०. ५-२-२४।
११. १-१-८, पृ० १५६।
१२. १-१-९, पृ० १५९।
१३. आ० १, पृ० ११।
१४. १-१-८, पृ० १५६।
१५. १-१-९, पृ० १५९।
१६. ४-१-५९।
१७. ४-३-६२, पृ० २३८।
१८. ५-२-१०६।
१९. ५-४-११५।
२०. १-१-५०, पृ० ३०१।
२१. १-१-९, पृ० १५९।
२२. १-१-५०, पृ० ३०१।
२३. ४-३-५८, पृ० २३६।
२४. ६-३-५०।
२५. ४-२-९६।
२६. ३-३-९९।
२७. आ० १, पृ० ७।
२८. ३-२-२९, पृ० २१५।
२९. १-१-४९, पृ० २९७।
३०. १-३-२, पृ० १८।
३१. २-४-१६, पृ० ४६९।
३२. १-४-१८, पृ० १४७।
३३. ६-३-७५।
३४. १-४-२४, पृ० १६२।
३५. ५-१-२, पृ० २९६।
३६. ५-२-१३९।
३७. १-४-६०, पृ० १९१।
३८. क्रोडादिगण, ४-१-५६।
३९. वही।
४०. ५-४-११३, पृ० ५०८।
४१. ४-३-३०।
४२. ५-२-३७, पृ० ३७८।
४३. ६-२-१७७, पृ० २९१।
४४. ८-२-१२।
४५. ६-२-११४।
४६. ४-३-५६।
४७. २-४-१६, पृ० ४६९।
४८. ५-२-८।
४९. १-३-१, पृ० ८।
५०. ४-३-५६।
५१. ४-३-६०, पृ० २३७।
५२. ४-३-३०।
५३. ८-४-१०, पृ० ४७९।
५४. ६-१-६३।

इनमे शिर को शीर्ष भी कहते थे। वेदो मे सिर के लिए शीर्ष और शीर्षन्[1] शब्द मिलते है। लोक मे शीर्षन् प्रचलित नही था। वार्त्तिककार ने शिरस् को शीर्षन् और शीर्ष आदेश बतलाये है। शीर्ष पर होने के कारण केशो को शीर्षण्य या शिरस्य कहते थे। शीर्ष शरीर का सर्वोच्च भाग है।[2] इसलिए, मुख्य के लिए भी शीर्षण्य शब्द व्यवहार मे आता था।[3] भाष्य मे शिर और जानु के मोडने का उल्लेख है[4] तथा बतलाया गया है कि उरस् कण्ठ तथा शिर क्रमश. उत्तर स्थानीय[5] है। पके हुए बालोवाला शिर पलित कहलाता था।[6]

ललाट या मस्तक शिर का अग्रभाग है। यही पर 'ललाटिका' नामक आभूषण पहना जाता था।[7] भ्रू, अक्षि-भ्रू या भृकुटि मस्तक के नीचे भौहो का नाम था।[8] कर्ण को श्रोत्र भी कहते थे। शब्द को श्रोत्रोपलब्धि कहा है।[9] कर्ण के मूल को कर्णजाह कहते थे।[10] कर्ण के समीप का स्थान उपकर्ण कहलाता था।[11] अक्षि के लिए चक्षुष् का भी प्रयोग भाष्य मे हुआ है। जैसे एक चक्षुष्मान् देखने मे समर्थ है, तो सौ चक्षुष्मान् इकट्ठे होकर भी देख सकते है।[12] भाष्य मे पिंगल नेत्रो की चर्चा है।[13] स्वस्थ रखने के लिए नेत्रो मे काजल लगाने की प्रथा थी।[14] हनु ठुड्डी का वाचक था। हनु के चारो ओर होनेवाली वस्तु पारिहनव्य कही जाती थी। मुख और आस्य भी समानार्थी है। लोक-व्यवहार मे आस्य ओष्ठ से काकलक तक के प्रदेश को कहते थे। वर्ण मुह से क्षिप्त या असित होते है, इसलिए उसे आस्य कहते थे। मुह अन्न का आस्यन्दन (परिचालन) करता है, इसलिए भी वह आस्य कहा जाता था।[15] काकुद[16] या तालु के पास सप्त विभक्तियाँ क्षरित या प्रस्रवित होती हैं। तालु वर्णो का उच्चारण-स्थान भी है। मूर्धा

---

१. ६-१-६०, पृ० ८४।

२. वही।

३. वही।

४. १-३-६६, पृ० ८४।

५. १-२-३०, पृ० ५०५।

६. ८-२-२५, पृ० ३४९।

७. ४-३-६५।

८. ६-३-६१, पृ० ३४०।

९. आ० २, पृ० ४२।

१०. कर्णस्य मूलं कर्णजाहः।—५-२-२४।

११. ४-३-३०।

१२. आ० २, पृ० ७७।

१३. ७-१-७७, पृ० ७३।

१४. ८-२-४८, पृ० ३६७।

१५. लौकिकमास्यमोष्ठात् प्रभृति प्राक् काकलकात्। कथ पुनरास्यम्? अस्यन्त्यनेन वर्णानित्यास्यम्। अन्नमेतदास्यन्दते इति वास्यम्।—१-१-९, पृ० १५९।

१६. आ० १, पृ० ११।

इससे भी ऊपर है[1] और काकलक[2] इससे भी आगे कण्ठ मे। जिह्वामूलक कण्ठ के नीचे है। यह जिह्वामूलीय क ख के उच्चारण का स्थान[3] है। मूर्धा से उच्चरित वर्ण मूर्धन्य कहलाते थे।[4] बोला जानेवाला शब्द तीन स्थानो उर, कण्ठ और शिर मे बद्ध होता, अर्थात् रुकता है।[5] भाष्य के मत से यह उच्चारण का प्रक्रम है।[6] शरीर के भीतर नाभि के निम्नप्रदेश, नाभि और हृदय को गुहा नाम दिया गया है।[7] उच्चारण के लिए कण्ठ को विवृत किया जाता है। कण्ठ को फैलाकर बोलनेवाले को 'विवृत-कण्ठ' कहते है।[8] जिह्वा बोलने का साधन है। इसी के सहारे वक्ता अपनी बात कहता है। जिह्वा यदि स्निग्ध और श्लक्ष्ण हुई, तो प्रयोक्ता मृदु, स्निग्ध और श्लक्ष्ण शब्दो का प्रयोग करता है।[9] दाँतो को साफ रखना आवश्यक है। जो लोग उन्हे साफ रखते है, उनके दाँत शुक्ल होते है, अन्यथा वे काले-काले दिखते है।[10] कर्णजाह कर्ण के मूल का नाम था।[11]

इन शरीरांगो के अतिरिक्त नाडी, धमनी,[12] लोहित,[13] अस्थि,[14] चर्म, केश,[15] लोम एव वलि[16] का उल्लेख भाष्य मे हुआ है। उसमे शरीर को बहुनाडि और ग्रीवा को बहुतन्वि या बहुधमनि कहा है।[17] धमनी और तन्वी शब्द पर्याय हैं। भाष्य के मत से ग्रीवा शब्द भी धमनी-वाचक है। ग्रीवा धमनियो का केन्द्र है। ग्रीवा मे बहुत-सी धमनियो के एकत्र रहने के कारण ही ग्रीवा शब्द को भी अनेक बार बहुवचन कर दिया जाता है।[18] आनन्द से खडे केशो या

---

१. ५-४-११५।

२. १-१-९, पृ० १५९।

३. ४-३-६२, पृ० २३८।

४. ४-१-१६१, पृ० १५३।

५. त्रिधा बद्धस्त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि कण्ठे शिरसीति।—आ० १, पृ० ७।

६. १-२-३०, पृ० ४०५।

७. आ० १, पृ० ७।

८. १-१-९, पृ० १६०।

९. प्रयोक्ता हि मृद्व्या स्निग्धया श्लक्ष्णया जिह्वया मृदून् स्निग्धान् श्लक्ष्णान् शब्दान् प्रयुङ्क्ते।—५-१-१६, पृ० ३०६।

१०. २-२-८, पृ० ३४३।

११. ५-२-२४।

१२. ५-४-१५९।

१३. ४-१-५४, पृ० ६५।

१४. ७-१-७५।

१५. ७-२-२९, पृ० १२०।

१६. ५-२-१३९।

१७. ५-४-१५९ काशिका।

१८. ४-३-५७ काशिका।

रोओं को हृषित या हृष्ट कहते थे।[1] प्रतिघात से भी कुण्ठित दाँत हृषित या हृष्ट ही कहे जाते थे।[2]

अंग-विन्यास और आढ्यंकरण—शरीर के सौन्दर्य के लिए अंगों का समुचित आकार, विन्यास तथा मार्दव आवश्यक है। आढ्यंकरण एक सीमा तक ही सहायक हो सकता है।[3] आढ्यंकरण या सज्जा की भाष्यकार ने तीन कोटियाँ बतलाई हैं—दुराढ्यभव, उपाढ्यभव और स्वाढ्यभव।[4] प्रथम तो शरीर को और विकृत कर देता है। अधिक या अनावश्यक सज्जा से शरीर और दुराढ्य हो जाता है। थोड़ी सज्जा कभी-कभी सौन्दर्य-वृद्धि में सहायक होती है। स्वाढ्यंकरण में वास्तव में कलापूर्ण ढंग से वस्त्राभूषण पहनना, मुख एवं शरीर पर विविध अनुलेप, पत्र-रचना आदि सम्मिलित हैं। किन्तु, यह सब सुन्दर शरीर पर ही शोभता है। भाष्यकार की दृष्टि अंगों की सुन्दर रचना की ओर रही है। उन्होंने यह यत्र-तत्र एतद्विषयक संकेत दिये हैं। उदाहरणार्थ, 'सुगिरा' सिर की निर्दोष बनावट के लिए है।[5] इसका ठीक उलटा द्विमूर्ध या त्रिमूर्ध है, जिसके एक ही सिर दो-तीन सिर से जुड़े मालूम होते हैं।[6] ललाट का बड़ा होना सौन्दर्य और सौभाग्य दोनों का सूचक है। बड़े चौड़े ललाटवाला प्रललाट और चौड़ी पीठवाला व्यक्ति प्रपृष्ठ कहलाता था।[7] पृष्ठ का चौड़ा होना सीने या वक्ष की चौड़ाई का सूचक है। चौड़ी छातीवाले को व्यूढोरस्क या महोरस्क कहते थे।[8] पीछे की ओर झुके हुए ललाट-वाले को 'प्रत्यग्ललाट'[9] कहते थे। आगे लटकते हुए गुल्फ, अर्थात् प्रागुल्फ[10] ललाट के सौन्दर्य को द्विगुणित करते हैं। अक्षि तो जीवन का आधार ही है। उनका सुन्दर तथा स्वस्थ होना आवश्यक है। भाष्य में दर्शनीय नेत्रों और सुकुमार पादों की चर्चा है, जिनका उल्लेख वक्ता सगर्व करता है।[11] आँखों का हल्का लोहित होना सौन्दर्य और स्वास्थ्य दोनों का परिचायक है। इसीलिए लोहिताक्ष[12] व्यक्ति सुन्दर माना जाता था। नासिका का तुंग होना एवं बाहुओं का वृत्त होना भी सौन्दर्य-वर्धक था।[13] देवताओं की पूजा की बनाई हुई मूर्त्तियों की नासिका भी दीर्घ और तुंग

---

१. ७-२-२९, पृ० १२०।

२. ७-२-२९, पृ० १२०।

३. १-१-७२, पृ० ४५२।

४. ३-३-१२७, पृ० ३२०।

५. ६-२-११७, पृ० २७८।

६. ५-४-११५।

७. ६-२-१७७, पृ० २९२।

८. आ० २, पृ० ७५।

९. ४-१-६०, पृ० ७१।

१०. वही।

११. १-४-२१, पृ० १५१।

१२. १-३-२, पृ० १९।

१३. व्यूढोरस्को वृत्तबाहुर्लोहिताक्षस्तुंगनासो विचित्राभरण ईदृशो देवदत्त इति।—१-३-२, पृ० १८।

होती थी।[१] कुक्षि या पार्श्व मे असि लटकाई जाती थी। इसीलिए, असि को कौक्षेयक[२] कहते थे। भाष्य मे पार्श्वतीय[३] शब्द का भी प्रयोग मिलता है। छोटे-पतले पेटवाले को अनुदर और बडे या लम्बे पेटवाले को प्रोदर[४] कहते थे। अनुदर कन्या सौन्दर्यशालिनी गिनी जाती थी।[५] स्फिक्, नितम्ब, सक्थि, जानु, जघा और उसके सौन्दर्य पर विशेष ध्यान दिया जाता था। प्रस्फिक्,[६] चक्रनितम्बा,[७] चक्रसक्थी नारी[८] सुन्दर मानी जाती थी। उरुवली, कदलीस्तम्भोरु, वृतोरु, करभोरु, सहितोरु, सहोरु होना स्त्रियो के लिए गर्व की बात थी। सुस्तनी[९] और सुकेशा स्त्रियो के काम्य विशेषण थे। गोकर्ण, खरकर्ण,[१०] गोजघ, अश्वजघ, एणीवघ[११] शब्द शारीरिक गठन के सूक्ष्म निरीक्षण के परिचायक हैं। मेरा कान अच्छी तरह सुनता है, मेरी आँख अच्छी तरह देखती है,[१२] यह बात स्वस्थ व्यक्ति ही गर्व से कह सकता था। हृदय तो स्वागो का सम्राट् ही है। हृद्य, हृल्लास और हृल्लेख शब्द हार्दिक उल्लास को व्यक्त करते हैं।[१३]

अंग-विकृति—जिस प्रकार सुगठित और स्वस्थ अंग प्रीति उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार विकृत अग विरक्ति का भाव जाग्रत् करते हैं। भाष्य मे सुन्दर अगो के समान विकृतागो का भी उल्लेख है। सुशिरा का ठीक उलटा द्विमूर्ध या त्रिमूर्ध है।[१४] किसी-किसी व्यक्ति के सिर की बनावट इस प्रकार की होती है कि एक मे तीन सटे हुए सिर प्रतीत होते हैं। ऐसे व्यक्ति को द्विमूर्ध या त्रिमूर्ध कहते हैं। इसी प्रकार, स्थूलशिरा, हस्तिशीर्ष, पीलुशीर्ष लोग भी विकृत सिर-वाले ही कहलाते थे।[१५] लोहित[१६] और पिंगल[१७] नेत्रो मे लोहित सुन्दर माने जाते थे। जिन नेत्रो

---

१. ४-१-५४, पृ० ६६।
२. ४-२-९६।
३. ४-३-६०, पृ० २३७।
४. १-४-६०, पृ० १९१।
५. १-४-२, पृ० १६२।
६. १-४-६०, पृ० १९१।
७. ८-४-१०, पृ० ४७९।
८. ५-४-११३, पृ० ५०८।
९. ४-१-३, पृ० १६।
१०. ६-२-११३ काशिका।
११. वही।
१२. १-२-५९, पृ० ५।
१३. ६-३-५० काशिका।
१४. ५-४-११५।
१५. ६-१-६१, पृ० ८५।
१६. १-३-२, पृ० १८।
१७. अक्षी ते इन्द्रपिङ्गले।—७-१-७७, पृ० ७३।

से पानी वहता रहता है, उन्हे चिल्ल या पिल्ल कहते थे।[१] जिस व्यक्ति की आँखे चिपचिपाती होती थी, वह भी चिल्ल या पिल्ल कहलाता था।[२] जो व्यक्ति वात करते समय एक आँख को दवाता या भौहे चलाता था, उसके लिए कहा जाता था कि यह व्यक्ति 'अक्षिनिकाण' से वोलता है या सभ्रूविक्षेप वात करता है।[३] अक्षिहीन व्यक्ति को अन्ध कहते थे। अन्ध दो प्रकार के होते हैं—जनुपान्ध[४] तथा अन्य। जनुषान्ध जन्म से ही अक्षिहीन होते है। समाज के लोग जनुपान्धो की देख-रेख करते थे। हर व्यक्ति इस वात का ध्यान रखता था कि वे खाग-खड्ड या कुएँ मे न गिर पडें।[५] काण उसे कहते थे, जिसे सारी वस्तु न दिखाई पडे। 'यह अन्धो मे काणतम है', भाष्य ने इस वाक्य का औचित्य सिद्ध करते हुए कहा है कि 'कणि' धातु का प्रयोग सूक्ष्म, अर्थात् कम देखने के अर्थ मे होता है। अत:, कम देखनेवालो मे सवसे कम देखनेवाले के सम्वन्ध मे इस वाक्य का प्रयोग होता है।[६] अन्ध और काण से भिन्न विकृताक्ष[७] का भी उल्लेख भाष्य मे मिलता है। नेत्र मे पुष्पक या फुली का होना भी विकृति है। जिसके नेत्र मे पुष्पक हो, उसे भी पुष्पक कहते थे।[८] 'किरिकाण' शव्द का प्रयोग भी भाष्य मे है।[९]

नासिका-सम्वन्धी विकारो के लिए भाष्य मे वहुत शव्द आये है। तुग[१०] और दीर्घ नासिका यदि सौन्दर्य का चिह्न थी, तो चपटी, झुकी और छोटी नाक कुरूपता की जननी। वडी और ऊँची उठी हुई नासिकावाला मुख प्रणस और उन्नस कहलाता था।[११] यह भी विकार था। प्रणस और उन्नस शव्द सामान्य से अधिक वडी और ऊँची नासिकावाले मुख के लिए प्रयुक्त होते थे। नासिका के झुकाव या नमन को अवटीट, अवनाट या अवभ्रट कहा जाता था।[१२] निविड्र, निविरीस,[१३] चिकिन और चिपिट[१४] शव्द भी इस अर्थ मे आते थे। ये शव्द सज्ञा थे। असज्ञा-शव्द चिकित, चिपिट और चिपक[१५] शव्द भी इसी अर्थ मे प्रचलित थे। नासिका के लिए

---

१. ५-२-३३, पृ० ३७७।
२. वही।
३. ३-४-५४ काशिका।
४. ६-३-३, पृ० २९९।
५. कूपादन्धं वारयति, पश्यत्यन्धः कूपं मा प्रापदिति।—१-४-२७, पृ० १६३।
६ ५-३-५५, पृ० ४४५।
७. ६-३-३, पृ० २९९।
८. १-२-३१, पृ० ५०६।
९. २-१-१, पृ० २२७।
१०. ४-१-५४, पृ० ६६।
११. १-४-६०, पृ० १९१।
१२. ५-२-३१।
१३. ५-२-३२।
१४. ५-२-३३, पृ० ३७७।
१५. वही।

अनेक उपमान प्रसिद्ध थे, जो भिन्न प्रकार की विकृतियो के सूचक थे। द्रुणस, खरनस्, खुरणस्, गितिनस्, अर्चनस् और अहिनस् इसी प्रकार के शब्द थे।[१] उन्नस और प्रणस उन्नत और वडी नासिकावाले व्यक्ति कहलाते थे।[२] खरणस् सरल या सीधी तथा खुरणस् सपाट या फैली हुई नासिकावाले का विशेषण था। नकटा पुरुष विग्र या विख्य कहा जाता था।[३] मिनमिनाकर, अर्थात् नासिका के सहारे वोलनेवाले लोग जो मुखनासिकावचन कहलाते थे, व्यग्य के पात्र थे।

प्रस्फिक् या प्रोदर होना भी शरीर से विकृत होना वतलाता था।[४] स्त्री के लिए चक्र, सक्थी[५] होना विकार का नही, सौन्दर्य का सूचक था। तुन्द तोंदीले व्यक्ति को कहते थे। तुन्द व्यक्ति अलस होते है।[६] इन्हे तुन्दपरिमृज कहते थे। वस तोद पर हाथ फेरना इनका काम रहता है। जो यो ही पेट का परिमार्जन करता हो, उसे तुन्दपरिमार्ज कहते थे।[७] अनावश्यक लम्वा व्यक्ति घाट कहलाता था।[८] जिसकी नाभि वडी, वाहर निकली रहती थी, उसका नाम तुन्दिम और जिसके पेट मे मुटापे के कारण वल पडते थे, उसका नाम वलिभ[९] था। नखो की वनावट वुरी होने पर कुनाख या कुनाखी सज्ञा मिलती थी।[१०] सूर्पनखो की भी कमी न थी।[११]

खरमुख, उष्ट्रमुख मुख-विकृति के सूचक थे।[१२] दन्तुर[१३] लम्वे वड़े दाँतोवाले का नाम था। यह सुदत् या सुदती का ठीक उल्टा था। गौर मुख सौन्दर्य का द्योतक था।[१४] जिसके हाथ या पाँव मे पाँच के स्थान पर छह अँगुलियाँ होती थी, उसे षडिक कहते थे।[१५] प्रतिशीन (वाकला) होना भी विकृति का वोधक था। त्वक् या चमड़ी पर तिल किसी-किसी के वहुत अधिक होते है।

---

१. ५-४-११८, पृ० ५१०।

२. ५-४-११९, पृ० ५१०।

३. वही।

४. ६-२-१७७, ृ० २९१।

५. ५-१-११३।

६. १-२-३१, पृ० ५०६।

७. तुन्दपरिमृजोऽलसः। यो हि तुन्दं परिमार्ष्टि तुन्दपरिमार्जः स भवति।—३-२-५, पृ० २१०।

८. ६-१-१५८, पृ० १९५।

९. ५-२-१३९।

१०. २-३-६२, पृ० ४४९।

११. ४-१-५८।

१२. आ० २, पृ० ७७।

१३. ५-२-१०६।

१४. ४-१-५८।

१५. अनुकम्पितः षडङ्गुलिः षोडिकः।—१-४-१८, पृ० १४७।

ये चर्मतिल कहलाते थे।[1] इसी प्रकार काले चित्तेवालो को कालक कहते थे।[2] पाणि सामृत भी होते हैं और विपोक्षित[3] भी। पीठ और पाणि-पादो की नियमित सफाई उन्हें सुकुमार वनाये रखती है। उन्हें उन्मृद् वनाये रखना आवश्यक माना जाता था।[4] पाद यदि विकृत हुए, तो चलना-फिरना वन्द हो जाता है। भाष्य मे ऐसे व्यक्ति को पंगु कहा है।[5]

भाष्य मे मनुष्य की कुछ ऐसी आदतो का उल्लेख है, जिनका सीधा सम्बन्ध शरीर से है। उदाहरणार्थ, अक्षिनिकाण या आँख दवाकर वोलना,[6] भ्रूविक्षेप या भौंह मटकाकर वोलना,[7] उद्‌वाहु या हाथ उठाकर वोलना,[8] शिर उत्क्षिप्त करके वोलना,[9] मुखनासिक[10] या मिन-मिनाकर वोलना ये भाषण या उच्चारण से सम्बन्ध रखते है। खरकण्ठ का सम्वन्ध भी उच्चारण से ही है।[11] जिन लोगो की नासिका सोते समय वजती है, उनके लिए नासिकन्धम विशेषण था।

पुरुषायुष—शरीरागो, शरीर-सौन्दर्य और शारीरिक-विकृतियो के अतिरिक्त महा-भाष्य मे रोगों, उनके कारणो एव ओषधियो के विषय मे अनेक उल्लेख मिलते हैं। पुरुष की अपेक्षित आयु को, जो सौ वर्ष से अधिक थी, पुरुषायुष कहा जाता था।[12] कुछ लोग सामान्य से दूनी या तिगुनी आयु प्राप्त कर लेते थे। ये द्व्यायुष और त्र्यायुष कहे जाते थे।[13] भाष्यकार के समय मे आयु की सीमा नीचे गिरने लगी थी। सौ वर्ष की आयु मिल जाना वहुत वडी वात हो गई थी।[14] भाष्यकार के मत से जीने का आनन्द तव है, जव शरीर मे कोई रोग न हो।[15] सामान्य स्वास्थ्य के नीचे व्यक्ति कृश या पाण्डु हो जाता है।[16] दुर्वल मनुष्य अपना काम भी नही कर पाता।

---

१. ८-४-१०, पृ० ४७९।
२. १-२-२१, पृ० ५०६।
३. ८-१-८, पृ० २७१।
४. १-३-१, पृ० ८।
५. ४-१-६८।
६. ३-४-५४ काशिका।
७. वही।
८. ६-२-१७७, पृ० २९२।
९. ३-४-५४ का०।
१०. मुखनासिकं वचनं यस्य सोऽयं मुखनासिकावचनः।—१-१-८, पृ० १५६।
११. ६-२-११४।
१२. ५-४-७७, पृ० ५०३, ४।
१३. वही।
१४. यः सर्वथा चिरं जीवति वर्षशतं जीवति।—आ० १, पृ० १२।
१५. एति जीवन्तमानन्दो नास्य किञ्चिद्व्रजतीति।—१-३-१२, पृ० ५६।
१६. १-१-५०, पृ० ३०९।

यदि वह बलवान् के बराबर काम कर ले तो बडी बात है।[1] कभी-कभी रोग या अन्य कारणो से जब जीवन भार हो जाता है, तब मनुष्य विष खा लेना अधिक अच्छा समझता है।[2] उदाहरणार्थ, पपिक (वैसाखी से चलनेवाला) पगु दु.खार्त्त ही रहता है।[3] आयुवर्धक पदार्थो मे भाष्यकार की दृष्टि मे घृत का स्थान सर्वोपरि है। उन्होने घृत को प्रत्यक्ष आयु[4] कहा है। साठ वर्ष या सत्तर वर्ष जीनेवाले षाष्टिक या साप्ततिक कहे जाते थे।[5] भाष्य के ये उदाहरण जो आयुपरिमाण बतलाने के लिए दिये गये हैं, इस बात की ओर सकेत करते हैं कि मनुष्य की सामान्य आयु सत्तर या साठ वर्ष की होती थी। उन्होने भगवान् वार्ष्यायणि के अनुसार आयु के छह भाग किये हैं—जन्म, सत्ता, विपरिणाम, वृद्धि, अपक्षय और विनाश।[6] व्याधि की भी तीन स्थितियाँ होती है—स्थिति वृद्धि और अपक्षय। स्थिति यथावत् वृद्धि-क्षय-विरहित अवस्था का नाम है।[7]

गर्भावस्था—जन्म के पूर्व की अवस्था की भी चर्चा भाष्य में आई है। एक स्थान पर उन्होने उपपान के रूप मे गर्भ की चर्चा करते हुए कहा है कि क्रिया कोई वस्तु नही है, जिसे निलुण्ठित या पिण्डीभूत गर्भ के समान पकडकर दिखाया जा सके।[8] गर्भिणी सब प्रकार स्वस्थ एव प्रसन्न है।[9] बढता हुआ गर्भ सर्वागपूर्ण हो गया है।[10] समीची एक शिशु को दूध पिला रही है।[11] बच्चा उँगली या मुट्ठी चूस रहा है।[12] अभी यह स्तनन्धय[13] ही है। माता प्रथम गर्भ मे ही बच्चा जनकर मर गई,[14] जैसे कथन इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि भाष्यकार गर्भावस्था की कठिनाइयो, भ्रूण के विकास और प्रजनन-सम्बन्धी छोटी-मोटी बातो से पूर्ण परिचित थे। वे यह भी जानते थे किस प्रकार गर्भकाल मे बालक के अपांग या अपाग होने का पता लगा लिया जा सकता है।

---

१. १-३-११, पृ० ४६।

२. १-४-५०, पृ० १७५।

३. ४-४-१०।

४. आयुर्घृतम् आयुषो निमित्तमिति गम्यते।—१-१-५९, पृ० ३८५।

५. ५-१-५८, पृ० ३२६।

६. षड्भावविकारा इति ह स्माह भगवान् वार्ष्यायणि.। जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति।—१-३-१, पृ० १।

७. वही।

८. १-३-१, पृ० ४४।

९. २-१-७१, पृ० ३३०।

१०. ६-२-१०६, पृ० ३९८।

११. १-३-८९, पृ० ९५।

१२. ३-२-२९, पृ० २१५।

१३. वही।

१४. १-१-२५, पृ० २०२।

शरीर-रोग—रोग को उपताप, व्याधि और स्पर्श कहते थे।[1] स्पर्श, सम्भवत संक्रामक रोग कहलाते थे। भाष्य मे बहुत-से रोगो तथा ओषधियो के नाम मिलते हैं। जानु[2] या घुटनो की पीडा वातिक होती है। खाज या खुजली से पीडा कम नही होती।[3] कण्डूति या कण्डू मे जब वेदना का अनुभव होता है, तब उसे रोग समझना चाहिए।[4] सामान्य हिक्कित, हसित या कण्डूयित ध्यान देने की वस्तु नही। वे रोग नही हैं।[5] दधि और त्रपुस (फलविशेष, खीरा) मिलाकर खाने से ज्वर आ जाता है। यह प्रत्यक्ष ज्वर है।[6] ज्वर कई प्रकार के होते हैं। कोई प्रति दूसरे दिन चढ़ता है और कोई चौथे दिन। इन्हे क्रमश द्वितीयक और चतुर्थक ज्वर कहते थे।[7] विष-पुष्पो के सम्पर्क से एवं काश-पुष्पो के स्पर्श से भी ज्वर उत्पन्न हो जाता है। ऐसे ज्वर क्रमश विषपुष्पक और काशपुष्पक कहे जाते थे।[8] उष्णक ज्वर मे रोगी को ताप अधिक मालूम होता है और शीतक ठड या जूडी देकर बढता है।[9] कण्ठ और शिर के फोडे तो सामान्य बात है।[10] बहुगडु, बहुपिटक, बहुशोफ (सूजन) चिन्ता[11] के विषय होते हैं। भाष्यकार इन सब बातो से अभिज्ञ थे। शरद् ऋतु के प्रारम्भ होते ही मलेरिया या मौसमी ज्वर, सरदी, खाँसी चल पडते हैं। ये शरद् मे होनेवाले मौसमी रोग शारद या शारदिक कहे जाते थे।[12] अतीसार,[13] छर्दिका[14] (वमन-व्याधि), प्रवाहिका[15] (दस्त), सन्निपात,[16] वैपादिक[17] (पादरोग), दद्रु (दाद),[18] अण्डकोष की वृद्धि या मुष्कता,[19] अरोचकता या अरुचि,[20] अर्श,[21] कुष्ठादि उपताप,[22] वातरोग,[23] हृद्रोग या हृदयरोग,[24] विगलित (गलित कुष्ठ उपताप) विकम्पित (वात-कम्प)[25] न्युब्ज[26] (जिसमे व्यक्ति पालथा होकर ही सो सकता है), सज्वर (जीर्णज्वर),[27] सिध्म (एक प्रकार का कुष्ठ[28] (श्वेतकुष्ठ), उत्कन्दक,[29] प्रच्छर्दिका (अम्लपित्त),[30] विचर्चिका (खुजली),

---

१. ३-३-१६, पृ० २९५।
२. १-१-१८, पृ० १८८।
३. १-१-५८, पृ० ३७६।
४. ३-१-२७, पृ० ८२।
५. आ० १, पृ० २४।
६. १-१-५९, पृ० ३८५।
७. ५-२-८१ का०।
८. वही।
९. वही।
१०. २-२-३५, पृ० ३९१।
११. ४-१-५४, पृ० ६६।
१२. ४-३-१३।
१३. ३-३-१७, पृ० २९५।
१४. ५-४-४९।
१५. ३-३-१०८ का०।
१६. ५-१-३८, पृ० ३२२।
१७. ५-२-१०३, पृ० ४१५।
१८. ५-२-१००, पृ० ४१४।
१९. ५-२-१०७।
२०. २-३-१३, पृ० ४१७।
२१. ५-२-१२७ का०।
२२. ५-२-१२८ का०।
२३. ५-२-१२९।
२४. ५-३-५१ का।
२५. ६-४-२४, पृ० ४०६।
२६. ७-३-६१, पृ० २०१।
२७. ३-२-१४२।
२८. ५-२-९६, पृ० ४१२।
२९. ८-४-६१, पृ० ४९९।
३०. ३-३-१०८ का०।

आस्राव[1] (मूत्रातिसार), पामन्[2] (चर्म रोग), विक्षाय (खाँसी) आदि रोगो का भाष्यकार को निकट ज्ञान था। दद्रुवाले व्यक्तियो को दद्रुण, पामन् के रोगियो को पामन, अण्डवृद्धिवालो को मुष्कर, अरुचिवालो को अरोचकी, सज्वर से पीडित को सज्वरी, अर्शवालो को अर्शस, वात-रोगी को वातकी और अतीसार के रोगी को अतीसारकी तथा सिध्मवालो को सिध्मल या सिध्मवान् कहते थे। कौन वस्तु अरोचकी को पथ्य है और कौन-सी सामान्य आमयावी को, यह पतजलि को सम्यक् मालूम था।

कुछ रोग मासिक होते है। वे लगभग मास-भर टिकते है और कुछ के अच्छे होने मे छह महीने लग जाते है। ये रोग मासिक[3] और षाण्मासिक[4] कहलाते थे। कुछ रोग असाध्य माने जाते थे। उसकी चिकित्सा इस लोक मे नही, परक्षेत्र या शरीर-त्याग के ही बाद सम्भव होती है। ऐसे राजयक्ष्मादि रोग क्षेत्रीय कहे जाते थे।[5] जिस रोग का अपनयन करना हो, उसके आगे तस् प्रत्यय[6] लगाकर उसकी अपनेयता व्यक्त की जाती थी।

अगदंकार—रोगो की चिकित्सा अगदकार का काम था।[7] यह नाम पूर्णत सार्थक था। अगदकार स्वच्छता एव स्वास्थ्य के नियमो का पालन कराकर, पथ्य-भोजन देकर एव ओषधि-सेवन कराकर रोग की चिकित्सा करता था। स्वच्छता के नियमो मे आवसथ (गृह) से दूर मल-मूत्र का उत्सर्ग[8] करना, शरीर की सफाई[9] आदि मुख्य थे। ये रोग के निरोधक उपाय थे। पथ्य भिन्न-भिन्न रोगो के भिन्न-भिन्न थे, किन्तु कुछ बाते सामान्य है, जिन्हे रोगी भी जानते थे, जैसे यवागू मूत्र अधिक लाती है। यवान्न उच्चार-दोष का इलाज है[10] आदि।

ओषधि—रोगो का कारण वात, पित्त या कफ का दूषित होना माना जाता था। तीनो दोषो के साम्य की अवस्था सन्निपात कहलाती थी, जो अत्यन्त घातक होती है। वात, पित्त, कफ और सन्निपात की शामक या कोपक वस्तुएँ या ओषधियाँ वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और सान्निपातिक[11] कही गई है। भाष्य मे जिन ओषधियो के नाम आये है, वे वानस्पतिक है। ओष (प्रकाश)-मयी होने के कारण वे ओषधि कहलाती थी। इसी गुण के कारण चन्द्रमा को ओषधि[12]

---

१. ३-१-१४१ का०।
२. ५-२-१००, पृ० ४१४।
३. ५-१-८० काशिका।
४. ५-१-८४ काशिका।
५. ५-२-९२, पृ० ४०२।
६. ५-४-४९।
७. ६-३-७०, पृ० ३४६।
८. २-३-३५, पृ० ४३१।
९. १-३-१, पृ० ८।
१०. मूत्राय कल्पते यवागूः उच्चाराय कल्पते यवान्नम्।—२-३-१३, पृ० ४१७।
११. ५-१-३८, पृ० ३२२।
१२. ओषधिश्चन्द्रमाः—ओषो धीयतेऽस्याम्।—६-२-४२, पृ० २५९।

मानते थे। इसीलिए, ओषधियो को सुसस्या और सुपिप्पला[१] करने की प्रार्थना श्रुति मे मिलती है। ओषधि[२] सामान्य जड़ी या बूटी को कहते थे। यह शब्द जातिवाचक माना जाता था। औषध मे कई ओषधियो का भी मिश्रण होता था, यद्यपि ये दोनो पर्याय थे। क्रमश श्लेष्मघ्न और पित्तघ्न ओषधियो मे मधु तथा घृत श्रेष्ठ माने जाते थे।[३] वनस्पतियो मे पिप्पल,[४] नीली,[५] वल्ली,[६] सफला, भस्त्रफला, अजिनफला, पिण्डफला, शणफला, श्वेतफला, त्रिफला,[७] अमूला, ओदनपाकी, शंकुकर्णी, शालपर्णी, शङ्खपुष्पी, दासी फली, दर्भमूली, गोवाली,[८] गुग्गुलु,[९] कुस्तुम्बरु[१०] और निन्दुकी का उल्लेख ओषधि-रूप से मिलता है। यो भाष्य मे उल्लिखित आमलकी आदि अनेक वनस्पतियाँ, फल, फूल, मूल आदि ओषधि के रूप मे प्रचलित थे और भाष्यकार को उनका स्पष्ट ज्ञान था, फिर भी ओषधि के रूप मे उनका उल्लेख नही किया है। वृक्षो के पाक, पर्ण, पुष्प, मूल, फल, वाल (वाले) आदि सभी अग ओषधि के काम आते थे।[११]

---

१. ६-१-८६, पृ० १३३।
२. ५-४-३७।
३. श्लेष्मघ्नं मधु पित्तघ्नं घृतम्।—६-१-१२, पृ० ३४।
४. आ० २, पृ० ६६।
५. ४-१-४२, पृ० ५५।
६. ४-१-४६, काशिका।
७. ४-१-६४, पृ० ७४।
८. वही, काशिका।
९. ४-१-७१, पृ० ७७।
१०. ६-१-१४३ काशिका।
११. ४-१-६४, पृ० ७४।

—

अध्याय ५

काल और ज्योतिर्विज्ञान

काल—काल की परिभाषा करते हुए भाष्यकार ने कहा है कि जिसके योग से मूर्त्त पदार्थों की वृद्धि या ह्रास होता दिखाई देता है, उसे काल कहते हैं। उसी काल को किसी एक क्रिया से युक्त होने पर अहन् या रात्रि कहते हैं। यह क्रिया सूर्य की गति है। यही क्रिया, अर्थात् सूर्य की गति जब बार-बार आवृत्त होती है, तब मास या संवत्सर आदि बनते हैं। ऐसा है, तभी जन् क्रिया के कारण प्रसूत बालक का परिमाण मास या वर्ष माना जाता है।[1]

भाष्यकार के इस कथन से दो बातें मालूम होती हैं। प्रथम यह कि काल और काल-वाचक शब्दो का अस्तित्व आदित्य की गति पर निर्भर है। दूसरे, पारिभाषिक अर्थ मे काल भले ही परिमाण न हो, व्यवहार मे काल परिमाण माना जाता था।

काल की गणना 'राजा' के शासन-काल से की जाती थी। भाष्यकार ने तो इसका उल्लेख किया ही है। रुद्रदाम से मन्दसौर तक के सभी शिलालेखो मे काल की गणना राजाओ के शासन के सहारे की गई है। विक्रम-संवत् का उल्लेख इन शिलालेखो मे ५वी शती के बाद ही मिलता है।

काल-विभाग—पाणिनि आदि आचार्यों ने आदित्य-गति को आधार मानकर काल[2] के पूर्व, अपर, वर्त्तमान, भूत, भविष्यत्,[3] अद्यतन, अनद्यतन[4] आदि भेद किये हैं। पाणिनि ने इसे काल-विभाग कहा है।[5] पतजलि ने भी कहा है कि काल-विभाग अवश्य होते है। यदि काल-विभाग न होते, तो पर्वत स्थित है, स्थित रहेगे और स्थित थे, ये कथन कभी सम्भव न हो सकते।[6] इसलिए, यद्यपि पाणिनि ने काल की परिभाषा के विवाद-ग्रस्त प्रसंग को यह कहकर टाल दिया था कि काल के विषय मे कोई परिभाषा या नियम बनाने की आवश्यकता नही है; क्योकि लोक मे

---

१. येन मूर्त्तानामुपचयापचया लक्ष्यन्ते तं कालमाहुः। तस्यैव हि कयाचित् क्रियया युक्तस्याहरिति च भवति रात्रिरिति च। कया क्रियया? आदित्यगत्या। तयैवासकृदावृत्त्या मास इति भवति संवत्सर इति च। यद्येवं भवति जातस्य मासः परिमाणम्।—२-२-५, पृ० ३३६।

२. ३-४-२१।

३. ३-३-१३५।

४. ३-२-१२३।

५. ३-३-१३७।

६. सन्ति सत्स्वपि कालविभागाः। तिष्ठन्ति पर्वताः, स्थास्यन्ति पर्वताः, तस्थुः पर्वता-इति। किं शक्यन्त एते शब्दाः प्रयोक्तुमित्यतः सन्ति कालविभागाः।—३-२-१२३, पृ० २२५।

जिसके लिए जिस शब्द का प्रयोग होता है, उसे सब जानते हैं और वही अन्तत प्रमाण मानना चाहिए।

वर्त्तमान काल—वर्त्तमान काल पर विचार करते हुए पतजलि ने कहा है कि क्रिया के प्रारम्भ से समाप्ति तक के काल को वर्त्तमान मानना चाहिए। मैं पढ़ता हूँ, यहाँ रहता हूँ आदि क्रियाएँ बराबर नही होती रहतीं। पढनेवाला पढना बन्दकर भोजन भी करता है, सोता भी है। इसी प्रकार रहनेवाला व्यक्ति कभी बाहर भी चला जाता है। तो भी उसके सम्बन्ध मे पढना और रहना क्रियाओ का वर्त्तमान काल मे प्रयोग होता ही है। इसी प्रकार, नित्य-प्रवृत्त क्रियाओं को भी वर्त्तमान काल मे मानना चाहिए। नदियाँ बहती है, पर्वत स्थित हैं आदि प्रसगो मे जहाँ क्रिया बहुत पहले से होती आ रही है और भविष्य मे होती रहेगी, वर्त्तमान काल का ही व्यवहार होता है।[1]

कुछ आचार्यों के मत से वर्त्तमान कोई काल नही होता। इनके मत से न तो यह ससार परिवर्त्तनशील है, न बाण किसी पर फेंका जाता है और न नदियाँ समुद्र तक जाने के लिए बहती है। यह ससार कूटस्थ है, अर्थात् एक रूप से स्थित रहता है। विचारवान् पुरुष कौए से कहता है कि तुझमे पतन-क्रिया है कहाँ। भूत और भविष्यत् की पतन-क्रिया को तो इस समय 'है' नही कह सकते। और, यदि कहे कि इस समय पतन-क्रिया हो रही है, तो भी यह कहना असगत होता; क्योकि ऐसे तो पतन या गमन-क्रिया सारे विश्व मे हो रही है, यहाँतक कि हिमालय भी इधर-उधर गमन करता है। इस प्रकार भूत, भविष्यत् और वत्तमान तीनो कालो मे 'गमन-क्रिया' कहना सभव नही है। साम्प्रत काल केवल भूत और भविष्यत् की सन्धि का नाम है। उसके भीतर का क्षण-दो क्षण या निमिप-मात्र काल नही है। फिर, वर्त्तमान काल मे 'जाता है' आदि वाक्य कैसे बोले जाते है? इसका उत्तर यह है कि लोग क्रिया-प्रवृत्ति के हेतुभूत गाडी मे बैल जोतना आदि क्रियाओ को देखकर बिना विचारे ही इस प्रकार के वाक्य बोल देते है। सामान्य व्यवहार मे यह ठीक भी है।[2]

किसी-किसी आचार्य के मत से वर्त्तमान काल है, किन्तु आदित्य की गति के समान प्रत्यक्ष दिखाई नही देता। जब साधनभूत सारी सामग्री एकत्र हो जाती है, तब भी विक्लृति प्रत्यक्ष होती हुई परिलक्षित नही होती। बिस के तन्तु भी जलते हुए नही दिखाई देते है। फिर, भी जिन लोगो को तीनो कालो की क्रियाओ का प्रत्यक्ष होता है, ऐसे योगी लोग उस दाह-क्रिया को देखते ही हैं। हम जैसे साधारण जन तो उस क्रिया को अनुमान से ही जान सकते है।[3]

---

१. ३-२-१२३, पृ० २५४, ५५।

२. अपर आह नास्ति वर्त्तमानकाल इति—न वर्त्तते चक्रमिषुर्न पात्यते न स्यन्दते सरितः सागराय—कूटस्थो यं लोको न विचेष्टितास्ति यो ह्येवं पश्यति सोऽप्यनन्धः। मीमांसको मन्यमानो युवा मेधाविसंमतः—काक स्नेहानुपृच्छति किं ते पतितलक्षणम्। अनागते न पतसि अतिक्रान्ते च काक न यदि सम्प्रति पतसि सर्वो लोकः पतत्ययम्। हिमवानपि गच्छति।—वही, पृ० २५६।

३. बिसस्य वाला इव दह्यमाना न दृश्यते विक्लृतिःसन्निपाते।
अस्तीति तां वेदयन्ते त्रिभावाः सूक्ष्मो हि भावोऽनुमितेन गम्याः॥—वही, पृ० २५७।

फिर भी, लोक-व्यवहार मे वर्त्तमान काल का क्षेत्र व्यापकतर माना जाता था। उपर्युक्त दार्शनिक मतो की चिन्ता किये विना लोग वर्त्तमान के सामीप्य मे समीपी (अतीत तथा भविष्यत्) तक को भी वर्त्तमान के ही अन्तर्गत गिन लेते थे।[1] अप्राप्त प्रिय वस्तु की प्राप्तीच्छा, अर्थात् आशसा का विषय भविष्यत्काल होता है; फिर भी उसके लिए भूत और वर्त्तमान का प्रयोग होता था।[2] इसी प्रकार, क्रिया-सातत्य मे जिसे क्रिया-प्रवन्ध भी कहते थे तथा सामीप्य गम्यमान होने पर अनद्यतन भूत और भविष्यत् के नियम लागू होते थे। ऐसे स्थलो पर अनद्यतनीय क्रिया का प्रयोग न होकर सामान्य-भूत या भविष्यत्कालीन क्रिया का व्यवहार होता था।[3] पाणिनि ने देश और काल के प्रविभागो के अवर भाग के सम्वन्ध मे भी सामान्य काल-नियमो का प्रयोग न होना वतलाया है।[4] इन्ही सव विभिन्नताओ को दृष्टि मे रखकर पाणिनि ने काल को लोकाश्रित वतलाया है।

अहन्—काल के भेदो मे अद्य, ह्य, श्व, अहन्, रात्रि, पक्ष, मास, वर्ष, हायन, संवत्सर आदि नाम भाष्य मे मिलते हैं। इनमे अद्यतन काल न्याय्य (सर्वसम्मत) उत्थान से न्याय्य सवेशन-काल तक को कहते थे। इस परिभाषा के अनुसार प्रात. ब्राह्म मुहूर्त्त से रात्रि के लगभग दस वजे तक का समय अद्यतन माना जाना चाहिए। कुछ लोगो के मत से गत अर्ध-रात्रि से आगामी अर्धरात्रि तक का समय अद्यतन होता है।[5] दिन को दिवा और रात्रि को दोषा भी कहते थे। भाष्य मे दिवामन्या रात्रि और दोषामन्य अहन् का[6] उल्लेख है। पुण्याह और सुदिनाह इसका ठीक उलटा था।[7] दिन को कई भागो मे विभाजित किया जाता था। यथा—प्रात.[8] पूर्वाह्ण,[9] मध्याह्न, अपराह्ण,[10] सायाह्न,[11] सगव (ऋग्०५-७६-३), जिमर के मत से, विलकुल सवेरे का समय माना जाता था। रात्रि का प्रारम्भ प्रदोष से होना माना जाता था[12] और उसे पूर्वरात्र एव अपररात्र इन दो भागो मे वाँटा जाता था।[13] पूर्व दिवस को पूर्वेद्यु वर्त्तमान दिन को अद्य, समान (उसी) दिन को सद्य कहते थे। इसी प्रकार परेद्यु, अन्येद्यु, अन्यतरेद्यु, इतरेद्यु

---

१. ३-३-१३१।
२. ३-३-१३२।
३. ३-३-१३५।
४. ३-३-१३६ तथा ३-३-१३७।
५. १-२-५७ काशिका।
६. १-१-४१, पृ० २५४।
७. २-४-३०, पृ० ४७६।
८. ४-३-२८।
९. ५-४-१२०।
१०. ४-३-२८।
११. ४-३-२३, पृ० २२५।
१२. ४-३-१४।
१३. ५-४-८७।

अपरेद्यु , उभयेद्युः या उभयद्युः, ह्यः और श्व[1] शब्द प्रचलित थे, जिनसे प्रतीत होता है कि काल-गणना का मुख्य घटक दिन या अहन् था।

अहोरात्र—दिन और रात्रि को मिलाकर अहोरात्र,[2] नक्तन्दिव या रात्रिन्दिव[3] कहते थे। अहोरात्र ही वह परिमाण था, जिससे अन्य कालवाचको की गणना की जाती थी। अहोरात्र से पक्ष और मास गिने जाते थे। केवल रात्रि का उल्लेख भी अहोरात्र के परिमाण का बोधक होता था।

मास—त्रिंशद् रात्र को मास और पचदश रात्र को अर्धमास[4] कहते थे। अर्धमास पक्ष और उसका प्रथम दिन पक्षति कहलाता था।[5] पक्ष की गणना मास के प्रथम दिन से की जाती थी। दिन-गणना का आधार आदित्य-गति थी; क्योकि आदित्य एक होकर भी, सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित[6] करता है। इसलिए, आदित्य के उदय के आधार पर काल की गणना मे सबको सुभीता हो सकता था। मास और वर्ष का आधार सूर्य की ही असकृद् गति मानी गई[7] थी।

मास की गणना चन्द्र के आधार पर भी की जाती थी। भाष्यकार ने चन्द्रमा को मास-प्रमित कहा है, जिसका अर्थ है मास की माप का प्रारम्भ करनेवाला। प्रतिपच्चन्द्र मासप्रमित कहलाता था।[8]

अयन—मास के बाद अयन था और उसके बाद वर्ष या सवत्सर। अहोरात्र मे कुल तीस मुहूर्त्त होते है। भाष्यकार ने कहा है कि इनमे छह मुहूर्त्त ऐसे होते हैं, जो चर भी है और अचर या अगतिमान् भी। वे कभी दिन मे चलते हैं और कभी रात्रि मे। इसीलिए, उन्हे अहर्गत भी कहते है और रात्रिगत भी। वे अहरतिसृत या रात्र्यतिसृत भी कहे जाते हैं।[9] यहाँ 'कभी' से भाष्यकार का आशय उत्तरायण और दक्षिणायन मे बढने-घटनेवाले दिन के मुहूर्त्तो से हैं। ये मुहूर्त्त उत्तरायण मे दिन मे सम्मिलित रहते हैं और दक्षिणायन मे रात्रि मे। वर्ष बारह मास का होता था। वर्ष की गणना का प्रारम्भ कभी वर्षा के साथ होता था। वैदिक काल मे वर्ष का प्रारम्भ शरद् से होता था। सवत्सर के अर्थ मे प्रयुक्त ये दोनो शब्द स्वय अपनी कथा कहते हैं।

---

१. ४-३-१५, पृ० २२३।

२. ३-३-१३७, पृ० ३२९।

३. ५-४-७८, पृ० ५०४।

४. योऽय त्रिंशद्रात्र आगामी तस्य योऽवरो पञ्चदशरात्र इति—३-३-१३६, पृ० ३२८।

५. ५-२-२५, पृ० ३७३।

६. आ० २, पृ० ४२।

७. आदित्यगत्या। तयैवासकृदावृत्त्या मास इति भवति संवत्सर इति च।—२-२-५, पृ० ३३६।

८. २-१-२९, पृ० २८२।

९. षण्मुहूर्त्ताश्चराचराः—ते कदाचिदहर्गच्छन्ति कदाचिद्रात्रिम्। तदुच्यते, अहर्गता रात्रिगता इति, इदं तर्हि अहरतिसृताः, रात्र्यतिसृताः।—२-१-२९, पृ० २८२।

वर्त्तमान सवत्सर को ऐपम, गत सवत्सर को परुत् और उससे भी पूर्व वर्ष को परारि[1] कहते थे। सामान्य वर्ष के अतिरिक्त भाष्य मे दिव्य वर्ष का भी उल्लेख मिलता है।[2] अयन का अन्तर्वर्त्ती या सूर्य द्वारा अयनान्त के सामीप्य मे बिताया गया समय अन्तरयण कहलाता था। अयनवृत्त के समीपवर्त्ती प्रदेश अन्तरयन कहे जाते थे।[3]

ऋतु—मासो के अतिरिक्त ऋतु भी वर्ष के अवयव थे। ऋतुओ मे शरद्, शिशिर, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा का उल्लेख भाष्य मे है। शरद् का उल्लेख श्राद्ध तथा रोग और उपताप के प्रसग मे हुआ है। शारदिक श्राद्ध गृहस्थ का सामान्य कर्त्तव्य माना जाता था।[4] इस ऋतु मे ज्वर आदि उपताप तथा कास आदि रोग भी फैलते थे।[5] सूत्रकार ने शारदिक या शारद आतप का विशेषत उल्लेख किया है।[6] शरद की धूप बडी भयकर एव हानिकारक होती है। शिशिर ठण्ड की ऋतु है। भाष्यकार ने कहा है कि इस ऋतु मे जिस बैल पर झूल नही डाली जाती, वह कृश हो जाता है।[7] शिशिर और वसन्त उत्तरायण मे होते थे। भाष्य मे इन्हे उदगयनस्थ बतलाया[8] है। काशिकाकार ने हेमन्त, शिशिर और वसन्त यह क्रम ऋतुओ का माना है।[9] इस प्रकार, शिशिर ऋतु माघ और फाल्गुन मे पडती थी और उस समय सूर्य उत्तरायण होता है। इस ऋतु मे मकर-सक्रान्ति के बाद दिनमान बढना प्रारम्भ हो जाता है। इसीलिए, शरद् को दीर्घाह्णी कहा है।[10] हेमन्त ऋतु के मास सह और सहस्य माने जाते थे। इन्हें हैमन्तिक भी कहते थे। हैमन्तिक या हैमन्त या हैमन वस्त्रो एव उपलेपन की व्यवस्था इस ऋतु मे शीतरक्षा के लिए की जाती[11] थी। हेमन्त मे वर्षा भी होती थी। भाष्य ने एक वर्षा-विहीन हेमन्त का उल्लेख किया है।[12] वसन्त प्रकृति के यौवन का काल माना जाता है। मधु और माधव वसन्त के मास माने जाते थे।[13] भाष्य ने इसे अवकोकिल कहा है। यह नाम इस ऋतु मे कोकिल के अधिक बोलने के कारण दिया गया था।[14] पाणिनि ने वसन्त-अध्ययन का विशेषत उल्लेख

---

१. ५-३-२२, पृ० ४३४।
२. आ० १, पृ० १२।
३. ८-४-२५।
४. ४-३-१२।
५. ४-३-१३।
६. वही।
७. गौरिवाकृतनीशारः प्रायेण शिशिरे कृशः।—३-३-२१, पृ० ३०२।
८. २-२-३४, पृ० ३९०।
९. वही—काशिका।
१०. ८-४-७, पृ० ४७८।
११. ४-३-२१ तथा ४-३-२२, पृ० २२४।
१२. २-२-६, पृ० ३३७।
१३. ४-३-२० काशिका।
१४. २-२-१८, पृ० ३५०।

किया है, जिसपर भाष्यकार ने कहा है, वसन्त नाम का कोई ग्रन्थ नही है। इसलिए, जिस ग्रन्थ मे वसन्त का वर्णन हो, उसे भी वसन्त कहते हैं और उसका अध्ययन वासन्तिक कहा जाता है।[१] ब्राह्मण के लिए वसन्त मे अग्न्याधान[२] तथा अग्निष्टोमादि यज्ञ का विधान है।[३] अवश्य ही, इस ऋतु में विशेष ग्रन्थों या वेदभाग के अध्ययन की भी प्रथा रही होगी। इसी को पतंजलि ने वसन्त-सहचरित अध्ययन कहा है और इसी के अध्येता को पाणिनि ने वासन्तिक कहा है। ग्रीष्म ज्येष्ठ-आषाढ मास कहलाते थे। ग्रीष्म ऋतु दीर्घाहा होती है।[४] इस ऋतु से सम्बद्ध काल, मास या अन्य वस्तु को ग्रैष्म[५] कहते थे। वर्षा को प्रावृष् भी कहते थे। प्रावृष् मे होनेवाले मेघो को प्रावृषेण्य कहते थे। किन्तु, प्रावृष् में उत्पन्न होनेवाले कीट, वनस्पति, अन्न, रोगादि प्रावृषिक[६] कहलाते थे। वर्षाकाल शालि आदि अन्नों की निष्पत्ति का साधन था।[७] इस ऋतु मे अनेक आवाञ्छित वस्तुएँ उत्पन्न हो जाती हैं। भाष्य मे इनके लिए वर्षासुज और वर्षाभू शब्द[८] प्रयुक्त हुए हैं। वसन्त, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर की गणना वसन्तादिगण मे भी की गई है।[९]

मासो में मधु चैत्र का नाम था। इस ऋतु मे मधु अधिक होता था। मधु के समीप का वैशाख मास माधव या माधव्य भी कहा जाता था। नभस् या बादल होने के कारण श्रावण को नभ, भाद्रपद को नभस्य; इच्छा में प्रबलता उत्पन्न करने के कारण क्वार या आश्विन को इष; सन्तापदायक होने के कारण फाल्गुन को तप और तपस्य, शरीर शक्ति का दायक होने के कारण कार्तिक को ऊर्ज और मन मे शोक को अकुरित करने के कारण ज्येष्ठ को शुचि और आषाढ को शुक्र कहते थे। इस प्रकार मधु, माधव, तप, नभ, इष, ऊर्ज, शुचि और शुक्र नाम सार्थक[१०] थे। मास के दोनो पक्षों का प्रथम दिन प्रतिपद होता था और अन्तिम दिन अमावास्या और पौर्णमासी। सह अगहन और सहस्य पौष की सज्ञा थी। अमावास्या मे होनेवाला काम या वस्तु अमावास्यक या आमावास्य कही जाती थी।[११]

सन्धि-वेला—पाणिनि ने सन्धि-वेला, ऋतु और नक्षत्रों को कालवृत्ति या कालबोधक कहा है। सन्ध्या, अमावास्या, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पचदशी और प्रतिपत् को काशिकाकार ने

---

१. ४-२-६३, पृ० १८८।
२. ६-१-८४, पृ० ११६।
३. ६-१-१०८, पृ० १६५।
४. ८-२-६९, पृ० ३७६।
५. ४-१-८६, पृ० ९६।
६. ४-२-२६ तथा ४-३-२५, पृ० २३१।
७. ३-३-१३२, पृ० ३२४।
८. ६-३-१, पृ० २९८ तथा ६-४-८४, पृ० ४४७।
९. ४-२-६३, पृ० १८८।
१०. ७-१-७७, पृ० ७४ तथा ४-४-१२८, पृ० २९८, ९०।
११. ४-३-३०।

'सन्धि-वेला' माना है।[1] नक्षत्रों को ज्योतिष् भी कहते थे।[2] नक्षत्र संज्ञा कभी क्षरित या क्षीण न होने के कारण[3] थी। इस प्रकार नक्षत्र ज्योतिष् और काल दोनो के वाचक थे। काल की माप भी नक्षत्रो से की जाती थी। जैसे आपके बहुत-से तिष्य और पुनर्वसु बीत गये।[4] एक ही नक्षत्र मे उत्पन्न होनेवाले सज्योतिष् कहलाते थे।[5] सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र सब ज्योतिष् के अन्तर्गत माने जाते थे। भाष्य मे ज्योति का उद्‌गमन गम्यमान होने पर आ पूर्वक क्रम् धातु का आत्मनेपदत्व-विधान किया है।[6]

नक्षत्र—नक्षत्रो या ज्योतिष् मे दिवाकर, विभाकर प्रभाकर, या भास्कर निशाकर[7] और विधुन्तुद[8] के अतिरिक्त निम्नलिखित नक्षत्रो के नाम भाष्य मे आये है। इनमे विधुन्तुद शब्द राहु-सम्बन्धी प्राचीन विश्वास-परम्परा की याद दिलाता है।

कृत्तिका—भाष्य मे दो वार कृत्तिका और रोहिणी[9] का साथ-साथ उल्लेख हुआ है[10] और दोनो वार बहुवचन मे ही। कृत्तिका[11] को पाणिनि ने बहुल भी कहा है। कृत्तिका कई नक्षत्रो का समूह है, यह वात सामान्य लोगो को भी ज्ञात थी।

रोहिणी—रोहिणी भी कई नक्षत्रो का समूह माना जाता था।[12]

आर्द्रा, मूल, पुनर्वसु—पुनर्वसु वास्तव मे दो नक्षत्र हैं। वेद मे इनके लिए एकवचन का ही प्रयोग हुआ है।[13] इसी प्रकार विशाखा भी दो नक्षत्र हैं। वेद मे इनके लिए भी एकवचन का ही प्रयोग मिलता[14] है। तिष्य को सिध्य[15] भी कहते थे। तिष्य और पुनर्वसु (दो) का समास होने पर बहुवचन होना चाहिए, किन्तु उनके लिए द्विवचन ही प्रयुक्त होता था, जिससे स्पष्ट होता है कि यद्यपि विशाखा, पुनर्वसु आदि नक्षत्र ज्योतिष् की दृष्टि से दो थे, तो भी लोग व्यवहार में उन्हे

---

१. ४-३-१६।
२. १-२-६३, पृ० ५६१।
३. ६-३-७५ काशिका।
४. १-२-६३, पृ० ५६१।
५. ६-३-८५।
६. १-३-४०, पृ० ६७।
७. ३-२-२१।
८. ३-२-३५।
९. १-२-६३, पृ० ५६१।
१०. २-२-३४, पृ० ३९०।
११. ४-३-३४।
१२. १-२-६३, पृ० ५६१।
१३. १-२-६१।
१४. १-२-६२, पृ० ५६१।
१५. १-२-६३, पृ० ५६२।

एक ही मानते थे।[1] पुष्य सामान्य नक्षत्रवाची भी माना जाता था। भाष्यकार ने कहा है कि एक अर्थ रहने पर भी शब्द-भेद होने पर लिंग-भेद हो जाता है; जैसे तिष्य, तारका और नक्षत्र।[2] नक्षत्र विशेष मानकर 'आज पुष्य है, आज मघा[3] है।' 'पुष्य योग जानता है', 'पुष्य से योजित करता[4] है', 'मघाओं से योजित करता है'[5] जैसे वाक्यो का उपयोग भाष्य मे मिलता है। मघा भी कई नक्षत्रो का समूह था। श्रविष्ठा, फाल्गुनी, अनुराधा, हस्त, आषाढा और स्वाति का नाम-ग्रहण पाणिनि ने तिष्य, पुनर्वसु और विशाखा[6] के साथ किया है। वार्तिककार ने उसमे चित्रा, रेवती और रोहिणी को और सम्मिलित कर दिया है।[7] इनमे तिष्य, पुष्य और सिध्य पर्याय[8] है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३-१-४१) मे सात कृत्तिकाओ के नाम मिलते हैं—अम्बा, दुला, नितत्नी, अभ्रयन्ती, मेघयन्ती, वर्षयन्ती, चुपुणिका। यद्यपि बाद मे उनकी सख्या छह मानी जाने लगी। फाल्गुनी को दो और बहुत मानकर भी उल्लेख किया गया है। विशाखा एक, द्वि और बहुवचन तीनो मानी जाती थी। अभिजित् और अश्वयुज् और शतभिषज् का उल्लेख एक साथ एक सूत्र मे मिलता है। काठकसहिता मे श्रवण और अश्वत्थ पर्याय माने हैं। पाणिनि ने दो बार अश्वत्थ का उल्लेख किया है। एक बार श्रवण और अश्वत्थ साथ आये हैं, जिससे प्रतीत होता है, कि वे उन्हें पर्याय नही मानते।[9] दूसरे स्थान पर अश्वत्थ ऋतु का सूचक है।[10] प्रोष्ठपदा भी दो या अधिक माने जाते थे।[11] इनका प्रयोग पुल्लिग मे भी होता था।[12] वैदिक नक्षत्रो का आरम्भ कृत्तिका से होता है। बाद मे ४९० ई० के लगभग दिन-रात के तुल मान को द्योतित करने के लिए अश्विनी का स्थान प्रथम माना जाने लगा। पतजलि ने नक्षत्रों के द्वन्द्व मे कृतिका का ही पूर्व प्रयोग किया है। पाणिनि ने सात नक्षत्रों की गणना मे श्रविष्ठा का उल्लेख प्रथम किया है।[13] वेदाग ज्योतिष की सूची भी श्रविष्ठा से प्रारम्भ होती है। गर्ग की दृष्टि मे धार्मिक कार्यो मे कृत्तिका और सामान्य कार्यो मे श्रविष्ठा प्रथम है।[14] महाभारत वनपर्व मे श्रविष्ठा या धनिष्ठा से और अश्वमेधपर्व मे श्रवण से प्रारम्भ

---

१. १-२-६३, पृ० ५६१।
२. ४-१-९२, पृ० १०७।
३ २-३-४५, पृ० ४३४।
४. ३-१-२६, पृ० ७६।
५. वही।
६ ४-३-३४।
७. ४-३-३४। पृ० २३२।
८. ३-१-११६।
९. ४-२-५ काशिका।
१०. ४-३-४८।
११. १-२-६०, पृ० ५९०।
१२. ५-४-१२०।
१३. ४-३-३४।
१४. ओरायन, पृ० ३०।

माना है।[1] आदि पर्व मे भी श्रवण प्रथम है।[2] यह इस बात का सूचक है कि मकर-सक्रान्ति या दक्षिणायन सूर्य श्रविष्ठा के प्रथम स्थान से पश्चिम की ओर चला गया था। ज्योतिष् वेदाग ने उसे श्रवण या श्रविष्ठा मे स्थिर किया था। प्राचीन ज्योतिष् भी श्रवण को ही मानती थी। पाणिनि ने पूर्वकाल की प्राचीन मान्यता को ध्यान मे रखकर श्रविष्ठा को प्रथम स्थान दिया है।[3] राशियो के उदय को लग्न कहते थे, यद्यपि पाणिनि ने लग्न का प्रयोग इस अर्थ मे नही, अपितु उक्त अर्थ मे किया है। नक्षत्र सत्ताईस माने गये थे। सूर्य के इस ग्रहण-सम्बन्धी गमन-मार्ग या क्रान्ति वृत्त-सम्बन्धी विभाजन के अनुसार बारह मासो के नाम विशेष नक्षत्र के मण्डल मे चन्द्र के प्रवेश के अनुसार रखे गये थे।[4] जब पूर्ण चन्द्र चित्रा के सयोग मे होता था, तब दिन को चैत्री पौर्णमासी कहते थे।

संवत्सर—वर्ष[5] को समा,[6] सवत्सर[7] और हायन[8] कहते थे। प्रभव, विभव आदि ६० सवत्सरो के पाँच वर्षो के क्रम से संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इद्वत्सर और वत्सर ये नाम थे। इस प्रकार ये नाम क्रमशः पूरे वृत्त मे १२ बार आवृत्त होते थे। सवत्सर मे होनेवाले काम को सवत्सरीण या सवत्सरीय कहते थे।[9] वर्ष के दो भाग किये गये थे। प्रत्येक भाग षण्मास कहा जाता था।[10] मास-भर के बालकादि को मास्य या मासीन, दो-तीन मासवाले को द्विमास्य, त्रिमास्य, षड्मासवाले को षाण्मास्य, षण्मास्य या षाण्मासिक (भृत, भूत, भावी) कहते थे। वय से भिन्न अर्थ मे षण्मासिक या षाण्मास्य (रोगादि) शब्द प्रचलित था। वर्ष के पूर्वार्ध को अवरसमा[11] कहते थे। इस भाग मे चुकाया जानेवाला ऋण आवरसमक कहलाता था।

---

१. वनपर्व, २३०-१० तथा अश्वमेघपर्व, ४४-२।

२. आदिपर्व, ७१-३४।

३ जर्नल आफ रायल ए० सो० १९१६-१७, पृ० ५७०।

४. ४-२-३, पृ० १६७।

५. ५-१-८८।

६. ५-१-८५।

७. ५-१-८७।

८. ५-१-१३० तथा ३-१-१४८ (जहात्युदकमिति हायनो व्रीहिः। जहाति भावानिति हायनः संवत्सरः॥—काशिका)

९. ५-१-९२।

१०. ५-१-८१ से ८४ तक, पृ० ३३९।

११. ४-३-४९ तथा ४-३-४३।

मृदग बहुत लोकप्रिय वाद्य रहा है। महावग्ग मे भी मृदग की चर्चा है।[1] अश्वघोष ने तो वार-बार मृदग के साथ संगीत का वर्णन किया है।[2] मृदग से मिलते-जुलते वाद्यो मे मड्डुक, पणव,[3] दर्दुर, मुरज और तूणव[4] का उल्लेख भाष्य मे मिलता है। ये सब ढोल या मृदग के ही विभिन्न रूप थे। मड्डुक और दर्दुर कुड़मुड़ करनेवाले छोटे ग्राम-वाद्य थे, जो आज भी ग्रामो मे देखने को मिलते हैं। मड्डुक ढोलकी के समान होता था। पणव उससे कुछ छोटा था। इन वाद्यो के खोल काष्ठ के अतिरिक्त मिट्टी के भी बनते थे। इस प्रकार इनके निर्माण मे कुलाल का भी हाथ था। विशिष्ट कुलाल इनके खोल बनाते थे और उनके आधार पर कुलालो के भी नाम पड़ जाते थे। दर्दुर का खोल बनानेवाला कुलाल दार्दुरिक कहलाता था।[5] इसी प्रकार मार्दंगिक और माणविक कुलाल भी होते थे। मड्डुकादि बजानेवाले कलाकारो को माड्डुकिक, पाणविक, मौरजिक, दार्दुरिक आदि कहते थे।[6]

प्रतिघात वाद्य—प्रतिघात वाद्यो मे भेरी और दुन्दुभि भी प्रचलित थी।[7] इनका प्रयोग सगीत के साथ नही, अपितु हर्षोन्माद या आवेश उत्पन्न या प्रकट करने के लिए होता था। ये वर्त्तमान नगाडे के पूर्व रूप थे। मन्दिरो और रास-मण्डलियो मे बजनेवाले नगाडे इसी जाति के होते है। भेरी और दुन्दुभि गूँजनेवाले वाद्य थे। इनकी ध्वनि बहुत दूर तक जाती थी। भाष्यकार ने कहा है कि भेरी मे आघात करने के बाद कोई बीस डग चल लेता है, कोई तीस और कोई चालीस। तबतक भेरी का शब्द सुनाई देता रहता है।[8] वैदिक काल मे नृत्य के साथ आघाटि वाद्य का प्रचलन था।[9]

कांस्य-वाद्य—मृदग के साथी वाद्यो मे भाष्यकार ने झर्झर (झाँझ) का नाम लिया है। इसे बजानेवाला झार्झरिक कहलाता था।[10] पिठर भी सगीत-वाद्य था। भाष्य मे पिठर-वादन को भी शिल्प कहा गया है। यह सभवत. कांसे की थाली या बडा गोलाकार थाली जैसा कांस्य-पात्र था, जो सगीत और नृत्य के साथ बजाया जाता था। आज भी ग्रामो मे निम्न श्रेणी के नृत्यों और गीतो के साथ पिठर का प्रयोग होता है। इसे बजानेवाले पैठरिक कहलाते थे।[11]

---

१. महावग्ग, १-७।

२. बुद्धचरित, १-४५।

३ ४-४-५६, ५५, पृ० २८० तथा २-२-३४, पृ० ३८९।

४ वही।

५. ४-४-३४।

६. २-२-३४, पृ० ३८९।

७. २-२-३४, पृ० ३८९।

८. भेरीमाहृत्य कश्चिद्विंशतिपदानि गच्छति कश्चित्त्रिंशत् कश्चिच्चत्वारिंशत्।—१-१-७०, पृ० ४४५।

९. ऋग्० १०-१४६-२ तथा अथर्व० ४-३७-४।

१०. ४-४-५६।

११. ४-४-५५, पृ० २८०।

वेणु—श्वास से बजनेवाले वाद्यो मे वेणु प्रमुख है।[1] वेणु वश (बाँस) से बनता था। वात्स्यायन ने इसे बडा मनोमोहक वाद्य कहा है।[2] भाष्य मे वेणु के लिए मस्कर शब्द का प्रयोग मिलता है।[3]

तन्तु-वाद्य—तन्तु-वाद्यो मे वीणा प्रमुख थी।[4] वात्स्यायन ने वीणा और डमरुक का साथ बतलाया[5] है, किन्तु भाष्य मे डमरुक का उल्लेख नही है। इसी प्रकार, वात्स्यायन के उदक[6] वाद्य (जलतरग) का नाम भाष्य मे नही मिलता। सभवत., यह बाद का अविष्कार है। वीणा भारत का सर्वाधिक लोकप्रिय वाद्य रहा है। इसे काशिकाकार ने कल्याण-प्रक्वणा कहा है।[7] वीणा के स्वर को निक्वण या निक्वाण कहते थे। बजानेवाले के लिए वादक शब्द का प्रयोग[8] होता था। भाष्य मे वीणावादक के लिए प्राय परिवादक शब्द का प्रयोग किया गया है।[9]

वादक—वादक स्वान्त सुखाय बजाते थे और दूसरो के द्वारा वैतनिक रूप से भी बुलाये जाते थे। भाष्यकार ने कहा है कि 'परिवादक से वीणा बजवाई गई।'[10] इससे परिवादक का पर-प्रेरित होना स्पष्ट है। व्याकरण की दृष्टि से वद् धातु का प्रयोग णिजर्थ (बजाना) मे आत्मनेपद मे ही होता था। इसी प्रकार नृत् धातु का णिजन्त प्रयोग भी आत्मनेपद मे प्रचलित था। वादयते और नर्त्तयते क्रियाएँ केवल बजाने और नचवाने के अर्थ मे व्यवहृत होती थी।[11] क्योकि, बजाने और नचवानेवाला इन क्रियाओ को स्वसुखाय ही करवाता था।

वीणा-रहित सगीत अपवीण और वीणा-सहित उपवीण कहा जाता था।[12]

वादन-शिल्प—भाष्यकार ने वादन-कला की गणना सगीत के ही अतर्गत की है। उन्होने मृदग आदि के निर्माता और वादक दोनो को शिल्पी कहा है। इस विषय पर चर्चा करते हुए उन्होने कहा है कि यदि मृदग को शिल्प माना जाय, तो कुलाल भी शिल्पी कहलायेगा और उसे ही मार्दंगिक कहा जायगा; क्योकि वही मृदग का निर्माण करता है। इसलिए, उन्होने 'शिल्प के समान शिल्प' इस अर्थ मे शिल्प शब्द का प्रयोग मानकर वादक को भी शिल्पी स्वीकार किया है।

---

१. ६-१-२१५, पृ० २३९।
२. कामसूत्र, अधि० ७, अ० २, सू० ४३।
३. ६-१-१५४, पृ० १९३।
४. १-१-५७, पृ० ३६६।
५. कामसूत्र, अधि० १, अ० ३, सू० १६।
६. वही।
७. ३-३-६५ काशि० तथा १-१-५७, पृ० ३६६।
८. वही।
९. अवीवदद् वीणां परिवादकेन (वादितवन्तं प्रयोजितवान्)।—१-१-५७, पृ० ३६६।
१०. वही।
११. १-३-८९ काशिका।
१२. ६-२-१८७।

जिस प्रकार मृदंग आदि बनाना शिल्प है, उसी प्रकार उन्हें बजाना भी शिल्प है। यह कहकर भाष्यकार ने यह व्यक्त करना चाहा है कि जिस प्रकार वाद्य कुलाल की जीविका के साधन हैं, उसी प्रकार उनका वादन वादक की जीविका का साधन है।[1]

तूर्यादि वाद्य-वृन्द—वादन-शिल्प का प्रयोग सामूहिक रूप में भी होता था। उसे तूर्य कहते थे।[2] तूर्य अनेक वाद्यों का समाहार था। पाणिनि ने तूर्यांगों के द्वन्द्व के लिए एकवचन का विधान किया है, वाद्य भले ही अनेक हों। उन्होंने तूर्यांगों के साथ प्राण्यंगों और सेनांगों के द्वन्द्व के लिए भी एकवचन का निर्देश किया है। जो वैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा उचित है। प्राणी के विभिन्न अंग पृथक् रहकर भी एक अवयवी के अधीन एक बनकर काम करते हैं। सेना के अंगों की भी यही स्थिति होती है। वे पृथक् होकर भी एक होते हैं। इसी प्रकार, तूर्यांग पृथक्-पृथक् ध्वनि उत्पन्न करते हुए भी परस्पर समन्वित एक स्वर, एक ताल के द्वारा संयुक्त प्रभाव की सृष्टि करते हैं। पृथक् दिखाई देने पर भी तूर्य में वे एक हो जाते हैं। अतः, उनके लिए एकवचन का प्रयोग उचित ही है। काशिका ने तूर्यांगों के उदाहरणों में 'मार्दङ्गिकपाणविकम्' और 'वीणावादकपरिवादकम्' का उल्लेख किया है। भाष्यकार ने वीणावादक को परिवादक कहा है, जैसा कि पीछे बतलाया जा चुका है। यदि यह मान लिया जाय, तो काशिका का उक्त उदाहरण असंगत ठहरता है। पर, ऐसा नहीं है। वीणा का ही एक भेद विपञ्ची भी था। उसमें पाँच स्वरों की प्रधानता थी। विपञ्ची का दूसरा नाम परिवादिनी था और इसका वादक परिवादक कहलाता था। काशिका के उदाहरण में वीणा और विपञ्ची के भेद की ओर संकेत है। भाष्यकार ने इस सूक्ष्म अन्तर पर ध्यान न देकर दोनों के वादकों के लिए केवल एक सामान्य शब्द-परिवादक का ही प्रयोग कर दिया है। काशिकाकार ने अपने उदाहरणों में एक ही प्रकार के वाद्यों का समाहार दिखलाया है। उसमें मार्दंगिक और पाणविक साथ-साथ हैं तथा वीणावादक और परिवादक। इससे इस सन्देह को स्थान मिलता है कि कहीं एक ही कोटि के वाद्यों का सामूहिक वादन तो तूर्य नहीं कहलाता था। तूर्य एक स्वतन्त्र वाद्य भी था, जो एक और ऊँची तान से देर तक बजाया जाता था। आधुनिक तुरही इसी का अपभ्रंश रूप जान पड़ता है।

ग्राम—पतंजलि ने ग्रामों की भी चर्चा की है। उनका 'अगायि भवता ग्राम' उदाहरण संगीत के विकास पर प्रकाश डालता है।[3] इससे यही पता चलता है कि उस काल के गायकों को स्वर, आरोह, अवरोह, श्रुति, मूर्च्छना, ग्राम आदि की शास्त्रीय जानकारी थी। ग्राम स्वरों के सन्दोह को कहते हैं। रत्नाकर में कहा है कि जिस प्रकार सारे कुटुम्बी मिलकर परिवार बनाते हैं, इसी प्रकार स्वरों का सन्दोह ग्राम कहा जाता है। ग्राम तीन हैं—षड्ज ग्राम, मध्यम ग्राम और

---

१. किं यस्य मृदङ्गः शिल्पं स मार्दङ्गिकः? किञ्चातः? कुम्भकारे प्राप्नोति। एवं तर्हि पुनरपदलोपो द्रष्टव्यः। शिल्पमिव शिल्पम्। मृदङ्गे वादनं शिल्पमस्य मार्दङ्गिकः पाणविकः, मौरजिकः, पाणविकः।—४-४-५५, पृ० २८०।

२. २-४-२, पृ० ४६२ तथा वही, काशि०।

३. १-१-६२, पृ० ४१६।

गान्धार ग्राम।[1] निश्चित है कि यदि भाष्यकार को ग्रामो की जानकारी थी, तो सगीत के अन्य अगो से भी परिचय रहा होगा। यह निष्कर्ष हमे इस परिणाम पर पहुँचने को वाध्य करता है कि भाष्यकार के समय मे सगीत-शास्त्र के ग्रन्थो का प्रणयन हो चुका था और अनेक तान्त्रिक शव्द प्रचलित हो चुके थे, जो आज भी उन्ही अर्थो मे प्रचलित है।

सगीत-गोष्ठी—सगीत का इतना प्रचलन होने के वाद यह स्वाभाविक था कि समय-समय पर सार्वजनिक या निजी सगीत-गोष्ठियाँ होती। ये गोष्ठियाँ प्रमद या संमद कही जाती थी।[2] प्रमद या समद प्राय सार्वजनिक स्थानो, जैसे देवालयो के प्रागण आदि मे होते थे। इनमे सारी रात नृत्य और गीत होते थे। प्रमद या समद की यह प्रथा रतजगो के रूप मे अभी तक वर्त्तमान है। ये रतजगे पारिवारिक आनन्द-प्रसगो पर भी होते है और धार्मिक पर्वो पर भी।

---

१. यथा कुटुम्बिनः सर्वेऽप्येकीभूता भवन्तिहि।
तथा स्वराणां सन्दोहो ग्राम इत्यभिधीयते॥
षड्जग्रामो भवेदादौ मध्यमग्राम एव च।
गान्धारग्राम इत्येतद् ग्रामत्रयमुदाहृतम्॥—रत्नाकर

२. ३-३-६८।

अध्याय ७

नाट्य-नृत्य

नटो का आम्नाय—नटो के धर्म या आम्नाय को नाट्य कहते है। पाणिनि ने छन्दोग औक्थिक, याज्ञिक और बह्वृच के साथ नट का उल्लेख किया है।[1] इन सबके अपने आम्नाय या कुल-ग्रन्थ थे। उदाहरणार्थ, छन्दोगो का आम्नाय छान्दोग्य कहलाता था और बह्वृचों का बाह्वृच्य। इसी प्रकार, नटो का आम्नाय नाट्य था। पाणिनि का उल्लेख इस बात का प्रमाण है कि ईसा-पूर्व ७०० से पहले भारत मे न केवल नाट्य-कला का प्रचार था, अपितु उनका वैज्ञानिक अध्ययन भी प्रचलित हो चुका था और तदर्थ ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। इन ग्रन्थो मे दो के प्रणेताओं के नाम हमे विदित हैं। इनमे कृशाश्व सर्वाधिक प्राचीन जान पडते हैं। इनका नटसूत्र नट-समाज मे विशेष आदृत था और उसके अनुयायी 'कृशाश्विन्' कहे जाते थे। यह शब्द केवल नटो और नाट्यसूत्र के सम्बन्ध मे व्यवहृत होता था। कृशाश्व-सम्बन्धी अन्य बातो को कार्शाश्व कहते थे। कृशाश्व के अनुयायी होने के कारण नटो का सामान्य नाम ही कृशाश्वी पड गया था। इसी के साथ या इसके कुछ पश्चात् एक दूसरे नटसूत्र का प्रणयन हुआ। इनके प्रणेता शिलालि थे। शिलालि के अनुयायी शैलालिन् या शैलाल कहे जाते थे। धीरे-धीरे शिलालि का सम्प्रदाय अधिक सम्मान पा गया और उनके अनुयायियो की सख्या कार्शाश्वो से अधिक हो गई। भरत के नाट्यशास्त्र के समय तक आते-आते कृशाश्व-शाखा विलुप्तप्राय हो गई। इसीलिए, नाट्यशास्त्र मे नटो के लिए शैलालक शब्द का व्यवहार मिलता है, कृशाश्विन् का नही। पतंजलि ने भी प्रत्यक्ष रूप से शैलालो का ही उल्लेख किया है।

नाट्यसूत्र—नाट्यसूत्रों की प्रतिष्ठा वैदिक चरण के रूप मे हुई थी। शिलालि के नटसूत्रो का निर्माण ऋग्वेद-शाखा के अन्तर्गत हुआ था। शिलालि शैलाल ब्राह्मण के भी [illegible] बतलाये गये है।[2] इसी कारण नटसूत्रो को छान्दसत्व[3] प्राप्त हुआ।

नट—अभिनेता के लिए नट शब्द प्रचलित था। अभिनेत्रियां नटी कहलाती थीं। उनकी सन्तान को 'नाटेर' कहते थे।[4] इससे स्पष्ट है कि नटो की पृथक् श्रेणी बन गई थी। नटियां नटो की ही पत्नियां होती थी। पतंजलि के समय तक नर्त्तकियो और नटियो का अन्तर स्पष्ट

---

१. ४-३-१२९, चरणाद्धर्माम्नाययोस्तत्साहचर्यान्नटशब्दादपि धर्माम्नाययोरेव भवति, नटानां धर्म आम्नायो वा नाट्यम् (काशिका)।

२. ४-३-१११।

३. गुणकल्पनया च भिक्षुनटसूत्रयोश्छन्दस्त्वम्।—४-३-११० काशिका।

४. ४-१-११४, पृ० १३८।

हो चुका था, किन्तु नटियो की प्रतिष्ठा समाज मे कम हो गई थी। अभिनय का स्तर भी गिर रहा था। कोई भी दर्शक नटियो से प्रेमालाप कर सकता था। भाष्यकार ने कहा है कि व्यंजन नटो की भार्याओ के समान होते हैं। जिस प्रकार नटो की पत्नियो के रग-स्थल मे जाने पर लोग उनसे पूछते है 'तुम किसकी हो, किसकी हो', तो वे हर पूछनेवाले से यही कह देती है 'तुम्हारी हूँ, तुम्हारी हूँ।' उसी प्रकार व्यजन भी, जिस स्वर के कार्य के लिए कहा जाता है, उसी के बन जाते हैं।[१] कामसूत्र मे नटी के लिए ईक्षणिका शब्द का भी प्रयोग मिलता है।

नट और शान्तरस—नट को रस का अनुभव होता है या नही, इस विषय को लेकर परवर्त्ती आचार्यों ने काफी ऊहापोह किया है। कुछ आचार्य नाट्य मे आठ ही रस स्वीकार करते थे। वे शान्त रस को इसलिए नाट्य-बाह्य मानते थे कि उनकी दृष्टि मे शान्त बहुत श्रमसाध्य था और नट के लिए यह श्रम उठा सकना असम्भव था। भरत ने अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के इस मत का उल्लेख नाट्यशास्त्र मे किया है।[२] यदि भरत के इस कथन को पतजलि के उपर्युक्त उद्धरण के सन्दर्भ मे देखा जाता, तो नटो के प्रति आचार्यों की हीनत्व-धारणा का कारण स्पष्ट हो जाता है। फिर भी, भाष्यकार ने नट को 'रसिक' कहा है।[३] वाल्मीकि के आश्रम मे प्रयुक्त होनेवाला नाट्य आगे चलकर इसीलिए श्रमणो और परिव्राजको के लिए वर्जित मान लिया गया।

सगीत भी नाट्य का एक अग था। प्रसगानुसार नाट्य के बीच मे संगीत का भी प्रयोग होता था। इसलिए, नट सगीत का भी अभ्यास करते थे[४]। वे बड़े-बडे बाल रखते थे। संभव है, महात्माओ, साधुओ आदि की भूमिका के लिए कुछ नट दाढी-मूँछ भी रखते हो।[५]

भ्रूकुंस—कभी-कभी स्त्री-पात्रो की कमी पड़ जाती थी, तो पुरुष ही स्त्री का भी अभिनय कर लेते थे। स्त्रियाँ पुरुषो की भूमिका ग्रहण करती थी या नही, इसका कोई सकेत भाष्य मे नही मिलता। स्त्री की भूमिका ग्रहण करनेवाले नट 'भ्रूकुस' कहलाते थे। ये लोग नारी का रूप ग्रहण करने के लिए कृत्रिम केश और स्तन बनाते थे। पतजलि ने लिंगभेद पर विचार करते हुए शका उपस्थित की है कि यदि स्तनकेशवती नारी, दाढी-मूँछवाले लोमश को पुरुष और इन दोनो के चिह्नो से रहित व्यक्ति को नपुसक मान लिया[६] जाय, तो भ्रूकुस को भी स्त्री मानना पडेगा, क्योकि स्तन और केश तो उसके भी होते है। और, भ्रूकुंस को स्त्रीलिंग मानने से उसके

---

१. व्यञ्जनानि पुनर्नटभार्यावद् भवन्ति। तद्यथा—नटानां स्त्रियो रङ्गङ्गता यो यः पृच्छति कस्य यूयं कस्य यूयमिति त तं तव तवेत्याहुः।—६-१-२, पृ० १३।

२. शान्तस्य श्रमसाध्यत्वान्नटे च तदसम्भवात्।
अष्टावेव रसा नाट्य इति केचिदचूचुदन्॥—नाट्यशास्त्र

३. ५-२-९५, पृ० ४११।

४. अगार्सोन्नटः।—२-४-७७, पृ० ५०८।

५. सर्वकेशी नटः।—२-१-६९, पृ० ३२३।

६. स्तनकेशवती नारी लोमशः पुरुषः पुमान्।
उभयोरन्तरं यत्तु तदभावे नपुंसकम्॥—वही, पृ० १६।

आगे स्त्रीत्वबोधक टाप् प्रत्यय होने लगेगा। इसलिए, पुल्लिंगादि की यह परिभाषा दूषित है। भाष्यकार का उक्त कथन पुरुषों द्वारा स्त्री-पात्रों का अभिनय किये जाने की ओर ही संकेत करता है, स्त्रियों द्वारा पुरुषों की भूमिका ग्रहण किये जाने की ओर नहीं।

आरम्भक और ग्रन्थिक—नट जिस स्थान पर अभिनय करते थे, वह स्थान रंगस्थल कहलाता था। संक्षेप में उसे रंग कहते थे। रास-मण्डलियों ने आज भी इस शब्द को जीवित रखा है, यद्यपि अर्थ में थोड़ा-सा अन्तर हो गया है। ये रंगशालाएँ सार्वजनिक सभा या प्रवचन के भी काम आती थीं। इनमें एक वेदी तथा श्रोताओं के बैठने का स्थान होता था। नट और ग्रन्थिक वेदी पर अभिनय और प्रवचन करते थे। भाष्यकार ने श्रोताओं या दर्शकों के लिए, जो नाट्य-प्रयोग के प्रेरक होते थे और जिनके पहुँचने पर प्रवचन या अभिनय प्रारम्भ किया जाता था, 'आरम्भक'[२] शब्द का प्रयोग किया है। अभिनय के साथ एक व्यक्ति कथा-प्रसंगों को जोड़ता जाता था। जहाँ कथावस्तु संवादों द्वारा सुश्लिष्ट नहीं हो पाती थी, वहाँ एक व्यक्ति 'वाचक' के रूप में पुस्तक से आवश्यक अंश पढ़ देता था। इस व्यक्ति को ग्रन्थिक कहते थे। वस्तुतः ग्रन्थि (कालग्रन्थि) से सम्बद्ध होने के कारण ही ये लोग ग्रन्थिक कहे जाते थे। नट और ग्रन्थिक दोनों पृथक् व्यवसायों के व्यक्ति होते थे। नाटक में कथापाठ करनेवालों को ग्रन्थिक नहीं कहते थे। नट कभी-कभी अकेला ही अभिनय के साथ संगीत-रूपक उपस्थित करता था। 'नट को सुनता है, ग्रन्थिक को सुनता है', ये उल्लेख इस बात के प्रमाण हैं। ग्रन्थिक शब्द ग्रन्थि से बना है। कुछ विद्वानों ने ग्रन्थ से इसका सम्बन्ध जोड़कर भ्रान्ति की है। भाष्य ने नट और ग्रन्थिक के संगीत या प्रवचन सुनने तथा गुरुमुख से पाठ सुनने में भेद किया है। प्रथम यदा-कदा और द्वितीय नियमपूर्वक होता है, जिसके लिए भाष्यकार ने उपयोग शब्द का व्यवहार किया है। उपयोग (नियमपूर्वक) की स्थिति में 'आचार्य से पढ़ता है, आचार्य से सुनता है' ऐसे वाक्यों का प्रयोग होता था और नट या ग्रन्थिक से यदा-कदा सुनने के लिए 'नट को सुनता है, ग्रन्थिक को सुनता है।' ये वाक्य प्रयुक्त होते थे। डॉ० वा० श० अग्रवाल ने 'आरम्भक' का अर्थ समझने में भ्रान्ति की है। फलतः, उस सम्पूर्ण प्रसंग से निकाले हुए उनके निष्कर्ष भ्रान्त हो गये हैं।[३]

---

१. लिङ्गात् स्त्रीपुंसयोर्ज्ञाने सति भ्रूकुंसे टाप्प्राप्नोति। यद्धि लोके दृष्ट्वैतदवसीयते इयं स्त्रीत्यस्ति तद् भ्रूकुंसे।—४-१-३, पृ० १७।

२. नटस्य शृणोति, ग्रन्थिकस्य शृणोति। उपयोग इत्युच्यमानेऽप्यत्र प्राप्नोति। एषोऽपि ह्युपयोगः। आतश्चोपयोगो यदारम्भका रङ्गं गच्छन्ति नटस्य श्रोष्यामो ग्रन्थिकस्य श्रोष्याम इति। एवं तर्ह्युपयोग इत्युच्यते सर्वश्चोपयोगस्तत्र प्रकर्षगतिर्विज्ञास्यते। साधीयो य उपयोग इति। कश्च साधीयः? यो न्याय्यः। अथवोपयोगः को भवितुमर्हति। यो नियमपूर्वकः तद्यथा। उपयुक्ता माणवका इत्युच्यन्ते य एते नियमपूर्वकमधीतवन्तो भवन्ति।—१-४-२९, पृ० १६५।

३. इण्डिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० ३३९।

शोभनिक—नट और ग्रन्थिक के साथ भाष्यकार ने शोभनिक का भी उल्लेख किया है।[1] शोभनिक नट को ही कहते थे। हो सकता है, पात्रानुकूल वेशभूषा धारण किये मुखानुलेपन-युक्त नट को शोभनिक कहते हो।[2] पात्र रावण या कस का अभिनय करते समय मुँह पर एक अनुलेप करते थे और रामादि के पक्ष का अभिनय करते समय दूसरा। पात्रानुकूल वेश-प्रसाधन नाट्य के व्यापक प्रचार और पुरातन परम्परा का परिचायक है।

रंगमंच—भाष्यकार ने कसवध और बलिबन्ध नाटको की चर्चा की है।[3] ये दोनो मच पर खेले जाते थे। रगमच पतजलि के समय मे खूब विकसित हो चुके थे। यह तो नही कहा जा सकता कि यह विकास किस सीमा तक पहुँच गया था, पर इतना अवश्य है कि मच युद्ध, वध आदि के बडे दृश्यो को प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त होता था। अतीत की घटनाओ का वर्णन करने मे वर्त्तमान काल के प्रयोग पर टीका करते हुए भाष्यकार ने प्रश्न किया है कि 'कस को मरवाता है या वलि को बँधवाता है' जैसे प्रसगो मे, जहाँ घटना को घटित हुए पर्याप्त समय बीत चुका है, वर्त्तमान काल का प्रयोग कहाँतक उपयुक्त है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होने कहा है, 'नट लोग प्रत्यक्ष ही कस को मरवाते है या वलि को बँधवाते है।' चित्रो मे भी प्रहारार्थ उठाये हुए हाथ और कस-कर्षण आदि क्रियाएँ रहती है। उनके लिए भी वर्त्तमान काल का प्रयोग उचित है। रहे ग्रन्थिक लोग, वे भी प्रारम्भ से मृत्यु तक उनकी ऋद्धि का वर्णन करते हुए बुद्धि मे उन विषयो को प्रकाशित करते है। श्रोता लोग मन मे उन विषयो की कल्पना करते जाते है। उनके मन घटनाओ के साथ तदाकार बनते जाते है। इसीलिए, दर्शक या श्रोता भिन्न-भिन्न मत के भी दिखाई पडते हैं। कोई कसपक्षीय होता है और कोई कृष्णपक्षीय। वे अपने प्रिय पात्र की विजय देखकर प्रसन्न होते है और पराजय देखकर दुःखी। कभी उनका मुँह लाल होता है और कभी स्याह पड जाता है। इसीलिए, मानसिक कल्पना के आधार पर अतीत की घटनाओ के लिए तीनो कालो का प्रयोग देखा जाता है। उदाहरणार्थ, 'चले कथा सुनने—आज कस मारा जा रहा है या कस मारा जायगा।' अथवा 'अब जाकर क्या करेंगे, कस तो मर ही गया' वाक्य प्रतिदिन व्यवहार मे आते है।[4]

---

१. ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षकंसं घातयन्ति।—३-१-२६, पृ० ७८।

२. वही।

३. इह तु कथं वर्त्तमानकालता कंसं घातयति बलिं बन्धयतीति चिरहते कंसे चिरबद्धे च बलौ।—३-१-२६, पृ० ७८।

४. ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्ति। चित्रेषु कथम्? चित्रेष्वप्युद्गूर्णा निपतिताश्च प्रहारा दृश्यन्ते कंसकर्षण्यश्च। ग्रन्थिकेषु कथं यत्र शब्दगडुमात्र लक्ष्यते? तेऽपि हि तेषामुत्पत्तिप्रभृत्याविनाशाद् ऋद्धीर्व्याचक्षाणाः सतो बुद्धि-विषयान् प्रकाशयन्ति। आतश्च सतो व्यामिश्रा हि दृश्यन्ते। केचित्कंसभक्ता भवन्ति केचिद्वसुदेवभक्ता। वर्णान्यत्वं खल्वपि पुष्यन्ति। केचिद् रक्तमुखा भवन्ति केचित् कालमुखाः। त्रैकाल्यं खल्वपि लोके लक्ष्यते। गच्छ हन्येते कंसः गच्छ घानिष्यते कंसः। किं गतेन हते कंस इति।—३-१-२६, पृ० ७८, ७९।

कथा-प्रवचन—उपर्युक्त उद्धरण इस बात के स्पष्ट प्रमाण है कि नाट्य के साथ ही कथा-वाचन की कला भी खूब उन्नत हो चुकी थी। लोग रात-रात भर ये कथाएँ सुनते रहते थे। हमारे पास इस बात के प्रमाण हैं कि नाटको की कथावस्तु के मुख्य आधार रामायण महाभारत तथा प्राचीन पौराणिक आख्यान थे। कथावाचक भी इन्ही आख्यानो को स्वर के उतार-चढाव तथा विभिन्न भाव-भगियो-सहित सुनाया करते थे। भावाभिव्यक्ति के मुख्य सहायक होते थे—मुखमुद्रा और हस्तादिचालन। वर्त्तमान 'भरतनाट्यम्' के समान सगीत और नवादो के साथ पृथक् स्वतन्त्र अभिनय भी धीरे-धीरे प्रचलित हो गया। पर, पतजलि के समय मे आख्यान-वाचन और अभिनय-कला दोनो स्वतन्त्र रूप से अलग प्रचलित और उन्नत हो चुके थे।[1] ये मनोरजन के प्रमुख साधन थे। इनमे नटो की एक स्वतन्त्र जाति या श्रेणी बन चुकी थी। नटो के लिए 'शोभनक' शब्द का प्रयोग केवल पतजलि ने ही किया है।

नाट्यालेखन—उपर्युक्त उद्धरण रगमच के अतिरिक्त नाटक मे व्यवहृत होनेवाले पर्दो के विषय मे भी जानकारी प्रस्तुत करता है। नाट्यशाला मे भित्तियो पर तथा रगमच मे पर्दो पर आलेखन करने की प्रथा थी। जो नाटक दिखाये जाते थे, उन्ही के महत्त्वपूर्ण अग पर्दो पर चित्रित किये जाते थे। ये पर्दे कपडे के ही रहते होगे। इससे जहाँ एक ओर जवनिका के प्रयोग पर प्रकाश पडता है, वहाँ दूसरी ओर चित्रकला के विषय मे भी जानकारी प्राप्त होती है। भित्ति-आलेखन की प्रथा भारत मे यों भी बहुत पुरानी है। प्राचीन साहित्य मे भी भित्तियों पर महत्त्वपूर्ण जीवन-गाथाएँ चित्रित करने के अनेक उल्लेख मिलते हैं।

नान्दी—नाटक के अगो मे नान्दी का भी उल्लेख मिलता है। नान्दी गानेवाला नान्दिकार कहा जाता था।[2]

नृत्य

नृत्य का अर्थ—भाष्य मे सगीत और वाद्य के साथ नृत्य के विषय मे भी कुछ संकेत मिलते है।[3] नृत्य वाद्य के समान शिल्प नही था। उसकी गणना सगीत के समान कलाओं मे होती थी। कला शब्द का प्रयोग पतजलि ने स्त्री के सम्बन्ध मे ही किया है।[4] हो सकता है, उस युग मे कला स्त्रियों की वस्तु समझी जाती हो। नृत्य शब्द नृत् धातु से बना है, जिसका अर्थ है गात्रविक्षेप। इसलिए, मानव के समान पशु-पक्षियों के नर्त्तन के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता रहा है। भाष्यकार ने बार-बार मयूर के नृत्य का उल्लेख किया है और [illegible]

---

१. चित्रेषु कथम्? चित्रेष्वप्युद्गूर्णनिपतिताश्च प्रहारा दृश्यन्ते कंसपक्षीयाश्च ग्रन्थिकेषु कथं यत्र शब्दगडुमात्रं लक्ष्यते? तेऽपि हि तेषामुत्पत्तिप्रभृत्याविनाशाद् ऋद्धीर्व्याचक्षाणाः सतो बुद्धिविषयान् प्रकाशयन्ति।—३-१-२६, पृ० ७८-७९।

२. ३-२-२१।

३. १-३-८।

४. मातृवदस्याः कलाः सन्ति, न सन्तीति।—७-१-७४, पृ० ७०।

कि वह प्रिया को लक्ष्य कर नाचता है।[1] नृत्य हर्षातिरेक की प्रतिक्रिया है। पतजलि ने नृत्य मे पुरुषो के भी भाग लेने का उल्लेख किया है।[2]

नर्त्तकी—नाचनेवाले को नर्त्तक और नर्त्तकी कहते थे। नैपुण्य के अनुसार इनकी श्रेणियाँ होती थी। इसीलिए नर्त्तकिका, नर्त्तकितरा और नर्त्तकितमा शब्दो का प्रयोग उनके लिए मिलता है।[3] नृत्यक्रिया के लिए 'नृत्यति' का प्रयोग होता था, किन्तु प्रेरणार्थक नृत् धातु सदा आत्मनेपद मे प्रयुक्त होती थी।[4]

अप्सरा और गणिका—गीत-नृत्य मे निपुण नारियो का एक वर्ग था। वे नारियाँ अप्सरा कही जाती थी। नाट्यशास्त्र मे भी नाट्य की सफलता के लिए ब्रह्मा द्वारा अप्सराओ के भेजे जाने का उल्लेख है। कैशिकी वृत्ति का प्रयोग उन्ही पर निर्भर था। महाभाष्य के अनुसार उर्वशी इस कलाकार-वर्ग मे सर्वाधिक सुन्दरी थी।[5] धीरे-धीरे अप्सराओ की स्वतन्त्र श्रेणी बन गई और वे सारे समाज की वस्तु मानी जाने लगी। जब नगरो का विकास हुआ और जब गणो का सगठन हुआ, तब नर्त्तकी सारे गण की सम्मिलित सपत्ति समझी जाने लगी। ये गण या तो नागरक जन-समवाय के रूप मे थे या राजनीतिक सस्था के रूप मे। गण की सम्पत्ति होने के कारण नर्त्तकी गणिका कही जाने लगी। लिच्छिवि-गण की आम्रपाली या अम्बपाली नामक गणिका सुप्रसिद्ध ही है। उसकी कला का रसास्वादन करने का अधिकार सम्पूर्ण गण को था। ईसा-सन् के प्रारम्भ मे गणिकाओ का बडा सम्मान था। वह सुशिक्षित और सस्कृत नारी का प्रतीक थी। यद्यपि मनु ने गण और गणिका दोनो का भोजन ब्राह्मण के लिए त्याज्य बतलाया है, फिर भी समाज और राज्य उसे विशेष आदर की दृष्टि से देखता था। गणिका-पद सस्थावत् था और विचक्षण कलावती ही 'गणिका'-सम्बोधन की अधिकारिणी बन पाती थी। वात्स्यायन के अनुसार 'शास्त्र-प्रहत-बुद्धि' तथा दोनो (काम और कर्म) प्रकार की चौसठ कलाओ मे निपुण गणिका ही जनसभा मे सम्मान पाने की अधिकारिणी हो सकती थी।[6] (ललितविस्तर मे शुद्धोदन द्वारा अपने पुत्र सिद्धार्थ के लिए ऐसी पत्नी खोजे जाने की चर्चा है, जो गणिका-सी शास्त्रज्ञ और कलामयी हो।)[7] भरत ने गणिकाओ को अत्यन्त सम्मान्य माना है और उनके लिए उच्च योग्यताएँ निर्धारित की है।[8] उन्होने नाटको मे अन्य नारी-पात्रो को प्राकृत बोलने की आज्ञा दी है, किन्तु गणिका को सस्कृत मे सम्भाषण करने की अनुमति प्रदान की है।[9]

---

१. २-३-६७, पृ० ४५३ तथा प्रियां मयूरः प्रतिनर्त्ततीति।—७-३-८७, पृ० २१२।
२. यद्वत्त्वं नरवर ननृतीथि हृष्टः।—वही।
३. ६-३-४२, पृ० ३२९।
४. १-३-८९।
५. ऊर्वशी वै रूपिण्यप्सरसाम्।—५-२-९५, पृ० ४११।
६. कामसूत्र, अधि० १, अ० ३, सू० २०-२१।
७. ललितविस्तर, १२-१३९।
८. नाट्यशास्त्र, २४-१०९ से ११३।
९. वही, १७-३७, ३८।

महावग्ग में वैशाली की गणिका अम्बपाली के वैभव और प्रतिष्ठा का प्रभावशाली वर्णन है।[1] उसकी सामाजिक स्थिति का अनुमान साधारण सामाजिक अपराधियो एव नपुसको को सघ से वहिष्कृत मानने वाले भगवान् बुद्ध द्वारा उसके स्वीकार से लगाया जा सकता है। पतजलि के समय मे गणिका-सस्था प्रभावशालिनी थी और उनकी सख्या इतनी थी कि उनका सघ बन गये। गणिकाओं के सघ के लिए एक स्वतन्त्र शब्द 'गाणिक्य' प्रचलित हो गया था।[2] गणिकाओं की यह उन्नति पाणिनि के बाद और पतंजलि-युग के कुछ पूर्व हुई जान पडती है; क्योंकि न तो पाणिनि और न कात्यायन ने ही इस शब्द से अभिज्ञता प्रकट की है। पतजलि को एतदर्थ पृथक् वार्त्तिक का निर्माण करना पडा है।

---

१. महावग्ग, ६-३० तथा ८-१।

२. गणिकायाश्चेति वक्तव्यम्।—४-२-४०, पृ० १७१।

खण्ड ७

धार्मिक विश्वास, कृत्य और विचार

अध्याय ८

देवता

इन्द्र—महाभाष्यकालीन संस्कृति के यज्ञ-प्रधान होने के कारण उसमे उत्तर वैदिककालीन देवताओ का अनेक बार उल्लेख हुआ है। वैदिक साहित्य के समान ही महाभाष्य मे भी इन्द्र और अग्नि का प्रावान्य है। इन्द्र के सभी प्रसिद्ध नाम जैसे शक्र, पुरुहूत, वृत्रहन्,[1] मघवन्,[2] हरिवन्,[3] पुरन्दर[4] और महेन्द्र[5] भाष्य मे मिलते है। इनमे कही यज्ञार्थ इन्द्र का आवाहन है[6] और उससे मयूररोमा अमन्द्र अश्वो पर बैठकर आने की प्रार्थना की गई है[7] (यह वाक्य ऋग्वेद ३-४५-१ से उद्धृत है)। कही उसे दी जानेवाली बलि या हवि के प्रसग मे, जिसका नाम उसी के आधार पर रखा जाता था, उसकी चर्चा हुई है। उदाहरणार्थ, ऐन्द्र हवि या माहेन्द्र, महेन्द्रिय या महेन्द्रीय हवि उसका स्मरण कराती है।[8] पुर का विदारण करने के कारण इन्द्र का नाम पुरन्दर बतलाया गया है।[9] एक स्थान पर उसे वृत्रहा का आचरण करनेवाला कहा गया है।[10] भाष्य मे एक छोटा-सा उपाख्यान भी आया है कि इन्द्र ने प्रसन्न होकर एक वृद्ध कुमारी से वर माँगने के लिए कहा। सो उसने वर माँगा कि मेरे पुत्र काँसे के कटोरे मे खूब घी-दूध-मिला भात खायँ। किन्तु उसके पति ही नही था, पुत्र कहाँ से होते? न गाये थी और न धान्य। फिर, उसने एक ही वाक्य से पति, पुत्र, गाये, धान्य सब कुछ माँग लिया।[11]

अग्नि—इन्द्र के समान ही अग्नि का नाम भी अनेक बार आया है। वैसे भाष्य मे अग्नि का स्थान इन्द्र से बडा है। भाष्य मे कहा गया है कि प्रथम विजय अग्नि ने प्राप्त की, इन्द्र उसके बाद

---

१. १-१-३९, पृ० २४८।

२. १-२-३६, पृ० ५४१।

३. १-२-३२, पृ० ५१०।

४. ३-२-४१।

५. ४-२-२९।

६. अमन्द्रैरिन्द्रहरिभिर्याहि मयूररोमभिः।—२-२-१८, पृ० ३४९।

७. वही।

८-९. ६-३-६९।

१०. ६-४-१३, पृ० ३७८।

११. वृद्धकुमारीन्द्रेणोक्ता वरं वृणीष्व। सा वरमवृणीत। पुत्रा मे बहुघृतक्षीरमोदनं कांस्यपात्र्यां भुञ्जीरन्निति। न च तावदस्याः पतिर्भवति कुतः पुत्रा. कुतो गावः कुतो धान्यम्! तत्रानयैकेन वाक्येन पतिः पुत्रा गावो धान्यमिति सर्वं संगृहीतं भवति।—८-२-३, पृ० ३१७।

विजयी हुआ।[1] इन्द्र को श्वेतवाट् भी कहा गया है; क्योंकि श्वेत (अश्व) उसका वहन करते थे।[2]

रुद्र—रुद्र, भव, शर्व,[3] कण्ठेकाल,[4] गिरिश[5] ये रुद्र के नाम प्रचलित थे। रुद्र को पशु-बलि दी जाती थी।[6] भाष्य मे शतरुद्र का भी उल्लेख है। उन्हें दी जानेवाली हवि को शतरुद्रिय या शतरुद्रीय कहा है। शतरुद्र की पूजा पाणिनि के बाद प्रचलित हुई जान पड़ती है।[7] कण्ठेकाल मे पौराणिक विषपान की गाथा आकर जुड़ गई है और गिरिश भी शिव के कैलाशशायी होने की पौराणिक भावना की ओर सकेत करता है। भव और शर्व का उल्लेख पाणिनि ने भी किया है,[8] किन्तु पाणिनि के मृड का उल्लेख भाष्य मे नही है। त्रियम्बक या त्र्यम्बक शब्द भी, जो आगे चलकर शिव का पर्याय बन गया, भाष्य मे मिलता है।[9]

सूर्य—आदित्य, अर्क, सूर्य, सविता, पूषन् ये सूर्य के अन्य नाम मिलते है।[10] अर्क या आदित्य की उपासना इस काल मे प्रचलित हो चुकी थी और सम्भवत उसका स्वरूप वही था, जो आगे चलकर पौराणिक काल मे देखने को मिलता है। भाष्यकार ने देवपूजा के प्रसग मे अर्क और चन्द्रमा की चर्चा[11] की है तथा कही से दो श्लोक उद्धृत किये है[12], जिनका आशय है कि 'बहुत-से नासमझो मे कोई एक समझदार निकल आता है। देखो, इस वानर-सेना मे एक वानर सूर्य की पूजा करता है।' यह सुनकर दूसरा वानर कहता है—'ऐसा मत समझो कि यह समझदार है। वास्तव मे, यह हम-जैसा ही है। यह जो सूर्य की पूजा करता है जैसा दिखता है, यह इसकी वानर-चेष्टा ही है। 'सूर्य अदिति का पुत्र है और दैत्य दिति के।[13] वह देव सविता हमे श्रेष्ठ कर्म की ओर

---

१. ८-१-३५, पृ० २८९।
२. ३-२-७०, पृ० २२६।
३. ३-१-१३४, पृ० १९७।
४. २-१-६९, पृ० ३२३।
५. ३-२-१५, पृ० २१२।
६. २-२-२४, पृ० ३६६।
७. ५-२-२८, पृ० १७५।
८. ४-१-१९।
९. ६-४-७७, पृ० ४४५।
१०. ६-४-१२।
११. १-३-२५, पृ० ६४।
१२. बहूना मप्यचित्तानामेको भवति चित्तवान्।
पश्य वानर सैन्येऽस्मिन् यदर्कमुपतिष्ठते॥
मैव मंस्याः सचित्तोऽयमेषोऽपिहि यथा वयम्।
एतदप्यस्य कापेयं यदर्कमुपतिष्ठति॥—वहीं।
१३. ४-१-८५, पृ० ९५।

प्रवृत्त करें।' इत्यादि सूर्य के स्तुतिपरक वैदिक वाक्य भाष्य में उद्धृत मिलते हैं।[१] आदित्य को अर्पित की जानेवाली हवि भी आदित्य कही जाती थी।[२] आदित्य के समान ही सोम की भी पूजा प्रचलित थी।[३] सोम की हवि को सौम्य कहते थे।[४]

अन्य देवता—इनके अतिरिक्त मरुत्,[५] उषस्,[६] महाराज,[७] वरुण,[८] प्रजापति,[९] अपोनपात्[१०] या अपानपात्, विश्वेदेवा[११] और अर्यमन्[१२] के नाम महाभाष्य मे आये है। पाणिनि-सूत्रो मे सगृहीत शुनासीर, वास्तोष्पति और गृहमेध पर भाष्यकार ने कोई मत व्यक्त नही किया है। मरुत् का उल्लेख उद्धृत ऋगश के ही अन्तर्गत हुआ है।[१३] उषस् को भाष्य मे भी दिव की दुहिता कहा है।[१४] महाराज का प्रभाव पतजलि-काल मे वढ गया जान पडता है। हविर्भाक् के अतिरिक्त वे इस काल मे भक्ति के भी पात्र बन गये थे और उन्हे वलि दी जाती थी (२-१-३६ वा० २ पृ० २८८) और विष्णु एव शिव के समान उनकी भी भक्ति की जाने लगी थी।[१५] वरुण को भाष्य मे सुदेव और सत्यदेव कहा है।[१६] प्रजापति का दूसरा नाम 'क' भी प्रचलित था। पाणिनि के 'कस्येत्' (४-२-२५) सूत्र पर शका करते हुए भाष्यकार ने कहा है कि 'काय हवि.' के लिए यज्ञ मे सप्रैष किस प्रकार होगा। यदि काय शब्द मे किम् को आदेश हुआ है, तो 'कस्मै अनुब्रूहि' यह सप्रैष होगा और यदि 'काय' शब्द किम् से नही बना है, तो 'काय अनुब्रूहि' यह सप्रैष होगा। इसके उत्तर मे उन्होने कहा है कि चाहे इसे किम् का रूप मानें या न माने, हर स्थिति मे 'कस्मै अनुब्रूहि' यही सप्रैष होगा; क्योकि सर्व की सर्वनाम सज्ञा है और प्रजापति सर्व की प्रकृति होने के कारण सर्व है और प्रजापति का ही दूसरा नाम 'क' है। दूसरे वैयाकरणो के मत से 'क' सर्व और प्रजापति के पर्याय होने पर भी 'क' शब्द सर्वनाम नही हो सकता; क्योकि सज्ञा और उपसर्जन मे सर्वनाम सज्ञा नही होती।

---

१. ५-३-५५, पृ० ४५२।
२. ४-२-२४ का०।
३. १-३-२५, पृ० ६४।
४. ४-२-३०।
५. २-१-२, पृ० २६५।
६. वही।
७. २-१-३६, पृ० २८८।
८. आ० १ पृ० १०।
९. ४-१-८५, पृ० ९६।
१०. ४-२-२७, पृ० १७४।
११. ५-१-५९, पृ० ३३२।
१२. ६-४-१२।
१३. २-१-२, पृ० २६५।
१४. वही।
१५. ४ २-३५ तथा ४-३-९७।
१६. आ० १, पृ० ११।

भाष्य की इस विचारणा से यह भी पता चलता है कि प्रजापति सम्पूर्ण विश्व की प्रकृति माना जाता था।[1] अपोनपात् अपांनपात् का संप्रैष भी 'अपोनपातेऽनुब्रूहि अपानपातेऽनुब्रूहि' ही होता था और उन्हें दी जानेवाली हवि अपोनप्त्रिय और अपांनप्त्रिय कही जाती थी।[2]

देवपत्नियाँ—उपर्युक्त देवताओं में कुछ की पत्नियों और उन्हें हविष् अर्पित करने की प्रथा का भी भाष्य से पता चलता है। इनमें अग्नि की पत्नी अग्नायी, इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी, सूर्य की पत्नी सूर्या प्रमुख हैं। सूर्य की मानवी पत्नी सूरी कहलाती थी।[3] भाष्य में पञ्चेन्द्र, दशेन्द्र, पञ्चाग्नि और दशाग्नि का उल्लेख है, जिनके देवता पाँच और दस इन्द्राणी एवं अग्नायी[4] हैं। पाणिनि ने इन्द्राणी, वरुणानी, भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी, मृडानी[5] एवं वृषाकपि की पत्नी वृषाकपायी[6] का उल्लेख किया है। भाष्य ने इनकी पूजा की स्पष्ट चर्चा नहीं की है, तो भी अग्नायी और इन्द्राणी के समान इनकी भी पूजा होती होगी, इसका सरलता से अनुमान किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त अन्य स्वतन्त्र स्त्री-देवताओं में गौरी,[7] सरस्वती,[8] लक्ष्मी,[9] यमी[10] प्रमुख हैं। सरस्वती के अन्य नामों में कम्या, देवी, इडा, विहव्या और वाच्या भी मिलते हैं।[11] अम्बाडा, अम्बाला, अम्बिका शब्द आगे चलकर गौरी के पर्याय बन गये। सरस्वती की प्रसन्नता के लिए सारस्वती इष्टि की जाती थी। लक्ष्मी को भद्रा भी कहा है। लक्ष्मी का यह स्वरूप पौराणिक लक्ष्मी के समान ही है। सरस्वती, लक्ष्मी और गौरी का यह त्रिक पौराणिक युग में बहुत प्रतिष्ठित हुआ।[12]

देवयुग्म—कुछ देवताओं का निर्देश युग्म रूप में मिलता है। इनमें इन्द्राग्नी[13] अग्नीषोम,[14] मित्रावरुण,[15] अग्निविष्णू,[16] ब्रह्मप्रजापति, शिववैश्रवण,[17] स्कन्दविशाख, अग्निवरुण[18]

१. ४-२-३५, पृ० १७४।
२. ४-२-२७, पृ० १७४।
३. ४-१-४८, पृ० ६३।
४. १-१-५८, पृ० ३८०।
५. ४-१-४९।
६. ४-१-३७।
७. १-१-१९, पृ० १८९।
८. आ० १, पृ० ९।
९. आ० १, पृ० ८।
१०. ६-१-१०७, पृ० १६४।
११. ८-१-७, पृ० ३०८।
१२. ७-३-१०७, पृ० २१५।
१३. ५-१-५९, पृ० ३३२।
१४. ६३-४२, पृ० ३२८।
१५. ३-२-१७१, पृ० २७८।
१६. ६-३-२८, पृ० ३११।
१७. ६-३-२६, पृ० ३१०।
१८. ६-३-४२, पृ० ३२८।

अग्निवायू[1], वायुवरुण[2] प्रमुख है। इनमे ब्रह्मप्रजापती शिववैश्रवण और स्कन्दविशाख वैदिक युग्म नही है। वेदोत्तर काल मे इन युग्मो की पूजा प्रचलित हो गई थी। इसलिए, ये देवता-द्वन्द्व नही माने जाते थे। भाष्यकार के मत से वेद मे सहवाप-निर्दिष्ट देवता ही द्वन्द्व माने जा सकते थे। अग्निवायू आदि वेद मे सहवाप-निर्दिष्ट है, किन्तु ये नही है।[3] अग्निविष्णू का द्वन्द्व भी पाणिनि के बाद ही बना जान पडता है। पाणिनि मे उसका उल्लेख नही है, किन्तु वार्त्तिककार की दृष्टि उस ओर गई है। उनके समय मे आग्नावैष्णव चरु का निर्वाप होता था।[4] अग्निवारुणी अनड्वाही के आलम्भन की चर्चा भाष्य मे अनेक बार आई है।[5] इसी प्रकार, मित्रावरुण के लिए यज्ञ करने का बार-बार निर्देश हुआ है।[6] इन्द्राग्नि के लिए एकदशकपाल-चरु के निर्वाप का निर्देश[7] है और अग्निमरुतों के लिए अनड्वाही के आलम्भन का।[8]

पाणिनि ने इनके अतिरिक्त इन्द्रावरुण[9] का और काशिकाकार ने इन्द्रासोम, इन्द्रा-बृहस्पती,[10] इन्द्राग्नी, इन्द्रवायू और शुक्रामन्थिनौ, का उल्लेख किया है।[11]

नक्षत्र-देवता—इस समय नक्षत्रो को भी देवताओ मे मान लिया गया था और सोम, शुक्र, बृहस्पति, प्रोष्ठपदा और अभिजित् के लिए स्थालीपाक और हविष् दी जाती थी। पाणिनि ने शुक्रिय हवि का सकेत किया है।[12] भाष्य मे बार्हस्पत्य हविष् का बार-बार उल्लेख हुआ है[13] तथा आभिजित मुहूर्त्त के आभिजित स्थालीपाक का भी निर्देश मिलता है।[14] सोम से आशा की गई है कि वह अमृतत्व प्रदान कर माता-पिता के लोक तक पहुँचायेगा।[15]

नासत्य,[16] वास्तोष्पति, गृहमेध, द्यावापृथिवी, शुनासीर, मरुत्वत्[17] आदि कुछ देवताओं

---

१. ६-३-२६, पृ० ३१०।
२. ६-३-४२, पृ० ३२८।
३. ६-२-२६, पृ० ३१०।
४. ६-२-२६, पृ० ३१० तथा ६-३-२८, पृ० ३११।
५. ६-३-४२, पृ० ३२८।
६. ६-१-१०८, पृ० १६४ तथा ६-१-१२, पृ० ३५।
७. ७-३-२१ का०।
८. वही।
९. ७-३-२३।
१०. ६-२-१४१ का०।
११ ६-२-१४२।
१२. ४-२-२६।
१३. ४-१-८५, पृ० ९६।
१४. ५-३-११८, पृ० ४८१।
१५. ६-३-३३, पृ० ३११।
१६. ६-३-७५।
१७. ४-२-३२।

के नाम पाणिनि-सूत्रो मे सगृहीत हैं, यद्यपि भाष्य मे उनपर कोई मत प्रकट नही किया है। नामत्व की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। वास्तोष्पति की प्रार्थना ऋग्वेद (८-५४, ५५) मे भी मिलती है।

इस समय वायु, ऋतु, पितर, उषस् तथा अन्य कालवाची शब्द भी देवताओ की कोटि मे आ चुके थे।[१] 'कालेभ्यो यववत्' (४-२-३४) सूत्र पर पतजलि की सविस्तर व्याख्या इस बात की परिचायक है कि कलिदेव की भी पूजा होती थी और तदर्थ चरु को कालेय कहते थे (४-२-७, वा० १, पृ० १६९) तथा उनके समय मे भी पाणिनि-काल के समान इन सबकी पूजा प्रचलित थी। गो भी स्थालीपाक की देवता बतलाई गई है।[२] और इस स्थालीपाक को गव्य कहा है।

उपास्य देवता—महादेव शब्द महान् देवता और देवता विशेष दोनो अर्थों मे आता है।[३] वैश्रवण की पूजा पतजलि-काल मे बहुत बढ गई थी। पिशाचकी नाम का अर्थ स्पष्ट नही कहा जा सकता। भाष्यकार ने उन्हे पिशाचकी कहा है।[४] कुबेर, धनपति आदि उनके अन्य नाम थे। यज्ञ मे तो अंश प्राप्त होता ही था। उनके मन्दिर भी थे।[५] कृष्ण, वासुदेव और कुबेर के मन्दिरो मे सामूहिक नृत्य, गान, वाद्य आदि होते थे। उनके शयन और उत्थान का विवरण भाष्य मे मिलता है, जो रात्रि एव प्रभात वेला मे उनके मन्दिर के द्वार बन्द होने और खुलने का द्योतक है।[६] इस प्रकार, मन्दिरो मे देवताओं के शयन और उत्थान के समय आरती-पूजा की प्रथा बहुत पुरानी है। कृष्ण और बलराम के मन्दिर भी इस युग मे थे और वे देवता की कोटि को पहुँच चुके थे।[७] कृष्ण का दूसरा नाम गोविन्द व्यक्तिवाचक सज्ञा बन चुका था।[८] भाष्य मे किसी श्लोक का अवांश उद्धृत किया गया है, जिसमे सकर्षण के साथ कृष्ण का बल बढने की कामना की गई है।[९] महाराज के समान कृष्ण की भक्ति का प्रचार इस युग मे हो गया था।[१०] शिव, स्कन्द, विशाख की पूजा तो बहुप्रचलित थी।[११]

अन्नपति—अन्नपति को अन्नाद भी कहा गया है। सम्भव है, शुनासीर का यह दूसरा

---

१. ४-२-३१, ४-२-३४।
२. ४-१-८५, पृ० ९५।
३. आ० १, पृ० ६ तथा ६-१-६३, पृ० ८६।
४. ५-२-१२९, पृ० ४२२।
५. २-२-३४, पृ० ३८९।
६. ३-१-१३३, पृ० १९७।
७ ४-३-९८, पृ० २४५।
८. ३-१-१३८, पृ० १९८।
९. २-२-२४, पृ० ३६९।
१०. ४-३-९७, तथा ३-१-२६, पृ० १७५।
११. ५-३-९९, पृ० ४७९।

नाम हो। अन्नपति स्वतन्त्र देवता भी हो सकता है।[1] अन्नपति वैदिक देवता है। काल का वर्णन भी देवता के रूप मे ही भाष्य मे किया गया है। इससे सम्बद्ध कारिका भले ही भाष्यकार की न हो, पर इससे उनकी धारणा पर कोई प्रभाव नही पडता। उनके मत से काल भूतो का पचन करता है और वही प्रजाओ का सहार करता है।[2] इस प्रकार, काल वैदिक यम का ही दूसरा नाम है। निलिम्पो को भी भाष्य मे देव कहा है।[3] मोनियर विलियम्स के अनुसार ये मरुतो का एक दस्ता (Troop) थे। तैत्ति० स० और अथर्ववेद मे भी इन्हे दिव्य वर्गविशेष के रूप मे स्वीकार किया है। भाष्य मे 'शाशपास्थला देवा' (७-३-१, वा० १, पृ० १७१) भी वर्णित है, जो चैत्य-पूजा के परिचायक है। पैंगाक्षीपुत्र और तार्णविन्दव को वार्त्तिककार के समान भाष्यकार ने भी देवता माना है।[4] ये कौन थे और इनका स्वरूप क्या था, निश्चित रूप से नही कहा जा सकता।

देवासुर—देवो और असुरो और राक्षसो एव असुरो का निरन्तर वैर रहता था।[5] राक्षसासुर-वैर की बात सर्वथा नवीन जान पडती है। देवो के प्रिय या देवपूजक लोगो को समाज मे सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।[6] देवताओ की पूजा को देवदेवत्य और पितरो के श्राद्ध को पितृदेवत्य कहते थे। अतिमानवीय योनियाँ देव और पितरो मे विभक्त थी।[7] देव और पितर दोनो पृथक् योनि के प्राणी माने जाते थे। आदित्य, देवताओ की समान सज्ञा[8] थी, पर भाष्यकार ने देवो और आदित्यो मे भेद निरूपित किया है।[9] देव इन्द्रपक्षीय और आदित्य सूर्यपक्षीय माना जाता था। भाष्य मे इनके अतिरिक्त नागमाता कद्रू[10] तथा काशिका मे डाकिनी, कुण्डलिनी[11] तथा अर्च-देवता कपि, गरुड, सिंह के नाम आये है।[12] अन्तिम तीनो ध्वजाक थे।

सामान्य विश्वास था कि प्रसन्न देवता 'प्रिय' करते है। उनकी स्तुति स्तोता को वीर्य प्रदान करती है।[13]

---

१. ३-२-१, पृ० २०५।
२. ३-३-१६७, पृ० ३३९।
३. ३-१-१३८, पृ० १९८।
४. ४-२-२८, पृ० १७५।
५. ४-३-१२५, पृ० २५३।
६. ५-३-१४, पृ० ४३२।
७. ५-४-२४, पृ० ४७९।
८. ५-४-४८, काशिका।
९. ५-४-४८, का०।
१०. ४-१-७१, पृ० ७७।
११. ४-२-५१।
१२. ५-३-१००।
१३. ६-१-८, पृ० २४।

अध्याय ९

यज्ञ

याज्ञिक परम्परा का पुनरुत्कर्ष—पतजलि कर्मकाण्डी श्रोत्रिय थे, अत उनकी कृति मे यज्ञ-यागविषयक उल्लेखो का प्राचुर्य स्वाभाविक है। वे स्वय पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ मे पुरोहित थे और उसी अवसर पर उन्होने शिष्यो को अष्टाध्यायी पढाते हुए महाभाष्य का प्रणयन किया था।[1] पतजलि ने महाभाष्य मे पुष्यमित्र द्वारा यज्ञ किये जाने का दो बार सीधा उल्लेख किया है और दो बार स्वय द्वारा यज्ञ कराये जाने की चर्चा की है।[2] दूसरे, पतजलि के समय तक यज्ञशास्त्र चरम उन्नति तक पहुँच चुका था। सहिताओ और ब्राह्मण-ग्रन्थो के अतिरिक्त बहुत-से कल्प-ग्रन्थ लिखे जा चुके थे[3] और इस प्रकार स्वतन्त्र याजक-शास्त्र की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। भाष्यकार ने याजको को शास्त्रकृत् कहा है और उनकी कृतियो को शास्त्र।[4] यज्ञो के व्याख्यान-ग्रन्थो का भी उल्लेख भाष्य मे मिलता है।[5] व्याख्यान-ग्रन्थो मे उदाहरण, प्रत्युदाहरण तथा सक्षेप मे कही हुई बात का अर्थ स्पष्ट करने के लिए अध्याहृत वाक्य भी सम्मिलित रहते थे।[6]

याज्ञिक शास्त्र—याज्ञिको के आम्नाय को याज्ञिक्य कहते थे। यज्ञग्रन्थो का अध्ययन करनेवाले याज्ञिक कहलाते थे। यज्ञ-ग्रन्थो की भी याज्ञिक्य सज्ञा थी। सामान्यतया यज्ञ के अध्ययन का अर्थ यज्ञग्रन्थो का अध्ययन समझा जाता था।[7] याज्ञिक्य शास्त्र मे निष्णात व्यक्ति याज्ञिक्य मे परिगणिती कहा जाता था।[8] किन्तु, निन्दा या अवक्षेपण व्यक्त करने मे उसे याज्ञिक्य कहते थे। जैसे, इसे अपने याज्ञिक्यक का बडा गर्व हो गया है।[9] यज्ञ का वेद यजु है। उसमे प्रवीण याजुष्क कहलाता था। इसी प्रकार बर्हि-आस्तरण आदि कर्म मे प्रवीण या नियुक्त याजक को बार्हिष्क कहते थे। जो नियमित रूप से यज्ञ का अध्ययन नही करता था, उसे अग्म

---

१. ३-३-१४२, वा० १, पृ० ३३१ तथा ३-२-१२३, वा० १, पृ० २५४

२. पुष्यमित्रो यजते याजका याजयन्ति।—३-१-२६, वा० ३, पृ० ७४; ३-२-१२३, वा० १ पृ० २५४; ३-३-१४२, वा० १, पृ० ३३१।

३. कल्प. अर्थः मन्त्रः—४-३-६६, पृ० २४०।

४. याज्ञिका. शास्त्रेणानुविदधते।—वा० १, पृ० २१,

५. ४-३-६६, वा० ६, पृ० २४०,

६. वा० १, पृ० २५।

७. ४-२-६०, पृ० १८६।

८. परिगणितो याज्ञिक्ये।—२-३-३६, वा० १, पृ० ४३१।

९. अवक्षेपणे कन्—याज्ञिक्यकेनायं गर्वित।—५-३-९५, पृ० ४७८।

मे 'प्रायेण याज्ञिक' कहते थे।[1] यज्ञ के अपने और यजमान के लिए करने की दृष्टि से यज् धातु का उभयपदीय प्रयोग तथा यज्ञपात्रो से भिन्न उपयोग मे प्र तथा उप पूर्वक युज् धातु का आत्मनेपद मे प्रयोग भी इस बात का प्रमाण है कि यज्ञ के विषय मे प्रयुक्त भाषा के भी सूक्ष्म नियम बन गये थे।[2]

यजुर्वेद के प्रथम अध्याय के मन्त्रो का प्रयोग पुरोडाश के संस्कार के लिए होता है। इनकी व्याख्या करनेवाला ग्रन्थ पौरोडाशिक कहलाता था। पुरोडाश बनाने तथा उसकी आहुति देने की विधि का वर्णन जिस ग्रन्थ मे हो, उसे पुरोडाशिक कहते थे। पौरोडाशिक और पुरोडाशिक ग्रन्थो का भेद यज्ञ-सम्बन्धी अवान्तर बातो के विषय मे भी ग्रन्थ-प्रणयन के प्रति विद्वानों की रुचि का द्योतक है।[3] याज्ञवल्क्य और सौलभ ब्राह्मण-ग्रन्थो, ताण्ड्यी, माल्लवी, शाट्यायनी, ऐतरेयी आदि ब्राह्मण-ग्रन्थो के वेत्ता, अध्येता आदि लोगो, पैंगी आदि कल्पग्रन्थो तथा अनुब्राह्मणो के ज्ञाताओ का उल्लेख भाष्यकार ने किया है। उक्थ का अध्ययन करनेवाले औक्थिक और अग्निष्टोम, वाजपेय आदि यज्ञो का अध्ययन करनेवाले आग्निष्टोमिक, वाजपेयिक आदि कहे जाते थे।

याज्ञिकों की मान्यताएँ—भाष्य मे याज्ञिको के अनेक विधानो और व्यवहारो की चर्चा है। यथा (१) वेदो मे मन्त्र इस प्रकार नही मिलते कि उनका उपयोग यज्ञ मे एक या अनेक पुरुष अथवा स्त्रियाँ, जब जिस प्रसग मे चाहे, कर सकें। याज्ञिक को प्रसगानुसार उनमे लिंग या विभक्ति का परिवर्त्तन कर लेना चाहिए।[4] प्रकृति-यज्ञो के कल्पग्रन्थो मे प्रयाज-मन्त्र सविभक्तिक ही पठित[5] है, फिर भी यदि अग्न्याधान के पश्चात् यजमान उदर-व्यथा से पीडित हुआ या सवत्सर के बीच मे उसपर कोई बड़ी विपत्ति आ पड़ी, तो उसे फिर से नैमित्तिकी आधेय इष्टि करनी पडती है। इस प्रसग मे 'प्रयाजा. सविभक्तिकका कार्या' यह याज्ञिक आम्नाय[6] है। (२) आहिताग्नि को अपशब्द का प्रयोग करने पर प्रायश्चित्त के लिए सारस्वती इष्टि

---

१. २-३-१८, पृ० ४२०।

२. स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले।—१-३-७२; १-३-६४, पृ० ८४।

३. पौरोडाश पुरोडाशात् ष्ठन्—पुरोडाशाः पिष्टपिण्डास्तेषां संस्कारको मन्त्रः पौरोडाशः तस्य व्याख्यानः तत्र भवो वा पौरोडाशिकः—पौरोडाशिको। पुरोडाशसहचरितो ग्रन्थः पुरोडाशस्तस्य व्याख्यानस्तत्र भवो वा पुरोडाशिकः।—४-३-७० काशिका।

४. न सर्वैर्लिङ्गैर्न सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः। ते चावश्य यज्ञगतेन यथायथं विपरिणमयितव्याः।—आ० १, पृ० २।

५. याज्ञिकाः पठन्ति, प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्या इति।—आ० १, पृ० ६।

६. यद्यपि प्रकृतौ प्रयाजमन्त्राः सविभक्तिका एव पठ्यन्ते तथापि यज्ञाधानादन्तर यजमान उदरव्यथावान् स्यात्, यदि सवत्सरमध्ये तस्य महती विपत् स्यात् तथा नैमित्तिकी पुनराधेयोष्टिर्विधीयते। तत्रेदमाम्नातम्—प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्या इति।—शब्दकौस्तुभ।

करनी चाहिए।[1] (३) स्वर या वर्ण से दूषित शब्द का यदि यज्ञ में उच्चारण किया जाता है, तो वह मिथ्याप्रयुक्त शब्द वाछित अर्थ का बोधक न होकर वाग्वज्र बन जाता है और यजमान का नाश कर देता है। अशुद्ध उच्चारण के कारण ही 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' इस मन्त्र से इन्द्र का अभिचार करनेवाला वृत्र स्वयं नष्ट हो गया।[2] इसीलिए 'यद्वान, तद्वान' के स्थान पर 'यर्वाण- तर्वाण.' बोलनेवाले ऋषि भी, जिनका नाम ही अशुद्ध उच्चारण के कारण यर्वाण-तर्वाण पड गया था, यज्ञकाल मे इन शब्दो का विशुद्ध उच्चारण करते थे। असुर लोग यज्ञकाल मे भी अशुद्ध उच्चारण करते थे, इसीलिए वे पराभूत हो गये।[3] अत, यज्ञ कराने का अधिकारी अर्थात् आर्त्विजीन वही ब्राह्मण बन सकता है, जो मंत्र का पदश, स्वरश और अक्षरश शुद्ध उच्चारण कर सके।[4] (४) याज्ञिक शास्त्रो मे अनेक ऐसे यज्ञो का वर्णन तथा विधि सन्निविष्ट है जिनका अनुष्ठान पतंजलि के समय बन्द हो गया था, किन्तु लेखक याज्ञिक शास्त्र पर ग्रन्थ लिखते समय उन दीर्घ सत्रो का उल्लेख अपने ग्रन्थो मे करते थे। यहाँतक कि शास्त्रकार याज्ञिक सौ वर्षो या हजार वर्षो तक चलनेवाले सत्रो तक का विधान शास्त्रो मे करते थे।[5] यह ऋषि-सम्प्रदाय था। (५) याज्ञिको के मतानुसार यज्ञ करना और उसकी विधि के विवरणों को ठीक समझना तथा पूर्व श्रद्धा के साथ उसके रहस्यो को हृदयगम करना आवश्यक माना जाता था। अग्निष्टोम या नाचिकेत अग्नि का चयन ही पर्याप्त नहीं, उसके महत्त्व का जानना भी आवश्यक था। इसके लिए याज्ञिक शास्त्र का सूक्ष्म अध्ययन अपेक्षित होता है।[6] (६) किसी को दान करते या यज्ञ करते देखकर बिना पूर्ण ज्ञान प्राप्त किये उसके अनुकरण पर दान या यज्ञ करनेवाला भी अभ्युदय का भागी माना जाता है। उदाहरणार्थ, विश्वसृज् मत्र में अध्यासीन व्यक्ति को देखकर जो कोई विश्वसृज् मत्र मे अध्यासीन हो, वह भी अनुकार्य व्यक्ति के समान

---

१. याज्ञिकाः पठन्ति, आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत्।—आ० १, पृ० ९।

२. दुष्ट: शब्द: स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।—आ० १, पृ० ४।

३. यर्वाणस्तर्वाणो नामर्षयो बभूवुः—ते तत्र भवन्तो यद्वानस्तद्वान इति प्रयोक्तव्ये यर्वाणस्तर्वाण इति प्रयुञ्जते याज्ञे पुन: कर्मणि नापभाषन्ते। तैः पुनरसुरैर्याज्ञे कर्मण्यपभाषितं ततस्ते पराभूता।—आ० १, पृ० २५।

४. यो वा इमां पदश: स्वरशोऽक्षरशश्च वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति।—आ० १ पृ० ६।

५. दीर्घसत्राणि वार्षशतिकानि वार्षसहस्रिकाणि च। न चाद्यत्वे कश्चिदपि व्यवहरति। केवलमृषिसम्प्रदायो धर्म इति कृत्वा याज्ञिका शास्त्रेणानुविदधते।—आ० १, पृ० २१।

६ वेदशब्दा अप्येवमभिवदन्ति—योऽग्निष्टोमेन यजते य उ चैनमेवं वेद—योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते य उ चैनमेवं वेद।—आ० १, पृ० २३।

श्रेयोभागी होता है।[1] लोक और वेद दोनो से इस धारणा को मान्यता प्राप्त थी। (७) याज्ञिक ग्रन्थकर्त्ता वैयाकरणो के समान सज्ञाएँ नही करते थे। जिस प्रकार वैयाकरण वा, विभाषा, विकल्प, अन्यतरस्याम् या बहुलम् आदि सज्ञाओ द्वारा आदेश आदि के विषय मे विवक्षु को स्वतन्त्रता देते है, उस प्रकार याज्ञिक शास्त्र साकेतिक या सज्ञा शब्दो का आश्रय नही लेते। वे सीधी भाषा द्वारा वैकल्पिकता का विधान करते है। उदाहरणार्थ, यज्ञ मे पशु या अनड्वान् की बलि यजमान की इच्छा पर निर्भर है। वह चाहे, पशु बलि दे या न दे। याज्ञिक शास्त्र पशुबलि की अनिवार्यता का प्रतिपादन नही करते, किन्तु इस यथेच्छ चिकीर्षा के लिए वे किसी पारिभाषिक शब्द का आश्रय न लेकर 'मेध्योनड्वान् विभाषित.' कह देते है।[2] (८) सामान्यतया द्विज यज्ञ मे सक्रिय भाग लेते थे। तक्षा, अयस्कार, रजक, तन्तुवाय आदि कुछ जातियाँ भोजन पात्र से बहिष्कृत न थी, किन्तु याज्ञ कर्म से निरवसित मानी जाती थी।[3]

यज्ञो के भेद—यज्ञो को दो वर्गो—श्रौत और स्मार्त्त मे बाँटा जा सकता है। श्रौत यज्ञो मे वे बडे-बडे यज्ञ आते है, जिनके सिद्धान्तो और प्रक्रिया का वर्णन सहिताओ और ब्राह्मण-ग्रन्थो मे प्राप्त होता है। सोमयाग इस श्रेणी मे है। गृह्ययज्ञो का वर्णन गृह्यसूत्रो मे, जो स्वय स्मृति-साहित्य के अन्तर्गत है, मिलता है। अत. उन्हे स्मार्त्त यज्ञ कहते हैं। इन यज्ञो का प्रारम्भ गृह्ययज्ञो से ही हुआ था, जिन्हे धनी, निर्धन, पण्डित और सामान्य जन सभी सरलता से कर सकते थे। इनके लिए न विशेष वेदी की आवश्यकता होती थी और न पुरोहितो की। भाष्यकार ने इन यज्ञो मे निम्नलिखित का उल्लेख किया है—

पाकयज्ञ—प्रत्येक गृहस्थ प्रतिदिन पचमहायज्ञ करता था, जिनमे प्रात.-साय के अग्निहोत्र भी सम्मिलित थे। ये पाकयज्ञ कहलाते थे। इन होमो मे चरु और पुरोडाश की आहुति दी जाती थी। यवागू भी आहुति के काम आती थी।[4] इन यज्ञो को पति और पत्नी साथ-साथ करते थे, इसलिए ये पत्नी-सयाज कहलाते थे।[5] पत्नी-सयाज त्रिवर्ण ही करते थे और यज्ञ-सयोग

---

१. लोके य एवमसौ ददाति य एवमसौ यजते य एवमसावधीते इति तस्यानुकुर्वन् दद्याच्च यजेत वाधीयीत च सोऽप्यभ्युदयेन युज्यते। वेदेऽपि य एवमसौ विश्वसृजः सत्राण्यध्यासत इति तेषामनुकुर्वन् तद्वत्सत्राण्यध्यासीत सोऽप्यभ्युदयेन युज्यते। —आ० २, पृ० ४८।

२. याज्ञिकाः खल्वेपि सज्ञामनारभमाणा विभाषेत्युक्ते नित्यत्वमवगच्छन्ति, तद्यथा मेध्यः पशुर्विभाषितो मेध्योऽनड्वान् विभाषित इति। आलब्धव्ये नालब्धव्य गम्यते। —१-१-४४, आ० १९, पृ० २६।

३. याज्ञात्कर्मणो निरवसितानाम्—एवमपि तक्षायस्कारम् रजकतन्तुवायमिति न सिध्यति। —२-४-१०, पृ० ४६५।

४. यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति। —२-३-३, पृ० ४०।

५. पत्नीसयाज इति यत्र यज्ञसयोगः। सर्वेण च गृहस्थेन पञ्चमहायज्ञा निर्वर्त्याः। यच्चाद. प्रात सायं होमचरुं पुरोडाशान्निर्वपति तत्यासावीष्टे। —४-१-३३, पृ० ५०-५१।

के कारण ही भार्या पत्नी-पद की अधिकारिणी होती थी। यज्ञाधिकारी न होने के कारण शूद्र की भार्या पत्नी नहीं कही जा सकती थी।[1]

पाकयज्ञ[2] गृहस्थ के दैनिक कर्त्तव्यों के अग थे और गार्हपत्य अग्नि में किये जाते थे। पाकयज्ञ अत्यन्त संक्षिप्त होते थे, जिनके लिए ऋत्विजों की आवश्यकता नहीं होती थी।

प्रात:-साय अग्निहोत्र भी पाकयज्ञों के ही अग थे। दर्श और पौर्णमास यज्ञ भी पाकयज्ञ-प्रकृतिक माने जाते थे। इनमे प्रयाज, अनुयाज और सामधेनिक विधि की आवश्यकता नही होती थी। केवल उक्त विधियों के मन्त्रो के अन्त मे स्वाहा जोडकर दक्षिणाग्नि मे पकाये हुए ओदन, खीर, दधि, घृत या दुग्ध की आहुतियाँ दी जाती थी।[3]

गृह्य अग्नि मे वैश्वदेव यज्ञ भी किये जाते थे, जो पाकयज्ञों के ही अन्तर्गत थे। इससे सिद्ध या पकाये हुए हविष्य से आहुतियाँ दी जाती थी और अवशिष्ट हविष्य वलि के काम आता था।[4] वलि मे प्रयुक्त होनेवाले तण्डुल वालेय कहे जाते थे। भाष्य मे उन्हे गुणान्तर-युक्त, अर्थात् सस्कारयुक्त कहा है।[5] वलि का हविष्य व्यजनो से उपसिक्त रहता था। वैश्वदेव मे प्रयुक्त अन्न को विघस कहते थे।[6] द्राह्यायण गृह्यसूत्र मे गृह के भीतर या वाहर चार, मणिक देश (पानी रखने का स्थान) मे एक, घर के मध्य मे एक, गर्भगृह के द्वार पर एक, शय्या के पीछे एक, घूरे या अवस्कर के पास एक, खूंटे या पशु बाँधने के स्थान मे एक, इस प्रकार दस वलियाँ रखने का विधान है। पितर, रुद्र ये वलि-देवता हैं।[7] भाष्यकार ने महाराज की वलि का भी उल्लेख किया है। काशिका मे कुवेर-वलि की भी चर्चा है।[8]

---

१. पत्युर्नो यज्ञसंयोगे। —४-१-३३।

२. नवयज्ञोऽवर्त्ततेऽस्मिन् काले नावयाज्ञिकः पाकयज्ञिकः। —४-२-३५, वा० १, पृ० १७६।

३. गृह्याग्नौ पाकयज्ञान् विहरेत्, ह्रस्वात्-पाकयज्ञो हि स्वयंपाक इत्याचक्षते ३ दर्शपौर्णमासप्रकृति. पाकयज्ञविधिः अप्रयाजानुयाजोऽसामधेनिकः स्वाहाकारन्ते निगद होमा। परतन्त्रोत्पत्तिर्दक्षिणाग्नावाहिताग्निर्गोमयेन गोचर्म पात्रं चतुरस्रं वास्यण्डिलमुपलिप्येषु-पात्रं, तस्मिन् लक्षणं कुर्वीत 'सत्य सदसीति' पश्चार्धादुदीचीं लेखां लिखेत्। —वाराह गृह्यसूत्र, २१-१से ४।

४. हविष्यं वा सिद्धस्य वैश्वदेव'। अग्नये सोमाय, प्रजापतये धन्वतरये वास्तोष्पतये विश्वेभ्यो देवेभ्योऽग्नये स्विष्टकृते च जुहुयात्-अवशिष्टस्य वलिं हरेत्। —वारा०, गृ० सू०, २०-३, ४।

५. वालेयास्तण्डुलाः, गुणान्तरयुक्ता हि तण्डुला वालेयाः। —५-१-१३, पृ० ३०४, ३०४।

६. विघसः उपसर्गेऽद'। —३-३-५९ का०।

७ वलीन्नयेन्-र्वहिरन्तर्वाचतुर्निधाय मणिकदेशे मध्ये द्वारि-शय्यामनु वर्चेत—अर्थ सस्तूपम्-शेषमद्भि' सार्वदक्षिणा, पृथ्वी वायु. प्रजापतिः विश्वेदेवा आप ओषधिर्वनस्पतय आकाश. कामो मन्युर्वा रक्षोगणानि नयेत-पितरो रुद्र इति वलिदेवतानि। —द्राह्या० गृ० सू०, १-५-२२ से २३।

८. चतुर्थी तदर्थार्थवलिहितसुखरक्षितै-कुवेरवलिः महाराजवलि। —२-१-३६ का० तथा यो हि महाराजाय वलिर्दीयते महाराजार्थः स भवति। —वही, पृ० २८८।

दर्श - पौर्णमास - विहार
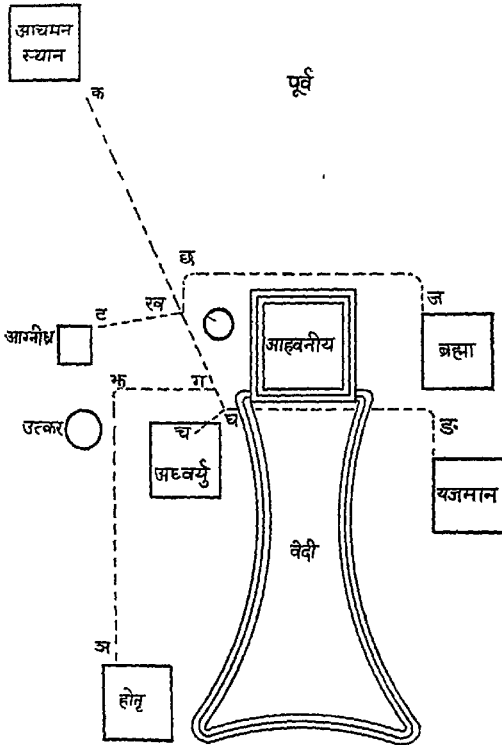
क ख ग घ ङ यजमान सञ्चर के सूचक है
क ख ग घ च अध्वर्यु ,, ,,
क ख छ ज ब्रह्मा ,, ,,
क ख ग झ ञ होतृ ,, ,,
क ख ट आग्नीध्र ,, ,,
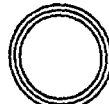
दक्षिणाग्नि

पत्नी

पाकयज्ञो मे गृह्यसूत्रकारो ने स्वयहोत्र का विधान किया है। कुछ आचार्यों के मत से पत्नी ही आहुति देती थी; क्योकि पत्नी का दूसरा नाम गृह भी है और उसी के नाम पर इस अग्नि का नाम गृह्य पडा था।[1] गृह्याग्नि को ही एकाग्नि भी कहते थे। उसमे हवन करनेवाले भी एकाग्नि कहलाते थे।[2]

नवयज्ञ—विना यज्ञ किये नया अन्न खाना निषिद्ध था, इसलिए नई फसल तैयार होने पर प्रत्येक गृहस्थ उससे हवन कर तव नवान्न ग्रहण करता था। नवान्न का यह होम नवयज्ञ कहलाता था। शरद की पूर्णिमा या अमावास्या को व्रीहि से और वसन्त मे यव से नवयज्ञ किया जाता था। इसमे इन्द्र और अग्नि देवता के लिए पायस तैयार कर आहुति दी जाती थी। नवयज्ञ पाकयज्ञ के अन्तर्गत था।

दर्श-पौर्णमास—ये इष्टियाँ भी पाकयज्ञ के ही अन्तर्गत मानी जाती थी। भाष्य के अनुसार जिसके द्वारा यज्ञ किया जाय अथवा जिसके द्वारा कोई कामना की जाय, उसे इष्टि कहते है।[3] जिस काल मे सूर्य और चन्द्रमा साथ रहते हैं, उसे दर्श कहते है और जिस समय चन्द्रमा सब कलाओ से पूर्ण हो जाता है, उसे पौर्णमास कहते है। दर्श और पौर्णमास को की जानेवाली इष्टियाँ भी इसी नाम से प्रसिद्ध थी।

चातुर्मास्य यज्ञ—भाष्यकार ने चातुर्मास्यो का उल्लेख चार-चार मास मे किये जानेवाले यज्ञो के रूप मे किया है। इनको यज्ञो का अनुष्ठान करनेवाला चातुर्मासिक या चातुर्मासी कहलाता था।[4] आश्वयुजी पौर्णमासी का भी नाम चातुर्मासी था। इस दिन रुद्र देवता को पायस या पृपातक की आहुति दी जाती थी।[5] पृपातक दूध मे घी मिलाकर तैयार किया जाता था।[6]

चातुर्मास्य तीन माने जाते थे—वैश्वदेव, वरुण प्रघास और साकमेघ। वैश्वदेव फाल्गुनी या चैत्री पूर्णमासी को निष्पन्न होता था। वरुण प्रघास आषाढी और साकमेध कार्त्तिकी पूर्णिमा के दिन होता था।

अष्टका—भाष्यकार ने अष्टका को पितृदैवत्य कहा है।[7] प्राय. सभी गृह्यसूत्रो मे इसका सविस्तर वर्णन मिलता है। पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार मार्गशीर्ष की पौर्णमासी को आग्रहायणी कर्म होता था और इसके वाद तीन पित्र्या अष्टकाएँ होती थी, जो क्रमश ऐन्द्री, वैश्व-

---

१. पत्नी जुहुयादित्येके। गृहाः पत्नी गृह्योऽग्निरेष इति।—वही १-५-१७, १८।

२. १-२-२४, वा० ३, पृ० २१६।

३. इज्यतेऽनयेतीष्टिः—इष्यतेनयेतीष्टिः।—३-३-९५, वा० ३, पृ० ३१३।

४. अमावास्येनं हविषा पूर्वपक्षमभियजते पौर्णमासे नापरपक्षम्।—गोभिल गृ० सू०, प्रपा० १, कं० ५, सू० ६।

५. आश्वयुजी रुद्राय पायसः।—द्राह्या० गृ० सू०, चातु० प्रकरण, ३-३-१।

६. पयस्यवनेत् आज्यं तत्पृषातकम्।—वही, ३-३-३।

७. अष्टकापितृदैवत्ये उपसंख्यानं कर्त्तव्यम्—पितृदैवत्य इति किमर्थम्—अष्टिकाखारी।—७-३-४५, वा० ९, पृ० १९०।

दैवी और प्राजापत्य कहलाती थी।[1] द्राह्यायण गृह्यसंहिता के अनुसार आग्रहायणी के बाद की तीन तामिस्र अष्टमियाँ ही ये अष्टकाएँ थीं। इनमें हवि के लिए स्थालीपाक तैयार किया जाता था। प्रथम अष्टका में आठ अपूप भी 'अष्टकाएँ स्वाहा' इस मन्त्र द्वारा अग्नि में चढ़ाये जाते थे। अन्तिम अष्टका में शाक और मध्यम में गौ की आहुति दी जाती थी। पित्र्य होम 'वह वपाम्' इत्यादि मन्त्र द्वारा होता था और 'दैवत्य जातवेद' इत्यादि मंत्र द्वारा। इसके लिए पुरोहित की आवश्यकता होती थी और पशुहोम में उसकी दक्षिणा पशु ही होता था।[2] अष्टका एकविंशतिगस्य होम था।[3]

अग्निहोत्र का अर्थ—अग्निहोत्र के सम्बन्ध में भाष्य में और भी विवरण मिलते हैं। उदाहरणार्थ, भाष्यकार के मत में अग्निहोत्र शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। उसका एक अर्थ ज्योति है, क्योंकि अग्निहोत्र प्रज्वलित करता है, यह प्रयोग लोग करते हैं। दूसरा अर्थ हवि है। इसीलिए, 'अग्निहोत्र जुहोति' यह वाक्य सार्थक होता है। जुहोति का प्रयोग प्रीणन और प्रक्षेपण दोनों अर्थों में देखा जाता है। 'यवाग्वाऽग्निहोत्र जुहोति' के दोनों अर्थ होते हैं—यवागू अग्नि को प्रसन्न करती है और यवागू हवि अग्नि में है।[4] इससे यवागू का हवि के रूप में व्यवहार स्पष्ट है, भले ही कौशिक गृह्यसूत्र में उसका उल्लेख न हो।

पंचावत्ती—भाष्यकार ने जामदग्न्यों को पचावत्ती कहा है। पचम अवदान सर्वप्रथम जमदग्नि ने किया था, इसलिए जामदग्न्य गोत्रवालों को छोड़कर अन्य कोई पचावत्त हवन नहीं करता।[5] अन्य लोग चतुरवत्त याग करते हैं। रखी गई हवि में से होमपरिमित भाग को काटकर अलग करना अवदान कहलाता है। चतुरवत्त में अध्वर्यु आज्य ने स्रुव द्वारा जुहू में एक बार आज्य लेकर होता को अनुवाक्या पढ़ने के लिए 'अनुब्रूह्यन्त' मन्त्र से मप्रेप देता है। इस क्रिया की आवृत्ति तीन बार होती है। जिस यजमान के यज्ञ में इस प्रकार चार बार आज्यावदान होता है, वह चतुरवत्ती कहा जाता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में जामदग्न्य, वत्स, विद, अवार्ष्टिषेण, भार्गव, च्यावन, और्व ये पचावत्ती कहे गये हैं।[6]

---

१. मार्गशीर्ष्या पौर्णमास्यामाग्रहायणीकर्म ऊर्ध्वमाग्रहायण्यास्तिस्रोऽष्टका' ऐन्द्री वैश्वदेवी प्राजापत्या पित्र्येति। —३-३-१, २।

२. ऊर्ध्वमाग्रहायण्यास्तिस्रस्तामिस्राष्टम्योऽष्टकाइत्याचक्षते—तासुस्थालीपाका-आष्टौ चापूपाः प्रथमायाम्-तानपरिवर्त्तयन् कपाले श्रपयेत्—अष्टकायै स्वाहेति जुहुयात्—उत्तमायां शाकम्-स्वाहार्यें-मध्यमाया गौ।—३-३-२७ से ३२ तथा ३-४-१ वहवपामिति पित्र्यवपा होम—जातवेद इति दैवत्ये-पशुरेव पशोर्दक्षिणा।—३-४-२६, २७, ३०।

३. अष्टकायामष्टका होमान्जुहुयात्तस्यां हवींषि धाना. करम्भः शष्कुल्य पुरोडाश उदोदनः क्षीरोदनस्तिलोदनो यथोपपादि पशु.।—१४-१३८-२, ४।

४. अयमग्निशब्दोऽस्त्येव ज्योतिषि वर्त्तते—तद्यथाऽग्निहोत्रं ज्वलयति। अस्ति हविषि वर्त्तते—तद्यथाऽग्निहोत्रं जुहोति। जुहोतिश्चाप्यस्त्येव प्रक्षेपणे वर्त्ततेऽस्ति प्रीणात्यर्थे वर्त्तते। यवाग्वाग्निहोत्र जुहोति, अग्निं प्रीणाति, यवागू हविरग्नौ प्रक्षिपति। —२-३-३, पृ० ४०६।

५. जमदग्निर्वा एतत्पञ्चममवदानमावद्यत्तस्माज्जामदग्न्य पञ्चावत्तं जुहोति।—१-१-४४, वा० १७, पृ० २६४।

६. श्रौ० प० नि०, पृ० ३९।

पचौदन सव—भाष्य मे पचौदन सव का उल्लेख है।[1] यह सवनेष्टि का पर्याय है। सवनेष्टि भी पाकयज्ञो का अग है, जिसमे अग्नि को अष्टाकपाल पुरोडाश, इन्द्राग्नि को एकादश-कपाल पुरोडाश और विश्वेदेवो को द्वादशकपाल पुरोडाश की हवि दी जाती है। पचौदन सव मे ओदन की पाँच विशेष आहुतियाँ दी जाती थी।[2]

पाकयज्ञो के नाम उनमे दी जानेवाली मुख्य आहुति के आधार पर भी रखे गये थे। उदाहरणार्थ, जिन यज्ञों मे मोदक या शष्कुली प्रमुख होती थी, वे मौदकिक या शाष्कुलिक कहे जाते थे।[3]

इन्द्रमह गगामह और कशेरुयज्ञ—ये सम्भवत सामान्य पाकयज्ञ थे[4], जो वैदिक न होकर लोक-परम्परा पर आश्रित थे। श्रौत या गृह्यसूत्रो मे इनका विवरण नही है। इन यज्ञो मे सम्बद्ध देवताओ के लिए विशिष्ट आहुतियाँ दी जाती थी और उत्सव, गीत तथा रात्रि-जागरण किये जाते थे।

श्रौतयज्ञ—श्रौतयज्ञ वे है, जिनका विधान सहिताओ और व्याख्या-ग्रन्थो मे मिलता है। इनमे कुछ तो सवात्मक यज्ञ है और कुछ सामान्य। भाष्य मे शत, सहस्र वर्षो तक चलने-वाले यज्ञो की चर्चा है।[5] ये दीर्घ सत्र कहलाते थे। विश्वसृज् या प्रजापति का यज्ञ भी दीर्घकाल तक चलने के कारण सत्र की कोटि मे आता था।[6] विश्वसृज् सत्र सहस्र सवत्सर का था।[7] दीर्घ सत्रो मे कुछ तो श्रोत्रिय लोगो द्वारा आत्मकल्याणार्थ किये जाते थे और कुछ राजाओ या धनिक यजमानो के लिए। इन दीर्घ सत्रो मे होनेवाली क्रिया या वस्तु दार्घसत्र कहलाती थी।[8] दीर्घ-सत्र सामान्यतया अप्रयुक्त थे। केवल ग्रन्थो मे उनका विधान रह गया था।[9]

हवि की दृष्टि से यज्ञो के दो भाग थे—यज्ञ और क्रतु। क्रतु विशिष्ट यज्ञ थे, जिनमे सोम की आहुति की जाती थी।[10] जिन क्रतुओ का विधान अध्वर्यु वेद मे मिलता है, वे अध्वर्युक्रतु कहलाते थे। क्रतु शब्द सामान्यतया सोमयज्ञो मे रूढ था। पाणिनि ने कुण्डपाय्य और सचाय्य क्रतुओ का उल्लेख किया है। कुण्डपाय्य क्रतु मे कुण्ड (पात्र) द्वारा सोमपान किया जाता था।

---

१. अयं मे पञ्चौदनः सवः। —३-३-३६, वा० ४, पृ० ३०६।

२. श्रौ० प० निर्व०, पृ० १४४।

३. मोदकाः प्रकृता अस्मिन् यज्ञे मौदकिको यज्ञः, मोदकमयः, शाष्कुलिको, शष्कुलीमयः।—५-४-२३ का०।

४. इन्द्रमहार्थमैन्द्रमहिकम् गाङ्गामहिकम्, काशेरुयज्ञिकम्।—५-१-१२, वा० १,२, पृ० ३०२, ३०३।

५. दीर्घसत्राणि, वार्षशतिकानि वार्षसहस्रिकाणि च। —वा० १, पृ० २१।

६. वेदेऽपि य एव विश्वसृजः सत्राण्यध्यासत इति। —आ० २, पृ० ४८।

७ सहस्र संवत्सरं विश्वसृजाम्। —कात्या०, २४-५-२४।

८. दीर्घसत्रे भवं दार्घसत्रम्। —७-३-१।

९. अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्।—आ० १, वा० ४, पृ० २१।

१०. क्रतुः शब्दः सोमयज्ञेषु रूढः। —२-४-४ का०।

यह द्वादशाह क्रतु की विकृति है और वर्ष-भर चलता है। संचाय्य संज्ञा सोम का सचयन किये जाने के कारण थी।[1] अर्क, अश्वमेध, सायाह्न, अतिरात्र आदि अध्वर्यु क्रतु थे। राजसूय, वाजपेय भी अध्वर्युक्रतु थे। दर्श पौर्णमास का विधान अध्वर्यु वेद मे है, पर वे क्रतु नही थे।[2] क्रतुओ मे अग्निष्टोम, वाजपेय और राजसूय सर्वाधिक सिद्ध जान पडते हैं। इन्ही तीन यज्ञो के व्याख्यान-ग्रन्थो की चर्चा भाष्य मे दो बार हुई है।[3]

अग्निष्टोम—अग्निष्टोम यज्ञ करना और उसे आस्थापूर्वक ठीक समझना अभ्युदयकारी माना जाता था।[4] अग्निष्टोमयाजी विशेषण सम्मानार्थ प्रयुक्त होता था।[5] अग्निष्टोम का प्रारम्भ वसन्त मे होता था। वासन्तिक अग्न्याधान ब्राह्मण का कर्त्तव्य माना जाता था।[6] अग्न्याधान यज्ञारम्भ की प्रतिपत्ति के लिए था। कात्यायन श्रौतसूत्र मे अग्निष्टोम का प्रारम्भकाल वसन्त ही बतलाया गया है।[7] इसके तीन भेद हैं—एकाह, अहीन और सत्र। जिसमे सुत्याकर्म एकाह साध्य होता है, वह एकाह और जिसमे दो, तीन से बारह दिन तक सुत्याकर्म चलता है,वह अहीन तथा जिनका पक्ष, मास, सवत्सर और इस प्रकार सहस्र वर्ष तक अनुष्ठान चलता है वह सत्र कहलाता है। कुछ लोगों के मत से यहाँ सवत्सर शब्द दिन के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।[8]

अग्निष्टोम सम्पूर्ण श्रौतयागो की प्रकृति है। यह सबसे सरल एव सर्वाधिक प्रचलित था। इसमे सोलह ऋत्विज् होते थे। अग्नि को एक छाग की बलि दी जाती थी और बारह स्तोत्रो का उपयोग होता था। प्रात. सवन में बहिष्पवमान और चार आज्य-स्तोत्रो; मध्याह्न सवन मे माध्यन्दिन पवमान और चार पृष्ठ-स्तोत्रो तथा साय सवन मे तृतीय या आर्भव पवमान और अग्निष्टोम साम का प्रयोग होता था। अग्निष्टोम साम के प्रयोग के ही कारण इसे अग्निष्टोमसस्थ क्रतु कहते हैं।

तुरायण—तुरायण की प्रकृति पौर्णमास यज्ञ है। यह एक वर्ष तक चल सकता था। शाखायन ब्राह्मण मे इसे 'स्वर्गकामस्य यज्ञ' कहा है।[9] कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार यह सत्र है और वैशाख या चैत्र शुक्ल-पचमी को प्रारम्भ होकर वर्ष-भर चलता है। भाष्यकार ने

---

१. क्रतौ कुण्डपाय्यसंचाय्यौ।—३-१-१३०।—तथा का०।

२. काशिका, २-४-४।

३. ४-३-६६, वा० ६, पृ० २४०।

४. योऽग्निष्टोमेन यजते य उ चैनमेव वेद।—आ० १, पृ० २२।

५. अग्निष्टोमयाजी।—३-४-१, वा० २, पृ० ३४१।

६. लोके वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत।—वेदे खल्वपि वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निष्टोमादिभि क्रतुभिर्यजेतेत्यग्न्याधाननिमित्त वसन्ते वसन्त इष्यते—वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीतेत्यग्न्याधान यज्ञमुखप्रतिपत्त्यर्थम्।—६-१-८४, वा० ४, ५ पृ० ११६, ११७।

७. कात्या० श्रौ० सू०, ७-१-४।

८. मीमांसादर्शन, अ० ६, पा० ७, अधि० १३, सू० ३१-४०।

९. शाखा० ब्रा०, ४-११।

अग्निष्टोम यज्ञ-विहार
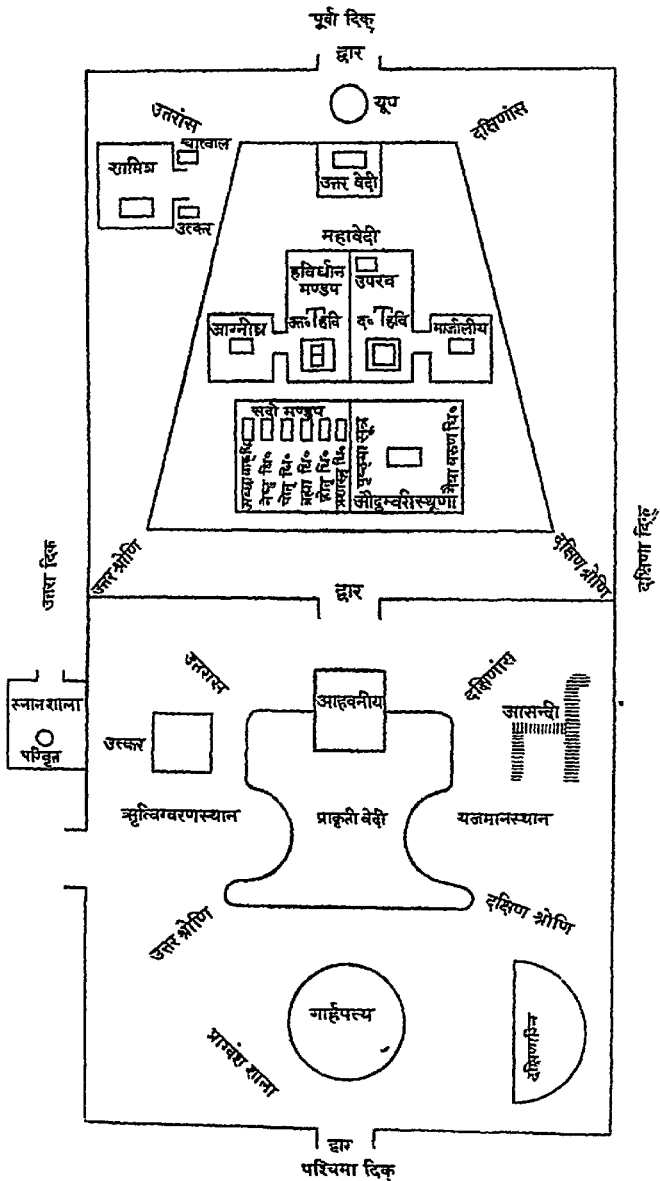
कहा है कि यद्यपि यज्ञ करनेवाला यजमान और चरु पुरोडाश तैयार करनेवाले ऋत्विज् दोनों तुरायण का वर्त्तन (तैयारी) करते है, फिर भी ऋत्विज् को तौरायणिक कहने की प्रथा नही है।[1] यजमान तौरायणिक कहलाता है।

राजसूय—अग्निष्टोम के समान राजसूय का उल्लेख भी भाष्य मे कई वार हुआ है।[2] काशिकाकार ने कहा है, जिसमे राजा (सोम) का सवन होना चाहिए, अथवा राजा का सवन होता है, उसे राजसूय ऋतु कहते हैं।[3] राजसूय विशुद्ध सोम-यज्ञ नही था, अपितु अनेक यज्ञो की ससृष्टि से युक्त लगभग दो साल से भी अधिक काल मे समाप्त होनेवाला जटिल याग था। यह अनेक इष्टियो, सोमयज्ञो और पशुमेधो का समवाय था। लाट्यायन के अनुसार केवल क्षत्रिय इसका अधिकारी था।[4] मीमासा के शावरभाष्य मे काशिका और लाट्यायन दोनो मतो का समन्वय मिलता है।[5] कुछ लोगो के मत से राजसूय वही कर सकता था, जिसने वाजपेय न किया हो।[6] कुछ लोगो के मत से वाजपेय कर लेने के बाद व्यक्ति इसका अधिकारी माना जाता था।[7] शतपथब्राह्मण मे कहा है कि राजसूय करनेवाला राजा और वाजपेय करनेवाला सम्राट् होता था।[8] इससे वाजपेय का स्थान उच्चतर मालूम होता है। भाष्य मे भी यज्ञो के प्रसग मे सर्वत्र अग्निष्टोम, राजसूय और वाजपेय का क्रमिक ही उल्लेख हुआ है, जो शतपथ के अनुकूल है। राजसूय मे यजमान को फाल्गुन शुक्ल प्रतिपद् के दिन पवित्र-सज्ञक सोमयज्ञ की दीक्षा लेनी पड़ती थी, जिसकी प्रक्रिया अग्निष्टोम के ही समान है।[9] इसके एक वर्ष बाद अभिषेचनीय विधि होती थी। अभिषेचनीय इस यज्ञ का सबसे महत्त्वपूर्ण अग माना जाता था।[10] यज्ञारम्भ होने के लगभग १५ दिन बाद फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा को अनुमति की इष्टि की जाती थी, जिसमे अनुमति को पुरोडाश हवि दी जाती थी।[11] इसके बाद वैश्वदेव, वरुण प्रघास और साकमेघ नामक चातुर्मास्यो का प्रारम्भ हो जाता था और अगली फाल्गुन शुक्ल अमावस्या को शुनासीरीय प ` के साथ उनकी समाप्ति होती थी।

---

१. यस्तुरायणेन यजते स तौरायणिक इत्युच्यते—यश्च यजते यश्च चरुपुरोडाशान्निर्वपति उभौ तौ वर्त्तयतः। उभयत्र कस्मान्न भवति? अनभिधानात्।—५-१-७२, वा० २, पृ० ३३७।

२. ४-३-६६, वा० ६, पृ० २४०; ५-१-९५, पृ० ३४२।

३. राजा सोतव्यः राजा वा इह सूयते राजसूयः क्रतुः।—काशि० ३-१-११४।

४. राजा राजसूयेन सूयेत्।—लाट्या० श्रौ० सू०, ९-१-१।

५. राजा तत्र सूयते तस्माद् राजसूयः। राज्ञो वायज्ञो राजसूयः।—मीमां०शावर भा०, ४-४-१।

६. कात्या०, २५-१-२।

७. आश्व०, ९-९-१९।

८. शत०, ब्रा० ९-३-४-८।

९. लाट्या० ९-१-२; आश्व०, ९-३-२; कात्या०, १५-१-६।

१०. लाट्या० ९-१-४।

११. कात्या० १५-१-९ तथा आप० १८-८-१०।

इसके बाद छोटे-मोटे अनेक कृत्य, जिनमे पञ्चावत्तीय और अपामार्ग होम भी सम्मिलित है, होते थे।[1] बारह दिनो तक 'रत्निना हवीषि' होती थी, जो रत्नियो (सेनापति, पुरोहित आदि विशिष्ट राज्याधिकारी) के घर दी जाती थी।[2] चैत्र के प्रथम दिन अभिषेचनीय विधि होती थी। अभिषेचन के लिए पुरोहित सत्रह उदुम्बर-पात्रो मे सत्रह प्रकार का जल लाता था, जो अनेक याज्ञिक विधियों के बाद राजा पर डाला जाता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सब इस जल से राजा का अभिषेचन करते थे।[3] अभिषेचनीय के बाद दस दिन तक 'संसृपा हवीषि' दी जाती थी।[4] अंतिम दिन दशपेय (सोमपान) कृत्य होता था।[5] यही अवभृथस्नान का दिन था। इसके एक वर्ष बाद तक राजा को देवव्रतो का पालन करना पडता था।[6] इन व्रतो की समाप्ति केशवपनीय विधि से होती थी। इस समय यजमान के साल-भर से बढे हुए केशो का वाप होता था।[7] इसके बाद व्युष्टि द्विराज और क्षत्रधृति यज्ञ होते थे।[8] इनके साथ ही राजसूय की समाप्ति हो जाती थी, यद्यपि इसके एक मास बाद सौत्रामणि इष्टि करनी पडती थी।

वाजपेय—अग्निष्टोम और राजसूय के साथ वाजपेय का भी उल्लेख भाष्य मे कई स्थानो पर मिलता है। वाजपेय के कई अर्थ हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार सोम का नाम वाजपेय है और अन्न का भी। यह शक्ति का पेय है। इससे देवो को शक्ति प्राप्त हुई।[9] शाखायन श्रौतसूत्र के अनुसार अन्न को वाज और पान को पेय कहते है। इन दोनो की प्राप्ति के लिए वाजपेय करना चाहिए।[10] सत्रह की संख्या इसकी एक विशेषता है। आपस्तम्ब और ताण्ड्य-ब्राह्मण दोनो के अनुसार इसमे सत्रह स्तोत्र और सत्रह ही शस्त्र हैं। इसमें प्रजापति के लिए सत्रह पशुओं की बलि का विधान है। सत्रह वस्तुएँ ही दक्षिणा मे दी जाती हैं।[11] वाजपेय का यूप भी सत्रह अरत्नि लम्बा होता था, जिसे परिवृत करने के लिए वस्त्र के सत्रह टुकडे काम मे लाये जाते थे।[12] सत्रह दिन तक यह यज्ञ चलता था, जिनमे १३ दिन दीक्षा के, तीन दिन उपसद के तथा

---

१. आप० १८-९-१०, ११, १५-२०।

२. वही, १८-१०।

३. वही, १८-१६-३, ५।

४. वही, १८-२०-७ तथा कात्या० १५-८-१ से ४।

५. लाट्या० ९-२१, कात्या० १५-८-१४।

६. लाट्या० ९-२-१७।

७. आश्व० ९-३-२४

८. वही, ९-२-२५।

९. वाजाप्यो वा एष. वाज ह्येतेन देवा। ऐप्सन् सोमो वै वाजपेय। —तैत्ति०ब्रा०, १-३४२।

१०. पानं वै पेय। अन्न वाजः। पान वै पूर्वमथान्नम्। तयो रुभयोराप्त्यै। शांखा० श्रौ० सू०, १५-१-४ से ६।

११. आप० १८-१-१२; ताण्ड्य १८-७-५।

१२. आप० १८-१-१२।

एक दिन सुत्या के लिए था। एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी थी कि इसमें प्रजापति को सत्रह सुरा के तथा सत्रह सोम के (चमस) पात्र चढाये जाते थे और सत्रह अश्वरथों की दौड होती थी, जिसका प्रारम्भ वेदी की उत्तर श्रेणी मे रखी गई सत्रह दुन्दुभियाँ बजाकर किया जाता था[1] वाजपेय आधिपत्य, समृद्धि या स्वाराज्य की प्राप्ति के उद्देश्य से किया जाता था[2] और ब्राह्मण या क्षत्रिय ही इसके अधिकारी थे, वैश्य नही।[3] इसका अनुष्ठान-काल शरद था।[4]

सौत्रामणि—भाष्यकार ने आक्षेप-भाष्य मे प्रमत्तगीत कहकर एक श्लोक उद्धृत किया है, जो सौत्रामणि यज्ञ मे ताम्रवर्णी घटियो मे रखकर सुरा पीने की ओर संकेत करता है।[5] सौत्रामणि शब्द सूत्रामन् से बना है, जिसका अर्थ है सम्यक् रक्षा करनेवाला। ऋग्वेद सूत्रामन् इन्द्र का विशेषण है। यह सोमयज्ञ नही, अपितु इष्टि और पशुमेध का मिश्रण है।[6] सुरा की आहुति इस यज्ञ की मुख्य विशेषता है। इस यज्ञ की अवधि चार दिन की होती है, जिनमे प्रथम तीन दिन तक विभिन्न वस्तुओ से सुरा बनाई जाती है और चतुर्थ दिन तीन पात्र दुग्ध और तीन पात्र सुरा तथा पशुमास से अश्विनो, सरस्वती तथा इन्द्र को आहुति दी जाती है। कात्यायन-भाष्य मे बतलाया गया है कि सर्ज की छाल, त्रिफला, सोठ, पुनर्नवा, चतुर्जातक-युक्त पिप्पला, गजपिप्पली, वंश, अवका, बृहच्छत्रा, चित्रक, इन्द्रवारुणी, अश्वगन्धा, धान्यक, यवानी, जीरक, कालाजीरा, दो हलदी की गाँठें, गुर्च, व्रीहि और यव के अकुर ये सब वस्तुएँ सुरा मे डाली जाती हैं।[7]

अश्वमेध—अश्वमेध सर्वाधिक प्राचीन यज्ञो मे है। भाष्यकार ने अश्वयूप का उल्लेख किया है।[8] आश्वलायन का मत है कि जो राजा सब कामो की पूर्त्ति तथा सर्वविजय चाहे, वह

---

१. वही, १८-४-४ से ७।

२. कात्या० १४-१-१; आप० १८-१-१।

३. स वा एव ब्राह्मणस्य चैव राजन्यस्य च यज्ञः।—तै० ब्रा०, १-३-२ तथायं ब्राह्मणा राजानश्च पुरस्कुर्वीरन् स वाजपेयेन यजेत।—लाट्या० ८-११-१।

४. शरदि वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत।—शाबरभाष्य, १०-२-६४ तथा एवं विद्वान् वाजपेयेन यजते गच्छति स्वाराज्यम्।—तैत्ति० ब्रा०, १-३-२ तथा वाजपेययाजी वात्र प्रजापतिमाप्नोति।—ता० ब्रा० १८-६-४।

५. यदुदुम्बरवर्णानां घटानां मण्डलं। महत् पीतं न गमयेत् स्वर्गं तत्कि क्रतुगतं नयेत्।—आ० १।

६. शत० ब्रा० १२-७-२१।

७. सर्जत्वक् त्रिफला चैव शुण्ठी चैव पुनर्नवा।
चतुर्जातकसयुक्ता पिप्पला गजपिप्पली॥
वशोऽवका वृहच्छत्रा चित्रकं चेन्द्रवारुणी।
अश्वगन्धां समुत्पाद्य मूलान्येतानि निर्दिशेत्॥
धान्यकं च यवानी च जीरकं कृष्णजीरकम्।
द्वे हरिद्रे वचा चैव विरूढा व्रीहयो यवाः॥—कात्या० भाष्य०, १९-१-२०।

८. चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति।— १-४-९, पृ० १३६।

अश्वमेध करे।[1] ऐतरेय ब्राह्मण मे तो अश्वमेध से साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, पारमेष्ठ्य आदि समस्त ऐश्वर्यों की प्राप्ति बतलाई है।[2] इसका प्रारम्भ फाल्गुन शुक्ल-अष्टमी या नवमी को अथवा ज्येष्ठ या आषाढ की इसी तिथि को याजक ब्राह्मणों को ब्रह्मौदन, सहस्रगौ तथा सुवर्ण दिया जाता था।[3] इस समय विभिन्न सखियों-समेत राजा की चार रानियाँ उसके पास उपस्थित रहती थी।[4] अश्व या तो काले गोल चित्तो-सहित सम्पूर्ण श्वेत होता था अथवा अग्रकृष्ण तथा शेष श्वेत अथवा श्यामपुच्छ या श्यामकर्ण होता था।[5]

अश्वमेध की प्रक्रिया भी राजसूय के समान दीर्घ और जटिल है। इसमे साल-भर तक सायकाल धृति इष्टि की जाती[6] थी और वर्ष-भर तक ही सावित्री इष्टि जारी रहती थी, जिसमे पारिप्लव साम का गायन-श्रवण चलता था।[7] इस बीच यदि अश्व बीमार पड जाता या मर जाता, तो कुछ अन्य इष्टियाँ करनी पडती थी या अश्व को शत्रु छीन लेता, तो यज्ञ नष्ट माना जाता था।

यज्ञशाला मे पशुओ के बाँधने के लिए २१ यूप गाडे जाते थे, जो अरत्नि के बराबर ऊँचे रहते थे। इन यूपो मे बहुत-से पशु बाँधे जाते थे और बलि दिये जाते थे। अन्त में अनेक विधियों के साथ, जिनमे ब्रह्मोद्य (धार्मिक सवाद, जिनमे प्रश्न, पहेलियाँ तथा उत्तर होते हैं) होता था तथा अश्व की बलि करके उसके रक्त और मास को पकाकर आहुति दी जाती थी।

अहीन—अग्निष्टोम तथा अन्य सोमयज्ञ प्राय एकाह है। उनमे एक ही दिन प्रात , मध्याह्न और साय सोम की आहुति दी जाती है। बृहस्पति सव, गोसव, श्येन, उद्भिद,

---

१. सर्वान् कामानाप्स्यन् सर्वा विजितीर्विजिगीषमाणः सर्वा व्युष्टीर्व्युशिष्यन्नश्वमेधेन यजेत ।—आश्व० १०-६-१।

२. स य इच्छेदेववित् क्षत्रियमयं सर्वाजितीर्जयेताय सर्वांल्लोकान्विन्देता य सर्वेषां राज्ञा श्रैष्ठ्यमतिष्ठा परमतागच्छेत साम्राज्य भौज्यं स्वाराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यमाहा-राज्यमयमाधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात् सार्वभौमः सर्वायुष् आन्तादापरार्धात् पृथिव्यै समुद्र-पर्यन्ताया एकराडिति तमेतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वाऽभिषिञ्चेत ।—ऐत०ब्रा०, ३९-१।

३. कात्या० श्रौ० सू०, २०-१-,२ मे ६ तथा लाट्या श्रौ० सू०, ९-९-६-७।

४. या पत्नीनां प्रियतमा यजमानस्य सा वावाता राजपुत्री। अनपचिता परिवृक्ती।—लाट्या० ९-१०-१, २।

५. शत० ब्रा० ८-४-२-४ तथा कात्या० श्रौ० सू० २०-१-२९ से ३५ तथा लाट्या० श्रौ० सू०, ९-९-४।

६. वाजस० सं०, २२-७-८।

७. शत० ब्रा० १३-१-३-५ तथा यिमृष्ट्याचि यजमाने सम्त्रोयति यांना सनातिनीं देवेग्मिं यजमान मृन्नाप्नोतीति।—आप० ३०-७-१४, १५।

विश्वजित् और व्रात्यस्तोम भी एकाह है। विश्वजित् कर्त्ता एक सहस्र गायें अथवा अपने भाग की सारी सम्पत्ति दान कर स्वयं वृक्षो के नीचे भिक्षा पर जीवन व्यतीत करता था और वर्ष-भर, जो मिल जाता था, उसी भिक्षा पर निर्वाह करता था। गोसव का अनुष्ठान स्वराज्य का प्रदाता होता है।[1] गोसव करने के बाद एक वर्ष तक पशुव्रत का अनुष्ठान किया जाता था, जिसमे पशुवत् खाने-पीने और रहने का विधान है।[2]

दो से बारह दिन तक जिन यज्ञो मे सुत्याकर्म होता है, वे अहीन कहे जाते थे। इनकी समाप्ति सदा ही अतिरात्र से होती थी और इनकी सम्पूर्ण अवधि दीक्षा और उपसद को मिलाकर एक मास से अधिक नही होती थी। ये पूर्णिमा को प्रारम्भ होते थे। इनके त्रिरात्र (गर्ग त्रिरात्र) पचरात्र, षडह आदि वर्ग हैं। द्वादशाह की गणना अहीन और सत्र दोनो के अन्तर्गत है।[3]

अतिरात्र—भाष्य मे उल्लिखित अतिरात्र एक दिन मे समाप्त न होकर एक दिन और एक रात्रि बीतने पर समाप्त होता था, इसीलिए इसे यह नाम दिया गया था। इसमे बहुत-सा अनुष्ठान, स्तोत्र और शस्त्र अपेक्षित होते हैं। अतिरात्र स्तोत्र और शस्त्र तेरह हैं। अतिरात्र संस्था मे सुत्या (सोमरस के हवन) के दिन सरस्वती देवता के लिए पशुयाग किया जाता है।

अग्निष्टुत्—यह एक सोमयाग विकार है। इस यज्ञ मे त्रिवृत नाम स्तोम-पद्धति से अग्निदेवता का स्तवन किया जाता है। अनुष्ठान का प्रकार अग्निष्टोमवत् है। मत्र-तत्र मे थोडा अन्तर है। पापमोचन और अभक्ष्य-भक्षण-दोष-निवृत्ति आदि के लिए यह सोमयाग भिन्न-भिन्न स्तोम-पद्धतियो से किया जाता है।[4]

सत्र—सत्र और अहीन मे मुख्य अन्तर यह था कि सत्र केवल ब्राह्मण कर सकते थे, किन्तु अहीन तीनो वर्णो द्वारा किया जा सकता था। सत्र वर्षो चल सकता था, किन्तु अहीन बारह दिन से अधिक नही होता था। सत्र मे यजमान पुरोहित दोनो एक ही होते थे। इसलिए, उनमे दक्षिणा नही होती थी। अहीन का अन्तिम दिन अतिरात्र होता था। किन्तु, सत्र के प्रारम्भ और अन्त दोनो मे अतिरात्र होता था। सत्रो के दो भेद किये जा सकते हैं—रात्रिसत्र और सवत्सरसत्र। दीर्घसत्रो का प्रचलन पतजलि से बहुत पहले ही बन्द हो चुका था।[5]

---

१. तैत्ति० ब्रा० २-७-६।

२. तेनेष्ट्वा संवत्सरं पशुव्रतो भवति। उपावहायोदकं पिबेत्तृणानि चाच्छिन्द्यात्।

३. आश्व० १०-५-२।

४. अग्निष्टुतो नामैकाहाः—सोमविकृतयस्तेषु आग्नेयोऽग्निदेवत्यो निगदः स्यात्।—लाट्या० १-४-१; तत्र गौतमीयम् अग्न आगच्छ रोहिताभ्यां बृहद्भये धूमकेतो, जातवेदो विचर्षणाङ्गिरस ब्राह्मणाङ्गिरसे ब्रुवाण इति प्राक् सुत्यादेशात् (एतावदहे सुत्यामित्यतः प्राक्)।— लाट्या० १-४-१।

५. ताण्ड्य० ४-१०-२।

सत्र-समाप्ति से पहला दिन जिसे महाव्रत कहते हैं, बहुत मनोरंजन होता था।[1] महान् प्रजापति का वाचक है। इस दिन प्रजापति को सोम की अतिरिक्त हवि दी जाती थी और उसके लिए पशुबलि दी जाती थी। ये हवि महाव्रतीय कहलाती थीं। उस अवसर पर महाव्रत नाम का गान होता था और उसके बाद महदुक्थ्य। उसके बाद आर्य-शूद्र-युद्ध, ब्रह्मचारी और वेश्या का वाग्युद्ध, स्त्री-पुरुष-मैथुन आदि विचित्र क्रियाएँ भी होती थीं जो अन्य यज्ञों में वर्जित थीं।

महाव्रत—किसी-किसी सोमयाग में महाव्रत नाम की एक विशेष विधि होती थी। यह प्रायः अग्निष्टोमादि सत्रों का अंग थी। ऐतरेय आरण्यक में इसे एकदिवससाध्य स्वतन्त्र क्रतु भी बताया है। इसमें कई मनोरंजक बातें होती थीं। आग्नीध्रीय मंडल के सामने और हविर्धान मण्डल के बीच में फैलाये हुए एक धारीदार चर्म को ब्राह्मण और शूद्र ताकत से अपनी-अपनी ओर खींचते थे। होता झूले पर बैठकर अपने मंत्र बोलता था। सुवर्णासन पर बैठकर अध्वर्यु और स्वर्ण-खचित आसन पर बैठकर उद्गाता अपने मंत्र बोलते थे। जब उद्गाता साम गाते थे, तब यजमान की स्त्रियाँ भी तारों के एक तन्तुवाद्य, कर्करी आदि अन्य वाद्यों के साथ उनका साथ देती थीं। कुछ दासियाँ सामगान के समय सिर पर पानी से भरे घड़े रखकर मार्जालीय मण्डप के उत्तर में विशिष्ट प्रकार से नृत्य करती थीं। भूमि-दुन्दुभि से गान पर ताल दिया जाता था। पश्चात् एक धनुर्धर राजपुत्र के पास टाँगे हुए चर्म पर बाण मारता था। भाष्य में महाव्रत ब्रह्मचर्य का भी उल्लेख है, जिसका अनुष्ठाता महाव्रतिक कहलाता था।

अवभृथ—चातुर्मास्यों में वरुणप्रघास, सौत्रामणि और सर्व प्रकार के सोमयागों के अन्त में नदी आदि जल-प्रवाह के पास जाकर वह सोम देवता के लिए छोटी-सी इष्टि की जाती है। उसके बाद स्नान-विधि होती है। याग-समाप्ति-दर्शक उस याग और स्नान को अवभृथ कहते हैं।

भाष्य में सवन और सव की चर्चा कई बार हुई है। सवन तीन होते हैं—प्रातः सवन को आर्भव, माध्यन्दिन को अग्नियवादि और सायं को आदित्यारम्भण कहते हैं। ये आर्भवादि पवमान हैं।

सव—जिन यज्ञों के अन्त में यजमान को विशिष्ट रीति से अभिषेक करना होता था, उन यज्ञों को सव कहते थे। ये सब सोमसत्र, पशुयाग और पुरोडाश के हवन-प्रधान यागों से सम्मिलित किये जाते थे। अभिषेचक में पराये भाग का होम मुख्य था। उसमें अतिरिक्त ब्राह्मणादि क्रम से दूध, घी, दही और सत्तू से भरे पृथक्-पृथक् पात्र यजमान को देते थे। उन चार पात्रों से चार वर्णों का रस लगाने से पूर्व यजमान मंत्र बोलता था। पश्चात् यजमान होम से बचा भाग पीता था। बाद में यजमान को अभिषिक्त कहा जाता था। भाष्य में पयोव्रत सव आदि का बारम्बार उल्लेख हुआ है।

---

1. दीर्घसत्राणि वार्षशतिकानि वार्षसहस्रिकाणि च तथाऽन्ये वदिष्यदपि ...।—भा० १, सौ० ४, पृ० ७१।

यज्ञशाला—यज्ञशाला के लिए याज्यकुल शब्द का प्रयोग भी मिलता है।[1] भाष्य मे यज्ञ-शाला तथा उससे सम्बद्ध अनेक शब्द आये हैं। यज्ञशाला मे अग्नीध्र और यजमान के रहने के लिए पृथक् स्थान बनाये जाते थे, जिन्हें क्रमश. आग्नीध्र और आवसथ कहते थे।[2] आवसथ मे रहने के कारण यजमान आवसथिक कहलाता था।[3] आवसथ के पास मूत्रादि क्रियाएँ वर्जित थी।[4] यह सज्ञा आवसथ अग्नि के स्थान की थी।

यज्ञशाला के लिए उपयुक्त देश यज्ञिय कहा जाता था।[5] यज्ञभूमि का यह भाग, जिसमे छन्दोग लोग सम्मिलित रूप से स्तुतिगान करते थे, सस्ताव कहलाता था।[6] भाष्य मे यज्ञभूमि के लिए देवयजन शब्द का प्रयोग हुआ है और समाप नाम देवयजन का उल्लेख मिलता है।[7]

अग्निचयन—अग्न्याधान के पूर्व श्रौतयज्ञो मे अग्निचयन होता था। भाष्यकार ने इसे चित्या भी कहा है। अग्निचित्या यज्ञकुण्ड और यज्ञवेदी के निर्माण की क्रिया है। अग्निचयन स्वतन्त्र और जटिल विधि है। शतपथब्राह्मण के तृतीयाश मे अग्निचयन की प्रक्रिया है। प्रो० स्पलिंग ने सेक्रेड बुक्स ऑफ् ईस्ट की भूमिका (वाल्यूम ४३, पृ० १४) मे लिखा है कि अग्निचयन पहले स्वतन्त्र सस्कार था और बाद मे सोमयज्ञो की प्रक्रिया मे सम्मिलित कर दिया गया। यज्ञवेदी ईंटो से बनाई जाती थी और उसमे प्रजापति पुत्र होने के कारण पुरुष द्वारा निर्माण करने की भावना निहित थी।[8] इस प्रकार, यजमान प्राजापत्य कर्म का अनुष्ठान करके सन्तोष-लाभ करता था। पाँच चितियो (रद्दो) की वेदी सोमयाग का एक अग है, यद्यपि यह अनिवार्य अग नही है। हाँ, महाव्रत मे, जो गवामयन की समाप्ति के एक दिन पहले होता है, उसका होना आवश्यक है। यज्ञ की नीव मे एतदर्थ बलि दिये गये पशुओ के सिर भी चुने जाते थे। यजमान चाहता, तो सोने या मिट्टी के बने सिर काम मे ला सकता था।[9] वेदी कई प्रकार से बनाई जाती थी—यथा द्रोणचित्, चक्रचित्, श्येनचित्, ककचित्, सुपर्णचित् आदि।[10] इनके लिए चौकोर, तिकोनी, पचकोण

---

१. उपाध्यायस्य शिष्यो याज्यकुलानि गत्वा ग्रासनादीनि लभते।—१-१-५६, आ० १, पृ० ३३४।

२. अग्नीधः शरणमाग्नीध्रम्।—४-३-१२०, वा० ९, पृ० २५२।

३. आवसथात् ष्ठल्।—४-४-७४

४. दूरमावसथान्मूत्रम्।— २-३-३५, वा० २, पृ० ४३०

५. ५-१-७१ काशिका।

६. संस्तावश्छन्दोगानाम्। समेत्य स्तुवन्ति छन्दोगा यस्मिन् सन्देशः सस्ताव इत्युच्यते।—३-३-३१ काशिका।

७. ६-३-९७, वा० १, पृ० ३५६।

८ अग्निचयनमेवाग्निचित्या, अग्निचित्येति भावेऽन्तोदात्तो भवति।—३-१-१३२, वा० १; प्राजापत्य वा एतत्कर्म प्रजापतिं ह्येतेन कर्मणारभते निरुक्तो वै प्रजापतिः।—शत० ब्रा० ६-२-२-२१।

९ कात्या० १६-१-३२ तथा अष्टा० ३-२-९१ तथा ३-२-९२।

१० तैत्ति० सं० ५-४-११; कात्या० १६-५-९ तथा श्येनचितं चिन्वीत्य सुवर्णकामः-

आदि विविधाकार की पक्की ईंटों की आवश्यकता होती थी। भाष्य में इष्टकचित और पक्वेष्टकचित का उल्लेख है।[1] आजकल श्येनचित वेदी का ही विशेष प्रचार है। ईंटों के परिमाण और चुने जाने के निश्चित नियम थे। इसके लिए वास्तुविद्या और रेखागणित दोनों का ज्ञान आवश्यक था। हर ईंट एक विशिष्ट मंत्रोच्चार के साथ रखी जाती थी? ईंटों के निश्चित नाम थे। 'यजुष्मती' ईंटें वेदी के मध्य भाग में लगाई जाती थीं, पार्श्व या पुच्छ भाग में नहीं लगाई जा सकती थीं। जिस मंत्र को बोलकर इष्टका-चयन किया जाता था, उसे उपधान-मंत्र कहते थे। इसी प्रकार, जिस मंत्र द्वारा ईंटों का उपस्थान किया जाता था, वे उपस्थान-मंत्र कहलाते थे। चयन के समय बोले जानेवाले मंत्रों के आधार पर ईंटों के वर्चस्या, तेजस्या, पयस्या, रेतस्या, आश्विनी, वयस्या, मूर्धन्वती आदि नाम होते थे।[2] शतपथब्राह्मण के अनुसार हर स्तर के लिए दो सौ ईंटें आवश्यक होती थीं।[3] इस प्रकार, कुल १००० ईंटों की आवश्यकता होती है। किन्हीं विकृति-यज्ञों में प्रकृति-यज्ञ से दुगुनी या तिगुनी बड़ी वेदी की आवश्यकता होती थी, जिसे द्विस्तावा या त्रिस्तावा वेदी कहते थे।[4] विभिन्न शास्त्रकारों द्वारा बतलाये गये चयन-काल में भी अन्तर है। इसके लिए गारा (पुरीष), चात्वाल (पास में बनाये गये गड्ढे) से खोदकर तैयार किया जाता था। यज्ञशाला का कूड़ा आदि फेंकने के लिए उत्कर या अवस्कर भी शाला के भीतर बनाया जाता था।[5]

अग्नि—अग्नि-चयन करनेवाले को अग्निचित् कहते हैं। भाष्यकार ने अनेक बार अग्निचित् शब्द का प्रयोग किया है।[6] अग्नियों में गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और दक्षिणाग्नि की आवश्यकता श्रौत यागों में होती है। पाकयज्ञ केवल गार्हपत्य अग्नि में किये जाते हैं। गृहपति से संयुक्त होने के कारण ही इसे गार्हपत्य कहते हैं। पतंजलि ने कहा है[7] कि यदि गृहपति से संयुक्त होनेवाली अग्नि में ञ्य प्रत्यय मान लिया, तो दक्षिणाग्नि में भी ञ्य प्रत्यय होना चाहिए।

कङ्कचित चिन्वीत यः कामयेत शीर्षप्रधानममुष्मिंल्लोके स्यामिति। जलजचित चिन्वीत चतुःसीतं प्रतिष्ठाकामः।— तैत्ति० स० ५-४-११।

१. इष्टकचित चिन्वीत-पक्वेष्टकचित्त चिन्वीत।— १-१-७२, भा० २ पृ ४४।

२. ४-४-१२५ से १२७ काशिका।

३. शत० ब्रा० ११-५-२२।

४. द्विस्तावा त्रिस्तावा वेदि, यावती प्रकृतौ वेदिस्ततो द्विगुणा वा त्रिगुणा वा यस्याश्चिद्विकृतौ तत्रेदं निपातनम्।—५-४-८४ भा०।

५ पूर्वाह्णापराह्णार्द्रामूलप्रदोषावस्करात् वुन्।—४-३-२८।

६. १-१-३, भा० ५, पृ० ११५।

७. गृहपतिना संयुक्त इत्युच्यते तत्र दक्षिणाग्नावपि प्राप्नोति। दक्षिणाग्निरपि गृहपतिना संयुक्तः। एवं तर्हि गृहपतिना संयुक्त इत्युच्यते। सर्वत्र गृहपतिना संयुक्तेऽन्यत्र प्रकर्षगतिर्विज्ञास्यते। साधीयो यो गृहपतिना संयुक्त इति। कुतः साधीयः. यस्मिन् . पत्नीः संयाजा क्रियन्ते। अथवा गृहपति नाम मन्त्रः स यस्मिन्नुच्यते। अथवा समाख्यानमिति वर्तते।— ४-४-९०, पृ० २८६।

दक्षिणाग्नि का भी सयोग गृहपति से होता है। उसमें भी गृहपति यज्ञ करता है। इसलिए, जिसका गृहपति से विशेष सयोग हो, उससे प्रत्यय होता है और विशेष सयोग गृहपति का उस अग्नि से होता है जिसमे पत्नी-सयाज किये जाते है अथवा जिसमे गृहपति नाम का मत्र बोला जाता है। गार्हपत्य शब्द अग्निविशेष मे रूढ संज्ञा भी मान सकते है। द्राह्यायण के अनुसार, जिसमे गृहपति पाणिग्रहण करता है, वह गृह्य अग्नि होती है।[1] विवाह के समय होनेवाले हवन की अग्नि को गृहस्थ सर्वदा प्रज्वलित रखता था और उसी मे दैनन्दिन होम करता था। गार्हपत्याग्नि अम्बरीष या भड़भूजे के यहाँ से या शूद्र को छोडकर अन्य किसी बहुयाजी परिवार से लाकर प्रतिष्ठित की जा सकती थी।[2] पारस्कर के अनुसार दार-काल के अतिरिक्त दायाद्यकाल मे भी सयुक्त परिवार के बँटवारे के साथ विभक्त भ्राता स्वतन्त्र आवसथ्याग्नि की स्थापना कर सकते है।[3] आनाय्य उस विशेष दक्षिणाग्नि को कहते है, जो गार्हपत्य अग्नि से लेकर प्रतिष्ठित की जाती है और सदा प्रज्वलित नही रखी जाती। दक्षिणाग्नि वैश्य-कुल से या भ्राष्ट्र से या गार्हपत्य से लाई जाती है। दक्षिणाग्नि और आहवनीय का मूल यदि एक ही गृह्याग्नि हो, तो उसे आनाय्य कहते है। जिस दक्षिणाग्नि का मूल कारण आहवनीय से भिन्न हो, उसे आनाय्य कहकर आनेय कहते है।[4] यज्ञाहुतियो के अनुसार अनेक यज्ञाग्नियो के पृथक्-पृथक् नाम है और उनके लिए विशेष प्रकार की वेदियाँ बनाने का विधान किया गया है। उदाहरणार्थ, नाचिकेत,[5] निष्टक्यं। नाचिकेत काठक-चयन का एक भेद है। कठ महर्षि ने जिस चयन-पद्धति का प्रचार किया, उसे काठक कहते है। ये पाँच प्रकार की होती है—सावित्र, नाचिकेत, चातुर्होत्र, वैश्यसृज और अरुणकेतु। चित्य अग्नि के तीन रूप होते हैं—प्रारम्भ, अर्थात् कुण्ड मे प्रज्वलन के पूर्व तैयार अग्नि परिचाय्य, सवर्धमान अवस्था की अग्नि उपचाय्य और जलकर बुझी हुई अग्नि मे समूह्य कही जाती है। परिचाय्य का फल ग्रामप्राप्ति कहा गया है।[6] परिचाय्य उपचाय्य, समूह्य और चित्य ये सब विशेष स्थितियो मे यज्ञाग्नियो के नाम है।[7] इनमे से प्रत्येक के चयन के भिन्न-भिन्न प्रकार और फल माने

---

१. द्राह्या० गृ० सू० १-५-१ से ५।

२. यस्मिन्नग्नौ पाणिं गृह्णीयात्सगृह्यः—यस्मिन् वाऽन्त्यां समिधमादध्यात्, अम्बरीषाद्वा नयेत् बहुयाजिनो वोऽगाराच्छूद्रवर्जम्।—द्राह्या० गृ० सू०,१-५-१ से ५।

३. आवसथ्याधानं दारकाले-आवापकाले एव केषाम्-पञ्चमहायज्ञा इति श्रुतेः।—पार० गृ० सू०, आवसथ्याधान सू० १,२, ६।

४. आनाय्योऽनित्ये-दक्षिणाग्नाविति वक्तव्यम्-आनेयोऽन्यः। आनाय्योऽनित्य इति चेद्दक्षिणाग्नौ वृत भवेत्। एकयोनौ तु तं विद्यादानेयोऽन्योऽन्यथा भवेत्।—३-१-१२७, पृ० १९३, १९४ तथा का०।

५. योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते य ३ चैनमेवं वेद।—आ० १, पृ० २३ तथा हव्यवाडग्निरजरः।—पिता नः ३-२-६६; का०-कव्यवाहनः पितृणाम्।—३-२-६५, का०।

६. परिचाय्यं चिन्वीत ग्रामकामः।—शत० ब्रा० ५-४-११-२।

७. अग्नौ परिचाय्योपचाय्यसमूह्याः।—समूह्यं चिन्वीत पशुकामः। पशवो वै पुरीषम्। पशूनेवास्मै तत्समूहाय।—३-१-१३१, पृ० १९५।

जाते हैं। उदाहरणार्थ, पशु-समृद्धि की कामनावाले को निष्टक्र्याग्नि का चयन करना चाहिए।[1] नम्ह्याग्नि का भी फल पशु-वृद्धि है। अग्नि-चयन में प्रयुक्त होनेवाला पुरीष या गारा पशुओं का प्रतीक है। जो व्यक्ति अग्नि-चयन के लिए पुरीष एकत्र करता है, वह अपने लिए पशु एकत्र करता है, ऐसा समझना चाहिए।[1] कार्य के अनुसार अग्नि के हव्यवाहन, कव्यवाहन, पुरीष-वाहन, पुरीष्यवाहन आदि नाम मिलते हैं।[2] हव्य को देवताओं तक तथा कव्य को पितरों तक पहुँचाने के कारण ही अग्नि का नाम हव्यवाहन और कव्यवाहन भी है। वेद में उसे हव्यवाट् अजर और पिता कहा है। हव्यवाहन को चित्याग्नि भी कहा है।

अग्नि देवताओं तक हव्य द्रव्य पहुँचाने का माध्यम है। इसलिए, ऋग्वेद में उसे साक्षात् पुरोहित, होता, ऋत्विक् और रत्नभासुर कहा है।[3] भाष्य में हिरण्यवर्ण और शुचि शब्द अग्नि के विशेषण के रूप में आये हैं।[4]

समिध्—अग्नि के आधान के लिए समिधा की आवश्यकता होती है। समिधाएँ पीपल, उदुम्बर, खदिर या पलाश की होती थीं।[5] इनके प्राप्त न होने पर विभीतक, बिल्वक, तिल्वक, बाधक, नीप, निम्ब, राजवृक्ष, शाल्मली, अरलु, दधित्थ, कोविदार और श्लेष्मातक को छोड़कर अन्य किसी भी वनस्पति का उपयोग यज्ञेन्धन के लिए हो सकता है।[6] समिधाएँ अरत्नि (लगभग एक हाथ) और प्रादेश (बित्ता) बराबर लम्बी काटी जाती थीं। समिधाओं का आधान विशेष ऋचाओं के उच्चारण के साथ किया जाता था। ये ऋचाएँ सामिधेनी कहलाती हैं। समिधाओं को इध्म भी कहते थे।[7] सामिधानी ऋचाएँ तेरह हैं, किन्तु प्रथम और अन्तिम की तीन बार आवृत्ति की जाती है, इसलिए वे सप्तदश सामिधेनी कहलाती हैं।[8] सत्रह ही समिधाएँ काटी जाती हैं और प्रति ऋचा के साथ एक समिध् का अग्नि में आधान किया जाता है। एक साथ ही सत्रह प्रादेश या सत्रह अरत्नि-भर लम्बी लकड़ी अग्नि में नहीं रख दी जाती, क्योंकि एक सत्रह अरत्नि या प्रादेश-

---

१. निष्टक्र्यं चिन्वीत पशुकामः।—३-१-१२३, पृ० १९१।

२. कव्यपुरीषपुरीष्येषु ञ्युट्-हव्येऽनन्तःपादम्।—३-२-६५-६६।

३. अग्निमीळे पुरोहितम् यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारं रत्नधातमम्।—१-१-१।

४ हिरण्यवर्णाः शुचयः पावकाः।—७-३-४५, वा० २, पृ० १८९।

५ समिध आश्वत्थ्य-(औदुम्बराः खादिराः पालाशास्तदभावे यज्ञियाः पञ्चदश समिधोऽग्नावाधाय।—द्राह्या० गृ० सू०, १-२-२१, रुद्रस्कन्दवृत्ति।

६ अथेध्मानुपकल्पयते खादिरान् वा पालाशान् वा०। खादिरपालाशाभावे विभीतक बिल्वकतिल्वकबाधकनीपनिम्बराजवृक्षशाल्मल्यरलुदधित्थकोविदारश्लेष्मातकवर्जं सर्ववनस्पतीनामिध्मो यथार्थं स्यात्।—गोभिल गृ० सू०, प्रपा० १, क० ५, सू० १४, १५।

७ अग्ने समिन्धनार्था ऋचः सामिधेन्यः (आप०भाष्य० १-२-३) तथा इन्धे ह वा एतदध्वर्युरिध्मेनाग्निं तस्मादिध्मो नाम। समिन्धे सामिधेनीभिर्होता तस्मात्सामिधेन्यो नाम।—शत०ब्रा० १-३-५-१।

८. सप्तदशसामिधेन्यो भवन्तीति त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमामित्यावृत्ता सप्त-दश च भवति।—आ० २, प० ८१।

भर लम्बा काष्ठवेदी में समा नही सकता, दूसरे प्रति प्रणव एक समित् रखने का विधान है।[1] आश्व० (१-२-७) के अनुसार ऋग्वेद की ३-२७-१, १६-१० से १२, ३-२७-१३ से १५, १-१२-१, (३-२७-४, ५-२८-५ और ६) ये ११ सामिधेनी ऋचाएँ हैं। दर्शपौर्णमास मे पन्द्रह सामिधेनी अपेक्षित होती है। तदर्थ (प्रवो वाजा ऋग्० ३-२७-१) प्रथम तथा (आजुहोत ५-२८-६) अन्तिम की तीन-तीन वार आवृत्ति कर यह सख्या पूरी की जाती है। सामिधेनी एक श्रुति मे पढी जाती है। भाष्य मे पलाश और अश्वत्थ की समिधाओ का नामपूर्वक उल्लेख किया है।[2] विशिष्ट सामिधेनी को धाय्या कहते है।[3]

हविष्य—यज्ञाहुति द्रव्यो मे आज्य का स्थान प्रमुख है। यज्ञ के हविष्य घृत को आज्य कहते हैं। भाष्य मे उसे रूढ सज्ञा कहा है।[4] यव, तिल और व्रीहि के चावलो की आहुति सामान्य है।[5] तण्डुल चरु और वलि दोनो के काम आते हैं। चरु गार्हपत्याग्नि से अगार लेकर चूल्हे पर मन्त्रोच्चारणादि पूर्वक यज्ञार्थ पकाये गये चावलो को कहते हैं। अग्नि मे पकाये जाने के कारण चरु अग्निमान्-सा कहा गया है।[6] जिन चावलो से चरु वनाया जाता है वे चरव्य तण्डुल कहलाते हैं।[7] दुग्ध मे पकाये गये तण्डुलो को पयसि चरु कहते हैं। तण्डुल (पकाये हुए) वलि के काम भी आते हैं, इसलिए उन्हे वालेय भी कहते है।[8] पुरोडाश भी व्रीहि के पिष्ट का वनता है। व्रीहि का पुरोडाश व्रीहिमय कहलाता है।[9] पुरोडाश छोटी-मोटी रोटी के समान होता है। पुर या पहली आहुति के रूप मे चढाये जाने के कारण इसे पुरोडाश कहते हैं।[10] आमिक्षा की भी हवि होती है, जो आमिक्ष्य या आमिक्षीय कही जाती है।[11] आमिक्षा सायकाल के जमाये हुए दूध मे प्रात काल के गर्म दूध को डालकर वनाई जाती है। गर्म दूध में दही डालने पर उसके दो भाग हो जाते है। घनीभूत भाग आमिक्षा और जल-रूप भाग वजिन कहलाता है। चरु, दधि और अपूप

---

१. सप्तदश सामिधेन्यो भवन्तीति न सप्तदशारत्निमात्रं काष्ठमग्नावभ्याधीयते। विषम उपन्यासः। प्रत्यृच चैव हि तत्कर्म चोद्यतेऽसम्भवश्चाग्नौ वेद्यांच। यथा तर्हि सप्तदश-प्रादेशमात्राराश्वत्थीः समिधोऽभ्यादधति न प्रादेशमात्रं काष्ठमभ्याधीयते। अत्रापि प्रति-प्रणवं चैव तत्कर्म चोद्यते तुल्यश्चासम्भवोऽग्नौ वेद्यां च।—आ० २, पृ०, ६२।

२. वही तथा पालाशी समित्।—४-३-११५, पृ० २६६।

३. ३-१-१२९

४. अञ्जेश्चोपसंख्यानं कर्त्तव्यम्-आज्यम्।—३-१-१०९, वा० २, पृ० १८५।

५. ४-३-१४८, १४९।

६. ८-२-१५, पृ० ३३९,।

७. चरव्यास्तण्डुलाः।—५-१-२ वा०, ३ पृ०, २९५।

८. वालेयास्तण्डुलाः।—५-१-१३, पृ० ३०४।

९. व्रीहेः पुरोडाशे।—४-३-१४८

१०. पुरोडाः पुरः दाश्यते दीयते इति।—३-२-७१, पृ० २२७।

११. हविरपूपादिभ्यो विभाषाया अवकाशः अमिक्ष्यम्, आमिक्षीयम्, पुरोडाश्यम्। पुरोडाशीयम् ५-१-२, वा० ३, पृ० २९५।

एक नाम भी हवि के काम आते हैं। भाष्य में चरु को अपूपवान्, दधिवान्, सरस्वतीवान् और भारतीवान् कहा है।[1] स्थाली में परिपक्व ओदन, या स्थाली पाक हवि कहलाती है। जिस देवता को स्थालीपाक की हवि दी जाती है, उसी के नाम पर स्थालीपाक का नाम रख दिया जाता है। जैसे, ज्ञा देवता को स्थालीपाक की 'ज' संज्ञा होती है।[2] उसी प्रकार देवताओं के नाम पर चरु भी आग्नेय, कालेय आदि कहलाते हैं।[3] चरु या पुरोडाश जितने कपालों में पकाये जाते हैं, उनके अनुसार उनके नाम होते हैं—यथा अष्टाकपाल चरु, पचकपाल पुरोडाश आदि।[4] हवि या आहुति का नाम होम के आधार पर भी होता है—जैसे स्विष्टकृत् होम में दी जानेवाली आहुति सौविष्टकृती होती है। यवागू हवि का उल्लेख ऊपर हो ही चुका है। जिन यज्ञों में पशुबलि दी जाती थी, उनमें वसा-मांसादि की आहुति होती थी।[5] आहुति की बलि भी भिन्न-भिन्न देवताओं के नाम पर चढाई जाती थी।[6] बलि देनेवाले को बलिकर कहते है।[7]

साम्नाय्य—सोमपायी अग्निहोत्री अग्निहोत्र में अमावस्येष्टि को इन्द्राग्नि के बदले इन्द्र या महेन्द्र को आहुति देते हैं। इनका हविर्द्रव्य पुरोडाश से भिन्न होता है। वे अमावास्या की रात्रि को दूध जमा देते हैं और अगले दिन उस जमे दही और तपाये हुये दूध के मिश्रण का हविर्द्रव्य बनाते हैं। दही और दूध के इस मिश्रित हवि को साम्नाय्य कहते हैं।

पशुबलि—यज्ञों में पशुबलि की प्रथा थी, किन्तु सब यज्ञों में पशुबलि आवश्यक नहीं थी। जिन यज्ञों में बलि दी जाती थी, उनमें भी पशु की बलि करना वैकल्पिक था।[8] भाष्यकार ने पशु और अनड्वान को वैकल्पिक रूप से मेध्य कहा है। गो और अज मुख्य बलिपशु थे।[9] गो में गाय और बैल दोनों सम्मिलित थे। स्थूलपृषती अनड्वाही मेध्य मानी जाती थी। भाष्यकार ने स्थूलपृषती शब्द के अर्थ पर सन्देह करते हुए कहा है कि स्थूल और पृषत्‌वाली अथवा बड़े-बड़े पृषत्‌वाली ये दोनों अर्थ इस शब्द के हो सकते हैं। केवल स्वर-ज्ञान से ही जाना जा

---

१. सरस्वतीवान् भारतीवान् अपूपवान् दधिवांश्चरुरित्यत्र न प्राप्नोति। —८-२-१५, पृ० ३३९

२. ज्ञादेवताऽस्य स्थालीपाकस्य ज्ञः स्थालीपाक। —७-३-२३, पृ० १८४

३. अग्निदेवताऽस्याग्नेय. कलिदेवताऽस्य कालेयश्चरु। —४-२-७, पृ० १६९ तथा अस्नादायाऽग्नये य आहुतिमस्नादांकत्वा। —३-२-१, वा०, पृ० २०५।

४. अष्टाकपाल चरु निर्वपेत् हविषीति किम् अष्टकपाल ब्राह्मणस्य। —६-३-४६, वा० २, पृ० ३३४।

५. इन्द्राग्निभ्यां छागं हविर्वपां मेद. प्रस्थित पचय। —२-३-६१, पृ० ४८८।

६ कुबेरबलिः महाराजबलि। —२-१-३६ काशि०।

७. बलिकार। —३-२-२१।

८. मेध्य. पशुर्विभाषित मेध्योऽनड्वान् विभाषित इति। नाह्निभार्या ऽनड्वाहमा मड्वानिति। कि तर्हि आलब्धव्यो नोपेक्षितव्य इति। —१-१-४४, वा० १५, पृ० ३६३।

९. गोस्तु यथ्यांऽतोऽजोयोऽमीय इति न वाहीकोऽनुपपन्नं। —१-१-१५, पृ० १८७।

सकता है कि कैसी गाय आलम्भन के लिए उपयुक्त होती है।[1] गो शुक्ल और कृष्ण दोनो प्रकार के मेध्य थे। जहाँ शुक्ल का विधान है, वहाँ शुक्ल की ही बलि उपयुक्त मानी जाती थी। इसी प्रकार, कृष्ण गो के विषय मे समझना चाहिए।[2] गो के मारने, उससे जुआ खेलने और उसे भेंट मे देने का भी भाष्य मे उल्लेख है। अज की बलि अग्नीषोम और इन्द्राग्नि को दी जाती थी।[3] रुद्र के लिए सामान्य पशु की बलि का भाष्य मे वर्णन है। पशु की बलि चढाने का अर्थ पशु को अग्नि मे प्रक्षिप्त करना माना जाता था।[4] एक स्थान पर इन्द्राग्नि को छाग की हवि, वसा और मेदस् चढाने का भी उल्लेख है।[5] केवल अग्नि के लिए भी छाग, वसा और मेदस् की आहुति का विधान ब्राह्मण-ग्रन्थो मे पाया जाता है।[6]

पशुमेध स्वतन्त्र यज्ञ भी है और सोमयाग का अग भी। प्रथम को निरूढ-पशुबन्ध कहते है और द्वितीय को सौमिक।[7] निरूढ पशु अग्नीषोमीय पशु का ही दूसरा रूप है। पशुमेध वार्षिक (वर्षा ऋतु मे) या उत्तरायण और दक्षिणायन का प्रारम्भ होने पर किये जाते थे। चातुर्मास्य यज्ञो के लिए आवश्यक पाँच पुरोहितो के अतिरिक्त पशुबन्ध मे प्रशास्तृ नामक छठे पुरोहित की भी आवश्यकता होती थी, जिसे मैत्रावरुण भी कहते थे।

सोम—अग्निचित् के समान सोमसुत् का भी भाष्य मे वार-वार उल्लेख मिलता है।[8] क्रतुओ मे सोमसुत्या का दिन मुख्य माना जाता था। सोम के अभिषवण की वडी लम्बी प्रक्रिया श्रौतयाग के ग्रन्थो मे दी है। कुछ लोग सोमवल्ली के विक्रय का व्यवसाय करते थे। वे भूजवन्त पर्वत से सोम लेकर उसे गाडियो पर लादकर वेचने निकलते थे। अध्वर्यु उसे जल से अभ्युक्षित कर पूछता था, 'सोमविक्रयिन्, क्या तुम सोम वेचते हो ?' विक्रयी उत्तर देता था 'हाँ वेचता हूँ।' अध्वर्यु पूछता था, 'क्या वे भूजवत् से लाये गये है ?' विक्रयी 'हाँ' मे उत्तर देता था। फिर, अध्वर्यु इसी प्रकार वार्तालाप करता हुआ छाग, गो, वस्त्र या हिरण्य से सोम खरीदता था। सोमशोधन, क्रयणानुमन्त्रण, क्रयणानुगमन, क्रयणाग सोमोपस्थान, क्रयणाभिमर्शन, सोमविमान, सोम-वेष्टन, सोमावेक्षण, शकट-परिवहन, उपस्तम्भन, आसन्दी-प्रतिष्ठापन आदि क्रियाएँ क्रयण से

---

१. स्थूलपृषतीमनड्वाहीमालभेतेति-तस्यां सन्देहः—स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषती स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा स्थूलपृषती। ता ना वैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति।—आ० १, पृ ३।

२. शुक्लमालभेत कृष्णमालभेत। तत्र यः शुक्ल आलब्धव्ये कृष्णमालभते नहि तेन यथोक्तं कृतं भवति।—१-१-१, वा० १३, पृ० १०६।

३. गां घ्नन्ति गां प्रदीव्यन्ति गां सभासद्भ्य उपहरन्ति।—२-३-६०, पृ० ४४८।

४. गौरनुबन्ध्योऽजोऽग्निषोमीयः।—१-१-१५, पृ० १८७; इन्द्राग्निभ्यां छागं हविर्वपां मेदः प्रस्थितं पश्य।—२-३-६१, पृ० ४४८।

५. पशु ना रुद्रं यजते। पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थः। अग्नौ किल पशुः प्रक्षिप्यते तद् रुद्रायोपह्रियत इति।—१-४-३२, पृ० १६९।

६. अग्नये छागस्य हविषो वपायाः मेदसः प्रेष्य(या) अनुब्रूहि।—२-३-६१, काशि०।

७ आश्व०, ३-८-३, ४।

८. १-१-३, वा० ५, पृ० ११५ तथा १-४-२, वा० १४, पृ० १२१।

सम्बद्ध थीं।[1] फिर मदन्ती जल से उसका आप्यायन होता था।[2] वह गोचर्म पर फैलाया जाता था[3] और पत्थर से पीसा जाता। इसीलिए, इसे अद्रिसुत, अद्रिदुग्ध और अद्रिसंहृत कहते थे।[4] भाष्य में भी इसे 'अद्रिभि सुतम्' कहा है।[5] सोम पीसने-छानने की क्रिया आसुति कहलाती थी।[6] सोम से रस निकालने की क्रिया को सुत्या (३-३-९९) कहते थे। सोमसुत् को सुत्वा भी कहते थे (३-२-१०३)। सुत्वन् यजमान की संज्ञा थी। कुछ सत्रों में, जहाँ याजक स्वयं यजमान रहते थे और सत्री कहलाते थे, सुत्वन् माने जाते थे। पाणिनि ने प्रमुख कर्तृक रूप में सुत्या करनेवाले को सुत्वन् कहा है।[7] इससे दूध, घी आदि भी मिलाये जाते थे। ये सब क्रियाएँ पवन कहलाती थी।[8] सम्भवतः, सोम पकाया भी जाता था, इसीलिए बहुवचन में 'श्राता सोमा' और एकवचन में 'श्रित. सोम' ये विशिष्ट वैदिक प्रयोग मिलते हैं, जिनकी निपातन-साधना पर भाष्यकार ने भी विचार किया है।[9]

सोम मधु मिलाकर पिया जाता था। इसे सोम्यमधु कहते थे।[10] इसे पीने के अधिकारी ब्राह्मण भी सौम्य कहे जाते हैं।[11] याज्ञिक परम्परा के अनुसार जिनकी दस ऊपरी पीढ़ियों में कोई पुरुष ब्राह्मण-कर्त्तव्य-विहीन न हुआ हो, वही ब्राह्मण सोमपान का अधिकारी हो सकता है।[12] यदि किसी कारण सोम उपलब्ध न हो सकता, तो उसके स्थान पर पूतीक तृणों की सुत्या की जा सकती थी, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि सोम के उपयोग की उपेक्षा कर दी जाय।[13]

सोम-विक्रय कुत्सित कर्म माना जाता था और इसीलिए सोम बेचनेवाले को सोमविक्रयी

---

१. श्रौतपदार्थनिर्वचन, पृ० २६८ से २७८।

२. यदद्भि परिषिच्यसे मृज्यमानो गभस्त्योः।—ऋग्० ९-६५-६।

३. एष सोमो अधित्वचि गवां क्रीळति अद्रिभिः।—ऋग्० ९-६६-२९ तथा गव्ये अधित्वचि। ९-१०१-१६।

४. अद्रिसुत।—ऋग्० ९-७२-४; अद्रिदुग्धः।—९-५४-९; अद्रिसंहृत ९-९८-६, वहीं।

५. ६-१-११५, भा० ३, पृ० १७४।

६. आसुति करिष्ठः।—६-४-१५४, पृ० ४९३।

७. ३-२-१३२, सयोगग्रहण प्रधानकर्तृकत्रनिवृत्त्यर्थम्-याजकेषु मा भूत्।—काशिका।

८. सोमं पवमानः।—२-३-६९, भा० ५, पृ० ४५६।

९. श्रिता श्रितमिति किं निपात्यते? श्रीणाते पचे श्राभावश्रिभावौ निपात्येते।—सोमयहूर्ते श्राभावोऽन्यत्र श्रिभाव।—६-१-३६, पृ० ६२ तथा ऋग्० ९-८६-७ तथा ९-८६-१०।

१०. सर्वेद सौम्यं मधु पिबन्ति।—भा० ४-४-१३८।

११. सोममर्हन्ति य सोममर्हन्ति सौम्या. ब्राह्मणाः।—वही, ४-४-१३७।

१२. एवं हि याज्ञिका पठन्ति—दशपुरुषानूकं यस्य गृहे शूद्रा न विद्येत् स सोमं पिबेदिति। ४-१-९३, भा० ५। पृ० १२०।

१३. यदेऽपि सोमस्य स्थाने पूतीकतृणान्यभिषुण्वन्ति न च तत्र सोमाभिषवो भवति।—१-१-५६, भा० १३, पृ० ३८१।

कहते थे, किन्तु धान्य बेचनेवाले को धान्य-विक्राय। प्रत्यय का यह अन्तर कुत्सा-द्योतन के लिए था।[1]

यज्ञास्त्र—अन्य जिन पात्रो की विकृति-यज्ञो मे आवश्यकता होती है, उन्हे यज्ञपात्र या यज्ञायुध कहते हैं। इनमे से भाष्य मे निम्नलिखित का उल्लेख हुआ है।

स्फ्य—खदिर के[2] काष्ठ से बना हुआ अरत्नि बराबर लम्बा और चार अगुल चौडा खड्गाकृति यज्ञ-साधन 'स्फ्य' कहलाता है[3], जिससे यज्ञभूमि मे माप के अनुसार रेखाएँ खीची जाती है।

कपाल—मिट्टी से बनाकर अग्नि मे पकाया हुआ दो अगुल ऊँचा पात्र, जो पुरोडाश भूनने के काम आता है, कपाल कहलाता है। जिस पुरोडाश मे जितने कपालो का विधान होता है, उतने कपाल इकट्ठे कर गार्हपत्याग्नि के पीछे या पश्चिम भाग मे रख दिये जाते है। किसी पुरोडाश मे एक ही कपाल की आवश्यकता होती है और किसी मे अधिक थी। ये कपाल पुरोडाश सिद्ध करने के हेतु अग्नि पर रखे जाते है और 'भृगूणामङ्गिरसा च तपसा तप्यध्वम्' इत्यादि मन्त्र पढे जाते हैं। भाष्यकार ने कहा है कि मत्र न पढे, तो भी अग्नि कपालो को तपायेगी ही, क्योकि तपाना अग्नि का काम ही है। तो भी मन्त्र पढते है; क्योकि मन्त्रपूर्वक की गई क्रिया अभ्युदयकारिणी होती है।[4]

शोधन-पात्र—शूर्प,[5] उलूखल,[6] मुसल,[7] हविष्यान्नो के शोधन के काम आते है। कृष्णाजिन व्रीहि आदि के अवहनन के समय उलूखल के नीचे रखा जानेवाला कृष्णमृग का चर्म है। उलूखल पलाश के काष्ठ से बना, बारह अगुल ऊँचा होता है, जो चरु पुरोडाश-सम्बन्धी व्रीह्यादि के साफ करने मे काम आता है। मुसल खदिर के काष्ठ से बनाया जाता है और शूर्प बाँस से बना होता है। शम्या खनन का साधन-काष्ठ है, जिसका अग्रभाग लोहे का रहता है।[8] पीसने की सिल को दृषत् कहते है।[9] पीसनेवाला ऊपर का पत्थर उपला कहलाता है। पलाश-काष्ठ से बनी हुई अग्निहोत्र हवणी के समान मुख्य होम का साधन जुहू होता है। जुहू के द्वारा आहुति दी जाती है।[1] 'स्रवति आज्यादि द्रव्यमस्मात्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्रुव के द्वारा आज्य की

---

१. कर्मणा निर्विक्रियः—कर्मणि कुत्सित इति वक्तव्यम्-इह माभूत् धान्यविक्रायः।—३-२-९२, वा० १, पृ० २३६।

२. वेदे याज्ञिकाः संज्ञा कुर्वन्ति स्फ्यो यूपश्चषाल इति।—१-१-१, वा० ४, पृ० ९५।

३. ४-१-८८, वा० २, पृ० १०० तथा काशिका।

४. अग्नौकपालान्यधिश्रित्याभिमन्त्रयते भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वमिति। अन्तरेणापि मन्त्रमग्निर्दहनकर्मा कपालानि सन्तापयति।—आ० १, पृ० १९।

५. ५-१-२०, पृ० ३१२।

४. अवहननायोलूखलम्।—२-१-३६, वा० १, पृ० २८८।

६. १-१-५०, वा० २, पृ० ३०७।

७. खादिरेतरशम्यम्, रौरवेतरशम्यम्।—२-१-१, वा० २९, पृ० २५८।

८. वही, वा० २७।

९. जुहोति-हूयते दीर्घश्च-जुहूः।—३-२-१७८, वा० ३, पृ० २८१।

आहुति दी जाती है।[1] स्रुव खदिर-काष्ठ से बनता है और अंगुलि-भर मोटा और आगे अँगूठे की गाँठ के बराबर गहरा होता है। उपभृत नाम जुहू के पास धारण किये जाने से धारण किया गया है। यह अश्वत्थ-काष्ठ से बनता है और जुहू जैसा ही होता है। याग की समाप्ति-पर्यन्त वेदी पर रहने के कारण विकंकत वृक्ष के काष्ठ से बना जुहू-सदृश पात्र ध्रुवा कहलाता है।[2] प्राशित्र वह हुतशेष हविर्भाग होता है, जो ब्राह्मणों को दिया जाता है। प्राशित्र को लेने के पात्र का नाम प्राशित्रहरण कहलाता है।[3] इडा का अर्थ है हविः। उसके आधार-पात्र को इडापात्र कहते हैं। इडापात्र अश्वत्थ-काष्ठ से बना हुआ चार अंगुल का खण्ड होता है।[4]

यूप—पशुबन्ध के लिए यूप की आवश्यकता होती थी। यूप के लिए अध्वर्यु तक्षा को लेकर उस स्थान में जाता था, जहाँ वृक्ष होते थे।[5] यूप पलाश, खदिर, बिल्व, रोहितक या बिभीतक वृक्ष का बनता था। भाष्यकार ने कहा है कि यद्यपि किसी भी ऊँचे काष्ठ को गाड़कर पशु बाँध सकते हैं, तो भी याज्ञिकों ने नियम किया है कि यूप बिल्व या खदिर का हो, क्योंकि ऐसा करना अभ्युदयकारी होता है।[6] वेद में स्फ्य, यूप और चषाल ये पारिभाषिक शब्द हैं।[7] व्युत्पत्ति से उनका अर्थ स्पष्ट नहीं होता। याज्ञिकों को उन शब्दों का उपयोग करते देखकर अन्य लोग भी जान लेते हैं कि यह इनकी संज्ञा है।

भाष्यकार ने यूप के लिए बिभीतक और चषाल के लिए खदिर वृक्ष का काष्ठ प्राप्त कहा है।[8]

यूप बनाने के बाद वृक्ष का जो भाग बच जाता है, उससे तक्षा चषाल बनाता है। चषाल चार अंगुल ऊँचा होता है। यूप ऊपर की ओर अष्टकोण होता है और चषाल भी। चषाल गढ़े से यूपाग्र में पगड़ी की तरह फँसा रहता है।

यूप को वेदि-मार्ग से लाते और यूपावट के आगे रखते थे। बाद में उत्तर वेदी के उत्तर भाग में खड़े होकर जल से उसका प्रोक्षण करते थे। भाष्यकार ने उस विधि की ओर संकेत किया है।[9] ऋग्वेद-काल में यज्ञयूप के लिए स्वरु शब्द अधिक प्रचलित था।[10]

---

१. १-१-४९, पृ० ३००।

२. ध्रुवका।—७-३-४५, भा० ५, पृ० १८९।

३ ५-४-४७, पृ० ४१४ तथा ५-१-९७, पृ० ३४४।

४ लाट्या० श्रौ० सू०, २-५-१ टिप्पणी।

५. कात्या० ६-१-५, आप० ७-१-१३।

६ बैल्वः खादिरो वा यूपः स्यादित्युच्यते। यूपश्च नाम पश्वनुबन्धार्थमुपादीयते। तस्य धानेन किञ्चिदेव काष्ठमुच्छ्रित्यानुच्छ्रित्य वा पशुरनुबध्यम्। तत्र नियमः क्रियते। एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवति।—आ० १, पृ० ११।

७ वेदे याज्ञिकाः संज्ञां कुर्वन्ति स्फ्यो यूपश्चषाल इति। तत्र भवतामुत्पन्नाभिधाने जानन्ति इयमस्य संज्ञेति।—१-१-१, भा० ४, पृ० ९५।

८ वैभीतको यूपः खादिरं चषालम्।—५-१-२, भा० ६, पृ० २९६।

९ ५-२-९८, भा० ३, पृ० ४१०।

१० [illegible] 'स्वरु' [illegible] और यूप।—सोसाइटी इन ऋग्वेद, पृ० ७७।

याजक—जो व्यक्ति अपने कल्याण के लिए यज्ञ करता है, उसे यजमान और जो यजमान के कल्याण के लिए उसके व्यय से उसे यज्ञ कराता है, उसे याजक कहते हैं। याजक दक्षिणा और लाभ की आशा से यजमान को यज्ञ कराते थे। इसीलिए, यज् धातु का प्रयोग यजमान के साथ आत्मनेपद मे तथा याजक के साथ परस्मैपद मे उपयुक्त माना गया है। 'स्वरितयितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' (१-३-७२) के भाष्य मे पतजलि ने 'कर्त्रभिप्राये' की उपयोगिता पर प्रश्न करते हुए उत्तर मे 'यजन्ति याजका·' उदाहरण दिया है और फिर शका की है कि क्रिया का फल तो याजको को भी मिलता है। वे दक्षिणा मे गायो की आशा करते है और ये उन्हे मिलती है। इसलिए उनके साथ भी आत्मने पद का प्रयोग होना चाहिए। इस वात के उत्तर मे भाष्यकार ने कहा है कि यो तो प्रत्येक कर्त्ता को क्रिया का फल मिलता है। इसलिए, यहाँ फल की प्रकर्पगति माननी चाहिए। यजमान को यजि क्रिया का फल विना यज्ञ किये नही मिलता, किन्तु याजक को यज्ञ के सिवा अन्य प्रकार से भी गाय मिल जाती है।[1] याजक यजि क्रिया के प्रेरक होते हैं। उदाहरणार्थ, यज्ञ पुष्यमित्र करता है और याजक उसके प्रयोजक हैं। इसी भेद को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार ने एक और उदाहरण दिया है—'आप यज्ञ कीजिए (यजताम् आत्मनेपद), याजक मिल जायेंगे। वे यज्ञ करायेंगे।'[2] इससे स्पष्ट है कि व्याकरण की दृष्टि से भेद न होने पर भी व्यवहार मे यजमान और याजक शब्दो के प्रयोग का क्षेत्र अलग-अलग निश्चित था। किन्तु, याजक लोग उन्ही को यज्ञ कराते थे, जिन्हे शास्त्र से यज्ञ करने की अनुमति थी।[3] ये यजमान प्राय· क्षत्रिय थे।[4] वृषल आदि जातियो को यज्ञ कराना गर्हित माना जाता था।[5] कुत्सित याज्ञिक को याज्ञिकपाश कहते थे।[6]

याजको की सख्या सब यज्ञो मे समान नही होती। कालक्रम से भी उनकी सख्या मे अन्तर हुआ है। पुरोहित, जैसा कि नाम से स्पष्ट है, यज्ञ मे पुर (आगे) हित (स्थापित) होते है। यज्ञ मे सबसे पहले पुरोहितो का वरण किया जाता है। ऋग्वेद मे अग्नि को पुरोहित कहा है और भाष्यकार ने उस मत्राश को उद्धृत किया है।[7] भाष्य मे निम्नलिखित पुरोहितो का उल्लेख है।

---

१. कर्त्रभिप्राये क्रियाफल इति किमर्थम् ?—यजन्ति याजका·—अत्रापि क्रियाफलं कर्त्तारमभिप्रैति-याजका यजन्ति गा लप्स्यामह इति—सर्वत्र कर्त्तारं क्रियाफलमभिप्रैति तत्र प्रकर्षगतिविज्ञास्यते। साधीयो यत्र कर्त्तारं क्रियाफलमभिप्रैति। न चान्तरेण यजि यजिफल वपिं वा वपिफल लभन्ते। याजका पुनरन्तरेणापि यजिं गा लभन्ते।—१-३-७२, पृ० ९०।

२. अहो यजत इत्युच्यते यः सुष्ठु त्यागं करोति। त च पुष्यमित्रः करोति—याजका· प्रयोजयन्ति। ३-१-२६, वा० ४, पृ० ७४।

३. अङ्ग यजतां लप्स्यन्तेऽस्य याजकाः। य एन याजयिष्यन्ति।—३-३-१०, पृ० ८८।

४. यदा भवद्विधः क्षत्रियं याजयेत्।—३-३-१४७, पृ० ३३२।

५. ३-३-१४२ से १५० तक, पृ० ३३१ से ३३३।

६. याप्ये पाशप्-याप्ये कुत्सितग्रहणं कर्त्तव्यम्-याज्ञिकपाश·।—३-४७, वा० १, पृ० ४४१।

७. वही, पृ० १।

अध्वर्यु—भाष्य में अध्वर्यु को अद्रि (पत्थर) से सोम का सवन करनेवाला कहा है।[1] एक स्थान पर उसे 'नग्न भावुक' कहा है, जिससे यज्ञ में वस्त्र उतारकर बैठने का संकेत मिलता है।[2] अध्वर्यु और अध्वर परस्पर सम्बद्ध है। सम्भवत, कार्य को निर्विघ्न सम्पादित करने की दृष्टि से (अ+ध्वर=प्रदूषित) यह नाम पड़ा है। हॉग के मत से अवेस्ता की धार्मिक विधियों (rituals) में भी होता (zaotra) और अध्वर्यु (Rathwi) विद्यमान थे।[3] यज्ञ में इनका स्थान इतना महत्त्वपूर्ण था कि यजुर्वेद या यजुर्वेद का नाम ही अध्वर्यु वेद पड़ गया।[4]

ऋत्विज्—भाष्यकार के काल में ऋत्विज् शब्द सामान्य पुरोहित के लिए व्यवहृत होता था। उन्होंने यज्ञ के प्रारम्भ में ऋत्विजों का वरण करने की प्रथा का उल्लेख किया है।[5] जो परिवार ऋत्विक्-कर्म के योग्य होता था, उसे आर्त्विजीन कहते थे।[6] आर्त्विजीन होना ब्राह्मण के लिए सम्मान की बात थी।[7] पतंजलि के समय में ऋत्विज् लोग लाल रंग की पगड़ी पहनते थे।[8]

होता—भाष्य में होता, पोता, नेष्टा और उद्गाता का अनेक बार साथ-साथ उल्लेख हुआ है।[9] इनमें होता से पुराना ऋत्विग् है। वही देव का आवाहक और आहुतिकर्ता है। प्रारम्भ में यही एक पुरोहित होता था और सबसे महत्त्वपूर्ण तो बाद में भी बना रहा। ऋग्वेद (१०-२-१) में उसे आयजिष्ठ, अर्थात् श्रेष्ठतम याजक कहा है। एकाधिक-पुरोहित होने पर सामान्यतया सभी पुरोहित होता कहे जाते थे।[10] देवों का आवाहन होने के कारण ही अग्नि भी होता कहा गया है। होता के कारण आहुति भी होत्री कहलाती है। ऋग्वेद (२-१-२, १०-९१-१०) में होता, पोता, नेष्टा, अग्नीध्र, प्रशास्ता, अध्वर्यु और ब्रह्मा इन सात पुरोहितों का उल्लेख है। उद्गाता इनमें नहीं है। वह बाद में सम्मिलित किया गया। पहले इन पुरोहितों की स्थिति भी निश्चित न थी। उद्गाता का महत्त्व सामवेद के साथ बढ़ा। पहले उनका (होता का) वरण किया जाता था और स्थान निश्चित था। बाद में यह स्थान ब्रह्मा को मिल गया। पहले होता सम्पूर्ण यज्ञ के लिए उत्तरदायी होता था, पर बाद में यह काम अध्वर्यु को मिल गया और होता उनका सहकारी बन गया। ऋग्वेद (३-३५-५०) में अध्वर्यु और होता का पद बराबर था

१. अध्वर्या अद्रिभिः सुतम् ।—६-१-११५, भा० ३, पृ० १७४ ।

२. नग्न भावुकोऽध्वर्यु ।—६-१-९१, भा० ९, पृ० १४६ ।

३. हॉग : ए० बी० आ० पृ० १३ ।

४. एकशतमध्वर्युशाखा सहस्रवर्त्मा सामवेदः ।—आ० १, भा० ५, पृ० २१ ।

५. याज्यो ऋत्विजः ।—३-१-१०९, भा० १, पृ० १८५ ।

६. ऋत्विक्कर्मार्हत्यार्त्विजीनं ब्राह्मणकुलम् ।—५-१-७१, भा० १, पृ० ३३६ ।

७ यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरशः वाचं विदधाति स आर्त्विजीनः । आर्त्विजीनाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम् ।—आ० १, पृ० ६ ।

८. लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति ।—६-१-१, भा० १५, पृ० १५ ।

९. २-१-१, भा० २६, पृ० २५७; ६-१-९१, भा० ९, पृ० १४६ ।

१०. ऋग्० १०-३५-१०; १०-६१-१ ।

बताया गया है[1],....जहाँ वैकल्पिक रूप से पूजादि कृत्य दोनों करते है....उस समय तक इन दोनो के पदो मे ऊँच-नीच का भेद न था।

पोता—पोता का कार्य सोम को शुद्ध करने[2] (परिपवन) करने का है। भाष्य मे 'सोमं पवमान.' कहकर पोता के कृत्य का निर्देश किया है। यो ऋग्वेद मे (१-९४-६, सव पोत्रम् १-७४-४) अग्नि को भी पोता कहा है। सोम के पवन का काम पहले अध्वर्यु करता था। उसे अवकाश देने के लिए ही इस पद का प्रारम्भ किया गया था। मरुतो और द्रविणोदस को जिस पात्र मे सोम अर्पित किया जाता था, उसे पोत्र कहते थे।[3] ओल्डनवर्ग के मत से उत्तरकालीन साहित्य के समय वह नाममात्र का याजक रह गया था। उसका महत्त्व नष्ट हो चुका था।[4]

नेष्टा—नेष्टा सहायक पुरोहित है। जिस पात्र से द्रविणोदस को सोम दिया जाता है, वह नेष्ट्रा के ही नाम पर नेष्ट्र कहलाता है। भाष्यकार ने नेष्टा की व्युत्पत्ति नी तथा नेष् धातु से मानी है।[5] यह सुरा तैयार करता तथा यजमान की पत्नी को यज्ञस्थान तक ले जाता था।[6]

उद्गाता—उद्गाता का काम सामगान है। ऋग्वेद मे केवल एक बार इसका उल्लेख हुआ है।[7] इससे अनुमान होता है कि उद्गातृ पद का प्रारम्भ बहुत बाद मे हुआ। साम का उल्लेख ऋग्वेद मे बार-बार मिलने से यह भी प्रतीत होता है कि पहले भी सामगान की प्रथा तो थी, किन्तु इस काम को कोई भी पुरोहित कर लेता था या उद्गाता का नाम कुछ और था। सामभृत् और सामविप्र शब्दो से सम्भवत, उद्गाता ही इष्ट हो।[8]

ब्रह्मा—भाष्य मे ब्रह्मन् शब्द का उल्लेख वेद, देवता, ब्राह्मण आदि अर्थो मे हुआ है, पुरोहित अर्थ मे नही, किन्तु ब्रह्मवादिन्, ब्रह्मवाद्य, ब्रह्मसाम आदि शब्दो मे ब्रह्मा का भी अन्तर्भाव हुआ है।[9] ब्रह्मा अवीक्षक (सुपरिंटेडिंग) पुरोहित होता है, यद्यपि ऋग्वेद-काल तक उसका यह स्थान नही बन पाया था। ओल्डेनवर्ग के मत से ऋग् मे इसका उल्लेख नही है। इसका अर्थ सामान्य पुरोहित था। मैकडॉनल, कीथ और डॉ० पी० एस० देशमुख इसे और ब्राह्मणाच्छसी को एक मानते है।[10]

प्रशास्ता—भाष्यकार ने तृन् प्रत्यय के प्रसग मे होता, पोता, नेष्टा, प्रशास्ता और प्रतिहर्त्ता का ऋत्विजो मे परिगणन किया है। ऋग्वेद (१-९६-६) मे प्रशास्ता का काम अग्नि

---

१. अध्वर्योर्वा प्रयत शक्रहस्तात् होतुर्वा यज्ञं हविषो जुषस्व।
२. २-३-६९, वा० ५, पृ० ४५६।
३. ऋग्० १-४२-२, २-३६-२।
४. रिलीजन देर वेद, पृ० ३८३, ३९१, ३९५।
५. ३-२-१३५, वा० १, २, ३, ४, पृ० २७०।
६. रिलीजन देर वेद, पृ० ३८३, ३९१, ३९५।
७. उद्गातेव शकुने साम गायसि।—२-४३-२।
८. ऋग्० ७-३३-१४ तथा ५-५४-१४।
९. ३-२-७८; ३-१-१२३; ५-४-१०३।
१०. रिलीजन इन वैदिक लिटरेचर, पृ० ३४२।

में सम्बद्ध बतलाया गया है। ऋग् (२-३६-४) में अग्नि को अग्निध् का, इन्द्र को ब्रह्मा का और प्रतिहर्त्ता को उद्गाता का सहायक कहा है। प्रशास्ता को [illegible] या मैत्रावरुण भी कहते थे। यह होता का सहायक था।

ब्राह्मणाच्छंसी—ब्राह्मणों से उद्धृत कर, अर्थात् उनसे ले-लेकर पद बोलने के कारण इस ऋत्विज् का नाम ब्राह्मणाच्छंसी पड़ा।[1] ऋग्वेद में इसे ब्राह्मण भी कहा है।

आग्नीध्[2]—अग्नीध् आग्नीध् या अग्निमिन्ध अग्नि को प्रज्वलित करने का काम करता है। इसके स्थान को आग्नीध्र कहते हैं।[3] भाष्यकार ने 'अग्नीदग्नीन् विहर' इस प्रैष में इसके कर्तव्य का भी उल्लेख किया है। यज्ञशाला में अग्नीत् के लिए पृथक् स्थान की व्यवस्था की जाती थी। सोलह ऋत्विजों से भिन्न अन्य पुरोहित, जो यज्ञकर्मों के उपद्रष्टा के रूप में नियुक्त किये जाते थे, सदस्य कहलाते थे। सूत्रों में इनका ऋत्विजों के साथ विधिपूर्वक वरण नहीं किया जाता था।

भाष्यकार ने चार प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध बतलाये है, जिनमे यौन सम्बन्ध भी एक है। याजक लोगों तथा याजकों और यजमानों को एक सूत्र में बाँधनेवाला उनका यौन कर्म था। यह बात उनके सुसंगठित होने की ओर संकेत करती है।[4]

यजमान—यजमान यजि क्रिया का मुख्य कर्त्ता होता है। इसलिए, सोमयाग में उसे 'सुन्वन्' कहते हैं। 'सुन्वन्' का शतृ प्रत्यय यज्ञ के मुख्य कर्त्ता का द्योतक है। यह आवश्यक नहीं है कि यजमान स्वयं यज्ञ करे। भाष्यकार के मत से 'निष्प्रक्षेपण' ही यजि क्रिया का अर्थ नहीं है। त्याग भी उसका अर्थ है। इसलिए, जो स्वयं प्रक्षेपण न कर त्याग-मात्र करता है, अपने द्रव्य से यज्ञ कराता है और तदर्थ दक्षिणा देता है, वह भी यज्ञकर्त्ता माना जाता है। इसी अर्थ के कारण 'याजक यज्ञ कराते और पुष्यमित्र यज्ञ करता है'[5] यह बात ठीक मानी जाती है। यदि क्रिया का कर्त्ता ही यजमान माना जाय, तब तो कहना पड़ेगा कि पुष्यमित्र यज्ञ कराता है और ऋत्विक् लोग यज्ञ करते हैं। पर लोक-व्यवहार में वैसा नहीं होता।[6] यजमान उक्थ (सामविशेष) को बोलता है, इसलिए उसे

---

१. ब्राह्मणानि शंसतीति ब्राह्मणाच्छंसी-ब्राह्मणेभ्यो गृहीत्वा गृहीत्वाऽऽहृत्याहृत्य शंसतीति ब्राह्मणाच्छंसी। —६-३-२, वा० २, पृ० २९९।

२. अग्निमिन्ध.। —६-३-७० वा० ६ पृ० ३४७।

३. अग्नीध. शरणमाग्नीध्रम्। —४-३-१२०, वा० ९, पृ० २५२।

४. लोके बहवोऽभिसम्बन्धा आर्या यौना मौखाः स्रौवाश्च। —१-१-४९, वा० ४ पृ० ३००।

५. सुञो यज्ञसंयोगे। —३-२-१३२।

६. यज्यादिषु चाविपर्यासो द्रष्टव्यः-पुष्यमित्रो यजते याजकाः याजयन्ति। तत्र भवितव्यं पुष्यमित्रो याजयते याजकाः यजन्तीति। नानाक्रियाणां यज्यर्थत्वात्। नानाक्रिया यज्यर्थाः। नावश्यं यजिः प्रक्षेपण एव वर्तते। किं तर्हि। त्यागेऽपि वर्तते। अतो यजन इत्युच्यते यः पुरुषः त्यागं करोति। तं च पुष्यमित्रः करोति याजकाः प्रयोजयन्ति। —३-१-२६, वा० ३, ४, पृ० ७४।

उक्थशा भी कहते है।[1] इनमे गार्हपत्याग्नि मे हवन करनेवाला एकाग्नि कहलाता है।[2] पुरुष के यजमान होने का प्रभाव उसकी पत्नी पर भी पडता है। जो पुरुष या स्त्री बहुत अधिक यज्ञ करता है और उच्च चरित्र का अनूचान होता है, वह यज्ञ द्वारा पूत मन का होने के कारण पूतक्रतु कहलाता है। यदि केवल पुरुष पूतक्रतु हुआ, तो उसकी पत्नी पूतक्रतायी कही जाती है।[3]

भाष्य मे यजमान शब्द बार-बार आया है।[4] यज्ञ-क्रिया के कर्त्ता होने की स्थिति मे व्यक्ति यजमान कहलाता था और उसके पुरोहित याजक। जो व्यक्ति यज्ञ कर चुकता है, उसे यज्वा कहते हैं।[5] वेद मे यज्वनी और यज्वरी शब्द आये हैं।[6] अग्निष्टोम आदि विशेष यज्ञ करनेवाले अग्निष्टोमयाजी आदि कहलाते थे। भविष्य मे अग्निष्टोमादि करनेवाले के लिए भी इस शब्द का प्रयोग साधु माना जाता है। जैसे, 'इसके जो पुत्र होगा, वह अग्निष्टोमयाजी बनेगा।'[7] यज्ञ-कर्म का व्रत करनेवाला यजमान दीक्षित कहा जाता था।[8] और, बहुत अधिक यजन करने वाला यायजूक कहलाता था (यजजपदशां यङः ३-२-१६६)। दीक्षित यजमान को भूमिशयन, ब्रह्मचर्य, वाक्सयम[9] तथा नियमित भोजनादि व्रतो का पालन करना पड़ता था। ब्राह्मण पय, क्षत्रिय यवागू और वैश्य आमिक्षा ही ग्रहण कर सकता था।[10] आमिक्षा दूध और दही मिलाकर बनाई जाती थी। इसका ऋग्वेद मे उल्लेख नही है, किन्तु बाद की सब सहिताओ मे और ब्राह्मणो मे है।

बहुत अधिक यज्ञ करनेवाला यायजूक और यज्ञ कर चुकनेवाला इष्टी (इष्टमनेन) कहलाता था। इसी प्रकार श्राद्ध कर चुकनेवाला पूर्त्ती कहलाता था।[11] जो यजमान यज्ञ करता था, उसके नाम के साथ लोग क्रतु का उल्लेख करते थे। गर्ग लोगो द्वारा किया जानेवाला त्रिरात्र उनके नाम से गर्गत्रिरात्र कहा जाता था। इसी प्रकार चरकत्रिरात्र, कुसुरविन्दसप्तरात्र आदि

---

१. उक्थानि उक्थैर्वा शंसति उक्थशाः (यजमानः)। —३-२-७१, पृ० २२६।

२. एकाग्नयः। —५-३-५२, वा० ३, पृ० ४४३।

३. पूतक्रतोः स्त्री पूतक्रतायी। यया हि पूताः क्रतवः पूतक्रतुः सा भवति। —४-१-३६, वा० १, पृ० ५२।

४. २-४-४९, पृ० ४८७; ७-२-८२, पृ० १४५ आदि।

५. १-२-१, वा० ८, पृ० ४६८।

६. बहुलं छन्दसि ङीब्रौ वक्तव्यौ यज्वरीरिषः, यज्वनीरिषः। —४-१-७ वा० १, पृ० ३०।

७. अग्निष्टोमेयाजीत्येतस्मिन्भविता (कस्मिन् १) योऽस्य पुत्रो भविता कदा? यदा नेनाग्निष्टोमेनेष्टं भवति। —३-४-१, पृ० ३४२।

८. होतव्य दीक्षितस्य गृहा। —८-२-१०७, वा० २, पृ० ४००।

९. वाचियमोव्रते। —३-२-४०।

१०. पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतः क्षत्रिय आमिक्षाव्रतो वैश्य इति। —आ० १, पृ० १९

११. इष्टीयज्ञे पूर्त्ती श्राद्धे। —५-२-८८ का०।

शब्द सम्बद्ध यजमानों द्वारा किये जानेवाले यज्ञों के लिए व्यवहृत होते थे।[1] शास्त्रानुसार श्रौत अग्नियों की प्रतिष्ठा करनेवाला यजमान आहिताग्नि या अग्न्याहित कहलाता था।[2] आवसथ या आवसथ्य में रहने के कारण उसे आवसथिक भी कहते थे, जिसका अपभ्रंश रूप अवस्थी आज भी प्रचलित है। आवसथ यज्ञशाला में यजमान के लिए निश्चित स्थान होता था। यज्ञ-समाप्ति तक यजमान वहीं रहता था। आवसथ को ही आवसथ्य कहते थे।[3]

मन्त्र—यज्ञ की क्रियाएं मन्त्रोच्चारण के साथ की जाती हैं।[4] यज्ञ के प्रारम्भ के पूर्व स्वस्तिवाचन और पुण्याहवाचन किये जाते थे। स्वस्तिवाचन-मन्त्र का अंश भाष्यकार ने उद्धृत किया है।[5] मन्त्रोच्चारणपूर्वक क्रिया को पाणिनि ने मन्त्रकरण कहा है।[6] मन्त्र जिस देवता की स्तुति, आवाहन या आहुति के लिए प्रयुक्त होता था, उसी के आधार पर ऋचा या मन्त्र का नाम पड़ जाता था—जैसे ऐन्द्री या आग्नेयी ऋच।[6] इसी प्रकार यज्ञविशेष में प्रयुक्त मन्त्रों का नाम भी उन यज्ञों के आधार पर होता है। अग्निष्टोम में काम आनेवाले मन्त्र भी अग्निष्टोम कहलाते हैं। इसी प्रकार राजसूय, वाजपेय आदि यज्ञों के मन्त्र राजसूय और वाजपेय कहे जाते हैं।[7] समिधाओं के आधान में जिन मन्त्रों का विनियोग होता है, वे सामिधेन्य मन्त्र या सामिधेनी ऋचाएँ कही जाती हैं।[8] ऋचा के प्रयुक्त शब्द के विशेष के आधार पर भी उनका नाम पड़ जाता था।[9]

त्रैस्वर्यमंत्र—वैदिक मन्त्रों के उच्चारण दो प्रकार से होते हैं। त्रैस्वर्ययुक्त और एक-श्रुति। सामान्य प्रपाठ में त्रैस्वर्य का ध्यान रखा जाता है, किन्तु यज्ञ-कर्म में जप, न्यूङ्ख और सामों को छोड़कर अन्यत्र एकश्रुति उच्चारण होता है। यजुर्वेद (२-१०) के 'मयीदमिन्द्र इन्द्रियम्' आदि जपमन्त्र अनुकरण-मन्त्र हैं। न्यूङ्ख षोडश ओंकार आपो ३ ओ ओ ओ ओ ओ ओं ३ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ३ ओ ओ ओ रेवती क्षपया हिवस्व क्रतु न भद्र विभृथामृत च। गायो ३ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ३ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ३ आदि हैं। जपमन्त्र का उच्चारण यजमान करता है और न्यूङ्ख का उच्चारण सामयागों में प्रातःकालीन आहुति के समय होता है। न्यूङ्खों में कुछ उदात्त हैं और कुछ अनुदात्त। वाक्यविशेषरूप गीतियाँ सामन् कहलाती हैं। इन तीनों में स्वर उच्चारण

---

१. द्विगो क्रतौ गर्गत्रिरात्रः, चरकपञ्चरात्रः, कुसुरविन्दसप्तरात्र. । —६-२-९७, का०

२. वाहिताग्न्यादिषु-आहिताग्नि अग्न्याहित । —२-२-३७ का० ।

३. आवसथात् ष्ठल्—४-४-७४ तथा आवसथ एव आवसथ्यम् । —५-४-२३ का० ।

४. मन्त्र योचिमाग्नये । —३-१-८६, पृ० १४६ ।

५. अनुयन्तो मायदेभाग्यस्तपे । —३-१-८६, पृ० १४६ ।

६. उपान्मन्त्रकरणे-ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते, आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते । —१-३-२५ का० ।

७. मन्त्रे भवेषु व्याख्यानम्. अग्निष्टोमे भवो मन्त्रोऽग्निष्टोमः राजसूयः वाजपेय ।—४-३-६, भा० ५, पृ० २८० ।

८. समिधामाधाने मन्त्र सामिधेन्यो मन्त्र. सामिधेन्यक् ।—४-३-१२०, भा० १०, पृ० २५२ ।

९. अपिपर्वाणो जुहोति ।—८-२-९५, पृ० ३२९ ।

किया जाता है। अन्यत्र यज्ञ-कार्यों मे एक श्रुति होती है।[1] वौषट् का उच्चारण अधिक ऊँचे स्वर से किया जाता है और एकश्रुति भी। पर यह नियम वैकल्पिक है।[2] त्रैस्वर्य वैदिक अध्ययन मे आवश्यक था। ब्राह्मणो मे उद्धृत वेद-मन्त्र एकश्रुति या एकतार ही बोले जाते थे। पाणिनि-काल से ही त्रैस्वर्योच्चारण का नियम ढीला पड चला था।[3] सुब्रह्मण्या निगद मे वैकल्पिक एक श्रुति नही होती। इसमे प्राप्त स्वरित के स्थान मे उदात्त कर त्रैस्वर्योच्चारण होता है।[4] सुब्रह्मण्या ऋक् ऐन्द्री या आग्नेयी होती है।[5] ऐन्द्री मे तीन बार 'सुब्रह्मण्यो३म्' बोलने के बाद 'इन्द्रागच्छ' आदि बोला जाता है। इसके अन्त मे 'गौतम ब्रुवाण' के अनन्तर जितने दिन की सुत्या हो, तदनुसार 'द्वयहे, या त्र्यहे सुत्याते' आदि जोडा जाता है[6] और उसके पश्चात् 'देवा ब्रह्माण आगच्छतागच्छता गच्छत' बोलना चाहिए। इसमें ब्रह्मन् शब्द ऋत्विग्वाची है।[7] सुब्रह्मण्या का उच्चारण सदा अध्वर्यु का प्रैष पाने के बाद ही किया जाता है।[8] 'सुब्रह्मण्यो ३ मिन्द्रागच्छ हरिव आगच्छ मेधातिथे मेष वृषणश्वस्य मेने गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जार कौशिक ब्राह्मण गौतम ब्रुवाणश्च सुत्यामागच्छ मघवन्' आदि सुब्रह्मण्या निगद हैं। सुब्रह्मण्या मे ही 'देवा ब्रह्माण' पठित हैं। उनमे भी स्वरित के स्थान मे अनुदात्त उच्चारण किया जाता है।[9]

मन्त्र के पूर्व ओम् का प्रयोग किया जाता है। यह प्रारम्भ-द्योतक ओम् शब्द प्लुत होता है।[10] यज्ञ-कर्म मे प्रयुक्त होनेवाला 'ये' शब्द भी प्लुत होता है जैसे 'ओ३म् अग्निमीडे पुरोहितम्' आदि। कात्यायन और पतञ्जलि के मत से ब्राह्मण-मन्त्रो मे सर्वत्र 'ये' को प्लुत नही होता। यज्ञ-कर्म मे मन्त्र की टि को प्रणव आदेश हो जाता है। जैसे 'अपारेतासि' जिन्वतो३म्। देवान् जिगति सुम्न-

---

१. यज्ञकर्मणि जपन्युङ्ख सामसु।—१-२-३४; जपोऽनुकरणमन्त्रः—ममाग्नेर्वर्चो स्वस्तुन्यूङ्खा ओङ्काराः षोडशो-तेषु केचिदुदात्ताः केचिदनुदात्ताः—सामानि वाक्यविशेस्या गीतय उच्यन्ते।—वही, का०।

२. उच्चैस्तरा वा वषट्कारः—वषट् शब्देनात्र वौषट् शब्दो लक्ष्यते। वौषडित्यस्यैवेदं-स्वरविधानम्।—१-२-३५ काशिका।

३. विभाषा छन्दसि-व्यवस्थितविकल्पोऽयमिति केचित्-व्यवस्था च वेदे मन्त्रदले नित्य त्रैस्वर्यं ब्राह्मणदले नित्यमेकश्रुत्यमिति।—१-२-३६ का०।

४. १-२-३७ ३८, ३९, पृ० ५१४, ५१५।

५. ऐन्द्री आग्नेयी वा ऋक् सुब्रह्मण्या भवति।—लाट्या० श्रौ०सू० भा०, १-२-१८।

६. सुब्रह्मण्योमिति त्रिरुक्त्वा निगदं ब्रूयादिन्द्रागच्छ हरिव आगच्छ मेधातिथे मेष वृषणश्वस्य मेने गौरावस्किन्नहल्यायै जार कौशिक ब्राह्मण गौतम ब्रुवाणतावदेहे सुत्यामिति यावदेहस्यात्।—वही, १-३-२।

७. देवा ब्रह्माण आगच्छतागच्छतेति गौतमः।—वही, १-३-३ ब्रह्मन् शब्दो ऋत्विग्वचनः।—वही, भाष्य।

८. अध्वर्युसम्प्रेषं सर्वत्राकाङ्क्षेत सुब्रह्मण्यायाम्। —वही, १-२-१८।

९ १-२-३७, ३८, ३९, पृ० ५१४, ५१५।

१०. ओमभ्यादाने। —८-२-८७।

वौ३षट्।' यदि उन्हीं मंत्रों का प्रयोग यज्ञ से भिन्न कार्य में किया जाय, तो 'अग्निमग्नि जिह्मा[illegible]' आदि बोला जायगा। प्रणवादेश का अर्थ है—ऋचा के पाद या अर्ध भाग का अन्तिम अक्षर हटाकर उससे पूर्व के बचे हुए अक्षर के आगे तीन मात्रा का ओंकार या ओंकार आदेश करना। इसे प्रणव कहते हैं।[1] याज्याकाण्ड में पठित तीन मन्त्रों को याज्य कहते हैं। यज्ञ-कर्म में पढ़े जानेवाले याज्या-मन्त्रों की अन्तिम टि प्लुत होती है। जैसे 'उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे। (ऋग्० ८-४३-११), स्तोमैर्विधेमाग्नये३। जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहान् ३।'[2] कुछ याज्या नाम की ऋचाएँ वाक्यसमुदाय-रूप हैं। उनमें जितने वाक्य होते हैं, उन सबको टि प्लुत नहीं होती, अपितु अन्तिम टि ही प्लुत होती है।[3] यज्ञ-कर्म में प्रयुक्त होनेवाले ब्रूहि, प्रेष्य, श्रौषट्-वौषट् और आवह शब्दों का आदि प्लुत होता है। इन शब्दों का प्रयोग इस प्रकार होता है—

प्रैष—यज्ञकर्म प्रारम्भ होते ही अध्वर्यु होता को 'प्रैष' या आदेश देता है कि वह उस देवता की प्रशंसा में, जिसे प्रसन्न करने के लिए यज्ञ किया जा रहा है मन्त्र पढ़े। देवता की स्तुति के लिए पढ़ी जानेवाली ऋचा पुरोनुवाक्या कहलाती है। पुरोनुवाक्या प्रायः एक ही ऋचा होती है। यह एकश्रुति में पढ़ी जाती है। पुरोनुवाक्या के बाद याज्या, जो वास्तविक आहुति देने के लिए पढ़ी जानेवाली ऋचा होती है, पढ़ी जाती है। पुरोनुवाक्या और याज्या का एक युग्म होता है।

इसके पश्चात् जुहू और उपभृत हाथ में लेकर अपने स्थान पर बैठा हुआ अध्वर्यु आग्नीध् को 'आ३ श्रा३ वय' पद द्वारा देवताओं को यह सूचित करने के लिए कि सब कुछ निर्विघ्न हो गया है, वे पधारें, यह आदेश देता है। अध्वर्यु का यह आदेश अग्नीत्प्रेषण या आश्रावण कहलाता है। इस आश्रावण का उत्तर 'अस्तु श्रौ३षट्' कहकर देता है, जिसका तात्पर्य है 'देवा [illegible]'। अग्नीत् के इस उत्तर को प्रत्याश्रवण या प्रत्याश्रुत कहते हैं।

छन्दस्य—अग्नीध् से प्रत्याश्रवण पाकर अध्वर्यु होता को 'यज,' अर्थात् यजन प्रारम्भ करो, यह प्रैष देता है। तदनुसार, होता याज्या (आहुति-मन्त्र) पढ़ता है, किन्तु उसके पूर्व 'ये ३ यजामहे' यह कहा जाता है। याज्या के अन्त में वौषट् बोला जाता है। जैसे 'ओ३म् ये यजामहे समिधः समिधोऽग्न आज्यस्य व्यन्तु३ वौ३षट्।' इस प्रकार, याज्या के, जो प्रायः ऋग्वेद की [illegible] ऋचा होती है और आहुति देने के लिए विनियोग में आती है, तीन भाग होते हैं—ये३ यजामहे याज्या वौ३षट्।[4] वौषट् या वषट्कार का उच्चारण होता उच्चतर और [illegible]

---

1. प्रणवष्टे—प्रणव इत्युच्यते कः प्रणवो नाम? पादस्य वार्धर्चस्य वान्त्यमक्षरमुपसंहृत्य तदाद्यक्षरशेषस्य स्थाने त्रिमात्रमोंकारं त्रिमात्रमोकारं वा विदधति तं प्रणव इत्याचक्षते।—८-२-८९, पृ० ३९५।

2. ८-२-१०३, पृ० ४००।

3. याज्यान्त—याज्या नामर्चो वाक्यसमुदायरूपास्तत्र यावन्ति वाक्यानि सर्वेषां टेः प्लुतः प्राप्नोति इष्यते चान्त्यस्य स्यादिति तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीत्यन्तग्रहणम्।—८-२-९०, पृ० ३९५।

4. [illegible]नुवाक्या भवन्ति।—८-२-१५, पृ० ३३८।

मे करता है।[1] याज्या का उच्चारण अपेक्षाकृत मन्द स्वर मे होता है। वौषट् के उच्चारण के साथ ही अध्वर्यु अग्नि मे आहुति छोड़ता है। सोमयाग मे इसके वाद पुन. 'गवेन्द्रयज्ञे वीहि या सोमस्याग्ने वीही३ वौ३षट् वोला जाता है।[2] इस मन्त्र के पूर्व भाग को वीत और उत्तर भाग को अनुवषट्कार कहते हैं। वीत भाग का अन्तिम स्वर लुप्त होता है। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया सत्रह अक्षरो के प्रजापति छन्दस्य (अक्षर-समूह) मे पूर्ण होती है। ये सप्तदशाक्षर इस प्रकार हैं—ओश्रावय (चार) अस्तु श्रौषट् (चार) ये यजामहे (पाँच), यज (दो) वषट् या वौषट् (दो)। सत्रह अक्षरो के इस छन्दस् को छन्दस्य भी कहते हैं। भाष्यकार ने यह छन्दस्य तैत्तिरीय ब्राह्मण-काण्ड से उद्वृत किया है।[3]

यज्ञ मे प्रवरण (यजमान का प्रवरोच्चारण) के वाद निगद (ऋग्वेद मे विहित यजुर्मन्त्र) पढा जाता है। निगद-पाठ के बाद होता देवता के आवाहन के लिए मन्त्र पढ़ता है—अग्निना३ वह। इसे देवतावाहन कहते हैं, जिसमे आवह का आदि स्वर प्लुत होता है।[4]

यज्ञ मे सामगान की प्रथा रही है। सामो मे अवभृथ यज्ञ के लिए जानेवालो के रक्षा-विनाश के लिए गाया जाता था। रथन्तरादि साम तृच या तीन ऋचाओ के समाहार है, जिन्हे परिसाम कहते हैं। परिसाम का गान प्रस्तोता करता है।[5] भाष्य मे रथन्तर, वामदेव्य और वृहद् इन तीनो सामो का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त रौरुक यजुष्, वहिष्पवमान, अपोनप्त्रीय सूक्त प्रमाथ आदि की चर्चा भाष्य मे आयी है।

एकश्रुति—भाष्यकार ने उच्चारण मे सात स्वर वतलाये है। उदात्त, उदात्ततर, अर्थात् अतिशय उदात्त, अनुदात्त, अनुदात्ततर, अर्थात् अतिशय अनुदात्त, स्वरित, स्वरित का अनुदात्त-युक्त उदात्तभाग तथा एकश्रुति।[6] उच्च स्थान मे निष्पन्न स्वर उदात्त कहलाता है। वर्णो की निष्पत्ति ताल्वादि स्थानो से होती है। ताल्वादि के अवयव होते है। उनमे ऊपरी अवयव से जिस वर्ण का उच्चारण किया जाता है, वह उदात्त होता है।[7] उदात्त का अर्थ ऊँचे स्वर से उच्चारण नही

---

१. उच्चैस्तरां वा वषट्कारः।—१-२-३५।

२. गवेन्द्रयज्ञेवीहि।—६-१-१२४, पृ० १७७।

३. अक्षरसमूहे छन्दसे उपसंख्यानं कर्त्तव्यम्। ओश्रावयेति चतुरक्षरम्। अस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरम्। ये यजामहे इति पञ्चाक्षरम्। यजेति द्व्यक्षरम् द्व्यक्षरो वषट्कारः। एव वं सप्तदशाक्षरश्छन्दस्यः प्रजापतिर्यज्ञमनुविहित।—४-४-१४०, वा० १, पृ० २९१ तथा ५-४-३० वा० २, पृ० ४९०-९१।

४. ८-२-९१।

५. लाट्या० श्रौ० सू०, १-५-२ भाष्य।

६. त एते तन्त्रे तरनिर्देशे सप्तस्वरा भवन्ति-उदात्तः, उदात्ततरः, अनुदात्त., अनुदात्ततरः, स्वरितः, स्वरिते य उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः, एकश्रुति. सप्तमः।—१-२-३३, पृ० ५१४।

७. उच्चैरितिश्रुतिप्रकर्षो न गृह्यते। ताल्वादिषु हि भागवत्सु स्थानेषु वर्णा निष्पद्यन्ते। तत्र य' समाने स्थाने ऊर्ध्वभागनिष्पन्नोऽच् स उदात्तसंज्ञो भवति यस्मिन्नुच्चार्यमाणे गात्राणा-मायामनिग्रहो भवति। रुक्षतोऽस्निग्धता स्वरस्य, संवृततो कण्ठविवरस्य येतेके।—१-२-२९, काशिका।

वधिया बैल भी दक्षिणा मे दिये जाते थे।[1] अश्वयुक्त रथ, जिसमे अनेक अश्व जुते रहते थे या केवल अश्व, घोडी खच्चर, खच्चरी (अश्वतरी) गर्दभादि अवि, मेष, वस्त्र, व्रीहि, यव, तिल, माष आदि को दक्षिणा मे देने का उल्लेख श्रौतसूत्रो मे है।

यज्ञफल—ब्राह्मण-ग्रन्थो मे यज्ञो के विभिन्न फलो का सविस्तर वर्णन है। भाष्यकार ने इनमे अग्निष्टोम के प्रसग मे कहा है कि वसन्त मे ब्राह्मण को अग्निष्टोमादि क्रतुओ से यजन करना चाहिए। इस शास्त्रीय विधान का कुछ प्रयोजन भी है। जो इस प्रकार यज्ञ करता है, उसे स्वर्ग मे अप्सरा-पत्नियो की प्राप्ति होती है।[2] काम्येष्टियो का फल उनके नाम के द्वारा ही जाना जा सकता है। निष्टक्र्याग्नि और समूह्य का चयन पशु-समृद्धि के लिए किया जाता था।[3] यज्ञो के द्वारा अन्न, ओषधि, धन आदि की समृद्धि की प्रार्थना की जाती थी और वही उसका फल था। सुसस्या ओषधियो और सुपिप्पला ओषधियो के लिए प्रार्थना भाष्यकार ने वैदिक साहित्य से उद्धृत की है।[4] रै और पुष्टि अनेक यज्ञो का लक्ष्य था।[5] कभी-कभी वर्षा के लिए सहिता-पाठ का आयोजन किया जाता था। शाकल्य द्वारा सुप्रणीत सहिता को सुनकर पर्जन्य बरस[6] पडा, ऐसा विश्वास समाज मे था। यज्ञ मे रात्रि-जागरण से वैदिक विद्याओ की प्राप्ति मानी जाती थी।[7] ये यज्ञ पतजलि के समय मे साधारण समाज मे बहुत प्रचलित हो चुके थे और लोग प्राय उनका अनुष्ठान करते थे। यह बात उनके अनेक कथनो मे स्पष्ट है।[8] क्योकि, जैसा कि भाष्यकार ने उद्धृत किया है—यज्ञ प्रतिष्ठा (स्थिरता और सम्मान) का प्रदाता माना जाता था।[9] अग्निष्टोम का फल तो पुर्नजन्म से मुक्ति माना जाता है। इसीलिए, भाष्यकार ने अग्निष्टोमयाजी के साथ 'जनिता' के प्रयोग पर आपत्ति की है।[10]

भाष्य मे वेदो और ब्राह्मणो से ऐसे अनेक वाक्य उद्धृत मिलते हैं, जिनमे यज्ञ के फल के रूप मे ऋत्विज् सन्तान की कामना की गई है या पत्नी के साथ स्वर्गमन की। महान् सौभाग्य,

---

१. महानिरष्टो दक्षिणा दीयते।—६-२-३२, पृ० २५८।

२. वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निष्टोमभिः क्रतुभिर्यजेतेतीज्यया: किञ्चित्प्रयोजनमुक्तम्। किम्? सवर्गे लोकेऽप्सरस एवं जाया भूत्वोपशेरते इति।—६-१-८४, वा० ५, पृ० ११८।

३. निष्टक्र्यं चिन्वीत पशुकाम.।—३-१-१२३, वा० १, पृ० १९१ तथा समूह्यं चिन्वीत पशुकामः पशवो वै पुरीषं पशूनेवास्मै तत्समहति।—३-१-१३१, वा० ३, पृ० १९५।

४. सुसस्या ओषधीस्कृधि, सुपिप्पला ओषधीस्कृधि।—६-१-८६, पृ० १३३, वा० ६।

५. रयिमान् पुष्टिवर्धनः अरि वा नेतुं नो विशः।—६-१-३७, वा० ६, पृ० ६८।

६. शाकल्येन सुकृता संहितामनुनिशम्यदेवः प्रावर्षत्।—१-४-८४, पृ० २००।

७. यो जजागार तमृचः कामयन्ते।—६-१-८, वा० १, पृ० २४।

८. श्वोऽग्नीनाधास्य मानेन, श्वः सोमेन यक्ष्यमाणेन।—१-४-९, पृ० १३६।

९. यज्ञेन प्रतिष्ठा गमेयम्।—३-१-८६, पृ० १४६।

१०. कुतो नु खल्वेतदग्निष्टोमयाजीत्येतादुपपदम् भविष्यति न पुनर्जनितेति।—३-४-१, वा० २, पृ० ३४१।

यजमानों की अवस्थिरता, सम्पत्ति की वृद्धि, देवों से अपने सौभगत्व में सामान्य रुचि आदि की सहभागिता यज्ञ के फलस्वरूप प्राप्त करने की कामनाएँ की गई है।[1]

पारिभाषिक याज्ञिक शब्द—यज्ञशास्त्र और उसकी प्रक्रिया में अनेक ऐसे शब्दों का प्रयोग प्रचलित था, जो पारिभाषिक कहे जा सकते हैं। ये शब्द विशेष अर्थ में रूढ हो गये थे और याज्ञिकों में भी उस रूढ अर्थ में प्रचलित थे। ऐसे बहुत-से शब्दों की व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। कुछ अन्य महत्वपूर्ण शब्दों की, जो भाष्य में मिलते हैं, व्याख्या नीचे दी जा रही है:

अधरपरिग्राह—यज्ञ के लिए वेदी तैयार करने के निमित्त वेदि-स्थान से मिट्टी साफ की जाती है। अध्वर्यु के आदेश पर आग्नीध्र तीन बार मिट्टी लेकर उत्कर में डालता है। तब कुण्ड की मिट्टी साफ हो जाने पर अध्वर्यु आग्नीध्र को प्रैष देता है और आग्नीध्र वेदी के दाहिने अंस से प्रारम्भ कर दक्षिण श्रोणि तक वेदी के दक्षिण प्रान्त का स्फ्य से स्पर्श करता है और उसी प्रकार दक्षिण श्रोणि से प्रारम्भ कर उत्तर श्रोणि तक वेदि के पश्चिम प्रान्त (छोर) का, उत्तर श्रोणि से प्रारम्भ कर उत्तरांस तक वेदि के उत्तर भाग का स्पर्श करता है। स्फ्य से वेदि के प्रान्त भाग का यह स्पर्शन अधरपरिग्राह या पूर्वपरिग्राह कहलाता है।

उत्तरपरिग्राह—अधरपरिग्राह के बाद मन्त्र-जप के साथ तीन बार वेदि-स्थान खोदा जाता है और खुदी हुई मिट्टी उठाकर आग्नीध्र उत्कर में डालता है और फिर ऊपर बतलाये हुए ढंग से स्फ्य द्वारा अन्य तीन मंत्रों के साथ वेदी के प्रान्त भागों का स्पर्श करता है। स्पर्श की यह द्वितीय क्रिया उत्तरपरिग्राह कहलाती है।[2]

उद्ग्राभ—स्रुक् को उठाने की क्रिया उद्ग्राभ कही जाती है।

निग्राभ—स्रुक् को नीचे रखने की क्रिया को निग्राभ कहते हैं।[3]

शंयुवाक—शंयुवाक विशेष कथा की संज्ञा है। शंयु पद-युक्त होने से इसे शंयुवाक कहते हैं। यज्ञ-प्रक्रिया में तृण-प्रहरण के बाद अध्वर्यु का प्रैष पाकर होता इस ऋचा को मध्य में अवसान देकर बिना प्रणव के एक श्रुति से पढ़ता है।[4]

सूक्तवाक्—प्रस्तराजन-विधि के बाद अध्वर्यु होता को मंत्र पढ़ने के लिए कहता है। अध्वर्यु से प्रेरित होता जो मंत्र पढ़ता है, उसे सूक्तवाक् कहते हैं।

---

१. प्रजां विन्दाम ऋत्वियाम्।—६-१-१२७, वा० १, पृ० १८१; एहि त्वं जाये स्वा रोहाव।—६-३-१०९, वा० ६, पृ० ३६१; वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे, युष्माभिष्ट्वा, सुम्ने रक्षान्तु, अग्ने सख्यं महते सौभगाय।—६-४-५२, पृ० ४२९-३०; अवक्षिप्तवती तनुर्ह्यायुष्मान्, पितुर्हि यतं पितुर्हि यज्ञपतिम् तेन माभागिनं कृणुहि।—६-४-१०६, वा० १, पृ० ४५९।

२. परौ यज्ञे—उत्तरपरिग्राहः, अधरपरिग्राहः।—३-३-४७ काशिका।

३. उद्ग्राभः निग्राभ इत्येतौ शब्दौ छन्दसि यजमानौ स्रुगुद्यमन निपातनार्थयोः, उद्ग्राभं च निग्राभं च ब्रह्मदेवा अवीवृधन्।—३-३-३६, वा० ३, पृ० ३०३।

४. २-४-३१, वा० १, पृ० ४७६।

धाय्या—दर्श-पौर्णमासादि में १५ सामिधेनी ऋचाएँ होती हैं, जो ऋग्वेद (३–२७–१ से ११) से ली गई हैं। इनमे प्रथम और अन्तिम ऋचा के तीन-तीन बार पढने से पन्द्रह सख्या पूर्ण होती है, किन्तु सामिधेनियो की सख्या यज्ञानुसार बढ़ती रहती है। सत्रह या इक्कीस सख्याएँ भी स्थिरता आदि सम्पादन के लिए बतलाई गई हैं। ऐसी स्थिति में यह सख्या बाहर की ऋचाएँ मिलाकर पूरी की जाती हैं। अतिरिक्त ऋचाएँ चतुर्थ (सामिध्यमानवती—३-२७-४) और ग्यारहवी (समिध्वती ३-२७-११) के बीच मे मिलाई जाती है। ये बाहर से मिलाई हुई ऋचाएँ धाय्या कहलाती है।[1] यह रूढि शब्द है। धाय्या सामिधेनी से बाहर भी प्रयुक्त हो सकती है।

प्रस्तर—प्रकृति-इष्टियो मे चार मुट्ठी दर्भ काटे जाते हैं। प्रथम दर्भ-मुष्टि मन्त्रो से सस्कृत की जाती है। जिस वेदी पर जुहू रखी जाती है, उसी पर यह भी रखी जाती है। उसे प्रस्तर कहते हैं।[2]

प्रयाज—प्रधान याग से पूर्व जिन मन्त्रो से यज्ञ किया जाता है, उन्हें प्रयाज कहते हैं। प्रकृति-यज्ञो मे पाँच प्रयाज होते हैं। इनमे चार के देवता वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा और शरद् तथा पचम के हेमन्त और शिशिर होते हैं।

अनुयाज—प्रधान याग के पश्चात् जिन मत्रो से होम किया जाता है, वे याज्या-मत्र अनुयाज कहे जाते हैं।

अवदान—यज्ञ के लिए स्थापित हविष् मे से होम के काम आनेवाले भाग को अलग करने का नाम अवदान है।[3]

देवयजन—'देवा इज्यन्ते यस्मिन्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार देवताओ को उद्देश्य मानकर जिस स्थान मे यज्ञ किया जाता है, वह यागभूमि देवयजन कही जाती है।[4] देवयजन का उत्तर और पूर्व भाग नीचा होना चाहिए। यह स्थान तृणोपधिबहुल तथा वृक्षहीन और सम होता है। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसके सामने जल हो और जल न होने पर कोई महावृक्ष कूप या महापथ (दूरगामी मार्ग) सामने हो, किन्तु पास मे ऊँची भूमि या पर्वत न हो।[5]

पवित्र—नखो से न काटे हुए, अग्रभाग-सहित, आदेश (बालिश्त) भर लम्बे, मन्त्रो से सस्कृत, बराबर लम्बे, प्रोक्षणादि मे काम आनेवाले दो दर्भ पवित्र कहे जाते हैं।[6]

---

१. पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्यामानहविर्निवास सामिधेनीषु।—३-१-१२९; सामिधेनी शब्द ऋग्विशेषस्य वाचकः तत्र च धाय्येति न सर्वा सामिधेन्युच्यते। किं तर्हि? काचिदेव। रूढिशब्दोऽयम्। तथा चासामिधेन्यामपि दृश्यते।—३-१-१२९ काशिका।

२. प्रे स्त्रो यज्ञे।—३-३-३२।

३. जमदग्निर्वा एतत्पञ्च मम वदानमवाद्यत्।—१-१-४४ वा० १७, पृ० २६४।

४. समाप नाम देवयजनम्।—६-३-६७ पृ०, ३५६।

५. प्रागुदक्प्रवणं देवयजनं लोमशमवृक्षं समम्—पुरस्ताच्चास्यापःस्युः-तद्भावे महावृक्षे उदपानो महापथो वा—न चास्ये स्थलतरमदूरे स्यात्।—लाट्या० श्रौ० सू०, १-१-१४, १७।

६. ३-२-१८४।

पंचहोता—अग्निर्होता इत्यादि पाँच को पंचहोतृ कहते हैं। इनका अन्तिम वाक्य 'वाताये ईंधनभृत' आदि है।[1]

प्राशित्र—उपभृत में रखे हुए आज्य को जुहू में करके जुहू और उपभृत को यथास्थान रखकर यज्ञ में प्रथम प्रधान द्रव्य-सम्बन्धी प्राशित्र को अलग कर प्रणीता-पात्र के पश्चिम में रखते हैं।[2] यह प्रधान द्रव्य का भाग प्राशिता (ब्रह्मा) का भाग होने के कारण प्राशित्र कहा जाता है।[3]

स्थालीपाक—स्थाली में पकाया हुआ ओदन, जो गृहयज्ञों में आहुति के काम आता है।

व्रत—पत्नी और यजमान व्रतश्रयणागार (घर या रसोईघर) में पर्यग्निकरणादि दोषों से रहित घी या दूध मिला जो पदार्थ खाते हैं, वह भक्षणीय द्रव्य व्रत कहलाता है।[4]

भिन्न-भिन्न परिवारों में विशेष प्रकार के यज्ञों का प्रचलन था। उदाहरणार्थ, अङ्गिरों में द्विरात्र, गर्गों में त्रिरात्र, अत्रियों में चतूरात्र, जमदग्नियों में एक भिन्न प्रकार का चतूरात्र और उद्दालक कुसुर-विन्दवों में सप्तरात्र का विशेष प्रचार था।

---

१. ७-१-५७ तथा १-१-५८।
२. प्राशिता प्राश्नात्यत्र प्राशित्रम्।—५-१-९४, पृ० ३६८।
३. ४-१-८५, भा० ३, पृ० १५।
४. पयोव्रतो ब्राह्मणः।—भा० १, पृ० १९।

अध्याय १०

मूर्ति, पूजा और भक्ति

अर्चा और प्रतिकृति—पतंजलि ने सामान्य मूर्त्तियों को 'प्रतिकृति' और पूजार्थ बनाई गई मूर्त्तियों को अर्चा कहा है। प्रतिकृति मूलवस्तु का प्रतिरूप या प्रतिच्छन्द होती है। हाथी, घोड़े, गधे आदि के खिलौने उनसे बिलकुल मिलते-जुलते आकार के बनाये जाते थे। ये प्रतिकृति कहलाते थे। अश्व की प्रतिकृति अश्वक, उष्ट्र की उष्ट्रक और गर्दभ की गर्दभक कहलाती थी। प्रतिकृति बतलाने के लिए मूल वस्तु के वाचक शब्द के आगे 'क' लगाया जाता था।[1] प्रतिकृति न होने पर भी यदि कुछ आकृति-साम्य दिखाई पड़ा, तो समाकृति वस्तु का नाम मूल वस्तु के आगे 'क' लगाकर रख दिया जाता था। इस प्रकार अश्व से मिलते आकार की वस्तु यदि संज्ञा हुई, तो अश्वक कही जाती थी, भले ही वह उसकी प्रतिकृति न हो।[2] प्रतिकृतियाँ खिलौनों या कलाकृतियों के रूप में प्रचलित थीं। वे खुले बाजार में बिकती थीं।

इनके अतिरिक्त चित्र कर्म में और ध्वज पर भी प्रतिकृतियाँ अंकित की जाती थीं। काशिकाकार ने अर्जुन, दुर्योधन आदि के चित्रों का तथा कपि, गरुड, सिंह आदि की ध्वज-प्रतिकृतियों का उल्लेख किया है।[3] गरुड-प्रतिकृति-मय-ध्वज प्राचीन वैष्णवमन्दिरों में लगाये जाते थे। मेहरौली, सिसुनियाँ आदि स्थानों मे गरुडध्वज स्थापित करने से सम्बद्ध शिलालेख प्राप्त हुए हैं। पतंजलि ने ध्वजों में अंकित प्रतिकृतियों का उल्लेख नहीं किया है, यद्यपि चित्रकर्म की चर्चा उन्होंने की है और कृष्णपक्षीय और कंसपक्षीय चित्रों की विशेषता का वर्णन किया है।[4]

देवताओं की भी मूर्त्तियाँ बनती थीं। इन्हें शुद्ध अर्थ में प्रतिकृति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे किसी विद्यमान कृति का प्रतिरूप नहीं होती थीं, अपितु धार्मिक ग्रन्थों में देवविशेष के कल्पित स्वरूप के आधार पर बनाई जाती थीं। भाष्यकार ने इन देवमूर्त्तियों को अर्चा कहा है। उन्होंने तुंगनासिकी और दीर्घनासिकी अर्चाओं का भी उल्लेख किया है।[5]

अपण्य और पण्य अर्चाएँ—अर्चाएँ पूजा की वस्तु थीं। वे मन्दिरों या सार्वजनिक स्थानों पर भी प्रतिष्ठित की जाती थीं। कुछ लोग अर्चाओं से जीविका भी कमाते थे। जीविका कमाने

---

१. ५-३-९६।

२. ५-३-९७।

३. अर्चासु जीविकार्थासु चित्रकर्मध्वजेषु च इवे प्रतिकृतौ लोपः कनो देवपथादिषु।—५-३-१००, काशिका।

४. चित्रेष्वप्युद्गूर्णा निपतिताश्च प्रहाराद्दृश्यन्ते कंस-कर्षण्यश्च।—३-१-२६, पृ० ७९।

५. १-१-५४, पृ० ६६।

ने दो प्रकार रहे होंगे। कुछ लोग देवमूर्तियों को घर-घर ले जाकर उन पर चढ़ावा प्राप्त करते होंगे, जैसा कि अभी तक कुछ लोग करते हैं और यह चढ़ावा उनकी जीविका का साधन होता होगा। कुछ लोग घरों में मूर्त्ति रखकर भक्तजनों द्वारा चढ़ाये गये द्रव्य से निर्वाह करते होंगे। सार्वजनिक मन्दिरों में प्रतिष्ठित देवमूर्त्तियों के पुजारियों की जीविका का साधन भी अर्चाएँ ही थीं। ये अर्चाएँ जिस देवता की होती थीं, उसी के नाम से पुकारी जाती थीं। जैसे शिव की मूर्त्ति (पूजार्थ) शिव ही कही जाती थी।[1] इस प्रकार, अर्चाओं की एक श्रेणी पुजारियों के उदर-निर्वाह का साधन थी।

दूसरे प्रकार की अर्चाएँ वे थीं, जो लोगों की व्यक्तिगत पूजा के काम आती थीं। ये विशुद्ध पूजा की वस्तु थीं। ये मूर्त्तियाँ भी जिस देवता की होती थीं, उसी के नाम से पुकारी जाती थीं। उदाहरणार्थ-शिव, स्कन्द या विशाख की ये मूर्त्तियाँ भी शिव, स्कन्द या विशाख ही कही जाती थीं।[2] पतंजलि ने उक्त दोनों प्रकार की मूर्त्तियों को पूजार्थ कहा है।[3]

तीसरे प्रकार की मूर्त्तियाँ वे थीं, जो पूजार्थ नहीं, अपितु विक्रयार्थ बनाई जाती थीं। मौर्य राजाओं ने राज्य की आय के लोभ से देवताओं की मूर्त्तियाँ ढलवाकर उन्हें बाजार में बेचना प्रारम्भ किया था।[4] पण्यार्थ बनाई गई मूर्त्तियों का नामकरण सम्बद्ध देवों के आगे 'क' प्रत्यय लगाकर किया गया था। उदाहरणार्थ—बिक्री के लिए बनायी गई शिव, स्कन्द या विशाख आदि की मूर्त्तियाँ शिवक, स्कन्दक या विशाखक आदि कहलाती थीं। इस प्रकार, इन मूर्त्तियों की अश्वादि की प्रतिकृति के समान सामान्य खिलौनों में की गई है।[5] ये सब प्रतिमाएँ भीतर पोली रहती थीं।[6]

शिव, स्कन्द, विशाख—भाष्यकार ने अर्चाओं के प्रसंग में शिव, स्कन्द और विशाख का ही उल्लेख किया है। इससे यह तो निर्विवाद है कि इन देवताओं की मूर्त्तियों की पूजा का प्रचार था। इनके अतिरिक्त अन्य किन देवताओं की मूर्त्तियाँ पूजी जाती थीं, इस बात का स्पष्ट उल्लेख भाष्य में नहीं है। 'देवताद्वन्द्वे च' (६-३-२६) तथा 'द्वन्द्व रहस्यमर्यादा०' आदि (८-१-१५) सूत्र के भाष्य में पतंजलि ने स्कन्द और विशाख को अत्यन्त सहचरित तथा लोक-विख्यात द्वन्द्व कहा है।[7] इससे यह अनुमान होता है कि इन दोनों की मूर्त्तियाँ युग्म रूप में भी पूजी जाती थीं।

---

१. ५-३-९९।

२. वही।

३. यास्त्वेताः सम्प्रति पूजार्थास्तासु भविष्यति।—५-३-९९, पृ० ४७१।

४. अपण्य इत्युच्यते तत्रेदं न सिध्यति शिवः स्कन्दः विशाख इति किं कारणम्? मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः। भवेत्तासु न स्यात्—वही।

५. वही।

६. आ० १, पृ० १०।

७ ब्रह्मप्रजापती, शिववैश्रवणौ, स्कन्दविशाखौ—इन्द्र इत्यनुवर्तमाने पुनर्द्वन्द्वग्रहणं प्रसिद्धसाहचर्यार्थम्—लोकवेदयोर्द्वन्द्वमेव यथा स्यात्। ... लोकवेदयोर्द्वन्द्वं ये ... निर्दिष्टा न चैते वेदे सहचर्यानिर्दिष्टाः।—६-३-२६, पृ० ३१० तथा ८-१-१५, पृ० ३९८।

यह भी सम्भव है कि इनकी मूर्त्तियाँ युग्म रूप मे ढलती भी हो। यही वात शिव और वैश्रवण के विषय मे कही जा सकती है। भाष्यकार ने इन दोनो युग्मो को द्वन्द्व माना है, किन्तु वेद मे ये सह-वाप-निर्दिष्ट नही हैं। इससे इनकी एक साथ पूजा होना आवश्यक नही है। 'देवता द्वन्द्वे च' सूत्र के ही भाष्य मे द्वन्द्व रूप से निर्दिष्ट ब्रह्म और प्रजापति की मूर्त्तियाँ पूजी जाती थी या नही; और पूजी जाती थी, तो द्वन्द्व रूप मे या पृथक्-पृथक् यह वात भी भाष्य से स्पष्ट नही मालूम होती।[1]

पतजलि के अनुसार इस युग मे शिव-भक्ति का प्रचार सर्वाधिक जान पडता है। यहाँ तक कि शिवोपासको का अपना स्वतन्त्र सम्प्रदाय तक वन चुका था और वे शिवभागवत कहलाते थे। ये लोग शिव-चिह्न के रूप मे अपने पास त्रिशूल रखते थे। भाष्य मे इसे अय शूल कहा है। इसके रखनेवाले आय शूलिक कहे जाते थे। यो, आय शूलिक उन साहसिक लोगो को भी कहते, थे जो मृदु उपायो से करनेयोग्य कार्यो को तीक्ष्ण उपाय से करने के अभ्यस्त होते है। इस अर्थ मे अय शूल का प्रयोग लाक्षणिक था।[2]

काश्यप—काश्यप की भी मूर्त्ति पूजी जाती थी, इस वात का सकेत 'सरूपाणामेकशेष-एकविभक्तौ' (१-२-६४) सूत्र के भाष्य मे मिलता है। इसमे काश्यप की प्रतिकृति को काश्यप ही कहा है और यही प्रयोग लोक मे प्रचलित माना है। यह काश्यप शब्द अच् प्रत्ययान्त है, जिसके आगे प्रतिकृति अर्थ मे कन् प्रत्यय होता है, किन्तु अपण्य जीविकार्थ मूर्त्ति होने के कारण शिव, स्कन्द आदि के समान 'कन्' का लुप् (लोप) हो जाता है। स्पष्ट है, कश्यप की मूर्त्ति भी शिव की मूर्त्ति के समान पुजारी की जीविका का साधन थी। काश्यप वरुण या विष्णु का भी नाम है। कहा जाता है कि परशुराम ने क्षत्रियो का विनाश कर अश्वमेध करने के वाद पृथ्वी काश्यप को दान कर दी थी। इसीलिए, पृथ्वी को काश्यपी देवी कहते हैं।[3]

धनपति, राम और केशव—पतंजलि के समय मे धनपति या वैश्रवण की पूजा होती थी, यह वात स्पष्ट है।[4] राम और केशव की पूजा का भी चलन था, किन्तु ये राम और केशव कौन है? वलराम और कृष्ण अथवा परशुराम और विष्णु? परशुराम का उल्लेख भाष्य मे अन्यत्र कही नही है। जमदग्नि और जामदग्न्य का उल्लेख एक स्थान पर अवश्य हुआ है, किन्तु क्रमश पचावत हवन करनेवाले ऋषि विशेष तथा उनके गोत्रापत्यो के अर्थ मे।[5] परशुराम से उनका कोई सम्बन्ध नही वतलाया गया है। केशव शब्द का भी अन्यत्र कही उल्लेख नही है। भाष्यकार परशुराम के विषय मे उदासीन जान पड़ते हैं। वलराम का उल्लेख उन्होने अन्यत्र भी कृष्ण के

१. वही।

२. ५-२-७६, पृ० ३९८; किं योऽयःशूलेनान्विच्छति स आयःशूलिकः? किं चातः? शिवभागवते प्राप्नोति।

३. मोनियर विलियम्स डिक्शनरी।—पृ० २८१।

४. मृदङ्गशङ्खपणवाः पृथङ्ः नदन्ति संसदि प्रासादे धनपतिरामकेशवानाम्।—२-२-३४, पृ० ३८९।

५. १-१-४४, पृ० २६४।

साथ किया है।[1] उन्होंने एक श्लोकार्द्ध भी उद्धृत किया है, जिसमें संकर्षण के साथ उनकी बल वृद्धि की कामना की गई है। उस श्लोक में राम और कृष्ण के प्रति भक्ति एवं उनकी जय-कामना तो परिलक्षित होती ही है, उनके युग्म रूप में पूजित होने का भी आभास मिलता है। भास के 'स्वप्नवासवदत्त' का प्रारम्भ बलराम की स्तुति से होता है। कृष्ण के अतिरिक्त वासुदेव शब्द का उल्लेख भाष्य में अनेक बार हुआ है, किन्तु सर्वत्र महाभारत के वीर योद्धा, अर्जुन के सखा और कंस के घातक के रूप में।[2] इन समस्त प्रसंगों में उनका वृष्णि-वंश के नेता अथवा वर्ग या पक्षविशेष के नायक के रूप में स्मरण किया गया है। उनके पक्षपाती लोग थे, किन्तु कंस के पक्षपाती लोग भी थे। भाष्यकार ने कहा है कि नाटक में कंस का वध होने के समय कंस-भक्तों के चेहरे उदासी से काले पड़ जाते हैं[3] और कृष्ण-भक्तों के मुख क्रोध से लाल हो जाते हैं। इससे यह पता चलता है कि पतंजलि-काल में कंस के समर्थकों की संख्या भले ही कम-सही, विद्यमान थी। इस प्रकार, भाष्य के वासुदेव-सम्बन्धी उल्लेखों में उनकी विष्णुत्व-प्रतिष्ठा नहीं मिलती। हाँ, भाष्यकार ने एक स्थान पर अवश्य न केवल उन्हें अर्जुन से बड़ा ही बतलाया गया है, अपितु भक्ति से ऊपर उठाकर तत्रभवान्, अर्थात् देवता रूप में प्रतिष्ठित स्वीकार कर लिया गया है।[4] और, यदि हम 'संकर्षणद्वितीयस्य बलं कृष्णस्य वर्धताम्' (२-२-२४ पृ० ३६९) को अथवा 'संज्ञैषा तत्रभवत:' (४-३-९८ पृ० २४५) के साथ मिलाकर पढ़ें, तो इस निष्कर्ष पर अवश्य पहुँचेंगे कि पतंजलि-काल में कृष्ण में देवत्व का आरोप हो चुका था और बलराम के साथ उनकी पूजा होने लगी थी, यद्यपि ऊपर उद्धृत वाक्य का 'अथवा' जो कि भाष्यकार के ध्यान में देर से आया, इस ओर संकेत करता है कि कृष्ण वासुदेव में विष्णुत्व का आरोप अति प्रसिद्ध बात नहीं थी और यदि वे पूजे जाने लगे भी थे, तो भी शिव, स्कन्द, विशाख के समान सर्वमान्य देवता के रूप में पूर्ण प्रसिद्ध नहीं हो पाये थे।

देव-मन्दिर—देवताओं के स्थान को उपर्युक्त उद्धरण में प्रासाद कहा है। मन्दिर या प्रतिष्ठान शब्द का प्रयोग देवगृह के रूप में भाष्य में नहीं हुआ है। प्रासाद का भी मन्दिर अर्थ में केवल एक बार ही उल्लेख मिलता है। इससे भी अनुमान होता है कि पतंजलि-काल वैदिक कर्मकाण्डों का युग था। भक्ति का प्रारम्भ उस समय हो रहा था और यज्ञयागादिओं की तुलना में मन्दिरों की संख्या नगण्य थी। पाणिनि ने 'भक्तिमान्' शब्द की निष्पत्ति विशेष रूप से की है।[5] भक्ति शब्द का प्रयोग पतंजलि ने उस अर्थ में कहीं नहीं किया है, जिस अर्थ में आगे चलकर भागवत-सम्प्रदाय में यह व्यवहृत हुआ। पाणिनि और पतंजलि दोनों ने इसे [illegible]

१. संकर्षणद्वितीयस्य बलं कृष्णस्य वर्धताम्।—२-२-२४, पृ० ३६९।

२. जघान कंसं किल वासुदेवः।—३-२-१११, पृ० २८७ तथा ४-२-१०४, पृ० ३०८ तथा ४-३-९८, पृ० २४५, तथा ४-१-११४, पृ० १३९।

३. वही।

४. इदं तर्हि प्रयोजनं वासुदेवशब्दस्य पूर्वनिपातं वक्ष्यामि। अथवा नैषा क्षत्रियाख्या। संज्ञैषा तत्र भवतः।—४-३-९८, पृ० २४५।

५. ३-२-७१।

'लॉयल्टी' शब्द के अर्थ मे प्रयुक्त किया है। इसलिए, 'वासुदेवार्जुनाभ्या वुन्' (४-३-९८) के आधार पर 'वासुदेवक' शब्द का अर्थ वासुदेव का भक्त (उपासक) मान लेना भ्रम होगा; क्योकि जनपदो के साथ भी इस शब्द का प्रयोग भाष्य मे वार-वार हुआ है, जहाँ जनपद भक्त का अर्थ उनके प्रति 'लॉयल' मात्र होना है।[1]

देवमह—देवताओ के उत्सव मनाने की प्रथा थी। उत्सवो को 'मह' कहते थे और एतदर्थ एकत्र समाज को ससद्। धनपति, राम और केशव के प्रासाद की ससद् मे मृदग, शख और पणव वजने की चर्चा ऊपर हुई है। भाष्यकार ने इन्द्र और गगा के निमित्त होने-वाले 'मह' का भी उल्लेख अन्यत्र किया है एतदर्थ काम मे आनेवाली वस्तु ऐन्द्रमहिक और गागामहिक कही जाती थी।[2] इन 'महो' को 'कृत्य' भी कहते थे।

---

१. ४-३-१००, पृ० २४६ तथा ४-३-९६ से ९९।

२. ५-१-१२, पृ० ३०२।

परत्र प्रतिष्ठा—भाष्यकार ने इहलोक और परलोक दोनो मे सुख की चर्चा की है। ऐहलौकिक सुख को वे पर्याप्त नही मानते। वास्तव मे 'परत्र' प्रतिष्ठा[1] तथा काम-पूर्त्ति की चिन्ता[2] उन्हें 'अपुत्र' से अधिक थी, फिर भी वे जानते थे कि कामो का कही अन्त नही है।[3]

उपनिषद् और पतञ्जलि—महाभाष्य के पूर्व उपनिषदो की रचना हो चुकी थी, जिनमे काम, प्रवृत्ति, निवृत्ति, ब्रह्म, जीव, जगत् और मुक्ति-सम्बन्धी सूक्ष्म विवेचन है। फिर भी, पतञ्जलि को उपनिषदो की जानकारी थी, ऐसा महाभाष्य से प्रतीत नही होता। उन्होने ब्रह्मवादी और ब्रह्मज्य शब्दो का व्यवहार किया है, किन्तु वेदवादी तथा ब्राह्मणपीडक के अर्थ मे।[4] ब्रह्म शब्द का उपयोग उन्होने उपनिषद्-मान्य अर्थ मे कही नही किया है। साख्ययोगादि दर्शनो से भी वे अपरिचित मालूम होते है। ऐसे महान् वेदज्ञ कर्मकाण्डी का उपनिषदो से इस प्रकार अपरिचित होना इस बात का पोषक है कि उपनिषद् का दर्शन वैदिक कर्मकाण्ड के विरोध मे पल्लवित हुआ था। अत, यह स्वाभाविक था कि वैदिक लोग उनकी उपेक्षा करते हैं। उनका काम्य आत्मज्ञान नही, स्थूल सुख था और यज्ञ था उसका साधन। इसलिए वे ब्रह्मचिंतन के पचडे मे नही पडे। पतजलि ने ब्रह्म शब्द का प्रयोग वेद या ब्राह्मण के ही अर्थ मे सर्वत्र क्यो किया है, यह बात उक्त पार्श्वभूमि मे स्पष्ट समझी जा सकती है।

आत्मा—आत्मा के विषय मे भी भाष्यकार ने जो कहा है, वह बडे स्थूल ढग से कहा है। उन्होने आत्मा के दो प्रकार माने है—शरीरात्मा और अन्तरात्मा। जिन कर्मो के परिणाम-स्वरूप शरीरात्मा सुख-दु ख का अनुभव करता है, उनका कर्त्ता अन्तरात्मा होता है और जिन कर्मो के परिणाम-स्वरूप अन्तरात्मा सुख-दु ख का अनुभव करता है, उनका कर्त्ता शरीरात्मा होता है। इस परिभाषा के अनुसार शरीरात्मा और अन्तरात्मा दोनो कर्त्ता है और फलभोक्ता भी। इस प्रकार आत्मा आत्मा को मारता है, यह कथन भी युक्तिसगत हो सकता है।[5] अन्तरात्मा के कार्यो से शरीर को कष्ट पहुँच सकता है और शरीर के कार्यो से अन्तरात्मा को कष्ट हो सकता है। भाष्यकार ने यह स्पष्ट नही किया है कि विना अन्तरात्मा के आदेश से शरीरात्मा किस प्रकार कर्म कर सकता है। कार्य का मूल इच्छा है और इच्छा केवल चेतन मे ही रह सकती है। यह बात भाष्यकार को सम्यक् अवगत थी।[6] 'धातो कर्मण समानकर्तृकादिच्छा याञ्वा' (३-१-७) सूत्र का भाष्य करते हुए उन्होने इस विषय पर भी विचार किया है और कहा है कि इच्छा की उप-

---

१. सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र।—आ० १, पृ०५।

२. स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति—६-१-८४, पृ० ११९।

३. न वै कामानां तृप्तिरस्ति—वही।

४. ३-२-७८, पृ० २२८ तथा ३-२-३, पृ०२०५।

५. हन्त्यात्मानमात्मा—आत्मना हन्यत आत्मेति। कः पुनरात्मानं हन्ति को वात्मना-हन्यते। द्वावात्मानावन्तरात्मा शरीरात्मा च। अन्तरात्मा तत्कर्म करोति येन शरीरात्मा सुखदु.खे अनुभवति। शरीरात्मा तत्कर्म करोति येनान्तरात्मा सुखदु.खे अनुभवति।—३-१-८७, पृ० १५३।

६. ३-१-७, पृ० २९।

रुचि प्रवृत्ति में होती है। जो व्यक्ति चटाई बनाने जाता है, वह यह घोषणा करता नहीं घूमता। उसे रज्जु, कील, पूल हाथ में लिये तैयार देखकर लोग उसकी इच्छा समझ लेते हैं। यह पुरुष की बात हुई। पशुओं में भी यही बात देखी जाती है। मुमूर्षु कुत्ते एकान्त में पड़े रहते हैं और उनकी आँखें बाहर कट जाती हैं। अचेतनों में भी प्रवृत्ति रहती है। नदी का जो किनारा गिरनेवाला होता है, उसके लोष्ट शीर्ण हो जाते हैं, फट पड़ते हैं और एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं। इस प्रकार, अचेतनों में भी चेतनों के समान इच्छा दिखाई पड़ती है। अथवा सभी कुछ चेतनावान् है। कौड़ियाँ पानी में चलती हैं। शिरीष नीचे झुककर सोता है, सूर्यमुखी सूर्य का अनुसरण करती है, लोहा चुम्बक की ओर सरकता है। वेद में भी कहा गया है—'शृणोत ग्रावाणः'। इससे पता चलता है कि अचेतन कुछ नहीं है। इसी बात को दृष्टि में रखकर उन्होंने 'स्थानेऽन्तरतमः' (१-१-५०) सूत्र के भी भाष्य में कहा है कि चेतन-अचेतन सभी में सदृश के पास रहने की प्रवृत्ति देखी जाती है। ढेले को पूरी शक्ति से उठाकर फेंका जाय, तो वह न ऊपर जाता है और न तिरछा, अपितु पृथ्वी का विकार होने के कारण पृथ्वी पर ही आ जाता है। उसका पृथ्वी के साथ सादृश्य है। अन्तरिक्ष में सूक्ष्म जल का विकार धूम-सदृश कुहरा निवात आकाश-देश में न तिरछा जाता है, न नीचे आता है, अपितु जल का विकार जल में ही मिल जाता है। इसी प्रकार, ज्योति का विकार किरण निवात आकाश देश में जलने पर न तिरछा जाता है, न पीछे आता है, अपितु ज्योति का विकार होने के कारण ज्योति में ही मिल जाता है, क्योंकि इन दोनों में सादृश्य है। भाष्य के इस कथन से भी प्रतीत होता है कि पतञ्जलि अचेतनों में भी प्रवृत्ति और इच्छा स्वीकार करते थे।[1]

भावविकार—भाष्यकार ने भगवान् वार्ष्यायणि का मत उद्धृत किया है, जिन्होंने सत्तावान् या वर्तमान वस्तुओं को भाव कहा है। उनमें छह प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं—उत्पत्ति, विद्यमानता, विपरिणाम, वृद्धि, अपक्षय और विनाश। समस्त भाव इन छह परिवर्तनों से गुजरते हैं। यही सृष्टि की परिवर्तनशीलता है। कर्ता की प्रवृत्ति उत्पादन-क्रिया के समय अन्य प्रकार की होती है और मरण-क्रिया के प्रति अन्य प्रकार की। नित्य वस्तु वह होती है, जो ध्रुव, कूटस्थ, अविचाली, अनपाय-उपजन-विकार-रहित, उत्पत्ति-वृद्धि-व्यय-हीन हो।[2] किसी-किसी विचारक के अनुसार यह सारा संसार कूटस्थ है। इसमें कहीं कोई चेष्टा या व्यापार नहीं है। यह कहना कि संसार परिवर्तनशील है, बुद्धिमत्ता नहीं है। यहाँ चलाया हुआ बाण लक्ष्य तक नहीं जाता, नदियाँ सागर समुद्र को नहीं जातीं। यह संसार एक रूप में ही स्थित है।[3] पर दूसरे विचारक का कहना है कि संसार कूटस्थ नहीं है। इसमें परिवर्तन होते हैं, किन्तु आदित्य की गति के समान दिखाई नहीं पड़ते। कारण-सामग्री के जुट जाने पर जिस प्रकार संसार [illegible]

---

१. अचेतनेष्वपि। लोष्टः क्षिप्तो बाहुवेगं गत्वा नैव तिर्यग्गच्छति नोर्ध्वमारोहति पृथिवीविकारः पृथिवीमेव गच्छत्यान्तर्यतः।—१-१-५०, पृ० ३१०।

२. नित्यं नाम ध्रुवं कूटस्थमविचाल्यनपायोपजनविकार्यनुत्पत्त्यवृद्ध्यव्ययियोगि यत्तन्नित्यम्।—आ० १, पृ० १५।

३. ३-२-१२३, पृ० ५६।

जल जाते है, किन्तु जलते दीख नही पडते। उसी प्रकार ससार मे जो परिवर्त्तन होते है, उन्हे सामान्य लोग नही देख पाते। केवल त्रिकालज्ञ योगी ही उनके अस्तित्व का प्रत्यक्ष कर सकते हैं। सामान्य जन तो अनुमान से ही उनको जान पाते है।[1]

अनुमान-प्रमाण—पतजलि अनुमान-प्रमाण से अभिज्ञ थे। उपर्युक्त कथन के अतिरिक्त भी उन्होने अनुमान का प्रमाण के रूप मे उल्लेख किया है और साथ ही नैयायिको के प्रसिद्ध उदाहरण धूम को देखकर अग्नि के अनुमान का उल्लेख भी। उन्होने इसमे एक उदाहरण और जोड दिया है और वह है त्रिविष्टब्धक (त्रिदण्ड) को देखकर परिव्राजक का अनुमान, किन्तु बात यो नही है। पहले अग्नि और धूम का तथा त्रिविष्टब्धक और परिव्राजक का प्रत्यक्ष सम्बन्ध देखा जाता है। फिर, उन्हे अन्य स्थान मे भी देखकर जान लिया जाता है कि यहाँ अग्नि है या यहाँ परिव्राजक है।[2] आकाश मे सूर्य और चन्द्र के न दिखाई देने पर भी आकाश को प्रकाशित देखकर उनका अनुमान हो जाता है। अनुमान प्रत्यक्ष से अधिक बलवान् होता है। जैसे, अलातचक्र (घुमाये जाने या गोलाकार दिखनेवाले जलते काष्ठ) प्रत्यक्ष दिखाई देते है, किन्तु अनुमान से मालूम होता है कि वे वास्तव मे चक्र नही होते।[3]

प्रत्यक्ष—प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय-जन्य होता है। इसीलिए, इन्द्र या आत्मा के इन ज्ञान-करणो को इन्द्रलिंग कहते है। ये कारण ही आत्मा के भी अनुमापक है। बिना कर्त्ता के करण नही हो सकता। इसलिए, इन्द्रियो से आत्मा का अनुमान किया जा सकता है। आत्मा ने इन्हे स्वय देखा है, इसलिए इन्द्रियाँ इन्द्रदृष्ट कहलाती है। इनमे आत्मा ने स्वय के लिए उत्पन्न किया है, इनका स्वय वरण किया है और वह स्वय उन्हे भिन्न विषयो को प्रत्यक्षार्थ प्रदान करता है। इसलिए, इन्द्रियाँ इन्द्रदृष्ट, इन्द्रसृष्ट, इन्द्रजुष्ट और इन्द्रदत्त कही गई हैं।[4]

प्रत्यक्ष के बाधक—प्रत्यक्ष मे छह बाधक होते है—वस्तु का अत्यन्त सन्निकर्ष, वस्तु की बहुत दूरी, द्रष्टा और वस्तु के बीच किसी अन्य वस्तु का आ जाना, वस्तु का अन्धकार से आवृत होना और प्रत्यक्षेन्द्रिय की दुर्बलता। इन्द्रिय-दौर्बल्य मे इन्द्रियो का सावहित न होना भी सम्मिलित है।[5] यह आवश्यक है कि मन इन्द्रियो से सयुक्त रहे। मन और इन्द्रियो का सान्निध्य न होने

---

१. षड्भावविकारा इति ह स्माह भगवान् वार्ष्यायणिः। जायतेऽस्ति विपरिणमते-वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति। अन्यथा हि कारकाण्यस्ती प्रवर्त्तन्तेऽन्ययाहिम्रियते।—१-३-९, पृ० १४।

२. धूमं दृष्ट्वाऽग्निरत्रेति गम्यते त्रिविष्टब्धकं दृष्ट्वा परिव्राजक इति। विषम उपन्यासः। प्रत्यक्षस्तेनाग्निधूमयोरभिसम्बन्धः कृतो भवति त्रिविष्टब्धकपरिव्राजकयोश्च। स तद्विदेशस्यमपि दृष्ट्वा जानात्यग्निरत्र परिव्राजकोऽत्रेति। भवति वै प्रत्यक्षादनुमानबलीयस्त्वम्। अलातचक्र प्रत्यक्षं दृश्यतेऽनुमानाच्च मन्यते नैतदस्तीति।—३-२-१२४, पृ२५ तथा ४-१-३, पृ० १९।

३. वही।

४. ५-२-९३।

५ षड्भिः प्रकारैः सतां भावानामनुपलब्धिर्भवति-अतिसन्निकर्षादतिविप्रकृष्टान्मूर्त्यन्तरव्यवधानात्तमसावृतत्वादिन्द्रियदौर्बल्यादिति।-४-१-३-पृ० १८।

वह अर्थ होता है, जो छूट जाता है। जो अर्थ कढ जाता है, वह वढे हुए शब्द का अर्थ होता है और जो अर्थ स्थिर रहता है, वह स्थिर रहनेवाले शब्द का होता है। अन्वयव्यतिरेक की यह परिभाषा नैयायिको के अनुसार ही है।[1]

गुहा—उपनिषदो मे प्रयुक्त 'गुहा' शब्द महाभाष्य मे भी आया है और उसी अर्थ मे; किन्तु जिस श्लोक मे यह शब्द मिलता है, वह अन्यत्र से उद्धृत है।[2] निर्वाण का उल्लेख पाणिनि और पतजलि दोनो ने किया है, किन्तु इससे अधिक बौद्धदर्शन-सम्बन्धी कोई जानकारी हमे महाभाष्य से नही प्राप्त होती।

कार्य का लक्ष्य—मनुष्य के प्रत्येक कार्य का उद्देश्य किसी-न-किसी फल की प्राप्ति होता है। समझदार व्यक्ति पहले बुद्धि-पूर्वक किसी बात को देखता है। देखकर उसे पाने की कामना करता है। कामना के पश्चात् तदर्थ प्रयत्न प्रारम्भ होता है। प्रयत्न का फल कार्यारम्भ, उसका परिणाम काम का सम्पादन और कार्य-सम्पादन से फलावाप्ति होती है। फलावाप्ति से हीन कोई कर्म नही होता। कर्मों के अनुसार ही मनुष्य को मृत्यु के बाद दूसरा शरीर प्राप्त होता है। इसे पाणिनि और पतजलि ने परक्षेत्र कहा है।[3] काशिका ने भी परक्षेत्र का अर्थ जननान्तर-शरीर बतलाया है।[4]

अन्य दार्शनिक मत—पतजलि ने अनेक दार्शनिक मतो का भी उल्लेख किया है। आस्तिक, नास्तिक, दैष्टिक, लोकायत, अय शूली और मस्करी सम्प्रदायो से वे परिचित थे।

आस्तिक, नास्तिक और दैष्टिक—परलोक मे विश्वास रखनेवाले लोग आस्तिक कहलाते थे और परलोक मे विश्वास न रखनेवाले नास्तिक। 'अस्ति नास्ति दिष्ट मति.' (४-४-६०) सूत्र का भाष्य करते हुए पतजलि ने शका की है कि क्या जिसमे मति हो (यस्यास्ति मति.), उसे आस्तिक कहना चाहिए ? तब तो चोर भी आस्तिक कहा जायगा। इसलिए, 'है', यह जिसका विश्वास हो, उसे आस्तिक और 'नही है', यह जिसका विश्वास हो, उसे नास्तिक कहना चाहिए। इसी प्रकार, 'दिष्ट या भाग्य ही सब कुछ है', यह जिसका विश्वास हो, उसे दैष्टिक कहते है।[5] इससे यह स्पष्ट है कि पतजलि के समय तक आस्तिकता का ईश्वर या वेद से कोई सम्बन्ध न था। 'नास्तिको वेदनिन्दक' आदि बाते बहुत पीछे की है। भाष्यकार के समय मे ये तीनों मत विद्यमान थे। बुद्ध के समय मे जो छह शास्ता—(सघी, गणी, गणाचार्य और तीर्थंकर)

---

१. १-२-४५, पृ ५३३, ३४।

२. गुहा त्रीणि निहिता।—आ० १, पृ०७; य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारीभवति स बुद्ध्या तावत्कञ्चिदर्थं पश्यति। सन्दृष्टे प्रार्थना, प्रार्थनायामध्यवसायोऽध्यवसाय आरम्भ आरम्भेनिर्वृत्तिर्निवृत्तौ फलावाप्तिः।—१-४-३२ पृ०, १६८।

३. ५-२-९२, पृ० ४०२ तथा परक्षेत्रं जननान्तरशरीरम्।—वही, का०।

४. वही।

५. किं यस्यास्ति मतिः स आस्तिकः ? किं चातः ? चोरेऽपि प्राप्नोति। एवं तर्हीतिलोपोऽत्र द्रष्टव्यः। अस्तीत्यस्य मतिरास्तिकः। नास्तीत्यस्य मतिर्नास्तिकः। दिष्टमित्यस्यमतिर्दैष्टिकः।—४-४-६०, पृ० २८२।

कर्मों के परित्याग की शिक्षा देनेवाला कहा है।[1] अगुत्तरनिकाय (जि० १, पृ० २८६) मे भी उसका सिद्धान्त 'कर्म नही है, क्रिया नही है, वीर्य नही है' वतलाया है।[2]

मक्खलि मस्करी का प्राकृत रूप है। माकरण के उपदेश के कारण गोशाल मस्करी के नाम से पुकारे जाने लगे। ये आजीवक-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक थे। "ये अचेलक थे और अनेक प्रकार के कष्ट तय करते थे। जेतवन के पीछे उनका एक स्थान था। ये पचाग्नि तापते थे, उत्कुलिक थे और चमगादड की भाँति हवा मे झूलते थे। 'पालिनिकाय' मे इन्हे भुक्ताचार कहा है। एक सूत्रान्त मे इनको 'पुत्तमताय पुत्ता' कहा है, अर्थात् यह उस माता के पुत्र हैं, जिनके पुत्र मर जाते है।"[3] सम्भवत. कर्म और कर्मफल दोनो का प्रतिषेध करने के कारण ही इन्हे ऐसा कहा गया था।

वौद्धो और जैनो ने आजीवको की निन्दा की है। वुद्ध समसामयिक शास्ताओ मे सवसे वुरा आजीवको को मानते थे। फिर भी, समाज मे इनका आदर था। महावीर के समकालिक, कठोर आलोचक और प्रतिस्पर्धी होने के कारण प्राचीन जैनसाहित्य मे इन्हे अतिनिन्दित चित्रित किया गया है।[4] सोमदेव ने भी यशस्तिलक मे जैनो को आजीवको, वौद्धो, नास्तिको आदि से दूर रहने का उपदेश दिया है।[5] इसी प्रकार सद्धर्मपुण्डरीक मे कहा है कि वोधिसत्त्व चरको, परिव्राजको, आजीवको और निर्ग्रन्थो (जैनो) का सग नही करते।[6]

वुद्ध और महावीर के वाद भी शताब्दियो तक आजीवको की प्रतिष्ठा देश मे कायम रही। दक्षिण भारत तक इनका विस्तार था। "प्रसिद्ध तमिल महाकाव्य 'मणिमेखलइ' (Manimekhalai) मे, जो ईसा के प्रारम्भिक शतक की रचना है, अन्य सामयिक. दार्शनिक सिद्धान्तों और मतो के आजीवको का भी वर्णन है। इसी समय के रचित (Silappadi karam) नामक एक अन्य तमिल महाकाव्य मे उसकी नायिका कण्णाकि के पिता द्वारा अपनी सम्पत्ति के आजीवको को वाँट देने का वर्णन है।"[7] अशोक के तीन शिलालेखो मे आजीवको द्वारा राज्य के दान प्राप्त करने का तीन वार उल्लेख मिलता है। इससे अनुमान होता है कि वुद्ध के वाद शताब्दियो तक इस सम्प्रदाय का स्थान देश मे महत्त्वपूर्ण वना रहा।[8] यशस्तिलक मे आजीवको की चर्चा दसवी सदी तक उनके अस्तित्व की सूचना देती है। छठी शती मे कुमारदास ने जानकी-

---

१. अयं माकृत अयंमाकृतेत्युपक्रम्य शान्तितः काम्यकर्म प्रहाणिर्युष्माकं श्रेयसीत्युपदेष्टा मस्करीत्युच्यते, वही।—प्रदीप।

२. नत्थि कम्म नत्थि किरियं नत्थि किरियं।

३. नरेन्द्रदेव : वौद्धधर्म-दर्शन, पृ० ४।

४. गोपनि (gopani) आजीवक सेक्ट ए न्यू इन्टरप्रिटेशन इन भारतीय विद्या, जिल्द २, भाग २।

५. ट्रान्स० कर्न (kern), पृ०२६३, सेक्रेट बुक्स ऑफ् ईस्ट।

६. के० के० हुन्डिकिः यशस्तिलक ऐण्ड इण्डियन कल्चर, पृ० ३७५।

७. वही।

८. रीज डेविड्स : डायलॉग्स ऑफ् दि बुद्ध, भाग १, पृ० ७१।

ग्रन्थ में उनका उल्लेख किया है। गोसाल के अनुयायी आजीवक मस्करी कहलाते थे। ये लोग बड़ी-बड़ी जटाएँ रखते थे। इसीलिए, कुमारदास ने साधुवेषधारी रावण को मस्करी-सदृश [illegible] वाला कहा है।[1]

'उवासगदसाओ' और 'भगवतीसूत्र' आदि जैनग्रन्थों तथा बौद्ध पिटकों के अनुसार गोसाल का पिता भी मस्करी था। इसकी माता का नाम भद्रा था। ये दोनों भिक्षु थे। घूमते-घूमते एक बार वे गोबहुल नामक ब्राह्मण के अतिथि हुए और वहीं उनकी गोशाला में इनका जन्म हुआ। इसीलिए, ये गोसाल कहलाये। ये मगध के रहनेवाले और महावीर के प्रथम तथा बड़े भक्त शिष्य थे। बाद में सिद्धान्त-भेद हो जाने से वे महावीर से पृथक् हो गये और उन्होंने आजीवक नाम से अपना नया मत चलाया। जीवन-काल में इनके ६ प्रमुख शिष्य बने—१. शान, २ कलन्द, ३ कणिकार, ४. अच्छिद्र, ५. अग्निवैश्यायन, ६. गोमायुपुत्र अर्जुन। ये सब महावीर से ही रुष्ट होकर उनकी जमात में मिले थे। इसीलिए जैन 'गद्दार' के अर्थ में गोसाल शब्द का प्रयोग करते हैं। श्रावस्ती की हालाहला नाम कुम्हारिन इनकी भक्त थी। इनके शिष्यों ने इनके चरित्र का अनुशीलन 'अष्ट चरमवाद' का प्रचार किया। ये आठ चरम (अन्तिम) बातें ये हैं—१. चरमपान, २. चरमगान, ३. चरमनृत्य, ४ चरम अञ्जलिकर्म, ५. चरम पुष्कर संवर्तक महामेघ, ६ चरमसेचनक गन्धहस्ती, ७. चरम महाशिला कण्टकसंग्राम, ८ चरम तीर्थंकर। महावीर की मृत्यु से १६ वर्ष पूर्व ही इनकी मृत्यु हो गई।[2] भगवतीसूत्र से पता चलता है कि गोसाल त्रिपट अपने साथ रखते थे। महावीर का शिष्यत्व ग्रहण करते समय अन्य वस्तुओं के साथ यह त्रिपट भी उन्होंने ब्राह्मणों को दान कर दिया था।[3]

लोकायत—चार्वाक का भौतिकवाद लोकायतों का सम्प्रदाय था। भाष्यकार के समय में लोकायतों का मत काफी फैला जान पड़ता है। यह नास्तिक उच्छेदवादी सम्प्रदाय था, मृत्यु के अनन्तर आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता था। इनके मत की व्याख्या [illegible] पृथक् अपने मत का प्रचार करते थे। भाष्यकार ने भागुरी नामक परिव्राजिका का उल्लेख किया है, जो लोकायतों के मत का वर्णन करनेवाली और उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग के अनुसार वर्तन करनेवाली थी।[4] काशिकाकार ने चार्वाक के अनुयायियों को चार्वी कहा है। सम्भवतः, चार्वी मत का [illegible] का नाम था और उसी से सम्बन्ध उसके अनुयायी भी चार्वी [illegible] थे। यह बृहस्पति का दर्शन था। [illegible] से यह भी पता चलता है कि लोकायत [illegible] शास्त्र था, जो तर्क पर आश्रित था। इसी [illegible]

---

१. [illegible]मस्करी[illegible] —जानकीहरण, १०-७८।

२. बलदेव उपाध्याय : बौद्धदर्शनमीमांसा, पृ० २३।

३. [illegible] —भगवतीसूत्र।

४. वर्णिका भागुरी लोकायतस्य वर्तिका भागुरी लोकायतस्य।—[illegible], पृ० [illegible]।

को शिष्य को हृदयगम करा सकने मे सक्षम थे।[1] इसीलिए, इनके सिद्धान्त सम्मानित और पवित्र-पूजित थे। काशिकाकार ने लोकायत शिक्षक को ज्ञान का शिक्षण देनेवाला बतलाया है; क्योंकि प्रमेय का निश्चय करना ही ज्ञान है और लोकायत प्रमेय को तर्क से सिद्ध करता है।[2]

---

१. नयते चार्वी लोकायते। चार्वी बुद्धिः तत्सम्बन्धादाचार्योऽपि चार्वी। स लोकायते ाास्त्रे पदार्थंन्नयते। उपपत्तिभिः स्थिरीकृत्य शिष्येभ्यः प्रापयति। ते युक्तिभिः। स्थाप्यमाना म्मानिता पूजिता भवन्ति।—१-३-३६ काशिका।

२. ज्ञान प्रमेयनिश्चयः। नयते चार्वी लोकायते। तत्र प्रमेयं निश्चिनोतीत्यर्थः।—हो।

अर्थात् ये लोग भूनकर खा सकते हैं। प्रवृत्ताशी हाथ मे लेकर खाते है और मुखेनादायी हाथ का भी उपयोग नही करते। वे केवल पशुवत् मुख से ही लेकर खाते है। तोयाहार जल के सहारे निर्वाह करते है और वायुभक्ष निराहार रहकर जीवन विताते है। स्वाध्याय और पचमहायज्ञो का अनुष्ठान गृहस्थो के समान वानप्रस्थ भी करते है।[1]

वानप्रस्थ के वैदिक कृत्य—उपर्युक्त विवरणो से स्पष्ट है कि वानप्रस्थ वैदिक धर्मानुयायियो का आश्रम था। और सूत्रग्रन्थो की रचना से पूर्व त्रिवेद और त्रिवर्ण के समान आश्रमत्रयी ही समाज मे आदृत थी। सन्यास का प्रचलन वौद्ध आन्दोलन के पश्चात् हुआ। इसीलिए सूत्र-ग्रन्थो मे संन्यास और वानप्रस्थ का वर्णन वहुत कुछ अस्पष्ट और अन्योन्याश्रित-सा है। वैदिकधर्मी यज्ञ और वलि का परित्याग करने के लिए किसी भी स्थिति मे तैयार न थे। वे 'यावज्जीव जुहुयात्' मे विश्वास रखते थे। छान्दोग्य की धर्म-स्कन्ध श्रुति इस वात की समर्थक है। उसमे यज्ञ, अध्ययन, दान, अर्थात् गृहस्थाश्रम, तप, अर्थात् वानप्रस्थ और आचार्यकुलावास या ब्रह्मचर्य ये तीन धर्म के स्कन्ध वतलाये है।[2] इसीलिए, वौधायन ने 'ऐकाश्रम्य', अर्थात् गृहस्थाश्रम का प्राधान्य स्वीकार करते हुए सन्यासादि विभेदो को अग्राह्य माना है। उनके मत से वेद-प्रतिपादित आश्रम देवाहुति-प्रधान है। पचयज्ञ का परित्याग करनेवाले आश्रम (सन्यास) को लेकर आश्रम-विभेद देवो के स्पर्धालु प्रह्लाद के पुत्र असुरकपिल ने वनाये है। उनका लक्ष्य देवताओ को दी जानेवाली आहुति का विरोध करना है। अत, मनीषी को उनका आदर नही करना चाहिए।[3] ध्यान देने योग्य वात यह है कि वौधायन ने आश्रम-भेद का विरोध जिस यज्ञ-त्याग के भय से किया है, वह यज्ञ-त्याग केवल सन्यास मे ही विहित है। अत, सन्यास का अनादर ही वौधायन का लक्ष्य है। ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ दोनो मे स्वाध्याय और यज्ञ आवश्यक है।

तपस्वी—भाष्यकार के वानप्रस्थ विषय के उल्लेख न केवल विषय की दृष्टि से, अपितु शब्दावली की दृष्टि से भी सूत्रग्रन्थो से मेल खाते है। कई स्थानो पर तो उन्होने धर्मसूत्रो का अनुवादमात्र-सा उपस्थित किया है। वानप्रस्थ तप का आश्रम है। भाष्यकार ने वानप्रस्थ के लिए तपस्वी या तापस शब्द का व्यवहार किया है, जिनका लक्ष्य ही तपश्चरण था।[4] काशिकाकार ने भी 'तापस तप करता है', इस वाक्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि उपवासादिक तप तापस को तपाते है। अस्थिचर्मविशिष्ट तापस स्वर्ग-प्राप्ति के लिए तप करता है।[5] स्वर्ग-प्राप्ति

---

१. वानप्रस्थी वैखानसशास्त्रसमुदाचारः-वैखानसो वने मूलफलाशी, तपश्शीलः सवनेषूदकमुपस्पृशन् श्रामणकेनाग्निमाधायाग्राम्यभोजी देवपितृभूतमनुष्यर्षिपूजकः सर्वातिथिः प्रतिषिद्धवर्जं भैक्षमप्युपभुञ्जीत न फालकृष्टमधितिष्ठेद् ग्रामं च न प्रविशेज्जटिलश्चीराजिनवासा नातिसवत्सर भुञ्जीत।—बौधा० ध० सु०, २-६-१६, १७।

२. बौधा० धर्मसूत्र०, प्रश्न २, ख० ११।

३. वही।

४. ३-१-१५, पृ०५५।

५. ३-१-८८ का०।

वैदिक धर्मानुयायियों को ही मान्य रही है, अतः वे ही इस आश्रम को ग्रहण करते थे। तप, श्रद्धा, दीक्षा ये जीवन के अभिन्न अंग थे। भोजन पर नियन्त्रण तप का महत्त्वपूर्ण अंग था।[1] [illegible] अब्भक्ष (जल पर ही निर्वाह करना) और वायुभक्ष (केवल वायु पीकर, अर्थात् निराहार रहना) होना गौरव की बात मानी जाती थी।[2] भाष्यकार ने तापसों को जटिलक कहा है।[3] वे [illegible] अध्यापन-कार्य करते थे। उपनिषद् और सूत्रकाल के अध्यापक प्रायः वानप्रस्थ थे। मुण्डी, जटी, शिखी ये तीन अवस्थाएं ब्रह्मचर्य वानप्रस्थ और संन्यासी की होती थीं।[4] जटी या जटिल लोग कर्त्तव्यविहीन भी होने लगे और जटाओं के नाम पर लोगों को भुलावा देकर उनसे धन प्राप्त करते थे, यह बात भाष्यकार को अविदित नहीं थी। पाणिनि-सूत्र (५-२-१००) में भी जटिल होना निन्दा की बात माना है। श्यामाक, कण और बेर (बदरी) आदि अकृष्टपच्य अन्न, फल आदि उञ्छ में शामिल थे।[5] सच्चे तपस्वी गृहस्थाश्रम में अर्जित महान् सम्पत्ति का भी परित्याग कर उञ्छवृत्ति से प्राणयापन करते थे। भाष्यकार ने किसी ऐसे व्यक्ति के उञ्छवृत्ति से निर्वाह करने की चर्चा की है, जिसके जन्म का शुभ समाचार सुनानेवाले ब्राह्मणों को उसके [illegible] ने दस सहस्र गायें दान में दी थीं।[7] इस प्रकार, पतञ्जलि के समय में वानप्रस्थ आश्रम एक जीवित संस्था जान पड़ता है। जटिल होने के साथ तापस लोग चीर या अजिन धारण करते थे।[8] भाष्य में कुश (दर्भ) धान का भी उल्लेख मिलता है।[9] ये लोग स्थण्डिलशायी तथा [illegible] होते थे।[10] भाष्य में स्थण्डिलशायिनी का उल्लेख है, जो तापसी या वानप्रस्थ स्त्रियों का [illegible] है।

वनस्थों के व्रत—वानप्रस्थ लोग अनेक प्रकार के कृच्छ्र व्रतों का भी अनुष्ठान करते थे। इनमें से कुछ आत्मशुद्धि के लिए और कुछ प्रायश्चित्त के रूप में होते थे। चान्द्रायण [illegible] कठिन व्रत है।[11] सूत्रकार ने अनुताप को भी तप कहा है।[12] यह मासिक, अर्थात् मास में पूर्ण होनेवाला व्रत है। इसका प्रारम्भ शुक्ल चतुर्दशी को केशश्मश्रुलोमनख आदि [illegible] धारण कर उपवास के साथ होता है। पूर्णिमा के दिन भोजन के, जो कि [illegible]

---

1. ७-३-३६, पृ० ३९०।
2. आ० १, पृ० १४।
3. १-२-३२, पृ० ५११।
4. ६-१-४८, पृ० ७९।
5. वही तथा १-१-१, पृ० १०५।
6. १-४-३, पृ० १३१।
7. दीर्घमायुः दशसहस्राणि पुत्रे जाते गवां ददौ।
   ब्राह्मणेभ्यः प्रियाख्येभ्यः सोऽयमुञ्छेन जीवति।—१-४-३, पृ० १३१।
8. ३-१-१९, पृ० ५७ तथा ४-३-६०, पृ० २३८।
9. [illegible]।—२-१-६९, पृ० ६३०।
10. ४-१-१, पृ० १० तथा ६-३-६९।
11. ५-१-७२, पृ० ३३७।
12. ३-१-९५।

के समान होता है, पन्द्रह भाग कर लिये जाते है। कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा को उनमे से १४ ग्रास लेकर प्रतिदिन एक कम कर दिया जाता है और इस प्रकार अमावस्या को फिर उपवास हो जाता है; क्योकि उस दिन कोई ग्रास नही रहता। फिर शुक्लपक्ष की अमावस्या को एक ग्रास लेकर प्रतिदिन एक ग्रास बढाया जाता है और पौर्णमासी को स्थालीपाक से आहुति देकर पूर्णाहार के साथ व्रत समाप्त होता है। पाणिनि ने चान्द्रायण के साथ पारायण और तुरायण का भी उल्लेख किया है, जिनमे पारायण और तुरायण तो दूसरा व्यक्ति भी किसी के लिए कर सकता है, पर चान्द्रायण व्यक्ति को स्वय ही करना होता है। इसीलिए, काशिकाकार[1] ने चान्द्रायणिक को तपस्वी कहा है। बौधायनधर्मसूत्र (३-८) मे चान्द्रायण की विस्तृत विधि दी हुई है। वानप्रस्थो की यज्ञशाला को भाष्यकार ने 'आरण्यक विहार' कहा है।[2] आपस्तम्ब मे भी 'अग्न्यर्थ शरणम्' का विधान है।[3]

स्त्री-वानप्रस्थ—वानप्रस्थो मे कुमार और कुमारियाँ भी रहती थी;[4] क्योकि कुछ लोग विना गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट हुए सीधे वैखानस व्रत ले लेते थे। आपस्तम्ब मे इसका विधान है[5] और इसीलिए अभिज्ञानशाकुतल मे दुष्यन्त शकुन्तला के विषय मे जिज्ञासा करता है कि क्या वह विवाह होने तक ही वैखानस व्रत का पालन करेगी या यावज्जीवन।[6] पाणिनि के 'कुमार-श्रमणादिभि.' (२-१-७०) के श्रमणादिगण मे पठित श्रमणा, तापसी, प्रव्रजिता शब्द, जिनका कुमार (कुमारी) शब्द के साथ तत्पुरुषसमास का विधान किया गया है, इसके प्रमाण है।[7]

इस तप और सयम और कष्ट-सहन का परिणाम वानप्रस्थ के जीवन पर पडना स्वाभाविक था। व्यक्ति अपने तपोवल से न केवल अपना, अपितु अपने पूर्वजो का भी उद्धार कर सकता था। अपने साथ अपनी दो ऊपरी पीढियो (गाथि और कुशिक) को ऋषित्व प्रदान करनेवाले विश्वामित्र के तप का वर्णन भाष्यकार ने किया है। 'मैं अनृषि न रहूँ, अनृषि का पुत्र न रहूँ और अनृषि का पौत्र न रहूँ' इस उद्देश्य से किये गये उनके तप ने गाधि और कुशिक को भी ऋषि वना दिया, यह विश्वास पतजलिकालीन धार्मिक-वर्ग मे विद्यमान था।[8]

ऊर्ध्वरेता—वासिष्ठधर्मसूत्र (९-५, ६) मे वानप्रस्थ को क्ष्माशय (भूमि पर सोने वाला) अनिकेत और ऊर्ध्वरेता कहा है।[9] ऊर्ध्वरेता होते हुए सन्तान उत्पन्न करना या न

---

१. ५-१-७२।

२. ४-२-१२९, पृ० २१६।

३. २-९-२२, पृ० २१।

४. श्रमणादिगण, २-१-७०।

५. अतएव ब्रह्मचर्यवान् प्रव्रजति अथ वानप्रस्थः।—२-९-२१-१९, १८।

६ अभि० शाकु० १-२७।

७. २-१-७०,

८. विश्वामित्रस्तपस्तेपे नानृषिः स्यामिति। तत्रभवानृषिः सम्पन्नः। सपुनस्तपस्तेपे नानृषेः पुत्रः स्यामिति। तत्रभवान् गाधिरप्यृषिः सम्पन्नः। स पुनस्तपस्तेपे नानृषेः पौत्रः स्यामिति। तत्रभवान् कुशिकोऽपि ऋषिः सम्पन्नः।—४-१-१०४, पृ० १३३।

९. ४-१-७९, पृ०८८।

कोई भी द्विज संन्यास ले सकता था[1] और बन्धुओं को छोडकर अपरिग्रही बनकर प्रव्रज्या ले सकता था। परिव्राजक घर का परित्याग कर अरण्य मे रहते थे। वे कौपीन-मात्र पहनते थे। उनके वस्त्र काषाय रग के होते थे। जिस समय घर मे कूटना-पीसना नही चलता था और चूल्हे की आग बुझ चुकती थी तथा जूठे बरतन मले जा चुकते थे,उस समय परिव्राजक गृहस्थो के घर से भिक्षा माँगकर खाता था, जिससे किसी गृहस्थ को असुविधा न हो।[2] वासिष्ठधर्मशास्त्र मे कहा है कि मुनि सब भूतो को अभय प्रदान करता चलता है, इसलिए उसे भी किसी भूत से भय नही होता।[3] बौधायन मे उसे वाक्, मन, कर्म और दण्ड से भूतो का अद्रोही बतलाया है[4] और थोडे से अन्तर से उक्त कारिका का उल्लेख किया है। संन्यासियो मे पुरुष भी होते थे और स्त्रियाँ भी। पाणिनि ने श्रमणादि गण मे प्रव्रजिता का परिगणन कर कुमारी प्रव्रजिताओ के अस्तित्व की सूचना दी है।[5] और, पतजलि ने शकरा नाम की परिव्राजिका का उल्लेख करते हुए कहा है कि कुणरवाडव उसे शगरा कहते हैं।[6] सन्यासी एकदण्डी भी होते थे और त्रिदण्डी भी। भाष्य मे दोनो का उल्लेख मिलता है। दण्डिमती शाला और दण्डिन्याय एक दण्डवाले सन्यासियो के सूचक है।[7] तीन दण्डो का समूह त्रिविष्टब्धक कहलाता था। भाष्यकार ने कहा है कि सन्यासी न होने पर भी यदि किसी के हाथ मे दण्ड हुआ, तो उसे दण्डी कह देते है, किन्तु त्रिविष्टब्धक केवल परिव्राजको के पास ही होता है। त्रिविष्टब्धक देखकर सन्यासी पहचाना जाता है।[8] जिस प्रकार धुआँ देखकर अग्नि का अनुमान कर लिया जाता है। परिव्राजक लोग तीन दण्डो को सूत की रस्सी से बाँधकर त्रिविष्टब्धक बनाते थे।[9] इस बात की पुष्टि बौधायन ने परिव्राजक को इच्छानुसार एक या तीन दण्ड धारण करने की अनुमति देते हुए,की है।[10] परिव्राजको को भिक्षु और मुनि भी कहते थे।[11] बौधायन ने उसके लिए भिक्षुक शब्द का प्रयोग किया है[12] और आपस्तम्ब मे मुनिक।[13]

---

१. यदहरेव विरमेत्तदहरेव प्रव्रजेत्। जाबालोपनिषद्।—४।

२. वासि० ध० सू०, १०-२।

३. बौधा० धर्मसू०, २-११-१७ से २५।

४. वासि० ध० सू०, २-११-२५।

५. ३-१-७०।

६. ३-२-१४, पृ० २१२।

७. ५-२-९४, पृ० ४०८ तथा ८-२-८३, पृ० २८८।

८. धूमं दृष्ट्वाग्निरवैति गम्यते त्रिविष्टब्धकं च दृष्ट्वा परिव्राजक इति।—२-१-१, पृ० २४३।

९. १-१-१, पृ० १२०।

१०. बौधा० ध० सू०, २-१०-१।

११. आप० ध० सू०, २-९-१।

१२. भिक्षाबलिपरिश्रान्तः पश्चाद् भवति भिक्षुकः।—बौधा० २-१०-१७।

१३. आप० २-९-१।

काचन और धर्माधर्म, सत्यासत्य, शुद्धयविशुद्ध आदि द्वैतो से ऊपर होते थे तथा सब वर्णों के गृह से भिक्षान्न ग्रहण करते थे। पाणिनि ने इन्हे सर्वान्नीन कहा है।[1]

अपच भिक्षु—सभी भिक्षु अपच होते थे। वे पकाकर भोजन नही करते थे। वृद्ध होने पर भी वे अशक्त होने के कारण नही, अपितु शास्त्र-विधान के कारण ही अपच होते थे। काशिकाकार ने 'अचृकावशक्तौ' (६-२-१५७) सूत्र के भाष्य मे इस बात को स्पष्ट किया है।

अर्हत्—कर्त्तव्यानुष्ठान करनेवाले सिद्ध परिव्राजक 'अर्हन्' माने जाते थे। कात्यायन और पतजलि ने 'अर्हत्' की स्थिति को आर्हन्त्य या आर्हन्ती कहा है।

श्रमण-ब्राह्मण—पतजलि ने विभाषावृक्ष मृग० आदि (२-४-१२ पृ० ४६७) का भाष्य करते हुए 'श्रमण ब्राह्नणम्' को 'येषा च विरोध शाश्वतिक.' (२-४-९) का उदाहरण माना है, जिससे स्पष्ट पता चलता है कि पतजलि से पूर्व शताब्दियो से श्रमणो और ब्राह्मणो मे घोर विरोध चला आता था और इस विरोध से सारा समाज इसी प्रकार परिचित था, जिस प्रकार काक-उलूक या अहि-नकुल-वैर से था। और इसका कारण था। श्रमण अवैदिक थे। वे यज्ञ-यागादि क्रिया-कलाप को महत्त्व नही देते थे। इनकी दृष्टि मे या तो इनका क्षुद्र फल है या ये निरर्थक और निष्प्रयोजनीय है। श्रमण आस्तिक और नास्तिक दोनो प्रकार के थे। इनके कई सम्प्रदाय तपस्या को विशेष महत्त्व देते थे। जो आस्तिक थे, वे भी जगत् का कोई स्रष्टा, कर्त्ता नही मानते थे। 'पालिनिकाय' मे जिन श्रमणो का उल्लेख है, उनमे प्राय नास्तिक ही है। ब्राह्मण और श्रमण ये दो सस्कृति-परम्पराएँ प्राचीन काल से चली आती है। ये एक दूसरे से प्रभावित हुई हैं।[2] इनमे नैसर्गिक वैर था। ब्राह्मण मुण्ड-दर्शन को अशुभ मानते थे। ब्राह्मण सासारिक थे। श्रमण अनागरिक होते थे और ब्रह्मचर्य का पालन करते थे। यह बात स्पष्ट समझ लेने पर बौधायन के इस कथन का कारण कि "वास्तव मे गृहस्थाश्रम ही प्रमुख है, परिव्राजकादि अन्य आश्रम प्रह्लाद-पुत्र कपिलासुर ने देवो से स्पर्धा करने के लिये चलाये है, जिससे उन्हे यज्ञांश न मिल सके। विद्वान को इन आश्रमो का आदर नही करना चाहिये"[3] सरलता से समझा जा सकता है।

बौद्ध और वैदिक आश्रमो का परस्पर प्रभाव—इतना विरोध होते हुए भी ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैनधर्मो ने इस विषय मे परस्पर एक दूसरे को प्रभावित किया है। "ब्राह्मण धर्म के अन्तर्गत तापस भी होते थे, जिनको वैखानस कहते थे। बौद्ध भिक्षुओ मे भी ऐसे भिक्षु होते थे, जो वैखानसो के नियमो का पालन करते थे। इन नियमो को 'धुतग' कहते है। वृक्षमूलनिकेतन, अरण्य-निवास, श्मशानवास, अभ्यवकासवास, पाशुकूलधारण आदि धुतग हैं। वैखानसो से प्रभावित होकर बौद्धधर्म मे भी यति होने लगे। कुछ विद्वानो का कहना है कि जब बौद्धधर्म पूर्व से पश्चिम की ओर गया, तब इस प्रकार के परिवर्त्तन हुए। पश्चिम देश मे पूर्व की अपेक्षा ब्राह्मणो का प्रभाव अधिक था।"[4] वास्तव मे वैदिको मे तीन आश्रमो की ही प्रथा थी। चतुर्थ आश्रम बाद

---

१. ५-२-९ काशिका।

२. नरेन्द्रदेवः बौद्धधर्म-दर्शन, पृ० १।

३. बौधा० धर्मसूत्र, २-११।

४. बौद्धधर्म-दर्शन, पृ० २।

अध्याय १३

धर्मकृत्य और विश्वास

पाप-पुण्य

धार्मिक भाष्य मे चतुर्वर्ग के स्थान पर धर्म, अर्थ और काम के त्रिवर्ग का ही उल्लेख है।[१] मोक्ष की चर्चा भाष्य मे नही है। वैदिक पण्डितो का लक्ष्य स्वर्ग था, मोक्ष नही। निर्वाण का उल्लेख एक स्थान पर अवश्य हुआ है, किन्तु दार्शनिक अर्थ मे नही।[२] धर्म स्वर्ग्य माना जाता[३] था और अधर्म अन्धतमसावृत लोको को ले जानेवाला। धर्म का आचरण करनेवाला धार्मिक और अधर्म का अनुष्ठाता आधर्मिक कहलाता था।[४] पाणिनि ने सुकर्मकृत्, पुण्यकृत् और पाप-कृत् शब्दो की निष्पत्ति के लिए पृथक् सूत्र का निर्माण किया है। आधर्मिक और अधार्मिक मे भाष्यकार ने अन्तर किया है।

धर्म—धर्म के प्रति भाष्य मे गम्भीर श्रद्धा का भाव व्यक्त हुआ है। धर्माधर्म का निर्णय शास्त्र के अधीन था।[५] कामचार की स्थिति मे शास्त्र नियमन करता था और तदनुसार किया गया आचरण अभ्युदयकारी माना जाता था।[६] अशास्त्रोक्त कर्म विगुण होता है और विगुण कर्म करने से फल की अवाप्ति नही होती, यह धारणा थी।[७] शास्त्र का काम ही धर्मोपदेश है। वह जो कुछ बतलाता है, धर्म माना जाता था।[८] धर्म का निर्णय एक दूसरे प्रकार से भी किया जाता था। जहाँ शास्त्र मौन या अस्पष्ट हो, वहाँ ऋषि-सम्प्रदाय मे प्रचलित आचार प्रमाणित और धर्म माना जाता था।[९] पूर्व-पुरुषो द्वारा आचरित पन्थ, जिन्हे 'पूर्विण या पूर्व्य' कहते थे, शास्त्रवत् प्रमाणित माने जाते थे। काशिकाकार ने कहा है कि पूर्व पुरुषो द्वारा दिखाये गये मार्ग प्रशस्त होते है। सूत्रकार ने उनकी प्रशसा की है और तदर्थ पृथक् सूत्र बनाया है।[१०]

---

१. २-२-३४, पृ० ३९०।

२. ५-१-१११, पृ० ३४५।

३. ८-२-५०, पृ० ३६८।

४. ४-४-४१, पृ० २७९।

५. शास्त्रेण धर्मनियमः।—आ० १, पृ० १८।

६. आ० १ ,पृ० १९।

७. अशास्त्रोक्ते क्रियमाणे विगुणं कर्म भवति। विगुणे च कर्मणि फलानवाप्तिः—१-२-६४, पृ० ५८९।

८. धर्मोपदेशनमिदं शास्त्रम्।—६-१-८४, पृ० २१७।

९. ऋषिसम्प्रदायो धर्मः।—आ० १, पृ० २०।

१०. ४-४-१३३ काशिका।

वध और सुरापान मे महान् दोष वतलाया गया है।[१] यह कहते समय निश्चय ही उनकी दृष्टि धर्मसूत्रो की ओर थी। अन्यत्र भी उन्होने कहा है कि धर्मशास्त्र की प्रवृत्ति इसी ओर है कि ब्राह्मण-वध और सुरापान नही करना चाहिए।[२] जो व्यक्ति अनजान मे भी ब्राह्मण को मारता है या सुरा पीता है, वह भी पतित हो जाता है।[३] ब्राह्मण के लिए तो सुरापान का सर्वथा निषेध था। सुरापी ब्राह्मणी पतिलोक को नही प्राप्त होती, धर्मशास्त्र के इस कथन को भी पतजलि ने भाष्य मे उद्धृत किया है।[४]

गुरुतल्प-गमन--धर्मशास्त्रो द्वारा वर्णित अन्य पातको मे गुरुतल्प-गमन भी महत्त्वपूर्ण है। भाष्य मे गौरुतल्पिक का उल्लेख किया है[५] और कहा है गुरुतल्पग का सर्वथा ध्वस हो जाता है।[६] परदार-गमन भी पाप माना जाता था। समाज पारदारिक को घृणित दृष्टि से देखता था। ब्राह्मण के लिए ब्राह्मणेतर स्त्री का सयोग शिष्ट व्यवहार से सर्वथा वाहर था।[७]

अन्य पातक--ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, माता-पिता और भाई का वध भयकर पापो की श्रेणी मे था।[८] भ्रूणहत्या का उल्लेख भाष्य मे अनेक वार हुआ है[९] और इस सन्दर्भ मे भाष्यकार ने वैदिक प्रमाण भी उद्धृत किये है, जिनसे स्पष्ट है, कि वैदिक काल मे ही इस पातक के विरोध का प्रारम्भ हो चुका था।[१०] भ्रूणहा के कर्म के लिए भ्रौणहत्य तथा उससे सम्वद्ध अन्य वस्तुओ के लिए भाष्य मे भ्रौणघ्न शब्द का प्रयोग हुआ है।[११] पाणिनि ने भी पृथक् सूत्र द्वारा इन शब्दो की निष्पत्ति प्रतिपादित की है। ब्रह्महा, मातृहा, पितृहा और भ्रूणहा इन चारो के प्रति समान घृणा का भाव था। पतजलि ने इनका एक साथ उल्लेख किया है।[१२]

अनृत--इन महापातको के अतिरिक्त अनृत-कथन भी पाप या अधर्म माना जाता था। अनृत दो प्रकार से वोला जा सकता है-प्रच्छन्न और व्यक्त। भाष्यकार ने दोनो की ओर सकेत किया है[१३] और उसे अग्राह्य कहा है। भाष्य से यह भी ध्वनित होता है कि सामान्य जनो की प्रवृत्ति

---

१. ब्राह्मणवधे सुरापाने च महान् दोष उक्तः।--वही, पृ० २१८।

२. १-२-६४, पृ० ५८७।

३. आ० १, पृ० ५।

४. या ब्राह्मणी सुरापी भवति नैनां देवाः पतिलोकं नयन्ति।--३-२-८, पृ० २१०।

५. ४-४-१, पृ० २७३।

६. ध्वंसते गुरुतल्पगः।--३-२-४८, पृ० २१७।

७. १-३-५५, पृ० ६९।

८. १-१-३९, पृ० २४८ तथा ३-२-८७ तथा ८-२-२, पृ० ३१५।

९. वही।

१०. तां प्राणहत्यां निगृह्यानुचरणम् अस्यै त्वां भ्रूणहत्यायै चतुर्थं प्रतिगृहाण।--३-१-१०८, पृ० १८४, ८५।

११. ६-४-१७४, पृ० ५०६।

१२. ३-२-८७, पृ० ३२५।

१३. ८-२-४८, पृ० ३६६।

एक भी शास्त्र-शुद्ध शब्द स्वर्ग और लोक में कामधुक् होता है।[1] इस प्रकार 'काम-तृप्ति' इन वैदिक पण्डितो की काम्य जान पडती है। यही उनके दृष्टिकोण से तपश्चरण का लक्ष्य है। काशिकाकार ने 'सिध्यतेरपारलौकिके' सूत्र का भाष्य करते हुए इस बात को और भी स्पष्ट किया है। पाणिनि के मत से 'षिध्' धातु का रूप अपारलौकिक अर्थ मे साधयति और पारलौकिक अर्थ मे 'सेधयति' होता है। काशिकाकार ने इस प्रसग मे 'तपस्तापस सेधयति' (पारलौकिक) उदाहरण देकर कहा है कि तपस्वी को उसके अपने ही कर्म ऊपर उठाते है। यहाँ 'सिध्' का अर्थ मे पारलौकिक ज्ञानविशेष है। तपस्वी ज्ञानविशेष प्राप्त करता है। तप उसे उस ओर प्रयुक्त करता है। वह ज्ञानविशेष उत्पन्न होकर जन्मान्तर मे परलोक मे अभ्युदय-रूप फल मे परिणत होता है और इस प्रकार परलोक-प्राप्ति का कारण बनता है।[2]

स्वर्ग्य कार्य—भाष्यकार ने ऐसे कार्यो को, जो परलोकजय के साधन हैं, स्वर्ग्य कहा है।[3] इनमे अग्निष्टोमादि यज्ञ तो है ही, अनेक प्रकार के तप और जपादि भी है। इसीलिए, ब्राह्मण अधिक जप करते थे[4] और अग्नि के सामने तप करते थे।[5] धर्म-कार्यो मे उपार्जित सम्पत्ति का व्यय करते थे।[6] इस प्रकार का सद्व्यय 'उपयोग' कहलाता था।[7] अनेक ऐसे कार्य, जो सार्वजनिक रूप से निन्दित माने जाते थे, यज्ञ से सम्बद्ध हो जाने पर स्वर्ग के साधक बन जाते थे। फिर भी, अनेक लोक इस बात को स्वीकार नही करते थे। सौत्रामणि यज्ञ मे सुरापान इसी प्रकार का कृत्य था। भाष्यकार ने पूर्वपक्ष के रूप मे एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसका अर्थ है 'यदि उदुम्बर वर्ण की सुरा से भरी अनेक कलशियाँ पीकर कोई स्वर्ग नही पहुँच पाता, तो यज्ञ मे थोडी-सी सुरा पीकर कैसे पहुँच सकेगा।[8] भाष्यकार ने तर्क द्वारा इसका खण्डन न कर प्रमत्तगीत कहकर बात को टाल दिया है। भाष्य मे नरक का भी उल्लेख मिलता है।[9]

गापोष्टक् (३-२-८ पृ० २१०) सूत्र का भाष्य करते हुए पतजलि ने उदाहरण-स्वरूप कहा है 'जो स्त्री सुरापा या सुरापी होती है, उसे देवता पतिलोक नही ले जाते।' पतिलोक से ऋषि का आशय परलोक मे पति के साथ से है। (६-३-५३ पृ० ३११) के भाष्य मे भी पतजलि ने एक वैदिक मत्राश उद्धृत किया है 'आमागन्ता पितरा मातरा च मा सोमो अमृतत्वाय गम्यात्'। इसमे अमृतलोक या अमृतत्व की चर्चा है। यह अमृतलोक स्वर्ग से ऊपर मुक्ति की स्थिति है या नही, कुछ स्पष्ट रूप से कहा नही जा सकता। भाष्यकार ने अन्यत्र कही मोक्ष का उल्लेख नही

---

१. ६-१-८४, पृ० ११९।
२. ६-१-४९, काशिका।
३. ५-१-१११, पृ० ३४५।
४. ३-१-३२, पृ० ६४।
५. तपस्यते लोकजिगीषुरग्नेः। —२-१-१५, पृ० ५५।
६. १-३-३६ तथा १-३-३२ का०।
७ वही।
८. आ० १, पृ० ५।
९. ६-१-७, पृ० २३।

भोजन करने जाते थे, किन्तु श्राद्धभोजन नही करते थे। ये अश्राद्धभोजी कहलाते थे।[1] इनका अलग वर्ग था। इनके विपरीत श्राद्धभोजन करनेवाले श्राद्धी या श्राद्धिक कहे जाते थे। किन्तु, श्राद्धी या श्राद्धिक किसी की स्थायी सज्ञा नही होती थी। जिस दिन जो श्राद्ध भोजन करता था, उसी दिन उसके लिए इन विशेषणो का प्रयोग होता था। आज श्राद्ध खानेवाले के लिए कल श्राद्धिक शब्द नही प्रयुक्त हो सकता था।[2] इस प्रकार, युक्त विशेषण विशेष काल मे विशिष्ट क्रिया के परिणाम थे। अश्राद्धभोजी लोग व्रती होते थे, अर्थात् वे किसी विशेष कारणवश जैसे सासारिक भोगो का परित्याग कर देते थे, वैसे श्राद्धभोजन का भी।[3] कुछ लोग श्राद्ध खाने के लिए बहुत उत्सुक रहते थे। २-३-१७ सूत्र के भाष्य मे दिये गये उदाहरण से जिसमे कोई ब्राह्मण अन्न को ललकारता है। इस बात का सकेत मिलता है।[4]

श्राद्ध-विरोध—समाज मे सब लोग श्राद्ध के विषय मे एकमत न थे। कुछ लोग उसके विरोधी भी थे। भाष्य के 'श्राद्धाय विर्गहते' उदाहरण से यह ध्वनित होता है। सम्भव है, श्राद्ध न करने या ठीक ढग से न करने के कारण व्यक्ति निन्दा का पात्र माना जाता हो।[5] एक अन्य स्थान पर भी एक व्यक्ति पर आक्षेप किया गया है, जो इतना कृपण है कि उससे इस बात की भी आशा नही कि वह जब मरेगा, तब अपने पितरो के श्राद्धादि के लिए कुछ छोड जायगा।[6]

मंगल्यामंगल्य—धार्मिक विधियो मे जिस प्रकार यज्ञादि कृत्य आभ्युदयिक या मंगल्य माने जाते थे, उसी प्रकार श्राद्धादि अमगल्य। श्राद्धादि का अनुष्ठान भयवश अनिष्ट-निवारणार्थ किया जाता था और यज्ञादि का अभ्युदय-कामना से। पितर लोग कव्य न पाकर रुष्ट होते हैं और अनिष्ट कर सकते है, यह भय श्राद्ध मे समाविष्ट हो गया था। इसीलिए, जहाँ यज्ञादि मे उत्साह परिलक्षित होता था, वहाँ श्राद्धादि मे विवशता का भाव। इसीलिए, यज्ञादि मे अधिकाधिक देना अच्छा माना जाता था, किन्तु श्राद्धादि मे हर वस्तु थोडी-थोडी दी जाती थी।[7]

श्राद्ध के प्रति यहाँतक भय-मिश्रित आदर का भाव था कि श्राद्ध-भोजन के लिए निमत्रित ब्राह्मण भोजन से इनकार नही कर सकता था। हव्य तथा कव्य के लिए बुलाना निमन्त्रण कहलाता था और उसके प्रत्याख्यान या अस्वीकृति मे अधर्म माना जाता था। अन्य अवसरो पर बुलाया जाना आमन्त्रण कहा जाता है। आमन्त्रण की स्वीकृति या अस्वीकृति आमन्त्रित की इच्छा पर निर्भर थी।[8]

---

१. १-१-४३, पृ० २५७।
२. ५-२-८५, पृ० ४०१।
३. ३-२-८०, पृ० २२९।
४. २-३-१७, पृ० ४१९।
५. १-४-३२, पृ० १६८।
६. अय चेन्मरिष्यति न च पितृभ्यः पूर्वेभ्यो दास्यति।—८-१-३०, पृ० २८८।
७. ५-४-४२ पृ० ४९४
८. ब्राह्मणेन सिद्धं भुज्यतामित्युक्तेऽधर्मः प्रत्याख्यातुः आमन्त्रणे कामचारः।—३-३-१६१, पृ० ३३५।

कारण माना जाता था।[1] स्नानानुलेप दैनिक कार्य था।[2] स्नान को लोग अभ्युदयकारी मानते थे, दोषनाशक तो वह है ही।[3] सम्यक् स्नानादि क्रिया करनेवाला पुरुष भोगवान् कहा जाता था।[4] ग्राह्य वस्तुओ के स्पर्श से उत्पन्न होनेवाले अशौच की निवृत्ति के लिए हस्तादि-प्रक्षालन के अतिरिक्त तीन बार आचमन का भी विधान था।[5] दन्तधावन भी शौच का अग है। प्रात स्नान से पूर्व दन्तधावन भी सामान्य प्रथा थी।[6]

प्रत्येक पुरुष सवेरे उठकर शौच, दन्तधावन, स्नानादि शारीरिक क्रियाएँ पहले करता था और तब उसके बाद अपने मित्रो और सम्बन्धियो के कार्य करता था। इस प्रकार, शरीर-शुद्धि को अन्य सब कार्यो मे प्राथमिकता प्रदान की गई थी।[7]

अशौच—जन्म और मृत्यु के समय दस दिन तक परिवार मे अशौच माना जाता था। इसीलिए पुत्र का नामकरण दस दिन बाद ही करने की प्रथा थी।[8]

रजस्वला-धर्म—रजस्वला स्त्रियो के शौच के विशेष नियम थे, जिनका पालन उन्हे प्रतिमास तीन दिन तक करना पडता था। भाष्यकार ने तैत्तिरीयसहिता (काण्ड २, प्रपाठक ५, अनुवाक १) से ऐसे कुछ नियमो को उद्धृत किया है। तैत्ति० स० मे रजस्वला स्त्रियो के लिए तेरह निर्देश दिये गये हैं। उसके साथ सम्भोग, अरण्य मे सगति तथा स्नान के बाद भी उसकी अनिच्छा होने पर उससे यौन सम्बन्ध वर्जित है। रजस्वला को तीन दिन तक स्नान, शरीर मे अभ्यजन (तेल लगाना) कघे से बाल बनाना, अजन लगाना, दन्तधावन करना, नख काटना या चारा काटना, सूत कातना, रस्सी बटना, पलाश-द्रोण से अथवा पकाये हुए पात्र से जल पीना आदि क्रियाओ से विरत रहना चाहिए। जो ये क्रियाएँ करती है, उसकी सन्तान को उसके दोषो का फल भोगना पडता है। उदाहरणार्थ, रज काल मे उपभुक्ता की सन्तान अभिशस्त (सन्दिग्धचरित्रा या पापदोषमयी) अरण्यसगता की स्तेन, पराची (इच्छा के विरुद्ध सगता) की शर्मीली (ह्रीत-मुखी) बडी अवीर, असाहसी (अप्रगल्भ), स्नान करनेवाली की जल मे डूबकर मरनेवाली, तेल लगानेवाली की दुश्चर्या या कुष्ठी, कघी करनेवाली की गजी और अपमारी (दुर्मरणयुक्त, दुर्बल), काजल लगानेवाली की कानी, दातून करनेवाली की काले दाँतोवाली, नाखून काटनेवाली की कुनखी, चारा काटनेवाली या चर्खा चलानेवाली की नपुसक, रस्सी बटनेवाली की उद्-

---

१. आ० २, पृ० ६६२।

२. आ० २, पृ० ४८।

३. आ० १, पृ० २४।

४. भोगवानयं ब्राह्मण इत्युच्यते यः सम्यक् स्नानादीः क्रिया अनुभवति।—५-१-९, पृ० ३००।

५. त्रिहृदयङ्गमाभिरद्भिरशब्दाभिरुपस्पृशेदित्युपस्पर्शनं शौचार्थम्।—५-१-८४, पृ० ११८।

६. २-३-६२, पृ० ४४९।

७. १-१-५७, पृ० ३६१।

८. आ० १, पृ० ९।

इसी सूत्र मे वसिष्ठ ने आगे कहा है कि ऐसी स्त्री इसी लोक मे घूमती रह जाती है और क्षीणपुण्या होकर पानी मे जोक या सीपी (कीट) बनती है।[1]

सुरापान के सम्बन्ध मे पतजलि का दृष्टिकोण अन्यत्र कठोर था। यहाँतक कि बिना जाने भूल से भी सुरा पी लेनेवाला उनकी दृष्टि मे पतित था।[2]

सुरा केवल सौत्रामणि यज्ञ मे विहित थी। भाष्यकार ने भ्राजश्लोक के नाम से पूर्व-पक्षी का कथन उपस्थित किया है—उदुम्बर वर्ण की अनेक सुरा-भरी घटी पी जाने पर भी यदि कोई स्वर्ग नही जाता, तो ऋतु मे थोडी-सी पीने से स्वर्ग कैसे जा सकता है।[3] यह कथन इस बात का प्रमाण है कि श्रोत्रिय लोग यज्ञ मे सुरा पीना श्रेयस्कर मानते थे। मनु ने भी इस बात की पुष्टि की है।[4]

पलाण्डु—पलाण्डु को सभी धर्मसूत्रकारो ने अभक्ष्य माना है। वसिष्ठ ने (१४-३३) उसके भक्षण का प्रायश्चित्त अतिकृच्छ्रव्रत द्वारा बतलाया है। भाष्यकार ने पलाण्डुभक्षिती का विशेष रूप से उल्लेख किया है, जो उसके प्रति घृणा का परिचायक है।[5] वृषल लोग पलाण्डु का भक्षण करते थे। कोई-कोई सुरा भी पीते थे। किन्तु, पलाण्डु के साथ सुरापान सामान्य वृषल तक नही करते थे। घोर वृषल ही ऐसा करते थे और समाज मे नीची दृष्टि से देखे जाते थे।[6] सुरापायी दुर्मदी व्यक्ति सुरा से कभी तृप्त नही होता, इस कारण भी सुरा हेय मानी जाती थी।[7]

मास—मास-भक्षण का प्रचार था, किन्तु ग्राम्यकुक्कुट और ग्राम्यशूकर अभक्ष्य थे। वासिष्ठ धर्मशास्त्र मे भी श्वावित्, शल्यक, शशक, कच्छप और गोधा ये पाँच पचनख प्राणी भक्ष्य बतलाये गये है। खग और ग्राम्यशूकर के विषय मे मतभेद था और ग्राम्यकुक्कुट वसिष्ठ के भी मत से सामान्यतया अभक्ष्य माना जाता था।[8] वाल्मीकीय रामायण ने भी इस कथन की पुष्टि की है।[9] भाष्यकार का 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या' और 'अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटो भक्ष्यो ग्राम्यशूकर.' कथन सूत्रग्रन्थो के अनुकूल ही हे और रामायण का उद्धरण-मात्र है।[10]

---

१. या ब्राह्मणी च सुरापी भवति न तां देवाः पतिलोके नयन्ती इहैव साचरति क्षीणपुण्यासु लुग्भवति शुक्तिका वा।—वासि० ध० शा० २१-११।

२. आ० १, पृ० ५।

३. वही।

४. सौत्रामण्यां तथा मद्यं श्रुतौ भक्ष्यमुदाहृतम्।— मनु० ५-५०।

५. २-२-३६, पृ० ३९२।

६. वृषलरूपोऽयम्—अप्ययं पलाण्डुना सुरां पिवेत्।—५-३-६६, पृ० ४६०।

७. २-२-२९, पृ० ३७९।

८. वासि० ध० शा० १४-३९, ४७, ४८।

९. पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षेत्रेण राघव।
शल्यकाः श्वाविधा गोधाः शशः कर्मश्च पञ्चमः॥—किष्कि० का० १७-३९।

१०. आ० १, पृ० ११।

मानवेतर योनियाँ

मानवेतर योनियो मे भाष्यकार ने असुर, म्लेच्छ, रक्षस्, पिशाच, भूत का भी उल्लेख भिन्न-भिन्न प्रसगो मे किया है। इनमे असुर देव-विरोधी के रूप मे चित्रित हुए हैं। वे यज्ञ करते थे। किन्तु, शुद्ध उच्चारण नही कर पाते थे।[1] इन्द्रशत्रु वृत्र नामक असुर तो यज्ञ मे अशुद्ध स्वर बोलने के कारण नष्ट हो गया।[2] भाष्यकार ने यज्ञ मे अपभाषण के कारण अन्य असुरो का भी पराभूत होना बतलाया है।[3] उन्होने कहा है कि व्याकरण के न जानने से आर्य म्लेच्छ हो जाते है।[4] तब क्या ये असुर और म्लेच्छ एक ही थे। पाणिनि मे पर्श्वादिगण मे असुर शब्द का परिगणन किया है। रक्षस् शब्द भी इसी गण मे पठित है। असुर और रक्षस् आयुधजीवी सघ थे,[5] जो आर्यविरोधी अथवा अपेक्षाकृत कम सस्कृत थे। भाष्यकार मे इन आयुधजीवी सघो की स्त्री को रक्षस् और असुरी कहा है।[6] सम्भवत धीरे-धीरे आर्यो और असुरो का विरोध अधिक बढ गया। वे आर्य देवो का विरोध करने लगे और देवविरोधी माने जाने लगे और काशिका-काल तक आते-आते वे अमनुष्य योनियो मे गिन लिये गये[7] और प्रेतयोनि के समकक्ष आ गये।

ऋग्वेद मे (२-३०-४ तथा ७-९९-५) असुर शब्द का प्रयोग देव, श्रेष्ठ, वरुण आदि दिव्य अर्थो मे भी मिलता है, यद्यपि ऋग्० (८-९६-९) मे देवविरोधी के रूप मे असुर शब्द बार-बार आया है।

राक्षस असुर से भिन्न है। भाष्यकार ने आयुधजीवी सघ के अतिरिक्त अर्थ मे भी रक्षस् शब्द का उल्लेख किया है। ये रक्षस् या राक्षस नृचक्षा (मनुष्यो की ताक मे बैठनेवाले) होते थे।[8] उनका असुरो से साहचर्य सम्बन्ध था। देव इनके विरोधी थे। भाष्य मे देवासुर का विरोधी और रक्षोसुर का मैथुनिक के रूप मे उल्लेख है[9] और रक्षोघ्न का भी।[10] रक्षोघ्न से भाष्यकार का सकेत किस ओर है, यह उन्होने स्पष्ट नही किया है। काशिकाकार ने 'द्वितीये चानुपाख्ये' (६-३-८०) सूत्र की व्याख्या मे अनुपाख्य को अनुमेय या अप्रत्यक्षलभ्य का पर्याय मानकर उसका उदाहरण सपिशाचा वात्या और सराक्षसी का शाला दिया है। इससे स्पष्ट है कि वे पिशाच और राक्षस ऐसी योनियो को मानते थे, जो प्रत्यक्ष नही दिखाई देती, किन्तु जिनका अस्तित्व है। काशिका

---

१. तेऽसुरा हेलयोहेलय इति कुर्वन्तः परावभवुः।—आ० १, पृ० ४।
२. आ० १, पृ० ४।
३. आ० १, पृ० २५।
४. आ० १, पृ० ४।
५. ५-३-११७।
६. ४-१-१७७, पृ० १६५।
७. अमनुष्यशब्दो रूढिरूपेण रक्षः पिशाचादिष्वेव वर्त्तते।
८. २-४-५४, पृ० ४९०।
९. ४-३-१२५, पृ० २५३।
१०. ५-४-३६, पृ० ४९३।

यह सब अनुभव पर आश्रित था। प्राकृतिक उत्पात की सूचना पूर्व लक्षणो से प्राप्त कर ली जाती थी। उदाहरणार्थ, पीली विद्युत् का चमकना तेज वायु चलने का, अत्यन्त लोहित वर्ण की विद्युत् का चमकना तेज आतप का, पीली का चमकना अच्छी उपज का और सफेद विद्युत् का चमकना दुर्भिक्ष का निमित्त माना जाता था।[1]

शकुन-लक्षण—जिस प्रकार दधि आदि शुभाशुभ के निमित्त माने जाते थे, उसी प्रकार कुछ आगिक लक्षण या चिह्न भी। अगो से मनुष्य की प्रकृति, भाग्य और भविष्य का अध्ययन पतजलि-काल मे इतना समुन्नत हो चुका था कि अगविद्या के नाम से अध्ययन की एक स्वतन्त्र शाखा प्रतिष्ठित हो गई थी, जिसमे निष्णात व्यक्ति आगविद्य कहलाता था।[2] पाणिनि ने 'लक्षणे जायापत्योष्टक्' और 'अमनुष्यकर्त्तृके च' (३-२-५२, ५३) सूत्रो मे अग के इन चिह्नो को जो किसी विशेष वात के निमित्त माने जाते थे 'लक्षण' कहा है। किन्तु, वे लक्षण 'अमनुष्यकर्त्तृक' होने चाहिए। इन लक्षणो मे निष्णात व्यक्ति लाक्षणिक कहलाता था।[3] लाक्षणिक का क्षेत्र व्यापक था और मनुष्य के अतिरिक्त गो, अश्व आदि भी उसकी ज्ञान-परिधि के अन्तर्गत थे। पतजलि ने अग-लक्षण का उदाहरण देते हुए विशेष तिलकालक (तिल या मस्से) को जायाघ्न[4] और विशेष पाणिलेखा को पतिघ्नी वतलाया है। यद्यपि उन्होने यह निर्देश नही किया है कि किस स्थान का और कौन-सा तिलकालक जायाघ्न होता है और कौन-सी हस्तरेखा पतिघ्नी, तथापि इतना तो स्पष्ट ही है कि तिलो, मस्सो और हस्तरेखाओ का अध्ययन अगविद्या का अग था और लाक्षणिक उनके आधार पर वहुत-सी वाते वतलाया करते थे। पाणिनि का 'राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्न , (१-४-३९) सूत्र भी इस वात का सूचक है कि लोग शुभाशुभ पूछने के लिए नैमित्तको या शकुनज्ञो के पास जाते थे और वे विचारपूर्वक उनके प्रश्नो का उत्तर देते थे।[5]

मगल

अशुभ के निवारण के लिए वहुत-से उपाय काम मे लाये जाते थे। ग्रन्थकर्त्ता विघ्न-निवारण के लिए ग्रन्थ के आदि मे मगलसूचक शब्दो का प्रयोग करते थे या मंगलार्थ किसी देवता की स्तुति करते थे। उनका विश्वास था जिन ग्रन्थो के प्रारम्भ मे मगल किया जाता है,[6] वे अधिक प्रसिद्ध होते हैं। उनके पढनेवाले वीर आयुष्मान् और सफलमनोरथ होते है। सिद्ध, वृद्धि, अथ आदि शब्द मगलसूचक माने जाते थे। इसीलिए, पाणिनि ने वृद्धि, वार्त्तिककार ने सिद्ध और पतजलि ने अथ शब्द का प्रयोग अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ मे किया है।

---

१. वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी।
पीता भवति सस्याय दुर्भिक्षाय सिताभवेत्॥—२-३-१३, पृ० ४१७।
२. ४-२-६०, पृ० १८७।
३. वही।
४. जायाघ्नस्तिलकालक', पतिघ्नी पाणिलेखा।—३-२-५२, पृ० २१८।
५. १-४-३९ काशिका।
६. आ० १, पृ० १५।

प्रत्यभिवाद—अभिवादन 'अमुकनामाऽहमभिवादये भो' कहकर किया जाता था और प्रत्याभिवाद 'भो आयुष्मानेधि देवदत्त' आदि कहकर किया जाता था। अभिवादन के नियम निश्चित थे। प्रत्यभिवाद मे जो वाक्य बोला जाता था, उसके अन्तिम शब्द की टि का प्लुत उदात्त उच्चारण किया जाता था। उदाहरणार्थ, ऊपर के वाक्य मे 'देवदत्त३' का अन्तिम स्वर प्लुत उदात्त रहता था।

स्त्री और शूद्र—इस नियम के कुछ अपवाद थे। स्त्री, शूद्र तथा असूयक को दिये गये आशीर्वाद या प्रत्यभिवाद की टि प्लुत नही रहती थी। उदाहरणार्थ, आयुष्मती 'भव गार्गि' मे अन्तिम स्वर प्लुत नही होता था। शूद्र के अभिवादन का उत्तर उसकी कुशल पूछकर ही दिया जाता था। यथा 'कुशल्यसि तुषजक' इसमे भी टि भाग प्लुत नही रहता था। असूया या अविनय-प्रदर्शन के साथ किये गये प्रत्यभिवाद का उत्तर भी प्लुत-विहीन दिया जाता था। क्षत्रिय और वैश्य के अभिवादन के उत्तर मे अन्तिम भाग का प्लुत करना या न करना प्रत्यभिवादक की इच्छा पर निर्भर था। कुछ लोगो का मत था कि अभिवादन को अपना नाम लेकर अभिवादन करना चाहिए, किन्तु उत्तर देनेवाले को आशीर्वाद देते समय अभिवादक का नाम न लेकर उसके स्थान पर 'भो' ही कहना चाहिए। इनके अनुसार 'अभिवादये भवन्त देवदत्तोऽह भो' का उत्तर 'आयुष्मानेधि भो ३' कहकर देना चाहिए।[१]

स्त्रियो को अभिवादन करते समय इस औपचारिक पद्धति की आवश्यकता नही थी; क्योंकि वे उनका औपचारिक उत्तर नही दे पाती थी। आपस्तम्बादि ने परदेश से लौटने पर अभिवादन का जो विधान किया है, वह दैनिक अभिवादन से अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है।[२] उस समय भी स्त्रियो से 'असावह भो' (यह मैं आ गया) कह देना नमस्कार के बराबर माना जाता था। यही प्रथा अन्य अशिक्षित जनो के लिए भी थी।[३]

कुशल-प्रश्न—पाणिनि ने अभिवादन के उत्तर मे आशीर्वाद पानेवाले व्यक्ति के लिए चतुर्थी विभक्ति का विधान किया है। जिससे स्पष्ट होता है कि बडे लोगो में प्रणाम के उत्तर मे छोटो को आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख, कल्याण, हित आदि का आशीर्वाद करने की प्रथा थी।[४] आगत या अतिथि-जनो से कुशल समाचार के समान ही उनकी सुख-सुविधा पूछने की प्रथा भी अभिवादन जैसे उपचार के ही अन्तर्गत है। आपने अच्छी तरह स्नान तो कर लिया? आपकी रात्रि तो सुख से बीती? आपको नीद तो अच्छी तरह आई? आत्मजनो की इस प्रकार की चिन्ता रखना सामान्य उपचार था। प्रश्न करनेवालो के लिए सौस्नातिक, सौखरात्रिक, सौखशायिक आदि शब्द निश्चित थे, जो इस बात के सूचक है कि इस तरह के कुशल-प्रश्नो की औपचारिक शब्दावली का सर्व-सामान्य रूप भी निश्चित था।[५]

---

१. ८-२-८३, पृ० ३८७, ८८।

२. प्रोष्य च समागमे।—आप० १-२-५-१४।

३. आ० १, पृ० ६।

४. २-३-७३।

५. ४-४-१, पृ० २७३।

ब्राह्मण लोग पायस (खीर) मे अधिक रुचि रखते थे। उनके आतिथ्य मे पायस का उपयोग होता होगा।[1]

अतिथि की विदाई—अतिथि की विदाई भी सत्कारपूर्वक की जाती थी। विदा होनेवाले व्यक्ति को ग्रामवन के अन्त मे या ग्रामसरित्, ग्रामसरस अथवा, मार्ग मे जहाँ भी जल हो, वहाँतक भेजने जाने की प्रथा थी। यदि अतिथि या विदा होनेवाला व्यक्ति विशेष पूज्य अथवा प्रिय हुआ, तो उसे द्वितीय या तृतीय वनान्त या उदकान्त तक भेजने जाते थे।[2]

व्रत-उपवास

व्रत और दीक्षा—भाष्य मे व्रत शब्द का प्रयोग नियम के अर्थ मे हुआ है। काशिकाकार उसे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि शास्त्रपूर्वक नियम का नाम व्रत है।[3] पाणिनि ने वाक्-निग्रह को व्रत माना है।[4] शास्त्रो मे विशेष आश्रमो मे अथवा विशेष अवसरो पर भिन्न-भिन्न व्रतों का प्रावधान किया है। उदाहरणार्थ, मौन व्रत तृतीय और चतुर्थ आश्रमो मे तथा यज्ञादि दीक्षा के दिनो मे विहित है। व्रत रूप मे मौन ग्रहण करनेवाले वाचयम तथा अन्य किसी कारण से न बोलनेवाले वाग्याम कहे जाते थे।[5] भूमि पर सोना, श्राद्ध-भोजन न करना, लवण-भोजन[6] का परित्याग और ब्रह्मचर्य ये सामान्य व्रत थे, जिनका पालन दीक्षित व्यक्ति को शुभानुष्ठान के अवसर पर करना पडता था। ये नियम कामचार पर नियन्त्रण करने की दृष्टि से निश्चित किये गये थे। उदाहरणार्थ, खट्वा विद्यमान होने पर भी भूमि पर सोना व्रत का अग माना जा सकता था, अन्यथा नही। इसी प्रकार, भोजन होने पर भी अश्राद्ध ही खाना व्रत के अन्तर्गत था।[7] भाष्यकार ने अश्राद्धभोजी का अर्थ श्राद्ध का न खानेवाला वतलाया है, श्राद्ध खानेवाला नही, क्योकि ऐसा मानने पर अश्राद्ध न खाने की स्थिति मे व्रतभग होने लगेगा।[8] ये नियम पुरुष और स्त्री दोनो के लिए थे। यज्ञ मे यजमान के साथ उसकी पत्नी को भी इन नियमो का पालन करना पडता था। भाष्य मे स्थण्डिलशायी के साथ स्थण्डिलशायिनी का भी उल्लेख मिलता है।[9] जो

---

१. ६-२-१६, का०।

२. १-४-५६, पृ० १८७, ८८।

३. व्रत इति शास्त्रतो नियम उच्यते वाचंयम आस्ते। व्रत इति किम्? वाग्यामः।—३-२-४०, का०।

४. ३-२-४०।

५. वही।

६. कामचारप्राप्तौ नियमः सति शयने स्थण्डिल एव शेते नान्यत्र। सति भोजने अश्राद्धमेव भुङ्क्ते न श्राद्धमिति स्थण्डिलशायी अश्राद्धभोजी।—३-२-४० का०।

७. वही, पृ० २२९।

८. यदा सावश्राद्धं न भुङ्क्ते तदास्य व्रतलोपः स्यात्।—३-२-४०, पृ० २२९।

९. ४-१-१, पृ० १०।

मानना चाहिए।[1] सम्भवत , इन्ही शिप्टो को पतजलि ने कल्याणाचार या कल्याणाचारा (स्त्री०) और कल्याणक्षम कहा है।[2]

शिष्ट व्यवहार—शिप्ट जनो के व्यवहारो के कुछ उदाहरण भी भाष्य मे उपलव्व होते हैं। उपाघ्याय और शिष्य को साथ-साथ जाना हो और यान या वाहन में एक ही व्यक्ति के वैठने भर का अवकाश हो, तो गुरु को वाहन से भेजना चाहिए और शिष्य को पैदल जाना चाहिए। जो व्यक्ति इसका उलटा करता, अर्थात् स्वयं तो सवारी पर जाता, किन्तु उपाध्याय को पैदल भेजता है, वह आचारभेद या शिष्टाचार का भग करनेवाला माना जाता था।[3] इस आचार-भग को क्षिया या धर्मव्यतिक्रम भी कहते थे। वैठकर भोजन करना और वैठकर मल-मूत्र त्याग करना शिष्टो मे प्रचलित था। लेटे-लेटे या चलते हुए खाना शिष्टो मे अनुचित माना जाता था। खड़े होकर मूत्रत्याग करना भी अशिष्टता का परिचायक था।[4] यवनो मे ये प्रथाएँ प्रचलित थी।[5] एक काल मे यदि एक क्रिया हो सकती हो या एक वस्तु प्राप्त हो, तो उस क्रिया या वस्तु पर पहले अर्ह का अधिकार हो सकता था। वाद मे अपेक्षाकृत अर्ह को अवसर दिया जाता था। उदाहरणार्थ, वृद्ध, दरिद्र और मूर्ख मे पहले वृद्ध को भोजन कराया जाता था, वाद मे दरिद्र और मूर्ख को। ब्राह्मण और वृषल मे ब्राह्मण को नाव से पार जाने का अवसर पहले प्राप्त होता था। वृषल तवतक प्रतीक्षा करता था।[6] इस प्रकार, अर्ह और अनर्ह दोनो के आचार निश्चित थे। ब्राह्मण का वृषली या दासी से सम्वन्ध शिप्ट व्यवहार के विरुद्ध माना जाता था। शिष्टाचार के अनुसार ब्राह्मण ब्राह्मणी से ही प्रेम-सम्वन्ध रख सकता था। घ्यान देने योग्य वात है कि तत्कालीन समाज मे इस प्रकार के अनुचित सम्वन्वो को दण्ड्य नही माना जाता था, केवल अशिप्ट कहकर टाल दिया गया था।[7]

शास्त्रशिष्ट—कुछ वातें शास्त्र द्वारा शिष्ट या विहित थी। उनके विरुद्ध आचरण अशिप्ट माना जाता था। घी और तेल वेचना निषिद्ध था। मास वेचना भी वर्जित था। गो, सर्षप आदि की विक्री पर प्रतिवन्ध नही था, यद्यपि घी, मांस और तेल इन्ही से वनता था।[8] सोम-

---

१. सचावश्यं शिष्टप्रयोग उपास्यः।—१-३-१, पृ० १७।

२. ३-२-१, पृ० २०४।

३. क्षिया धर्मव्यतिक्रमः आचारभेदः—स्वयं हि रथेन याति उपाध्यायं पदार्ति गमयति।—८-१-६०, का०।

४. ३-२-१२६, पृ० २६४।

५. ३-२-१२६ काशिका।

६. २-३-३६, पृ० ४३०।

७. १-३-५५, पृ० ६९।

८. तैलं न विक्रेतव्यम्, मासं न विक्रेतव्यम् इति व्यपवृक्तं च न विक्रीयते व्यपवृक्तंच गावश्च सर्षपाश्च विक्रीयन्ते।—आ० २, पृ० ६२।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

वैदिक संहिता

ऋग्वेद (सायण-भाष्य)
यजुर्वेद
काठक-सहिता
मैत्रायणी सहिता
तैत्तिरीय सहिता (सायण-भाष्य)
वाजसनेयी सहिता (महीधर-भाष्य)
सामवेद
अथर्ववेद
ऐतरेय ब्राह्मण
शतपथब्राह्मण
गोपथब्राह्मण
ताण्ड्य महाब्राह्मण
पञ्चविंश ब्राह्मण
षड्विंश ब्राह्मण
कौशीतकिब्राह्मण
छान्दोग्य ब्राह्मण
तैत्तिरीय ब्राह्मण (सायण-भाष्य)
काठक ब्राह्मण
शाखायन ब्राह्मण
जैमिनीय ब्राह्मण
आश्वलायन श्रौतसूत्र
शाखायन श्रौतसूत्र
लाट्यायन श्रौतसूत्र
कात्यायन श्रौतसूत्र
बौधायन धर्मसूत्र
आपस्तम्ब धर्मसूत्र (हरदत्त टीका)
विष्णुधर्मसूत्र
वाशिष्ठ धर्मसूत्र
कौशिक गृह्यसूत्र
पारस्कर गृह्यसूत्र (हरिहर-भाष्य)
वाराह गृह्यसूत्र
द्राह्यायण गृह्यसूत्र (रुद्रस्कन्द-वृत्ति)
गोभिल गृह्यसूत्र
बौधायन गृह्यसूत्र
आश्वलायन गृह्यसूत्र
सत्याषाढ सूत्र (उज्ज्वला-टीका)
वैखानससूत्र
तैत्तिरीय आरण्यक
बृहद् आरण्यक
ऐतरेय आरण्यक
छान्दोग्योपनिषद्
मुण्डकोपनिषद्
जाबालोपनिषद्

प्रातिशाख्य-निरुक्त

ऋक्-प्रातिशाख्य (उव्वट-भाष्य)
कात्यायन-प्रातिशाख्य
तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य
साम-प्रातिशाख्य
अथर्व-प्रातिशाख्य
ऋक्तन्त्र
सामतन्त्र

विष्णुपुराण
भागवतपुराण
हरिवंशपुराण
ब्रह्माण्डपुराण
कालिकापुराण
पाराशरउपपुराण
देवीपुराण

दर्शन

योगदर्शन
वेदान्तदर्शन
मीमासादर्शन (शावर-भाष्य)
योगसूत्रवृत्ति (भोजराज)

शास्त्र-संहिता

अर्थशास्त्र (कौटिल्य)
अर्थशास्त्र (अनु० शामशास्त्री)
कामसूत्र (यशोधर-भाष्य)
नाट्यशास्त्र (भरत)
चरकसहिता (चक्रपाणिटीका)
शार्गधरसहिता

स्मृति

मनुस्मृति (कुल्लूकभट्ट-टीका)
याज्ञवल्क्य-स्मृति (मिताक्षरा-टीका)
याज्ञवल्क्य-स्मृति (विश्वजप-टीका)
लौगाक्षि-स्मृति

अन्य मूल ग्रन्थ

कथासरित्सागर
बुद्धचरित
भगवतीसूत्र
मिलिन्दपञ्हो
अगुत्तरनिकाय
विनयपिटक
मज्झिमनिकाय
दिग्घनिकाय
सयुक्तनिकाय
धम्मपद
सामन्तपासादिका
महावग्ग
दिव्यावदान
विसुद्धिमग्ग
अवदानशतक
महावग्ग
बोधिसत्त्वावदानकल्पलता
सद्धर्मपुण्डरीक
मजुश्रीमलकल्प
विविध तीर्थकल्प
सुमगलविलासिनी
प्रपचसूदनी
योगिनीतन्त्र
गार्गी सहिता (युगपुराण)
बृहत्कथामजरी
श्रीतत्त्वनिधि
ललितविस्तर
बृहत्सहिता
सगीतरत्नाकर
चर्यापिटक
रघुवश
मालविकाग्निमित्र
जातक—भाग १-६ (कावेल)
पवनदूत (धोयी)
परिशिष्ट पर्व (हेमचन्द्र)
नानार्थार्णवसंक्षेप (केशवस्वामी)
यज्ञफल (नाटक)
पतंजलिचरित
यशस्तिलक (चम्पू)
सरस्वतीकण्ठाभरण (हृदयहारिणी-टीका)
कविकल्पद्रुम

ई० जे० रेप्सन—कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया—भाग १
ई० जे० रेप्सन—इण्डियन क्वाइन्स
रीज डेविड्स—साम्स ऑफ् दि ब्रदरेन
रीज डेविड्स—डायलाग्स ऑफ् दि बुद्ध
कनिंघम—क्वाइन्स ऑफ् एनशियेंट इण्डिया
कनिंघम—दि स्तूप ऑफ् भरहुत
कनिंघम—एनशियेंट ज्याग्राफी ऑफ् इण्डिया तथा आर्कियालॉजिकल सर्वे रिपोर्ट—भाग १, २ तथा ६, २०
मैक्रिण्डिल—एनिशियेंट इण्डिया ऐज डैस्क्राइण्ड वाइ मैगास्थनीज ऐण्ड ऐरियन
मैक्रिण्डिल—इण्डिया एज डेस्क्राइब्ड वाइ टालेमी
मैक्रिण्डिल—दि इनवेजन ऑफ् अलेग्जैण्डर दि ग्रेट
पार्जिटर—एनशियेंट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन
पार्जिटर—डायनेस्टीज़ ऑफ् दि कलि एज
पार्जिटर—मार्कण्डेयपुराण (सम्पा०)
विल्सन—विष्णुपुराण (सम्पा०)
कीथ—रिलीजन ऐण्ड फिलासफी ऑफ् दि वेद
कीथ—संस्कृत ड्रामा
वैटर्स—आन युवाग चाग
लैसेन—पैण्टापोटेमिया इण्डिया
ब्लूम फोल्ड—हिम्स ऑफ् दि अथर्ववेद
वेवर—ऑन दि डेट ऑफ् पतजलि (इण्डिरवस्टर्डीन से वोयड द्वारा अनूदित)
ओल्डेनवर्ग—रिलीजन देर वेद
लूड्र्स—लिस्ट ऑफ् ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स, फ्रॉम अर्लियेस्ट टाइम्स टु दि सेकेण्ड सेंचुयेरी ए० डी०
टॉर्न—ग्रीक्स इन वैक्ट्रिया ऐण्ड इण्डिया
रॉलिन्सन—इण्टरकोर्स विटवीन इण्डिया ऐण्ड दि वेस्टर्न वर्ल्ड
रॉलिन्सन—दि डिस्टेंस विटवीन दि स्टेजेज ऑन दि रॉयल रोड (परिशिष्ट)
वाट—एकनामिक प्राडक्ट्स ऑफ् इण्डिया
ह्वीलर—हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया—भाग १
वर्नेट—एण्टिक्विटीज ऑफ् इण्डिया
पीटर्सन—दि रिपोर्ट ऑन संस्कृत मैनस्क्रिप्ट्स
वील—बुद्धिस्ट रेकार्डस ऑफ् दि वेस्टर्न वर्ल्ड
गिवन—डिक्लाइन ऐण्ड फॉल
मार्शल—ए गाइड टु साची
के० के० हैण्डिक्वी—यशस्तिलक ऐण्ड इण्डियन कल्चर
के० के० ठाकुर—मालविकाग्निमित्र (गुज० अनु०)

अनुक्रमणी

ख

य

स

ह

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	८	पातजलि	पतजलि
६	२३	गाह्य	गर्ह्य
१३	२५	घृतरौटीय	घृतरौढीय
१३	२६	रौटिशाखा	रौढिशाखा
१५	८	प्रचलित	अप्रचलित
१७	११	सनन्त	सन्नन्त
१८	८	३९८५	३९९५
२०	२	प्राची	प्राचीन
२०	१५	चिरव्यासायाम्	चिख्यासायाम्
२१	२	वाङमय सस्कृति	वाङमय एव सस्कृति
२१	२३	डू आन	टु अस
२१	२५	शुचावकाशे	शुचाववकाशे
२१	अन्तिम पक्ति—		व्यर्थ है
२७	७	यम	क्रम
२७	३०	दृष्ट्वा सूत्रेण	दृष्ट्वा सूत्रे
३२	२५	कृपाचार्यस्य	ह्याचार्यस्य
३४	२६	कम्बोजेस्वेप	कम्बोजेष्वेव
३४	२६	विकारमस्यार्थेपु	विकारमस्यार्येपु
३५	१०	एक पतजलि	एक मे पतजलि
३७	२४	उपादीयमाने सदेह	उपादीयमानेऽसन्देह
३८	१८	तृषिता अयोधारा	तृषिता. पयोधारा.
३८	२५	रङ्गगा	रङ्गगता
३९	१९	सपन्ती	सर्पन्ती
४०	७	प्रासादवासग्रहणेन	प्रासादवासिग्रहणेन
४०	१६	द्विवद्ध	द्विर्वद्धं
४०	१९	नैकामाना	न वै कामानां
४०	२६	शब्दगुडमात्रम	शब्दगडुमात्रम्
४१	७	खरीदने	खोदने

१९२	६	घाटियो	घटियों
१९७	१६	विकास	विकार
२०१	१९	सौगमि	सौशमि
२०६	३	प्रागुल्फा	प्राग्गुल्फा
२०६	९	सीमान्तिनी	सीमन्तिनी
२२५	२४	जाना भी होता है	जाना भी सिद्ध होता है
२३३	२२	यद्वरथ	यन् रथ
२३६	३३	दृढपूरक्ष.	दृढवूरक्ष
२५७	४,६	उदकोदवन	उदकोदञ्चन
२५७	१२	महोघा	महोघा
२५८	२६	गच्छति	गच्छन्ति
२५९	८	भद्र	मद्र
२६०	७	अगुल	त्र्यङ्गुल
२६१	३०	पक्तव्य	पक्तव्य
२६७	२०	व्रीह्यश्व मे	व्रीहयश्च मे
२७०	२०	अवलेखो	अवलेपो
२७०	३०	मूज	मुञ्ज
२८७	२६	समा समा	समा समा
२८९	११	वृपस्पति	वृषस्यति
२९१	२१	यान्यन्योन्य	यावन्योन्य
२९१	३२	गौरिवाकृतनीशार	गौरिवाकृतनीशार
२९५	२	मिलगम	मितङ्गम
२९६	३	उष्ट्रसर	उष्ट्रखर
२९८	३	महात्र	महाज
२९९	११	परवर्जयो	परवङ्गयो
३००	११	शीयाविध	शौवाविध
३२९	१	मगार	भगार
३३५	२०	प्रतिक्रियाओ	आदि क्रियाओ
३३६	२३	रोडोफा नगर	रोडोफा
३४१	३	तदहेति	तदर्हेति
३४१	३०	उक्तपरिमाणानाम्	अक्तपरिमाणानाम्
३४२	१७	दुवय	द्रुवय
३४५	१९	दाम पड जाते थे	नाम पड जाते थे
३४६	२१	कुम्भ पर	कुम्भ भर
३४६	२२	वह	'वह'

४१४	७	रक्षा के विना	रक्षा विना
४१४	२१	एतदासी	एतदासीत्
४१५	८	अन्य दोष	जन्य दोष
४१५	१८	म्लेच्छितवे नापभाषितवे	म्लेच्छितवै नापभाषितवै
४१५	२७	स्त्रीष्वायमह	स्त्रीष्विवायमह
४१९	१९	व्रह्मचारी	सव्रह्मचारी
४२५	१५	पक्षान्त	पक्षवन्त
४२५	२१	मर्था	अथो
४२५	३३	अभिरूपा दर्शनीयो पक्षवन्तो	अभिरूपौ दर्शनीयौ पक्षवन्तौ
४२८	१२	टक्	पट्क
४२८	१९	शुष्केन्वो	शुष्कैवो
४३१	१६	द्वन्दस्	छन्दस्
४३२	२४	कृणे	कृशो
४३३	२०	अपने	अनेक
४३४	८	कुल्-कलीन	कुल-कुलीन
४३४	९	स्वासापि, स्वास्रीप स्वस्रीप	स्वास्रीयि, स्वास्रीय स्वस्रीय
४३४	१०	पिञ्जलादि	कापिञ्जलादि
४३४	१२	कण्वा	कण्व
४३८	२०	चतुर्धा व्ययस्य	चतुर्वा व्यस्य
४४१	१८	समानीन	समानीव
४४३	१६	या शवल्क्य	याज्ञवल्क्य
४४८	१७	तिष्ठित	प्रतिष्ठित
४५०	२	रामायण और सात्यमुनि	राणायण और सात्यमुग्रि
४५०	१४	अपना ऐतरेय	ऐतरेय
४५०	१८	मोदक	मौदक
४५५	२२	कृतवर्माणि	कृतवर्माण
४५५	२७	वभूव	वभूवु
४५७	१	आनुरीप	अम्वरीप
४५७	११	काण्व और व्राह्मण	और काण्व व्राह्मण
४५७	१७,२१	पष्टिपथ	पष्ठिपथ
४५८	२०	ताण्डव को	ताण्ड्य को
४६०	२	सौप, तैंड	सौप, तैंड
४६१	१४	पतजलि-काल के	पतजलि-काल
४६१	२४	निकम्पित	विकम्पित
४६२	१	उपहान की	उपहास का

५३३	१७,२०	भूजवन्त	मूजवन्त
५३८	३	प्रदूपित	अदूपित
५४०	१	अग्निध्र	आग्नीध्र
५४०	८	व्याख्या की जाती	व्यवस्था की जाती
५४२	९	ऋचा का मत्र	ऋचा या मत्र
५४५	१२,१३	रक्षा विनाश	रक्षोविनाश
५४६	१२	सूत्रो को छोडकर	सत्रो को छोडकर
५४६	३२	वैयाकरणहस्तो	वैयाकरणहस्ती
५४६	३३	कसिलामेमैकश	कपिलामेकैकश
५५१	१५	कैंसपक्षीय	कसपक्षीय
५५२	१७	मूत्तियो की	मूत्तियों की गिनती
५५३	१७	कश्यप की	काश्यप का
५६३	५	कष्ट तय	कष्टतप
५६३	१९	मनों के आजीवको	मतो के सव आजीवको
५६६	१५	पैक्षसेवी	भैक्षसेवी
५६६	२२	अर्थ विना पकाये	अर्थात् विना पकाये
५६९	१९	गाथि	गाधि
५७३	१	वर्णों के यह्	वर्णों के घर
५७३	९	श्रमणवाहनणम्	श्रमण-ब्राह्मणम्
५७५	१	धार्मिक भाष्य मे	भाष्य मे
५८३	२२	दुश्चर्या	दुश्चर्मा
५८७	१९	रक्षोसुर का	रक्षोऽसुर का
५९१	१२	अभिवादन को	अभिवादक को
५९२	६	को र के	को घर के
५९२	१६	श्रोत्रिय था	श्रोत्रिय या
५९५	१२	अपेक्षाकृत अर्हं	अपेक्षाकृत कम अर्हं

विशेष : इस शुद्धि-पत्र मे केवल उन प्रमुख अशुद्धियो का शुद्ध रूप दिया गया है, जिनसे अर्थ-ग्रहण मे विशेष बाधा हो सकती थी। सामान्य प्रूफ की भूलें, विशेषत. सस्कृत-उद्धरणों मे मुद्रण की भूलो को पाठक कृपया सुधारकर पढेंगे।—ले०